समाज कार्य एक समग्र दृष्टि

प्रो. बालेश्वर पाण्डेय
डॉ. भारती शुक्ला



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

समाज कार्य : एक समग्र दृष्टि

प्रो. बालेश्वर पाण्डेय

पूर्व अध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष

समाजकार्य विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,

वाराणसी

एवं

डॉ. भारती शुक्ला

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

मानव संसाधन विकास मंत्रालय

(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रकाशक
मनीष शुक्ल
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

ग्रन्थमाला संख्या – 329

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण : 2011
द्वितीय संस्करण : 2013
तृतीय संस्करण : 2016

प्रतियाँ : 1100

मूल्य : ₹ 470=00 (चार सौ सत्तर)

ISBN : 978-93-82175-70-4

मुद्रक
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
268, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : 2692973

प्रकाशकीय

आधुनिक विचारधाराएँ या चिंतन परम्परा समाज कल्याण की भावना के बिना पूर्ण नहीं होतीं। जैसे-जैसे जनसंख्या, उसकी आवश्यकताएँ और विकास बढ़ रहे हैं, समाज कार्य का क्षेत्र और अधिक प्रासंगिक होता जा रहा है। देश और प्रांतों की विकास योजनाएँ ही नहीं, समूचा समाज इस दिशा में निरन्तर सक्रिय है। यह सही है कि त्वरित विकास और उसकी अनेकानेक विसंगतियों के चलते समय-समय पर अनेक समस्याएँ भी सामने आती रही हैं, परन्तु विभिन्न स्तरों पर अनवरत शोध और सक्रियता इन चुनौतियों पर समय रहते नियंत्रण और उन्हें उचित दिशा देने में पर्याप्त सफल है।

इस समूची सक्रियता, उसके विभिन्न क्षेत्रों और आवश्यकताओं से समाज के जागरूक वर्गों को परिचित कराने का ही एक गंभीर प्रयास है यह पुस्तक – 'समाज कार्य : एक समग्र दृष्टि'। चार खण्डों और 25 अध्यायों में विभाजित यह पुस्तक एक सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह है। इससे शायद ही समाज सेवा का कोई पहलू अछूता रहा हो। इसका अनुमान इसके कुछ प्रमुख खण्डों को देखकर आसानी से लगाया जा सकता जो इस प्रकार हैं – समाज कार्य का सैद्धांतिक पक्ष, समाज कार्य की विधियाँ, समाज कार्य तथा क्षेत्र और समाज कार्य से सम्बन्धित कुछ समस्याएँ। इस पुस्तक के विद्वान लेखक प्रो. बालेश्वर पाण्डेय एवं डॉ. भारती शुक्ला इस क्षेत्र के जाने-माने विद्वान हैं। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के अनुरोध पर 'समाज कार्य : एक समग्र दृष्टि' शीर्षक पुस्तक का प्रणयन कर उन्होंने न केवल इस क्षेत्र के विद्यार्थियों बल्कि जागरूक पाठकों के लिए भी सराहनीय कार्य किया है, हम उनके प्रति विशेष रूप से अनुग्रहीत हैं।

विश्वविद्यालयस्तरीय पाठ्य पुस्तक ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत इसका प्रकाशन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के प्रकाशनों की गौरवपूर्ण परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। निश्चय ही उपादेयता के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ का यह तीसरा संस्करण भी सभी सम्बन्धित वर्गों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा।

मनीष शुक्ल
निदेशक

निवेदन

यह एक सच्चाई है कि काल की अनन्त-यात्रा में उन्हीं का नाम सदैव आलोकित रहा, जिन्होंने देश और दुनिया के कल्याण की दिशा में पूरी निष्ठा के साथ योगदान दिया। यह भी एक तथ्य है कि ऐसी विभूतियों की कभी कोई कमी नहीं रही है और उन्हीं के समर्पण, मेधा और सद्प्रयासों के कारण मानव जाति आज इतनी प्रगति कर सकी है। भारतीय परम्परा तो समाज सेवा के लिए समर्पण के संदर्भ में पग-पग पर पुलकित होते नहीं थकती। इसका अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि स्वयं 'धर्म' शब्द का अर्थ 'धारण करना' है और धारण करने से आशय सद्गुणों को अपनाने से है।

इनमें परमार्थ सबसे आगे है। परम्परा में कहा भी गया है – 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।' आधुनिक कवि भी कहता है - 'चार दिन की जिन्दगी, खुद को जिये तो क्या जिये, बात तो तब है कि जब मर जाएं औरों के लिए।' परमार्थ की यह भावना करुणा की देन है, जो वेदों से लेकर वर्तमान भारतीय चिंतन तक का मूल आधार है। भारतीय संविधान भी पग-पग पर इसी से आलोकित है। सभी वर्गों विशेषकर समाज के कमजोर वर्गों के कल्याण और सामाजिक विकास के लिए उसकी प्रतिबद्धता जगविख्यात है। ऐसे सामाजिक कार्य गरीबों, दलितों, पिछड़ों, महिलाओं और आदिवासियों के कल्याण के संदर्भ में लगभग अनिवार्य हैं। भारतीय समाज की विसंगतियों तथा विषमता के चलते पीढ़ियों तक ये वर्ग विकास के लाभ से वंचित रहे और सामाजिक विकास में आये इस गतिरोध की विभीषिका का अनुमान लगाना आज कठिन नहीं है। सम्पूर्णता में खुशहाल समाज का निर्माण मात्र सरकारी कार्यकलापों से सम्भव नहीं है अपितु यह एक सामूहिक जिम्मेदारी है जो एक जागरूक शिक्षित समाज ही निभा सकता है। यह सुखद है कि भारतीय समाज वर्तमान में अपनी इस भूमिका के सन्दर्भ में अत्यन्त जागरूक है और इसे पर्याप्त प्रोत्साहन दे रहा है, सक्रिय भूमिका निभा रहा है।

इस पृष्ठभूमि में प्रो. बालेश्वर पाण्डेय एवं डॉ. भारती शुक्ला की यह पुस्तक 'समाज कार्य : एक समग्र दृष्टि' भारतीय समाज के सम्पूर्ण विकासक्रम पर विहंगम दृष्टि डालती है, जो भारतीयता को समझने, उसे शब्द देने और वर्तमान सरोकारों के सन्दर्भ में अतुलनीय है। आम आदमी से लेकर विद्वतजनों के बीच समाजसेवा की अनिवार्यता को आधारभूत स्तर पर मुखरित करती यह पुस्तक अपनी उपमा आप सरीखी है। आशा है, सभी जागरूक वर्गों के बीच इस सारगर्भित पुस्तक का यह तीसरा संस्करण भी पर्याप्त लोकप्रिय होगा, आत्मीयता पायेगा।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

आमुख

समाज कार्य का अध्ययन एवं अध्यापन आज स्नातकोत्तर एवं पी०एच-डी० स्तर पर उत्तर भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में प्रारम्भ हो गया है। अधिकांश स्थानों पर इसका अध्ययन और अध्यापन हिन्दी भाषा के माध्यम से होता है। इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश एवं उत्तराखण्ड के लोक सेवा आयोगों (पी०सी०एस०) परीक्षाओं में भी समाज कार्य को एक विषय के रूप में सम्मिलित कर लिया गया है। अधिकांश छात्र हिन्दी भाषा के माध्यम से ही अपनी परीक्षायें देते हैं। पी०सी०एस० परीक्षा के समाज कार्य पाठ्यक्रम में कुछ ऐसे विषयों को शामिल किया गया है, जिन पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी किसी भी भाषा में मानक (स्तरीय अथवा स्टैंडर्ड) साहित्य उपलब्ध नहीं हैं, जैसे आतंकवाद आदि।

अतः विश्वविद्यालयों और लोक सेवा आयोगों दोनों की ही अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की गयी है। इस पुस्तक में समाज कार्य के सैद्धान्तिक पक्ष, उसकी विधियों एवं क्षेत्र को एकीकृत रूप से प्रस्तुत किया गया है। सामाजिक सेवाओं, समाज कल्याण, सामाजिक विकास, सामाजिक नीति एवं तत् सम्बन्धी अभिगम, रचनात्मक कार्य, स्वैच्छिक कार्य एवं मानवाधिकार आदि विषयों को अलग-अलग लेकर उनका गहन विवेचन किया गया है। समाज कार्य की एक विधि ''सामाजिक क्रिया'' के परिप्रेक्ष्य में सर्वोदय एवं अन्त्योदय दर्शन का भी गहन विवेचन किया गया है। विगत वर्षों की पी०सी०एस० परीक्षाओं में भी समाज कार्य एवं श्रम कल्याण से सम्बन्धित कई प्रश्न लगातार पूछे जाते रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में समाज कार्य के एक क्षेत्र के रूप में ''श्रम कल्याण'' को लेते हुये, उसकी समाज कार्य में उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुये इस तथ्य का निरूपण किया गया है कि क्या ''कल्याण अधिकारी'' एक सामाजिक कार्यकर्ता है? समाज कार्य के एक अन्य प्रमुख क्षेत्र के रूप में ''ग्रामीण समुदाय विकास'' को लेते हुये, इस क्षेत्र में समाज कार्यकर्ता की भूमिका पर प्रकाश डाला गया है, साथ ही भारत सरकार की गरीबी निवारण सम्बन्धी विभिन्न कार्यक्रमों की व्याख्या करते हुये, ग्रामीण क्षेत्रों में उसकी उपादेयता पर भी प्रकाश डाला गया है। समाज कार्य के नवीन आयामों का भी पुस्तक में अति गहन विश्लेषण किया गया है।

सब कुछ मिलाकर इस ग्रन्थ में समाज कार्य को एक नवीन कलेवर में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ केवल समाजकार्य के स्नातकोत्तर एवं शोध छात्रों के लिये ही उपयोगी नहीं होगा, वरन् पी०सी०एस० तथा यू०जी०सी० नेट के परीक्षार्थियों के लिये भी पूर्ण रूपेण उपयोगी प्रमाणित होगा।

इस ग्रन्थ की रचना में कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थों एवं पत्र तथा पत्रिकाओं की भी सहायता लेनी पड़ी है। हम लोग उनके माननीय लेखकों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हैं। हम लोग महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ के समाजकार्य संकाय के पूर्व संकायाध्यक्ष प्रोफेसर अमर नाथ सिंह एवं वर्तमान विभागाध्यक्ष तथा संकायाध्यक्ष प्रोफेसर मणिभूषण पाण्डेय के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने इस सन्दर्भ ग्रन्थ की रचना में बहुमूल्य परामर्श दिया। हम लोग उ०प्र० विधान सभा के पूर्व सचिव एवं उ०प्र० राज्य वित्त आयोग के पूर्व अध्यक्ष श्री भाल चन्द्र शुक्ला जी के प्रति भी विशेष आभार प्रकट करते हैं, जिनके द्वारा पुस्तक के विधिक आयामों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये। हम श्रीमती संगीता तेज के प्रति भी आभार व्यक्त करते हैं, जिनके द्वारा उपलब्ध कराई गई विषय सामग्री से पुस्तक की रचना में विशेष सहायता मिली।

अन्त में हम उ०प्र० हिन्दी संस्थान के अध्यक्ष, निदेशक, प्रकाशन अधिकारी एवं अन्य अधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं, जिनके सहयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन संभव हो सका।

प्रो० बालेश्वर पाण्डेय

एवं

डॉ० भारती शुक्ला

अनुक्रम

खण्ड–एक

समाजकार्य का सैद्धान्तिक पक्ष

खण्ड–दो
समाजकार्य की विधियाँ

खण्ड–तीन

समाजकार्य का क्षेत्र

1

खण्ड–एक

समाजकार्य का सैद्धान्तिक पक्ष

अध्याय-1

समाजकार्य का अर्थ निरूपण

व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, उसका सदैव से यह प्रयास रहता है कि वह व्यक्तिगत दृष्टि से सन्तोषप्रद एवं सामाजिक दृष्टि से उपयोगी जीवन यापन कर सके। सामान्यतया इन उद्देश्यों की पूर्ति वह अपने प्रयासों से करना चाहता है, किन्तु कभी-कभी उसकी व्यक्तिगत क्षमताओं में या तो कुछ विकार उत्पन्न हो जाता है या सामाजिक परिवर्तन के क्रम में ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसमें वह समायोजित नहीं हो पाता है। ऐसी परिस्थिति में उसे दूसरों की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है। सामान्यतया यह कार्य समाजकार्य द्वारा किया जाता है। आधुनिक युग में वही समाज कार्यकर्त्ता इस कार्य को सक्षम ढंग से पूर्ण कर सकता है, जिसे समाजकार्य का समुचित ज्ञान हो और उक्त ज्ञान के क्रियान्वयन हेतु उसमें समुचित कौशल हो। किंतु समाज कार्य को कुछ दूसरे कार्यों का समानार्थी समझा जा रहा है। जैसे कभी-कभी दान को ही समाजकार्य समझा जाता है। इसी प्रकार स्वैच्छिक श्रम, आपदा प्रबन्धन, चरित्र निर्माण, समाज सुधार, सामाजिक सेवायें, समाज कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक विकास और सामाजिक आन्दोलन आदि भी समाजकार्य के समानार्थी शब्द समझे जाते हैं। सामान्यतया हमारे समाज में गरीब, बाधित और कमजोर लोगों की सहायता, संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति, धार्मिक समुदाय एवं धार्मिक संस्थाओं के द्वारा जी जाती थी, किंतु औद्योगीकरण एवं नगरीकरण तथा न्यूक्लियर फेमली के बढ़ते हुये प्रभावों के कारण आज संयुक्त परिवार, जाति प्रथा एवं धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव बहुत कम हो गया है। प्राचीन सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था भी अब प्रभावहीन होती जा रही है। औद्योगिक क्रॉंति ने आज समाज के समक्ष कुछ नयी समस्यायें जनित कर दी हैं, जो पहले की अपेक्षा अधिक चुनौती पूर्ण हैं और उनके कारण समाज में बहुत से असमायोजित व्यवहार जनित हो रहे हैं और इस समस्याओं का समाधान आज समाजकार्य के द्वारा ही संभव है। आज विभिन्न सामाजिक समस्याओं के निराकरण एवं समाधान में सफल होने के कारण ही समाजकार्य की प्रसिद्धि बढ़ती जा रही है। आज समाजकार्य के द्वारा व्यक्तिगत एवं पारिवारिक समस्याओं का ही समाधान नहीं हो रहा है, वरन् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान भी समाजकार्य द्वारा ही संभव है।

आज समाजकार्य के क्षेत्र में रचनात्मक कार्यकर्ता भी लगे हुये हैं और हमारे परम्परागत स्वैच्छिक समाजकार्यकर्त्ता भी, किंतु इनके साथ ही आज समाजकार्य के क्षेत्र में ऐसे कार्यकर्ता

भी लगे हुये हैं, जो समाजकार्य के क्षेत्र में पूर्णतया प्रशिक्षित और अपने ज्ञान तथा कौशल के द्वारा व्यक्ति, समूह एवं समुदाय की इस प्रकार सहायता करते हैं कि न केवल उनकी समस्याओं का समाधान हो और उनकी योग्यताओं का विकास हो, वरन् वे व्यक्तिगत रूप से संतोषप्रद एवं सामाजिक दृष्टि से उपयोगी जीवन यापन कर सकें।

उपर्युक्त परिवेश में जब हम वैज्ञानिक एवं वृत्तिक समाजकार्य का अर्थ निरूपण करते हैं तो ज्ञात होता है कि समाजकार्य की परिभाषायें कई विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों में दी हैं। समाजकार्य की एक ऐसी परिभाषा देना बहुत कठिन है, जो कई देशों एवं समूहों में सर्वमान्य हो। यद्यपि कुछ देशों में समाजकार्य को धर्मार्थ, दानार्थ या परोपकारार्थ की जाने वाली सेवा में रूप में परिभाषित किया गया है परंतु कुछ देशों में इसे व्यावसायिक सेवा के रूप में देखा जाता है। श्रीमती हेलेन क्लार्क के अनुसार बहुत कम विद्वानों ने समाजकार्य को परिभाषित किया है। अधिकांश विद्वानों और लेखकों ने मात्र समाजकार्य के इतिहास, कार्यों प्रक्रियाओं एवं प्रकृति का ही उल्लेख किया है। थोड़े बहुत लेखक समाजकार्य एवं समाज कल्याण में कोई अन्तर नहीं करते और दोनों शब्दों का प्रयोग हेर फेर करके एक ही अर्थ में करते रहतें हैं।

समाजकार्य की परिभाषा

समाजकार्य की परिभाषा कुछ विद्वानों ने कुछ विशेष उद्देश्यों के परिप्रेक्ष में दी है :-

1. एलिस चेनी ने 1926 में कार्यों एवं उद्देश्यों की दृष्टि से समाजकार्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि समाजकर्ता में वे सम्पूर्ण ऐच्छिक प्रयास समाहित हैं जिनका लक्ष्य जन जरूरतों की संतुष्टि करना है, जिनका संबंध सामाजिक संबंधों से है तथा जो वैज्ञानिक ज्ञान एवं विधियों का प्रयोग करते हैं।

तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के परिपेक्ष्य में एलिस ने समाज कार्य का संबंध केवल निजी प्रयासों से ही जोड़ा है। जबकि समाजकार्य निजी एवं सार्वजनिक दोनों ही प्रकार के अभिकरणों के द्वारा संपादित होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज कार्य कुछ विशिष्ट ज्ञान एवं कुशलताओं पर आधारित है और एच्छिक अभिकरण अपने कार्यकर्त्ताओं में इस प्रकार के ज्ञान और कुशलताओं का सम्यक रूप में विकास नहीं कर पाते हैं।

इसी क्रम में हेलेन विटमर (1942) ने समाजकार्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि समाजकार्य का मुख्य उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को उन समस्याओं के निराकरण में सहायता देना है, जो संगठित समूह की सेवाओं का उपयोग करने में अथवा एक संगठित समूह के सदस्य के रूप में अपनी भूमिका संपादित करने में कठिनाई महसूस करते हैं।

इसी क्रम में फिंक (1942) की परिभाषा भी महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार समाजकार्य व्यक्तियों की एकांकी अथवा समूहों में दी जाने वाली सेवाओं की एक ऐसी व्यवस्था है, जो

वर्तमान या भविष्य में आने वाली उन सामाजिक व मनोवैज्ञानिक बाधाओं से निपटने में सहायता देती हैं जो उन व्यक्तियों या समूहों की पूर्ण रूपेण सामाजिक सहभागिता में बाधायें उत्पन्न करती है।

फिंक ने समाज कार्य को न केवल सेवाओं के आधार पर परिभाषित किया, वरन् कार्यों के आधार पर भी समाजकार्य को परिभाषित किया। उनके अनुसार समाजकार्य का कार्य समाज में उन दशाओं का निर्माण करना है, या व्यक्ति में उन क्षमताओं का विकास करना है, जो समाज के सदस्यों के लिए अधिक सन्तोषजनक जीवन यापन की संभावनाओं को बढ़ावा देती है।

इस प्रकार फिंक ने व्यक्ति की क्षमताओं के विकास पर अधिक बल दिया, साथ ही सामाजिक दशाओं के सृजनात्मक पहलू पर भी विचार केन्द्रित किया, ताकि व्यक्ति का जीवन अत्यधिक संतोषपूर्ण और उपयोगी बन सके।

2. समाज कार्य को कुछ विद्वानों ने वृत्तिक परिवेश में भी परिभाषित किया है। इस परिपेक्ष्य में हेलेन क्लर्क (1947) का मत है कि समाजकार्य व्यावसायिक सेवा का एक स्वरूप है, जो ज्ञान एवं कौशल के सम्मिश्रण पर आधारित है, जिसका कुछ अंश तो स्पष्टतया समाजकार्य है और कुछ अंश समाजकार्य नहीं भी है। जिसके द्वारा एक ओर व्यक्ति की इस प्रकार सहायता की जाती है कि वह सामाजिक परिवेश में अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सके, और दूसरी ओर उन बाधाओं को यथा संभव दूर करने का प्रयास कर सकें जो व्यक्तियो की अधिकतम संभव उपलब्धि, जिसके लिये वे सक्षम हैं, की प्राप्ति में बाधा डालती हैं।

उपर्युक्त परिपेक्ष्य में फ्रिडलेण्डर (1955) ने भी समाजकार्य को परिभाषित किया है। उनके अनुसार समाजकार्य एक व्यावसायिक सेवा है जो मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान एवं निपुणता पर आधारित है। वह व्यक्तियों को अकेले या समूह में सहायता करती है, ताकि वे सामाजिक एवं व्यक्तिगत संतुष्टि और स्वतंत्रता प्राप्त कर सकें।

3. समाजकार्य को कुछ विशेषज्ञों ने उद्देश्यों को दृष्टि से भी परिभाषित किया है। इस परिप्रेक्ष्य में बोयम (1959) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके अनुसार समाजकार्य व्यक्ति की सामाजिक प्रकार्यात्मकता को बढ़ावा देने का प्रयास करता है, यह प्रयास वह अकेले एक व्यक्ति के लिए अथवा समूहों के लिये ऐसे क्रिया-कलापों के द्वारा करता है जो व्यक्ति एवं पर्यावरण की अन्तर्क्रियाओं पर आधारित हैं। इस प्रकार के क्रिया-कलाप तीन समूहों में रखे जा सकते हैं :- विकृत योग्यताओं एवं क्षमताओं का पुनर्स्थापन, व्यक्ति और समाज के साधनों की उपलब्धि और सामाजिक अपकार्यों का निरोध।

उपर्युक्त परिभाषा में बोयम ने न केवल समाजकार्य के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला है, वरन समाजकार्य संबंधी क्रिया-कलापों को भी तीन भागों में बाँटा है (1) उपचारात्मक कार्य – व्यक्ति

की क्षीण एवं बीमार क्षमताओं का पुनर्स्थापन (2) विकासात्मक कार्य - सामाजिक साधनों की उपलब्धि कर व्यक्ति की क्षमताओं का विकास, (3) निरोधात्मक कार्य-समाज के उन अपकार्यों को प्रतिबन्धित करना जो समस्याओं को जनित करते हैं। इस प्रकार यह समाजकार्य की एक महत्वपूर्ण परिभाषा है।

4. कुछ विद्वानों ने समाजकार्य को एक प्रणाली एवं प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया है। इस परिप्रेक्ष्य में कोनोपका (1958) मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। उनके अनुसार समाज कार्य का स्वत्व तीन स्पष्ट रूप से भिन्न किन्तु परस्पर संबंधित कारकों पर आश्रित है :- सामाजिक सेवाओं का एक जाल, सतर्कतापूर्वक विकसित विधियाँ और प्रक्रियायें तथा सामाजिक नीति जो सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा व्यक्त होती हैं। ये सभी तीनों कारक मानवीय दृष्टिकोण, उनके अन्तर्संबंधों और उनकी नैतिक माँगों पर आधारित है।

कोनोपका ने समाजकार्य की जो परिभाषा दी उसमें इस बात पर बल दिया गया कि सामाजिक सेवाओं का एक जाल होना चाहिये और सामाजिक सेवाओं को समुचित रूप से प्रदान करने के लिये सावधानी के साथ विकसित प्रणालियाँ एवं प्रक्रियायें प्रयोग में लाई जानी चाहिये तथा सामाजिक संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा निर्धारित सामाजिक नीति होनी चाहिये और इन तीनों बातों का आधार व्यक्ति, उनके अन्तर्संबंध एवं कर्तव्य होना चाहिये।

5. कुछ अन्य विशेषज्ञों ने विज्ञान एवं कला की दृष्टि से भी समाजकार्य को परिभाषित किया है। इस संबंध में फ्रिडलेण्डर (1950) का मत उल्लेखनीय है। इनके अनुसार समाज कार्य एक विज्ञान एवं कला दोनों ही है तथा उन छः विभिन्न स्वरूपों में व्यावहारिक प्रयोग में लाया जाता है जो एक सामान्य ज्ञान एवं कौशल पर आधारित है और जिसे हम सामान्य समाजकार्य कहते हैं।

स्ट्रूप (हरबर्ट एच 1960) के अनुसार समाजकार्य एक कला है, जिसमें व्यक्ति समूह एवं समुदाय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाता है। इस हेतु लोगों की सहायता के लिये वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग इस ढंग से किया जाता है कि वे अपनी सहायता स्वयं कर सकें। स्ट्रूप ने समाजकार्य को एक कला के रूप में स्वीकार किया किन्तु इस संबंध में उन्होंने जो विचार व्यक्त किया उसका सबसे महत्पपूर्ण अंश यह है कि लोगों की सहायता इस प्रकार से की जाती है कि वे अपने पैरों पर खड़े हो सकें और भविष्य में उन्हें दूसरों की सहायता लेने की आवश्यकता न रह जाये, वे अपनी सहायता स्वयं ही कर सकें।

6. भारतीय परिवेश में 1957 में आयोजित इंडियन कांफ्रेंस आफ सोशल की एक गोष्ठी में भारतीय विद्वानों ने समाजकार्य की निम्नलिखित परिभाषा दी :-

"समाजकार्य एक कल्याणकारी क्रिया कलाप है, जो मानवीय दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान व

प्राविधिक निपुणताओं पर आधारित है, जिसका लक्ष्य एक सुखी और संपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये, व्यक्तियों, समूहों और समुदायों की सहायता करना है।"

इस परिपेक्ष्य में एक विशेषज्ञ खिण्डुका (1962) के मतों का उल्लेख भी समीचीन होगा। उनका इस संबंध में सबसे बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने समाजकार्य को कुछ मूल्यों पर आधारित बतलाया। परिभाषा निम्नलिखित है :-

"समाजकार्य किसी व्यक्ति को उसके सामाजिक प्रकार्यों में सहायता देता है। यह कुछ वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित है और इस हेतु कार्यकर्त्ता में मानवीय संबंधों से जुड़ी हुयी कुछ कुशलतायें भी होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह कुछ मूल्य संकुल पर भी आधारित है, जो उसके दार्शनिक आधार की पुष्टि करते हैं।"

समाजकार्य की नवीनतम परिभाषा ब्रिटिश एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्कर्स (2002) ने दी है। उसके अनुसार :-

"समाजकार्य मानवीय संबंधों के बीच सामाजिक एवं समस्या सुलझाव और सशक्तिकरण को बढ़ावा देता है और व्यक्तियों को ऐसी स्वतंत्रता प्रदान करता है कि उनके कल्याण में वृद्धि हो सके।"

उपर्युक्त मतों के विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक विकास के क्रम में समाजकार्य की परिभाषा में भी परिवर्तन होते गये हैं। ब्रिटिश एसोसियेशन ऑफ सोशलवर्क्स के अनुसार समाजकार्य सामाजिक परिवर्तन, समस्या सुलझाव एवं समाजीकरण को बढ़ावा देता है, ताकि, तीनों के कल्याण में वृद्धि हो। इसके साथ एक बात जोड़ी जा सकती है कि समाजकार्य सामाजिक प्रणाली में एक नियोजित, निर्देशित एवं संगठित परिवर्तन लाना चाहता है, ताकि समाज के मूल अपकार्यों को समाप्त किया जाये। उपर्युक्त विवेचन के परिपेक्ष्य में यदि हम बोयम द्वारा निरूपित समाज के लक्ष्यों-उपचालक, विकासात्मक एवं विरोधात्मक को जोड़ लें तो समाजकार्य की परिभाषा हम निम्नलिखित रूप से दे सकते हैं :-

"समाजकार्य एक सहायता देने वाला कार्य है जो कि वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक कुशलताओं तथा जनतांत्रिक एवं मानवतावादी दर्शन पर आधारित है। यह कार्य सामान्यतया प्रशिक्षित व्यक्ति या व्यक्तियों के संगठन द्वारा किया जाता है। इस कार्य के माध्यम से व्यक्ति समूह या समुदाय को सामाजिक संबंधों के परिपेक्ष्य में समस्याओं के सुझाव में सहायता दी जाती है और व्यक्तित्व-संरचना एवं सामाजिक प्रणाली में नियोजित एवं निर्देशित परिवर्तन कर उनके (व्यक्तियों के समूहों या समुदाय) सामाजिक कार्य को सक्षम बनाया जाता है। सामान्यतया इस प्रकार की सहायता देने वाला व्यक्ति या संगठन अपने कार्य के बदले कुछ आर्थिक पुरस्कार प्राप्त करता है। इस सहायता कार्य के माध्यम से संबंधित व्यक्ति समूह या समुदाय की क्षमताओं का भी विकास कर उन्हें आत्मनिर्भर बनाया जाता है और साथ ही सामाजिक पर्यावरण में भी

परिवर्तन कर उसे ऐसा सक्षम बनाया जाता है कि भविष्य में समस्यायें अपने आप ही प्रतिबंधित हो जायें।

समाजकार्य की परिभाषा के प्रमुख बिन्दु

(i) समाजकार्य का स्वरूप आज व्यावसायिक हो गया है। यह कुछ विशेष ज्ञान एवं कुशलता पर आधारित है, जिसका अर्जन सम्यक प्रशिक्षण द्वारा ही हो सकता है।

(ii) समाजकार्य के अभ्यास हेतु कार्यकर्ता के भीतर मानव संबंधों को समझने के लिए विशिष्ट ज्ञान एवं निपुणता होनी चाहिये, जिससे समस्या का तत्परतापूर्वक समाधान हो सकें।

(iii) समाजकार्य एक ऐसी व्यावसायिक सेवा है, जो समस्या से पीड़ित व्यक्तियों को व्यक्तिगत रूप से या समूह के माध्यम से सहायता प्रदान कर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसमें सामाजिक कार्यकर्त्ता शिक्षण एवं प्रशिक्षण पद्धति द्वारा एक विशेष ज्ञान एवं निपुणता अर्जित कर सेवा करता है।

(iv) समाजकार्य का एक विश्वास यह है कि व्यक्ति की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं के अर्पूत रहने पर कुछ मनोसामाजिक समस्यायें उत्पन्न होती है, जिससे सेवार्थी के कार्य व्यवहार प्रभावित होते हैं, कार्यकर्त्ता इस प्रकार की अन्तर्वैयक्तिक समस्याओं के समाधान का भी निरन्तर प्रयास करता रहता है।

(v) समाजकार्य के अन्तर्गत तीन कारक अति महत्वपूर्ण हैं : सामाजिक सेवाओं का जाल, विकसित प्रणालियाँ एवं प्रक्रियायें, सामाजिक नीति जो सामाजिक अभिकरणों एवं व्यक्तियों के माध्यम से प्रकट होती हैं।

(vi) बहुत सी स्थितियों में व्यक्ति की अपूर्त आवश्यकतायें ही उसकी समस्या बन जाती है और समस्याओं के कारण वह असमायोजित हो जाता है। ऐसी स्थिति में समाज कार्यकर्त्ता आवश्यकतानुसार वैयक्तिक सेवा कार्य, सामूहिक सेवा कार्य या समुदाय संगठन के माध्यम से न केवल उसकी समस्याओं को सुलझाने में उसकी सहायता करता है वरन् उसकी योग्यताओं के अधिकतम विकास का मार्ग प्रशस्त करता है।

(vii) समाजकार्य ज्ञान एवं कौशल से मिश्रित एक व्यावसायिक सेवा है, जो सामाजिक वातावरण में व्यक्ति की आवश्यकताओं की संतुष्टि प्रदान करती है तथा उन बाधाओं को दूर करती है जो उसके अधिकतम विकास में बाधा पहुँचाते हैं।

(viii) समाजकार्य एक ऐसा विज्ञान और कला है, जो ज्ञान एवं कौशल पर आधारित है, यह व्यक्ति समूह और समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग एवं कलात्मक प्रकृति के आधार पर एकत्र साधनों के एकीकरण एवं समन्वयन द्वारा ऐसी सहायता प्रदान करता है कि लोग अपनी सहायता अपने आप कर सकें और आगे भी करते रहे।

(ix) समाजकार्य के द्वारा समस्याओं को हल करने के साथ पर्यावरण की परिस्थितियों में भी परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है, जो इन समस्याओं को पैदा करती है। इस प्रकार समस्या का समाधान एवं निरोध दोनों ही कार्य समाज-कार्य द्वारा किया जाता है।

(x) समाजकार्य अन्याय से लड़ने, विपत्तियों के निवारण, समाज के दुर्बल वर्ग को मदद करने तथा उनके एवं उनके परिवारों की पुनर्वास में सहायता देता है तथा पाँच राक्षसी बुराइयों-भौतिक आवश्यकता, व्याधि, अज्ञानता तथा गन्दगी एवं आलस्य से लड़ता है।

(xi) समाजकार्य सामाजिक कार्यात्मकता को बढ़ाता है तथा वह विकृत क्षमताओं की पुनर्स्थापना, व्यक्तिगत एवं सामूहिक साधनों की व्यवस्था तथा सामाजिक अपकार्य को प्रतिबन्धित करता है।

(xii) समाजकार्य एक गत्यात्मक क्रिया-कलाप है, जिसके द्वारा रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने तथा व्यक्ति, परिवार और समूह के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक उत्थान का प्रयास किया जाता है।

(xiii) समाजकार्य जनसामान्य के लिये आर्थिक कल्याण एवं सुख ढूढ़ता है, जिसका संबंध मानवीय व्यवहारों से है।

(xiv) समाजकार्य एक ऐसी सहायता है, जिससे सामाजिक व व्यक्तिगत संतुष्टि एवं स्वतंत्रता प्राप्त होती है।

समाजकार्य के उद्देश्य

व्यक्ति की संतुष्टि एवं सामाजिक समायोजन हेतु कार्य समाज के द्वारा विभिन्न पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। व्यक्ति की संतुष्टि एवं सामाजिक समायोजन हेतु समाजकार्य एक ओर तो व्यक्तियों की अन्तर्निहित क्षमताओं का विकास करता है और दूसरी ओर पर्यावरण का मॉडिफिकेशन करता है तथा अन्ततोगत्वा इस प्रकार की सहायता उपलब्ध कराता है कि सामाजिक स्तर पर बहुत ही कम समस्यायें उत्पन्न हो सकें।

समाजकार्य का उद्देश्य व्यक्ति समूह व समुदाय की शारीरिक मानसिक व सामाजिक समस्याओं का समाधान कर इस प्रकार की सहायता देना है कि अधिकतम कल्याण की प्राप्ति हो सके और सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त हो सके।

रॉस ने समाजकार्य के उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुये बताया कि समाजकार्य की संपूर्ण पद्धतियों के उद्देश्य एक समान है। संपूर्ण समाज की बाधाओं के निवारण अथवा संभाव्यताओं की मुक्ति हेतु आन्तरिक साधनों का पूर्ण विकास, व्यक्ति समूह एवं समुदाय की अपनी क्षमताओं का विकास तथा एक अभिन्न ईकाई के रूप में कार्य करने की योग्यता का विकास समाजकार्य के मुख्य उद्देश्य हैं। समस्त सामाजिक कार्यकर्त्ता इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयास करते है।

हैमिल्टन (1951) के अनुसार समाजकार्य के दो प्रमुख उद्‌देश्य हैं (i) व्यक्ति या समूह का शारीरिक और आर्थिक कल्याण एवं स्वस्थ तथा उच्च जीवन स्तर, (ii) संतोषजनक संबंधों एवं अनुभव द्वारा सामाजिक कार्यात्मकता में वृद्धि। बिस्नो (1952) ने समाजकार्य के उद्‌देश्यों को दो दृष्टिकोण से देखा गया है। उनके अनुसार समाजकार्य व्यक्ति को संस्थागत ढाँचे के साथ समायोजन करने में मदद करता है तथा उस संस्थागत ढाँचे के उचित क्षेत्रों के सुधार का भी प्रयास करता है। ब्राउन (1942) ने समाजकार्य के उद्‌देश्यों को चार प्रकार से देखा:- (i) गंभीर आर्थिक संकट से पीड़ित और पराश्रिम व्यक्तियों को भौतिक सहायता प्रदान करना, (ii) व्यक्तियों को ऐसी सहायता प्रदान करना कि वे अपने आर्थिक एवं सामाजिक वातावरण से समायोजन स्थापित कर सकें, (iii) सेवार्थी की समस्याओं का कार्य कारण संबंध, गरीबी, रुग्णता, अपराध या स्वतंत्र रूप से उत्पन्न मानसिक समस्याओं के समाधान में मदद करना, (iv) आर्थिक दृष्टि से खराब स्थिति वाले वर्गों के व्यक्तियों के लिये मनोरंजन, सांस्कृतिक कार्यक्रम, अच्छे अवसर, स्वास्थ्य, शिक्षा व अन्य सुविधायें सुलभ कराना।

फ्रिडलेण्डर के अनुसार समाजकार्य का उद्‌देश्य व्यक्तियों का कल्याण और समाज में (वह समाज वर्ग, जिसमें वे व्यक्ति रहते हैं) समन्वय स्थापित करना है। यह कहना सत्य नहीं है कि ऐसा करने के लिए समाजकार्य व्यक्तियों को अपनी निराश्रितता, पृथक्करण तथा दीनता स्वीकार करने और उन सामाजिक स्थितियों के साथ समायोजन करने हेतु बाध्य करता है जो नुकसानदेह (कष्टकर) और अन्यायपूर्ण होती हैं। इसके विपरीत समाजकार्य का उद्‌देश्य व्यक्तियों को सामाजिक स्थितियों के प्रति जागरूक करना, वास्तविकता का सामना करने तथा सामाजिक स्थितियों में सुधार के प्रयत्न को सफल बनाना है। साथ ही समाजकार्य का उद्‌देश्य रुग्णता का उपचार और क्षमताओं का अधिकतम विकास है।

समाजकार्य के अन्य उद्‌देश्य एवं समाजकार्य की मौलिक मान्यतायें :-

(1) बेहतर आर्थिक स्थिति एवं सुखमय जीवन यापन के लिए व्यक्ति को आत्मोन्नति पाने में सहायता प्रदान करना।

(2) व्यक्तियों की अपनी विशिष्ट इच्छाओं, योग्यताओं व क्षमताओं के अनुरूप सन्तोषप्रद सम्बन्ध और उत्तम जीवन स्तर प्राप्त करने की इच्छा को समुदाय के परिप्रेक्ष्य में प्राप्त करने में सहायता देना।

(3) व्यक्ति के सामाजिक वातावरण के अनुसार अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु सहायता प्रदान करना तथा वातावरण सम्बन्धी उन बाधाओं के निवारण का प्रयत्न करना जो व्यक्ति को अपनी योग्याताओं व क्षमताओं के अनुरूप अपना सर्वोत्तम विकास करने से रोकती है।

(4) एक संगठित समूह की सेवाओं का उपयोग करने अथवा एक संगठित समूह के सदस्य

के रूप में कार्य सम्पादन के अनुभव के संदर्भ में व्यक्तियों की बाधाओं के निवारण में सहायता प्रदान करना।

(5) मानवीय व्यवहार और सम्बन्धों को समझते हुए व्यक्ति व उसकी सामाजिक वास्तविकताओं के बीच समायोजन स्थापित करने में व्यक्ति की मदद करना।

(6) वैयक्तिक एवं सामाजिक सन्तुष्टि व स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा सुखी व पूर्ण जीवन यापन हेतु व्यक्तियों की सहायता करना।

(7) समाजकार्य का उद्‌देश्य है कि वैयक्तिक, सामूहिक तथा सामुदायिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने के कारण उत्पन्न अभ्यन्तर-वैयक्तिक और अन्तर्वैयक्तिक समायोजन सम्बन्धी समस्याओं का निदान व निराकरण करना।

(8) किन्ही कारणों से विकृत योग्यताओं के पुनःस्थापन हेतु व्यक्ति की यथासम्भव सहायता प्रदान करना।

(9) सामाजिक कार्यात्मकता की वृद्धि में व्यक्तियों की व्यक्तिगत तथा समूह के माध्यम से सहायता ऐसी प्रक्रियाओं का प्रयोग करके करना जिनका सम्बन्ध व्यक्ति व उसके वातावरण के मध्य अन्तर्क्रियाओं से होता है।

(10) समाजकार्य का उद्‌देश्य व्यक्ति, समूह व समुदाय की ऐसी सहायता करना है कि उनकी वैयक्तिक व सामाजिक लक्ष्यों की उपलब्धि हो सके साथ ही उनकी सामाजिक कार्यहीनता का विरोध भी हो सके जिससे सर्वोत्तम विकास और सुखमय जीवन स्तर की प्राप्ति की जा सके।

समाजकार्य की मौलिक मान्यताएँ
(Basic Assumptions of Social work)

समाज में जनित समस्याओं के समाधान की प्रक्रिया के अन्तर्गत समाजकार्य की मौलिक मान्यताओं का अपना महत्वपूर्ण स्थान होता है। सामाजिक कार्यकर्त्ता कुछ बातों में दृढ़ विश्वास एवं आस्था रखते हैं। हेलन क्लार्क ने समाजकार्य की छः मौलिक मान्यताओं की विवेचना की है जो निम्नलिखित हैं :-

(1) वर्तमान में समाजकार्य एक व्यवसाय के रूप में विकसित हो चुका है जिसके अभ्यास में बौद्धिक क्रियाकलापों के साथ-साथ सामाजिक कार्यकर्त्ता के उत्तरदायित्व की जरूरत पड़ती है। समाजकार्य का स्वरूप मात्र शास्त्रीय अथवा अकादमिक ही नहीं है बल्कि अपने लक्ष्यों में व्यावहारिक भी है। इसका अपना विशेष ज्ञान व प्रविधियाँ हैं जो साहित्य और पर्यवेक्षित क्षेत्रीय अनुभव द्वारा संचालित की जा सकती हैं।

(2) मानवीय व्यक्तित्व को समझने तथा सम्बन्धित पर्यावरण की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करने

की योग्यता व्यावसायिक सामाजिक कार्यकर्त्ता के कार्य करने की मौलिकता है। हेलन क्लार्क का कथन है कि समाजकार्य एक कला है विज्ञान नहीं; हालाँकि इसमें यथासम्भव वैज्ञानिक प्रणालियों का उपयोग किया जाता है।

(3) समाजकार्य की तीसरी मौलिक मान्यता के अन्तर्गत यद्यपि समाजकार्य और समाज कल्याण कुछ अर्थों में समान लगते हैं किन्तु वास्तव में ये समान अवधारणाएँ नहीं हैं। सामाजिक संस्थायें और अभ्यास के क्षेत्र, समाज कल्याण के अर्न्तगत आते हैं जो समाज कार्य नहीं हैं। समाज कल्याण के विस्तृत क्षेत्र में अनेक स्थानों पर समाजकार्य के अभ्यास की विधियाँ उपयोग में लाई जा सकती हैं और इसके प्रयोग की आवश्यकता भी है।

(4) समाजकार्य एक व्यवसाय है और सहायता कार्य के दौरान इसकी अपनी प्रक्रियायें व प्राविधियाँ होती है जिनके अभ्यास में निपुणताओं की अपेक्षा अन्य चीजों की भी आवश्यकता होती है।

(5) समाजकार्य की मौलिक मान्यताओं के अगले चरण में सामाजिक कार्यकर्त्ता के कार्यों का केन्द्र-बिन्दु व्यक्ति तथा उसके वातावरण के बीच होने वाली अन्तर्क्रियाओं पर बल दिया जाता है।

(6) समाजकार्य की अंतिम मौलिक मान्यता के अन्तर्गत अपनी क्रियाकलापों की प्रकृति का अवलोकन करते हुए सामाजिक कार्यकर्त्ता के लिए कई प्रकार की सेवाओं का उपयोग करना आवश्यक होता है। अतः समाज कार्यकर्त्ता को अपने समुदाय में उपलब्ध सभी साधनों के विषय में पूरी जानकारी होनी चाहिए।

समाजकार्य का विषय क्षेत्र
(Field of Social Work)

समाज कार्य के विषय क्षेत्र को दो भागों में विभक्त किया जाता है :-

प्रथम-मनुष्य और उसकी आवश्यकताएँ एवं समस्यायें तथा द्वितीय-वातावरण सम्बन्धी वे स्थितियाँ जिनके कारण ये आवश्यकतायें एवं समस्यायें जनित होती हैं, विशेष रूप से जब इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती हैं तो गंभीर समस्यायें पैदा हो जाती हैं।

मानव मात्र के अन्तर्गत ये आवश्यकताएँ बच्चों, बालकों, युवकों, वृद्धों, महिलाओं या पुरुषों किसी से भी सम्बन्धित हो सकती हैं अर्थात् ये आवश्यकताएँ किसी भी क्षेत्र की हो सकती हैं : मुख्यतः जब वातावरण की विपरीत परिस्थितियों के कारण ये आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं और उनकी पूर्ति नहीं हो पाती है तो व्यक्ति के लिए समस्या का कारण निर्मित होता है। वातावरण सम्बन्धी परिस्थितियाँ, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों की हो सकती हैं।

सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत समाज के किसी एक या उससे अधिक वर्ग में पिछड़ेपन अथवा हीनता/दीनता के भाव परिलक्षित होते हैं। इसी तरह आर्थिक दशाओं के अन्तर्गत समाज के वर्गों में आर्थिक असमानताएँ पनपती हैं और गरीबी बढ़ती है तथा राजनैतिक वातावरण की ऐसी दशायें प्रजातांत्रिक समाज में नागरिक को उसके स्वस्थ विकास व स्वतत्रंता में विघ्न पैदा करती हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पर्यावरण सम्बन्धी ऐसी दशायें सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में समस्यायें उत्पन्न करती हैं और इसका कारण विपरीत परिस्थितियों में आवश्यकताओं का पूरा न हो पाना है।

समाजकार्य के विषय क्षेत्र का एक पहलू यह भी है कि समाजकार्य की सेवायें अभिकरण के द्वारा संचालित होती हैं। ये अभिकरण सार्वजनिक, व्यक्तिगत, स्थानीय, राज्यस्तरीय अथवा केन्द्रीय हो सकते हैं। सहायता कार्य के दौरान सामाजिक कार्यकर्त्ता इन अभिकरणों के माध्यम से वैयक्तिक सेवा कार्य, सामूहिक सेवा कार्य अथवा सामुदायिक संगठन की पद्धतियों का उपयोग भली-भाँति करता है। भिन्न-भिन्न तरह के सेवार्थियों को समूहों में विभक्त कर जो समाजकार्य के क्षेत्रवार सेवार्थी कहे जा सकते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता अपने ढ़ंग से सहायता देता है। समाजकार्य के कई कार्यक्षेत्र हैं जैसे-बाल कल्याण, युवा कल्याण, महिला कल्याण, वृद्धावस्था कल्याण, परिवार कल्याण, श्रम कल्याण, ग्रामीण कल्याण, चिकित्सा सम्बन्धी कल्याण, पिछड़ी जाति-जनजाति कल्याण तथा विद्यालयीय समाजकार्य इत्यादि। इन क्षेत्रों में अभिकरणों का विभाजन इनके कार्यों या क्षेत्र को ध्यान में रखकर किया गया है। उदाहरण के तौर पर जो अभिकरण बाल कल्याण का कार्य सम्पादन करते हैं, बाल कल्याण के अभिकरण/संस्थायें कहे जाते हैं, लेकिन यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इन्हें अनेक उपसमूहों में भी विभक्त किया जा सकता है जैसे- अंधे, गूँगे-बहरे बच्चों हेतु कार्य करने वाली बाल कल्याण संस्थायें। कुछ मात्र बाल अपराधियों के कल्याणार्थ कार्यरत संस्थायें होती हैं इसी प्रकार निराश्रितों की सहायता के लिए भी संस्थायें होती हैं, यथा-निराश्रित बच्चों, निराश्रित स्त्रियों व निराश्रित वृद्धों के सहायतार्थ।

फ्रीडलैण्डर ने समाजकार्य के क्षेत्र की व्याख्या इन सेवाओं को विस्तृत रूप से समझाकर की है। उन्होंने समाजकार्य के क्षेत्र की व्याख्या समाजकार्य की मुख्य गतिविधियों को सेवा के प्रकारों के अनुसार विभक्त करके की है उदाहरणस्वरूप-परिवार कल्याण सेवायें, बाल कल्याण सेवायें, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवायें, मानसिक स्वास्थ्य सेवायें, सुधारात्मक सेवायें, सामुदायिक कल्याण सेवायें, जन सहायता, सामाजिक बीमा, आवासीय सेवायें, अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक सेवायें, रोजगार सम्बन्धी सेवायें, युवकों के खाली समय से सम्बन्धित सेवायें तथा सेना से सेवानिवृत्त सैनिकों के लिए सेवायें इत्यादि।

योजना आयोग, भारत सरकार द्वारा इन सेवाओं को निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकृत कर निरूपित किया गया है :- जैसे- परिवार कल्याण सेवायें, बाल कल्याण सेवायें, युवक कल्याण सेवायें, महिला कल्याण सेवायें, विकलांगों के लिए सेवायें, सामुदायिक कल्याण सेवायें, पिछड़े एवं कमजोर वर्गों हेतु सेवायें, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कल्याण सेवायें, चिकित्सकीय समाजकार्य, मनोसामाजिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु सेवायें, असमायोजित व्यक्तियों के लिए सेवायें और व्यक्तियों के समायोजन से सम्बन्धित सेवायें इत्यादि।

कुछ लेखों में समाजकार्य के क्षेत्रों की व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में आवश्यकताओं व समस्याओं पर विचार किया गया है। समाजकार्य के क्षेत्रान्तर्गत जो समस्यायें परिलक्षित होती हैं वे हैं :- गरीबी, बेकारी, रुग्णता, टूटे परिवार, असमायोजित परिवार, शारीरिक, मानसिक व संवेगात्मक बाधायें, कम मनोरंजन, आवास की कमी तथा असामाजिक व्यवहार। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आयोजित सेवायें हैं- परिवार एवं बाल कल्याण सेवायें, जन सहायता, व्यावसायिक निर्देशन, सामाजिक बीमा, विधि सेवायें, आरोग्य सेवायें, अपंग व अयोग्य व्यक्तियों की सेवायें, अपचार (Delinquency) के निवारण व उपचार के कार्यक्रम, बाल-निर्देशन, प्रौढ़-शिक्षा तथा अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम, और मनोरंजन सम्बन्धी सेवायें, इत्यादि।

इस प्रकार उपर्युक्त क्षेत्रों में समाजकार्य सेवाओं को देते समय उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु वैज्ञानिक ज्ञान, कौशल तथा अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही वैयक्तिक सेवाकार्य, सामूहिक सेवाकार्य, सामुदायिक संगठन, समाज कल्याण प्रशासन, समाज कार्य शोध, तथा सामाजिक क्रिया या आन्दोलन का प्रयोग इन उपर्युक्त क्षेत्रों में सेवा प्रदान करने के लिए होता है।

समाजकार्य की भूमिका का वर्णन कुछ क्षेत्रों में हो सकता है जैसे-बाल कल्याण के क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली समस्यायें-अनाथ, आश्रय विहीन, बाल अपचारी बालकों की समस्यायें। इनके समाधान हेतु किसी अभिकरण आदि की सुविधायें प्रदान की जाती हैं तथा सामाजिक कार्यकर्त्ता वैयक्तिक सेवा कार्य पद्धति का उपयोग करते हुए इनकी सहायता कर सकता है साथ ही अभिकरण में उत्तम पर्यावरण का निर्माण करने के लिए और बालकों के स्वस्थ विकास हेतु सामूहिक सेवाकार्य पद्धति का उपयोग कर सकता है।

युवा वर्ग की ऊर्जा का सृजनात्मक प्रकटन करके व्यक्तित्व विकास में सहायता प्रदान करने के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ता अपने अनुभव व सामुदायिक साधनों का उपयोग करता है। इसमें अधिकांशतः सामूहिक सेवाकार्य पद्धति का प्रयोग हो जाता है।

महिला कल्याण के क्षेत्र के अन्तर्गत सामाजिक कार्यकर्त्ता महिलाओं के सामाजिक व आर्थिक शोषण सम्बन्धी समस्याओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं महिलाओं के पुनर्वास के क्षेत्र में कार्यरत अधिकांश अभिकरणों के कार्यों को सुचारू रूप से गतिशील करने, विशिष्ट

समस्याओं के समाधान हेतु सामाजिक कार्यकर्त्ता वैयक्तिक सेवाकार्य, सामूहिक सेवाकार्य व समाज कल्याण प्रशासन का प्रयोग करते हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक क्रिया पद्धति का प्रयोग करके स्त्रियों की दयनीय दशाओं जैसे- दहेज प्रथा, पत्नियों की आग से मृत्यु तथा अन्य असन्तोषजनक स्थितियों के निपटने हेतु सामाजिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

आज परम्परागत परिवार, पड़ोस, गाँव इत्यादि से सम्बन्धित उपयोगी प्राथमिक संस्थायें औद्योगीकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप विलुप्त सी होती जा रही है। पारिवारिक सदस्यों में समायोजन की समस्यायें, वृद्धों की समस्यायें, औद्योगिक श्रमिकों की समायोजन की समस्यायें, अपराध वृद्धि की समस्यायें आदि का समाधान सामाजिक कार्यकर्त्ता समाजकार्य की वैज्ञानिक विधियों एवं कुशलताओं के माध्यम से कर सकते हैं। इस प्रकार समाज-कार्य की अद्यतन विधियों के प्रयोग से उपर्युक्त समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

समायोजन की समस्याओं से निजात पाने हेतु चिकित्सालयों में समाज कार्यकर्त्ता की भूमिका अहम् होती है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात होती है कि रोगी की समस्या का समाधान होने के बाद उत्तर-रक्षा सेवाओं की जरूरत पड़ती है जो समाजकार्य के क्षेत्रान्तर्गत ही होता है। इसके अतिरिक्त कुछ रोगी चिकित्सालयों के बाह्य कक्ष में समयानुसार आकर अपना उपचार कराते हैं जिनका निबन्धन करके समयबद्ध कार्यक्रम के अनुसार उपचार होता रहता है। इस प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में सामूहिक सेवा कार्य का प्रयोग भी सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त एक अन्य क्षेत्र भी महत्वपूर्ण है जिसमें सामाजिक कार्यकर्त्ता की महती भूमिका होती है। वह है विद्यालयीय समाजकार्य। बड़े-बड़े शहरों में विद्यार्थियों की समायोजन सम्बन्धी समस्याओं, भगेड़ूपन व बाल अपराध की समस्याओं का समाधान सामाजिक कार्यकर्त्ता भलीभाँति कर सकते हैं। अध्यापक-अभिभावक के बीच समस्याग्रस्त बच्चे के शिक्षण के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर निरन्तर मध्यस्थ के रूप में अपने ज्ञान व अनुभव के माध्यम से सामाजिक कार्यकर्त्ता यह महान कार्य सफलतापूर्वक कर सकते हैं।

समाजकार्य के कार्य

यद्यपि समाजकार्य के विधायी कार्य तो उसके उद्देश्यों में निहित हैं, तथापि मोटे तौर पर उन्हें चार भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिसका विवरण निम्नलिखित है :-

1. **उपचारात्मक कार्य :-** जब कोई व्यक्ति, समूह या समुदाय समस्याओं से ग्रस्त हो तो उन समस्याओं के समाधान या उपचार हेतु समाजकार्य सेवाओं की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की सेवा या कार्य के अन्तर्गत समस्या की प्रकृति के अनुसार चिकित्सकीय सेवाओं, मनोचिकित्सकीय सेवाओं, मानसिक आरोग्य से जुड़ी सेवाओं तथा अपंग एवं रोग ग्रस्त

व्यक्तियों के लिये अपेक्षित सेवायें सम्मिलित हैं,

2. **सुधारात्मक कार्य** :- इन कार्यों के अन्तर्गत व्यक्ति-सुधार सेवाओं तथा समाज सुधार सेवाओं को शामिल किया जाता है। व्यक्ति-सुधार सेवाओं में कारागार सुधार सेवाओं, प्रोवेशन पैरोल तथा कानूनी सेवा संबंधी कार्यो को शामिल किया जाता है। समाज सुधार सम्बन्धी सेवाओं के अन्तर्गत परिवार कल्याण सेवाओं, विद्यालय समाज-कार्य एवं औद्योगिक समाज कार्य को सम्मिलित किया जा सकता है। समाज सुधार संबंधी सेवाओं के अन्तर्गत रोजगार संबंधी सेवाओं, वेश्यावृति निवारण, भिक्षावृत्ति निवारण, दहेज उन्मूलन तथा एकीकरण को प्रोत्साहित करने से सम्बंधित सेवाओं का उल्लेख किया जा सकता है।

3. **निरोधात्मक कार्य** :- इन कार्यों के अन्तर्गत सामाजिक नीतियों, सामाजिक परिनियमों, जनचेतना उत्पन्न करने वाले कार्यो, विभिन्न प्रकार के कल्याण संबंधी कार्यक्रमों तथा नाना प्रकार की समाज सुरक्षा संबंधी सेवाओं का उल्लेखन किया जा सकता है।

4. **विकासात्मक कार्य** :- इसके अन्तर्गत आर्थिक विकास से संबंधित विविध प्रकार के कार्यक्रमों, जैसे- उत्पादकता की दर में वृद्धि, राष्ट्रीय आय तथा प्रतिव्यक्ति आय की दरों में वृद्धि, आर्थिक लाभों का साम्यपूर्ण विवरण, उपभोक्तओं के हितों का संरक्षण इत्यादि कार्य आते हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक विकास के भी अनेक कार्यक्रम भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं, जैसे पेयजल, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य सेवायें, शिक्षण एवं प्रशिक्षण संबंधी कार्य तथा सेवायोजन, मनोजरंजन संबंधी कार्य इत्यादि।

परिवर्तनशील परिवेश में समाजकार्य

यद्यपि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है, किंतु हम देख रहे हैं कि मानव इतिहास में विगत 2000 वर्षों में उतने परिवर्तन नहीं हुये जितने कि विगत केवल 200 वर्षों में हुये। जैसे विशाल पैमाने पर उत्पादन, वैज्ञानिक एवं प्राविधिक आविष्कार, विचारधाराओं एवं आदतों में आमूल परिवर्तन। सामाजिक संबल एवं सामजिक प्रगति के विभिन्न आयामों ने पूर्ण रूपेण और अतिवृहद परिवर्तन किया है। परिवर्तन की गति इतनी तीव्र है कि इस गति ने मानव मात्र के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। इस प्रकार के परिवर्तनों से निपटने के लिये समाज कार्य एक सक्षम संयंत्र की भाँति प्रयुक्त हो सकता है। सामाजिक हस्तक्षेप के विज्ञान एवं कला के रूप में समाजकार्य ने बहुत से ऐसे प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता दिये हैं, जिन्होंने मानव मात्र की अनेक समस्याओं और मुद्दों में हस्तक्षेप कर उन्हें सुलझाने का प्रयास किया है। दान एवं सामाजिक सहायता से प्रारम्भ कर आज समाजकार्य एक नई सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में लगा हुआ हैं, जिसमें उसने न केवल समस्याग्रस्त व्यक्ति को "इनेब्लर" के रूप में परिणित किया है, वरन

सामाजिक क्रिया के माध्यम से एक नई सामाजिक व्यवस्था के निर्माण हेतु भी वह प्रयत्नशील है।

हमें आज ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों का परीक्षण करना है, जिन्होंने न केवल समाज कार्यकर्ताओं की कार्यप्रणाली को प्रभावित किया है वरन् सेवा विधियों को भी प्रभावित किया है। इस परिपेक्ष्य में एक बड़ा मुद्दा आर्थिक लक्ष्य एवं मानवीय लक्ष्यों के बीच असन्तुलन का है। पूँजीवादी समाज का सर्वप्रमुख लक्ष्य लाभार्जन है। किन्तु समाजवाद इस लाभार्जन को कोई महत्व नहीं देता। हम समाजकार्यकर्ता केवल इस बात पर बल देते हैं कि उत्पादन केवल सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन है। मानवीय प्राणी जो अपने श्रम के माध्यम से उत्पादन करता है, एक प्रतिष्ठित प्राणी समझा जाता है न कि एक वस्तु। किन्तु पूँजीवादी समाज श्रम को भी एक साधन समझता है जैसे कच्चा माल और मशीन आदि को, पूँजीवादी समाज ऐसे लोगों की उपेक्षा करता है, जो उत्पादक नहीं हैं। उत्पादन कार्य में बड़े पैमाने पर श्रम की उपेक्षा होती है। सामान्यतया पूँजीवादी नियोक्ता श्रम का शोषण करके लाभ की वृद्धि करता है। परिणाम स्वरूप श्रमिकों में असन्तोष उत्पन्न होता है। इस असंतोष को कम करने के लिये नियोक्ता श्रमिकों के लिये कुछ कल्याणात्मक कार्यक्रम चलाते हैं।

आज अपने देश एवं पूरे विश्व समाज में ऐसी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कंपनियाँ विकसित हो रही हैं, जो बहुत अंश में देश की सरकार से भी अधिक सशक्त होती जा रही हैं। उसी प्रकार अधिकांश राजनैतिक दल पूँजीवादी व्यवस्था का अनुकरण कर रहे हैं। सरकार भी परंपरागत विचारधाराओं के आधार पर चुनी जाती है। चुनाव के पूर्व घोषणा पत्रों में तो राजनैतिक दल गरीबों की भलाई के लिये बहुत से वायदे करते हैं। किंतु आज स्वतंत्रता प्राप्ति के 60 से अधिक वर्षों के बाद भी गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों की संख्या में कोई कमी नहीं आ रही है। राष्ट्रीय आय में तो अवश्य वृद्धि हो रही है किंतु इसका बड़ा भाग एवं लाभ पूँजीपतियों को ही प्राप्त हो रहा है। देश की सबसे बड़ी समस्या यह है समाजिक नीतियाँ आर्थिक नीतियों के समक्ष बौनी पड़ती जा रही है। देश के बजट में समाजकल्याण, शिक्षा एवं जन स्वास्थ्य के मद में कई वर्षों से कोई उल्लेखनीय इजाफा नहीं हो रहा है। समाज का वह सदस्य जिसकी श्रम बाजार में कोई अहमियत नहीं हैं, उसे एक लॉस या घाटा समझा जा रहा है।

विकासशील समाज में समाजकार्य की भूमिका

विकासशील देशों में सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाजकार्य की सबसे महत्वपूर्ण प्राथमिकता है। जब तक देश में रहने वाले व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं

हो जायेगी तब तक उनके सामाजिक विकास का कोई महत्व ही नहीं है। अतः समाजकार्य की प्रथम भूमिका यह है कि लोगों को ऐसी सहायता उपलब्ध करायी जा सके कि वे रोजी-रोटी का अर्जन कर सकें। क्योंकि भूखे पेट से न तो कोई अपने विकास और न समाज के विकास की बात सोच सकते हैं। इस सामाजिक विकास का प्रथम चरण है शारीरिक आवश्यकतायें-जिनमें भी भोजन, वस्त्र एवं आवास की पूर्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

सामाजिक विकास के क्रम में समाजकार्य की दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका लोगों की शिक्षा संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति की है। समाजकार्य की महत्वपूर्ण भूमिका है लोगों में समाज कार्य के मूल्यों की समझदारी का विकास। इसके लिये समाज कार्यकर्ता को कई प्रकार से सम्प्रेषण की प्राविधियों का प्रयोग करना होगा, और यह प्राविधियाँ तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक व्यक्ति शिक्षित न हो जाये। आज आवश्यकता इस बात की है कि वे स्वयं अपनी एवं राष्ट्र की आय में वृद्धि हेतु सक्षम हो सके।

राजकीय बजट में कुछ धनराशि सामाजिक विकास हेतु आवन्टित होती है, यह धनराशि सामान्यतया सामाजिक कार्यकर्ताओं या उनमें संगठन के द्वारा ही जरूरतमन्दों के विकास में लगाई जाती है। सामाजिक कार्यकर्ताओं का यह एक परमकर्तव्य है कि वे धनराशि का समुचित सदुपयोग करें ताकि सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों का सम्यक विकास हो सके।

भारत में समाजकार्य व्यवसाय की नयी चुनौतियाँ

भारत में समाजकर्ता के व्यावसायिक स्वरूप का अध्यापन एवं प्रशिक्षण टाटा इन्स्टीट्यूट की स्थापना के पश्चात् 1936 से ही आरम्भ हो गया था, किंतु आज 73 वर्षों के पश्चात भी इसे एक ऐसा प्रोफेशन/व्यवसाय स्वीकार किया जाता है जो कि अभी तक अपनी बाल्यावस्था में ही है। हमारे देश में प्रबन्ध प्रशिक्षण एवं कम्प्यूटर प्रशिक्षण यद्यपि अपेक्षाकृत बहुत बाद में आरम्भ हुये, किंतु आज वे अपने विकास की परिपक्वता अथवा पूर्ण वयस्कता तक पहुँच गये हैं। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि हमारी सेवायें अभी भी वैयक्तिक सेवा कार्यों तक सिमटी हुयी हैं, हमने अभी तक सामुदायिक संगठनों एवं सामाजिक क्रियाओं का सहारा लेकर जन आन्दोलन एवं व्यापक स्तर पर सामाजिक समस्याओं के निराकरण का कार्य गंभीर रूप से नहीं किया। इस संबंध में एक बात और है, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, कम्प्यूटर या कानून के व्यवसाय से जुड़े अति उच्चस्तरीय अभिकर्मी कुछ न कुछ व्यावहारिक सेवा अवश्य प्रदान करते हैं, किंतु हमारे समाजकार्य क्षेत्र से जुड़े उच्चस्तरीय अभिकर्मी कोई भी व्यावहारिक सेवा प्रदान नहीं करते। अतः वे अपने ज्ञान-कौशल की व्यावहारिक सार्थकता प्रमाणित नहीं कर पाते हैं। उपर्युक्त एवं कुछ अन्य कारणों से हमारा समाजकार्य व्यवहार 73 वर्षीय आयु होने के पश्चात् भी अभी अपनी बाल्यावस्था में ही रह गया है।

उपर्युक्त वैचारिक पृष्ठभूमि में हमारे देश में समाजकार्य से जुड़ी हुयी कुछ और भी चुनौतियाँ हैं, जिनका सामना करने के लिये हमें सक्षम होना पड़ेगा, अन्यथा हम अपनी सार्थकता प्रमाणित नहीं कर पायेंगे। ऐसी कुछ चुनौतियाँ हमें व्यवसाय के भीतर एवं बाहर दोनो ओर से की जा रही हैं। व्यवसाय के भीतर की चुनौतियाँ इस प्रकार की हैं :- (1) समाजकार्य का जो शिक्षण हम प्रदान कर रहे हैं वह भारतीय परिवेश की समस्याओं का सामना करने हेतु हमें सक्षम नहीं बना पाता है (2) व्यावसायिक समाजकार्य के क्षेत्र में जो लोग कार्यरत हैं वे अपनी सक्षमता प्रमाणित नहीं कर पाते हैं (3) हमारे व्यावसायिक संगठन भी समाजकार्य व्यवहार में न तो कोई मानक स्थापित कर पा रहे हैं और न किसी प्रकार से इसे बढ़ावा दे रहे है। जहाँ तक व्यवसाय के बाहर की बात है वहाँ भी निम्नलिखित चार प्रकार की चुनौतियाँ हैं- (1) दूसरे व्यवसायों जैसे मानवीय संसाधन प्रबन्ध, होम सांइस (गृह विज्ञान) एवं कानून से प्राप्त होने वाली चुनौतियाँ, (2) एन.जी.ओ. एवं गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं से प्राप्त चुनौतियाँ (3) नौकरशाही से प्राप्त चुनौतियाँ (4) अपनी सेवाविधियों से प्राप्त चुनौतियाँ।

उपरोक्त चुनौतियाँ के साथ ही हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि हमारा देश कुछ विशिष्ट प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहा है, जो कि समाजकार्य से ही संबंधित हैं। ऐसी कुछ समस्याओं का विवरण निम्नलिखित है :-

1. हमारे देश में एक ओर तो जनसंख्या में बहुत तेजी से वृद्धि हो रही है, दूसरी ओर बहुत सी उपजाऊ और कृषि योग्य उत्तम भूमि पर नगरीय आवासीय कॉलोनियों एवं फैक्टरियों की स्थापना की जा रही हैं, फलस्वरूप कृषि भूमि कम होती जा रही है। अभी कुछ समय पूर्व तक खाद्यान्न के मामले में जहाँ हम आत्मनिर्भर थे, वहीं हमें अब पुनः खाद्यान्नों का आयात करना पड़ रहा है, इसके कारण न केवल देश अन्न की कमी से जूझ रहा है वरन् महंगे अन्न की समस्या से भी जूझ रहा है।
2. औद्योगीकरण के बढ़ते हुये प्रभाव से हम भूगर्भ के पानी का बहुत बड़ा भाग औद्योगिक प्रतिष्ठानों के निर्माण और संचालन में खर्च कर रहे हैं, फलस्वरूप हमारा भूगर्भ जलस्तर बहुत नीचे होता जा रहा है, और थोड़े दिनों बाद हमें जल की समस्या से भी जूझना पड़ेगा।
3. नगरीकरण और औद्योगीकरण अपने देश में जैसे-जैसे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे हमारे नगरों एवं अन्य औद्योगिक केन्द्रों में झुग्गी-झोपड़ी तथा मलिन एवं प्रदूषित बस्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है।
4. बढ़ती हुयी जनसंख्या के साथ बालकों एवं वृद्धों की जनसंख्या भी बढ़ रही है।
5. गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों की संख्या में भी तेजी से वृद्धि हो रही है।
6. विशेषकर शिक्षित बेरोजगारों की संख्या दिनो दिन बढ़ती जा रही है।

7. कानून एवं व्यवस्था की समस्या भी दिनो दिन शोचनीय होती जा रही है, न केवल आतंकवाद, नक्सलवाद, चोरी और डकैती ही बढ़ रही है वरन् लैंगिक हिंसा, बाल अपराध, महिला शोषण, कालेधन का कारोबार, बंधुआ मजदूर, बाल मजदूर, भ्रष्टाचार, संप्रदायवाद, जातिवाद आदि समस्यायें भी दिनो दिन उग्रतर होती जा रही हैं।
8. बढ़ते हुये भौतिकवाद एवं व्यक्तिवाद के साथ-साथ मादक द्रव्य व्यसन, वेश्यावृत्ति एवं अन्य अपराध भी बढ़ते जा रहे हैं।
9. नयी औद्योगिक नीति के लागू होने से एक ओर जहाँ नवीन उद्योगों की स्थापना से कुछ लोगों को रोजगार मिले वहीं पुराने प्रतिष्ठानों की बन्दी से बहुत बड़ी संख्या में मजदूर सड़कों पर आ गये। इसके पूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी के शासनकाल में बहुत से सार्वजनिक क्षेत्रों के औद्योगिक प्रतिष्ठानों का विनिवेश हुआ और बड़ी संख्या में लोग रोजगारविहीन हो गये।
10. भारत में एड्स, बर्ड फ्लू, मैड-काऊ, स्वाइन-फ्लू, डेंगू आदि बहुत सी नयी संक्रामक बीमारियाँ भी फैलती जा रही हैं।
11. आज विभिन्न कार्य स्थलों पर महिलाओं की सहभागिता बढ़ती जा रही, किंतु उनके कारण समस्या यह उत्पन्न हो रही है कि उनके कार्य का किस प्रकार से नियोजन किया जाये कि वे घर एवं कार्यस्थल दोनों की ही जिम्मेदारियों का निर्वहन कर सकें।

अंततोगत्वा यह बात तो स्पष्ट है कि पूर्व की अपेक्षा आज देश में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की समस्या में और अधिक चुनौतियाँ बढ़ गयी हैं। यदि इन चुनौतियों का सक्षम ढंग से समाधान नहीं हुआ तो देश में समाजकार्य की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा हो जायेगा।

संदर्भ

(1) एण्डरसन् जे.पी. "सोशल वर्क ऐज़ ए प्रोफेशन" इन दि सोशल वर्क इयर बुक-1945, न्यूयार्क रसेल सेज फाउन्डेशन-1945

(2) बोयम डब्ल्यू.एच. "आब्जेक्टिव्स ऑफ सोशल वर्क करिक्यूलम टू दि यूचर, वाल्यूम-। दि कांप्रिहेन्सिव रिपोर्ट आफ दी करिक्यूलम स्टडी, न्यूयार्क कौंसिल आफ सोशल वर्क एजूकेशन 1959, पृष्ठ-54

(3) कौंसिल ऑफ सोशलवर्क एजूकेशन, सोशल वर्क एज ए प्रोफेशन, न्यूयार्क, 1959, 208

(4) सी एलिस, नेचर एंड स्कोप ऑफ सोशल वर्क, न्यूयॉर्क, अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्कर्स, 1926.

(5) फ्रिडलेण्डर डब्ल्यू.ए. "इन्ट्रोडक्शन टू सोशल वेलवेयर, न्यूयॉर्क प्रेंटिसहाल, आई.एन. सी. 1955

(6) फिंक आर्थर ई. फील्ड ऑफ सोशलवर्क, न्यूयॉर्क, हेनरी होल्ट कं0 1942,

(7) हैमिल्टन गार्डन, थ्योरी एंड प्रैक्टिस आफ सोशल वर्क, कोलंबिया, यूनिवर्सिटी प्रेस न्यूयॉर्क, 1951

(8) कोपनका जी0एण्ड ए.सी. लिण्डमैन- सोशल वर्क फिलॉसफी-1958

(9) खेण्डुका, जे.सी. एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ सोशल एजेन्सीज, सोशल वर्क इयरबुक, 1955.

(10) कोटेड इन यूनाइटेडनेशन, ट्रेनिंग फॉर सोशल वर्क, एन इन्टरनेशनल सर्वे।

(11) रास मरे जी, कम्यूनिटी आर्गनाइजेशन, थ्योरी एंड प्रैक्टिस, हार्पर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयॉर्क 1955.

(12) शास्त्री राजाराम, समाजकार्य परिचय, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1970.

(13) स्ट्रूप हरबर्ट एच., सोशल वर्क-ऐन इन्ट्रोडक्शन टू टी फील्ड्स, न्यूयॉर्क अमेरिकन बुक कं0 1960.

(14) सोशल वर्क इन उत्तर प्रदेश, लखनऊ, इन्डियन कांन्फ्रेन्स ऑफ सोशल वर्क, यू0पी0 ब्रान्च 1954.

अध्याय-2

समाजकार्य का दर्शन

अन्य व्यवसायों की भाँति समाज कार्य का विकास भी कुछ निश्चित आवश्यकताओं के परिपेक्ष्य में हुआ। प्रारंभ में समाज कार्य के द्वारा गरीबों की सहायता की जाती थी। किन्तु बदलती हुयी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में यह एक अलग प्रकार की सेवा बन गयी। अब इसका सम्बन्ध उन समस्याओं से हो गया है, जिनके कारण मानव संबंधों में गतिरोध उत्पन्न होता है। इस परिप्रेक्ष्य में आज समाजकार्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक हो गयी है। संभवतः एडवर्ड लिंडमैन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने समाजकार्य के दार्शनिक आधारों पर विशेष बल दिया। समाजकार्य एक ऐसी इकाई है जिसके तीन प्रमुख पक्ष हैं और वे तीनों पक्ष परस्पर एक दूसरे से एकीकृत हैं :-

1. समाजिक सेवाओं का एक जाल
2. सावधानी पूर्ण ढंग से विकसित तरीके और प्रक्रिया,
3. सामाजिक नीति, जो सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से प्रकट की जाती हैं।

प्रारंभ से ही समाजकार्य व्यक्ति एवं समाज के संबंध में कुछ मान्यताओं पर आधारित है। इसके अतिरिक्त समाज कार्य का दर्शन, उदारवाद, मानवतावाद एवं जनतंत्र पर आधारित है। समाजकार्य का दर्शन सब कुछ मिलाकर न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व पर आधारित है। इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में समाज कार्य की विधियों का विकास हुआ है। समाजकार्य कर्त्ता लोगों के जीवन में बहुत ही व्यावहारिक एवं सरल तरीके से प्रवेश करता है। सामान्य रूप से सामाजिक कार्यकर्ता ऐसे मुद्दों में अपने को संलग्न करते हैं, जिनका संबंध मानव जीवन के दर्शन से है।

'दर्शन' शब्द का अंग्रेजी रूपांतर 'फिलासफी' शब्द ग्रीक भाषा का शब्द है 'फिला' का अर्थ है प्रेम और 'सोफिया' का अर्थ है बुद्धिमत्ता। इस प्रकार फिलासफी का तात्पर्य 'बुद्धिमत्ता से प्रेम' है। बुद्धिमत्ता का तात्पर्य सत्य एवं ज्ञान के निरन्तर खोज से है। अतः दर्शन का तात्पर्य विषय विशेष के सन्दर्भ से सत्य व ज्ञान के निरन्तर खोज और इस सम्बन्ध में प्राप्त तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतीकरण से है। अतः समाजकार्य के विषय में सत्य एवं ज्ञान की निरन्तर खोज और इस सम्बन्ध में प्राप्त तथ्यों को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतिकरण ही समाजकार्य का दर्शन है।

समाज कार्य का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, साथ ही समाज कार्य व्यक्तियों के बीच समानता चाहता है इसलिए उसे कुछ विशिष्ट विश्वासों पर आधारित रहकर कार्य करना होता है। समाज कार्य को अपने लक्ष्य प्राप्ति हेतु एक दर्शन की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन व्यक्ति के जीवन सम्बन्धी अनेक मतभेदों के कारण समाज कार्य के दर्शन के निरूपण में भी भिन्न-भिन्न तरह के मतभेद परिलक्षित होते हैं। विशेष रूप मानव जीवन से सम्बन्धित मतभेद, जैसे-जीवन का वास्तविक अर्थ, व्यक्तियों के बीच अन्तर परस्पर सम्बन्धों की प्रकृति, सामाजिक व आर्थिक पद्धति का स्वरूप, मानव के स्वस्थ जीवन के लिए इन समस्त दशाओं का स्वरूप इत्यादि विषयों के कारण समाज कार्य-दर्शन एक चुनौतीपूर्ण विषय बन गया है। यही कारण है कि समाज कार्य के दर्शन की कोई सर्वानुमति नहीं बन सकी है हम यहाँ पर एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिस प्रकार समाज कार्य की कोई एकमत परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो हर देश, समाज व युग में समुचित और समान रूप से मान्य हो, उसी प्रकार समाज कार्य का दर्शन भी हर देश समाज और युग में एक तरह का नहीं है। क्योंकि हर देश समाज और युग में संस्कृतियाँ विभिन्नता लिए होती हैं और दर्शन में इन्ही संस्कृतियों की छाप परिलक्षित होती हैं। अतः उस देश की जीवन सम्बन्धी वास्तविकताओं पर आधारित वहाँ का समाजकार्य दर्शन होगा। लेकिन इस सबके बावजूद निर्भीकतापूर्वक यह सकते हैं कि समाज कार्य के दर्शन का एक मौलिक आधार (Core) आवश्यक है, जो भिन्न-भिन्न देशों की सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक दशाओं में भिन्नताएँ होते हुए भी विश्वव्यापी मान्यता का चरित्र रखता हो।

हरबर्ट बिस्नो (Herbert Bisno) के अनुसार, समाज कार्य द्वारा अपना एक सुस्पष्ट दर्शन प्रतिपादन न कर सकने के तीन विशेष कारण हैं :- (1) समाज कार्य के व्यवसाय का नवीन होना, (2) सेवार्थी अथवा सेवार्थी समूह के समक्ष अपनी कार्य पद्वतियों व प्रविधियों का विवरण प्रस्तुत करने में सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा कठिनाई तथा (3) सामाजिक कार्यकर्ताओं और समाज कार्य के प्रायोजितों (Sponsors) में समाज कार्य की दार्शनिक दिशा के विषय में मतभेद का होना।

समाज कार्य के दर्शन से यह तात्पर्य है कि इसके अर्थ और ज्ञान को वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करते हुए इसके आदर्शों व मूल्यों का सही ढंग से निरूपण किया जाए। अपने कार्य अनुभव से समाजसेवक कुछ आदर्श एवं मूल्यों को विकसित करता है। समाज कार्य के अर्थों में जब इन्ही आदर्शों व मूल्यों को एक तर्क-संगत प्रणाली से अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है तो वह समाज कार्य का दर्शन बन जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में समाज कार्य के दर्शन को इसी परिपेक्ष्य में देखा गया है।

वर्तमान समय में हर व्यवसाय का कोई न कोई मूल्य निर्धारित होता है समाज कार्य के अन्तर्गत भी हमारा मुख्य उद्देश्य सामाजिक और व्यक्तिगत परिवर्तन लाना है। इसलिए समाज

कार्य में कुछ मूल्यों का होना नितांत आवश्यक है। ये मूल्य सामाजिक कार्यकर्ता को एक अनोखा व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। समाज कार्य की विभिन्न अवधारणाओं, पद्धतियों का ज्ञान सामाजिक कार्यकर्ता के लिए तब तक उपयुक्त नहीं है, जब तक वह समाज कार्य सम्बन्धी उपर्युक्त ज्ञान तथा इसके अभ्यास के फलस्वरूप एक विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्व का विकास नहीं कर लेता। यह विशिष्ट व्यक्तित्व उसी समय विकसित हो सकता है जब समाज कार्य की मनोवृत्तियों व मूल्यों का विकास हो जाए। इनकी सहायता से वह विभिन्न समुदायों में होने वाले स्वाभाविक संघर्षों तथा समूहों व व्यक्तियों के आपसी स्वाभाविक विरोधी मूल्यों के संघर्षों के निवारण का प्रयास करता है। वह ऐसे मूल्यों की स्वीकृति प्रदान करने में सहायता करता है, जो सर्वमान्य हों तथा जिससे सभी व्यक्तियों, समूहों व समस्त जन समुदायों के समग्र विकास व कल्याण में सहायता मिल सके।

समाज कार्य के मूल्य

अब हम उपर्युक्त विवेचना की पृष्ठभूमि में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये समाज कार्य के मूल्यों का उल्लेख करेंगे। इस सन्दर्भ में कौस (Kosh) ने समाज कार्य के दस मूल्यों का विवरण दिया है जो निम्नलिखित हैं :-

(1) व्यक्ति की योग्यता एवं उसकी गरिमा।

(2) समस्त मानवीय विभव को प्राप्त करने की मानव प्रकृति की क्षमता।

(3) मतभेदों के लिए सहनशीलता

(4) आत्म-निर्देशन

(5) अनिर्णयात्मक मनोवृत्ति

(6) स्वतंत्रता

(7) मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि

(8) व्यक्ति और प्रकृति के कारण खतरों से अपने अस्तित्व की सुरक्षा

(9) कार्य की महत्ता एवं अवकाश का रचनात्मक उपयोग

(10) रचनात्मक सामाजिक सहयोग

कोनोपका (Konopka) ने समाज कार्य के दो प्राथमिक मूल्यों का विवेचन किया है और उन्हें बिना किसी अवरोध के स्वीकृति प्रदान करने को कहा है। ये दो मूल्य हैं :- (1) हर एक मानव के प्रति सम्मान की भावना तथा उसे अपनी क्षमताओं के पूर्ण विकास का अधिकार, (2) व्यक्ति की परस्पर निर्भरता व प्रत्येक दूसरे के प्रति अपनी योग्यता के अनुसार उत्तरदायित्व।

विद्वान कोनोपका (Konopka) ने द्वितीयक मूल्यों से सम्बन्धित मतभेदों को वैज्ञानिक अन्वेषण की सहायता से दूर करने का परामर्श दिया है। इसके साथ ही लिण्डमैन (Lindman) के विचारों की व्याख्या करते हुए कोनोपका ने अपनी सम्मति व्यक्त की है कि सामाजिक कार्यकर्ता का ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व है जो समाजकार्य के मूल्यों की रक्षा करता है और उन्हें व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न करता है।

हरबर्ट बिस्नो (Herbert Bisno) ने समाज कार्य के मूल्यों को चार क्षेत्रों में विभाजित करते हुए उसे उद्धत किया है।

(क) व्यक्ति की प्रकृति

इस क्षेत्र के अन्तर्गत बिस्नो ने दस मूल्यों का वर्णन किया है :

(1) प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व के कारण ही मूल्यवान है। यह मूल्य सम्पूर्ण समाजकार्य दर्शन की आधारशिला है।

(2) मानवीय कष्ट वांछनीय है तथा इसे समाप्त करना चाहिए या इन्हें यथा सम्भव कम करना चाहिए।

(3) समस्त मानव व्यवहार जीव तथा उससे सम्बन्धित पर्यावरण की अन्तःक्रिया का परिणाम है।

(4) मानव स्वभावतः पूर्ण विवेक से कार्य नहीं करता।

(5) अधिगम (Learning) की प्रक्रिया में अनुभव एक आवश्यक पक्ष है।

(6) व्यक्ति जन्म के समय नैतिक व सामाजिक नहीं होता है।

(7) मानव की आवश्यकताएँ-व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों वर्गों में विभाजित होती हैं।

(8) मनुष्य के आरम्भिक विकास में पारिवारिक सम्बन्धों का आधारभूत महत्व होता है।

(9) मानवीय अभिप्रेरणा जटिल व साधारणतया अस्पष्ट होती है।

(10) व्यक्तियों में परस्पर महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं जिन्हें स्वीकृति प्रदान कर मान लेना चाहिए।

(ख) व्यक्तियों के बीच, व्यक्तियों व समूहों के बीच तथा समूहों के बीच सम्बन्ध

इस क्षेत्र के अन्तर्गत भी बिस्नो (Bisno) ने दस मूल्यों का उल्लेख किया है:-

(1) समाज कार्य हस्तक्षेप न करने की नीति (Laissez faire) एवं योग्यतम् की उत्तरजीविता (Survival of the fittest) के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता है।

(2) "धनी और शक्तिशाली व्यक्ति ही योग्य हो तथा गरीब व निर्बल व्यक्ति अयोग्य हों", यह आवश्यक नहीं है।

(3) केन्द्र सरकार की जिम्मेदारी है कि वह स्वास्थ्य, रहने के लिए आवास, पूर्ण रोजगार, शिक्षा और अनेक प्रकार के जन कल्याणकारी कार्य तथा सामाजिक बीमा योजना सम्बन्धी कार्यक्रमों को लागू करे।

(4) समाजीकृत व्यक्तिवाद (Socialized individualism), विषम व्यक्तिवाद (Rugged or Rough individualism) की अपेक्षा अधिक अच्छा है।

(5) समुदाय की विशेष जिम्मेदारी होती है कि वह अपने सदस्यों के कल्याण के लिए कार्य करें।

(6) सामाजिक सेवाओं पर समुदाय के सम्पूर्ण वर्गों को समान अधिकार होता है और समुदाय की यह जिम्मेदारी होती है कि वह बिना किसी भेदभाव के अपने सम्पूर्ण सदस्यों की कठिनाई का पूर्णरूपेण समाधान करें।

(7) स्वंतत्रता और सुरक्षा में परस्पर कोई भिन्नता नहीं होती है।

(8) पूर्ण समानता और पारस्परिक सम्मान के आधार पर सम्पूर्ण प्रजातियों व प्रजातीय समूहों में पूर्ण सहयोग होना चाहिए।

(9) जन सहायता सम्बन्धी कार्यक्रमों को आवश्यकता की अवधारणा पर आधारित होना चाहिए।

(10) सामुदायिक जीवन में संगठित श्रम का सक्रिय योगदान होता है और उसकी शक्ति को विध्वंसात्मक न मानकर रचनात्मक मानना चाहिए।

(ग) समाज कार्य की पद्धतियाँ एवं कार्य

इस क्षेत्र के अन्तर्गत बिस्नो (Bisno) ने छः मूल्यों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं :-

(1) वैज्ञानिक पद्धति को मानव व्यवहार के अध्ययन के लिए आवश्यक उपकरण/साधन माना जाता है।

(2) सामान्य रूप में, एक स्वस्थ एवं सक्षम व्यक्ति अपनी भलाई के लिए सर्वोत्तम निर्णायक साबित होता है। अतः निर्णय करने एवं समस्या समाधान में भी उसे स्वयं प्रयास करना चाहिए।

(3) समाज कार्य लोकतंत्र को एक पद्धति (प्रणाली) के रूप में स्वीकार करता है।

(4) समाज कार्य का दृष्टिकोण द्विमुखी है। एक तरफ समाज कार्य व्यक्तियों का संस्थागत समाज के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहयोग प्रदान करता है तो दूसरी तरफ वह इस संस्थागत समाज के आवश्यक क्षेत्रों में उचित परिवर्तन लाने का प्रयत्न भी करता है।

(5) सामाजिक कार्यकर्ता सामाजिक विकास के लिए पर्यावरण में बदलाव तथा व्यवहार में सुधार एवं अन्तर्दृष्टि के विकास पर विश्वास करता है, न कि 'आदेश' 'निर्णय' या 'प्रबोधन' में।

(6) व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा ही सार्वजनिक एवं निजी दोनों ही अभिकरणों में समाज कार्य सेवायें प्रदान की जानी चाहिए।

(घ) सामाजिक कुसमायोजन एवं सामाजिक परिवर्तन

इस क्षेत्र के अन्तर्गत बिस्नो (Bisno) ने तीन मूल्यों को स्पष्ट किया है :-

(1) सामाजिक नियोजन अवश्यम्भावी है। बिस्नो (Bisno) के अनुसार, ''जनतांत्रिक नियोजन जो प्रयोगात्मक, परीक्षात्मक और गैर सत्ताधारी हो, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है''।

(2) हमारी संस्कृति में गंभीर राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक कुसमायोजन (Maladjustment) है।

(3) हमारे समाज के लिए क्रमिक (Evolutionary) विकास द्वारा किया गया सुधार सम्भव एवं वांछनीय है।

फ्रीडलैण्डर (Friedlander) ने समाजकार्य के मूल्यों के सम्बन्ध में मत प्रकट करते हुये कहा है कि ''समाजकार्य के मूल्यों की उत्पत्ति, राहों के किनारों पर उपजे वन पुष्पों की तरह नहीं हुई बल्कि इन मूल्यों की नींव उन गहरे, उपजाऊ विश्वासों में परिलक्षित होती है, जो सभ्यताओं को सींचते पालते आये हैं।

आगे फ्रीडलैण्डर ने चार मुख्य प्रजातांत्रिक मूल्यों का जिक्र किया है तथा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अमेरिका की संस्कृति में सामाजिक कार्यकर्ताओं के मनोभाव (Feelings) मनोवृत्तियाँ (Attitudes) तथा समाजकार्य का अभ्यास (Practice of social work) इन्हीं चारों मूल्यों से प्रभावित होते हैं। ये चारों मूल्य इस प्रकार है :-

(1) मानव की अन्तर्निहित योग्यता, ईमानदारी (सच्चाई) और गौरव के प्रति आस्था।

(2) व्यक्ति जो आर्थिक, व्यक्तिगत या सामाजिक आवश्यकताओं की अनुभूति करता है, स्वयं निर्णय करने का अधिकार रखता है कि उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं? और उसे कैसे पूरा करना चाहिए?

(3) व्यक्ति की सहज क्षमताओं के सीमान्तर्गत सबके लिए समान अवसर में अटल विश्वास।

(4) व्यक्ति का आत्मसम्मान, गौरव, आत्म-निर्णयन व सम्मान स्वयं के प्रति उसके परिवार के प्रति तथा समाज के प्रति उसके सामाजिक जिम्मेदारियों से सम्बद्ध होते है।

सामान्य रूप से समाज कार्य का लक्ष्य होता है-मानवीय कल्याण एवं समाज का उत्तरोत्तर

उत्थान व विकास। व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय की समस्याओं को दूर करते हुए उनमें सामाजिक क्रियाशीलता जागरित करना तथा समुचित समायोजन स्थापित करना ताकि वे मानवीय कल्याण एवं सामाजिक विकास में अपना योगदान दे सकें। समाज कार्य के प्रजातांत्रिक प्राथमिक मूल्य इसमें मानवोचित भूमिका अदा करते हैं। यहाँ पर हम समाज कार्य के कुछ मुख्य प्राथमिक मूल्यों का उल्लेख करना चाहेंगे, जो निम्न हैं :-

(1) सामाजिक कार्यकर्ता समस्या समाधान के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता एवं प्रतिष्ठा में विश्वास करता है अर्थात् उन्हें समान महत्ता प्रदान करता है।

(2) मानवीय कष्ट अनपेक्षित है और समाज कार्यकर्ता उसे दूर करने का प्रयास करता है। समाज का कोई भी सदस्य दुःखी न हो, इस भावना व सिद्धान्त के आधार पर लोगों की सहायता की जाती है कि वे अपने कष्ट स्वयं दूर कर सकें।

(3) प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-निर्णय का अधिकार प्राप्त हो।

(4) प्रत्येक व्यक्ति समाज का अंग होता है। व्यक्ति व समाज एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। व्यक्ति की भलाई से समाज की भलाई होती है। पर यदि कोई ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है, जिसमें व्यक्ति की भलाई और समाज का नुकसान हो रहा हो तो व्यक्ति के स्वार्थों की समाज के स्वार्थ पर बलि दी जा सकती है।

(5) व्यक्ति का व्यवहार उसके आंतरिक और बाहरी वातावरण (पर्यावरण) दोनों से प्रभावित होता है। अतः मानवीय दर्शन व मानव विकास की दृष्टि से दोनों पर ध्यान देना पड़ेगा।

(6) प्रत्येक व्यक्ति में कुछ आंतरिक क्षमता और क्रियात्मक शक्ति होती है उसका पूर्ण रूप से विकास होना चाहिए, ताकि वह सामाजिक कार्यों में पूर्ण योगदान दे सकें।

(7) प्रत्येक मनुष्य में उन्नति और परिवर्तन करने की क्षमता होती है।

(8) समाज कार्यकर्ता व्यक्ति को समग्र रूप में ग्रहण करता हैं। उसके व्यक्तित्व के हर पहलू पर विचार करता है तथा उसकी सभी समस्याओं को दूर करने का प्रयत्न करता है।

(9) यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ सामान्य आवश्यकताएँ होती हैं, तथापि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ निजी विशेषताएँ भी होती हैं जिनके आधार पर वह दूसरों से भिन्न किया जा सकता है।

(10) व्यक्ति की समस्याओं के अनेक कारण होते हैं।

(11) हर एक मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार विचार क्रिया और उन्नति करने का समान अवसर मिलना चाहिए।

(12) प्रत्येक व्यक्ति की समाज के प्रति कुछ जिम्मेदारी होती है।

(13) व्यक्ति के कल्याण और सुरक्षा की जिम्मेदारी बहुत कुछ समाज पर है। व्यक्ति का अधिकार है कि वह समाज से ऐसी व्यवस्था की आशा करे जिसमें उनकी मानसिक तथा

आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और समाज का यह कर्तव्य है कि व्यक्ति के लिए इन सुविधाओं की व्यवस्था करे।

(14) व्यक्ति के प्रारम्भिक जीवन के विकास में पारिवारिक सम्बन्धों का अत्यधिक महत्व है।

(15) सामाजिक कार्यकर्ता योग्यतम् की उत्तरजीविता के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार :-

(क) यह तो जंगल का सिद्धान्त है। समाज कार्य के अन्तर्गत इसके विपरीत इस बात में विश्वास किया जाता है कि "प्रत्येक व्यक्ति योग्य है।"

(ख) अयोग्य व्यक्तियों की भी आधारभूत इच्छाये और आवश्यकताएँ वही होती हैं जो योग्य व्यक्ति की होती है।

(ग) प्रत्येक व्यक्ति की यह जिम्मेदारी है कि वह इस बात का यथाशक्ति प्रयास करे कि उसका साथी भी वातावरण से समायोजन (Adjust) कर सके।

(16) यह कोई आवश्यक नहीं कि धनी और शक्तिमान व्यक्ति ही योग्य हो और गरीब तथा कमजोर व्यक्ति अयोग्य ही हो।

(17) स्वतंत्रता और सुरक्षा के सह-अस्तित्व पर विश्वास। व्यक्ति की स्वतंत्रता को अपहरण किये बिना उसे प्रत्येक विपत्ति में सुरक्षित रखने पर विश्वास किया जाता है, ताकि उसकी सर्जनात्मक शक्तियों का उचित विकास हो सके।

(18) पूर्ण समानता और पारस्परिक आदर के आधार पर सभी जाति और समूह के लोगों के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता है।

(19) जन साधारण की सहायता का आधार आवश्यकता की अवधारणा होनी चाहिए।

(20) सामाजीकृत व्यक्ति असामाजीकृत व्यक्ति की अपेक्षा अधिक वांछनीय होता है।

प्रो0 मिर्जा रफीउद्दीन अहमद ने विभिन्न विद्वानों, सामाजिक विचारकों, अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य विशेषज्ञों के विचारों के परिप्रेक्ष्य में करते हुए समाज कार्य के निम्नलिखित मूल्यों का उल्लेख किया है :-

(1) समाज कार्य आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुसत्ता के समान रूप से पुनर्वितरण का विश्वास करता है ताकि बीस सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम के अन्तर्गत निर्धनों को उनका पूरा लाभ मिल सके।

(2) समाज कार्य उत्पाद की सामाजिक व्यावहारिकता पर विश्वास करता है तथा उत्पादन को सामाजिक उद्देश्य के अधीन मानता है।

(3) संगठित श्रम का सामुदायिक जीवन में सकारात्मक योगदान होता है तथा उसे रचनात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार करना चाहिए न कि ध्वंसात्मक शक्ति के रूप में।

(4) समाज कार्य का विश्वास है कि आर्थिक भूमिका उपलब्धि के मानक के आधार पर ही

निर्दिष्ट होनी चाहिए न कि प्रदत्त परिस्थिति या सामाजिक स्थिति (हैसियत) के अनुसार आरक्षित होनी चहिए।

(5) समाज कार्य, आर्थिक असन्तुलन को समाप्त करने में, काले धन के स्रोतों को बन्द करने तथा सार्वजनिक क्षेत्र को निजी क्षेत्र के प्रहार से बचाने तथा निष्कपट एवं निश्छल प्रयासों द्वारा समाजवादी राज्य की स्थापना करने में विश्वास करता है।

(6) समाज कार्य सामाजिक योजना में विश्वास करता है, जिसका संगठन एक समाजवादी अर्थव्यवस्था द्वारा अधिक से अधिक व्यक्तियों के कल्याण हेतु किया जाता है।

(7) समाज कार्य ऐसे सेवावृत्त राज्य में विश्वास करता है जिसका मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए कल्याणोन्मुखी हो एवं व्यक्ति के संरक्षण को मौलिक प्रजातांत्रिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता हो।

(8) समाज कार्य समुच्चित मूल्यों के स्थान पर वितरक मूल्यों पर विश्वास करता है।

(9) समाज कार्य सामाजिक न्याय में विश्वास करता है।

(10) समाज कार्य वितरक न्याय पर विश्वास करता है जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके सामाजिक योगदान के अनुपात में ही प्रतिफल मिले।

(11) समाज कार्य धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक विचारधाराओं की प्रतिबद्धता में विश्वास रखता है।

(12) समाज कार्य आधुनिकीकरण में विश्वास रखता है।

व्यक्ति एवं समाज से समाज कार्य शिक्षा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इसी कारण यह शिक्षा सामाजिक मूल्यों से प्रभावित होती है। अद्यतन समाज में समाज कार्य एक व्यवस्था के रूप में है जिसके फलस्वरूप एक व्यवसाय की प्रवृत्ति में ही एक मूल्य निर्णय (Value Judgement) विद्यमान होते हैं अर्थात् व्यवसाय के निर्धारित उद्देश्य और उस व्यावसायिक आचार-संहिता में मूल्य निहित होते हैं। प्रत्येक व्यवसाय अपने कार्यकर्ताओं से यह उम्मीद रखता है कि उसके व्यवहार इन्हीं व्यावसायिक मूल्यों से प्रभावित व निर्देशित हों।

कुछ मुख्य दार्शनिक एवं नैतिक मान्यताएँ समाज कार्य के व्यवसाय का आधार होती हैं। उनकी व्याख्या निम्नलिखित रूप से की गई है :-

(1) किसी व्यक्ति की योग्यता एवं महत्ता को मान्यता देना साथ ही उसकी प्रतिष्ठा व आत्म-सम्मान को प्रोत्साहन प्रदान करना, न कि उसके जाति, धर्म, राजनैतिक विचारधारा या व्यवहार, परिस्थिति, सामाजिक स्थिति पर।

(2) व्यक्तियों, वर्गों व समुदायों के मतों में विभिन्नता को सम्मान देते हुए इसका जनहित व

कल्याण के साथ समायोजन का मार्ग प्रशस्त करना।

(3) समाज कार्यकर्ता सेवा-प्रक्रिया के दौरान, आत्म-सम्मान व जिम्मेदारी वहन करने की योग्यता में वृद्धि करने की दृष्टि से स्वावलम्बन को प्रोत्साहित करना।

(4) व्यक्तियों एवं समाज के अधिकतम कल्याण के उद्देश्य से, व्यावसायिक सम्बन्धों को यथासम्भव विषय-निष्ठा और जिम्मेदारी के साथ प्रयोग करना।

(5) व्यावसायिक सम्बन्धों की गोपनीयता की अभिरक्षा करना।

(6) सहायता प्राप्त करने वाले व्यक्तियों, वर्गों या समुदायों के साथ व्यावसायिक सम्बन्धों का प्रयोग उन्हें अधिक स्वतंत्र व आत्म-निर्भर बनाने में सहायता प्रदान करने के लिए करना न कि एक पूर्व निर्धारित प्रतिमान के अनुरूप इन सम्बन्धों में बदलाव करना।

(7) संतोषजनक जीवन निर्वाह करने के लिए व्यक्तियों, वर्गों या समुदायों की विशिष्ट परिस्थितियों में सहायता करना।

(8) समाजकार्य ज्ञान व दर्शन के अनुरूप मानवीय इच्छाओं तथा आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सामाजिक नीतियों के कार्यान्वयन हेतु अपने व्यावसायिक जिम्मेदारी को स्वीकार करना, जिसमें हर एक व्यक्ति को अपने पर्यावरण व अपनी कार्यक्षमता का अधिक से अधिक सार्थक उपयोग करने का पूरा अवसर मिल सके।

समाज कार्य की मान्यतायें

क्लर्क ने समाजकार्य की निम्नलिखित मान्यताओं का विवरण दिया है :-

1. समाजकार्य एक प्रोफेशन है। इसके द्वारा बहुत सी बुद्धिमता पूर्ण क्रियाकलापों का संचालन किया जाता है। किन्तु इन क्रिया-कलापों के साथ जिम्मेदारियाँ भी जुड़ी होती हैं। यह एक शैक्षणिक ही नहीं है वरन् एक व्यावहारिक कार्य भी है।

2. समाजकार्य के प्रकार्यो का आधारभूत तत्व है, मानवीय व्यक्तित्व की समझदारी और उस सामाजिक पर्यावरण की भी समझदारी, जहाँ वह रहता है।

3. समाजकल्याण एवं समाजकार्य दोनों में यद्यपि कुछ एकरूपता है, तथापि ये दोनों एक नहीं हैं, समाज कल्याण के अन्तर्गत कुछ सामाजिक संस्थायें भी सम्मिलित रहती हैं और कुछ ऐसे व्यावहारिक कार्य किये जाते हैं जो समाजकार्य नहीं हैं। दूसरी ओर समाजकार्य बहुत अंश में एक विधि है जिसके द्वारा समाज कल्याण के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रयास किया जाता है।

4. समाजकार्य की अपनी प्रविधियाँ हैं, किन्तु इसके अन्तर्गत केवल कौशल ही नहीं वरन् उस से भी इतर हट कर कुछ आयामों का प्रयोग किया जाता है। यह उस मान्यता पर विचार करता है कि यद्यपि व्यक्तिगत एवं सामाजिक संघर्ष अवश्यम्भावी है किंतु सामाजिक परिवर्तन के द्वारा उनका समाधान संभव है।

5. समाजकार्य की एक मौलिक मान्यता यह है कि सामाजिक कार्यकर्ता के कार्यों का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति तथा उसके पर्यावरण के बीच होने वाली अन्तर्क्रियायें हैं।
6. समाजकार्य की अन्तिम मौलिक मान्यता के अन्तर्गत अपने क्रियाकलापों का अवलोकन करते हुये सामाजिक कार्यकर्त्ता के लिए अनेक प्रकार की सेवाओं का उपयोग करना आवश्यक होता है। अतः समाजकार्य कर्त्ताओं को अपने समुदाय में उपलब्ध सभी साधनों के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिये।

कुछ अन्य मान्यतायें

उपरोक्त मान्यताओं के अतिरिक्त समाज कार्य की कुछ और भी मान्यतायें हैं। जिसका विवरण संक्षेप में अधोलिखित है :-

(1) व्यक्ति एवं समाज अन्योनाश्रित हैं। इसलिए व्यक्ति अथवा समूह या समुदाय के रूप में सेवार्थी की समस्या का समाधान हेतु सामाजिकशास्त्रों एवं परिस्थितियों का अवलोकन एवं मूल्याँकन आवश्यक है।

(2) व्यक्ति की पर्यावरण के बीच होने वाली अन्तरक्रियाओं में आने वाली बाधायें, समस्या की प्रमुख कारक है। इसीलिये समाजकार्य की क्रिया बिन्दु का केन्द्र, अन्तर्क्रियायें होती हैं।

(3) व्यवहार तथा दृष्टिकोण दोनो ही सामाजिक शक्तियों द्वारा प्रभावित होते हैं। इसलिये सामाजिक शक्तियों में हस्तक्षेप करना आवश्यक होता है।

(4) व्यक्ति एक महत्वपूर्ण इकाई है। इसलिये उससे संबंधित आंतरिक एवं वाह्य दोनो प्रकार की दशाओं का अध्ययन आवश्यक है।

(5) समस्या के अनेक स्वरूप होते हैं। इसलिये उनके समाधान हेतु विभिन्न प्रकार के ढंगों की अपेक्षा होती है।

भारतीय परिवेश में समाजकार्य के मूल्यों एवं मान्यताओं का मेल :

जहाँ तक उपरोक्त मूल्यों एवं मान्यताओं का प्रश्न है वे मूल्य मानव मात्र के लिये निर्मित हैं अतः सभी समाजों में वे मूल्य लागू होंगे। भारत इसका अपवाद नहीं हो सकता। यद्यपि भारत में समाज कार्यकर्त्ताओं के जो वृत्तिक संगठन है, उन्होने कोई मूल्य अलग से नहीं अपनायें हैं। सामान्यतया अमेरिकन समाज कार्यकर्त्ताओं के जो मूल्य हैं वही भारतीय समाज कार्यकर्त्ताओं द्वारा भी अपनाये जाते हैं। किंतु भारतीय संविधान में कुछ मौलिक अधिकार निर्धारित किये गये हैं। उदाहरणार्थ संविधान के प्राक्कथन में कहा गया है कि हम अपने संविधान में एक संप्रभुता संपन्न, सामाजिक, जनतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का प्रस्ताव पारित करना चाह रहे हैं, जहाँ नागरिकों को सामाजिक तथा आर्थिक न्याय, विचारों की स्वतंत्रता, प्रस्थिति की समानता,

व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एवं विश्वबंधुत्व की प्राप्ति हो।

संविधान के मूल अधिकारों में :-

(1)समानता का अधिकार (2) शोषण के विरोध का अधिकार (3) स्वतंत्रता का अधिकार (4) किसी धर्म को अपनानें की स्वतंत्रता तथा (5) सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार के द्वारा भी जनतांत्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की बात कही गयी है।

संविधान में मूल अधिकार और नीति निदेशक सिद्धान्तों के द्वारा स्वतंत्रता एवं समानता को बढ़ावा देने के लिए बहुत से प्राविधान किये गये हैं। स्वतंत्रता एक विधायी शक्ति है जिसके द्वारा व्यक्तियों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने एवं आनन्द लेने की छूट दी गयी है। संविधान के अनुच्छेद 21 के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्राविधान किया गया है। स्वंतत्रता का अर्थ है कि सभी लोगों को समान अवसरों की प्राप्ति। इसमें जाति, धर्म, जन्म एवं संपत्ति का कोई भेदभाव न किया जाये। समानता की स्थापना हेतु ही संविधान में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों हेतु विशेष प्राविधान किये गये हैं।

इस प्रकार समाजकार्य के उपरोक्त मूल्यों की आत्मा हमारे संविधान में भी विद्यमान है। अतः हम कह सकते हैं कि समाजकार्य के मूल्य भारतीय परिवेश में भी सही उतरते हैं। किंतु जब इन मूल्यों के क्रियान्वयन का सवाल आता है तो भारत एवं अमेरिका में कुछ विभेद उत्पन्न हो जाता है। यह विभेद निम्नलिखित आधार पर उत्पन्न होता है :-

(1) भारतीय परिवेश में निर्णय लेने की स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगा हुआ है। हमारी संस्कृति में लोगों का भरण पोषण ऐसे वातावरण में होता है जहाँ परिवार का मुखिया ही बालक का भरण पोषण, अध्ययन के विषयों का चयन, उसका विवाह, तथा सेवायोजन के संबंध में निर्णय लेता है। किन्तु अमेरिका एवं यूरोपीय देशों में संबंधित बालक को ही इन विषयों के संबंध में निर्णय करने होते है। अतः व्यक्ति जीवन के हर पक्ष में अपना निर्णय करने का आदी हो जाता है, भारतीय नागरिक ऐसा नहीं चाहता, वह चाहता है कि अधिकांश स्थितियों में दूसरे लोग उसके बारे में निर्णय लें। अतः बहुत अंश में स्वतंत्रता का अधिकार यहाँ पूर्ण रूपेण लागू नहीं हो पाया।

(2) दूसरों से अपने बारे में निर्णय की अपेक्षा की संस्कृति में बहुत से सेवार्थी भारतीय परिवेश में यह आशा करते हैं कि उनकी विभिन्न समस्याओं के बारे में उचित निर्णय लेने के लिए समाज कार्यकर्त्ता उन्हें परामर्श दें और बहुत सी स्थितियों में कार्यकर्त्ता उन्हें परामर्श देता भी रहता है और उन्हीं परामर्शों को सेवार्थी स्वीकार कर लेता है, इस प्रकार उसके (सेवार्थी के) निर्णय का अधिकार प्रभावित होता है।

(3) अमेरिकन परिवेश में अधिकांश सेवार्थियों के पास अधिक समस्या नहीं होती है, वे केवल आर्थिक रूप से धनी ही नहीं होते वरन् वैयक्तिक सेवा कार्य अभिकरणों में चिकित्सालयों

की भाँति फीस देकर सहायता प्राप्त करते हैं। अतः सेवार्थी एवं कार्यकर्त्ता के बीच बराबरी का संबंध बना रहता है। भारतीय परिवेश में अधिकांश सेवार्थी बहुत ही गरीब होते हैं। उदाहरणार्थ चिकित्सकीय परिवेश में यह देखने को मिलता है कि कोई व्यक्ति बीमार है। किन्तु न उसके पास खाने-पीने के लिये पैसा है और न दवा के लिये। ऐसी स्थिति में कार्यकर्त्ता बाहरी संसाधनों का उपयोग करके सेवार्थी की सहायता करते हैं। ऐसी स्थिति में सेवार्थी मानसिक रूप से कार्यकर्त्ता को अपने से ऊँचा आँकलन करने लगते हैं और कार्यकर्त्ता के अत्यधिक प्रयास के बावजूद बराबरी का संबंध नहीं स्थापित हो पाता है।

(4) हमारे समाज में जाति प्रथा के कारण जन्म से ही लोगों में असमानता आ जाती है और समुदाय संगठन या सामूहिक सेवा कार्य की विधियों के माध्यम से कार्यकर्त्ता के अतिशय प्रयास के बावजूद सेवार्थियों में समानता की भावना नहीं विकसित हो पाती है।

(5) समाजकार्य के उपरोक्त मूल्य (जो अमेरिकन परिवेश में विकसित हुये हैं) सामाजिक परिवर्तन लाने में विशेष सहायक नहीं हैं। किन्तु हमारा ग्रामीण समाज एवं शहरी मलिन बस्तियों के निवासी अनेक प्रकार की रूढ़ियों एवं सामाजिक बीमारियों से ग्रसित रहते हैं। उनकी सहायता करने के पूर्व सामाजिक क्रिया के माध्यम से उनमें परिवर्तन लाना होगा। इस उद्देश्य की पूर्ति में उपर्युक्त मूल्य विशेष रूप से सहायक नहीं हो सकते।

(6) हमारे देश की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् एक लम्बे समय तक समाजवादी समाज के मूल्यों से प्रभावित थी। आज इन मूल्यों में देश की नयी आर्थिक नीति के परिपेक्ष्य में बहुत कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है, तथापि हमारे मूल्य अभी तक समाजवाद से बहुत कुछ प्रभावित हैं, ऐसी स्थिति में जनतांत्रिक मूल्यों के आधार पर कार्य करने में कठिनाई आती रहती हैं।

(7) शिक्षा की दृष्टि से भी हमारा समाज अभी तक बहुत पिछड़ा है और समाज का जो अंग अत्यधिक पिछड़ा है वही बहुत अंश में समस्याओं से ग्रस्त है, ऐसे लोगों के साथ कार्य करते समय कार्यकर्त्ता समाजकार्य के मूल्यों का पूर्णतया प्रयोग नहीं कर पाता है।

अध्याय-3

समाजकार्य एवं अन्य सामाजिक विज्ञान

समाज कार्य एक ऐसा विषय है जिसका संबंध कई विषयों से है। समाजकार्य मानव मात्र की समस्याओं पर विचार करता है और इन समस्याओं पर तब तक पूरी तौर से विचार नहीं हो सकता है जब तक कि व्यक्ति के सामाजिक परिवेश, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, आर्थिक स्थिति तथा सांस्कृतिक एवं नैतिक परिवेश के संबंध में अच्छी तरह विचार तथा विमर्श न कर लिया जाय। आज सामाजिक कार्यकर्त्ता इस बात को भलीभाँति महसूस कर रहे हैं कि व्यक्तित्व एवं मानवसमायोजन की समस्याओं की समझदारी तभी अच्छे ढंग से हो सकती है जब शारीरिक, जैविक, सामाजिक एवं सांस्कृति ज्ञान को समीकृत कर दिया जाय। समाज विज्ञान समाजकार्य के ज्ञान वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। समाजकार्य में समाज विज्ञानों की महती उपयोगिता है, क्योंकि उन्ही समाज विज्ञान के द्वारा व्यक्ति को संस्कृति एवं समाज विषयक आधारभूत ज्ञान की प्राप्ति होती है।

मोटे तौर पर समाज कार्य विषयक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान के विकास में निम्नलिखित विषयों का प्रमुख योगदान होता है :-

1. मनोविज्ञान एवं समाजकार्य :-

समाज की सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रारम्भिक विधि है वैयक्तिक सेवा कार्य। इस विधि के अर्न्तगत किसी समस्याग्रस्त व्यक्ति की समस्याओं का कार्यकर्त्ता द्वारा सबसे पहले निदान किया जाता है। उक्त निदान में यह देखा जाता है कि संबंधित समस्याग्रस्त व्यक्ति का व्यक्तित्व कैसा है, उसकी प्रत्यक्षीकरण निर्णयन एवं नियन्त्रण की शक्ति कैसी है उसकी मनोभावनायें व्यवहार एवं रक्षा युक्तियाँ किस प्रकार की हैं। उसकी ईगो स्ट्रेन्थ कैसी है। किस अंश तक वह अपने व्यवहारों में बदलाव लाकर अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने में सफल है। यह सभी तथ्य मनोविज्ञान के विषय सीमा में आते हैं। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व, समस्या, व्यवहार, ईगो स्ट्रेन्थ एवं रक्षायुक्तियों को जानने के लिए समाजकार्यकर्त्ता मनोविज्ञान के ज्ञान का प्रयोग करता है और इस प्रकार के ज्ञान के प्रयोग के अभाव में वैयक्तिक सेवाकार्य के अन्तर्गत सेवार्थी की समस्या का निदान संभव नहीं है। निदान के अभाव में समस्या के उपचार भी संभव नहीं है। अतः समाजकार्य के अन्तर्गत मनोविज्ञान के ज्ञान का विशेष महत्व है।

2. समाजकार्य एवं सामाजिक मनोविज्ञान :-

सामाजिक मनोविज्ञान विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार का सामाजिक अध्ययन है। सामाजिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत सामाजीकरण नेतृत्व, समूह एवं अंतर्सामूहिक संबन्ध के प्रत्ययों से संबंधित ज्ञान का उपयोग किया जाता है। समाज कार्यकर्त्ता मुख्य रूप से व्यक्ति एवं पर्यावरण के अन्तर्संबंध को समझने के लिये सामाजिक मनोविज्ञान का प्रयोग करता है।

सामाजिक मनोविज्ञान के कुछ ऐसे आयाम हैं, जो समाज कार्यकर्त्ता के लिये विशेष उपयोगी हैं। जैसे व्यक्ति पर सामूहिक एवं सांस्कृतिक परिवेश का प्रभाव, व्यवहार के सम्प्रेरक, सीखने की प्रक्रिया, मनोवृतियाँ एवं विश्वास, पूर्वाग्रह एवं रूढ़िबद्ध अवधारणायें, नेतृत्व, मनोबल, सामूहिक संघर्ष, सामाजिक तनाव, सामाजिक नियोजन, जनमत तथा प्रचार इत्यादि। इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक मनोविज्ञान की संपूर्ण विषय सामग्री समाजकार्य हेतु उपयोगी है।

दूसरी ओर समाजकार्य भी सामाजिक मनोविज्ञान को सुदृढ़ बनाता है। सामाजिक वास्तविकता के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति समूह अथवा समुदाय के साथ कार्य करता हुआ समाजकार्यकर्त्ता समाज कार्य शोध के माध्यम से सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार से संबंधित प्रमाणित ज्ञान में वृद्धि करते हुये विशेष रूप से सामाजिक मनोविज्ञान के संपूर्ण विषय वस्तु को सुदृढ़ बनाता है।

समाज कार्य एवं समाजशास्त्र

समाज कार्य के अन्तर्गत सामान्य रूप से निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया जाता है :-

(1) मानव संस्कृति एवं समाज
(2) मानव व्यक्तित्व
(3) वैज्ञानिक पद्धति
(4) सामाजिक संरचना
(5) सामाजिक व्यवहार
(6) सामाजिक क्रिया
(7) सामाजिक संस्थायें
(8) सामाजिक प्रक्रियायें
(9) सामाजिक परिवर्तन
(10) सामाजिक व्याधिकी और विघटन

(11) सामाजिक नियंत्रण

(12) सामाजिक एकीकरण

यह उपरोक्त सभी तत्व समाजकार्य के लिये भी बहुत उपयोगी हैं। किन्तु इनका सम्बन्ध समाजशास्त्र से भी है मोटे तौर पर समाजशास्त्र निम्नलिखित रूप से समाजकार्य हेतु उपयोगी होता है।

(1) समाजकार्य में समस्याग्रस्त व्यक्तित्व की सम्यक समझदारी अतिआवश्यक है। व्यक्तित्व को समझने हेतु समाजशास्त्र व्यक्तित्व संबंधी बहुत से कारकों को स्पष्ट करता है।

(2) सामाजिक संस्कृति समाज शास्त्र का एक महत्वपूर्ण आयाम है, समाज शास्त्र इसे समझने में समाज कार्य की सहायता करता है।

(3) समाजशास्त्र सेवार्थी को व्यक्तित्व के विघटन संबंधी विभिन्न प्रकार की समस्याओं पर प्रकाश डालता है।

(4) समाजशास्त्र विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में भाग लेने वाले एक पक्ष के रूप में सेवार्थी की मनोवृतियों योग्यताओं और क्षमताओं को समझने में सहायता करता है।

(5) समाजशास्त्र समूहों संस्थाओं और प्रक्रियाओं के संदर्भ में परिकल्पनाओं का निर्माण करके समाजकार्य की मदद करता है।

(6) बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में ही यह बात समझ में आने लगी थी कि वे व्यक्ति जो सामाजिक कार्यकर्त्ता बनने की अभिलाशा रखते हैं, उन्हें एक विशिष्ट समाजशास्त्रीय प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

(7) समाज कार्य बार-बार सामाजिक विघटन, सांस्कृतिक परिवर्तन तथा पर्यावरणीय समस्याओं के अध्ययन एवं समाधान हेतु समाजशास्त्रीय अवधारणाओं का प्रयोग करता रहता है।

(8) आर्थर हिलमैन ने समाजकार्य की परिभाषा के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि समाजकार्य का विषय क्षेत्र संपूर्ण समाज है, जिसकी संरचना को समझने के लिये समाज शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

किन्तु समाजकार्य केवल समाजशास्त्र के ज्ञान का ही सहारा नहीं लेता है। वरन् दूसरे विषयों के ज्ञान का भी सहारा लेता है और सुविकसित प्रणालियों के माध्यम से सेवार्थी की सहायता करता है। वास्तव में समाजशास्त्र की अपेक्षा समाजकार्य अधिक विकसित है। क्योंकि समाजशास्त्र एक समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति का अध्ययन करते हुये समाजीकरण के आधार पर सामान्य सिद्धान्त विकसित करने तक अपने को सीमित रखता है, जबकि समाजकार्य विभिन्न विज्ञानों के ज्ञान का आवश्यकतानुसार प्रयोग करते हुए वास्तव में मनोसामाजिक समस्याओं का सुलझाव करता है।

समाजकार्य समाजशास्त्र के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान देता है। समाजशास्त्र के कुछ नये क्षेत्र जैसे चिकित्सा-समाजशास्त्र, सुधारशास्त्र, औद्योगिक-समाजशास्त्र इत्यादि के विकास में समाजकार्य का प्रमुख योगदान हैं।

समाजकार्य एवं औद्योगिक समाजशास्त्र

औद्योगिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की एक अति महत्वपूर्ण शाखा है जो श्रमिकों का उनकी विशिष्ट औद्योगिक परिस्थितियों में त्रिस्तरीय अध्ययन करता है :- (1) समूह के एक सदस्य के रूप में श्रमिक, (2) एक संगठन के रूप में (3) समाज तथा उद्योग के मध्य अन्तःसम्बन्ध के रूप में। उपर्युक्त स्तरों पर अध्ययन करते हुए औद्योगिक समाजशास्त्र तीन तरह से हमारे ज्ञान व जानकारी में वृद्धि करता है :-

(1) उद्योग में औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठन से सम्बन्धित ज्ञान का विस्तार।

(2) श्रमिकों के सामाजिक समायोजन से सम्बन्धित ज्ञान में वृद्धि और

(3) उद्योग में संचार के स्वरूप तथा प्रणालियों से सम्बन्धित ज्ञान का विकास।

सम्पूर्ण विकसित (Developed) एवं विकासशील (Developing) देशो में, औद्योगिक समाजशास्त्र की तरह ही औद्योगिक समाजकार्य (Industrial Social work) भी व्यावसायिक समाज कार्य के एक विशेष क्षेत्र के रूप में तीव्र गाति से मान्यता प्राप्त करता जा रहा है। यह नवीन अवधारणा, श्रम कल्याण अधिकारी (Labour welfare Officer) और कार्मिक अधिकारी (Personel Officer) की आवधारणाओं से भिन्न अवधारणा है इसका औद्योगिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है जिसे अच्छी तरह से जानने समझने की जरूरत है। जब हम औद्योगिक परिस्थितियों और औद्योगिक समूह के रूप में श्रमिक के व्यवहारों व अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन औद्योगिक समाजशास्त्र की सहायता से करेंगे तभी औद्योगिक क्षेत्र से सम्बन्धित समस्याग्रस्त श्रमिक की मदद समाज कार्य द्वारा सम्भव है। जब हम उद्योग को एक सामाजिक संगठन के रूप में लेंगे और औद्योगिक संगठन की इकाइयों को भलीभाँति समझते हुए समस्या तथा श्रमिक से सम्बन्धित तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो औद्योगिक क्षेत्र में समाज कार्य अभ्यास प्रक्रिया लाभदायक हो सकती है। उपर्युक्त ज्ञान हमें औद्योगिक समाजशास्त्र की विषयवस्तु की मदद से प्राप्त हो सकती है। औद्योगिक संगठन के अन्तर्गत औद्योगिक सामाजिक कार्यकर्ता (Industrial Social Worker) विभिन्न समस्याओं जैसे- औद्योगिक दुर्घटना, थकावट, सामाजिक विचलन (Social Deviation), श्रमिक-संघर्ष तथा श्रमिक-उद्योगपति- संघर्ष आदि के समाधान हेतु आवश्यक प्रयास करता है। साथ ही साथ श्रमिकों व उद्योगपतियों के पारस्परिक सम्बन्धों में अनुरूपता लाने का प्रयत्न करता है। यही नहीं बल्कि श्रमिकों के असमायोजन सम्बन्धी समस्याओं का निवारण करके औद्योगिक उत्पादन शक्ति को बढ़ाने, उनकी कार्यक्षमता वृद्धि तथा औद्योगिक

पर्यावरण को शांतिमय बनाने में उल्लेखनीय भूमिका निभा सकते हैं। इन समस्त कार्यों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि औद्योगिक समाजकार्यकर्ता औद्योगिक समाजशास्त्र का अध्ययन कर औद्योगिक समाज कार्य के उद्देश्यों की पूर्ति कर सके। श्रमिकों की मलिन बस्तियों, उनकी घनी आबादी, परिवार के बच्चों की अत्यधिक संख्या आदि के कारण उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए भी औद्योगिक समाजशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार श्रमिकों की कार्य दशाओं एवं आवासीय स्थितियों में सुधार होगा और इससे उत्पादन क्षमता में वृद्धि होगी। स्पष्ट है कि औद्यागिक समाजशास्त्र व समाजकार्य का सम्बन्ध लाभकारी है। अतिशयोक्ति न हो तो हम कर सकते हैं कि दोनों का रिश्ता एक सहोदर भाई जैसा ही है।

समाजशास्त्र एवं सामाजिक नृतित्व शास्त्र

सामजिक नृतित्व शास्त्र मुख्यतः आदिम समाजों का अध्ययन करता है। आदिम समाजों की संस्कृति एवं सभ्यता प्राचीनता के आधार पर स्थिर रहती है और उनकी जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, मूल्य आदि आधुनिक समाज से भिन्न होती हैं। वर्तमान सामाजिक संगठन से इन आदिम जातियों के सामाजिक संगठन भी भिन्न होते हैं। सामाजिक नृशास्त्र, मानवशास्त्र की एक विशिष्ठ शाखा के रूप में आदिम समाजों की संस्कृति व सभ्यता का अध्ययन करता है तथा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में इन आदिम समाजों के सदस्यों के व्यवहारों व सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त करता है। इसी पक्ष को ध्यान में रखते हुए कुछ विद्वानों ने सामाजिक नृशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा के रूप में माना है जो मुख्य रूप से आदिम समाजों का विधिवत अध् ययन करती है। विद्वान होबेल (Hoebel) ने सामाजिक नृशास्त्र को समाजशास्त्र को एक समान माना है। अर्थात उनके अनुसार ''विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र एवं सामाजिक नृशास्त्र समान व एक है।'' ("Sociology and Social Anthropology are, in their broadest sense, one and the same.") इसी तरह के विचार एवान्स प्रीचार्ड (Evans Pritchard) के भी हैं। उनके मतानुसार, ''सामाजिक नृशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा के रूप में विचार किया जा सकता है, वह शाखा जो मुख्य रूप से आदिम समाजों के अध्ययन में अपने को समर्पित भाव से लगाती है।'' अर्थात ''Social Anthropology can be regarded as a branch of Sociological studies, that branch which chiefly devotes itself ot primitive societies'' क्रोबर ने समाजशास्त्र और सामाजिक नृशास्त्र दोनों को जुड़वा बहनें कहा है। सामाजिक नृशास्त्र द्वारा जनजातियों की पारिवारिक व्यवस्था, आर्थिक प्रविधियों, मूल्यों, कानून, संस्कृति व सभ्यता तथा सामाजिक संगठन आदि का अध्ययन सम्यक् ढंग से सम्पन्न होता है।

विभिन्न समाज कार्य विद्यालयों में विशेषीकरण के रूप में जनजाति कल्याण के सम्बन्ध में पाठ्यक्रम संचालित हैं। समाज कार्य विद्यालयों से प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं को इन

जनजाति कल्याण के क्षेत्रों/समाजों में सहायता कार्य करने पड़ते हैं। अतः इन सामाजिक कार्यकर्ताओं को इन आदिम/जनजातियों की संस्कृति सभ्यता, मूल्यों, प्रथाओं, रूढ़ियों, विश्वासों, सामाजिक संगठन व पारिवारिक ढाँचे आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन्हीं ज्ञान के आधार पर सामाजिक कार्यकर्ता इन आदिम जातियों की आवश्यकताओं को जान पाते हैं और इनके समस्या समाधान हेतु प्रयत्नशील हो सकते हैं ताकि उनकी भलाई हो और वे सतत विकास की ओर अग्रसर हो सकें। लेकिन यह उपर्युक्त ज्ञान मात्र सामाजिक नृशास्त्र के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए हम कह सकते है कि सामाजिक नृशास्त्र और समाज कार्य के बीच बहुत ही निकटता का सम्बन्ध है और इसमें आदिम जाति के कल्याण की बात भलीभाँति समाहित है।

समाज कार्य एवं अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र मानव व्यवहार के आर्थिक पहलुओं (आयामों) का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत उत्पत्ति, उपयोग विनियम, वितरण तथा राजस्व के विविध पक्षों का अध्ययन किया जाता है। इन सबके अध्ययन के बिना मनुष्य की समृद्धि के लिए अपेक्षित वस्तुओं और सेवाओं का प्रभावपूर्ण ढंग से उत्पादन किया नहीं जा सकता है और अभीष्ट उत्पाद के अभाव में एक न्यूनतम् इन्छित जीवन स्तर, जो समाज कल्याण का लक्ष्य है, सुनिश्चित कर पाना संभव नहीं है। जहाँ तक मनोसामाजिक समस्याओं का प्रश्न है, उनके मूल में भी आर्थिक कारण ही विद्यमान रहते हैं। विशिष्ट रूप से अर्थशास्त्र से प्राप्त ज्ञान समाजकार्य के अधोलिखित क्षेत्रों में उपयोगी हो सकता है :-

1. वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत व्यक्ति की सहायता का अंतिम उद्देश्य उसे अपने पैरों पर खड़ा करना है। भारत में निर्धनता के कारण अपने पैरों पर खड़ा होना सबसे बड़ी समस्या है। समाज कार्यकर्त्ता आर्थिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सेवार्थी को सही जीवन यापन के तरीके के चयन और उसमें समायोजित करने में इस प्रकार से सहायता दे सकता है कि अंततोगत्वा व्यक्ति अपने पैरों पर खड़ा हो सके।
2. आज समाज कार्य एक बड़ा लक्ष्य गरीबी उन्मूलन हो गया है इस उद्देश्य की पूर्ति में सामाजिक क्रिया की विधि का सहारा लिया जाता है। किन्तु किसी समुदाय में गरीबी के क्या आर्थिक पहलू हैं और उन्हें किस प्रकार गरीबी हटाओं आन्दोलन में प्रयोग किया जा सकता है, इस उद्देश्य की पूर्ति में अर्थशास्त्र ही सहायक हो सकता है।
3. कम खर्च में किस प्रकार आरामदेह एवं संतोषप्रद जीवनयापन किया जा सकता है, यह सर्वसाधारण की एक महत्वपूर्ण समस्या है और इस समस्या का समाधान कार्यकर्ता तभी कर सकता है जबकि उसे अर्थशास्त्र की गतिशीलता एवं आर्थिक पहलुओं का अच्छा ज्ञान हो।

4. भारत जैसे देश में व्यक्तिगत एवं मनोसामाजिक समस्या के भी आर्थिक पक्ष सबसे महत्वपूर्ण होते हैं और उस पक्ष में सम्यक सहायता हेतु अर्थशास्त्र का अच्छा एवं व्यावहारिक ज्ञान अति आवश्यक है।
5. आज अन्त्योदय भी समाजकार्य का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य हो गया है। इसके अन्तर्गत समाज के सबसे गरीब व्यक्ति के आर्थिक एवं समग्र विकास का लक्ष्य बनाया जाता है, यह लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकता है जब कार्यकर्त्ता को सामाजिक आर्थिक पहलुओं एवं अर्थशास्त्र का सम्यक ज्ञान हो।
6. संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समाजकार्य का लक्ष्य आज उपचार एवं समायोजन न होकर विकास हो गया है। विकास के सामाजिक एवं आर्थिक दोनों ही पक्ष महत्वपूर्ण होते हैं। आर्थिक लक्ष्यों की पूर्ति कार्यकर्त्ता तभी कर सकता है जब कि उसे अर्थशास्त्र का अच्छा ज्ञान हो।

जहाँ एक ओर अर्थशास्त्र समाज के सभी वर्गों के लिये न्यूनतम जीवन स्तर की प्राप्ति में सहायता देता है, वहीं समाजकार्य सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक सम्वृद्धि के विकास को आधारभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करते हुये, आर्थिक विकास से संबद्ध व्यक्तियों को सामाजिक विकास के विविध पहलुओं को ध्यान में रखते हुए आर्थिक विकास संबंधी क्रिया कलापों का अनुसरण करने की प्रेरणायें एवं परामर्श प्रदान करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र एवं समाजकार्य का अनन्योनाश्रित संबंध है।

समाजकार्य एवं राजनीति शास्त्र

समाज के अर्न्तगत सेवार्थियों की सहायता ऐसी राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में दी जाती है, जो राजनैतिक व्यवस्था से परिचालित होती हैं। राज्य द्वारा निर्धारित की गई नीतियाँ, नियम तथा कानून एवं उसके द्वारा बनाई गयी योजनायें तथा कार्यक्रम न केवल समाज कार्य के क्रिया-कलापों को गति देते हैं वरन् उसकी दिशा को भी निर्देशित करते हैं। उदाहरणार्थ - स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब सरकार ने समाजवादी ढाँचे के समाज के स्थापन का लक्ष्य बनाया तो समाजकार्य एवं समाज कल्याण मुख्यतया राजकीय अभिकरणों के द्वारा ही सम्पन्न होता था। किंतु आज की वैश्वीकृत अर्थ व्यवस्था में जब निजी स्रोतों के माध्यम से विकास की बात कही जाती है तो ऐसी स्थिति में आज एन0जी0ओ0 ही समाज कल्याण एवं समाजकार्य में मुख्य माध्यम बन गये हैं।

अतः समाजकार्यकर्त्ता अपने उद्देश्यों की तभी पूर्ति कर सकते हैं जब कि उसे राजनीतिशास्त्र एवं राजनैतिक गतिविधियों और राज्य की सामाजिक नीति का भलीभाँति ज्ञान हो। मोटे तौर पर राजनीति का ज्ञान समाज कार्य में अधोलिखित क्षेत्रों में सहायता कर सकता है :-

(i) संबंधित राज्य की नीति एवं कानून तथा समाज के निर्बल वर्ग के बारे में राज्य द्वारा चलाये गये कार्यक्रमों की सम्यक जानकारी के पश्चात् कार्यकर्त्ता इन क्षेत्रों में सक्रिय भागीदारी करते हुये निर्बल वर्ग का आर्थिक उत्थान कर सकता है। उदाहरणार्थ पहले गरीबी हटाओं के उद्देश्य की पूर्ति हेतु राज्य ने एकीकृत ग्रामीण विकास योजना चलाई थी, आज उसी के स्थान पर राज्य ने स्वर्ण जंयती, ग्राम स्वराज योजना तथा नरेगा आदि योजनायें चलाई हैं। समाजकार्यकर्त्ता को सरकार द्वारा चलायी गयी विभिन्न योजनाओं का जब सम्यक ज्ञान होगा तभी वह सेवार्थियों को उनसे लाभान्वित कर सकेगा।

(ii) जहाँ एक ओर राजनीति शास्त्र समाजकार्य को अपने सहायता कार्य में सेवार्थी की मनोसामाजिक समस्या के समाधान हेतु उसकी संपूर्ण परिस्थिति के विविध राजनैतिक प्रभावों की जानकारी प्रदान करते हुए उसकी प्रभावपूर्णता को बढ़ाता है, वहीं समाज कार्य भी सरकार को इस बात से संबंधित ज्ञान प्रदान करता है कि उसकी नीतियों, कार्यरीतियों, नियमों तथा कनूनों में क्या विसंगतियाँ हैं तथा समाज कल्याण संबंधी नीतियों के क्रियान्वयन का कौन सा तरीका उसे (सरकार को) अपनाना चाहिये। इसके अतिरिक्त समाजकार्य समाजिक समस्याओं के निरोध हेतु नवीन एवं प्रभावशाली कानूनों के निर्माण के सम्बन्ध में सरकार को सामाजिक क्रिया के माध्यम से सुझाव देता है। इस प्रकार राज्य को समाज कल्याण हेतु प्रभावी तन्त्र अपनाने में समाजकार्य सहायक होता है।

समाजकार्य एवं विधिशास्त्र

विधि शास्त्र समाज के निर्बल एवं शोषण किये जाने वाले वर्गों के हितों की रक्षा करने के लिये एक आवश्यक वैधानिक प्राविधान है। उदाहरणार्थ - अनुसूचित जाति, जनजाति, अन्यपिछड़ें वर्गों, महिलाओं बच्चों, युवकों, वृद्धों, बाधितों, श्रमिकों, निराश्रितों इत्यादि के सन्दर्भ में विशिष्ट कानून बने हुये हैं। समाज कल्याण को नियमित एवं नियन्त्रित करने के लिये भी कानून बनाये गये हैं। इस प्रकार विधि शास्त्र निर्मित कानूनों के द्वारा समाज कार्य के लक्ष्य समूह की भलाई में सहायता मिलती है।

दूसरी ओर समाज कल्याण व्यवहार के दौरान इन नियमों और कानूनों की अनेक प्रकार की विसंगतियाँ सामने आती हैं जिन्हें दूर करने के लिए समाजकार्य सम्बन्धित कानून में संशोधन का सुझाव देता है। इसके अतिरिक्त समाजकार्य अपने अभ्यास के द्वारा अर्जित अनुभव के आध ाार पर ऐसे बहुत से क्षेत्रों की ओर इंगित करता हैं जहाँ कानून बनाने की जरूरत है और समाजिक क्रिया के माध्यम से बहुत से क्षेत्रों की ओर स्पष्ट इशारा करता है जहाँ कानून बनाना अनिवार्य है। फलस्वरूप शासन को न केवल नये क्षेत्र में कानून बनाने की जानकारी प्राप्त होती है, बल्कि उन कानूनों के निर्माण से संबंधित आवश्यक मार्गदर्शन भी प्राप्त होता है।

इसी प्रकार एक विधिशास्त्र समाजकार्य को एक ऐसा विधिक आधार प्रदान करता है, जिसका प्रयोग करते हुये समाजकार्य अपने अभ्यर्थियों के हितों के अधिकार रूप में रक्षा कर पाने में समर्थ होता है वहीं दूसरी ओर समाज कार्य ऐसे नवीन क्षेत्रों को उज़ागर करते हुये जिनमें वैधानिक कमियाँ है, अथवा नये विधान बनाने की जरूरत है, विधायिका को नये कानून बनाने या पहले से बने कानूनों को संशोधित करके अधिक प्रभावी रूप देने में मदद करता है।

समाजकार्य एवं सांख्यकी

सांख्यकी की समाज कार्य में अतिशय उपयोगिता है, क्योंकि इसके बिना संभवतः प्रभावपूर्व समाज कार्य शोध संभव नहीं हैं। कुछ वैयक्तिक अध्ययनों, अन्तर्वस्तु विश्लेषण करने वाले अध्ययनों तथा पूर्व रूपेण गुणात्मक प्रकृति वाले अध्ययनों को छोड़कर अन्य स्थानों में सांख्यकी का सहारा लेना ही पड़ता है।

विशिष्ट रूप में सांख्यकी की निम्न क्षेत्रों में समाज कार्य के लिये प्रमुख उपयोगिता है :-

(i) केन्द्रीय प्रवृत्तियों के मापन के रूप में। विभिन्न प्रकार की परिभाषाओं की गणना के माध्यम और शोध विषय की प्रमुख प्रवृत्ति को समझने में।

(ii) शोध संबंधी आँकड़ों को इस रूप में प्रस्तुत करने में ताकि उसका सही विश्लेषण हो सके।

(iii) विभिन्न श्रेणियों के बीच पाये जाने वाले सह सम्बधों की प्रवृत्ति को समझने में।

इसके अतिरिक्त समाज कार्य द्वारा समस्या और उसके कारकों के निरूपण में समाजकार्य शोध का अतिशय महत्व है और यह शोध मुख्यतया साँख्यकीय उपकरणों पर ही आधारित होती है। अतः समाजकार्य के क्रिया कलापों के वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन में सांख्यकी का अतिशय महत्व है।

समाजकार्य एवं आचारशास्त्र

प्रत्येक व्यवसाय के कुछ मूल्य निर्धारित होते हैं जो अपने कार्यकर्त्ताओं को प्रेरणा प्रदान करते हैं और उनके व्यावसायिक व्यवहार एवं आचरण इन मूल्यों से प्रभावित होते हैं। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इन व्यावसायिक मूल्यों का सम्बन्ध उस व्यवसाय से है जिसका सम्बन्ध व्यक्तियों के आचरण से होता है इससे हमें समाज के उचित व अनुचित व्यवहार की जानकारी होती है। इस तरह की बात टफ्ट्स (Tufts) ने कही है, उनके अनुसार ''अचारशास्त्र एक विज्ञान है जो आचरण से सम्बन्धित है और सही या गलत, अच्छे या बुरे आचरण के विषय में विचार करता है।'' ("Ethics is the science that deals with conduct, in so far as this is considered as right or wrong, good or bad."-

Tufts)

अतः आचारशास्त्र को आचरणों के दृष्टि से एक ऐसे विज्ञान के रूप में जाना जा सकता है जिसके माध्यम से हमें व्यक्ति के उचित या अनुचित, अच्छे या बुरे आचरणों को जाँचने का मौका मिलता है।

समाजकार्य एक व्यवसाय है जिसकी व्यावसायिक सेवायें विभिन्न सामाजिक अभिकरणों के माध्यम से प्रदान की जाती हैं इन अभिकरणों को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। सामाजिक नियंत्रण की सम्भावना तभी हो सकती है जब इसके कुछ मूल्य हों और उनका पालन किया जा सकता हो। यदि मानव कल्याण हेतु सुदृढ़ सामाजिक संगठन चाहिए तो उसे सृजनात्मक मूल्यों के आधार पर निर्मित किया जा सकता है।

जैसा कि सर्वविदित है कि समाजकार्य एक व्यावसायिक सेवा है जो समाजकार्य की विशिष्ट प्रणालियों (Methods) द्वारा प्रदान की जाती हैं। समाजकार्य के अभ्यास व विधियों के पीछे समाजकार्य का समस्त दर्शन और मूल्य छिपा होता है जो समाज कार्यकर्त्ताओं के व्यवहार को प्रभावित करता है।

व्यक्तियों के मूल्यों में संघर्ष के कारण समायोजन से सम्बन्धित अनेक समस्यायें उत्पन्न होते हैं और इन समायोजन सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के लिए समाजकार्य द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारो में उचित परिवर्तन लाने की जरूरत पड़ती है। इस हेतु व्यक्तियों के मूल्यों के संघर्ष और व्यक्ति व समाज के मूल्यों में संघर्षो को समाप्त करने में सहायता की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ एक बात ध्यान देने की होती है कि व्यक्ति को भिन्न-भिन्न मूल्यों में से अपनी इच्छा के अनुसार मूल्यों के चयन में सहायता प्रदान करने की जरूरत होती है इन सब कार्यों को सफलतापूर्वक सम्पादित करने हेतु आचारशास्त्र के अध्ययन की महती आवश्यकता पड़ती है क्योंकि इससे रचनात्मक मूल्यों एवं विध्वसांत्मक मूल्यों के अन्तर को समझा जा सकता है।

अतः समाजकार्य आचारशास्त्र के अध्ययन द्वारा मूल्यों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करता है और इस ज्ञान के द्वारा मूल्यों के संघर्षों को समाप्त करने एवं श्रेष्ठ व उपयोगी मूल्यों के चयन में व्यक्तियों की सहायता करता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि समाजकार्य को कुछ ऐसे विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है जिसे आचारशास्त्र के अध्ययन से ही प्राप्त किया जा सकता है और इस आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज कार्य एवं आचारशास्त्र में निकट का सम्बन्ध में।

अध्याय-4

समाजकार्य की वैचारिक पृष्ठभूमि

समाज कार्य एक व्यवहार विज्ञान है। अन्य व्यवहार विज्ञानों के संबंध में जो अभिगम प्रयुक्त हैं, न्यूनाधिक रूप से वहीं अभिगम समाजकार्य के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार समाजकार्य के कुछ ऐसे अभिगम हैं जो उसकी विधियों-वैयक्तिक सेवाकार्य एवं सामूहिक सेवाकार्य के संबंध में प्रयुक्त हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी अभिगम हैं, जो समाजकार्य विषयक सभी व्यवहारों पर लागू होते हैं। ऐसे कुछ प्रमुख अभिगमों का विवरण यहाँ आगे दिया जा रहा है :-

(अ) प्रणाली मूलक अभिगम (System Apprach) -

सामाजिक प्रणाली को किसी एक ऐसी इकाई के रूप में देखा जा सकता है जो जीवित भी हो सकती है और निर्जीव भी हो सकती हैं, उसे उसके सम्पूर्ण परिवेश में देखा जाता है और उसके विभिन्न अंग एक दूसरे से इस प्रकार अन्तर्संबंधी होते हैं कि एक अंग में यदि कोई भी परिवर्तन हो जाता है तो उसका प्रभाव दूसरे अंगों पर भी अवश्य पड़ता है।

समाज विज्ञानों में प्रणाली उपागम का प्रयोग पार्सन्स और स्मेल्सर ने किया। उनके अनुसार एक प्रणाली की चार उपप्रणालियाँ होती है - (1) राजनैतिक प्रणाली, (2) आर्थिक प्रणाली (3) एकीकृत उप प्रणाली, (4) प्रतिमान अनुरक्षण प्रणाली। उन्होंने यद्यपि समाजकार्य को एक प्रणाली के रूप में उल्लिखित नहीं किया है, किन्तु समाजकार्य आर्थिक प्रणाली की एक उप प्रणाली है।

प्रणाली या सिस्टम की कुछ और भी विशेषतायें हैं, जो निम्नलिखित हैं :-

(a) आधारभूत रूप में प्रणाली कई उपप्रणालियों या अंगों का एक योग है। प्रत्येक अंग के कई उपांग या उपप्रणालियाँ होती हैं। जब कोई अंग किसी प्रणाली की एक उप प्रणाली समझा जाता है, तो उसमें प्रणाली की लगभग सभी विशेषतायें सन्निहित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ - ब्रह्माण्ड एक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत तारों की कई-कई उप प्रणालियाँ विद्यमान रहती हैं। किन्तु यदि हम किसी एक उप प्रणाली के रूप में किसी तारे को लें तो उसमें भी प्रणाली की सभी विशेषतायें विद्यमान रहती हैं। उस तारे में भी कई ग्रह हैं जो उसकी उप प्रणालियाँ हैं।

(b) प्रणाली को उसकी सीमा रेखा या बाउन्ड्री के आधार पर पहचाना जाता है। कुछ प्रणालियों

की सीमा रेखायें पूर्णतया स्पष्ट होती हैं और कुछ प्रणालियों की सीमा रेखायें स्पष्ट तो नहीं होती हैं तथापि उसकी कुछ विशेषताओं के कारण उन्हें अलग से पहचाना जा सकता है।

(c) सीमा रेखा के आधार पर किसी प्रणाली को बन्द या खुली प्रणाली कहा जा सकता है। किंतु अधिकांश प्रणालियाँ खुली प्रणालियाँ हैं, जो बाहरी संसार में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होती है।

(d) प्रत्येक प्रणाली में कुछ निवेश किया जाता है जो उस प्रणाली की ट्रांसफारमेशन प्रक्रिया के द्वारा प्रतिफल में परिणित हो जाता है। किसी प्रणाली के अस्तित्व को कायम रखने के लिये यह बदलाव प्रक्रिया आवष्यक होती हैं। सामान्य रूप से वाह्य संसार से निवेश प्राप्त किया जाता है, जो प्रणाली की बदलाव प्रक्रिया के माध्यम से प्रतिफल में परिवर्तित होता है। सभी प्रणालियों में यह प्रक्रिया चालू रहती है। उदाहरण के लिये हम वाणिज्य प्रतिष्ठान को ले सकते हैं जहाँ सूचना, मुद्रा, कच्चामाल और मानवीय संसाधन को प्रतिष्ठान प्रणाली इनपुट (निवेश) के रूप में लिया जाता है और उन्हें मशीनों के माध्यम से उत्पाद के रूप में बदला जाता है, जिसे प्रतिफल कहा जाता है।

(e) प्रत्येक प्रणाली के अन्तर्गत एक प्राविधिक, सामाजिक एवं अधिकार या शक्ति प्रणाली निहित रहती है। प्रणाली किसी संगठन के माध्यम से कार्य करती है, जिसकी एक संरचना, भूमिका संबंध एवं संप्रेषण जाल होता है। ये सभी आयाम संगठन की प्राविधिक प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं। संगठन में कई समूह एवं उपसमूह होते हैं, उनका अन्तर्संबंध संगठन का सामाजिक पक्ष है। संगठन में जो अधिकार संरचना होती है, वही उसकी शक्ति प्रणाली होती है।

(f) प्रत्येक प्रणाली के अन्तर्गत कुछ प्रतिसम्भरण या फीड बैक की व्यवस्था होती है। उस फीड-बैक के आधार पर प्रणाली के कर्त्ता आवश्यकतानुसार अपनी भूमिकाओं में परिवर्तन कर लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

(g) अतंतोगत्वा संगठनात्मक प्रणाली में एक संतुलन स्थापित रहता है, जिसके आधार पर प्रणाली के कार्य व्यवहार चलते रहते हैं।

समाजकार्य एक प्रणाली

प्रणाली के उपरोक्त मानदण्डों के आधार पर हम समाज कार्य को भी एक प्रणाली ही कह सकते हैं, क्योंकि वह भी प्रणाली की सभी कसौटियों पर खरा उतरता है। विवरण निम्नलिखित है :-

(i) समाज कार्य सामाजिक प्रणाली की आर्थिक-प्रणाली की एक उप प्रणाली है।

(ii) समाज कार्य कुछ प्रविधियों एवं सिद्धान्तों पर आधारित है। यही सिद्धान्त और प्राविधियाँ उसकी सामाजिक सीमा है, जिसके आधार पर उसकी पहचान की जा सकती है। इसके अतिरिक्त समाजकार्य एक खुली प्रणाली है, क्योंकि समाज के बदलते हुये परिवेश के अनुसार सामाजिक समस्याओं में भी बदलाव आता है और सामाजिक समस्याओं के सुलझाव एवं वाह्‌य परिवेश से समायोजन हेतु समाजकार्य भी अपनी कार्य-पद्धति एवं प्रविधियों में परिवर्तन लाता रहता है। जब बाहरी सामाजिक परिवेश सामान्य रहता है तो वैयक्तिक सेवाकार्य, सामूहिक सेवा कार्य एवं सामुदायिक संगठन की प्रविधियों का प्रयोग करता है किन्तु जब वाह्‌य परिवेश में व्यापक बदलाव की जरूरत होती है, तो वह सामाजिक क्रिया की प्रविधि का प्रयोग करता है।

(iii) समाजकार्य प्रणाली की छह (6) उपप्रणालियाँ हैं, जिन्हें क्रमशः वैयक्तिक सेवा कार्य, सामूहिक सेवा कार्य, समुदाय संगठन, समाजकार्य शोध, समाज कल्याण प्रशासन, एवं सामाजिक क्रिया कहा जाता है। प्रणाली अभिगम के परिपेक्ष्य में इन्हें उप प्रणालियाँ कहा जाता है, किन्तु स्वतंत्र रूप से ये विधियाँ स्वयं भी अपने में एक पूर्ण प्रणालियाँ हैं। वे एक दूसरे से एकीकृत होकर प्रयुक्त की जाती हैं और उनकी एकीकृत सेवा का प्रतिफल उनकी सेवाओं के अलग-अलग प्रतिफलों के योग से अधिक होता है। आज बहुत सी स्थितियों में समस्याओं के सुलझाव या अन्य प्रकार की सेवाओं में इनका एकीकृत रूप से ही प्रयोग किया जाता है।

(iv) जहाँ तक सामाजिक प्रणाली के निवेश, ट्राँसफारमेशन और आउट पुट का संबंध है हम कह सकते हैं कि, समाज कार्य के अभिकरण व्यक्ति समूह या समुदाय को बाहरी सामाजिक पर्यावरण से समस्याग्रस्त सेवार्थी के रूप में स्वीकार करते हैं, यही उनका निवेश है और अभिकरण समाज कार्यकर्त्ता की सहायता द्वारा (जो उसकी ट्रासफारमेंशन प्रक्रिया है) उन्हें समस्या मुक्त व्यक्ति या विकसित समूह अथवा विकसित समुदाय के रूप में परिवर्तित कर देता है जो उस प्रणाली का प्रतिफल है।

(v) समाज कल्याण सेवाओं को समाजकार्य अभिकरणों के द्वारा प्रदान किया जाता रहा है। अभिकरणों के संगठन में तीन पक्ष होते हैं :- (1) प्राविधिक, (2) सामाजिक एवं (3) शक्ति मूलक पक्ष। प्राविधिक पक्ष के अन्तर्गत अभिकरण के विभिन्न विभाग उनमें कार्यरत अभिकर्मियों की भूमिका-संबंध, अभिकर्मियों की प्रस्थिति, भूमिका, सम्प्रेषण, एवं नियंत्रण संबंधी कार्य आते हैं। सामाजिक पक्ष के अन्तर्गत अभिकरण में कार्यरत अभिकर्मियों के विभिन्न समूहों के अन्तर्संबंध, उनके संघर्ष एवं सुलझाव मूलक पक्ष आते हैं। अभिकरण के शक्ति मूलक आयाम के अन्तर्गत अभिकरण के अधिकारी एवं उनकी अधिकार संरचना आती है।

इस प्रकार प्राविधिक, सामाजिक एवं अधिकार मूलक आयामों के माध्यम से कार्य करते हुये सामाजिक अभिकरण अपनी सेवा के लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं।

(vi) समाज कार्य की सेवायें समाजकार्य अभिकरणों के माध्यम से दी जाती हैं। इन सेवाओं का सेवार्थियों एवं समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी जानकारी स्वयं सेवार्थी या बाहरी समाज के लोग अभिकरणों को देते रहते हैं। यही फीडबैक या प्रतिसम्भरण है। इस आधार पर जब अभिकरण को यह ज्ञात होता है कि उसकी अमुक सेवा समाज या सेवार्थी के लिए विशेष उपयोगी नहीं है, तो आवश्यकतानुसार वह उनमें बदलाव करता रहता है।

(vii) समाजकार्य अभिकरण आन्तरिक एवं वाहृय परिवेश की अपेक्षाओं एवं दबावों में सदैव संतुलन स्थापन का प्रयास करता रहता है और उक्त संतुलन के आधार पर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल होता है। इस स्थिति को होमियोस्थैसिस कहते हैं, जो सभी प्रणालियों की भाँति समाजकार्य प्रणाली से संबंधित अभिकरणों में भी विद्यमान रहता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि समाजकार्य अभिकरणों के द्वारा जो सेवा प्रदान की जाती है, वह प्रणाली उपागम पर आधारित है। इस उपागम के अन्तर्गत समाजकार्य अभिकरणों के द्वारा दी गयी सेवाओं को एक खुली प्रणाली की सेवा कहा जाता है और बाहरी समाज की बदलती हुयी अपेक्षाओं के अनुसार समाजकार्य अभिकरण भी अपने क्रियाकलापों एवं संसाधनों में बदलाव लाकर लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त सेवाओं के संबंध में जो प्रति संभरण प्राप्त होता है। उसके आधार पर आवश्यक बदलाव करके उन सेवाओं को और भी अधिक उपयोगी बनाया जाता है।

प्रणाली उपागम के विधायी पक्ष

(i) यह समाज कार्य को एक संपूर्ण परिवेश में लेती है और सेवार्थियों को एकीकृत सेवायें प्रदान करती हैं।

(ii) चूँकि यह सभी विधियों को एकीकृत रूप से प्रयोग करती है। अतः इसका प्रतिफल भी अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होता है।

(iii) खुली प्रणाली के उपागम के आधार पर यह उपागम अपने में आवश्यक बदलाव करके सामाजिक समस्याओं के सुलझाव में अपेक्षाकृत अधिक सहायक होता है।

(iv) इस उपागम के अन्तर्गत संगठन की संरचना और कार्य प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक लचीली हो जाती है और सेवार्थियों को अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी सेवा प्रदान करती है।

प्रणाली का ऋणात्मक पक्ष

(i) यह अपेक्षाकृत एक जटिल उपागम है और व्यावहारिक जीवन में इसका सही ढंग से उपयोग अति कठिन है।

(ii) विभिन्न उप प्रणालियों के बीच संतुलन एवं उनमें एकीकरण स्थापन करना अति कठिन है।

(iii) सामान्यतया समाजकार्य अभिकरण छोटे स्तर पर कार्य करते हैं, किंतु इस उपागत का प्रयोग छोटे स्तर पर करना अति कठिन है।

(ब.) आकस्मिकता मूलक अभिगम (कन्टेन्जेन्सी एप्रोच) -

इस उपागम का प्रयोग मुख्य रूप से वाणिज्य संगठनों में किया जाता है, किन्तु समाजकार्य भी किसी अभिकरण के माध्यम से किया जाता है, उसके संगठन में भी यह विचारधारा प्रभावी सिद्ध हो सकती है। आज यह बात सर्वमान्य हो गयी है कि कोई भी महत्वपूर्ण कार्य का निष्पादन तभी हो सकता है, जब कि उसके लिये उपयुक्त संगठन विद्यमान हो। इस परिप्रेक्ष्य में यह बात भी सर्वमान्य है कि समाजकार्य सेवाओं का निष्पादन भी किसी अभिकरण के द्वारा होता है। अभिकरण की सेवायें तभी सक्षम ढंग से निष्पादित हो सकती हैं, जब कि उसका संगठन आकस्मिता मूलक विचारधारा या कन्टेन्जेन्सी मूलक संगठन के आधार पर किया जाये। इस दृष्टि से समाजकार्य के क्षेत्र में कंटेन्जेन्सी मूलक विचारधारा का विशेष महत्व है। इस अभिगम का आरंभ जॉन बुडवर्ड के अध्ययन के द्वारा किया गया। आगे चलकर पॉल फ्लोरेंस एवं जयलार्च के द्वारा इसमें और अधिक सूक्ष्मता लाई गयी। इन अध्ययनों का निहितार्थ यह था कि यदि कोई अभिकरण या संगठन अपने लक्ष्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करना चाहता है तो वह आन्तरिक एवं वाह्य परिप्रेक्ष्य में सम्भ्यक संतुलन स्थापित करे और वाह्य परिप्रेक्ष्य में होने वाले परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में संगठन के आन्तरिक परिप्रेक्ष्य में भी निरन्तर परिवर्तन करता रहे।

उपरोक्त परिप्रेक्ष्य में लारेंस एवं लांच द्वारा किया गया एक नवीनतम अध्ययन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने 'यदि' 'और' व 'तो' की शब्दावली का प्रयोग करते हुये वाह्य एवं आन्तरिक परिवेश के अनुवांगिक संबन्धों को निम्नलिखित रूप से प्रदर्शित किया है :-

(i) यदि वाह्य परिवेश में अनिश्चितता एवं असमानता हो तो संगठन को अपेक्षाकृत अधिक असंरचित होना चाहिये।

(ii) यदि वाह्य परिवेश अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एवं एकरूप हो तो संगठन की संरचना में भी स्थिरता होनी चाहिये।

(iii) यदि वाह्य एवं आन्तरिक दोनों परिवेशों में अत्यधिक असमानता होगी तो संगठनात्मक संरचना में एवं वाह्य परिवेश में एकरूपता स्थापन हेतु अधिक सूक्ष्मता से प्रयास करना पड़ेगा।

इस संबंध में बर्नूस और स्टालकर ने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि वे संगठन जिनमें केन्द्रीकरण एवं अधिकार की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक होगी, ऐसे कार्य परिवेश

में अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से कार्यकर सकते हैं, जिनमें स्थिरता और एकरूपता हो। इसके विपरीत वे संगठन जहाँ कार्य की दशायें असंरचित हों और सम्प्रेषण समायोजन एवं सलाह के अधिकार को आदेश की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है वे अपेक्षाकृत गतिशील वाह्य परिवेश में अधिक सफल हो सकते हैं।

बर्न्स एवं स्टालकर के अध्ययन के आधार पर संगठन या समाजकार्य अभिकरण के संबंध में कंटिन्जेन्सी मूलक विचारधारा का प्रतिपादन किया गया, इस संबंध में रेमन्डकारनेल ने 1962 में कहा था कि किसी संगठन या अभिकरण की उपयुक्तता बहुत कुछ परिस्थितिजन्य कारणों पर आधारित होती है।

इस प्रकार समाजकार्य अभिकरण के संगठन के संबंध में प्रतिपादित नवीनतम् कंटेन्जेन्सी थ्योरी के अन्तर्गत इस तथ्य पर विशेष बल दिया गया है कि परिस्थितियाँ अति जटिल होती हैं और भिन्न-भिन्न संगठनों से उत्पन्न भिन्न-भिन्न समस्याओं का अलग ढंग से उपचार जरूरी है। स्पष्टतया संगठनात्मक डिजाइन हेतु कंटिन्जेन्सी की अपील बहुत ऊँची है, क्योंकि यह परिस्थितियों की वास्तविकता से मेल खाती है।

समाजकार्य अभिकरणों के संगठन के संबंध में कटेन्जेन्सी अभिगम के प्रणेता इस बात पर बल देते हैं कि संगठन की डिजाईन को सर्वप्रथम संगठन की पूर्व तस्वीर और पर्यावरण के संबंध में अपना कार्य आरंभ करना चाहिये, इसके बाद ही अभिकरण का संगठनात्मक मैप बनाना चाहिये, जिसके अन्तर्गत विभिन्न उप प्रणालियों की सीमायें दर्शाना चाहिये। इस प्रक्रिया में डिजाइन को अल्टरनेटिव और डिफ्रेन्स अप्रोच का सहारा लेना चाहिये, जिसके अन्तर्गत दो प्रकार की रणनीति अपनायी जाती है :-

(i) वैयक्तिक डिजाइन का विकास, (ii) संगठन की प्रमुख सामाजिक, ऐतिहासिक और संगठनात्मक विशेषताओं का निरूपण।

इस विचारधारा के द्वारा इस तथ्य को मान्यता मिली है कि संगठन की डिजाइन का निर्माण बहुत ही जटिल कारकों की अन्तर्क्रिया के द्वारा होता है। सेडलर के अनुसार संगठनात्मक डिजाइन पर पाँच कारकों का प्रभाव पड़ता है :-

(i) संगठन के वाह्य परिवेश द्वारा लगाया गया प्रतिबन्ध,

(ii) संगठन के कार्यस्वरूप द्वारा लगाया गया प्रतिबन्ध और संगठन द्वारा प्रयुक्त प्रौद्योगिकी का प्रभाव।

(iii) वे मूल्य, विश्वास एवं अभिवृत्तियाँ, जिन्हें संगठन के सदस्य अपने-अपने सामाजिक परिवेश में प्रयोग करते हैं, अथवा जिन्हें संगठन के अतीत से अनुवांशिक रूप से प्राप्त किया जाता है।

(iv) संगठन में अधिकारों का वितरण

(v) संगठन की संरचना एवं उसकी प्रभावोत्पादकता के सम्बन्ध में प्रयुक्त विचार धारायें,

उपरोक्त विवेचन के आधार पर तीन प्रमुख निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :-

(i) किसी समाज कार्य अभिकरण की संगठनात्मक डिजाइन के निर्माण में आन्तरिक एवं वाह्य दोनों कारकों को ध्यान में रखा जाता है।

(ii) बहुत से कारक एक दूसरे के साथ अन्तर्क्रिया करते हुये एक ही संगठनात्मक संरचना को प्रभावित करते हैं।

(iii) संगठनात्मक विचारधाराओं के नियामकों का यह विचार रहा है कि कोई एक विशेष परिवेश जन्म विशेषता का ही संगठनात्मक संरचना के निर्माण में मुख्य हाथ होता है। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि किसी भी संगठनात्मक डिजाइन के निर्माण में चार प्रमुख कारकों का मुख्य हाथ होता है :- (क) वाह्य परिवेश (ख) राजनीति (ग) आकार (घ) प्रौद्योगिकी। संगठनात्मक संरचना में इन सभी कारकों को महत्व प्रदान किया जाना चाहिये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संगठनात्मक संरचना में कई कारक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

अतः ये हम यह कह सकते हैं कि इस विचारधारा का सम्बन्ध समाज कार्य की प्रणाली से तो नहीं हैं, किन्तु समाजकार्य जिस अभिकरण के द्वारा किया जाता है उसके संगठन से है। समाजकार्य के क्रियाकलापों के सम्पादन में अभिकरण की महत्वपूर्ण भूमिका है और उसके सक्षम एवं लचीले संगठन की दृष्टि से यह विचारधारा महत्वपूर्ण है।

(स) एकीकृत अभिगम् (Integrated Apporach)

यह उपागम प्रणाली उपागम के आधार पर निर्मित है, प्रणाली उपागम के संबंध में यह कहा गया था कि प्रणाली की सभी उप प्रणालियाँ जब एक साथ पारस्परिक संबंध स्थापित कर एकीकृत रूप से कार्य करती हैं तो उसके कार्य का प्रतिफल अलग-अलग ईकाईयों के प्रतिफल के योग से अधिक होता है। इस परिपेक्ष्य में आज समाज कार्य की सभी 6 प्रणालियों को एकीकृत कर कार्य करने की बात कही गयी है। उदाहरणार्थ यदि एक समुदाय का विकास करना है, तो यह कार्य अकेले समुदाय संगठन की विधि के द्वारा सक्षम रूप से नहीं किया जा सकता है। इस हेतु अपेक्षित है कि एक ओर तो समुदायिक कार्यकर्ता संपूर्ण समुदाय के विकास का लक्ष्य निर्धारित करते हुये कार्य करे, दूसरी ओर यदि उस समाज में बहुत सी रूढ़ियां और अंधविश्वास व्याप्त है तो उनको दूर करने के लिये सामाजिक क्रिया की विधि का साथ ही साथ प्रयोग किया। समुदाय की विभिन्न समस्याओं, उनके कारकों एवं समुदाय की प्रबलतम आवश्यकताओं की

जानकारी हेतु सामाजिक शोध की प्रक्रिया को भी साथ-साथ प्रयोग किया जाना चाहिये और उसके निष्कर्षों के आधार पर अन्य विधियों को भी आवश्यकतानुसार फीड बैक किया जाना चाहिये। समाज में व्यक्तिगत रूप से कुछ ही ऐसे लोग हो सकते हैं, जो समुदाय विकास के कार्यों में बाधक हों, उनके साथ वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता को साथ ही साथ कार्य करना चाहिये। समुदाय में कुछ समूह या सदस्यगण ऐसे भी हो सकते हैं, जिनका व्यक्तित्त्व पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ हो, ऐसे समूहों के साथ भी साथ ही साथ कार्य होना चाहिये, जो सामूहिक सेवा कार्यकर्त्ता कर सकता है। समुदाय में स्वास्थ्य केन्द्र, मनोरंजन केन्द्र, प्रौढ़शिक्षा केन्द्र, आदि समाज कल्याण के अभिकरण भी हो सकते हैं जो बहुत स्थितियों में अपना कार्य सक्षम ढंग से नहीं कर रहे हों, ऐसी सेवाओं एवं केन्द्रों का संचालन एवं प्रशासन समाज कल्याण प्रशासन विधि के माध्यम से हो सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजकार्य की विभिन्न विधियाँ या उप प्रणालियां एक साथ पारस्परिक समन्वयपूर्ण ढंग से कार्य करेंगी तो अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली प्रतिफल प्राप्त होगा।

फीड फॉरवर्ड और फीड बैक के माध्यम से इन प्रणालियों में परस्पर तालमेल स्थापित कर लक्ष्यों की प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्ति की जाती है।

रैडिकल सोशल वर्क

रैडिकल सोशल वर्क से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में हुआ। कालक्रम से संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त तथ्य उपलब्ध होने लगा।

ब्रिटेन में समाजकार्य को उसके सामाजिक संदर्भो से पृथक कर विचार करते समय ऐसा लगता है कि आज इसका झुकाव सामाजिक क्रिया तथा समाज सुधार से सम्बन्धित कार्यों की विवेचना की ओर हो गया है और इस नवीनतम घटनाक्रम को रैडिकल सोशल वर्क कहा जा रहा है।

रैडिकल सोशल वर्कर व्यावसायिक समाज कार्य को बहुत ही आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखते हैं। उनका कहना है कि यह विश्वास करना कि सिर्फ तकनीकी ज्ञान और विशिष्ट कौशल से ही समस्या का समाधान किया जा सकता है, बिल्कुल निरर्थक है क्योंकि प्रायः सभी प्रकार के तकनीकी पक्ष एवं विशिष्ट क्षमता वाले तत्व जो समाज कार्य के शिक्षण-प्रशिक्षण में (उदाहरणार्थ- वैयक्तिक सेवा कार्य, सामूहिक सेवा कार्य और सामुदायिक संगठन) अपनाये जाते हैं, वे केवल कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के व्यवसायिक सम्बन्ध को ही सुदृढ़ कर पाते हैं।

रैडिकल सोशल वर्क इस प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं तकनीकी क्षमता के भरपूर उपयोग का विरोध नहीं करता है बल्कि वह समाज कार्य के व्यावसायिक रूप द्वारा जो व्यावसायिक सम्बन्ध कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के बीच उत्पन्न होता है, उसका विरोध करता है।

रैडिकल सोशल वर्कर यह विश्वास करता है कि व्यावसायिक सम्बन्ध एक स्पष्ट सामाजिक अन्तर या विभाजन कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के बीच उत्पन्न करते हैं। ऐसे सम्बन्ध यह घोषित करते हैं कि उतार-चढ़ाव या पद सोपान वाले सम्बन्ध विकसित करना समाज कार्य का एक अनिवार्य लक्षण हो गया है। रैडिकल सोशल वर्कर यह भी मानते हैं कि व्यावसायिक सामाजिक कार्यकर्त्ता समस्याओं को नौकरशाही के संगठनात्मक स्वरूप के रंग में चिन्हित करते हैं और बताते हैं।

रैडिकल अभ्यास इस सोच या विचार से शुरू होता है कि समस्याग्रस्त जनसंख्या या जनसमूह की समस्याओं को राजनैतिक व आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर (जो बड़े या बृहत् समाज में पाया जाता है) सुलझाया जा सकता है।

1930 ई0 एवं 1960 ई0 के दशक के बीच के रैडिकल प्रैक्टिसनर्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि पिछड़े वर्गों के लोगों का उत्थान केवल समुदाय के बृहत् स्तर पर ही किया जा सकता है।

ये रैडिकल प्रैक्टिसनर्स इसीलिए राजनैतिक व संगठनात्मक क्षमता के विकास पर जोर देने लगे, ताकि समुदाय के वृहत् स्तर पर लोगों की क्षमताओं का यथासम्भव विकास और उपयोग किया जा सके।

ऐतिहासिक रूप से रैडिकल सोशल वर्कर ने अपने आपको व्यावसायिक कार्यकर्त्ता के रूप में इस प्रकार पेश किया :-

1. उनका प्राथमिक जोर आर्थिक और राजनैतिक चरों पर था जो व्यक्ति के अक्रियाओं को स्पष्ट करते हैं।
2. वे सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु प्रविधि-केन्द्रित ज्ञान पर बल न देकर राजनैतिक और संगठनात्मक कुशलताओं पर विशेष बल देते हैं।
3. संघर्ष के क्षेत्र को परिभाषित करने में उनकी अभिरुचि समाज सेवा के नौकरशाही मूलक संगठनों तक ही केन्द्रित नहीं है वरन् उससे ऊपर उठकर वे वृहत्तर समुदाय में संघर्षों को देखते हैं।
4. वृहत् या बड़े सामाजिक आन्दोलनों द्वारा जनित एक प्रकार का नया सम्बल प्रदान करने वाला समूह (Support group) और परिवर्तन रैडिकल प्रैक्टिसनर्स के क्रियाकलापों को नवीन रूप से संचालित करने में मदद करता है।

रैडिकल सोशल वर्क का अर्थ-निरूपण

समाज कार्य के सम्बन्ध में अपनाये गये रैडिकल उपागम की परिभाषा कई लोगों ने दी है। इस सम्बन्ध में पहले के कुछ विचारक जैसे बारबारा लौण्डेस जोसेफ (Barbara Loundes

Joseph) के अनुसार रैडिकल सोशल वर्क के द्वारा समस्याग्रस्त व्यक्तियों को अधिकतम सेवा प्रदान करने का प्रयास किया जाता है साथ ही इसके द्वारा कभी-कभी समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन की बात भी कही जाती है। आगे चलकर जान.एफ.लांग्रेस (John. F Longres) ने वैयक्तिक सेवा कार्य के संदर्भ में रैडिकल सोशल वर्क की परिभाषा देते हुए कहा कि ऐसे समाज कार्यकर्त्ता समाज में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। बहुत अंश में कार्ल-मार्क्स की सामाजिक विचारधारा से यह उपागम (Approach) मेल खाता है। वर्ग-चेतना का विकास और एक साथ मिलकर सामूहिक रूप से कार्य करते हुये सामजिक, आर्थिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक रूप से समाज व्यवस्था में परिवर्तन लाना इस प्रकार के उपागम का मूल उद्देश्य है।

उपर्युक्त मतों के परिप्रेक्ष्य में हम 'रैडिकल सोशल वर्क' को संक्षिप्त रूप से परिभाषित करते हुये यह कह सकते हैं कि इस प्रकार का समाज कार्य एक ऐसा समाज कार्य है जिसके द्वारा एक ऐसे आन्दोलन के निर्माण का प्रयास किया जाता है जिसमें सामाजिक सेवाओं के माध्यम से पूँजीवादी समाज को साम्यवादी या समाजवादी समाज में बदलने का प्रयास किया जाता है।

इस परिभाषा के अन्तर्गत रैडिकल व्यवहारों की परिणति समाजवादी व्यवहारों में देखी जा सकती है और इसके माध्यम में समाजवादी आन्दोलन का विकास करते हुए समाजवादी ढाँचे के समाज की रचना हेतु कार्य किया जाता है। इस प्रकार का अभिकर्ता एक ओर तो सामाजिक कार्यकर्त्ता है और दूसरी और समाज व्यवस्था में अमूल परिवर्तन का अभिकर्त्ता भी है। उसकी राजनैतिक प्रतिबद्धता तो समाजवादी है किन्तु उसकी विशिष्ट व्यावसायिक श्रेणी सामाजिक कार्यकर्त्ता की है।

इस प्रकार के सामाजिक कार्यकर्त्ता मूलतः राजनीतिज्ञ नहीं होते हैं किन्तु चूँकि समाज व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए राजनैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन लाना आवश्यक होता है, अतः ये सामाजिक कार्यकर्त्ता परिवर्तन के मार्ग में आने वाली राजनीतिक बाधाओं के निराकरण का भी प्रयास करते हैं।

रैडिकल सोशल वर्क की अवधारणा की अंतिम विशेषता यह है कि यह कोई विशिष्ट प्रविधि नहीं है वरन् यह एक प्रकार का सामाजिक आन्दोलन है। इसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन होता है और सामाजिक कार्यकर्त्ता इस आन्दोलन में अपने अनुभव, ज्ञान व कुशलताओं के द्वारा विशिष्ट रणनीतियों के निर्माण हेतु योगदान देता है।

रैडिकल सोशल वर्कर एक परिवर्तनकारी अभिकर्त्ता है जो राजनैतिक व सामाजिक स्थितियों में एकीकृत परिवर्तन कर सामाजिक व्यवस्था को मानवीय दृष्टि से विशेष उपयोगी बनाता है।

रैडिकल सोशल वर्क के मूल तत्त्व

उपर्युक्त अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में रैडिकल सोशल वर्क के मूल तत्वों का निरूपण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :-

(1) वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में बदलाव या परिवर्तन

पूँजीवादी समाज व्यवस्था में सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक व्यवस्था को यथास्थिति स्वीकार करते हुए, समस्याग्रस्त व्यक्तियों और समूहों को उसमें समायोजित करने का प्रयास करता है। किन्तु रैडिकल सोशल वर्कर व्यक्ति और समाज दोनों के हितों को एकाकार कर आवश्यकतानुसार समस्याग्रस्त व्यक्ति के साथ ही साथ सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन करने का प्रयास करता है ताकि नयी व्यवस्था में व्यक्ति व समाज दोनों के हितों की अधिकतम पूर्ति हो सके।

(2) व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था की द्वन्द्वात्मकता

इस प्रकार का सामाजिक कार्यकर्त्ता इस बात में विश्वास करता है कि व्यक्ति और समाज दोनो के स्वार्थ बहुत अंश में परस्पर विरोधी होते हैं। अतः इन दोनों स्वार्थों को एकीकृत कर व्यक्ति व समाज दोनों को अधिकतम सन्तुष्ट व विकसित करने के लिए आवश्यक है कि दोनों में परिवर्तन लाया जाय।

(3) व्यवस्था : सहायक व विरोधी

व्यक्ति अपने सामाजिक पर्यावरण से अन्तःक्रिया करता है। यह पर्यावरण में अनेक सामाजिक प्रणालियाँ कार्यरत हैं जैसे-परिवार, पड़ोस, स्कूल, अस्पताल इत्यादि। इन प्रणालियों के द्वारा कुछ अंश में व्यक्ति को समायोजन में सहायता मिलती है। इस तरह एक ओर तो ये प्रणालियाँ कुछ अंश में एक दूसरे की सहायक हैं, किन्तु दूसरी ओर इन सामाजिक प्रणालियों के द्वारा व्यक्तियों पर दबाव भी डाला जाता है और समस्यायें उत्पन्न होती हैं अतः इन प्रणालियों में भी परिवर्तन कर इन्हें व्यक्ति के लिए उपयोगी बनाना रैडिकल सोशल वर्क का एक परम लक्ष्य है।

(4) व्यक्तिगत चेतना (Individual Consciousness)

सभाजिक पर्यावरण में व्यक्ति और सामाजिक प्रणाली के बीच होने वाले अन्तःक्रिया के अन्तर्गत रैडिकल सोशल वर्कर को सदैव इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि इन अन्तःक्रियाओं के विभिन्न पक्षों के प्रति व्यक्ति की अपनी अनुभतियाँ क्या हैं? किन स्थितियों के द्वारा उसे सुख की अनुभूति होती है और किन स्थितियों में वह दुःख की अनुभूति करता

है? समाज कार्य की यह मान्यता है कि व्यक्ति के भूत व वर्तमान जीवन के अनुभवों का उसके ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, उसकी अनुभूति न केवल उसके लिए वरन् सामाजिक कार्यकर्त्ता के लिए भी अति महत्वपूर्ण होती है। इसलिए उन अनुभूतियों की जानकारी और उनके परिप्रेक्ष्य में आवश्यकतानुसार व्यक्तिगत व सामाजिक परिवर्तन रैडिकल सोशल वर्क का एक विशेष कार्यक्षेत्र है।

रैडिकल सोशल वर्क के लक्ष्य

(1) शिक्षा –

इस प्रकार के समाज कार्य का प्रथम लक्ष्य यह है कि व्यक्तियों को विभिन्न माध्यमों से ऐसी शिक्षा दी जाय, जिसके द्वारा उनमें आत्म-चेतना का विकास हो और वे स्वयं ही सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हेतु सक्रिय हों।

अल्फेरो (Alfero) के मतानुसार रैडिकल सोशल वर्क का मूल उद्देश्य है समाज के सुविधाविहीन वर्गों के चेतना को ऊपर उठाना और व्यक्तियों में एक समालोचनात्मक और आत्म चिन्तन युक्त चेतना का विकास करना, ताकि वे अपने मौलिक व दार्शनिक लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयास में बाधा डालने वाले समाज के विरोधाभासी कारकों पर विजय प्राप्त कर सकें और सामाजिक संरचना के पुनःनिर्माण में एक प्रभावशाली भूमिका अदा कर सकें।

(2) व्यक्ति और प्रणाली में सम्बन्ध स्थापन

व्यक्ति जिस सामाजिक पर्यावरण के अन्तर्गत जीवन यापन करता है वह कई प्रणालियों में निर्मित होता है और व्यक्ति एवं समाज के हितों के एकीकरण हेतु आवश्यक है कि व्यक्तियों और विभिन्न सामाजिक प्रणालियों के लक्ष्यों में एकरूपता स्थापित की जाय अतः रैडिकल सोशल वर्कर इस उद्देश्य की पूर्ति का भी प्रयास करता है।

पीटर लियोनार्ड (Peter Leonard) के अनुसार रैडिकल सोशल वर्क का उद्देश्य लोगों को अपने परिवारों के साथ एकीकरण करना (विशेषकर उस स्थिति में जहाँ कलह, क्लेश व नैराश्य मानवीय सम्बन्धों की विशेषता बन गया है) तथा प्रत्येक सदस्य को इस प्रकार प्रोत्साहित करना है कि वह परिवार व्यवस्था के अधिकारों या शक्तियों के वितरण में अपने महत्व का प्रदर्शन कर सके ताकि उसे परिवार के अधिकार वितरण प्रणाली से लाभ या हानि प्राप्त हो सके और परिवार की आन्तरिक संरचना वाह्य आर्थिक संरचना को प्रभावित कर सके।

(3) विरोधी प्रणाली का निर्माण

व्यक्ति जिस समाज व्यवस्था में रहता है बहुत अंश में उस व्यवस्था की विभिन्न प्रणालियों के साथ उसका समायोजन नहीं हो पाता है। अतः रैडिकल सोशल वर्क का एक उद्देश्य

यह है कि आवश्यकतानुसार विरोधी प्रणालियों की स्थापना की जाय ताकि पूर्व प्रणाली में असमायोजित व्यक्ति को उसकी विरोधी प्रणाली में समायोजन किया जा सके।

(4) व्यक्ति व संरचनात्मक प्रतिक्रियायें

व्यक्ति जिस सामाजिक संरचना के भीतर कार्य करता है उसकी प्रतिक्रियाओं के साथ उसे समायोजित होना पड़ता है। असमायोजन की स्थिति में वह समस्याग्रस्त हो जाता है। अतः आवश्यकतानुसार समाजिक संरचना में परिवर्तन भी रैडिकल सोशल वर्कर का लक्ष्य होता है ताकि नयी सामाजिक संरचना में व्यक्ति सम्यक् रूप से समायोजित हो सके।

व्यावसायिक समाज कार्य राज्य सेवायें (स्वास्थ्य, शिक्षा व समाज कल्याण) के आवश्यक और नियन्त्रणात्मक संरचना के विभिन्न अंगों में सहभाजन करता है, किन्तु राज्य व्यवस्था यदि पूँजीवादी है तो रैडिकल सोशल वर्क के अन्तर्गत संरचना के भीतर और संरचना के विरुद्ध कार्य करने के बहुत कम विकल्प रहते हैं।

रैडिकल सोशल वर्क की विधियाँ

(1) वार्ताकारी सम्बन्ध

रैडिकल सोशल वर्कर की दक्षता इस बात में निहित होती है कि वह जिन व्यक्तियों के साथ कार्य करता है उनके साथ बातचीत के दौरान ऐसा सम्बन्ध स्थापित करे कि उन सम्बन्धों का उपयोग करते हुए वह उन व्यक्तियों में आत्म-चेतना का विकास करे और साथ ही साथ उन्हें ऐसा प्रेरित करे कि वे अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत होते हुए आवश्यकतानुसार सामाजिक परिवर्तन हेतु स्वयं ही उद्यत हो जाय।

पालो फ्रायर (Paulo Friere) का यह विचार है कि शिक्षा और कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत वृत्तिक अभिकर्मियों और उनके सेवार्थियों के बीच अधिकारयुक्त एवं दबावमूलक सम्बन्ध विद्यमान होते हैं, उनकी दृष्टि से इन अधिकारयुक्त और दबावयुक्त सम्बन्धों का प्रतिस्थापन परस्पर वार्ताकारी सम्बन्धों के द्वारा होना चाहिए।

(2) सामूहिक चेतना

रैडिकल सोशल वर्कर एक समूह के साथ कार्य करते हुए सामूहिक चेतना के विकास का भी प्रयास करता है और इस चेतना के विकसित हो जाने का पूरा समाज नयी सामाजिक व्यवस्था को लाने के हेतु उद्यत हो जाता है। यह कार्य व्यक्ति अकेले नहीं कर सकता वरन् पूरा समूह उसमें लगा रहता है।

(3) संगठन व नियोजन

रैडिकल सोशल वर्कर को व्यक्ति, समूह व समुदाय तथा संस्थाओं के साथ कार्य करने

के लिए आवश्यक रूप से अपने में संगठन व नियोजन की क्षमताओं का विकास करना होगा ताकि उसके माध्यम से आवश्यकतानुसार नयी सामाजिक व्यवस्था के स्थापन का मार्ग प्रशस्त हो सके।

इस प्रकार रैडिकल सोशल वर्क व्यावसायिक समाज कार्य के आगे का एक कदम है। व्यावसायिक समाज कार्य के अन्तर्गत हम मूलरूप से वर्तमान समाज व्यवस्था में ही व्यक्तियों व समूहों के समायोजन का प्रयास करते हैं और रैडिकल सोशल वर्क के अन्तर्गत हम आवश्यकतानुसार वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन कर ऐसी समाज व्यवस्था के निर्माण का प्रयास करते हैं, जो व्यक्तियों व समूहों के स्वार्थों को एक दूसरे के नदजीक लाकर उनकी पूर्ति का मार्ग प्रशस्त करें।

अध्याय-5

समाजकार्य से संबंधित कुछ प्रत्यय

(अ) सामाजिक सेवायें एवं समाजकार्य

सामाजिक सेवाओं के अंतर्गत वे सेवायें आती हैं जो व्यक्ति एवं परिवार की सामाजिक कार्यशीलता को पुनर्स्थापित, अनुरक्षित एवं वृद्धि करती हैं। इन उद्‌देश्यों की पूर्ति सामाजिक संसाधनों की प्राप्ति और व्यक्तियों एवं परिवारों की समायोजनशील क्षमताओं की वृद्धि करके की जाती है। सामाजिक सेवाओं का आदर्श लक्ष्य है सामाजिक सक्षमता की वृद्धि। समाज द्वारा अपने सदस्यों की सुरक्षा और मानवीय संसाधनों के विकास के संबंध में दी जाने वाली सेवायें सामाजिक सेवायें हैं। जैसे शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी सेवायें। सामाजिक सेवायें सामान्यतया बहुत लोगों को एक साथ दी जाती हैं। कुछ सेवायें तो ऐसी हैं जिन्हें एक साथ देने में ही सार्थकता है। उदाहरण-शिक्षा संबधी सेवायें सामूहिक रूप से ही दिये जाने पर ही उपयोगी हैं। बालक कुछ अपने अध्यापक से सीखता है तो कुछ विद्यालय में अपने साथियों से भी सीखता। इस प्रकार शिक्षा, स्वास्थ्य एवं आवासीय व्यवस्था सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत आती हैं। सामान्यतया सामाजिक सेवाओं के अंतर्गत वे सेवायें आती है जो समस्त जन समुदाय की योग्यताओं और कुशलताओं को कायम रखने में तथा विकास करने एवं आर्थिक सामाजिक कल्याण के सामान्य स्तर को बनाये रखने के लिए दी जाती है।

हैरी एवं केसेडी (1943) के अनुसार सामाजिक सेवायें वे संगठित सेवायें हैं जो प्राथमिक एवं प्रत्यक्ष रूप से मानवीय साधनों के संरक्षण, उनकी सुरक्षा एवं उनमें सुधार लाने के लिये दी जाती है। उसके साथ ही उन्होंने सामाजिक बीमा, मानसिक स्वास्थ्य, जन व्यवस्था, बाल कल्याण, सुधार (Correction), मनोरंजन (Recreation), आवास एवं श्रम संरक्षण आदि के भी सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत रखा।

एम.वी. मूर्ति ने भी समाजकार्य एवं सामाजिक सेवाओं के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने का प्रयास किया। उनके अनुसार जब लाचारों की सहायता की जाती है तो वह सामाजिक सेवा है और जब लाचारों को इस प्रकार सहायता दी जाती है कि वे अपने पैरों पर स्वयं खड़े हो सकें तो वह समाजकार्य है। पर यह अन्तर पूर्णतया स्वीकार्य नहीं है। क्योंकि सामाजिक सेवायें मुख्य रूप से केवल लाचारों की ही नहीं की जातीं। सामाजिक सेवाओं के दायरे

में मुख्य रूप से शिक्षा एवं जन स्वास्थ्य संबंधी सेवायें आती हैं। ये सेवायें पूरे जन समुदाय को दी जाती हैं, केवल लाचारों को नहीं।

उपर्युक्त तथ्यों के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि समाजकार्य एवं सामाजिक सेवा, दोनों का ही संचालन संस्थागत रूप से किया जाता है पर समाजकार्य एक कला होने के साथ ही साथ एक विज्ञान भी है इसके कार्य की अपनी स्वयं की विधियाँ हैं। अतः हर व्यक्ति समाजकार्य नहीं कर सकता है। यह कार्य केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो सम्यक प्रशिक्षण के द्वारा आवश्यक ज्ञान और कुशलताओं से युक्त हो गया हो। इस प्रकार स्वयं समाजकार्य सामाजिक सेवाओं की प्राप्ति का एक माध्यम बन सकता है। पर सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत कुछ सेवायें ऐसी भी आती हैं जो सामान्य व्यक्ति बिना किसी विशिष्ट प्रशिक्षण के भी कर सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ सेवायें ऐसी भी हैं जिनकी प्राप्ति में चिकित्सा, शिक्षा आदि दूसरे व्यवसाय के व्यक्तियों को प्रमुख भूमिका अदा करनी पड़ती है। दूसरी बात यह है कि सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत सामान्य जन की कुछ आवश्यक आवश्यकता की पूर्ति का प्रयास किया जाता है और एक साथ ही बड़े पैमाने पर सेवार्थियों के साथ कार्य किया जाता है। पर, समाज कार्य के अन्तर्गत सामान्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त विशिष्ट आवश्यकताओं पर भी ध्यान दिया जाता है और एक साथ एक ही व्यक्ति को लेकर भी कार्य किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समाजकार्य के पीछे कार्य करने वाले मानवीय मूल्य भी अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होते हैं। उदाहरण के लिए समाज कार्य के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्ध और आत्मनिर्णय के अधिकार को जो महत्व दिया जाता है, वह सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत नहीं मिलता है। सामाजिक सेवाओं के अन्तर्गत सेवाओं के प्रशासन और उपयोगिता पर अधिक जोर दिया जाता है पर समाजकार्य के अन्तर्गत मानव मात्र से उचित सम्बन्ध स्थापित कर उसकी सेवा या सहायता इस प्रकार की जाती है कि भविष्य में चलकर वह अपनी सहायता अपने आप करने में समर्थ हो। इसके अतिरिक्त सामाजिक सेवाओं का लक्ष्य बहुत अंश में एकपक्षीय होता है। हर प्रकार की सेवाओं के द्वारा किसी विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति होती है पर समाजकार्य सेवार्थी को सर्वांगीण रूप से स्वीकार करता है और उसकी सभी प्रकार की समस्याओं को यथासम्भव सुलझाने का प्रयास करता है।

(ब) समाज कल्याण एवं समाजकार्य

समाज कार्य का अर्थ निरूपण कभी-कभी संकुचित अर्थ में और कभी-कभी अति व्यापक अर्थ में किया जाता है। व्यापक अर्थ में समाज कल्याण का अर्थ समाज के सभी लोगों का सर्वांगीण कल्याण एवं विकास है। संकुचित अर्थ में समाज कल्याण का अर्थ समाज के केवल उस वर्ग का कल्याण एवं समायोजन करना है जो पूर्णतया दीन-हीन, असहाय अथवा समायोजित हैं। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में समाज कल्याण को इसी अर्थ में देखा गया है और समाज के निर्बल एवं कमजोर वर्ग के कल्याण हेतु ही योजनाओं में प्राविधान किया गया है। परंतु यहाँ

पर हम समाजकल्याण को दोनों ही अर्थों में देखेंगे। व्यापक दृष्टि से समाजकार्य एवं समाज कल्याण के उद्देश्य एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। इस दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि समाजकार्य एक माध्यम है जिसके द्वारा समाजकल्याण के लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार समाजकार्य के अन्तर्गत वे प्रक्रियायें एवं प्राविधान सम्मिलित हैं, जिनका सीधा संबंध समस्याओं के उपचार एवं निरोध से है, मानवीय संसाधनों के विकास से है, और कार्यजीवन की गुणात्मकता में सुधार से हैं। इसके अन्तर्गत व्यक्तियों एवं परिवारों को सामाजिक सेवायें प्रदान की जाती हैं। साथ ही इसके द्वारा सामाजिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली में सुधार और उनका सशक्तिकरण किया जाता है।

विलेंस्की और लिवो (1965) के अनुसार अमेरिका में भी समाजकल्याण व्यापक एवं संकुचित दोनों अर्थों में देखा जाता है। किंतु सब कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि समाज कल्याण को एक संस्था के रूप में ही समझा जा सकता है। जो समाज के कई कारकों से प्रभावित होता है। वैसे समाज कल्याण की परिभाषा कई विद्वानों द्वारा दी गयी है। इन परिभाषाओं में कोई एकरूपता नहीं है। यहाँ हम कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा समाज कल्याण के संबंध में दी गयी परिभाषाओं का उल्लेख कर रहे हैं :-

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल वर्क (1971) के अनुसार समाज कल्याण एक स्वैच्छिक एवं राजकीय अभिकारकों के द्वारा संगठित ऐसी संपूर्ण क्रियाओं का द्योतक है, जिनके द्वारा संगठित सामाजिक समस्याओं का निरोध, उपचार या सुलझाव किया जाता है, अथवा इसके द्वारा व्यक्ति, समूह या समुदाय के कल्याण का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार के क्रिया कलापों के संचालन हेतु बड़े पैमाने पर कई क्षेत्रों के वृत्तिक अभिकर्मियों का उपयोग किया जाता है, जैसे- चिकित्सा, नर्स, वकील, शिक्षक, अभियन्ता, समाजिक कार्यकर्ता इत्यादि।

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल वर्क ने अपने 1977 में प्रकाशित नवीन संस्करण में समाज कल्याण की जो परिभाषा दी उसमें भी इस बात पर बल दिया कि ''व्यक्ति समूह एवं समुदाय के कल्याण के लिये किया गया संगठित प्रयास ही समाज कल्याण है''। तथापि 1977 के संस्करण में दी गयी परिभाषा में यह बात बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कही गयी है कि समाज कल्याण का उद्देश्य संपूर्ण जन का कल्याण है, इस हेतु उसके अन्तर्गत ऐसे कार्यक्रम चलाये जाते हैं जो व्यक्ति, समूह, एवं समुदाय सभी का कल्याण करते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के समाज कल्याण विभाग ने समाज कल्याण की अवधारणा के संबंध में अपना मत प्रकट करते हुये कहा गया है कि, समाज कल्याण का क्षेत्र एक रूप प्रतिमानों के आधार पर पूर्णतया निर्धारित नहीं है। किसी भी देश में समाजकार्य, समाजकल्याण एवं सामाजिक सेवाओं की सीमा रेखा स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं है। इसके दो प्रमुख कारक है:-

(1) विभिन्न देशों में समाजकार्य, सामाजिक सेवा एवं समाजकल्याण की सीमा रेखा वहाँ की आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों से प्रभावित होती है, जिनमें निरन्तर बदलाव आता रहता है, अतः इन प्रत्ययों के अर्थ में देश और काल के अनुसार भिन्नता है। (2) कुछ देशों में समाज कल्याण की अवधारणा का प्रयोग उस देश की कुछ विशेष गतिविधियों हेतु निर्धारित सामाजिक नीति के लिये किया जाता है। कहना नहीं होगा कि ऐसी नीति एक देश में अन्य किसी देश से भिन्न होगी।

फ्रिडलेण्डर (1961) के अनुसार समाज कल्याण, सामाजिक सेवाओं एवं संस्थाओं की एक संगठित व्यवस्था है, जो व्यक्तियों और समूहों को एक सन्तोषप्रद जीवन स्तर, स्वास्थ्य तथा एक ऐसे व्यक्तिगत एवं सामाजिक सम्बन्धों के स्थापन पर बल देती है जो उनकी क्षमता के पूर्ण विकास करने और समुदाय एवं परिवार की आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में उनके कल्याण को बढ़ावा देने में सहायता देती है।

समाजकल्याण की उपर्युक्त परिभाषा के क्रम में उन्होंने समाज कार्य का अर्थ निरूपण करते हुये कहा कि समाजकार्य एक ऐसी व्यावसायिक सेवा है, जो मानव संबन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान एवं कुशलताओं पर आधारित है। यह व्यक्तियों को अकेले या समूह में सहायता देता है ताकि वे सामाजिक एवं व्यक्तिगत संतुष्टि और स्वतंत्रता की प्राप्ति कर सकें।

इस प्रकार फ्रिडलेण्डर ने समाज कल्याण एवं व्यवसायिक समाजकार्य की अवधारणा का विवेचन किया है, उसमें उन्होनें व्यवसायिक समाजकार्य की अपेक्षा समाज कल्याण की अवधारणा को अधिक विस्तृत कहा है। राबर्ट केसलों के विचार भी लगभग इसी प्रकार के हैं। उनके अनुसार समाज कल्याण का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को, अन्य व्यक्तियों के समान उनके व्यक्तिगत अधिकारों में दखल दिए बिना, आर्थिक जरूरतों, सर्वोत्तम स्वास्थ्य, अच्छी जीवन दशायें, साथी नागरिकों के साथ-साथ स्वयं अपने लिए समान अवसर और उच्चतम् संभावित अंश तक आत्म सम्मान व कार्य एवं विचारों की स्वतंत्रता प्राप्त करना है। श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख (1955) के अनुसार समाज कल्याण की अवधारणा सामान्य सामाजिक सेवाओं जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से अलग है। समाज कल्याण जनसंख्या के कमजोर एवं अति हेय वर्ग के हितों के लिए विशिष्ट कार्य है और उसमें महिलायें बच्चों, शारीरिक रूप से विकलांगों, मानसिक रूप से बाधित एवं अन्य तरीकों से विशेष अक्षम लोगों के हितार्थ सामाजिक सेवायें सम्मिलित हैं।

समाज कल्याण एवं समाज कार्य की परस्पर भिन्नताओं को श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने स्पष्ट करने का प्रयास किया है और कहा है कि समाज कल्याण परिणाम है और समाज कार्य प्रक्रिया है, जिसका प्रयोग कल्याण के परिणाम को पाने के लिए किया जाता है। सामाजिक कार्यकर्त्ता वे लोग हैं जो समाजकार्य के माध्यम से समाज कल्याण के लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

समाज कल्याण की अवधारणा के संबंध में डा0 पाल चौधरी ने अपना विचार स्पष्ट करते हुए कहा है कि समाज कल्याण का लक्ष्य जनसंख्या के ऐसे कमजोर वर्गों की सेवा करना है, जो विभिन्न शारीरिक, आर्थिक एवं सामाजिक बाधाओं के कारण समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक सेवाओं का उपयोग करने में अयोग्य होते हैं अथवा जिन्हें इन सेवाओं के उपयोग से पारस्परिक रूप से निषिद्ध रखा जाता है।

उपर्युक्त सभी मतों के विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि समाजकल्याण का कोई एक स्थिर प्रत्यय नहीं है। तथापि इन मतों के अधार पर यह तो कहा जा सकता है कि समाज कल्याण का सम्बन्ध कानून, कल्याणात्मक कार्यक्रम लाभ एवं अन्य ऐसी सेवाओं से है जो किसी औपचारिक संगठन एवं सामाजिक प्रायोजन के द्वारा दी जाती हैं। इन मतों से यह भी स्पष्ट है कि समाज कल्याण का उद्‌देश्य सामान्य जन का कल्याण एवं अपेक्षाकृत अधिक सक्षम ढंग से सामाजिक कार्यों का निर्वाह है। समाजकार्य के द्वारा समाज के स्थायित्व एवं व्यक्तियों के विकास हेतु प्रयास किया जाता है। कोई व्यक्ति किसी समाज में तब तक नहीं रह सकता है, जब तक कि उस समाज में कुछ स्थिरता न हो और सामाजिक व्यवस्था में भी कुछ स्थायीपन न हो। इसी प्रकार कोई समाज भी अपने अस्तित्व को तब तक कायम नहीं रख सकता है, जब तक की उसमें रहने वाले व्यक्तियों के कुछ उद्‌देश्य न हों और वे कुछ ऐसी कुशलताओं का अपने में विकास न कर सकें, जिसकी समाज को आवश्यकता पड़ती है।

उपर्युक्त विवरण के परिप्रेक्ष्य में जॉन टर्नर के मतों का उल्लेख विशेष रूप से समीचीन होगा। उनके अनुसार समाज कल्याण का उद्‌देश्य संपूर्ण जन का सर्वांगीण कल्याण है। इस प्रकार उन्होंने संस्थागत परिपेक्ष्य में समाज कल्याण को देखा है। किन्तु इस क्रम में उन्होंने यह भी कहा है कि समाज कल्याण का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है।

श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख (1955) के अनुसार समाज कल्याण की अवधारणा सामान्य सामाजिक सेवाओं जैसे-शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि से पृथक है। समाज कल्याण जनता के कमजोर एवं हेय वर्ग के लिये किया जाता है। इसमें महिलाओं, बच्चों एवं शारीरिक रूप से विकलाँगों, मानसिक रूप से बाधित तथा अन्य तरीकों से विशेष अक्षम लोगों के हितार्थ समाजिक सेवायें शामिल हैं।

देश की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में भी समाज कल्याण को अपेक्षाकृत संकीर्ण रूप से लेते हुए देश के कमजोर एवं बाधित वर्ग को दी जाने वाली सहायता तक ही सीमित रखा गया है।

उपर्युक्त विवरण के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि समाज कल्याण के अर्थ निरूपण में निम्नलिखित तत्वों को सम्मिलित किया जा सकता है :-

(i) समाज कल्याण एक संस्था है,

(ii) इसकी कुछ नीतियाँ हैं और यह कुछ कानूनी पहलुओं पर भी आधारित है,

(iii) इसके अन्तर्गत कुछ संगठित क्रियाकलापों का संचालन निजी या सार्वजनिक अभिकारकों के द्वारा किया जाता है,

(iv) इसके द्वारा एक न्यूनतम निर्धारित सामाजिक सेवायें, धन एवं अन्य उपभोक्ता अधिकार जैसे चिकित्सकीय सुविधा, शिक्षा एवं सार्वजनिक आवासीय सुविधायें प्रदान की जाती हैं।

(v) व्यक्तियों, परिवारों एवं समूहों को बाजार व्यवस्था से इतर मानकों के आधार पर कल्याणत्मक सुविधायें प्रदान की जाती हैं।

(vi) ताकि समाज की अन्य सामाजिक समस्याओं का समाधान हो और व्यक्तियों, परिवारों एवं समूहों की समस्या का उपचार एवं निरोध हो और उनकी क्षमताओं का विकास हो,

(vii) अन्ततोगत्वा व्यक्ति, समूह एवं समुदाय को सन्तुष्टि एवं विकास के अवसर उपलब्ध हों।

समाज कल्याण के बदलते हुये प्रत्यय

सामाजिक विकास के क्रम में समाज कल्याण के प्रत्ययों में भी बदलाव होता चला गया। इसका विवरण निम्नलिखित हैं :-

(i) अवशेषवादी प्रत्यय से संस्थागत प्रत्यय –

समाज कल्याण के अवशेष वादी प्रत्यय का निहितार्थ यह है कि जब समाज की सामान्य संरचना विघटित होने लगती है तो समाज के असमायोजित एवं असहाय व्यक्तियों या समूहों की सहायता की जानी चाहिए। जब व्यक्ति परिवार एवं विपणन व्यवस्था की सामान्य संस्थाओं के द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में अक्षम हो जाता है तो समाज कल्याण के माध्यम से उनकी सहायता करनी चाहिए। गरीब, पराश्रित बच्चे, वृद्ध तथा बाधित आदि समाज कल्याण सेवाओं की प्राप्ति के हकदार हो सकते हैं। ऐसे असहाय लोगों की सहायता समाज कुछ निजी या सार्वजनिक अभिकरणों के माध्यम से करता है, ताकि उनकी कुछ न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। इसके विपरीत समाज कल्याण व संस्थागत प्रत्यय इस बात में विश्वास रखता है कि आज का आधुनिक समाज अपने सदस्यों को बदलते हुए सामाजिक एवं आर्थिक पर्यावरण से समायोजन हेतु कई प्रकार की सेवायें प्रदान करता है, ताकि उन्हे विभिन्न क्षेत्रों में प्रथम पंक्ति की सहायता प्राप्त हो सकें।

(ii) दान के प्रत्यय से नागरिक अधिकार का प्रत्यय –

प्रारंभ में दान, दया एवं करुणा की भावना से दीन दुखियों एवं असहाय जनों की सहायता की जाती थी। यही सहायता समाज कल्याण के अन्तर्गत आती थी, पर आगे चलकर इस प्रत्यय में परिवर्तन हुआ और कल्याणत्मक सेवाओं की प्राप्ति नागरिकों का अधिकार हो

गया। सामाजिक अधिकार आज की सदी का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय है और यह अधिकार कल्याणकारी राज्य के प्रत्यय के अन्तर्गत निहित है।

(iii) विशिष्ट से सर्वव्यापी प्रत्यय –

प्रारंभ में यह समझा जाता था कि समाज-कल्याण के अन्तर्गत निर्धनों के लिये दी जाने वाली विशिष्ट सेवायें ही सम्मिलित हैं। पर आज इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। आज समाज कल्याण के कार्यक्रम जनता की सर्वव्यापी आवश्यकतओं की पूर्ति हेतु संचालित होते हैं। ऐसे सर्वव्यापी कार्यक्रम विशेषकर औद्योगिकरण से जनित कुछ समान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संचालित होते हैं, जैसे - बेरोजगारी, वृद्धावस्था, बाधितों और चिकित्सकीय सेवाओं की पूर्ति हेतु संचालित कार्यक्रम।

(iv) न्यूनतम से अधिकतम् कल्याण का प्रत्यय –

समाज कल्याण सेवाओं का लक्ष्य व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर किसी प्रकार उनके समायोजन तक ही सीमित थी, पर आज उसका लक्ष्य व्यक्ति एवं समुदाय की अधिकतम क्षमताओं का विकास कर उन्हें इस योग्य बनाना हो गया है कि अधिकतम् सुख का जीवन यापन कर सकें।

(v) व्यक्तिगत से सामाजिक सुधार –

आज समाज कल्याण का लक्ष्य केवल उपचारात्मक ही नहीं रह गया है, वरन् यह निरोधात्मक एवं विकासात्मक भी हो गया है। इस दृष्टि से आज समाज कल्याण के द्वारा समाज का सुधार किया जाता है, ताकि उक्त समाज की समस्याओं का निरोध हो और व्यक्ति के विकास हेतु अधिकतम अवसर उपलब्ध हो सकें।

(vi) निर्धन कल्याण से आगे उठकर समाज कल्याण--

आज समाज कल्याण के अन्तर्गत केवल कुछ समस्या ग्रस्त निर्धन व्यक्तियों के कल्याण का ही प्रयास नहीं किया जाता है अपितु समस्त समाज के कल्याण हेतु प्रयास किया जाता है।

समाज कल्याण के सामाजिक प्रकार्य

समाज कल्याण को उसके सामाजिक प्रकार्यों द्वारा समझा जा सकता है। समाज कल्याण के कुछ प्रमुख प्रकार्य इस प्रकार हैं- (i) **सामाजिक प्राविधान,** (ii) **सामाजिक सेवायें,** (iii) **सामाजिक क्रिया,** (I) सामाजिक प्राविधानों के अन्तर्गत सामान्य जन की सहायता, सामाजिक बीमा, सार्वजनिक आवास तथा चिकित्सकीय सुविधायें इत्यादि आती हैं। (II) सामाजिक प्राविध ाानों का आदर्श लक्ष्य सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक न्याय है। सामाजिक सेवायें चार प्रकार की होती हैं- विकासात्मक, उपचारात्मक, संबल प्रदान करने वाली तथा शिक्षा सम्बन्धी सेवायें।

परिवार परामर्श उपचारात्मक सेवा होती है, पुष्टाहार सेवायें सम्बल प्रदान करने वाली सेवायें होती है और फॉस्टरहोम सब्सिट्यूटिव सेवा होती है। (III) सामाजिक क्रिया के द्वारा प्रणाली में परिवर्तन किया जाता है। सामान्यतया प्रणाली में परिवर्तन हिंसा या क्रॉंति के द्वारा किया जाता है। किन्तु समाज कल्याण के अन्तर्गत इन प्रविधियों का प्रयोग नहीं किया जाता है। समाज कल्याण के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक क्रिया को एक संगठित प्रयास के रूप में देखा जा सकता है, जिसके द्वारा सामाजिक प्रगति की प्राप्ति की जाती है और बड़े पैमाने पर सामान्य जन की सामाजिक समस्याओं का सुलझाव किया जाता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु या तो जन आन्दोलन चलाया जाता है, या सरकार पर दबाव डालकर सामाजिक विधियों में परिवर्तन लाया जाता है।

समाज कल्याण एवं समाजकार्य

विभिन्न विचारधारओं के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि समाज कल्याण का क्षेत्र अति व्यापक है। वास्तव में इसके उद्देश्यों और समाजकार्य के उद्देश्यों में अत्यधिक समता है। दोनों का ही प्रयोग संस्थागत स्तर पर किया जाता है। दोनों के द्वारा एक समय में एक व्यक्ति को अकेले भी सहायता की जाती है अथवा बहुत से व्यक्तियों की भी एक समय में सहायता की जाती है। पर समाज कार्य के अन्तर्गत अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये कुछ आवश्यक विधियों का भी विधान किया गया है। कुछ आवश्यक ज्ञान और कुशलताओं की भी बात कही गयी है। कार्यकर्त्ता अपने ज्ञान व कौशल के द्वारा समाज कार्य की विभिन्न विधियों का सहारा लेते हुए आवश्यक लक्ष्य की प्राप्ति करता है पर समाज कल्याण के अन्तर्गत इन बातों का कोई उल्लेख नहीं है। बहुत अंश में समाज कार्य का कार्यकर्त्ता ही उपर्युक्त विधि के द्वारा कार्य करता हुआ समाज कल्याण के लक्ष्य की प्राप्ति करता है। इसी आधार पर कुछ लोग समाज कल्याण को साध्य तथा समाज कार्य को साधन कहते हैं। पर समाज कल्याण के कुछ उद्देश्य ऐसे भी हैं जो दूसरे व्यवसाय के व्यक्तियों के द्वारा पूरे किये जाते हैं। कुछ कार्य इस प्रकार के भी हैं जो सामान्य व्यक्ति बिना किसी विशिष्ट प्रशिक्षण के भी कर सकता है।

मूल्यों और सिद्धान्तों की दृष्टि से भी दोनों में अत्यधिक समता है। पर कुछ लोगों का यह विचार है कि समाज कल्याण की अपेक्षा समाज कार्य के अन्तर्गत आत्म – निर्णय के सिद्धान्त पर विशेष जोर दिया जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई अपंग और निराश्रित व्यक्ति वैयक्तिक समाज-कार्यकर्त्ता की सहायता नहीं लेना चाहता है तो कार्यकर्त्ता उसे इस कार्य के लिए बाध्य नही कर सकता है; पर समाज कल्याण के अन्तर्गत आवश्यक अधिनियम; पारित करके राज्य द्वारा ऐसे सेवार्थी को संस्थागत सेवा की प्राप्ति के लिए बाध्य भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त समाज कार्य के अन्तर्गत सहायता इस प्रकार की जाती है कि व्यक्ति अपनी सहायता स्वयं कर सके। समाज कल्याण के अन्तर्गत भी इस बात के महत्व को स्वीकार किया जाता है, पर सामान्यतया इस प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि समाज कार्य, मानवीय मूल्यों तथा कार्यकर्त्ता और सेवार्थी के सम्बन्धों पर विशेष बल देता है। समाज कल्याण के पीछे पारस्परिक सहायता, सहानुभूति तथा प्रेम की भावना कार्य करती है।

(स) समाजकार्य एवं सामाजिक सुधार

समाज सुधार वह कार्य है जिसके द्वारा समुदाय के मौलिक मूल्यों, सामाजिक संस्थाओं, संगठनों, व्यवहारों व कार्यों आदि में परिवर्तन लाया जाता है। समाज सुधार का उद्देश्य सम्पूर्ण समुदाय की जीवन शैली में व्यक्तियों व समूहों को उनकी जरूरतों को पूरा करने में सहयोग प्रदान करना है और इस हेतु सामाजिक व्यवस्था में आवश्यकतानुसार सुधार लाना है। समाज सुधार द्वारा समस्त सामाजिक ढाँचे में जनतांत्रिक परिवर्तन लाते हुए उन्हें संवैधानिक स्वरूप और सामाजिक मान्यता प्रदान की जाती है। समाज में विभिन्न कुरीतियों के संदर्भ में जैसे - सती प्रथा का उन्मूलन, बाल विवाह का निरोध, विधवा पुनर्विवाह की मान्यता, हरिजनों के साथ छुआ-छूत समाप्त करने व उनके लिये सुधार की माँग करने, महिलाओं में बराबरी का दर्जा देने आदि कार्य को समाज सुधार के अन्तर्गत लिया जाता है। समय-समय पर अधिनियमों को पारित कराकर समाज सुधार लाया जा सकता है। लेकिन यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि मात्र संवैधानिक या अधिनियमित प्रयास से ही नियंत्रण या परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, वरन् जनमानस में शिक्षा, जनचेतना तथा प्रचार-प्रसार द्वारा ऐसे परिवर्तन आ सकते हैं। महिलाओं (Rescued Women) के लिए संस्थाओं का संचालन, दलितों के लिए आवास व अन्य आवश्यक न्यूनतम जरूरतों की व्यवस्था करना भी इसमें शामिल है। दूसरी ओर समाज कार्य एक व्यावसायिक प्रक्रिया है तथा उन क्रियाकलापों से सम्बन्धित है जो विद्यमान मूल्यों के अनुसार सम्पादित की जाती है। समाज कार्य के अन्तर्गत कल्याणकारी कार्यक्रमों को समुदाय में उपलब्ध साधनों के अनुसार लागू किया जाता है, ताकि व्यक्ति और समूह अपनी जरूरतों को पूरा करने में सामाजिक मूल्यों और संस्थाओं के अनुरूप पूर्ण सक्षम बन सकें। समाज कार्य सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने तथा व्यक्तियों व समूहों के कार्यों में विफलता से उत्पन्न कुंठाओं के निवारण का प्रयत्न करता है।

समाज कार्य और समाज सुधार दोनों में अन्तर को स्पष्ट करने के लिए इनके क्रियाकलापों पर ध्यान देना आवश्यक है, जैसे समाज सुधार में नेता स्वैच्छिक रूप से अपने स्वाभाविक क्षेत्र में कार्य करता है जबकि समाज कार्य में व्यावसायिक समाज कार्यकर्त्ता मुख्यतः प्रशिक्षित होकर समाज कार्य विधियों एवं प्रक्रियाओं के अनुसार व्यक्ति, समूह व समुदाय को उसे आत्मनिर्भर बनाने में सहायता देता है।

नटराजन (Natrajan) के मतानुसार, "समाज सुधार में सुधारक अपने और दूसरे व्यक्तियों के सामने आने वाली बाधाओं को दूर करने का प्रयास करता है और सामाजिक प्रगति

के लिए अनुकूल दशाओं का सर्जन करता है। सामाजिक सुधार में यह आवश्यक नहीं है कि व्यावसायिक समाज कार्यकर्त्ता की सहायता उनके लिये ली जाये जिनके लिये या जिनके बीच समाज सुधार कार्य हो रहा है यह कार्य अप्रशिक्षित अनुभवी तथा समर्पित समाज सुधारक भी कर सकता है।"

(द) स्वैच्छिककार्य (Voluntary Action)–

(i) लॉर्ड बेवरीज ने स्वैच्छिक कार्य को एक ऐसे कार्य के रूप में परिभाषित किया है, जो राज्य द्वारा संचालित नहीं होता है, उन्होने इसे सामाजिक प्रगति हेतु एक निजी उद्यम करार किया है।

(ii) स्वैच्छिक कार्य सामान्यतया स्वैच्छिक अभिकरणों के द्वारा संचालित होता है, जो सरकार द्वारा नियन्त्रित नहीं होते हैं और न ही किसी बाहरी नियन्त्रण शक्ति के द्वारा उनका नियन्त्रण होता है बल्कि उनका नियन्त्रण अभिकरणों के सदस्यों के द्वारा स्वयं ही किया जाता है।

(iii) स्वैच्छिक कार्य के अन्तर्गत समुदाय अथवा उसके किसी भी घटक के द्वारा आवश्यकता का पूर्वानुमान लगाया जाता है, और उस आवश्यकता की पूर्ति हेतु समुदाय के सदस्यों को तैयार किया जाता है और उन सदस्यों द्वारा तत्परता पूर्वक उस आवश्यकता की पूर्ति की जाती है।

(iv) जनतांत्रिक मूल्यों के स्वस्थ क्रियान्वयन हेतु स्वैच्छिक कार्यो का विशेष महत्व है।

(v) स्वैच्छिक कार्यो की यह अपेक्षा है कि समुदाय, अपनी समस्याओं एवं आवश्यकताओं पर निरन्तर ध्यान केन्द्रित करे।

(vi) स्वैच्छिक कार्यों के द्वारा समुदाय के व्यक्तिगत सदस्यों को सामाजिक एवं नागरिक दायित्वों को स्वीकार करने की प्रेरणा दी जाती है और साथ ही उन्हें एक साथ मिलकर परस्पर सहयोग से कार्य करने की भी प्रेरणा दी जाती है।

(vii) स्वैच्छिक कार्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि स्वयं किसी कार्य हेतु पहल की जाये। यह कार्य स्वैच्छिक अभिकरणों के द्वारा किया जाता है तथा स्वैच्छिक अभिकरणों की शक्ति के ही अधार पर नये कार्यो के प्रयोग एवं प्रारंभ हेतु समुदाय द्वारा अनुमति प्रदान की जाती है।

(viii) स्वैच्छिक अभिकरणों का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत यह होता है कि प्रारंभ में केवल उन्हीं क्षेत्रों में कार्य आरंभ किया जाय जहाँ उसके लिये पूर्ण सहयोग प्राप्त हो।

(ix) स्वैच्छिक कार्य राजनैतिक दबावों से मुक्त होकर स्वयं द्वारा ही किया जाता है और निर्णय का पूर्ण अधिकार सम्बधित स्वैच्छिक अभिकरण का ही होता है।

(x) इस प्रकार के कार्यों के पीछे एक प्रमुख विचारधारा यह छिपी रहती है कि सदैव लचीले रूप से कार्य करें और नौकरशाही के दबावों से मुक्त रहा जाय।

(xi) ऐसे अभिकरणों में अधिकांश कार्य स्वैच्छिक कार्यकर्त्ताओं के द्वारा कराया जाता है ताकि कार्य की लागत भी कम हो।

स्वैच्छिक कार्य की सीमायें

(i) अधिकांश स्वैच्छिक सेवा-दाताओं और अभिकरणों के पास आय का कोई नियमित स्रोत नहीं होता है। वे राजकीय अनुदान एवं जन सहायता से अपने कार्यक्रम संचालित करते हैं, अधिकांश स्थितियों में अर्थाभाव उनके कार्यक्रमों की सफलता में बाधा उत्पन्न करता है।

(ii) स्वैच्छिक सहायता मानवतावाद की विचारधारा पर आधारित है। इस विचारधारा के अन्तर्गत इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि वे लोग जो सक्षम हैं उन्हें स्वयं ही अक्षम व्यक्तियों की सहायता करनी चाहिए। हमारे देश में भूत एवं वर्तमान के बहुत से कार्यक्रम इसी विचारधारा पर आधारित हैं। उदाहरणार्थ- रामकृष्ण मिशन, वसन्त थियोसोफिकल सोसायटी तथा महात्मागांधी द्वारा संचालित रचनात्मक कार्य, इसी दर्शन से परिचालित होते हैं। किन्तु वास्तविक व्यवहार में बहुत ही कम स्वैच्छिक संगठन इस आधार पर कार्य करते हुए सफल हो पाये हैं। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सक्षम व्यक्ति अक्षम की किसी प्रकार की कोई सहायता प्रायः नहीं करते।

(iii) प्राचीनकाल से ही यह बात कही जाती है कि सेवा परम धर्म है और यह ज्ञानियों को भी अगम्य है। इस प्रकार स्वैच्छिक सेवाओं के अन्तर्गत बहुत सी प्राविधिक सेवायें भी दी जाती हैं, जिन्हें वही व्यक्ति दे सकता है जो उस क्षेत्र में उचित प्रशिक्षण प्राप्त किये हो। किन्तु कहना नहीं होगा कि कुछ अपवादों को छोड़कर अन्य स्थितियों में स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता ऐसे प्राविधिक ज्ञान से विज्ञ नहीं होते, अतः वह सक्षम सेवा भी प्रदान नहीं कर पाते।

स्वैच्छिक कार्य का बदलता हुआ क्षेत्र

(i) स्वैच्छिक कार्य का प्रयोग मुख्यतया समाज कार्य एवं सामाजिक विकास के क्षेत्र में किया जा रहा है। चूँकि समाजकार्य एवं सामाजिक विकास के लक्ष्यों में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, इस परिप्रेक्ष्य में स्वैच्छिक कार्य के क्रिया कलापों एवं क्षेत्र में भी परिवर्तन हो रहा है ताकि सामाजिक विकास के नये आयामों की पूर्ति में वे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें।

(ii) स्वैच्छिक कार्य से संबंधित विचारधारा में भी व्यापकता आ रही हैं, आज शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, महिला एवं बाल कल्याण आदि क्षेत्र इस कार्य के अन्तर्गत आ गये हैं। यही

नहीं अपितु राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भी आज इसके अन्तर्गत समाहित कर लिया गया है।

(iii) आज मानवाधिकार को भी स्वैच्छिक कार्य के अन्तर्गत समाहित कर लिया गया है। मानवधिकार के लक्ष्यों की प्राप्ति का सर्वाधिक उपयुक्त तरीका यह है कि लोगों को मानवाधिकार के विविध आयामों से अवगत कराया जाय, कहना नहीं होगा कि यह कार्य भी स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता ही सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से कर सकते हैं।

(iv) आज स्वैच्छिक कार्य का एक नया आयाम हो गया है सामाजिक चुनौतियों को स्वीकार करना और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति की स्थापना करना, एवं अल्प संख्यकों की असुरक्षा भावना को दूर करना। स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता अल्पसंख्यकों की असुरक्षा भावना को कम करने के लिए उन्हें विविध क्षेत्रों में सहायता दे सकते हैं।

(v) आज यह बात महसूस की जा रही है कि स्वैच्छिक कार्य का सम्पादन पूर्णतया प्रशिक्षित समाज कार्यकर्त्ता द्वारा ही हो सकता है, जो एन0जी0ओ0 में कार्यरत हैं।

(vi) स्वैच्छिक कार्य के उपागम् आज न केवल नवीन एवं लचीले हो गये है, वरन् वे सहभागी हो गये है और उनका प्रयास यह हो रहा है कि गरीब जनता के पास वे आसानी से पहुँच सकें।

(vii) स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता आज सूचना प्रौद्योगिकी के नवीनतम आयामों का प्रयोग करते जा रहे हैं।

समाजकार्य के क्षेत्र में स्वैच्छिक कार्य

भारत में समाजकार्य क्षेत्र में स्वैच्छिक क्रिया कलापों की एक महती भूमिका रही है। सामाजकार्य के क्षेत्र में इसकी कुछ प्रमुख भूमिकाओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है :-

(i) महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित 14 सूत्रीय रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रमुख अंग सामाजिक एवं आर्थिक विकास है। देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में भी इन कार्यक्रमों की प्रमुख भूमिका थी और आज यह कार्यक्रम कमजोर एवं दलितवर्ग की सहायता एवं उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

(ii) गांधी जी की प्रेरणा से स्वैच्छिक अभिकरणों का एक जाल निर्मित हुआ, जिसका उद्देश्य विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों को बढ़ावा देना था। ये अभिकरण ग्रामीण उद्योग, खादी, नयी तालीम, कुष्ठ रोग-निवारण और हरिजन सेवा के क्षेत्र में कार्य कर रहें हैं और इन कार्यों में हजारों स्वार्थहीन एवं समर्पित कार्यकर्त्ता लगे हुए हैं।

(iii) रचनात्मक कार्य का प्रमुख लक्ष्य है समुदाय के संपूर्ण ज्ञात एवं अज्ञात संसाधनों एवं मानवीय जनो को सामान्य जन की सहायता में लगाना, ताकि जनसमान्य एवं समाज के कमजोर एवं अक्षम वर्ग का अधिकतम विकास हो सके।

(iv) आज बड़े औद्योगिक केन्द्रों में प्रदूषण एवं सोशल इकॉलोजी की जो समस्या उत्पन्न हो रही है, उसके निराकरण में भी स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता महती भूमिका अदा कर सकते हैं। स्वैच्छिक संगठनों के द्वारा किये जाने वाले समाज कार्य का यह एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

(v) चूँकि आज भी हमारे देश में व्यावसायिक समाजकार्य कर्त्ताओं की अपेक्षा स्वैच्छिक अभिकरणों की संख्या बहुत अधिक है अतः ये अभिकरण स्वास्थ्य, शिक्षा, मलिन बस्तियों के उद्धार एवं गरीबी निवारण के कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं।

(vi) स्वैच्छिक संगठनों की सामाजिक विकास क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका है, उन्ही के द्वारा सामाजिक परिवर्तन और समाज के सदस्यों का आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं नैतिक विकास हो सकता है।

(vii) स्वैच्छिक अभिकरण समाज की भलाई एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदाकर सकते हैं क्योंकि न केवल उनकी संख्या बहुत अधिक है बल्कि वे समाज के विकास हेतु निःस्वार्थ एवं समर्पित कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से कार्य करते हैं।

(viii) यह बात तो पूर्णतया सत्य है कि समाजकार्य का क्षेत्र परंपरागत रूप से स्वैच्छिक सेवा एवं सहायता का क्षेत्र रहा है। कल्याणकारी राज्य की भावना से प्रभावित होकर राज्य एवं व्यावसायिक सेवा के कुछ अभिकरण भी यद्यपि इस क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं किन्तु भिक्षावृत्ति, वेश्यावृत्ति, बाल अपराध, जुआ एवं शराबखोरी आदि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता ही नैतिक मूल्यों का विकास कर अधिक सहायता दे सकते हैं।

(ix) सामाजिक संसाधनों के पुनर्वितरण क्षेत्र में भी स्वैच्छिक अभिकरण महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम विनोबा भावे को ले सकते हैं, उन्होंने श्रमदान और भूदान के माध्यम से व्यक्तिगत भूमि एवं सम्पदा के पुनर्वितरण का जो कार्य किया, वह आजतक कोई भी राजकीय अभिकरण नहीं करा पाया।

(x) साक्षरता के क्षेत्र में भी स्वैच्छिक अभिकरणों की ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है। क्योंकि हम देखते हैं कि जहाँ 100% साक्षरता रिकॉर्ड (अभिलेख) है, उसको प्राप्त करने का श्रेय केवल शैक्षिक कार्यकर्त्ताओं को ही जाता है।

(xi) पर्यावरण प्रदूषण के क्षेत्र में भी स्वैच्छिक अभिकरणों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज हमारे देश में 1000 से अधिक स्वैच्छिक अभिकरण इस क्षेत्र में कार्यरत हैं।

(xii) बलवंतराय मेहता कमेटी की यह संस्तुति थी कि समुदाय विकास के क्षेत्र में स्वैच्छिक संगठनों की ही भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। इस क्षेत्र पर अधिकाधिक बल दिया जाना चाहिए, क्योंकि समुदाय विकास के लक्ष्य तभी प्राप्त हो सकते हैं जब कि जनता द्वारा परिचालित संगठन इस कार्य की जिम्मेदारी अपने कन्धों पर स्वयं ले लें।

अंततोगत्वा हम कह सकते हैं कि भारत में समाज सेवा के क्षेत्र में अभी तक स्वैच्छिक अभिकरणों की ही महत्वपूर्ण भूमिका रही है और हम आशा करते हैं कि भविष्य में भी यही अभिकरण इस महत्वपूर्ण दायित्व का सक्षम रूप से करते रहेंगे।

स्वैच्छिक कार्य की कुछ नवीनतम् पद्धतियाँ

(i) पिछली शताब्दी के अन्तिम दशकों में दान के संबंध में हमारे उपागम में आमूल परिवर्तन हुए हैं। पहले हम केवल धार्मिक भावना से दान दिया करते थे, परंतु आज बहुत लोग राष्ट्रीय सामाजिक विकास की भावना से दान करते हैं।

(ii) स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता पहले सामाजिक सुधार की भावना से कार्य किया करते थे, पर आज वे हर जरूरत मंद एवं असहाय व्यक्ति के सामाजिक विकास हेतु सामाजिक सेवाओं को प्रदान करने के लिये दान देते हैं।

(iii) आज स्वैच्छिक प्रयास के कार्यक्रमों में भी परिवर्तन हो गया है। आज महिला शिक्षा, चिकित्सकीय सहायता, आवासीय देखभाल की अपेक्षा विशिष्ठ सेवाओं के प्राविधान को अधिक महत्व दिया जा रहा है जैसे बालकों की देखभाल शिशुगृह, बाधितों हेतु एकीकृत शिक्षण, कार्यकारी महिलाओं हेतु हास्टल तथा वृद्धों की देखभाल हेतु वृद्धाश्रमों की स्थापना आदि।

(iv) आज मास-एप्रोच के स्थान पर ग्रुप एप्रोच एवं इंडिवीजुअल एप्रोच का सहारा लिया जा रहा है। दूसरे शब्दों में आज कल्याणात्मक सेवाओं के अन्तर्गत वैयक्तिक सेवा कार्य संबंधी सेवायें भी प्रयुक्त हो रही हैं।

(v) आज व्यक्तिगत स्तर पर दी जाने वाली सेवाओं के स्थान पर अभिकरणों के द्वारा सेवायें प्रदान की जाती है, जिनकी अपनी नियमावली, कार्य व्यवहार, लेखा एवं सम्प्रेषण की व्यवस्था है।

(vi) पहले लोग संगठित होकर कुछ स्थानीय स्तर की समस्याओं का सुलझाव करते थे, परन्तु आज राष्ट्रीय स्तर की सेवाओं का संगठन, समस्याओं के निरोध एवं क्षमताओं के विकास संबंधी सेवाओं पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

(vii) पहले स्वैच्छिक सेवाओं से सम्बन्धित अभिकरणों में मानवीय भावना, लचीलापन एवं अनौपचारिकता अधिक थी, परंतु आज निजी अभिकरण भी राजकीय अभिकरणों की भाँति औपचारिक संगठन बनते जा रहे हैं और उनके कार्य व्यवहारों में औपचारिकता अधिक है।

(viii) स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं द्वारा जमीनी स्तर पर की जाने वाली सहायता का रूप बदलता जा रहा है। आज राष्ट्रीय, राज्य एवं क्षेत्रीय स्तरों पर श्रेणीगत अभिकरण कार्यरत हैं

और उनके कार्यकत्ताओं द्वारा दी जाने वाली सेवाओं का निरीक्षण एवं प्रबन्धन किया जा रहा है।

(ix) आज स्वैच्छिक सेवा कार्य के क्षेत्र में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की संख्या अधिक है, परंतु आज यह प्रवृति देखने को मिल रही है कि कम से कम शिक्षित महिलायें सामान्य सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की जिम्मेदारियों का निर्वाह कर रही हैं।

(x) आज स्वैच्छिक सेवा अभिकरणों में वेतनभोगी कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति कर उनसे स्वैच्छिक कार्य सम्पन्न कराया जा रहा है।

(xi) स्वैच्छिक सेवा कार्य अभिकरण भी अब प्रशिक्षित समाजकार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति कर रहे हैं, किंतु आज भी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ वृत्तिक एवं स्वैच्छिक कार्यकर्त्ताओं में संघर्ष विद्यमान है।

(xii) आज स्वैच्छिक आधार पर सेवा अभिकरणों की प्रेरणा दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है।

(xiii) आज सरकार की धीर-धीरे यह नीति बनती जा रही है कि समाज सेवा के क्षेत्र में गैर राजकीय संगठन (एन.जी.ओ.) की स्थापना को प्रोत्साहन देकर उन्हें वित्तीय सहायता देते हुये कार्य का संचालन कराया जाये।

(xiv) आज एन.जी.ओ. अपने वित्तीय व्यय की पूर्ति हेतु विशेष रूप से सरकार पर आश्रित होते जा रहे हैं, साथ ही उनका यह भी प्रयास होता है कि विभिन्न धनी व्यक्ति अथवा अभिकरण उन्हें जो वित्तीय सहायता दें उसे आयकर से मुक्त रखा जाये। इस प्रकार बहुत से लोगों से आयकर का अर्जन भी आज गैर सरकारी संगठनों का मुख्य वित्तीय स्रोत बन गया है।

(xv) आज ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष रूप से स्वैच्छिक संगठनों द्वारा कुछ सेवायें प्रदान की जाती हैं, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले गरीबों में भी सबसे गरीब लोगों को सहायता देना एक प्रमुख कार्य समझा जाता है। पर स्वैच्छिक अभिकरणों द्वारा इस क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय भूमिका अभी तक नहीं अदा की गयी है।

(xvi) स्वैच्छिक संगठनों की एक अन्य विशेषता यह है कि क्षेत्र एवं उद्देश्यों की आवश्यकता के अनुरूप वे कार्य नहीं कर रहे हैं। कुछ स्थानों पर तो एक ही सेवा की पूर्ति पर कई संगठन कार्यरत हैं और कुछ स्थानों पर ऐसे संगठनों का सर्वथा अभाव है। विशेषकर ग्रामीण विकास के क्षेत्र में आज भी बहुत कम स्वैच्छिक संगठन कार्यरत हैं, किंतु इस संबंध में यह देखने को मिल रहा है कि इस क्षेत्र में कुछ बहुत ही अभिजात्य एवं धनी वर्ग के लोग भी सेवा प्रदान कर रहे हैं, वे पर्याप्त रूप से शिक्षित भी हैं। यद्यपि उनका संबंध गरीबों में से अति गरीब वर्ग के लोगों से तो स्थापित नहीं हो रहा है किन्तु उनकी इस क्षेत्र में उपस्थिति राजनैतिज्ञों को चुनौती अवश्य दे रही है।

(xvii) स्वैच्छिक अभिकरणों को सरकार एवं अन्य देशी और विदेशी संस्थाओं द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता ने उनकी सोच एवं कार्यशैली में पूर्णतया बदलाव ला दिया है। अब इन अभिकरणों के उच्चाधिकारी पूर्णतया अभिजात्य वर्ग के हो गये हैं। हवाई जहाज की यात्रा एवं पंचसितारा होटलों में ठहरना तो इनकी सामान्य दिनचर्या हो गयी है। अतः सेवा के क्षेत्र में इनसे बहुत आशा नहीं की जा सकती है। आज जरूरत इस बात की है कि स्वैच्छिक सेवा संगठन तथा अन्य गैर राजकीय संगठन अपनी शैली एवं कार्य व्यवहारों के संबंध में नये सिरे से सोचें और आवश्यकतानुसार उनमें बदलाव लायें।

(य) सामाजिक विकास

सामाजिक विकास का अर्थ वह विकास है जिसके द्वारा वास्तविक रूप से प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि होती है और भौतिक संसाधनों का सही ढंग से वितरण होता है। इस परिभाषा में (1) आर्थिक विकास दर में वास्तविक रूप से वृद्धि की बात कही गयी है जो जनसंख्या वृद्धि दर से अधिक हो। (2) किन्तु प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि का अर्थ है कि देश की सकल आय में वृद्धि के साथ देश के सबसे गरीब व्यक्ति की आय में भी वृद्धि हो। अतः सामाजिक विकास हेतु यह आवश्यक है कि देश की उत्पादकता और आय में वृद्धि के साथ साथ संपत्ति वितरण के संबंध में सरकार की नीति ऐसी होनी चाहिये कि उत्पाद संपदा का गरीबों में पर्याप्त और समानुपातिक वितरण हो सके।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में सामाजिक विकास को एक विचारधारा, प्रक्रिया, आन्दोलन एवं तरीके के रूप में परिभाषित किया जाता है। जिसके द्वारा समाज या राष्ट्र की उत्पादकता एवं आय में ही केवल वृद्धि न हो अपितु उस आय का विवरण भी इस प्रकार हो कि गरीब, दलित एवं ग्रामीण जन भी ऐसा अवसर प्राप्त कर सकें, जिससे वे अपनी क्षमताओं का न केवल पूरा उपभोग करें वरन् सामाजिक न्याय के आधार पर विकास के उचित अवसरों की प्राप्ति कर सकें। इस प्रकार सामाजिक विकास की परिभाषा में निम्नलिखित चार बिन्दु महत्वपूर्ण हैं :-

(i) आर्थिक विकास के रूप में समाज की उत्पादकता और आय में वृद्धि,

(ii) आर्थिक विकास के साथ आर्थिक उपलब्धियों का सही रूप में वितरण,

(iii) आधार भूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किया गया विकास,

(iv) ऐसा विकास जिसके द्वारा समाज के सदस्यों के शारीरिक एवं नागरिक जीवन की गुणात्मकता का विकास हो सके।

सामाजिक विकास के उद्‌देश्य

उपर्युक्त वैचारिक पृष्ठभूमि में हम कह सकते हैं कि सामाजिक विकास का मुख्य लक्ष्य

समाज का आर्थिक एवं सामाजिक बदलाव है और गरीबी, शोषण, अशिक्षा और पिछड़ेपन की समस्या का समाधान है। इस व्यापक लक्ष्य के अतिरिक्त सामाजिक विकास के कुछ और भी लक्ष्य है, जिनका विवरण इस प्रकार है :-

(i) समाज के कमजोर वर्ग के हितों का रक्षण,

(ii) सामाजिक न्याय के आधार पर सामाजिक विकास,

(iii) समाज के रीति रिवाज, परम्पराओं, मूल्यों एवं तौर-तरीकों में परिवर्तन,

(iv) सामाजिक एवं आर्थिक गैर बराबरी की समाप्ति,

(v) घनघोर दरिद्रता एवं भूख की समाप्ति,

(vi) सर्वव्यापी स्तर पर प्राथमिक शिक्षा की प्राप्ति,

(vii) लैंगिक समानता एवं महिला सशक्तिकरण के लक्ष्यों की प्राप्ति,

(viii) जन्म मृत्यु दर में कमी करना,

(ix) एच.आई.वी., मलेरिया एवं अन्य संहारक रोगों का प्रतिबंधन,

(x) पर्यावरणीय संयोगिता का विकास, पर्यावरण के प्रदूषण को दूर करते हुये विकास की, संयोजिता को कायम रखना,

(xi) विकास हेतु एक विश्वव्यापी सहभागिता की भावना का विकास।

सामाजिक विकास के सूचक (Indicator)

सामाजिक विकास के निम्नलिखित सूचक (इण्डीकेटर्स) हो सकते हैं :-

1. आर्थिक सूचक :–

(i) प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि

(ii) उत्पादकता में वृद्धि

(iii) अच्छी अवस्थापना (infrastructure)

(iv) बचत एवं निवेश

(v) अपेक्षाकृत तीव्र गति से औद्योगीकरण एवं नगरीकरण

(vi) जी.डी.पी. में वृद्धि

2. सामाजिक सूचक :–

(i) सामाजिक न्याय एवं समानता,

(ii) संरचनात्मक परिवर्तन,

(iii) विकास से वंचित समूहों को भी विकास में सम्मिलित किया जाना,

(iv) सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति,

(v) उच्चस्तरीय साक्षरता,

(vi) महिला सशक्तिकरण एवं लैंगिक न्याय,

(vii) अन्न में आत्मनिर्भरता,

(viii) समुचित स्वास्थ्यवर्धक पेयजल की व्यवस्था।

3. जनांकणीय संसूचक :–

(i) अपेक्षाकृत अच्छा स्वास्थ्य संरक्षण,

(ii) जीवित रहने की उम्र में ऊँचाई,

(iii) बाल मृत्यु दर में कमी,

(iv) अपेक्षाकृत अच्छा लैंगिक अनुपात।

4. राजनैतिक संसूचक :–

(i) निर्णय प्रक्रिया में जनसामान्य का अपेक्षाकृत अधिक सहभाजन,

(iii) अधिकारों का विकेन्द्रीकरण,

(iiii) सशक्तिकरण।

5. मनोवैज्ञानिक संसूचक :–

(i) सुरक्षा की भावना,

(ii) सिम्बायटिक रिलेशन्स,

(iii) सौहार्द्र।

सामाजिक विकास में संबंधित कुछ प्रमुख उपागम

सामाजिक विकास के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से कुछ उपागमों का विकास किया है। कुछ प्रमुख उपागम निम्नलिखित हैं :-

१. यूनिफाइड एप्रोच

विकास की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों को कुछ लोगों ने निर्धनता, अज्ञानता एवं शोषण के विरुद्ध युद्ध की संज्ञा दी है। मानव जन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त संसाधनों के माध्यम से एक आदर्श दुनिया की स्थापना करना चाहते हैं। इस प्रयास में कई बातों का ध्यान रखा जाता है, जैसे नीतियों का नियोजन, विकास तथा नियोजित सामाजिक परिवर्तन इत्यादि। इस परिप्रेक्ष्य में कई उपागमों का भी विकास हुआ जैसे यूनिफाइड, नीडबेस्ड तथा होलिस्टिक एप्रोच इत्यादि।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विकास हेतु जो पहला प्रयास किया गया था, वह आर्थिक लाइन के अनुसार था। किन्तु यह नीति सक्षम नहीं थी। 1960 में यू.एन.ओ. ने अपना पहला विकास दशक प्रारम्भ किया। इसके अन्तर्गत 5% विकास का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। प्रारंभ में अपेक्षाकृत कम विकसित देशों के लिए 6% विकास लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके पीछे यह उद्देश्य था कि गरीब देश अपनी पूरी जनता को अपेक्षाकृत अच्छे रहन-सहन की स्थिति में लाने का प्रयास करेंगे। इस प्रयास का प्रतिफल विशेष आशाजनक नहीं था। 60% से 70% लोग तब भी घोर दरिद्रता की स्थिति में रह गये।

1970 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने दूसरा विकास दशक प्रारंभ किया, जिसका उद्देश्य था सभी लोगों के लिये अच्छे जीवन यापन के अवसरों की उपलब्धि। इस प्रयास में आर्थिक उत्पादन के साथ सामाजिक न्याय के आधार पर उत्पादकीय लाभों के वितरण पर भी ध्यान दिया गया। यह समझा गया कि त्वरित आर्थिक विकास के साथ ही साथ गुणात्मक एवं संरचनात्मक परिवर्तन भी समाज में आना चाहिये। इस प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक दोनों ही लक्ष्यों को एक साथ जोड़ दिया गया। ऐसे संयुक्त उपागम को यूनिफाइड एप्रोच का नाम दिया गया। इस उपागम के परीक्षण हेतु यह आवश्यक है कि उन विषमताओं पर विचार किया जाये, जो अपेक्षाकृत कम विकसित देशों में विद्यमान रहती हैं। जैसे आम लोगों का वर्तमान स्तर, जनसंख्या का आकार एवं दबाव, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का स्तर, शोध एवं प्रशिक्षण की सुविधाओं की प्राप्ति, प्राकृतिक संसाधनों की प्राप्ति।

इस प्रकार विकास हेतु किया गया ऐसा नियोजन, जिसमें किसी देश के सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक कारकों को एक साथ जोड़कर एकीकृत प्रयास के द्वारा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रयास किया जाय तो उसे यूनिफाइड एप्रोच कहा जाता है। इस उपागम में नीचे लिखे बिन्दुओं को शामिल किया जा सकता है :-

(i) आय एवं संपत्ति का बराबरी के आधार पर वितरण।

(ii) गरीब परिवारों एवं गरीब शहरी निवासियों हेतु स्वास्थ्य पौष्टिक आहार, परिवार नियोजन तथा कल्याणात्मक सेवाओं की समुचित व्यवस्था।

(iii) क्रमानुसार सामाजिक सहायता एवं सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था।

(iv) संपूर्ण समुदाय हेतु शैक्षणिक सुविधाओं की व्यवस्था। यह सुविधा स्कूल जाने वाले और न जाने वाले बालकों, युवाओं तथा वृद्धजन सभी के लिये दी जाये।

(v) बालकों एवं किशोरों हेतु समुचित सुविधाओं की व्यवस्था।

(vi) अपेक्षाकृत कमजोर वर्ग के विकास हेतु विशेष सुविधाओं की व्यवस्था।

2- होलिस्टिक एप्रोच

यह एप्रोच बहुत कुछ सिस्टम थ्योरी पर आधारित है। इसकी मूल मान्यता यह है कि मानव जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं भौतिक पक्ष एक दूसरे से जुड़े हुये हैं और एक पक्ष में यदि कोई परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव दूसरे पक्षों पर भी पड़ता है। जो बात एक व्यक्ति के लिए लागू होती है, वही बात पूरे समाज के लिए लागू होती है। विकास के सभी कारक एक दूसरे से अन्तर्संबंधित हैं और एक में यदि कोई परिवर्तन होता है तो उसका निश्चित प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा। उदाहरणार्थ यदि विकास के लक्ष्य में कोई परिवर्तन होता है तो उस संबंध में निर्धारित संसाधनों में भी परिवर्तन होता है।

इस उपागम के विभिन्न काम्पोनेन्ट निम्नलिखित हैं :-

(i) क्रॉस सेक्टोरल एप्रोच –

इस उपागम के अन्तर्गत विकास के इन्डीकेटर की पहचान कर ली जाती है। इस उपागम के अन्तर्गत विकास के विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं का निर्धारण करने के उपरांत सब कुछ मिलकर विकास के संपूर्ण टारगेट की आवश्यकताओं का एक रूप निर्धारण किया जाता है।

(ii) क्रॉस स्वैटियल कम्पोनेन्ट –

इस उपागम के अन्तर्गत किसी संपूर्ण क्षेत्र के विकास हेतु लक्ष्यों का निर्धारण करते समय उस क्षेत्र के अन्तर्गत विद्यमान मलिन बस्तियों, गरीब तबके और ऐसे पक्षों का पता लगाया जाता है जो अति पिछड़े हैं और उनके विकास हेतु अलग से लक्ष्य निर्धारित कर कार्यक्रम बनाये जाते हैं।

(iii) क्रॉस सेक्शनल कम्पोनेन्ट –

यद्यपि सभी समूहों के विकास हेतु योजनायें बनाई जाती है, किन्तु आबादी के कुछ समूह ऐसे होते हैं जिसकी सहायता हेतु विशेष योजनायें बनानी होती है, जैसे भूमिहीन कृषि श्रमिक एवं सीमान्त कृषक। अतः आबादी की क्रॉस सेक्शनल एनलिसिस करने पर ऐसे समूहों की जरूरतों को देखते हुए विशेष योजनायें बनाई जाती हैं।

(iv) मल्टी लेवेल कॉनटेक्स्ट कंपोनेन्ट –

विकास की जो योजना बनाई जाती है, वह राष्ट्र, राज्य, जनपद, ब्लाक एवं ग्राम या शहरी इकाई तक बनाई जाती है और उन्हें एकीकृत किया जाता है।

(v) इण्टर टेम्पोरल कॉनटेक्स्ट कंपोनेन्ट –

सामाजिक एवं आर्थिक विकास की योजनायें अलग-अलग अवधि के लिये बनाई जाती हैं। इस संपूर्ण विकास योजनाओं को उसके विभिन्न क्षेत्र, विभिन्न स्तर एवं विभिन्न अवधि की योजनाओं से संबंधित कारकों को एकीकृत कर विकास का कार्यक्रम संचालित किया जाता है।

3. बेसिक नीड एप्रोच

समाज के कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो गरीबी की रेखा के बहुत नीचे होते है, उनकी आधारभूत जरूरतें भी पूरी नहीं होती हैं। अतः उनके विकास एवं मुख्यरूप से उनकी आधारभूत जरूरतों की पूर्ति हेतु कुछ अलग से विकासात्मक कार्यक्रम चलाये जाते है और इस उपागम को बेसिक नीडएप्रोच कहा जाता है। उदाहरण के लिए सरकार द्वारा संचालित न्यूनतम रोजगार गारंटी अधिनियम।

इस प्रकार विकास के तीनों ही उपागमों का अपना महत्व है। यूनिफाइड एप्रोच में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक तीनों अपेक्षाओं को एकीकृत करके विकास का कार्य चलाया जा सकता है। होलिस्टिक उपागम विकास के विभिन्न क्षेत्रों, स्तरों एवं समयावधि को एकीकृत कर विकास का कार्य चलाया जाता है। होलिस्टिक उपागम विकास के विभिन्न क्षेत्रों, स्तरों एवं समयावधि को एकीकृत कर विकास का कार्य चलाया जाता है और बेसिक नीड एप्रोच में समाज के ऐसे वर्ग के विकास का प्रयास किया जाता है जिसकी आधारभूत जरूरतों की पूर्ति नहीं हो पायी है।

सम्पोषी विकास (Sustainable - Development)

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पर्यावरण एवं विकास के संबंध में 1992 में ब्राजील में जो सम्मेलन बुलाया गया, उसमें सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया। विश्व स्तर पर सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट के लक्ष्यों की प्राप्ति अति कठिन है, क्योकि जनसंख्या में निरन्तर भारी वृद्धि हो रही है और प्रतिव्यक्ति उपभोग की दर में वृद्धि होती जा रही है। किन्तु आज इस प्रत्यय का महत्व विश्व स्तर पर बढ़ता ही जा रहा है।

अर्थ निरूपण

पर्यावरण एवं विकास के संबंध में गठित विश्व कमीशन के प्रतिवेदन (1987) के अनुसार सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट का अर्थ उस विकास से है जो भविष्य की जनसंख्या द्वारा अपनी जरूरतों की पूर्ति हेतु किया जाता है। इस प्रकार इस परिभाषा के द्वारा आज की जनसंख्या में बराबरी स्थापन का प्रयास किया जाता है और अन्तर्पीढ़ी एकता स्थापन का भी प्रयास किया जाता है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट के द्वारा वर्तमान एवं भविष्य की कल्याणात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। वैश्विक एवं स्थानीय प्रयासों के परिपेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि आज डेवलमेन्ट प्लानिंग के अन्तर्गत सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट एक कैचवर्ड बन गया है। ब्रण्ड लॉड रिपोर्ट के अनुसार सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट का विचार पर्यावरण संरक्षण से बहुत आगे बढ़ गया है। इसका अर्थ परिवर्तन की उस प्रक्रिया से है, जिसके अन्तर्गत

संसाधनों के विकास की दिशा एवं प्रौद्योगिक विकास की दिशा संस्थागत परिवर्तन और वर्तमान एवं भविष्य की जरूरतों के परिप्रेक्ष्य में निर्धारित की जाती है। वर्ल्ड कमीशन ऑफ एनवायरर्नमेन्ट और डेवलपमेन्ट के एक प्रतिवेदन के अनुसार सार रूप में सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट परिवर्तन की एक प्रक्रिया है, जिसमें संसाधनों के दोहन, निवेश की दिशा, प्रौद्योगिक विकास का अनुस्थापन और संस्थागत परिवर्तन सभी का पारस्परिक तालमेल स्थापित रहता है और उनके द्वारा वर्तमान एवं भविष्य की क्षमताओं में वृद्धि की जाती है, तथा मानवीय आवश्यकताओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति की जाती है।

सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट परपरंपरागत उस विचारधारा का अनुमोदन नहीं करता है, जिसमें यह कहा गया है कि आर्थिक विकास जरूरी है और पर्यावरण संरक्षण केवल एक लग्ज़री (वैभव) मात्र है। आज यह बात बार-बार कही जाती है कि सामाजिक एवं आर्थिक विकास सस्टेनेबल होना चाहिये-वर्तमान के साथ-साथ भविष्य की जरूरतों की पूर्ति हेतु भी सक्षम होना चाहिये। अतः इस बात पर विचार करते हुये कि हम अपने बच्चों और आगामी पीढ़ी के लिये क्या विरासत छोड़कर कर जायेंगे हमें भौतिक, मानवीय एवं प्राकृतिक पूँजी को पूर्णरूप से विकसित करने का हर संभव प्रयास करना चाहिये ताकि प्रसन्नता, समानता, न्याय एवं शांति के व्यापक लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। हमें अपने वर्तमान जरूरतों के साथ भविष्य की जरूरतों पर भी निश्चित रूप से ध्यान देना होगा। इस प्रकार सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट किसी कीमत पर होने वाले आर्थिक विकास के आगे का विकास है। इसमें आर्थिक ही नहीं वरन् पर्यावरणीय विकास भी निहित है। पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में सस्टेनेबल डेवलपमेन्ट के निम्नलिखित लक्ष्य हो सकते हैं :-

(i) पर्यावरणीय परिस्थितियों का इस प्रकार अनुरक्षण एवं विकास ताकि वर्तमान के साथ ही भविष्य की जरूरतों को पूरा किया जा सके।

(ii) जैविक वैभिन्यताओं को कायम रखते हुये लोरा एवं फना आदि सभी जातियों के जीवन में अनुरक्षण को कायम रखना।

(iii) रहन-सहन के स्तर, प्राकृतिक संसाधनों एवं इकोफ्रेंडली सिस्टम को अधिकतम उत्पादक बनाना।

(iv) पर्यावरण प्रदूषण को प्रतिबन्धित करने की ऐसी व्यवस्था करना कि वर्तमान ही नहीं वरन् भविष्य में भी प्रदूषण से मुक्ति मिलें,

(v) पर्यावरण संरक्षण हेतु समुचित मानकों की स्थापना

(vi) इस बात के लिये भली-भाँति आश्वस्त हो जाना चाहिये कि प्रमुख कानून नीति परियोजनायें एवं प्रौद्योगिकी के द्वारा सस्टेनेबल विकास में पूर्ण रूप से योगदान किया जाये।

(vii) नुकसानदेह पर्यावरणीय प्रदूषण संबंधी सभी सूचनाओं को सार्वजनिक बनाना।

(viii) सामान्यजन विशेषकर पिछड़े एवं असहाय वर्ग को न केवल विकास की धारा से जोड़ना, वरन उन्हें ऐसा बना देना कि भविष्य में भी वे अधिकतम सुख एवं संतुष्टिमय जीवन यापन कर सकें।

सस्टेनेबिल्टी के कुछ प्रमुख आयाम

(i) आर्थिक सस्टेनेबिल्टी –

आर्थिक संसाधनों का ऐसा विकास जिससे उत्पादकता में अधिकतम वृद्धि हो और आर्थिक भौतिक एवं प्रौद्योगिक संसाधनों का ऐसा विकास हो कि भविष्य में भी उत्पादकता वृद्धि की गति न केवल कायम रहे अपितु बढ़ती जाये।

(ii) पर्यावरणीय सस्टेनेबिल्टी –

पर्यावरणीय संसाधनों का आर्थिक विकास हेतु दोहन करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखा जाए कि इन संसाधनों को कोई नुकसान न पहुँचे, वरन् उन्हें और भी धनात्मक बनाया जाये ताकि भविष्य में भी आर्थिक उत्पादन वृद्धि में वे सहायक हो सकें।

(iii) सामाजिक सस्टेनेबिल्टी –

सामाजिक न्याय, सामाजिक एकता, सामाजिक सुरक्षा एवं सहभाजन की प्रक्रिया को निरंतर बढ़ावा मिलना चाहिये।

(iv) सांस्कृतिक सस्टेनेबिल्टी –

सांस्कृतिक सस्टेनेबिल्टी तथा सांस्कृतिक वैभिन्यता का मानव समाज के विकास हेतु बहुत बड़ा महत्व होता है, इस का उद्देश्य है अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषप्रद नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकें।

समाजकार्य एवं सामाजिक विकास -

भारत की जब प्रथम तीन पंचवर्षीय योजनाओं का मूल्यांकन हुआ तो यह ज्ञात हुआ कि इनके माध्यम से धनी लोग और धनी हो गये और गरीब लोग और भी अधिक गरीब हो गये। इस समस्या के निराकरण हेतु अगली पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक विकास को सामाजिक विकास से जोड़ने का प्रयास किया गया और यह प्रयास किया गया कि सामाजिक न्याय के आधार पर जो सबसे गरीब एवं जरूरतमन्द हैं, उनके विकास को प्राथमिकता दी जाये। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सरकार ने बहुत सी योजनायें बनाईं और कई एन.जी.ओ. को भी कार्य में लगाया, पर ये लक्ष्य अभी प्राप्त नहीं हो सकें हैं। अतः समाज कार्यकर्त्ताओं से आज यह अपेक्षा है कि इस क्षेत्र में आगे आयें। समाज कार्यकर्त्ताओं की भूमिका इस क्षेत्र में निम्नलिखित रूप से उपयोगी हो सकती है :-

(i) समाज कार्यकर्त्ता लोगों में आत्म सहायता एवं आत्म निर्भरता की भावना का विकास कर सकता है और उन्हें विकासात्मक योजनाओं में सक्रिय सहभाजन हेतु प्रोत्साहित कर सकता है। उदाहरणार्थ गाँव की रूढ़िवादिता और निहित स्वार्थों में वह इस प्रकार परिवर्तन ला सकता है कि गरीब जन ग्राम स्तर पर किये जाने वाले विकास कार्य में सक्रिय सहभाजन कर सकते हैं।

(ii) चूँकि सामाजिक विकास के क्रिया कलापों के द्वारा त्वरित गति से सामाजिक परिवर्तन आता है, अतः आज आवश्यक यह है कि ग्रामवासीगणों को नवीन परिवर्तनों को अपनाने के लिये मानसिक रूप से तैयार किया जाये, यह कार्य सामाजिक शिक्षण के द्वारा ही हो सकता है और सामाजिक कार्यकर्त्ता ही इस शिक्षण का मुख्य अभिकर्त्ता है।

(iii) सरकार की सामाजिक नीतियाँ एवं विभिन्न कार्यक्रम ही सामाजिक परिवर्तनों के प्रमुख कारक हैं। इस दिशा में सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक क्रिया के माध्यम से इन परिवर्तनों के हेतु सरकार पर दबाव डालकर ऐसी नीतियों का निर्माण करा सकता हैं, जिससे ये परिवर्तन समाज के अनुकूल हों।

(iv) सामाजिक विकास केवल सामाजिक परिवर्तनों के द्वारा लाया जा सकता है। इस परिवर्तन के प्रमुख कारक विचार एवं चिन्तन हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक क्रिया के द्वारा समाज के चिन्तन में बदलाव ला सकता है। सामाजिक क्रिया के माध्यम से ऐसा आन्दोलन चलाया जा सकता है जिससे लोगों में विकास के अवसरों की समानता की भावना का विकास हो और भौतिक पतिवर्तन इस प्रकार लाया जाए जिससे समाज का अपेक्षाकृत और अच्छा एवं अधिक विकास हो सके।

(v) सामाजिक परिवर्तन और विकास सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन द्वारा हो सकता है। सामाजिक कार्यकर्त्ता, सामुदायिक संगठन एवं सामाजिक क्रिया के द्वारा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन ला सकता है और लोगों में यह भावना विकसित कर सकता है कि विज्ञान के आधुनिक लाभों को अपने कार्यों में अपनायें।

(vi) समाज कल्याण की सेवायें व्यापक स्तर पर सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों के आधार पर आयोजित की जानी चाहिये। ऐसी सेवाओं के आयोजन में समाजकार्यकर्त्ता मुख्य भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

(vii) समाज कल्याण की नीति निर्धारण में भी सामाजिक कार्यकर्त्ता का सहभाजन सर्वाधिक उपयोगी हो सकता है।

(viii) हमारे देश में सामान्यतया नीति निर्माण की संस्कृति यह है कि उच्चतर स्तर पर इन्हें निर्मित किया जाता है। सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक क्रिया के माध्यम से इस संस्कृति में बदलाव ला सकता है और नीतियों का निर्माण नीचे के स्तर से प्रारम्भ हो सकता है।

(ix) सामाजिक कार्यकर्त्ता देश की आर्थिक नीति में भी बदलाव ला सकता है और सुविधाओं

का बँटवारा सामाजिक न्याय के आधार पर करने में महती भूमिका अदा कर सकता है।

(x) निर्धनता की भी अपनी संस्कृति होती है निर्धन लोगों का कल्याण कार्य करते समय सबसे पहली आवश्यकता यह है कि उनके साथ ऐसा संबंध स्थापित किया जाये कि उन्हें अपनी योग्यता और प्रतिष्ठा का बोध हो और साथ ही उन्हें यह भी अहसास हो कि उनकी निर्धनता दूर हो सकती है। इन कार्यों में भी सामाजिक कार्यकर्त्ता की भूमिका सर्वाधिक उपयोगी हो सकती है।

(द) सामाजिक नीति

सामाजिक नीति का अर्थ निरूपण –

कुलकर्णी के अनुसार सामाजिक नीति सामाजिक क्रियाकलापों की वह रणनीति है, जिसके द्वारा सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। इस परिभाषा की व्याख्या करते हुये उन्होंने सामाजिक नीति के तीन बिन्दुओं का निरूपण किया, जो निम्नलिखित हैं :-

(i) सामाजिक नीति राज्य नीति के सामाजिक उद्देश्यों से संबंध रखती है।

(ii) इसके द्वारा राज्य की सामाजिक सेवा संबंधी नीतियों का निर्धारण होता है।

(iii) इसके द्वारा विकास के एक अंग के रूप में सामाजिक कल्याण सेवाओं के क्रियान्वयन की नीति निर्धारित होती है।

मार्शल के अनुसार सामाजिक नीतियों के मुख्य केन्द्र बिन्दु सामाजिक बीमा, जन सहायता, स्वास्थ्य कल्याण, आवास सेवायें, शिक्षा एवं मरीजों का उपचार आदि हैं।

उपर्युक्त दोनों मतों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने हैं कि सामाजिक नीति की परिभाषा के निम्नलिखित बिन्दु हैं :-

(i) नीति का अर्थ एक सामान्य निर्देशक बिन्दु या सिद्वांत है, जिसके द्वारा सरकार या किसी ऐसे संगठन के क्रिया-कलापों का निर्देशन होता है जो कुछ लक्ष्यों की प्राप्ति करना चाहता है।

(ii) सभी सरकारी नीतियाँ जो पुनर्वितरक होती हैं सामाजिक नीति कहलाती हैं। अर्थात कल्याणकारी राज्य में सरकार ऐसी सामाजिक नीति अपनाता है जो विकास एवं सामाजिक न्याय के लक्ष्यों को प्राप्त करती है। इस उद्‌देश्य से सामाजिक न्याय के अन्तर्गत राज्य द्वारा संसाधनों एवं हित-लाभों का वितरण एवं पुनर्वितरण किया जाता है।

(iii) सशक्त एवं संगठित समूह जैसे व्यवसाय संघ, उत्पादक संघ का वृत्तिक संघ की वे सभी नीतियाँ, जो सरकार की पुनर्वितरण संबंधी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करती

हैं, सामाजिक नीतियाँ कहलाती हैं।

(iv) विकास एवं सामाजिक न्याय के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु यदि समाज के किसी एक अनुभाग से दूसरे अनुभाग में संसाधनों का स्थानान्तरण किया जाता है, तो वह भी सामाजिक नीति कहा जाता है।

(v) विशिष्ट अर्थ में सरकार या किसी संगठन की सामाजिक नीति के अन्तर्गत सामाजिक सेवायें, गरीबों एवं उपेक्षितों हेतु दी जाने वाली समाज कल्याण सेवायें और कुछ अन्य क्रिया-कलाप जैसे सामाजिक बीमा, जन सहायता, स्वास्थ्य रक्षण सेवायें, आवासीय सुविधायें एवं अन्य कल्याणात्मक सेवायें आती हैं।

(vi) सामान्यतया सामाजिक नीतियों के द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

सामाजिक नीति के उद्देश्य

(i) सामाजिक परिवर्तन एवं विकास को लाना।

(ii) लोगों में सामाजिक संसाधनों के पुनर्वितरण हेतु सहायता देना ताकि असमानता में कमी हो।

(iii) गरीबों के कार्य जीवन की गुणात्मकता में सुधार और समाज के कमजोर वर्गों का रक्षण।

(iv) गरीबी का निवारण एवं रोजगार के अवसरों का सृजन।

(v) मानवीय संसाधनों का विकास।

(vi) विकास प्रक्रिया में जन सामान्य के सहभाजन को बढ़ावा देना।

(vii) मानवीय दुःख को कम करना एवं मानवीय कल्याण की वृद्धि करना।

(viii) स्वस्थ मानवीय संबंधों का विकास।

(ix) व्यक्ति एवं समूह की कमजोरियों को दूर करने के लिये समाज में सुधार लाना।

(x) सामाजिक मूल्यों एवं संरचना के अनुरक्षण एवं परिवर्तनों के हेतु अभिकरणों, सेवाओं एवं संगठनों का संस्थागत नियन्त्रण।

इस प्रकार सामाजिक नीतियाँ, मानवीय प्राणियों का विकास, जीवन यापन की स्थितियों का एकीकरण और पूर्ण मानवीय नागरिकता के अधिकार को विकसित करती है।

सामाजिक नीति के क्षेत्र

सामाजिक नीति का क्षेत्र अति विस्तृत एवं अति व्यापक है, विगत सदी के आठवें दशक तक तो हम अपने विकास को जी.एन.पी. ओरियेन्टेड राष्ट्रीय विकास मूलक लक्ष्यों से जोड़े हुये थे। किंतु उनके बाद हमने जनसामान्य के विकास को आवश्यकतापरक विभेदक उपागमों से जोड़ा। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन को गरीबी निवारण, संपत्ति विकास के अवसरों की गैर

बराबरी में कमी और समाजवादी समाज की स्थापना के प्रयासों में देखा जा सकता है। इस उपागम में गरीबी के निवारण, सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा और कुछ ऐसे क्षेत्रों के विकास पर बल दिया जाता है जो सामाजिक नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति में विशेष सहायक होते हैं। इस सेक्टर वाइज एप्रोच को सामाजिक नीति का सेक्टोरल उपागम कहा जाता है। इसके अन्तर्गत (1) गरीबी निवारण (2) एकीकृत ग्रामीण विकास (3) कमजोर वर्ग के स्वार्थों का रक्षण एवं बढ़ावा और (4) बाल विकास पर विशेष बल दिया जाता है। दूसरे शब्दों में ये सभी तत्व एक ही सामाजिक नीति के विभिन्न आयाम हैं। उदाहरण के लिये ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष रूप से गरीबी विद्यमान रहती है और वहाँ के बालक इस गरीबी से विशेष प्रभावित होते हैं। सामाजिक नीति के जो विभिन्न आयाम हैं उनका विवरण निम्नलिखित है :-

(अ) गरीबी निवारण

जहाँ तक गरीबी का प्रश्न है, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि गरीबी का पूर्ण रूपेण निवारण संभव नहीं है, अपितु उसमें कभी लाना सामाजिक नीति का प्रमुख्य उद्देश्य है, चाहे यह कार्य राजनैतिक कारणों से किया जाता है चाहे इस विश्वास के आधार पर किया जाता है कि विकास एवं सामाजिक न्याय साथ-साथ चलते हैं।

यह बात स्वीकार की गयी है कि विकासपरक नीति में समानुपातिक वितरणात्मक उपायों को अपनाये जाने की आवश्यकता है ताकि विकास का प्रतिफल जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में परिलक्षित हो, विशेषकर निम्न एवं गरीब वर्ग के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में। इस दृष्टि से हमारे देश में न्यूनतम आवश्यकता परक कार्यक्रम (अन्योदय का परिष्कृत संस्करण) प्रगतिशील ऋण नीति, रोजगार गारन्टी योजनायें, आर्थिक रूप से दुर्बल वर्ग, भूमिहीन मजदूर, सीमान्त कृषक एवं शहरी गरीब मजदूरों के लिए न्यूनतम रोजगार गारन्टी योजना आदि विशेष योजनायें चलायी गयी हैं। कुछ विशिष्ट योजनाओं के द्वारा निर्धनता पर सीधे प्रहार किया जाता है।

किन्तु इस संबंध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इन योजनाओं के कारण गरीबी का स्तर कुछ कम हुआ है और कुछ विशेष लोगों के हाथों में धन के केन्द्रीकरण पर कुछ रोक भी लगी है, परंतु सब कुछ मिलाकर गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले बड़ी संख्या में अभी भी लोगों को कोई विशेष राहत नहीं मिली है।

(ब) एकीकृत ग्रामीण विकास

भारत में ग्रामीण विकास संबंधी कार्यक्रमों को जनता पार्टी की सरकार (1977) ने विशेष बढ़ावा दिया। ग्रामीण विकास नीति का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है कि विकास के लाभों से कमजोर वर्ग को लाभान्वित किया जाये। विशेषकर भूमिहीन कृषकों, सीमान्त कृषकों और अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों को। इस हेतु भूमि सुधार कार्यक्रमों का संचालन, विज्ञान

और टेक्नोलॉजी का कृषि एवं ग्रामीण उद्योगों में प्रयोग तथा ग्रामीण बढ़ई, लोहार, मोची तथा अन्य स्वरोजगाररत अभिकर्मियों की आर्थिक सहायता आदि कार्यक्रम चलाये गये। प्रथमदृष्टया तो ये सभी कार्यक्रम प्रगतिशील कार्यक्रम लगते हैं, किंतु इन कार्यक्रमों की अपनी भी कुछ कमियाँ हैं। इन कार्यक्रमों में धन तो अत्यधिक निवेश किया गया किन्तु उसका उचित प्रतिफल नहीं मिला क्योंकि जनसहयोग एवं जनसमर्थन नहीं मिला। इस योजना का नाम एकीकृत ग्रामीण विकास था, किंतु इस हेतु विभिन्न स्रोतों का एकीकरण नहीं हुआ। फलस्वरूप इस योजना को अन्ततः समाप्त कर दिया गया और इसके स्थान पर स्वर्ण जयन्ती रोजगार योजना का प्रारम्भ हुआ है। इसकी सफलता पर भी अभी प्रश्न वाचक चिन्ह ही लगा हुआ है।

(स) कमजोर वर्ग की सुरक्षा

भारत में कमजोर वर्ग के रूप में प्रारंभ से अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को चुना गया। इन्हें न केवल शिक्षण संस्थाओं में विशेष आरक्षण नीति के अन्तर्गत प्रवेश की विशेष सुविधा दी गयी, विशेष छात्रवृत्ति दी गयी अपितु नौकरियों तथा विधायिका में भी इनका स्थान आरक्षित किया गया। बाद में पिछड़ी जातियों को भी ऐसे आरक्षण की सुविधा दी जाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि इन जातियों के धनी लोग विशेष रूप से लाभान्वित होने लगे और ऊँची जातियों के वे लोग जो वास्तव में असहाय एवं गरीब हैं, वे उपेक्षित होने लगे। इस नीति के कारण जातीय संघर्ष एवं जाति प्रथा का नुकसानदेह महत्व बढ़ गया। राजनैतिक दबाव के कारण ऐसे आरक्षणों की समय सीमा भी बढ़ती जा रही है। इस प्रकार ऐसी आरक्षण नीति से आज समाजिक नीति के मूल उद्‌देश्य ही तिरोहित होते जा रहे हैं। कमजोर वर्ग के संरक्षण के नाम पर होना यह चाहिये कि आवश्यकता के आधार पर आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से कमजोर लोगों की पहचान की जाय और एक सुनिश्चित अवधि तक आरक्षण प्रदान करने के पश्चात् जब यह देखा जाये कि ऐसे लोग अन्य व्यक्तियों के समान विकसित एवं सक्षम हो गये हैं तो आरक्षण समाप्त कर दिया जाये। किन्तु आज वोट की राजनीति के कारण यह नहीं हो पा रहा है तथा आरक्षण नीति का पूरा-पूरा दुरुपयोग हो रहा है।

(द) बाल संरक्षण एवं विकास

बच्चे तो कमजोर वर्ग में आते ही हैं और इनकी देखभाल एवं संरक्षण सामाजिक नीति का अभिन्न अंग है। तेजी से होने वाले आर्थिक विकास एवं संयुक्त परिवार के विघटन से आज बालकों की देखभाल एवं विकास से संबंधित कई नई समस्यायें उठ गयी हैं। आज बच्चों के टीकाकरण, पोषण, स्वास्थ्य रक्षण, अनौपचारिक शिक्षण, तथा मनोरंजन संबंधी समस्याएं केवल परिवार की ही जिम्मेदारी नहीं रह गयी है वरन् सामाजिक नीति की दृष्टि से राष्ट्र एवं समाज की भी जिम्मेदारी बन गयी है। ग्रामीण एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में इस समस्या के समुचित निराकरण की महती आवश्यकता है। ऐसे माता-पिता दोनों ही जो यदि कहीं कार्यरत हैं तो उनके

लिये यह समस्या तो और भी विषम है। भारत में सरकार को एन.जी.ओ. के माध्यम से ऐसी समस्याओं के समुचित समाधान की जरूरत है। यद्यपि हमारे देश में इस समस्या के निवारण हेतु एकीकृत बाल विकास योजना चल रही है। प्राथमिक विद्यालयों में पौष्टिक आहार की व्यवस्था की जा रही है। किन्तु इन योजनाओं से देश के सभी बालक सुमचित रूप से लाभान्वित नहीं हो पा रहे हैं। अभी भी बालक विभिन्न प्रकार से बाल श्रम में लगे हुये हैं। अधिनियमित प्राविधानों के बावजूद समस्या का समाधान नहीं हो पा रहा है। अनाथ बालक, आवारा बालक एवं अपराधी बालक स्वयं ही समस्या बने हुये हैं। आज एन.जी.ओ. के माध्यम से देश के प्रत्येक शहर में चाइल्ड लाइन की व्यवस्था है, परंतु वह भी सफल नहीं हो पा रही हैं। कुछ तो समाज में जागरूकता की कमी है और बहुत हद तक सरकार की इस तरफ दृढ़ इच्छाशक्ति की कमी इसकी असफलता का कारण है।

सामाजिक नीति की आवश्यकता

स्वतंत्रता के पश्चात् देश में जहाँ विज्ञान, प्रौद्योगिकी, कृषि, बाल विकास एवं श्रम कल्याण को अतिशय महत्व दिया गया, वहीं हमनें समाज कल्याण की कोई स्पष्ट नीति अभी तक विकसित नहीं की। बाद में जब नोबल पुरस्कार विजेता डा0 अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक के द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन किया कि आर्थिक नीतियाँ सामाजिक नीतियों के अभाव में सफल नहीं हो सकती तो सामाजिक नीति के महत्व पर ध्यान केन्द्रित किया गया। आज सामाजिक नीति की आवश्यकता अधोलिखित कारणों से महसूस की जा रही है :-

(i) समाजकार्य के क्रिया-कलापों को सक्षम ढंग से क्रियान्वयन हेतु समाजिक नीति की आवश्यकता होती है।

(ii) समाज कल्याण के क्रिया-कलापों के क्रियान्वयन हेतु भी सामाजिक नीति की आवश्यकता होती है।

(iii) किसी पूर्व निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कार्यों के निर्धारण के लिये भी सामाजिक नीति की आवश्यकता है।

(iv) सामाजिक विकास के दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये भी सामाजिक नीति की आवश्यकता होती है।

(v) भारतीय संविधान के नीति निदेशक तत्वों के क्रियान्वयन हेतु भी सामाजिक नीति की आवश्यकता है।

(vi) आज देश में जनसंख्या विस्फोट, बेरोजगारी और निर्धनता की समस्यायें अति विषम हैं और उन समस्याओं के निराकरण हेतु सक्षम सामाजिक नीति का होना नितान्त आवश्यक है।

(vii) देश में संतुलित आर्थिक एवं सामाजिक विकास हेतु अच्छी सामाजिक नीति का होना बहुत जरूरी है।

(viii) हमारे देश में विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में समस्यायें दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। इन समस्याओं के निराकरण हेतु सक्षम सामाजिक नीतियों का होना आवश्यक है।

(ix) सामाजिक सेवाओं के सक्षम ढंग से संचालन हेतु भी सामाजिक नीति की आवश्यकता है।

(x) सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु भी सामाजिक नीति की जरूरत है।

(xi) सरकार एवं एन.जी.ओ. के समाज कल्याण संबंधी क्रिया-कलापों के सक्षम प्रबन्ध और समुचित समन्वयन हेतु भी सामाजिक नीति की जरूरत है।

(xii) विकास हेतु निर्मित सामाजिक नियोजन के उचित क्रियान्वयन हेतु भी सामाजिक नीतियों की आवश्यकता है।

सामाजिक एवं आर्थिक नियोजन

किसी देश का संतुलित विकास तभी संभव है जब वह आर्थिक दृष्टि से विकसित हो और सामाजिक न्याय की अपेक्षाओं को पूरा करता हो। अतः राष्ट्रीय विकास हेतु आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों में सम्यक समन्वयन होना चाहिये और दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही विकास के लक्ष्यों की पूर्ति हो सकती है। विकास के अधोलिखित क्षेत्रों में सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों को परस्पर सहयोग से काम करना चाहिये :-

(i) आज हमारे देश में निर्धनता एवं बेरोजगारी की समस्यायें अति विषम हैं। बहुसंख्यक लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। सामाजिक व्यवस्था में भी बहुत असन्तुलन है। इन समस्याओं से लड़ने के लिये सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों को सामन्वित ढंग से क्रियान्वयन होना चाहिये।

(ii) सामाजिक नीतियों का क्रियान्वयन आर्थिक नीतियों के परिप्रेक्ष्य में ही होना चाहिये। किसी सामाजिक नीति के क्रियान्वयन के पूर्व सर्वप्रथम यह देख लेना चाहिये कि देश की आर्थिक स्थिति कैसी है और उस स्थिति में सामाजिक नीति सुगम तरीके से क्रियान्वित हो भी रही है या नहीं?

(iii) आर्थिक नीति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, उत्पादकता की वृद्धि। परन्तु यह उत्पादकता वृद्वि तभी संभव है, जब देश की सामाजिक स्थिति उत्पादकता वृद्धि में सहायक हो।

(iv) यदि किसी समाज में बहुत अधिक सामाजिक गैर बराबरी होगी तो निश्चित रूप से आपराधिक व्यवहार विकसित होंगे और आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होगी। अतः सामाजिक विकास की पूर्णतया सक्षमता होने पर ही आर्थिक विकास की सक्षमता प्राप्त हो सकती है।

(v) यदि सामाजिक नीति आर्थिक विकास को बढ़ावा दे और आर्थिक नीति सामाजिक विकास को बढ़ावा न दें तो दोनों ही असफल और निष्प्रयोज्य हो जायेंगी।

(vi) भारत जैसे देश में यदि आर्थिक विकास सामाजिक न्याय पर निर्भर नहीं होगा तो धनी लोग और धनी तथा गरीब लोग और भी गरीब होते जायेंगे।

(vii) आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन यद्यपि विकास के दो अलग-अलग पक्ष हैं किन्तु वास्तविक व्यवहार में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और एक साथ ही चल सकते हैं।

(viii) सामाजिक विकास का सम्बन्ध केवल सामाजिक कल्याण से ही नहीं होता, वरन् उसका संबंध आर्थिक विकास से भी होता है और आर्थिक स्थितियों में असमानता के निराकरण से भी है।

(ix) यदि समाज के किसी वर्ग का आर्थिक विकास करना है तो सर्वप्रथम उक्त वर्ग के शैक्षणिक विकास की व्यवस्था करनी होगी।

(x) बहुत सी गैर आर्थिक नीतियाँ आर्थिक नीतियों से प्रभावित होती हैं, उदाहरणार्थ-नियोजन को बढ़ावा देने वाली कोई नीति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक जी.एन.पी. में वृद्धि न हो। इसी प्रकार आर्थिक विकास के लक्ष्य तभी पूरे हो सकते हैं जब तक कि मानव संसाधन विकास उसके अनुकूल हों और समुचित जन सहयोग की प्राप्ति न हो।

अन्ततोगत्वा देश के विकास में आर्थिक एवं सामाजिक नीतियों का एक ही समान महत्वपूर्ण योगदान है।

सामाजिक नीति से संबंधित कुछ प्रमुख मॉडल्स

सामाजिक नीति के बारे में रिचर्ड टिटमस ने तीन प्रकार के मॉडल्स का उल्लेख किया जो कि निम्नलिखित हैं :-

1. रेसीडुअल वेलफेयर मॉडल -

इस मॉडल का प्रतिपादन इंग्लैण्ड के "पुअर लॉ" और राज्य द्वारा अपनाई गयी तटस्थतावादी नीति के परिप्रेक्ष्य में किया गया था। 'पुअर लॉ' के अन्तर्गत लोगों को स्वयं कार्य करने के हेतु अभिप्रेरित किया जाता था और राज्य से किसी प्रकार सहायता न लेने की बात कही जाती थी। इस मॉडल के अन्तर्गत ऐसी सामाजिक नीति का निर्धारण किया गया था, जिसके अन्तर्गत ऐसे लोगों के लिये जिनके पास न तो स्वयं जीविकोपार्जन का कोई साधन है और न बाजार और न परिवार से ही उन्हें कोई सहायता मिल सकती है, अंततोगत्वा राज्य/सरकार द्वारा न्यूनतम सहायता प्रदान की जाती थी। इस मॉडल के प्रतिपादक फ्रिड गैमवान हेयेक हैं, जो लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स के संस्थापक हैं। उस समय इंग्लैण्ड में इस्पिन एण्डर्सन का

उदार शासन था जिसके अन्तर्गत सरकार द्वारा गरीबों को सहायता न देने की नीति में छूट दी गयी। यह छूट केवल उन्ही लोगों को दी गयी जो इतने अक्षम थे कि किसी भी प्रकार से अपने बल पर अपना जीविकोपार्जन नहीं कर सकते थे और परिवार या बाजार द्वारा उन्हें किसी प्रकार की सहायता भी अप्राप्य थी। सरकार द्वारा इस प्रकार की देय सहायता न्यूनतम स्तर की सहायता थी और इस सहायता के पूर्व उस व्यक्ति का परीक्षण कर उसकी आय, संपत्ति एवं स्थिति का पता लगा लिया जाता था।

भारत में इस मॉडल की उपयोगिता

इस मॉडल के अन्तर्गत अन्य प्रकार की सहायता के अभाव में व्यक्ति को राज्य द्वारा न्यूनतम सहायता दी जाती है। ऐसा मॉडल अपने देश के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। क्योंकि सामाजिक नीति के अन्तर्गत सामाजिक न्याय के आधार पर सहायता की बात कही जाती है और यह सहायता केवल इतनी ही नहीं होनी चाहिये कि व्यक्ति के भोजन एवं वस्त्र की ही आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र हो सके, वरन् इनके अन्तर्गत सामाजिक सेवा और सामाजिक कल्याण का भी प्राविधान होना चाहिए। ऐसे प्रावधानों के अभाव में यह मॅाडल देश के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। किंन्तु कुछ अंश में हमारे देश में इसी मॉडल के आधार पर सामाजिक नीति का निर्माण हुआ है। उदाहरणार्थ-पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत ऐसे लोगों के सामाजिक कल्याण का प्राविधान किया गया है जो पूर्णतया निर्धन हैं। इसी प्रकार अन्त्योदय कार्यक्रम एवं न्यूनतम रोजगार गॉरन्टी अधिनियम भी इसी आधार पर निर्मित हैं। किन्तु ये सभी कल्याणात्मक कार्यक्रम न्यूनतम सेवायें प्रदान करते हैं। इनसे ऊँचा उठकर कार्य करने की आवश्यकता है।

2. इन्डस्ट्रियल एचीवमेन्ट परफार्मेंस मॉडल –

इस मॉडल का निहितार्थ यह है कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति उत्पादकता, कार्यनिष्पादन एवं गुणवत्ता के आधार पर होनी चाहिये। इस मॉडल के अन्तर्गत समाज कल्याण को श्रम अनुबन्ध से जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक नीति का निष्पादन श्रम बाजार पर निर्भर हो जाता है। सामाजिक सेवायें या कल्याणात्मक सेवायें निजी तौर पर स्थापित बीमा कंपनियों के द्वारा दी जाती हैं और इन पर राज्य का नियन्त्रण रहता है। इस बात का सदैव ध्यान रखा जाता है कि कोई बीमा कम्पनी समाज सेवा हेतु दूसरों से प्रीमियम लेकर अचानक बैठ न जाये। जो व्यक्ति अपने कार्य द्वारा अधिक मजदूरी अर्जित करता है और एक लम्बे समय तक अधिक प्रीमियम देता रहता है उसे अपेक्षाकृत अधिक कल्याणात्मक सेवायें प्रदान की जाती हैं। चूँकि इस मॉडल में प्रीमियम के आधार पर क्षतिपूर्ति की जाती है, अतः टिटमस ने इसे हैण्डमेड मॉडल करार दिया। जब कि इसपिंग एडरसन ने इसे कंजर्वेटिव मॉडल कहा। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, इस मॉडल में सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कार्य निष्पादन, उत्पादकता एवं गुणात्मकता के आधार पर होती है।

इस मॉडल में बीमा कंपनियों में नागरिकों द्वारा निवेशित धन के रक्षण का दायित्व सरकार का होता है। जिस अंश में प्रीमियम दिया जायेगा उसी अंश में खतरों (रिस्क) से सुरक्षा प्रदान की जायेगी। जिस अंश में बाजार द्वारा सोशल प्रोटेक्शन दिया जायेगा उसी अंश में सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान की जायेगी। श्रमिक का जैसा कार्य निष्पादन होगा वैसी ही उसे मजदूरी मिलेगी और यदि अधिक मजदूरी मिलेगी तो वह अधिक प्रीमियम देगा और उसको उतना ही अधिक रिस्क कवरेज़ मिलेगा।

इस मॉडल में आपदाजनक स्थिति में समाज कल्याण चूँकि प्राइवेट कंपनियों के द्वारा किये जाने की बात है अतः उच्च एवं मध्यम वर्ग के लोग, जिनकी आय अधिक होगी, अधिक प्रीमियम देंगे और अधिक लाभ प्राप्ति के हकदार होंगे। दूसरी बात यह है कि यह प्रीमियम टैक्स फ्री होता है। अतः इस कारण भी उच्च वर्ग के लोग अधिक प्रीमियम देकर अधिक लाभ उठा सकते हैं। गरीब लोगों के हित नजरन्दाज ही होंगे।

एण्डर्सन के अनुसार यह मॉडल कन्जर्वेटिव मॉडल है। इसके अन्तर्गत सामाजिक कल्याण की प्रमुख उपकरण बीमा कंपनियाँ हैं, जिन्हें सरकार द्वारा अनुरक्षण प्राप्त होता है।

आलोचना

यद्यपि इस मॉडल के अन्तर्गत अपेक्षाकृत व्यापक तरीके से सेवायें प्रदान की जाती हैं, किंतु यह कार्य राज्य नहीं करता वरन् प्राइवेट कंपनियाँ करती हैं और जिन लोगों में अधिक प्रीमियम भुगतान की क्षमता होती है वे तो उससे लाभान्वित होते हैं गरीब लोग जिनका उपार्जन कम होता है इस मॉडल से विशेष लाभान्वित नहीं हो सकते। आश्चर्य की बात यह है कि सरकार अपनी ओर से ऐसे गरीबों के लिये कुछ नहीं करती! तथापि इस मॉडल का विधायी पक्ष वह है कि इसके अन्तर्गत लोगों को अधिकाधिक कार्य करके अधिकाधिक उपार्जन हेतु प्रोत्साहित किया जाता है ताकि लोग अधिकाधिक लाभान्वित हो सकें।

भारत में इस मॉडल की उपयोगिता

(i) यह मॉडल भारतीय स्थिति के अनुकूल नहीं है, क्योंकि सरकार समाज कल्याण के लिये कुछ नहीं कर रही है, सारी सेवायें निजी कंपनियों द्वारा की जाती हैं, और वे लोग जो अधिक उपार्जन करते हैं वही अधिक लाभान्वित हो सकते हैं, गरीब एवं असहाय नहीं। हम भारतीय परिवेश में ऐसे मॉडल की अपेक्षा करते हैं, जिससे राज्य द्वारा गरीबों एवं असहायों को पूर्ण सहायता दी जाय। अतः भारतीय परिवेश में यह मॉडल पूरी तरह उपयुक्त नहीं है।

(ii) हमारे देश में बहुत से कार्य-क्षम्य व्यक्ति रोजगारविहीन हैं, वे अपनी नियमित रोजी-रोटी तक का उपार्जन नहीं कर सकते, फिर उनसे कैसे यह अपेक्षा की जाय कि आपात् स्थिति में समाज कल्याण की सेवाओं की प्राप्ति हेतु वे प्रीमियम भरेंगे। अतः यह मॉडल उनके

लिये भी अनुपयोगी हो जाता है।

3. इण्डस्ट्रियल रीडिस्ट्रिब्यूटिव मॉडल –

इस मॉडल के अन्तर्गत समाज के सभी वर्गों के लिये सामाजिक सुरक्षा का प्राविधान है। वह वर्ग जो अधिक सक्षम है वह तो स्वयं ही निजी कंपनियों को अधिक प्रीमियम देते हुये इस स्थिति में आ जायेगा कि अधिक से अधिक सामाजिक सुरक्षा का हकदार हो सके। किंतु समाज का वह वर्ग जो कमजोर तथा अक्षम है उसकी सामाजिक सुरक्षा की जिम्मेदारी राज्य की होगी। उद्योगों द्वारा अधिकाधिक लाभार्जन एवं आय प्राप्त करने वाले लोगों पर राज्य कर लगाकर उनकी आय से उचित अंश प्राप्त करेगा और उस अंश से उन लोगों की सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण किया जायेगा, जो अक्षम एवं असहाय हैं तथा प्रीमियम नहीं दे सकते। इस प्रकार यह मॉडल अपेक्षाकृत अधिक जनतांत्रिक एवं कल्याणकारी राज्य का मॉडल है।

भारत में इस मॉडल की उपयोगिता

भारतीय परिवेश में यह मॉडल अतिशय उपयोगी है। समाज के जो लोग सक्षम हैं वे उच्च्च प्रीमियम देकर अपनी सामाजिक सुरक्षा स्वयंकर लेंगे, किंतु समाज का वह वर्ग जो गरीब है, अपनी रोजी-रोटी का अर्जन नहीं कर सकता है यदि सक्षम है तो बेरोजगार है और अक्षम है तो काम ही नहीं कर पाता। कल्याणकारी राज्य में ऐसे लोगों की सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण का दायित्व राज्य पर आता है। राज्य उचित कराधान की सक्षम व्यवस्था द्वारा धनी लोगों की आय के एक उचित अंश को कर के रूप में प्राप्त करेगा और उसके द्वारा गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाले लोगों को कल्याण एवं सुरक्षा प्रदान करेगा। भारत में न्यूनतम रोजगार गॉरन्टी अधिनियम इसी मॉडल पर आधारित है।

(ल) सामाजिक न्याय

सामाजिक न्याय की अवधारणा एक गतिशील अवधारणा हैं और उसकी ऐसी कोई भी परिभाषा नहीं है जो सर्वमान्य हो। मद्रास उच्चन्यायालय के तत्कालीन न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री वी0 के0अय्यर के अनुसार यदि मनु, कन्फयूशियस, सोलर एवं सुकरात आदि प्राचीन विचारक एक साथ बैठकर सामाजिक न्याय का अर्थ निरूपण करने अथवा इसे परिभाषित करने का प्रयास करेंगे तब कि इस प्रत्यय की कोई सर्वसम्मत परिभाषा निरूपित नहीं हो सकती। हमारे संविधान के नीति निदेशक सिद्धान्तों के माध्यम से इस प्रत्यय को विशेष महत्व दिया गया है। यद्यपि यह एक जीवन्त एवं क्रांतिकारी प्रत्यय है तथापि कानून के नियमों एवं कल्याणकारी राज्य के उपबन्धों के कारण इसे विशेष महत्व प्रदान किया गया है। साररूप में यह कहा जा सकता है कि विकास के अवसरों के अन्तर्गत यह एक न्याय संगत प्रयास है, जिसके द्वारा समानता स्थापित हो सकती है।

आर्थिक दृष्टि से सामाजिक न्याय का अर्थ है कि भौतिक सामग्रियों का अपेक्षाकृत अधिक बराबरी के साथ वितरण हो। पाश्चात्य संस्कृति में बाइबिल से लेकर कार्ल मार्क्स तक सभी ने इसी आधार पर सामाजिक न्याय को परिभाषित किया है। महात्मा गाँधी के शब्दों में – "दुनिया के सबसे गरीब व्यक्ति के आँसुओं को पोछना ही व्यावहारिक शब्दावली में सामाजिक न्याय की परिभाषा है।" गरीब और धनी सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से उच्च एवं नीच को एक ही धरातल पर लाना और उन्हें बराबरी के स्तर पर राजकीय एवं गैर राजकीय सुविधायें प्रदान करना ही सामाजिक न्याय है।

आध्यात्मिक दृष्टि से सामाजिक न्याय का उल्लेख श्रीमद्भागवद् गीता में किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल सबके साथ एक समान व्यवहार किया जाना चाहिए।

अंततोगत्वा भारत के वर्तमान संदर्भ में सामाजिक न्याय का अर्थ है गरीब एवं निम्न वर्ग के लोगों की स्थिति में सुधार लाना, अस्पृश्यता एवं भिक्षावृत्ति का निराकरण, सामाजिक बुराइयों जैसे बाल विवाह, दहेज प्रथा, बाल श्रम, वेश्यावृत्ति का उन्मूलन, अनुसूचित जाति एवं जनजाति के सदस्यों की स्थिति में सुधार और उनके लिये शिक्षा संस्थानों एवं विधायिका और कार्यपालिका में स्थानों का आरक्षण।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय की परिभाषा में निम्नलिखित बिन्दुओं को सम्मिलित किया जा सकता है :-

(i) सामाजिक न्याय कुछ अंशों में भौतिक कल्याण से जुड़ा है।

(ii) सामाजिक न्याय की अवधारणा कुछ अंश में सुधारात्मक है। यह सामाजिक व्यवस्था में संशोधन की माँग करती है ताकि समाज में गैर बराबरी को समाप्त किया जा सके, इसका मुख्य लक्ष्य सुधार एवं परिवर्तन है।

(iii) कानूनी न्याय तो न्यायालय के द्वारा ही दिया जाता है, किन्तु सामाजिक न्याय न्यायालय के अतिरिक्त विधायिका या जनप्रतिनिधियों द्वारा भी दिया जा सकता है।

(iv) सामान्यतया सामाजिक न्याय सामूहिक रूप से एक साथ कई लोगों को दिया जाता है।

(v) सामाजिक न्याय में गरीब की बात नहीं कही जाती है। वरन् इसके द्वारा समाज के अतिशय गरीब और सर्वथा वंचित तबके की कुछ भलाई की जाती है जो सामान्य न्याय के आगे का कार्य है।

सामाजिक न्याय के सिद्धान्त कानूनी न्याय पर आधारित नहीं होते हैं, और न इसे किसी अनुबन्ध के द्वारा क्रियान्वित किया जा सकता है। इस संबंध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि आज के समाज में कानूनी अधिकारों को एक गतिशील स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है। सब कुछ मिलाकर अति संक्षेप में सामाजिक न्याय का अर्थ निरूपण करते हुए

यह कहा जा सकता है कि जब कानूनी न्याय से बाहर जा कर कमजोर वर्ग के स्वार्थों का रक्षण एवं बढ़ावा देने के लिए कुछ किया जाता है तो उसे सामाजिक न्याय कहा जा सकता है। न्याय से संबंधित सामाजिक विचारों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि सामाजिक अभियन्त्रण के उपकरणों से संबंधित कानून सामाजिक विधिशास्त्र को एक नयी दिशा प्रदान करते हैं। मध्य प्रदेश में एक लेबर अपिलेटट्रिब्यूनल ने 1952 में यह कहा था कि हमारी फुल बेंच के द्वारा कोई फैसला दिया जायेगा तो वह सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में ही दिया जायेगा।

सामाजिक न्याय के संबंध में श्रम न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायलय ने जो निर्णय दिये हैं उनके परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय बराबरी पर आधारित एक सिद्धान्त है, जिसका प्रयोग न्यायालयों एवं अन्य संयंत्रों द्वारा कमजोर वर्ग के स्वार्थों के रक्षण हेतु किया जाता है। इसके अन्तर्गत कमजोर वर्ग के स्वार्थों के रक्षण हेतु समान्य न्याय से इतर हट कर कुछ और किया जाता है। सामाजिक न्याय के उपर्युक्त सिद्धान्तों द्वारा श्रम प्रबन्ध संबंधों एवं समाज के सक्षम वर्ग के संबंधों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया गया :-

(i) उच्चतम् न्यायलय ने इस परिप्रेक्ष्य में क्राउन एल्यूमीनियम वर्क्स के मामले में अपना निर्णय देते हुए कहा कि आज अनुबन्धों की स्वतंत्रता और तटस्थवाद के सिद्धान्तों का स्थान सामाजिक न्याय ने ले लिया है।

(ii) मजदूरी के बारे में एक विवाद में निर्णय लेते हुए उच्च न्यायालय ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है, उसके अनुसार यदि कोई औद्योगिक प्रतिष्ठान अपने क्षेत्र में निर्धारित न्यूनतम मजदूरी (न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1948 के अन्तर्गत) अपने कर्मचारियों को देने में असमर्थ है तो उस प्रतिष्ठान के अस्तित्व को कायम रखने का कोई अधिकार नहीं है।

(iii) सामाजिक न्याय की एक यह भी अपेक्षा है कि कोई नियोक्ता अपने औद्योगिक प्रतिष्ठान को तभी बन्द कर सकता है जब कि उसके लिए पर्याप्त कारण मौजूद हों। यदि कोई नियोक्ता कुछ अनपेक्षित कर्मचारियों से मुक्ति पाने के लिए एक स्थान पर अपने प्रतिष्ठान को बन्द कर देता है और दूसरे स्थान पर उसी प्रकार का प्रतिष्ठान पुनः स्थापित करता है तो सामाजिक न्याय के आधार पर ऐसी बन्दी का कोई औचित्य नहीं है।

(iv) पहले औद्योगिक प्रतिष्ठान में कार्यरत कर्मचारियों की सेवा समाप्ति का पूरा अधिकार नियोक्ता के पास होता था, परंतु सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य में ऐसे अधिकारों में भी कटौती की गयी है। अतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय के सिद्धान्त का महत्व आज बहुत बढ़ गया है।

सामाजिक न्याय के प्रत्यय की आलोचना भी कई दृष्टियों से की गयी है। इस संबंध में पहली बात तो यह ही कही जाती है कि सामाजिक न्याय शब्द ही 'मिसनामर' है। सभी प्रकार

का न्याय सामाजिक ही होता है फिर अलग से सामाजिक न्याय की शब्दावली का कोई औचित्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि बहुत सी स्थितियों में राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारीगण ही सामाजिक न्याय प्रदान करते हैं। ऐसे अधिकारियों का यदि कोई निहित स्वार्थ होता है तो वे न्याय से अलग हट कर सामाजिक न्याय के नाम पर अपने स्वार्थ को पूरा करने वाले निर्णय लेते हैं। इस प्रकार सामाजिक न्याय का दुरुपयोग हो सकता है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक न्याय की नीतियाँ स्वतंत्रता एवं समानता के सिद्धान्तों की अवहेलना करती है।

इसके अतिरिक्त भारत में यह बात देखने को मिलती है कि सामाजिक न्याय के आधार पर दी गयीं कुछ सुविधायें कुछ निश्चित लोगों को ही प्राप्त होती हैं तथा दूसरे अपेक्षाकृत अधिक जरूरतमन्द लोग इससे प्रायः वंचित ही रह जाते हैं।

अंततोगत्वा हम पुनः इस बात को दोहराते हैं कि सामाजिक न्याय सभी मानवीय प्राणियों हेतु एक न्यायोचित एवं ईमानदारीपूर्ण स्थिति है। यह भौतिक संसाधनों का न्यायोचित वितरण करती है। इसका उद्देश्य सामाजिक असंतुलन को मिटाकर सन्तुलन कायम करना है। इसके दो प्रमुख लक्ष्य हैं :-

(i) अन्याय की समाप्ति

(ii) सामाजिक संतुलन की स्थापना

समाजकार्य सामाजिक न्याय के ठोस पत्थर पर ही खड़ा है यह समानता स्वतंत्रता और उदारता में विश्वास रखता है। समाज कल्याण की सेवायें समाज के कमजोर वर्ग को दी जाती हैं क्योंकि वह सामाजिक न्याय पर आधारित है और समाजकार्य इन सेवाओं को प्रदान करने का प्रमुख माध्यम है।

(व) मानवाधिकार

मानवीय अधिकार वे अधिकार हैं जो अनुवांशिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को उसकी मानवीय प्रस्थिति के कारण प्राप्त होते हैं। कोई व्यक्ति किसी का मानवीय अधिकार छीन नहीं सकता है। क्योंकि ये अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के अंग होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति के बहुत से मूलाधिकार उसके मानवीय अधिकारों के अंग होते हैं।

व्यक्ति मानव समाज का एक सदस्य होता है, इस प्रकार उसे अपने जीवन रक्षण एवं जीवन शैली को और अधिक अच्छा बनाने के लिए कुछ अधिकार प्राप्त हैं, वही मानवाधिकार है। मानवाधिकार का संबंध व्यक्ति की प्रतिष्ठा से रहता है। इस दृष्टि से मानवाधिकार के कुछ प्रमुख निहितार्थ हैं :-

(i) पहली बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को मानवाधिकार प्राप्त है। प्रत्येक व्यक्ति बृहत्तर समाज का सदस्य होने के नाते कुछ मानवाधिकारों को प्राप्त किये होता है। मानवाधिकार नैतिक - अधिकारों के समान होते हैं और उनका क्रियान्वयन स्वयं व्यक्ति की आत्मचेतना में निहित होता है। मानवाधिकारों के अन्तर्गत कानूनी अधिकार भी आते हैं, इसके अन्तर्गत संविधान के मूल अधिकार भी निहित होते हैं, किन्तु ऐसे अधिकार के साथ कुछ विशिष्ट व्यवहारों की भी अपेक्षा होती है।

(ii) मानवाधिकार के बारे में की गयी किसी अपील का संबंध पूरी दुनिया से होता है और यदि किसी राज्य में मानवाधिकारों की उपेक्षा या अवहेलना की जा रही है तो विदेशी राज्य भी उक्त मामले में हस्तक्षेप कर सकते हैं। इस प्रकार मानवीय अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में किसी किसी राज्य की संप्रभुता पर बाहर से हस्तक्षेप किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय अधिकारों का असीमित क्षेत्र होता है। अन्य अधिकारों की भाँति इस प्रकार के अधिकार भी जनशांति, सामाजिक न्याय और राजनैतिक सुरक्षा आदि के परिप्रेक्ष्य में प्रतिबंधित किये जा सकते हैं। प्रत्येक देश की अपनी एक सांस्कृतिक विरासत और सीमा होती है, उसके परिप्रेक्ष्य में मानवीय अधिकारों के उपभोग पर एक विवेकशील प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। इसी बिन्दु के आधार पर मानवीय अधिकारों के सर्वव्यापी उपयोग में बाधा उत्पन्न होती है।

(iii) मानवीय अधिकारों की परिभाषा में उस समय एक कठिनाई इस कारण उत्पन्न होती है कि इस संबंध में कोई ऐसी अवधारणा नहीं है विश्व व्यापी स्तर पर स्वीकृत हो। स्थान, समय, और विभिन्न व्यक्तियों के परिप्रेक्ष्य में इसके अन्तर्गत वैभिन्नता उत्पन्न होती रहती है। मानवअधिकारों को परिचालित करने वाले आधारभूत प्रतिमान हैं मानवीय व्यक्तित्व और उसकी प्रतिष्ठा को रंग जाति धर्म और लिंग का भेदभाव किये बिना स्वीकार किया जाना। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये इन अधिकारों की पूर्ति जरूरी है। अतः किसी भी परिभाषा के बन्धन से मुक्त होकर हम कह सकते हैं कि मानवीय अधिकार वे मौलिक अधिकार हैं जो विश्व के किसी भी भाग में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को केवल इसलिये प्राप्त हैं कि उसने एक मानवीय प्राणी के रूप में जन्म लिया है।

(iv) संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकार के सर्वव्यापी अधिघोषणा को स्वीकार किया। इसके द्वारा विश्व के सभी मानवीय प्राणियों के आधरभूत नागरिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता को मान्यता प्रदान की गयी। इस विश्व-व्यापी मानवाधिकार की अधिघोषणा में कहा गया कि हर व्यक्ति स्वतंत्र रूप से पैदा होता है और सभी को एक समान अधिकार एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस अधिघोषणा का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक तर्क-शीलता एवं विवेकशीलता पाई जाती है और उससे आशा की जाती है कि दूसरे व्यक्तियों के साथ भ्रातृत्व की भावना

से व्यवहार करे। प्रत्येक व्यक्ति को रंग जाति धर्म एवं भाग्य के भेदभाव के बिना सभी प्रकार की स्वतंत्रता के अधिकार प्राप्त हैं। जो इस अधिघोषणा में निहित हैं। प्रत्येक को जीवनयापन उदारता एवं सुरक्षा के अधिकार प्राप्त हैं। किसी को न तो गुलाम बनाया जा सकता है न किसी को किसी प्रकार के व्यापार से प्रतिबंधित किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के साथ क्रूरता पूर्वक व्यवहार नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक स्थान पर कानून द्वारा मान्य है। प्रत्येक व्यक्ति को कानून के अन्तर्गत समान अधिकार प्राप्त हैं।

इस अधिघोषणा में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को संबंधित राज्य की सीमा के भीतर कहीं भी आने और जाने की स्वतंत्रता है। प्रत्येक व्यक्ति को संपत्ति, विचारों की स्वतंत्रता आत्मचेतना और पूजा तथा धर्म परिवर्तन की स्वतंत्रता है। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य, सामाजिक सुरक्षा, आराम करने, शिक्षा एवं रहन-सहन के उच्च्य स्तर के प्राप्ति की स्वतंत्रता है।

मानवाधिकारवादी मैट्रिक्स

पृथ्वी पर उपलब्ध सभी जीवधारियों में 'मानव' प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कृति है। वह चाहे किसी भी लिंग, वर्ग या जाति का हो, किसी भी देश, प्रदेश या क्षेत्र में रहता हो अथवा किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या मत का मानने वाला गरीब या अमीर हो, सभी को अपने समुचित विकास, संरक्षण और सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार है। लेकिन वर्तमान विश्व में मानव के मूलभूत अधिकारों की रक्षा हेतु पर्याप्त कानूनी प्रयास किये जाने के बावजूद आज मानवाधिकारों के उल्लंघन की स्थिति भयावह है।

मानवाधिकारों का उल्लंघन केवल भुखमरी या महिलाओं के लिये आवश्यक स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी के कारण होने वाली आकस्मिक मौतों के रूप में नहीं, बल्कि आज इसमें अनेक घिनौने रूप सामने आ रहे हैं। धर्म की आड़ में आतंकवाद, निजी स्वार्थ, मृत्युदंड, शोषण, छोटे-मोटे अपराधों के लिये सार्वजनिक रूप से कोड़े मारना, हाथ - पैर काटने जैसी सजाएँ देकर विश्व के अनेक भागों में आज मानवाधिकारों की होली जलाई जा रही है। मानवाधिकार की अवहेलना कर आज निरीह बच्चों और महिलाओं पर आमानुषिक अत्याचार किया जा रहा है। वास्तविकता यह है कि संपूर्ण विश्व में संपन्न कहा जाने वाला वर्ग असहाय वर्ग को दासता और भुखमरी का जीवन जीने के लिए विवश करता आ रहा है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की हाल में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार सारे विश्व में बाल श्रमिकों की संख्या 25 करोड़ तक पहुँच गयी है। भारत में औसतन हर 5 बच्चों में से एक बच्चा बाल श्रमिक है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ सती प्रथा, दहेज हत्या, बाल विवाह, बाल यौन शोषण आदि मानवाधिकारों के खुल्लमखुल्ला हनन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहना उचित नहीं होगा कि मानवाधिकार उल्लंघन के अधिक मामले विकासशील देशों यथा - अफ्रीकी, दक्षिणी एशियाई अथवा दक्षिणी अमेरिकी देशों में ही अधिक नहीं होते हैं। संपन्न और विकसित कहे जाने वाले देश भी मानवाधिकार उल्लंघन के मामले में किसी से पीछे नहीं हैं। यह बात अलग है कि विकसित और विकासशील देशों के संदर्भ में मानवाधिकार उल्लंघन के मामलों की प्रकृति अलग-अलग है।

मानवाधिकारों के प्रकार -

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित मानवाधिकारों में संसार के प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त 30 प्रकार के अधिकारों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। पहली श्रेणी में 'आर्थिक अधिकारों' को रखा गया है, जिनके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों को भोजन, वस्त्र, मकान, रोजगार और सामान्य जीवन स्तर सुनिश्चित कराना है। इन सभी अधिकारों को सभी नागरिकों को उपलब्ध कराना संबंधित देशों की सरकारों का मूलभूत दायित्व भी निर्धारित है। दूसरी श्रेणी में 'राजनैतिक अधिकारों' को रखा गया है, जिनके अन्तर्गत कानून के समक्ष सभी लोगों को बराबर माना गया है। इसके अन्तर्गत लोगों को विचार व्यक्त करने का अधिकार, गोपनीयता, राष्ट्रीयता, चुनाव और शासन में भागीदारी का अधिकार तथा संगठन बनाकर शांतिपूर्ण सभा करने की स्वतंत्रता दी गयी है। तीसरी श्रेणी में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों' को रखा गया है, जिनके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को शैक्षिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने की आजादी प्रदान की गयी है। इस प्रकार मानवाधिकार से तात्पर्य "किसी भी जाति, धर्म, लिंग अथवा अन्य किसी सामाजिक पहचान के आधार पर व्यक्तियों में किसी भी प्रकार के भेदभाव को नकारते हुए सभी व्यक्तियों को समुचित शिक्षा, रहन-सहन, जीवन-यापन, मान-मर्यादा और आत्म सम्मान के साथ समाज में रहने के समान रूप से अवसर प्रदान करना है।"

भारत में मानवाधिकारों के संरक्षण की पृष्ठभूमि एवं वर्तमान स्वरूप-

"वसुधैव कुटुम्बकम्" का सार्वभौमिक सिद्धांत ही हमारी भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र रहा है, जिसमें न केवल अपने देश के लोग बल्कि संपूर्ण संसार में सभी प्राणियों को एक ही परिवार का सदस्य माना गया है। हमारे पौराणिक ग्रंथ गवाह हैं कि वैदिक काल से ही हमारे यहाँ स्त्री और पुरुषों को समान अधिकार प्राप्त हैं। मानवाधिकार की परिकल्पना और व्यवहारिक जीवन में उसका समावेश भारतीय संस्कृति का आधरभूत गुण रहा है, जिसे हजारों वर्षों तक हम अपने व्यवहारिक जीवन में अपनाते रहे। बाद में लगभग डेढ़ हजार वर्षों में विदेशी आक्रमणों और आतताई शासकों की कलुषित नीतियों के कारण हमारी संस्कृति के मूल्य ढीले पड़ते चले गये और इसका दुष्प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमारे देश के संविधान में बिना किसी भेदभाव के सभी

देशवासियों को मौलिक अधिकारों को प्रदान किया जाने का प्रावधान भी हमारी पुरातन समृद्ध संस्कृति को आधार बनाते हुए किया गया है। वास्तव में हमारे संविधान में ऐसे समाज की परिकल्पना की गयी है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता पर आधारित हो। इसीलिए इसमें समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के लिए प्रतिबद्धता को रेखांकित भी किया गया है। संविधान में प्रजातंत्र के मूल भाव को ध्यान में रखकर ही मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के अंतर्गत समानता और स्वतंत्रता को सन्निहित करने की व्यवस्था निर्धारित की गयी है। स्वतंत्रता और समानता के अन्तर्गत ही संरक्षण गृहों में रहने वालों की अमानवीय स्थितियों में जीने और चिकित्सीय परीक्षण में उनमें से अधिकांश के मानसिक रोगों से ग्रस्त होने पर हस्तक्षेप करने और आवश्यक अनुतोश दिये जाने के आदेश राज्य सरकार को देने का प्राविधान है। वर्ष 1986 में पटना में महिला संरक्षण गृह की आदिम स्थितियों में रहने को मजबूर बंदी महिलाओं की स्थितियों को न्यायिक चेतना को झकझोरने वाला बताते हुए सर्वोच्च न्यायलय द्वारा इसे अनुच्छेद 21 के विरुद्ध घोषित किया गया और महिला संरक्षण गृहों में उचित वैकल्पिक सुधारों को अविलम्ब लागू करने के निर्देश दिये गये। वर्ष 1986 में ही उड़ीसा के कालाहांडी जिले में भुखमरी की घटनाओं पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जनहित याचिका को गंभीरता से लेकर हस्तक्षेप किया गया और राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त सहायता की समीक्षा और मूल्यांकन भी किया गया। बच्चों की अनिवार्य शिक्षा के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1993 में एक महत्त्वपूर्ण फैसला देते हुए कहा कि शिक्षा का अधिकार अनुच्छेद 21 का अपरिहार्य अंग है और 14 वर्ष तक के प्रत्येक बच्चे को मुफ्त शिक्षा पाना मूल अधिकार है। इस प्रकार के अनेक निर्णय सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों द्वारा समय-समय पर दिये गये हैं, जिनमें संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदत्त मूलभूत अधिकारों को उन्हें उपलब्ध कराने के लिए सरकार को निर्देश जारी किये गये हैं और उनका अनुपालन सुनिश्चित कराने का प्रयास किया गया है।

स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में न्यायपलिका द्वारा मानव अधिकारों के संरक्षण की दिशा में अपने उत्तरदायित्व का काफी निर्वहन किया गया है। लेकिन यह भी सत्य है कि सामान्यतया पीड़ित व्यक्ति को न्यायपालिका से न्याय मिलने में काफी समय लग जाता है। इसी कटु सत्य को ध्यान में रखते हुए मानवाधिकार हनन से संबंधित मामलों को त्वरित गति से निस्तारित कराने के उद्देश्य से वर्ष 1993 में देश में 'मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम' बनाया गया, जिसमें मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, राज्य मानवाधिकार आयोग के अतिरिक्त जिला मानवाधिकार आयोग तक के गठन की व्यवस्था रखी गयी है। इस अधिनियम में की गयी व्यवस्थाओं के अतंर्गत देश में 23 सितम्बर, 1993 को राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोगों का गठन कर इस व्यवस्था को अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयास भी किया जा रहा है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे देश में विशेष रूप से सामाजिक आर्थिक अधिकारों से वंचित रहे लोगों (महिलाओं, वृद्धों, विकलांगों, बच्चों एवं पिछड़े वर्गों,) के लिए समानता के सिद्धांत के आधार पर सभी अधिकारों की सुरक्षा हेतु सरकार ने समय-समय पर संविधान सम्मत विभिन्न कानून भी बनाये हैं और उनका अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए भरसक प्रयत्न भी किये जाते रहे हैं। कुछ विशिष्ट वर्गों के लिए उत्थान के लिए विशेष सुझाव आमंत्रित करने तथा सरकार द्वारा उनके कल्याण एवं सुरक्षा के लिए किये गये प्रावधानों के क्रियान्वयन पर निगरानी रखने हेतु विभिन्न 'आयोगों' का भी गठन किया गया है। जैसे संविधान के 65वें संशोधन के प्रावधानों के अनुसार देश में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लोगों के कल्याण और उनके हितों की निगरानी और सरकार को अवश्यक परामर्श देने के उद्देश्य से राष्ट्रीय अनुसूचित जाति-जनजाति आयोग' के गठन की व्यवस्था की गयी है। अनुसूचित जनजाति के लोगों की विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनके सभी प्रकार के अधिकारों के संरक्षण पर प्रभावी निगरानी रखने के उद्देश्य से एक राष्ट्रीय जनजाति आयोग' गठित करने का प्रस्ताव भी केंन्द्र सरकार के विचारधीन है। इसी प्रकार संविधान की धारा 15 (4) में किये गये प्रावधानों तथा सर्वोच्च न्यायालय के 6 नवम्बर, 1993 के मंडल आयोग से संबंधित फैसले के क्रम में पिछड़े वर्गों के लोगों के हितों की रक्षा तथा उन्हें सुरक्षा एवं न्याय दिलानें हेतु 14 अगस्त, 1993 को राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन भी किया गया है।

इसी प्रकार महिलाओं के संवैधानिक एवं कानूनी अधिकारों के प्रभावी क्रियान्वयन तथा उनके उल्लंघन के मामलों की छान-बीन और परीक्षण हेतु वर्ष 1992 में एक 'राष्ट्रीय महिला आयोग' का गठन किया गया। देश में धार्मिक अल्पसंख्यकों के संवैधनिक हितों की रक्षा, उनके कल्याण के लिए चलाये जा रहे कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से जनवरी 1978 में गठित 'अल्पसंख्यक आयोग' का अधिकार क्षेत्र बढ़ा कर 1992 में इसे राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग के रूप में पुनर्गठित किया गया है। इसी प्रकार बच्चों को शोषण से मुक्ति दिलाने तथा उनके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक अधिकारों की सुरक्षा हेतु विशेष निगरानी सुनिश्चित करने के अहम् उद्देश्य की पूर्ति हेतु हाल ही में 'राष्ट्रीय बाल आयोग' के गठन का निर्णय लिया गया है।

भारत में 'मानवाधिकार आयोग' के उद्देश्य और कार्यप्रणाली :

देश में मानवाधिकार आयोग का गठन मानवाधिकार हनन के मामलों की छानबीन कर पीड़ित व्यक्तियों को संविधान सम्मत न्याय को त्वरित गति से दिलाने के अहम् उद्देश्य को लेकर किया गया। इसकी कार्यप्रणाली का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :-

1. मानवाधिकार हनन से संबंधित किसी सूचना, आवेदन या दमन के शिकार व्यक्ति द्वारा शिकायत किये जाने पर पूरे मामले की छानबीन कराया जाना।

2. मानवाधिकार से संबंधित कानूनी प्रावधानों द्वारा प्रदत्त मानवाधिकारों की समीक्षा करना तथा आवश्यकतानुसार सुझाव देना।
3. मानवाधिकार को प्रभावित करने वाली घटनाओं जैसे आतंकवाद, सामूहिक हिंसा आदि की समीक्षा कर संविधान सम्मत सुझाव देना।
4. समाज के विभिन्न वर्गों में मानवाधिकार संबंधी जागरुकता पैदा करना तथा संबंधित मुद्दों के सर्वेक्षण को प्रोत्साहित करना।
5. आवश्यक महसूस किये जाने पर मानवाधिकार आयोग के द्वारा उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय को हस्तक्षेप की सिफारिश करना।
6. किसी राज्य के किसी संस्थान द्वारा संबंधित व्यक्तियों के अधिकार हनन की स्थिति में उचित वैधानिक स्थिति बहाल करने के लिए संबंधित राज्य को सूचित कर मामले की समीक्षा करना।
7. किसी व्यक्ति या समूह को दोषी मानने की स्थिति में राज्य या केंन्द्र सरकार को कानूनी कार्यवाही करने की अनुशंसा करना।
8. किसी संगठन के मुद्दे से संबंधित उत्तर की समीक्षा कर आवश्यकतानुसार उसे प्रकाशित करना।
9. मानवाधिकार से वंचित किसी व्यक्ति या उसके परिवार को तत्काल मुआवजा देने की अनुशंसा करना।
10. प्रत्येक एक वर्ष की अवधि में आयोग द्वारा किये गये कार्यों और गतिविधियों की पूरी रिपोर्ट राष्ट्रपति को उपलब्ध कराना।

मानवाधिकारों के समुचित संरक्षण हेतु भावी रणनीति :

मानवाधिकारों के संरक्षण की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय स्तर के अतिरिक्त यद्यपि हमारे देश में भी कई स्तरों से विभिन्न कदम उठाये गये हैं, जिनका अच्छा प्रभाव भी दृष्टिगोचर हुआ है, लेकिन वर्तमान में मानवाधिकारों के हनन के मामलों की बढ़ती संख्या और उनकी नयी – नयी प्रकृति से इस दिशा में अधिक कारगर और व्यावहारिक रणनीति तैयार करने और उसे प्रभावी तरीके से अमल में लाने के लिये कुछ अतिरिक्त प्रयास करने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस दिशा में निम्नांकित सुझाव विशेष रूप से उपयोगी हो सकते हैं।

1. देश के नागरिकों को मानवाधिकारों के संबंध में जानकारी देने, उनमें जागरूकता उत्पन्न करने, और इन अधिकारों की प्राप्ति हेतु सरकार पर दबाव बनाने, इनके उल्लंघनकर्ताओं को समुचित दंड दिलाने और उल्लंघनकर्ताओं के प्रति दंडात्मक कार्यवाही के लिए प्रयत्न करने आदि के लिए विशेष रूप से मीडिया, स्वयंसेवी सेगठनों और महिला संगठनों को अति महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करना होगा।

2. आज किसी भी मामले में एक अभियुक्त की निरुद्धि, लम्बी अवधि वाले न्यायिक परीक्षण, पुलिस द्वारा की जा रही मुठभेड़ों, पुलिस थानों में महिलाओं के साथ बलात्कार, पुलिस अभिरक्षा में लोगों की मौतें तथा पुलिस उत्पीड़न आदि को तो मानवाधिकार के विषय - वस्तु के रूप में लिया जा रहा है तथा उनके संबंध में सरकार की ढिलाई को तो बहुत बढ़ा - चढ़ाकर जनता के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है, लेकिन ऐसे अभियुक्तों के द्वारा किये गये अपराधों के कारण जिन पीड़ित व्यक्तियों का हनन हो रहा है, उनके प्रति हम बहुत अधिक गंभीर दिखाई नहीं पड़ते। चूंकि दोनों ही परिस्थितियों में मानवाधिकारों का हनन होता है, अतः केवल स्थिति को उजागर करना अथवा उसको बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करना ही आवश्यक नहीं है वरन् वर्तमान समय की आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति के चाहे वह प्रताड़ित हो अथवा अभियुक्त, दोनों के ही मानवाधिकारों की सुरक्षा की ओर बराबर ध्यान दिये जाने के हेतु आवश्यक व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए।

3. देश के भावी नागरिकों में जागरुकता बढ़ाने और उन्हें तथ्यपरक जानकारी उपलब्ध कराने के लिए दीर्घकालीन उपाय के रूप में शिक्षा के सभी स्तरों पर मानवाधिकारों के संबंध में तथ्यपरक जानकारी को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग निर्धारित करना निश्चित रूप से उपयोगी कदम होगा।

4. सभी स्तर के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को मानवाधिकारों के संबंध में कानून सम्मत, तथ्यपरक और व्यावहारिक जानकारी देने के लिए लघु अवधि के विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन सुनिश्चित किया जाना चाहिये। इन कार्यक्रमों की व्यापक रूपरेखा तैयार करते समय संविधान एवं कानून विशेषज्ञों के साथ-साथ मानवाधिकार से जुड़े संगठनों, स्वयंसेवी संस्थाओं, महिला संगठनों आदि के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित करते हुए उनके सुझाव प्राप्त किया जाना चाहिये।

5. देश में स्वयंसेवी संगठनों और महिला संगठनों ने महिला उत्पीड़न और मानवाधिकार उल्लंघन से संबंधित मामलों को प्रकाश में लाकर संबंधित लोगों को न्याय दिलाने में उत्कृष्ट भूमिका का निर्वहन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने भविष्य में मानवाधिकार उल्लंघन के अनेक संभावित मामलों पर इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से रोक लगाने का भी महत्वपूर्ण कार्य किया है, लेकिन इसके साथ-साथ उनसे यह भी अपेक्षा है कि वे जन-साधारण को विभिन्न माध्यमों के द्वारा मानव अधिकारों के संबंध में अधिक से अधिक शिक्षित करने का प्रयास करें। ऐसा करने पर निश्चित रूप से इस दिशा में उनका और अधिक उल्लेखनीय योगदान हो सकेगा। देश में हुए 73वें और 74वें संविधान संशोधन के परिप्रेक्ष्य में त्रिस्तरीय पंचायतों को सौपें जा रहे विभिन्न महत्वपूर्ण दायित्वों को देखते हुये त्रिस्तरीय पंचायतों तथा विभिन्न संगठनों को मानवाधिकारों के संबंध में जनता को शिक्षित करने तथा मानवाधिकारों के उल्लंघन के मामलों को रोकने के लिए प्रभावी कदम उठाना चाहिए।

आशा है कि उपरोक्त कदम मानवाधिकार संरक्षण की दिशा में काफी उपयोगी और प्रभावी साबित होंगे और इनसे देश में बढ़ते हुए मानवाधिकार के उल्लंघन के मामलों को रोकने में आशातीत सफलता प्राप्त हो सकेगी।

मानवाधिकार एवं समाजकार्य

चूँकि समाजकार्य व्यक्ति की स्वतंत्रता उसकी आंतरिक क्षमता की वृद्धि एवं उसकी प्रतिष्ठा में विश्वास करता है, और ये तत्व मानवाधिकारों के भी मूल तत्व हैं, इस दृष्टि से मानवाधिकारों के संरक्षण में समाजकार्य की महती भूमिका हो सकती है। समाजकार्य मानवाधिकारों के संरक्षण एवं विकास में सामाजिक क्रिया का मुख्य रूप से सहारा ले सकता है। इस दृष्टि से उसकी कुछ प्रमुख भूमिकायें निम्नलिखित हो सकती हैं :-

(i) सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आज के युग में सामाजिक परिवर्तन इतनी त्वरित गति से हो रहें हैं कि वर्तमान कानून उनके परिप्रेक्ष्य में अनुपयोगी होते जा रहे हैं। इस दृष्टि से समाजकार्य की प्रमुख भूमिका यह है कि सामाजिक क्रिया के माध्यम से विद्यमान कानूनों में सरकार पर दबाव डालकर बदलाव लाये और उन्हें सामाजिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में निरन्तर उपयोगी बनाये।

(ii) भारत में मानवाधिकार के विभिन्न आयामों के क्रियान्वयन में दूसरी बड़ी समस्या जातिवाद की है। हिन्दू समाज में जातिवाद के आधार पर जन्म से ही लोग बड़े और छोटे हो जाते हैं, दलित परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने वाले व्यक्ति की अपेक्षा हीन, उपेक्षित, और छोटा माना जाता है। वर्तमान चुनाव और वोट की राजनीति ने इस समस्या को और भी अधिक हवा दी है। इसका भी समाधान सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक क्रिया द्वारा कर सकता है। यदि देश के विभिन्न भागों में ऐसे आन्दोलन चलाये जायें जो जाति-पाँति एवं छुआ-छूत के भेदभाव को मिटाते हैं तो ही यह समस्या अपने आप सुलझ सकती है।

(iii) समाज कार्य के दार्शनिक मूल्य उसके केन्द्रबिन्दु हैं। ये मूल्य मानवाधिकार को अपने आप बढ़ावा देते हैं। यदि सामाजिक क्रिया के माध्यम से सामाजिक कार्यकर्त्ता इन मूल्यों को बढ़ावा देने पर बल देगा तो मानवाधिकार के संरक्षण एवं विकास की पृष्ठभूमि अपने आप ही निर्मित हो जायगी।

(स) महात्मा गांधी द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक कार्य एवं ग्राम विकास

(i) गांधी जी के महत प्रयासों का उद्देश्य केवल देश को राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्रता दिलाना ही नहीं था अपितु वे सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी देश को स्वतंत्र कर उसका

सर्वांगीण विकास करना चाहते थे। भारत चूँकि मूलतः गाँवों का ही देश है, और भारत की आत्मा उसके गाँवों में ही बसती है, अतः वे मुख्य रूप से गाँवों का आर्थिक एवं सामाजिक विकास करना चाहते थे। उनका यह उद्देश्य था कि ग्रामीण अंचलों में रचनात्मक कार्यकर्त्ता अपने रचनात्मक क्रिया-कलापों के द्वारा गाँवों के निवासियों में स्वयं उनकी आर्थिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक भूख को जागृत करें। ऐसे कार्यकर्त्ताओं को उन्होंने रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की संज्ञा दी और उनके द्वारा संचालित कार्यक्रमों को उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम कहा। इस कारण गांधी जी का ग्रामीण विकास कार्यक्रम रचनात्मक कहा जाता है।

(ii) इन कार्यक्रमों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि ये कार्यक्रम समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल हैं और व्यापक अर्थ में समाज कल्याण के क्षेत्र में ग्रामीण विकास के ये नवीन कार्यक्रम हैं।

(iii) रचनात्मक कार्यकर्त्ता मुख्य रूप से परिवर्तन के अभिकर्ता हैं।

(iv) स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात इनमें से अधिकांश कार्यकर्त्ता सर्व सेवा संघ के मंच के तले आये। ऐसे कार्यकर्त्ताओं का मिशन है ऐसे ग्रामीण समाज का निर्माण, जहाँ सामाजिक एवं आर्थिक परेशानियाँ अपेक्षाकृत कम हों। यही सर्वोदय का दर्शन है, जिसे गान्धियन रचनात्मक कार्यकर्त्ता प्राप्त करना चाहते हैं।

(v) रचनात्मक कार्यक्रम का लक्ष्य स्वयं एक इच्छा और निश्चय शक्ति जागृत कर ग्रामीण समाज में सर्वांगीण परिवर्तन लाना है।

(vi) गांधी जी की दृष्टि से इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब रचनात्मक कार्यकर्त्ता सामान्य जन को शिक्षित कर उसकी आंतरिक क्षमताओं को जागृत करें और वे लोग अपनी शक्ति द्वारा समाज में अपेक्षित परिवर्तन लाने को स्वयं उद्यत हों और इस कार्य हेतु रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं को राज्य या किसी अन्य अभिकरण का सहारा लेने की आवश्यकता होती है।

(vii) रचनात्मक कार्य जीवन के सभी पक्षों को अपने में समाहित करता है। यह बहुत ही लचीला होता है, इसके अन्तर्गत ऊपर से कोई कार्य या आदेश थोपा नहीं जाता, अपितु चीजें स्वयं नीचे के तल से आती हैं।

(viii) बेरोजगारों को सहायता देना अथवा जरूरतमंदों के बीच कुछ सुविधाओं का वितरण रचनात्मक कार्य का अंतिम उद्देश्य नहीं है, वरन् इसका अन्तिम उद्देश्य लोगों की इच्छाशक्ति का सशक्तीकरण करना है, ताकि लोग एक गैर हिंसात्मक ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था की ओर अग्रसर हो सके।

(ix) रचनात्मक कार्य एक संपूर्ण दर्शन है और यह एक प्रकार का सामाजिक एवं आर्थिक नियमन है। यह व्यक्ति या समूह के पुनर्स्थापन का कोई अकेला प्रयास नहीं है, जिसमें विभिन्न

समस्याओं से ग्रस्त समूहों का समायोजन किया जाये। रचनात्मक कार्य की प्रकृति क्रांतिकारी है और इसके द्वारा ग्रामीण समाज में संपूर्ण रूप से परिवर्तन करने का प्रयास किया जाता है।

(x) व्यक्ति एवं समाज के प्रति गांधी जी की अभिवृत्ति समाज के अस्तित्व के दार्शनिक पक्षों से संबंधित है। इस परिप्रेक्ष्य में विनोबा भावे ने आध्यात्म एवं विज्ञान के प्रति एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण अपनाया। आध्यात्मिकता गांधी जी के रचनात्मक कार्य की एक प्रविधि एवं उपकरण है और इसी परिप्रेक्ष्य में गांधीवादी आज मन्त्र एवं प्रतिज्ञा पर अधिक बल देते हैं। संतविनोबा ने आध्यात्मिकता को नये सिरे से अनुस्थापित कर उसका संबंध विज्ञान से जोड़ा और कर्म पर विशेष बल दिया। इस प्रकार गांधीयन कार्यकर्त्ता आध्यात्मिकता की भूमिका पर बल तो देते हैं किंतु इसके साथ वे विज्ञान, प्रौद्योगिकी, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र की भूमिका को भी पूरा महत्व देते हैं।

(xi) गांधियन कार्यकर्त्ता मानवमात्र की प्रतिष्ठा और जनतांत्रिक मूल्यों की महत्ता तो स्वीकार करते हैं किंतु उसके साथ ही उनका यह विश्वास है कि यदि व्यक्तियों की शारीरिक आवश्यकतायें अनन्त होती जायेंगी तो स्वस्थ मानसिकता का विकास नहीं हो पायेगा।

(xii) गांधी जी के रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के इर्द गिर्द एक नैतिक ज्योतिपुँज विद्यमान रहता है। जिससे वे सामान्य जन से कुछ ऊपर उठे रहते हैं और सामान्यजन उन्हें पूर्णतया स्वीकार नहीं करते।

(xiii) रचनात्मक कार्यकर्त्ता सामाजिक परिवर्तन के प्रति भी एक नवीन दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से दूसरों का विकास करने का प्रयास करते हैं, इसका प्रतिफल यह होता है कि जनसामान्य उनके प्रति समर्पित होकर उनका सहयोग करता है।

(xiv) गांधीयन वर्कर के प्रशिक्षण में ग्रामीण आवश्यकताओं और उनके समाधान सम्बन्धी कौशल के जनन और ग्रामीण स्तर के कार्यकर्त्ताओं के विकास पर विशेष बल दिया है। प्रशिक्षुओं को वरिष्ठ नेता के साथ रखा जाता है और वह वरिष्ठ नेता ही अपने कार्य व्यवहारों कें द्वारा ऐसे प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण देता है। बाद में प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षण दिलाया जाता है। आज बहुत से आश्रम, संस्थान एवं नियमित प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित हो गये हैं, जहाँ ऐसे प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षित किया जाता है जैसे-ग्राम स्वराज्य विद्यालय एवं शान्ति सेना केन्द्र इत्यादि। ये प्रशिक्षण संस्थान ग्रामीण आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में ऐसे प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण देते हैं और कुछ के द्वारा ग्रामीण हस्तकलाओं का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। रचनात्मक समाज कार्यकर्त्ताओं की एक प्रमुख आचार संहिता यह है कि उनके रहन-सहन का स्तर अति साधारण हो। साधारण ग्रामीणों एवं रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के रहन-सहन में कोई विशेष अन्तर न हो।

सब कुछ मिलाकर रचनात्मक कार्य का उद्देश्य ऐसे ग्रामों का निर्माण करना है जहाँ व्यक्ति समूह एवं समुदाय को केवल आत्मनिर्भरता ही न प्राप्त हो वरन् उनकी क्षमताओं का

पूर्ण विकास हो, ताकि वे व्यक्तिगत रूप से संतोषप्रद एवं सामाजिक रूप से उपयोगी जीवन यापन कर सकें। रचनात्मक कार्यकर्त्ता रचनात्मक कार्यक्रम एवं खादी, श्रमदान और शांतिसेना के विविध कार्यक्रमों पर ही निर्भर नहीं रहता है वरन् कार्यकर्त्ताओं से अपेक्षा की जाती है कि वे संबंधित ग्रामों में जाकर वहाँ के निवासियों की सहायता से विकास की योजनायें बनायें और ग्रामवासियों की ही सहायता से लक्ष्यों की प्राप्ति करें।

रचनात्मक कार्यकर्त्ता लोकशक्ति के माध्यम से ग्राम नवनिर्माण के लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं। लोकशक्ति समाज कार्य की सामाजिक क्रिया की अपेक्षा एक अलग विधि है। इस शक्ति के निर्माण में राज्य की कोई सहायता नहीं ली जाती है। इसके अन्तर्गत देश, समाज या स्थानीय समुदाय के लोग एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। इसके पीछे नैतिक शक्ति कार्य करती है। सामाजिक शक्ति एवं विकास की यह महान स्रोत है।

लोकशक्ति अभी भी विकासशील अवस्था में है, यह शक्ति का संघर्ष है, इसके द्वारा मुख्य रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि व्यक्ति की छिपी शक्तियों को बाहर निकाला जाये और उसका समाजोन्मुख विकास किया जाये।

रचनात्मक कार्य का दर्शन

(अ) रचनात्मक कार्य एवं ग्राम निर्माण संबंधी गांधी जी के उपागम सर्वोदय दर्शन पर आधारित हैं। इस विचारधारा का मुख्य तत्व यह है कि व्यक्ति आवश्यक रूप से अच्छा होता है। अच्छाई हर व्यक्ति की प्रकृति में निहित होती है, और यह एक ईश्वरीय देन है। सत्य की खोज, अहिंसा, साहस, त्याग आदि तत्व अच्छाई में निहित होते हैं। अवांछित स्थितियों में अच्छाई में बुराइयाँ मिल जाती हैं, जैसे – सामन्तवाद एवं पूजीवादी विचारधाराओं में अच्छाई भी प्रभावित होने लगती हैं। तथापि सर्वोदय दर्शन के अनुयायी इस बात में विश्वास करते हैं कि समुचित शिक्षण के द्वारा कोई भी अपनी अनुवांशिक अच्छाइयों के प्रति सचेत हो सकता है।

सर्वोदय दर्शन के कुछ प्रमुख बिन्दु हैं (i) गांधी जी के आदर्शों पर विश्वास, (ii) भूमिसुधार के तात्कालिक कार्यक्रमों पर ध्यान का केन्द्रीकरण, (iii) ग्राम और कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना तथा शांति सेना का विकास। इस दर्शन के अन्तर्गत संचालित तात्कालिक कार्यक्रम, वर्तमान सामाजिक मूल्यों के अनुकूल है और राजकीय कार्यक्रमों के पूरक हैं, ये कार्यक्रम मुख्यतया देशी प्रकृति के कार्यक्रम हैं। इनके द्वारा उन भारतीय मूल्यों के अनुरक्षण का प्रयास किया जाता है जो समाप्तप्राय होते जा रहे हैं। ये मूल्य प्राचीन ग्रामीण समाज के मूल्य हैं।

(ब) सर्वोदय दर्शन का दूसरा महत्वपूर्ण मूल्य यह है शारीरिक श्रम भी मानसिक श्रम के समान महत्वपूर्ण हैं। शारीरिक श्रम के बगैर मानसिक श्रम का कोई महत्व नहीं है। शारीरिक एवं मानसिक श्रम के पारिश्रमिक के भुगतान की असमानता भी समाज में एक लंबी खाई उत्पन्न

करती है। इसी प्रकार यदि ग्रामीण एवं नगरीय समाज में बड़ा अन्तर होगा और दोनों एक साथ एक दूसरें के परिपूरक नहीं हो पायेंगे तो सामाजिक विकास के लक्ष्य नहीं प्राप्त हो सकते हैं।

(स) धर्म का अर्थ है अपने धर्म के प्रति आस्था एवं प्यार, दूसरे धर्मों के प्रति सम्मान तथा नास्तिकों के प्रति उदासीनता।

(द) सर्वोदय दर्शन के अनुसार समाज के सभी सदस्यों में सामूहिक सहयोग की भावना से आंशिक रूप से भक्ति की कुछ भावना जनित होनी चाहिए। आज के वैज्ञानिक युग की एक महत्वपूर्ण माँग है साम्ययोग, जिसे सभी जन को पालन करना चाहिए।

(र) सर्वोदय का आर्थिक दर्शन ग्रामदान एवं भूदान है। यह केवल भारत ही नहीं वरन् पूरे एशिया में भूमि के स्वामित्व की असमानता की समस्या का समाधान करता है।

किसी कानून एवं क्रांति के द्वारा भूमि की समस्या का समाधान संभव नहीं है। क्योंकि इनके द्वारा ऊपर से सुधार को थोपा जाता है, जिसे सामान्यता स्वीकार नहीं किया जाता है। भूदान एक यज्ञ है। इसके द्वारा व्यक्ति में समुदाय विकास के प्रति एक चेतना एवं समर्पण की भावना का विकास होता है। ग्रामदान ग्रामस्वराज्य की एक दीक्षा मात्र है।

(ल) आत्म प्रशस्ति, आत्म सक्षमता एवं विकेन्द्रीकृत ग्राम स्वराज्य ही सामाजिक एवं आर्थिक इकाई होगी। ग्रामों का प्रशासन पंचायत एवं सहकारी समितियों के द्वारा चलेगा। अपनी सुरक्षा के लिए ग्राम स्वराज्य की इकाइयाँ राज्य शक्ति पर निर्भर नहीं रहेगी।

(व) ग्राम स्वराज्य की प्राप्ति अहिंसा के बिना नहीं हो सकती। ग्राम स्वराज्य के माध्यम से एकता एवं वास्तविक स्वराज्य की प्राप्ति होगी। ग्राम स्वराज्य में प्रत्येक ग्राम प्रशासन का एक छोटा एवं विवेन्द्रीकरण इकाई होगा।

(श) ग्राम स्वराज्य में भूमि का स्वामित्व समुदाय में निहित होगा, समुदाय का प्रत्येक सदस्य न्यूनाधिक रूप से कुछ भूमि प्राप्त करेगा। वे व्यक्ति जिनके पास जीवन यापन हेतु पर्याप्त भूमि नहीं होगी उन्हें ग्रामीण उद्योग की सुविधा प्रदान की जायेगी। जीवन की प्रारंभिक जरूरतों की पूर्ति ग्राम स्तर पर ही की जायेगी। ग्राम स्वराज्य के अन्तर्गत वे उद्योग जिनका कच्चा माल गाँवों में ही उत्पन्न होता है, गाँवों में ही लगेंगे बड़े शहरों में नहीं।

प्रत्येक ग्राम के लिये एक शांति सेना (अहिंसात्मक सेना) होगी जो गांवों की विभिन्न आपदाओं (चोरी, डकैती इत्यादि) से रक्षा करेगी। उस शांति सेना के सैनिक स्थानीय ग्राम सैनिक होंगे।

सर्वोदय शैली की जीवन प्रणाली अनेकता में एकता पर विश्वास करती है। यह एकाकी और बहुवादी दोनों ही प्रकार की होती है यह सामाजिक एवं धार्मिक प्रयास की नयी परिणति है।

सही ढंग से जीवन यापन और राजनैतिक संगठन दोनों ही सर्वोदय के दो महत्वपूर्ण

उपकरण हैं। इसका दार्शनिक पक्ष वेदान्त को स्वयं में समाहित किये हुए है। यह अनेकता में एकता, अहिंसा, ग्राम्यवाद, साम्यवाद एवं गैर उपभोक्तावादी संस्कृति पर निर्भर है। यह मशीन पर आधारित पाश्चात्य संस्कृति का विरोधी है।

सर्वोदय एवं समाजकार्य

जन सामान्य विशेषकर समाज के सबसे कमजोर वर्ग की भलाई और उत्थान समाजकार्य एवं सर्वोदय दोनों का ही लक्ष्य है। किन्तु कुछ अन्य बातों में दोनों में पर्याप्त अंतर है, उनका विवरण अधोलिखित है :-

सर्वोदय की अवधारणा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग दूसरी सदी में एक जैन प्रचारक आचार्य सामन्थमद्र के द्वारा किया गया। उनकी अवधारणा थी सबकी भलाई। यद्यपि उन्होंने ठीक इसी शब्द का प्रयोग नहीं किया किन्तु उनका आशय यही था। इसका संदर्भ ईशावास्योपनिषद् में पाया जा सकता है। इसके विपरीत समाजकार्य की अवधारणा अपेक्षाकृत एक नवीन अवधारणा है और इसकी शुरुआत विगत शताब्दी में हुयी थी।

सर्वोदय की अवधारणा समाजकार्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसका लक्ष्य एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना है और सभी लोगों का विकास करना है। दूसरी ओर समाजकार्य एक विशिष्ट उपागम है। यह वैयक्तिक सेवा कार्य या सामुदायिक संगठन के माध्यम से सहायता देते हुये समस्याग्रस्त लोगों की समस्याओं का उपचार करता है।

(1) सर्वोदय की विचारधारा बौद्धिक वैचारीकरण की उत्पत्ति नहीं है। यह कुछ ऐसी महान आत्माओं के क्रियाकलापों एवं चिन्तन के द्वारा उत्पन्न हुयी है जो कि समाज से सभी प्रकार की बाधिता, अन्याय और गैर बराबरी को मिटाना चाहते थे। समाजकार्य ने कुछ दूसरे विज्ञानों जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नेतृत्व शास्त्र एवं चिकित्सा विज्ञान के ज्ञान को एकीकृत करके स्वयं अपने विज्ञान का विकास किया।

(2) सर्वोदय एवं समाजकार्य की प्रक्रियाओं में भी भिन्नता है। सर्वोदय की आधारभूमि के निर्माण का प्रथम चरण है समुदाय की सामाजिक चेतना का निर्माण एवं और लोगों में सामूहिक भावना का विकास, 'दूसरा चरण है समुदाय में सामुदायिक निर्णय या ग्रामभावना का निर्माण', तीसरा चरण है संपूर्ण समुदाय की सामूहिक शक्ति को ऊँचा उठाना या लोक शक्ति का निर्माण करना। लोकशक्ति के माध्यम से नवीन अभिप्रेरणा का विकास होता है और इसी के द्वारा जननीति की एक नवीन अवधारण का विकास होता है, जिसे लोक नीति कहा जाता है। दूसरी ओर समाजकार्य की प्रक्रिया समस्याओं के अध्ययन निदान एवं उपचार पर आधारित है।

(3) कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की दृष्टि से भी सर्वोदय एवं समाजकार्य में अन्तर है। कोई व्यक्ति उसी समय सर्वोदय का कार्यकर्त्ता बन सकता है जब कि वह सत्य एवं अहिंसा पर ठोस

रूप से विश्वास करता हो और समुदाय को आत्माओं की एकता के रूप में देखता है। वह समाज के सबसे कमजोर वर्ग के विकास हेतु कार्य करता है और सभी का विकास करना चाहता है। वह रचनात्मक कार्यक्रमों में लगे हुये आश्रमों में रहकर प्रशिक्षण प्राप्त करता है और अपने कार्य हेतु केवल आजीविका वृत्ति (subsitence allowance) प्राप्त करता है, कभी-कभी वह भी नहीं लेता है। दूसरी ओर समाज कार्यकर्त्ता अपने सेवार्थियों व्यक्ति, समूह या समुदाय के लिये कार्य करता है, वह उच्चस्तरीय समाजकार्य प्रशिक्षण संस्थान से प्रशिक्षित होता है और अपने कार्य के लिये बाजार दर पर निर्धारित वेतन प्राप्त करता है।

गांधी दर्शन के कुछ नये आयाम

1- व्यक्ति का महत्व

गांधी दर्शन में व्यक्ति को पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया है। उनका यह विश्वास था कि एक बार जब व्यक्ति पूर्ण रूपेण सक्षम एवं सशक्त हो जायेगा तो संपूर्ण राष्ट्र में अपने आप सक्षमता एवं सशक्तता आ जायेगी और राष्ट्र अपनी सम्पूर्णता का अर्जन कर लेगा, जिसे उन्होंने राम राज्य कहा है। उनकी व्यक्तिगत संपूर्णता का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति भौतिक रूप से सुखी और संपन्न हो जायेगा, वरन् यह संपूर्णता नैतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर ले जाती है। वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में विश्वास करता है। मानव जीवन के विभिन्न आयामों को अकेला करके नहीं देखा जा सकता है, वरन् सभी आयाम एक दूसरे से संबंधित हैं और सभी एक साथ मिलकर ही व्यक्ति को संपूर्णता तक ले जाते हैं।

जब गांधी जी किसी समस्या ग्रस्त व्यक्ति की सहायता करते थे तो वे उसे सेवा कहते थे, जिसका अर्थ है व्यक्ति का सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास। उन्होंने व्यक्ति को संपूर्ण परिवेश में देखा है। व्यक्ति में यदि किसी प्रकार परिवर्तन आयेगा तो उससे कई कारक प्रभावित होंगे।

2- सहायता का स्वरूप

गांधी जी के लिए रचनात्मक कार्य के कार्यक्रम केवल एक साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति की क्षमता और इच्छा शक्ति को जगाया जा सकता है उन्होंने रचनात्मक कार्य के संबंध में 18 बिन्दुओं का एक कार्यक्रम का निरूपण किया जो सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित था। जैसे- साम्प्रदायिक सौहार्द्र, अस्पृश्यता निवारण, मद्यपान निषेध, नई शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य एवं सफाई, पिछड़ी जातियों की सेवा, महिलाओं का उद्धार एवं सशक्तीकरण, स्वास्थ्य शिक्षा एवं राष्ट्रीय शिक्षण को बढ़ावा, प्राकृतिक चिकित्सा, आर्थिक असमानता का निवारण, श्रमिकों एवं युवाओं के संगठनों की स्थापना, सर्वधर्म समभाव और शारीरिक श्रम

की महत्ता। इन कार्यक्रमों के माध्यम से व्यक्तियों को आत्म-परीक्षण एवं नवीन क्षमताओं का बोध होता है। ऐसे कार्यक्रमों का उद्देश्य होगा व्यक्तियों में इच्छाशक्ति को जगाकर और उनकी क्षमताओं का विकास कर उनमें संपूर्ण रूप से परिवर्तन लाना। गांधी जी का विश्वास था कि रचनात्मक संगठनों की संलग्नता के द्वारा दो उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है: सर्वप्रथम तो इन कार्यक्रमों के द्वारा व्यक्ति एवं समाज अपने विकास हेतु स्वयं प्रयास करेगा और सरकार पर आश्रित नहीं रहेगा, दूसरा उद्देश्य यह है कि रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा समाज के सभी वर्गों की सहानुभूति अर्जित हो सकती है और व्यापक जन सहयोग की प्राप्ति होगी। व्यक्तियों को विकासात्मक कार्य हेतु तैयार करने के लिये गांधी ज़ी ने आश्रमों की स्थापना की और आश्रम प्रशिक्षण पद्धति पर विशेष बल दिया। आश्रम एक ऐसे वरिष्ठ कार्यकर्त्ता की देखरेख में कार्य करते हैं जो प्रशिक्षुओं के पितातुल्य होते हैं और प्रशिक्षण के दौरान प्रशिक्षुओं को समुदायिक जीवन की 12 प्रतिज्ञाओं से अवगत कराया जाता है : सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, निर्भीकता, अस्पृश्यता निवारण, बंधुआ मजदूरी की समाप्ति, सभी धर्मों की समानता और गृह निर्मित वस्तुओं का प्रयोग इत्यादि। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम व्यावसायिक समाजकार्य की मान्यताओं के बहुत ही नजदीक है।

गांधी जी ने व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रकृति पर विशेष बल दिया और उन्होंने रचनात्मकता की एक प्रविधि के रूप में आध्यात्म का प्रयोग किया। उन्होंने रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं की प्रार्थना सभाओं में मंत्रों एवं प्रतिज्ञाओं का प्रयोग किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मानव जीवन के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं पर कार्यकर्त्ता वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करें। गांधी जी की आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर अमेरिका में भी 1970 के दशक से ही समाजकार्य के अध्यापन में आध्यात्मिकता के गुणों का समावेश किया जा रहा है। यह विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति द्वारा शारीरिक, बौद्धिक, साम्वेगिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक सभी पक्षों की जब समझदारी हासिल की जायेगी तभी व्यक्ति को पूरी तौर पर समझा जा सकता है।

3- स्वदेशी

स्वदेशी के माध्यम से गांधी जी ने सामाजिक विकास के आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक पक्षों पर बल दिया। गांधी जी के अनुसार स्वदेशी के माध्यम से हम अपने पास की उत्पादित वस्तुओं पर निर्भर होंगे न कि बहुत दूर की विदेशी वस्तुओं पर। इसके अन्तर्गत अपरिग्रह और जीवन में सादगी का संदेश मिलता है। प्रकारान्तर से स्वदेशी आंदोलन के द्वारा कुटीर उद्योगों के विकास और स्वरोजगार को बढ़ावा मिलता है। समाजकार्य में आत्मनिर्भरता की जो अवधारणा है, उसकी पूर्ति इस आंदोलन के द्वारा होती है। चर्खे का संबंध विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से है। गांधी जी का उद्देश्य था कि प्रत्येक गांव आत्मनिर्भर हो और अपनी जरूरतों की स्वयं ही पूर्ति करे और जो कुछ भी आधिक्य हो उससे शहरी जरूरतों की पूर्ति की जाय।

यद्यपि वृत्तिक समाजकार्य एवं गांधी जी द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक कार्य में पर्याप्त भिन्नता है, तथापि गांधी जी ने देश में वृत्तिक समाज के विकास की भूमिका तैयार की।

गांधी जी संपूर्ण सामाजिक विकास की अवधारणा पर विश्वास करते थे और आवश्यकतानुसार समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन पर भी वे बल देते थे, समाजकार्य से भी आज यह अपेक्षा की जाती है कि वह उपचारात्मक एवं सुधारात्मक सेवायें ही न प्रदान करे, वरन् आवश्यकतानुसार समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाये। अन्त में यह कहा जा सकता है कि गांधी जी का समाजकार्य दर्शन केवल व्यक्तिगत स्तर पर किये जाने वाले सुधार एवं उपचार तक ही सीमित नहीं था वरन् समुदाय स्तर पर क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं विकास उसका मुख्य लक्ष्य है।

सन्दर्भ

1. चौधरी डी0 पाल, "ए हैन्डबुक ऑफ सोशल वेलफेयर" न्यूडेलही, आत्माराम एंड सन्स - 1966.
2. देशमुख दुर्गाबाई, "गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया प्लानिंग कमीशन सोशल वेलफेयर इन इण्डिया", 1955,
3. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशलवर्क इन इण्डिया (1971)
4. फ्रिडलेण्डर डब्ल्यू0 ए0 इन्ट्रोडक्शन टू सोशल वेलफेयर, प्रैक्टिस हॉल, आई0एन0 सी0 न्यूयॉर्क, 1955
5. मूर्ति एम0 बी0, सोशलवर्क फिलॉसकी, मेथड एंड फील्ड्स, धारवाड़ कर्नाटक यूनिवर्सिटी-1974

अध्याय-6

समाजकार्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में समाज कार्य का इतिहास
(History of Social Work in India)

भारत में प्राचीन काल से ही दीन, हीन, निर्धन एवं अन्य समस्याओं से पीड़ितों की सहायता करने की एक परम्परा रही है। दान, परोपकार व मैत्री भाव के रूप में समाज कार्य के कार्यकलाप, भारतीय समाज में उतने ही प्राचीन रहे हैं जितना विश्व के अन्य भागों में। भारत में संस्थागत सेवा (Institutional care) के रूप में समाज कार्य का विकास राजनैतिक गुलामी एवं अन्य सामाजिक व आर्थिक पिछड़ेपन के कारण उतना सन्तोषजनक नहीं रहा जितना अन्य देशों में हुआ, फिर भी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में समाज कार्य के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। भारत में समाज कार्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवरण हम निम्नलिखित तीन खण्डों में विभक्त कर आसानी से समझ सकते हैं :-

(1) प्राचीन एवं मध्ययुगीन समाज कार्य

(2) ब्रिटिशकालीन समाज कार्य और

(3) स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् समाज कार्य।

प्राचीन काल में दुःखी, पीड़ित एवं असहायों की सहायता करना भारतवासियों का महान गुण रहा है। उदार भावना से मदद करना भारतीय संस्कृति एवं धर्म का अटूट हिस्सा रहा है। धर्म के अन्तर्गत दान, पारस्परिक सहायता एवं विश्व प्रेम के मूल्यों का विशेष महत्व था। प्राचीन काल में भिक्षा देना, निराश्रित व्यक्तियों व अपंगों को भोजन कराना तथा देखभाल करना आदि धार्मिक पुण्य के कार्य समझे जाते थे।

अत्यंत प्राचीन भारतीय समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रादुर्भाव अभी नहीं हुआ था। समाज के द्वारा बनायी गई अथवा इकट्ठी की गईं वस्तुओं पर सम्पूर्ण समाज के सदस्यों का अधिकार माना जाता था और जब उसे उपभोग हेतु वितरित किया जाता था तो उसे 'हवन' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। कुछ दशाओं में प्राप्त वस्तुओं का जब वितरण किया जाता था तो उसे 'दान' नाम से उल्लेख किया जाता था लेकिन वेदों में 'दान' शब्द से तात्पर्य 'विभाजन' समझा गया। 'यज्ञ, हवन, दान और सामूहिक प्रयासों से प्राप्त की गई वस्तुओं के समाज में

वितरण की प्रणाली अति प्राचीन भारतीय समाज में देखी जा सकती है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय के साथ 'राजा' का भी अभ्युदय हुआ और लड़ाई जीतकर प्राप्त सम्पत्ति विजयी व्यक्ति की हो गयी, जो उसे अपनी इच्छानुसार वितरण करता था। इस प्रकार जब व्यक्तिगत सम्पत्ति, वर्ग और राजा का उदय हुआ तब 'दान' शासन वर्ग के अधिकार क्षेत्र में परिवर्तित हो गया। इस तरह यज्ञ, हवन तथा दान का स्थान उपनिषदों के काल में इष्ट (Ishtas) और आपूर्त (Apurtas) ने ग्रहण कर लिया। 'इष्ट' से तात्पर्य यज्ञ, अग्नि में हविदान, प्रार्थना तथा मंत्र से है और 'आपूर्त' से तात्पर्य (वापी, कूप, तड़ाग आदि) कुओं, तालाबों, नहरों आदि का बनवाना, वृक्षों-जंगलों का लगवाना, मंदिरों, धर्मशालाओं, स्कूलों, अस्पतालों, नहरों आदि का बनवाना इत्यादि है जो सभी जनसेवा तथा ईश्वर पूजा के लिए अर्पित होते हैं। 'इष्ट' अर्थात् वैयक्तिक गणों को 'आपूर्त' अर्थात् सामाजिक गणों के साथ सम्मिलित कर पूर्ण करना पड़ता था। समाज कार्य के दर्शन में भी इन व्यक्तिगत एवं सामाजिक आवश्यकताओं व लक्ष्यों की पूर्ति पर विशिष्ट जोर दिया जाता है। इस प्रकार धार्मिक प्रेरणा के माध्यम से अनेक सामाजिक सेवायें आरम्भ हुई और जन कल्याण के कार्य सम्पादित हुए।

डॉ. आर.सी. मजूमदार के अनुसार 'राजा, व्यवसायी, जमींदार तथा अन्य सहायक संगठन धर्म के पवित्र कार्य हेतु अपने साधनों के अनुसार एक दूसरे से आगे बढ़-चढ़कर मदद करने में प्रयत्नशील रहते थे। यह कार्य मन्दिरों तथा आश्रमों की स्थापना, उनके भरण-पोषण के लिए धन के अर्पण, साधु महात्माओं हेतु आवास स्थल के निर्माण, घुमन्तू रोगियों अथवा मन्दिरों तथा आश्रमों हेतु भोजन, वस्त्र, तेल और अन्य जरूरी वस्तुओं की आपूर्ति के लिए उचित संघों के साथ स्थायी संग्रह स्थलों की स्थापना आदि कई रूपों में कार्य किया गया।' अनेक धार्मिक संस्थायें वृहत् स्तर पर बाद में समाज सेवा केन्द्रों में बदल गई। इसके अलावा, ग्रामीण क्षेत्रों में अपंग, रुग्ण, वृद्ध व्यक्तियों की जरूरतों को संयुक्त परिवार, जाति संगठन, मण्डलियों और पंचायतों द्वारा पूरा किया जाता था। गोरे और सोरेज (Gore, M.S. and Soares, I.E.) के मतानुसार, 'धर्म में दान, पारस्परिक सहायता तथा विश्व प्रेम के मूल्यों पर विशेष बल दिया। भिक्षा देना, निराश्रितों को भोजन देना तथा उनकी देख-रेख करना धार्मिक पुण्य कार्य माना जाता था। बेघर व्यक्तियों को मन्दिरों में शरण दी जाती थी। सामाजिक संस्थाओं में वृद्धों, रुग्णों तथा समुदाय के अन्य असहाय वर्गों की जरूरतें पूरी करने के लिए व्यवस्था होती थी। संयुक्त परिवार की संस्था द्वारा वृद्धों, शारीरिक रूप से विकलांग, लम्बी अवधि से बीमार एवं मानसिक रूप से निर्बल अर्थात मन्द बुद्धि वाले व्यक्तियों की देखभाल की जाती थी। सहायता की जरूरत महसूस करने वाले व्यक्तियों की जिम्मेदारी जातीय एवं सामुदायिक परिषदों पर ही रहता था। आर्थिक व्यवस्था भी सामाजिक प्रथाओं द्वारा नियंत्रित होती थी और सामन्ती नियोक्ता (Feudal Employer) अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की देखभाल भी करते थे।'

बौद्ध काल में भी लोक कल्याण हेतु लोगों को उपदेश दिये जाते थे। इस काल में कुलवाक जातक (Kulvaka Jatak) के अन्तर्गत उपदेश के अनेक उल्लेख मिलते हैं। गौतम बुद्ध अपने युवावस्था में गाँव के व्यक्तियों को एकत्र कर जनता की भलाई के कार्य करने के लिए प्रेरणा देते थे। इस अवधि में लोग टूटी हुई सड़कों को मरम्मत करते हुए समतल करते थे, वे रथों के धुरों में उलझने वाले वृक्षों को काट देते थे, वे बेकार पड़ी जगहों को चौरस करते, बाँध या पुल बनाते, पानी पीने के लिए तालाब खुदवाने और बड़े-बड़े कमरे का निर्माण आदि भी करते थे। 'बोधिसत्व' में दान पाने वाले को अनेक खण्डों में विभक्त कर उल्लेख किया गया है अर्थात् दानी को प्रथमतः अपने साथियों, मित्रों एवं सम्बन्धियों की मदद करनी चाहिए। दूसरे जरूरतमन्द जैसे – असहाय, रुग्ण, घोर संकट से घिरे एवं विपन्न तथा तीसरे, बौद्ध भिक्षुओं व हिन्दू पुजारियों की मदद (दान देकर) करनी चाहिए। इस प्रकार इस काल में भी अनेक जन कल्याण के कार्य सम्पादित होते थे।

मौर्य काल में जनता के कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यों का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विस्तृत रूप में किया गया है। इस युग में बालकों, वृद्धों तथा रोगियों की देखभाल की जाती थी जो संरक्षक-विहीन व बेसहारा होते थे। संरक्षक विहीन अल्पवयस्कों की देखभाल का कार्य गाँव के वयोवृद्ध किया करते थे। प्रौढ़ावस्था आने पर उनकी सम्पत्ति सम्पूर्ण लाभ के साथ उन्हें दे दी जाती थी। प्राचीन भारत में विद्वान ब्राह्मण दूसरे व्यक्तियों को विद्या-दान प्रदान करते थे जो समाज कार्य का एक विशिष्ट रूप था। विद्वान अध्यापकों द्वारा निर्धन बच्चों को प्रतिदिन निःशुल्क शिक्षा एवं भोजन की व्यवस्था की जाती थी। उस समय समस्त उपहारों एवं दानों में विद्यादान को सर्वोत्तम माना जाता था। इतना ही नहीं, बल्कि गरीब व्यक्ति भी भूखे प्यासे छात्रों को (अपने घर के दरवाजे पर आ जाने पर) सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा बहुत दे ही देते थे। इसके अतिरिक्त, धनाढ्य व्यक्ति कभी-कभी निःशुल्क शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करने थे जिसमें निर्धन छात्र सुविधाजनक ढंग से विद्याध्ययन करते थे।

मुसलमानों के भारत आगमन पर शासकों द्वारा इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुरूप ही सामाजिक शासन व्यवस्था का संगठन हुआ। इस्लाम धर्म में मानवीय सहायता एवं समाज की अच्छी व्यवस्था स्थापित हुई थी, अनाथों, बूढ़ों, विधवाओं एवं निराश्रितों की मदद होती थी। इस्लाम में भावनाओं पर अधिक जोर दिया जाता था, इस धर्म में बताया गया है कि दान उदार भाव से एवं गुप्त रूप से देना चाहिए। इसमें माता-पिता, रिश्ते-नातेदारों, बूढ़ों, बीमारों तथा यात्रियों की सेवा तथा मदद करना धार्मिक कर्तव्य माना गया। अतः इस्लाम धर्म के अन्तर्गत दान, धर्म, सहानुभूति, पड़ोसियों के साथ मधुर सम्बन्ध, प्रेमभाव, सद्व्यवहार एवं नैतिक आदर्श आदि को प्रमुखता से महत्व दिया जाता था।

जकात एवं खैरात जैसी इस्लामी अवधारणाओं को सामाजिक मान्यता मिली। भारतीय मुसलमान अपनी आय का 2½ प्रतिशत जकात के रूप में गरीबों, जरूरतमन्दों एवं मदद चाहने

वालों को भीख के तौर पर प्रदान करते आये हैं। साथ ही साथ वे अपनी इच्छानुसार कंगालों व निराश्रितों को खैरात देते रहते हैं। अधिकांश मुसलमान बादशाओं एवं नवाबों ने लोकहित व समाज कल्याणार्थ अनेक सामजिक सेवायें संगठित की। उदाहरण के लिए, रोगियों के लिए दवाखाना, बालकों की पढ़ाई के लिए मकतब और मदरसे तथा राहगीरों के लिए मुसाफिरखाने आदि। बूढ़ों, रोगियों तथा विकलांगों की मदद का कार्य संयुक्त परिवार, जाति संगठन, व्यावसायिक संघ तथा ग्राम पंचायतें करती थी।

निर्धन एवं बेसहारा लोगों की मदद करना इस्लाम का एक आधारभूत हिस्सा रहा। रोगी का उपचार करना, शिक्षण संस्थाओं का निर्माण करना, मस्जिदों का निर्माण करना, पवित्र धार्मिक कार्य माना जाता था। सुल्तान फिरोज तुगलक ने रोगियों एवं पीड़ा से ग्रस्त व्यक्तियों की सुविधा हेतु अस्पतालों का निर्माण कराया जहाँ बिना भेदभाव के सहायता प्रदान की जाती थी। निःशुल्क भोजन एवं चिकित्सकीय सुविधाओं की व्यवस्था होती थी। उसने विशाल संख्या में गुलामों को इकट्ठा किया और उन्हें फौज में भर्ती कराया तथा घर के नौकरों एवं शिल्पकारों के साथ काम सिखा कर उनकी आजीविका की भी व्यवस्था की। बड़े-बड़े जागीरदारों-धार्मिक व मालिकों ने उसके सिद्धान्त का अनुकरण कर अपने नौकरों के साथ बेहतर व्यवहार किया, साथ ही अनेक तरह के कार्यों में उन्हें प्रशिक्षित भी कर दिया। समाज कार्य से सम्बन्धित समस्त क्रिया कलाप जैसे- मंदिरों व मस्जिदों का निर्माण, धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाओं हेतु धन की व्यवस्था, धर्मशालाओं एवं विश्रामगृहों की स्थापना आदि समूचे मध्य युग में विद्यमान रहे।

औरंगजेब लम्बे समय तक राजनैतिक संघर्ष में फँसा रहा तथापि उसने लोकहित एवं कल्याण हेतु अनेक कार्यक्रम सम्पादित किये। वह इस दृष्टिकोण का था कि राजकोष का सम्पूर्ण धन जनता का व जनता के कल्याण के लिए है। वह काफी धन जनता के ऊपर खर्च भी करता था। अनेक स्थानों पर धर्मशालाओं का निर्माण किया गया जहाँ यात्री ठहरते थे तथा अन्य कार्य सम्पन्न होते थे। उस समय धर्मशालायें, शिक्षण संस्थायें, निराश्रितों के लिए आश्रय और भण्डार आदि संचालित किये गये। उसे दौरान संत समुदाय भी दृष्टिगोचर हुआ जो धर्म सम्बन्धी शिक्षा एवं जन सहायता कार्य सम्पादित करता रहा और इस प्रयोजन हेतु अनेक स्थानों पर मठों का निर्माण किया गया।

औरंगजेब के देहावसान के पश्चात् लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक भारतीय लोक जीवन काफी संघर्ष में व्यतीत हुआ। दिल्ली में शक्ति का पराभाव होने लगा और वास्तविक राजसत्ता शासक के हाथों से शनैः शनैः स्थानीय मुख्याधिकारियों के हाथों में चली गयी थी। अंग्रेज व्यापारियों ने इस संघर्षमय स्थिति का लाभ उठाया। वे व्यापारी के रूप में भारत आये थे और बाद में देश की आपसी फूट का लाभ उठाकर यहाँ के शासक बन गये। 1850 तक भारत पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। 1858 में राजशक्ति को ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा राजा (Crown) को हस्तान्तरित कर दिया गया।

इस काल में अंग्रेज प्रारम्भ में तो व्यापार करने की दृष्टि से भारत में आये और यहाँ के शासक बन गये और भारतवासियों की तुलना में अपने ही देशवासियां की भलाई में दिलचस्पी रखते थे। अंग्रेजों द्वारा बनाये गये कानून मात्र अपने देशवासियों के लिए थे न कि भारतीय के लिए। भारतीय को हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म के कानूनों को ही कठोरता से पालन करना पड़ता था। रूढ़िवादिता की नीति का दृढ़ता से पालन किया जाता था। इन सब कारणों से सामाजिक सुधार आन्दोलन में मन्द गति से प्रगति हो सकी। दूसरी तरफ इस अवधि में सामाजिक सुधार आन्दोलन प्रारम्भ करने वाले कारण इस प्रकार के थे :- (1) ईसाई धर्म प्रचारकों के प्रयत्नों का प्रभाव प्रबल था। उनके द्वारा जाति प्रथा पर कड़ा प्रहार किया गया और ईसाई धर्म की स्वाभाविक समानता को अधिक विस्तार से सम्मुख रखने का प्रयत्न हुआ। ईसाई धर्म प्रचारकों के कार्य ने आधुनिक विवेकशील विचार-धारा के लोगों में गहन प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी। (2) ईसाई धर्म प्रचारकों ने हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन के लिए उनके पेचीदे हिन्दू धर्म, सामाजिक कुरीतियों व बुराइयों की कटु आलोचना की जिससे समाज अधिक प्रभावित था, और (3) पाश्चात्य शिक्षा (अंग्रेजी) का प्रभाव भारतीय मानस पटल पर सर्वाधिक पड़ा। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर भारतीय सुधारक सामाजिक परिवर्तन हेतु क्रियाशील होने लगे। हिन्दू सामाजिक संरचना में सामाजिक सुधार जरूरी है यह बात ईसाई प्रचारकों ने सिद्ध कर दिया। विशेष रूप से बाल विवाह, बहु विवाह प्रथा, कन्या वध, सती प्रथा तथा विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित सुधारों पर जोर दिया गया।

1780 से अनेक कुरीतियों से समाज को छुटकारा दिलाने की दृष्टि से प्रयास शुरू हो गये। पाश्चात्य शिक्षा और ईसाई धर्म के प्रभाव से सुधार आन्दोलन को अधिक प्रोत्साहन मिला। 1813 के लिखित प्रशासनिक प्राविधान अधिनियम (The charter Act of 1813) ने पाश्चात्य शिक्षा के विकास के लिए व्यवस्था की। नये ज्ञान की वृद्धि के साथ भारतीय विचारकों में अपने सामाजिक मूल्यों तथा रीति-रिवाजों के प्रति नया जोश पैदा हुआ। राजाराम मोहन राय प्रथम भारतीय थे जिन्होंने समाज में ऐसी शक्तियों को केन्द्रित किया जिससे अनेक सामाजिक बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। धार्मिक सुधारक, शिक्षा-शास्त्री और सामाजिक कार्यकर्ता के प्रतीक के रूप में राजाराम मोहन राय ने भारतीय व्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित किया। ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा की गई आलोचना तथा निन्दा के सामने हिन्दुत्व को मजबूत करने के प्रयत्न में उन्होंने वेदों तथा उपनिषदों के गूढ़ तत्वों तथा दर्शन की सत्यता के लिए पर्याप्त तर्क-वितर्क प्रस्तुत किया। उन्होंने जातीय विभेदों तथा सती प्रथा के उन्मूलन के लिए सर्वाधिक प्रयत्न किया। उनके प्रयत्नों का ही परिणाम रहा कि 1829 में प्रतिबन्धक कानून (Regulation Act) पास किया गया जिसमें (बंगाल में) सती प्रथा को अवैध कर दिया गया और यह भी घोषित कर दिया गया कि इस कार्य में भाग लेने वाले अथवा इसके लिए जोर-जबरदस्ती करने वाले

अपराधी दण्डनीय माने जायेंगे। इस कानून को बम्बई (मुम्बई) और मद्रास (चेन्नई) में भी लागू कर दिया गया। उन्होंने 1828 में ब्रह्म-समाज सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें मूर्तिपूजा का विरोध किया गया। उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों के आधार पर ही सुधार कार्यों के लिए देश के अन्य हिस्सों में कार्य शुरू किया गया। ब्रह्म समाज के क्रियाकलापों को सफलतापूर्वक आगे बढ़ाने में राजाराम मोहन राय के उत्तराधिकारियों द्वारकानाथ टैगोर, देवेन्द्र नाथ टैगोर, शशिपद बनर्जी और केशव चन्द्र सेन ने पर्याप्त योगदान किया। बम्बई (मुम्बई) और महाराष्ट्र में जातीय सुधार लाने हेतु इस तरह के अनेक अन्य संगठन स्थापित किये गये। हिन्दू बालिकाओं के लिए प्रथम शिक्षण संस्था 1849 में प्रारम्भ किया गया। 1863 में केशव चन्द्र सेन ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने महिलाओं की शिक्षा पर अधिक बल दिया था। 1856 में पं0 ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के प्रयासों द्वारा हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून (Hindu Widow's Remarriage Act) पारित किया गया। न्यायाधीश रानाडे (Justice Ranade) एक महान समाज सुधारक थे उन्होंने 1861 में एक विधवा विवाह संघ (Widow Marriage Association) की स्थापना की। शशिपद बनर्जी ने स्त्री-शिक्षा एवं विधवा पुनः विवाह के प्रयास के साथ-साथ दलित वर्ग की उन्नति हेतु भी महती भूमिका अदा की। इस तरह देश के अन्य हिस्सों में भी धार्मिक एवं समाज सुधार के कार्यक्रय सम्पादित किये जाने लगे।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई तब रानाडे इसके प्रभावी नेता थे। इनका मत था कि इसे समाज सुधार का संगठन बनाना चाहिए लेकिन ह्यूम (Hume) जिसने सर्वप्रथम यह अखिल भारतीय संगठन बनाने का विचार किया था, ने वाइसराय (Viceroy) द्वारा प्रेरित होकर इसे एक राजनैतिक संगठन बना दिया। अतः 1887 में समाज सुधार के लिए एक नया संगठन, भारतीय समाज सम्मेलन (Indian Social Conference) स्थाापित किया गया। न्यायाधीश रानाडे इस सम्मेलन में आजीवन जनरल सेक्रेटरी के पद पर कार्य करते रहे। भारतीय समाज सम्मेलन ने अनेक सामाजिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया तथा इनके निराकरण किये। ये समस्यायें थीं : बाल विवाह, दहेज प्रथा, विधवाओं की दशा, लड़कियों के लिए शिक्षा, आत्म-संयम, अन्तर्जातीय विवाह, दलित वर्ग सुधार, सामाजिक शुद्धि, उपहार एवं दान पर नियंत्रण, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा मद्य-निषेध। रानाडे के देहावसान के पश्चात् चन्द्रावर्कर (Chandra Varkar) ने इसका नेतृत्व ग्रहण किया। इन्होंने भारतीय समाज सम्मेलन के क्षेत्र में काफी विस्तार किया। विभिन्न समाजसेवी संगठनों में कार्य करने वाले कई जातियों के लोगों को इसमें सम्मिलित किया।

1877 में दूसरा सुधार आन्दोलन आरम्भ किया गया जिसकी नींव बम्बई (मुम्बई) में आर्य समाज नाम से स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा डाली परन्तु यह आन्दोलन पंजाब में भी संगठित हुआ था। स्वामी जी ने जाति-पाँति, बाल-विवाह, विधवाओं के ब्रह्मचर्य जीवन,

धर्म-परिवर्तित लोगों के लिए गृह-प्रवेश-निषेध नीति आदि विषयों के विरुद्ध स्वर मुखरित किया। उनका राष्ट्रीय स्तर के शिक्षा के कार्यक्रम में अधिक विश्वास था। इस क्रम में उनके द्वारा कई शिक्षण संस्थायें स्थापित की गईं। इन शिक्षण संस्थाओं की प्रमुख विशेषता थी : कम शुल्क और नैतिक तथा चारित्रिक उपदेश। इसमें केवल भारतीय अध्यापक ही रखे जाते थे और सरकार से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली जाती थी। अनेक तरह की सामाजिक सेवाओं के गठन में आर्य समाजी लाला लाजपत राय की महती भूमिका थी तथा दलित वर्गों के उत्थान हेतु स्वामी श्रद्धानन्द ने अनेक कार्य सम्पादित किये।

स्वामी विवेकानन्द (1862-1902) ने रामकृष्ण मिशन की नींव डाली। उन्होंने 1891 में कन्या कुमारी में अपने जीवन को भारत की करोड़ों पीड़ित, दलित जनता की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। अमेरिका के धार्मिक यात्रा से लौटने के पश्चात् उन्होंने 1897 में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की और अपना समय शैक्षिक, सामाजिक तथा चिकित्सा सहायता कार्यों में लगा दिया। इसके पूर्व 1890 में मद्रास (चेन्नई) में भारतीय समाज सुधार (Indian Social Reform) का आरम्भ किया गया। मैडम ब्लावास्की और कर्नल आलकाट (Madam Blavatsky and Colonel olcott) ने 1881 में मद्रास में एक ब्रह्मवाद समाज (Theosophical Society) की स्थापना की। श्रीमती एनीबेसेन्ट (Mrs. Annie Besant) ने 1893 में भारत सरकार के बुद्धजीवी वर्ग को ब्रह्मवाद (Theosophy) की ओर आकर्षित किया, यद्यपि उन्होंने प्रारम्भ में समाज सुधार पर बहुत ही कम जोर दिया था। उन्होंने केवल 1913 में समाज सुधार में अपनी सहायता/समर्थन की घोषणा की।

इसी अवधि के आसपास एक मुस्लिम समाज सुधारक सर सैय्यद अहमद खाँ (Sir Syed Ahmad Khan) ने समाज सुधारों पर मिलते-जुलते विचार प्रचलित किया। 1875 में उन्होंने एक शिक्षा संस्था (Anglo Mohammedan) की स्थापना की जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गयी। 1888 में उन्होंने मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन (Mohammedan Education Conference) संगठित किया।

सम्पूर्ण भारत में 18वीं शताब्दी की समाप्ति से लेकर 19वीं शताब्दी की समाप्ति तक समाज सुधार आन्दोलन का विस्तार हो चुका था और बालिकाओं की शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया गया लेकिन समाज सेवी संस्थाओं (Social Service Agencies) की स्थापना के लिए पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत ही कम प्रयास किये गये।

धर्म प्रचारकों के द्वारा किये गये कार्य ने भारतीय विचारकों में सुरक्षात्मक प्रतिक्रिया पैदा कर दी, परन्तु इसके साथ ही साथ उनकी तर्कसंगत विचारशक्ति ने भारतीय बुद्धिवादियों पर गहरा प्रभाव भी डाला। इसके साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था में भी बदलाव आया और इसके कारण आत्म निर्भर अर्थव्यवथा में भी धीरे-धीरे अस्त-व्यस्तता आ गई थी और एक बड़ी संख्या

में ग्रामवासी नये औद्योगिक नगरों की ओर प्रवासी श्रमिकों (Migratory Workers) के रूप में जाकर बसने शुरू कर दिये। इस प्रवृत्ति से परम्परागत बन्धन व सम्बन्ध क्षीण होने लगे तथा द्वितीयक सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिला। जमींदारी प्रथा के समाप्त होने, हस्तकला के लोप होने, नगरों में कारखानों की वृद्धि, जनसंख्या की वृद्धि आदि कारणों से नागरिकों की परेशानियाँ बढ़ गईं। गरीबी, नशाखोरी, महिलाओं एवं बच्चों का शोषण तथा गंदी बस्तियों आदि की समस्यायें पैदा हो गईं।

ईसाई धर्म प्रचारकों ने इस स्थिति का लाभ उठाया और गरीबों के लिए अनेक समाज कल्याण संस्थायें स्थापित की थीं, जिनका प्रमुख उद्देश्य उनका धर्म परिवर्तन था। देश के अधिकांश समाज सुधारकों ने इसके विरुद्ध कार्य किया लेकिन जैसे-जैसे भारत और इंग्लैण्ड के बीच यात्रा एवं संचार साधनों में वृद्धि हुई वैसे ही वैसे यह सम्भव होता गया कि भारत में अंग्रेजी नमूने के समाज कल्याण संगठन स्थापित होने शुरू होते गये। 1882 में पं0 रामाबाई ने जो हिन्दू महिला थी, लेकिन अपनी शादी अपनी जाति के बाहर करने पर समाज में घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगी, अपने पति की मृत्यु के पश्चात् ईसाई धर्म अपना लिया। पं0 रामाबाई ने पुणे (Pune) में आर्य महिला समाज (Arya Mahila Samaj) की स्थापना की। ज्योतिबा फूले (Jutiba phule) ने जाति सुधार के आन्दोलन के दौरान काफी संख्या में समाज कार्य संस्थाओं, अनाथालायों तथा बालिकाओं हेतु शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। 1887 में शशिपद बनर्जी (Shashipada Banerjee) ने बंगाल में हिन्दू विधवाओं के लिए एक विध ावागृह की स्थापना की, जिसकी प्रेरणा से बम्बई (बम्बई) और मद्रास (चेन्नई) में भी ऐसे ही गृह स्थापित हुए। 1896 में प्रो0 डी.के. कर्वे (Prof. D.K. Karve) ने पुणे में एक विधवागृह स्थापित किया। 1998 में मंद्रास (चेन्नई) में भी इसी तरह का एक विधवागृह स्थापित हुआ।

बम्बई (मुम्बई) के समाज सुधारकों की प्रेरणा एवं प्रयासों से 1904 में एक महिला अधिवेशन हुआ जो दो दशक बाद अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना का कारण बना। 20वीं शताब्दी में भारत में समाज कार्य के क्षेत्र में एक नई दिशा आई। 1906 में 'भारत दलित वर्ग मिशन समाज' (Depressed Classes Mission Society of India) की स्थापना बी. आर. शिन्दे द्वारा बम्बई (मुम्बई) में की गई जिसका कार्य समाज के दलित वर्गो में शिक्षा का प्रसार करना था। इसके अध्यक्ष चन्द्रावरकर थे। इसी प्रकार की एक संस्था मद्रास (चेन्नई) में 1909 में बनाई गई। देश के अनेक हिस्सों में अनेक प्रकार की समाज सेवी तथा समाज सुधारक संस्थायें स्थापित हुई। गोपाल कृष्ण गोखले ने जो समाज सेवी कार्यों में काफी दिलचस्पी रखते थे, 1905 में सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी (Servents of India Society) की स्थापना की। यद्यपि इस सोसाइटी का प्राथमिक उद्देश्य राजनैतिक था, परन्तु प्रारम्भ से ही इसके द्वारा सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक तथा दलित वर्ग के लिए किये गये कार्यो पर जोर दिया गया और

मजबूत नेतृत्व प्रदान किया गया। समाज सेवा के लिए समर्पित यह प्रथम धर्म निरपेक्ष संगठन था। इसके आजीवन सदस्य थे : जी.के. देवधर, एन.एम. जोशी, बी.एस. श्रीनिवास शास्त्री और एच.एन. कुंजरू। 1908 में मम्बई (मुम्बई) में श्रीमती रामाबाई रानाडे की अध्यक्षता में सेवा सदन की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य महिला कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना, उन्हें चिकित्सा सम्बन्धी सहायता प्रदान करना, अंग्रेजी, संस्कृत व नागरिक शास्त्र की शिक्षा का प्रबन्ध करना था। सदन ने अपनी शाखायें अहमदाबाद, सूरत और पुणे में स्थापित कर दी। 1911 में समाज सेवा संघ (Social Service League) की स्थापना की गई। इस संघ ने अपना ध्यान सर्वप्रथम बम्बई (मुम्बई) नगर की सामाजिक दशाओं के सुधार पर केन्द्रित किया, निःशुल्क सचल पुस्तकालय बनवाये, मिल मजदूरों के लिए रात्रि कक्षायें खोली गईं, स्वच्छता तथा शारीरिक विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा प्रदान की और बम्बई (मुम्बई) के परेल श्रमिक क्षेत्र में एक केन्द्र की स्थापना की। लीग (League) के संरक्षण में ही 1922 में अखिल भारतीय औद्योगिक कल्याण सम्मेलन (All India Industrial Welfare Conference) बुलाया गया जिसमें देश के विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों से आये प्रतिनिधियों ने श्रमिकों के कल्याण पर विचार विमर्श किया और एक अखिल भारतीय औद्योगिक कर्मचारी संगठन (All India Industrial worker's organisation) बनाने का सुझाव दिया।

'1906 और 1912 के बीच देश के कई भागों में बहुत से हिन्दू विधवा-गृहों (Hindu Widow Homes) की स्थापना हुई, उनमें कुछ प्रमुख थे : मैसूर में विधवा-गृह (1907), कलकत्ता में शिल्प आश्रय (1907), बैंग्लोर में विधवा-गृह (1910), मद्रास (चेन्नई) में ब्राह्मण विधवा छात्रावास (1912), फिरोजपुर और भटिंडा में देव-समाज, जालन्धर में आर्य समाज। बम्बई (बम्बई) में दिगम्बर जैनियों ने विधवा-गृहों की स्थापना कलकत्ता में शशिपद बनर्जी द्वारा स्थापित विधवा-गृह के बन्द हो जाने के तत्काल बाद की।'

बीसवीं शताब्दी के दूसरे शतक तक समाज कार्य निर्धनों की सहायता, विधवाओं तथा अनाथ बच्चों के लिए संस्थायें खोलना, नेत्रहीनों, मूक-बधिर (Deaf mute) बालकों/बालिकाओं की देखभाल करना तथा निःशुल्क दवाखानों और अस्पतालों की स्थापना करना आदि सहायता कार्य सम्पन्न कर रहा था। 1920 के बाद ही समाज कार्य के विकास में निरोधात्मक कार्यों पर जोर दिया गया। Lady Cowasji jehangir, Sir Mangal Das Mehta, Shri Rustam तथा Lady Masani के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बाल कल्याण के क्षेत्र में भी अनेक राज्यों में विधान पारित किये गये।

1920 में महात्मा गांधी जी ने देश की राजनैतिक बागडोर सम्भाली और सर्वोदय की अवधारणा पर जोर दिया। गांधी जी का चिन्तन था कि राम राज्य स्थापित हो तथा ऐसा समाज बने जिसमें व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके इसके लिए अनुकूल पर्यावरण की जरूरत है।

उन्होंने समाज सुधार के क्षेत्र में एक सक्रिय भूमिका अदा की। महिलाओं एवं बच्चों के उत्थान व सुधार, हरिजन कल्याण, साम्प्रदायिकता की भावना का निवारण, लघु उद्योग धन्धों के विकास हेतु आन्दोलन स्तर का कार्य किया। जन जातियों के कल्याण, ग्रामीण कल्याण, विकलांग लोगों हेतु भलाई कार्य, शैक्षणिक सुधार, राष्ट्रीय एकता एवं नशाबन्दी जैसे कार्यक्रमों की एक सर्जनात्मक व्यवस्था बनाने पर बल दिया। उन्होंने यह विचार रखा कि सेवा भावना और लगनशीलता से समाज सेवा करनी चाहिए। अस्पृश्यता निवारण हेतु समाज के हर स्तर पर कार्य किया। गांधी जी ने स्वदेशी भावना को जन-जन में फैलाया, उन्होंने स्वदेशी उत्पादन व उपयोग पर विशेष बल दिया। उनकी अवधारणा थी कि अपने देश में उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग ही देश प्रेम है तथा ऐसा करने में बेरोजगारी की समस्या का भी समाधान कुछ हद तक हो सकता है। इसी दृष्टि से उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन चलाया परिणास्वरूप गाँवों व नगरों में लोगों को काम मिला जिससे बेकारी कम हुई तथा ग्रामीण परिवारों का सुधार व आर्थिक विकास हुआ। गांधी जी ने सामाजिक, आर्थिक व पारिवारिक विकास के क्षेत्र में कार्य करने के साथ-साथ अस्पृश्यता की भावना का भी कड़ा विरोध किया। 1922 में अस्पृश्यता निवारण के पवित्र कार्य के निर्णय को और भी बल मिला जब प्रथम नागरिक अवज्ञा आन्दोलन के बाद (सत्याग्रह में हिंसा का प्रयोग होने के कारण) गांधी जी ने देश के सामने वारदोली कार्यक्रय रखा, जिसमें पहला कार्यक्रम अस्पृश्यता-निवारण ही था। हरिजनों के आवास, शिक्षा मंदिर, कुएँ तथा उद्योग आदि की व्यवस्था में सहायता हेतु गांधी जी का सराहनीय प्रयास रहा। हरिजन सेवक संघ, अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ, नयी तालीम संघ इत्यादि कुछ संगठन विशिष्ठ समस्याओं को सुलझाने के लिए समर्पित थे। 1923 में गठित स्वराज पार्टी ने गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों को पूर्ण करने के लिए स्वदेशी, खद्दर, संयम, मद्य निषेध, अन्तःसमुदायों में एकता और राष्ट्रीय स्तर की शिक्षा आदि क्षेत्रों में कार्य किया। पं0 मदन मोहन मालवीय तथा जमना लाल बजाज के नेतृव में आन्दोलन चला और सभी मंदिरों के द्वार सभी जातियों के लिए खोल दिये गये। 1929 में लड़कों की शादी के लिए 18 वर्ष तथा लड़कियों की शादी के लिए 14 वर्ष की आयु निर्धारित करने के लिए The children Marriage Restraint Act (Sharda Act) पारित किया गया।

अनेक राज्यों द्वारा 20वीं शताब्दी के तृतीय दशक के आसपास बहुत से सामाजिक विधान बनाये गये। नियम विरुद्ध कार्य करने वाले, क्रूरता के शिकार, अनियंत्रित व निर्धन बालकों की सुरक्षा के लिए बाल कानून पास किये गये। उदाहरण के लिए मद्रास बाल कानून 1920, बंगाल बाल कानून 1922 और बम्बई बाल कानून 1924 में पास किया गया। हिन्दू उत्तराधिकार (असमर्थता निवारक) कानून संशोधनों के बाद 1929 में पास कर दिया गया। बम्बई वेश्यावृत्ति निषेध कानून 1923, मद्रास में 1930 में और इसी प्रकार अन्य राज्यों में भी कानून पास किये गये। बाल विवाह नियंत्रण सम्बन्धी प्रस्ताव भी 1927 में रखा गया और

बाल विवाह कानून 1929 में अन्तिम रूप से पास कर दिया गया। इसी तरह 1930 में हिन्दू गेन्स आफ लर्निंग कानून भी पास किया गया। अन्य क्षेत्रों में भी कुछ कानून पास किये गये जो इस प्रकार हैं : कारखाना कानून का संशोधन 1922 में और खान कानून 1923 में संशोधन किया गया। कर्मचारी क्षतिपूर्ति कानून, 1923, भारतीय श्रम संघ कानून, 1926 और व्यावसायिक विवाद कानून, 1929, कोयला खान श्रम, कल्याण फंड कानून 1944, अभ्रक खान कल्याण फंड कानून 1946 तथा हिन्दू महिला का सम्पत्ति में अधिकार कानून 1937 आदि।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत को एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) घोषित किया गया। भारतीय संविधान में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि राज्य, देश में निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में वृद्धि, छुआ-छूत की समाप्ति, बालकों, अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अन्य दुर्बल लोगों की विशेष सुरक्षा की गारंटी देने और लिंग, जाति, धर्म तथा जन्म-स्थल के आधार पर समस्त प्रकार के विभेद को समाप्त करेगा। इस तरह भारत में राज्य ने समाज कल्याण की जिम्मेदारी मंजूर कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

सामाजिक कानून के अतिरिक्त व्यक्तियों, समूहों व समुदायों को यथेष्ट सहायता प्रदान की गई और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई विभाग जैसे- राजकीय समाज कल्याण विभाग, सामुदायिक विकास व सहकारिता मंत्रिमण्डल, पुनर्वास मंत्रालय तथा केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड आदि की स्थापना की गई। उत्तर प्रदेश सरकार ने सर्वप्रथम समाज कल्याण मंत्रालय स्थापित किया।

समाज सुधार के कार्यक्रमों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1954 में विशेष विवाह कानून (Special Marriage Act) पारित किया गया। इस कानून द्वारा हिन्दुओं को सिविल मैरेज करने की सुविधा मिल गई। इसके बाद हिन्दू विवाह कानून, 1955 पास किया गया इससे धार्मिक शिष्टाचार के साथ-साथ एक विवाह-प्रथा को जबरदस्ती लागू किया गया। श्रम कल्याण के क्षेत्र में आवश्यक कानून ये हैं :- राज्य कर्मचारी बीमा कानून 1948, (Employee's State Insurance Act, 1948) कोल माइन्स प्राविडेन्ट फंड एण्ड बोनस स्कीम एक्ट 1948, इम्प्लाइज प्राविडेन्ट फंड एक्ट, 1952, न्यूनतम मजदूरी कानून, 1948, कारखाना अधिनियम 1948, (1949, 1950 और 1954 में संशोधित), बगान श्रमिक कानून 1951, भारतीय खान कानून 1952, औद्योगिक विवाद (संशोधित) कानून 1953, अन्य क्षेत्रों में पारित किये गये कुछ मुख्य कानून ये हैं :- महिलाओं एवं लड़कियों में अनैतिक व्यवसाय प्रतिबन्ध कानून 1956, अस्पृश्यता अपराध कानून 1955, बाल कानून 1960, (1978 में संशोधित), बन्धित श्रम पद्धति (उत्पादन) अधिनियम 1976, (The Bonded Labour System Abolition) Act, (1976), दहेज निषेध कानून, 1961, (1976 में संशोधित) आदि।

समाज कल्याण सेवाओं में प्रदान करने की प्रमुख जिम्मेदारी ऐच्छिक संस्थाओं पर रही है, ऐसा माना गया। इन ऐच्छिक संस्थाओं को अपने कार्यों के लिए सरकार द्वारा अनुदान दिया गया और जहाँ इन संस्थाओं की कमी थी वहाँ सरकार ने स्वयं अपनी संस्थायें उस क्षेत्र की कमी को पूर्ण करने के लिए स्थापित कर दी और केन्द्रीय मंत्रालयों को इन कार्यों को पूर्ण करने का दायित्व प्रदान किया और एक केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड (Central Social Welfare Board) 1953 में शिक्षा मंत्रालय के अधीन स्थापित किया गया। इस बोर्ड द्वारा राज्यों में 'राज्य समाज कल्याण परामर्शदायी समिति' की स्थापना की गई। समाज कल्याण कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए 'योजना प्रायोजना समिति' (Committee of Plan Projects) ने श्रीमती रेणुका रे की अध्यक्षता में 1959 में 'समाज कल्याण पर एक अध्ययन दल' गठित किया। इस दल की सिफारिशों के आधार पर शिक्षा मंत्रालय में समाज कल्याण का एक अलग प्रभाग संगठित किया गया। समाज कल्याण के कार्यों को और आगे बढ़ाने के उद्देश्य से 1964 में 'सामाजिक सुरक्षा विभाग' (Deptt. of Social Security) नामक एक स्वतंत्र विभाग गठित किया गया। इस नये विभाग की देखरेख में 'सामान्य समाज कल्याण', 'पिछड़े वर्गों के कल्याण', 'श्रम कल्याण' आदि को रखा गया। इसके पश्चात् 1966 में श्रम कल्याण के कार्यों को 'श्रम तथा रोजगार मंत्रालय' को दे दिया गया। सामाजिक सुरक्षा विभाग का नाम परिवर्तित कर 'समाज कल्याण विभाग' रखा गया। महिला कल्याण, बाल कल्याण, अपंग और कमजोर वर्गों के कल्याण के कार्य इस नये विभाग को दे दिये गये।

समाज कल्याण विभाग, जो शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय का एक भाग है, बाल कल्याण, महिला कल्याण, परिवार कल्याण, सामाजिक सुरक्षा, शारीरिक व मानसिक रूप से कमजोर व्यक्तियों के कल्याण, विस्थापितों के पुनर्वास, अनुसूचित जातियों एवं पिछड़े वर्गों के कल्याण इत्यादि के कार्य संभालता है। इस विभाग को अब समाज कल्याण मंत्रालय में बदल दिया गया है। अन्य केन्द्रीय मंत्रालय भी समाज कल्याण के कार्य सम्पादित करते हैं जैसे- 'शिक्षा एवं युवा कल्याण मंत्रालय' बालकों की शिक्षा, युवा कल्याण (छात्र व अछात्र दोनों) सामाजिक शिक्षा, प्रौढ़ तथा सतत् शिक्षा आदि के कार्य देखती हैं। इस मंत्रालय का नाम परिवर्तित कर मानव संसाधन विकास मंत्रालय (शिक्षा विभाग) (Ministry of Human Resource Development) कर दिया गया है। 'स्वास्थ्य एवं शहरी विकास मंत्रालय' मातृत्व एवं बाल स्वास्थ्य, परिवार कल्याण नियोजन एवं नगरीय सामुदायिक विकास के कार्यक्रम का संचालन करती है। पाकिस्तान, बांग्लादेश, वर्मा, श्रीलंका, अफ्रीका आदि देशों से आने वाले विस्थापितों के पुनर्स्थापन का कार्य 'पुनर्वास मंत्रालय' करता है। 'श्रम मंत्रालय' श्रमिकों के कल्याण कार्यक्रमों और 'सामुदायिक विकास मंत्रालय' ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास कार्यक्रमों का संचालन करता है।

समाज कल्याण विभाग राज्य स्तर पर भी स्थापित किये गये। उत्तर प्रदेश उनमें पहला राज्य है, जहाँ पर समाज कल्याण विभाग 1954 में खोला गया। इसके अलावा राज्य में समाज कल्याण विभाग के साथ ही साथ हरिजन कल्याण का विभाग भी खोला गया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् समाज कार्य के क्षेत्र में काफी विकास हुआ। भारतीय संविधान के अन्तर्गत देश को कल्याणकारी राज्य घोषित करने के साथ ही समाज कल्याण कार्यक्रमों को अधिक शक्ति तथा चेतना प्राप्त हुई। कल्याण कार्यों के क्षेत्र में वृद्धि होने के कारण समाज कार्यकर्ताओं के लिए शिक्षण व प्रशिक्षण की जरूरत महसूस हुई और समाज कार्य शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की जाने लगी।

सर्वप्रथम बम्बई (मुम्बई) में 'सोशल सर्विस लीग' द्वारा सामाजिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का प्रयत्न किया गया जब इसने एक औपचारिक अनुस्थापन पाठ्यक्रम (Orientation Course) शुरू किया। लेकिन समाज कार्य के शिक्षण की विशिष्ट शुरूआत 1936 में 'सर दोराब जी टाटा ग्रेजुएट स्कूल आफ सोशल वर्क' की स्थापना से हुई। भारतीय स्तर पर 1947 तक यही एकमात्र समाज कार्य की शिक्षा संस्था थी जो शिक्षण व व्यावसायिक प्रशिक्षण की व्यवस्था से जुड़ी हुई थी। स्वाधीनता के बाद 1947 में काशी विद्यापीठ, वाराणसी में भी एक समाज सेवा केन्द्र की स्थापना हुई। बाद में व्यावसायिक समाज कार्य में दो वर्षीय स्नातकोत्तर उपाधि एम.ए.एस. प्रारम्भ किया गया। आगे चलकर समाज विज्ञान संस्थान (Institute of Social Sciences) को समाज सेवा विद्यालय का नामकरण कर दिया गया और उपाधि को एम.ए. समाज कार्य कहा गया। 1974 में जब उ0प्र0 सरकार ने काशी विद्यापीठ को पूर्ण राज्य विश्वविद्यालय की मान्यता दी तो समाज सेवा विद्यालय को विश्वविद्यालय के एक विभाग 'समाज कार्य विभाग' के रूप में कर दिया गया। पुनः 1981 में समाज कार्य विभाग का स्तर बढ़ाकर समाज कार्य संकाय कर दिया गया जो भारत वर्ष की तीन संकायों में से एक है। यहाँ पर समाजकार्य एम.ए. एवं उच्च स्तर के शोध आदि उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं, साथ ही स्ववित्तपोषित एम.ए. (आई.आर.पी.एम) ग्रामीण प्रबन्ध, प्रौढ़ शिक्षा एवं सतत् विकास आदि की भी शैक्षणिक सुविधा है। 1948 में दिल्ली में समाज कार्य विद्यालय 1949 में जे.के. इन्स्टीट्यूट, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा बाद में समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय स्थापित हुआ।

स्वाधीनता के पश्चात् समाज कल्याण के क्षेत्र में सुनियोजित विकास के क्रम में पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की जरूरत महसूस होने लगी। अतः अनेक जगहों पर समाज कार्य शिक्षण संस्थाओं की स्थापना होने लगी। देखते ही देखते आगरा, नागपुर, उदयपुर, मद्रास, पटना, कलकत्ता, मदुराई, थारवार, बैंग्लोर, अहमदाबाद, बड़ोदा, इन्दौर, अमृतसर, श्रीनगर, जामियाँ मिलियाँ दिल्ली, कुरूक्षेत्र, पटियाला, चित्रकूट, रीवां, बरेली, सिल्वर, भोपाल, झाँसी,

जबलपुर, फैजाबाद आदि कई जगहों पर समाज कार्य की शिक्षण-संस्थायें खुल गईं। इन संस्थाओं में से कहीं पर स्नातक तो कहीं स्नातकोत्तर, पी-एच.डी., डी.लिट् आदि की शिक्षा व्यवस्था प्रदान की जा रही है। विगत कुछ वर्षों से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में भी स्ववित्तपोषित एम.ए. समाज कार्य (प्रयोग के तौर पर) प्रारम्भ हो गया है। इसके अतिरिक्त देश व प्रदेश में कुछ स्थानों पर समाज कार्य डिप्लोमा के पाठ्यक्रम भी चलाये जा रहे हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता के पश्चात समाज-कार्य की अनेक शिक्षण संस्थायें विकसित होती गईं। अनेक स्थानों पर स्नातकोत्तर स्तर पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विशेषीकरण के आधार पर अध्ययन-अध्यापन की सुविधा प्रदान की जा रही है। श्रम कल्याण एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कार्मिकों हेतु समाजकार्य की शिक्षण संस्थायें काफी लाभकारी सिद्ध हो रही हैं तथापि आशा के अनुरूप व्यावसायिक समाज कार्य का सही अभ्यास नहीं हो पा रहा है। इसका कारण प्रशासनिक भूमिका या नौकरशाही का दबदबा कहा जा सकता है। इसके लिए समाज कार्य शिक्षण-प्रशिक्षण का एक निर्धारित स्तर कायम रखते हुए व्यावसायिक संगठन को और अधिक मजबूत बनाने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष के उत्तरी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त दक्षिणी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में भी समाजकार्य की शिक्षा दी जा रही है। वर्तमान समय में भारतवर्ष के अनेक विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में समाज कार्य में एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट् आदि उच्च स्तर की जो उपाधियाँ प्रदान की जा रही हैं उसके माध्यम से प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं को समाज कार्य की विधियों, प्रविधियां, सिद्धान्तों और निपुणताओं को समझने और व्यावहारिक पक्ष में उनके उपयोग द्वारा मानवीय व्यवहार को समझने तथा समस्याओं के अध्ययन की सुविधा मिलती है और इससे गंभीर मनःसामाजिक समस्याओं के समाधान का अवसर मिलता है। विभिन्न विशेषीकरणों-औद्योगिक सम्बन्ध एवं कार्मिक प्रबन्ध, मनःचिकित्सकीय समाज कार्य, परिवार एवं बाल कल्याण, सामुदायिक विकास, अपराध सुधार प्रशासन के क्षेत्रों में विशेष प्रशिक्षण उपलब्ध है। इस प्रकार पूर्ण प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ता अपने व्यावसायिक दक्षता का उपयोग कर अद्यतन वैज्ञानिक तरीके से व्यक्ति, समूह व समुदाय की ज्वलंत समस्याओं का समाधान अपने स्वयं की क्षमताओं के उपयोग द्वारा करने का प्रयास करता है।

इंग्लैण्ड में समाज कार्य का इतिहास

समाज में मानव-विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि हर समाज एवं युग में निर्धन, दुर्बल, अनाथ, वृद्ध, रुग्ण, अपंग एवं निराश्रित व्यक्ति रहते आये हैं। ऐसे कमजोर लोगों की सहायता हर समाज अपने ढंग से समयानुसार करता रहा है। लेकिन प्रारम्भिक युग में कुछ जातियों द्वारा अपने कमजोर सदस्यों-बुड्ढे, रुग्ण व अपंगों

की या तो हत्या कर दी जाती थी अथवा उन्हें किसी जगह पर छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार के व्यक्तियों को जाति पर एक बोझ समझा जाता था, वरना समस्त सभ्यताओं में ऐसे संकेत प्राप्त होते हैं कि उस समय, इन असहायों, वृद्धों, रुग्णों, अपंगों एवं दुर्बल व्यक्तियों के प्रति दया, सहानुभूति की भावना विद्यमान थी। अर्थात् उस समय के सक्षम निवासी ऐसे अक्षम लोगों की सहायता दया भाव से अभिभूत होकर करते थे। धार्मिक गुरुओं ने धर्म व धार्मिक संस्थाओं की शुरुआत होते ही प्रत्येक समाज में ऐसे सभी लोगों को संरक्षण देने में अगुवाई की। धार्मिक भाव एवं ईश्वरीय कृपा को पाने की अभिलाषा ने दान की प्रवृत्ति व सहायता कार्य को बढ़ावा दिया। ईसाई धर्म के अन्तर्गत एक दूसरे की सहायता करने की भावना को होना आदेश सदृश समझा जाता था। इस भावना का इतना महत्व था कि धार्मिक संस्थाओं द्वारा माँगे गये दान में देश के निवासी पूरे मन से अधिक से अधिक मदद करते थे। यह सब जागीरदारी प्रथा के अन्तर्गत भी विद्यमान था। इस तरह दान व सहायता कार्य दीन-हीन लोगों के लिए काफी मददगार था।

यद्यपि निराश्रित, रुग्ण, विकलांग व विधवा आदि के प्रति लोगों के मन में काफी सहानुभूति एवं दया भाव था, इसलिए धार्मिक संस्थाओं को चंदे की प्राप्ति बहुत सरलता से उपलब्ध हो जाती थी और इस तरह इन दुर्भाग्यशाली लोगों के तकलीफ का निवारण करना एक विशेष धार्मिक कार्य माना जाता था। यही नहीं बल्कि धार्मिक गुरुओं की शिक्षा ने धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा भिक्षा प्राप्त करने वाले को एक सम्मान प्रदान किया और जो भिक्षा देता था उसे उच्च स्तर का व्यक्ति बताते हुए महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। प्रारम्भ में ईसाई आवश्यकतानुसार एक दूसरे की मदद करते थे लेकिन मध्यकालीन गिरजाघरों में गरीब-निर्धनों की सहायता कार्यों का प्रशासन मुख्य पादरियों, स्थानीय स्तर के पादरियों तथा पादरियों के नीचे तृतीय स्तर के अधिकारियों (डेकन्स) को सौंप दिया गया। ईसाई धर्म को राजकीय धर्म का स्तर तो प्राप्त हुआ ही, साथ ही गरीबों के लिए मठों में ऐसी संस्थायें स्थापित की गई जो अनाथ गृहों, बुड्ढों, बीमारों व विकलांगों के गृहों में जाकर सेवा देने लगी तथा गृहविहीन लोगों के लिए शरण प्रदान करने का कार्य करने लगी। अधिकांश धर्म-गुरुओं के माध्यम से संचालित किये गये संगठनों ने इस कार्यक्रम में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। धार्मिक प्रचारक विशेष रूप से दान प्राप्त करने एवं असहायों को सहायता देने में तत्पर रहे। परिणामस्वरूप समस्त यूरोप में भिक्षावृत्ति की ज्यादा वृद्धि हो गयी। ऐसा इसलिए भी सम्भव हो गया क्योंकि भिक्षावृत्ति को समाज द्वारा मान्यता तो थी ही साथ ही यह कार्य आसानी से सम्पन्न भी हो जाता था। इसे धार्मिक गुरुओं, संन्यासियों, विश्वविद्यालय के छात्रों व अन्य लोगों से जोड़ा जाने लगा जो धार्मिक स्थलों की तीर्थयात्रा पर पहुँचकर इस कार्य को सम्पन्न करते थे। भिक्षावृत्ति की इस बढ़ती प्रवृत्ति को राज्य ने पसंद नहीं किया। चार्ल्स मैगने (Charles Magne) के कानून बन जाने के साथ बहुत से राज्यों

ने भिक्षावृत्ति को प्रतिबन्धित कर दिया और शारीरिक रूप से स्वस्थ भिखारियों को भिक्षा देने वाले नागरिकों पर जुर्माना लगाने का निश्चय किया गया। इस तरह दासों एवं ग्रामीण श्रमिकों को जागीरों पर रुकने के लिए विवश करना, साथ ही कृषकों व यात्रियों को लफंगे भिखारियों से लुटने आदि से बचाव करना मुख्य लक्ष्य था।

प्राचीन गिरजाघरों की सहायता संस्थायें चिकित्सालयों में बदल दी गई, जो अनाथ, परित्यक्त बालकों, रुग्ण व्यक्तियों, वृद्धों एवं गर्भ धारण करने वाली महिलाओं की देखभाल में संलग्न हो गयी। ये संस्थायें (मध्य काल में) सहायता कार्य की विशिष्ट संस्थायें हो गयीं। राजाओं, जागीरदारों, रईसों से प्राप्त चंदों के माध्यम से इन चिकित्सालयों को संगठित करने का प्रयास किया गया। लेकिन यह अत्यधिक न्यून संख्या में असहाय व्यक्तियों को आश्रय दे सकीं और अधिकाधिक संख्या में भिक्षुक सड़कों पर भ्रमण करते रह गये जो समाज पर एक कलंक स्वरूप थे और जिसे स्थानीय व राज्य स्तर की सरकारें हल करने में समर्थ नहीं थीं। ऐसी विषम स्थिति में राज्य तथा चर्च के मध्य संघर्ष पैदा हुआ। इस संघर्षमय स्थिति का कारण मात्र दान के सम्बन्ध में स्वयं की विचारधारा ही नहीं थी। वरन् इसका कारण चर्च संस्थाओं व चिकित्सालयों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में खामियाँ एवं पैसे का अपव्यय भी था। परिणामस्वरूप इन संस्थाओं की सामाजिक बदनामी होने लगी और राज्य को निगरानी हेतु मण्डल संगठित करने पड़े। यूरोपीय सरकारों ने भिक्षावृत्ति एवं लोफरगिरी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए कठोर कानून पास किये लेकिन लूटपाट व लोफरगिरी को पूर्णरूपेण समाप्त करने में किसी भी सरकार को सफलता नहीं मिल सकी। इस प्रकार यह कार्य अपने गति से चलता रहा।

16वीं शताब्दी में राज्य तथा चर्च के बीच विवाद, संघर्ष ज्यादा तेज हो गया। 1520 में मार्टिन लूथर (Martin Luther) ने जर्मनी में भिक्षा देने पर प्रतिबन्ध लगाने, भिक्षावृत्ति को दूर करने और निर्धन सहायता कार्य हेतु साधारण कोष निर्मित किये जाने का परामर्श दिया, जिसमें खाद्य-सामग्री, कपड़ा, धन आदि एकत्र होने लगा। इस साधारण कोष में ऐच्छिक चन्दों के अलावा नियमित चन्दों को भी सम्मिलित किये जाने का परामर्श दिया गया। इस प्रकार के दृष्टिकोण यूरोप के अन्य देशों के सम्मुख भी आये। इस प्रकार के कार्यक्रमों का विकास फ्रांस, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैण्ड (ज्युरिख) आदि देशों में भी किया गया। स्थानीय सरकार द्वारा धन इकट्ठा करने और असहायों, बीमारों तथा अनाथों को सहायता उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी ली गई, लेकिन सहायता कार्यों की प्रशासनिक व्यवस्था में चर्चों के वार्डनों ने प्रमुख भूमिका का निर्वहन किया। यह महसूस किया जाने लगा कि निर्धनों की सहायता की वैधानिक जिम्मेदारी समुदाय पर है लेकिन असहाय परिवारों की सामाजिक स्थितियों में बदलाव हेतु कुछ नहीं किया जा सका। सोलहवीं शताब्दी में स्पैनिश दार्शनिक जुआन लुइस वाइव्स (Juan Luis Vives) ने प्रथमतः यह विचार व्यक्त किया कि निर्धन व्यक्तियों की परिस्थितियों की तरफ ध्यान आकृष्ट

किया जाना चाहिए। वाइव्स अपने समय का एक विख्यात वैज्ञानिक था जो अधिक समय तक बेल्जियम में रहा और उसने निर्धन सहायता के एक संक्षिप्त कार्यक्रम का विकास किया। उसका सुझाव था कि सम्पूर्ण नगर को छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त किया जाय, हर खण्ड की जिम्मेदारी दो सिनेटर्स (Senators) तथा उनकी मदद के लिए एक मंत्री को दे दी जाय जिससे वे उस क्षेत्र के हर निर्धन परिवार की सामाजिक स्थितियों की जाँच करे और उसे परम्परागत दान के वितरण के स्थान पर व्यावसायिक प्रशिक्षण, नौकरी तथा पुनर्वास द्वारा मदद की जाय। काम करने के अयोग्य एवं बूढ़े व्यक्तियों को भिक्षुक गृहों को सौंप दिये जाने का परामर्श दिया। यूरोप में वाइव्स के इन अच्छे विचारों को अधिक समय तक व्यवहार में नहीं लाया जा सका लेकिन लगभग 25 वर्ष पश्चात् इस विचारधारा का महत्व बढ़ा और इसे लागू किया गया तथा 1788 में हेम्बर्ग (Hamberg) में वाइव्स के परामर्श के अनुरूप सिनेटर्स किये गये। ऐच्छिक समिति के माध्यम से वैयक्तिक स्तर पर, निर्धनों की परिस्थितियों की जाँच करने व सहायता प्रदान करने हेतु नगर को साठ छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त किया। हर खण्ड में जन सहायता कमिश्नर की नियुक्ति की गई। हर खण्ड में लगभग समान संख्या में गरीब निर्धन परिवार रहते थे। प्रत्येक कमिश्नरी में 3 सम्मानीय नागरिक रखे गये जो वेतन नहीं पाते थे। पाँच सिनेटर्स और दस नागरिकों से युक्त एक केन्द्रीय मण्डल द्वारा जाँच कार्य का संचालन होता था। निर्धन व्यक्तियों से साक्षात्कार करना, उनके स्वास्थ्य, आय व नैतिकता के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना तथा हर परिवार की वैयक्तिक आवश्यकताओं को निर्धारित करना इन कमिश्नरों के कार्य क्षेत्र में आते थे। केन्द्रीय अनाथालयों से सम्बन्धित औद्योगिक विद्यालयों द्वारा बालकों एवं नवयुवकों के मौलिक पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गई। ऐच्छिक दान एवं करों द्वारा इन सहायता कार्यों को संचालित किया जाता था। इसी तरह यूरोप के कई नगरों में ऐसे कार्यक्रम संचालित किये गये। फादर विन्सेन्ट डि पाल (Father Vincent de paul) ने फ्रांस में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने धनाढ्य परिवारों की महिलाओं को प्रेरित कर निर्धनों की सहायता हेतु 'लेडीज आफ चैरिटी' (Ladies of Charity) संगठन का निर्माण किया। इस संगठन की सदस्या निर्धन परिवारों में खाद्य सामग्री व कपड़ा आदि को वितरित करती थीं। इसी तरह कृषक वर्ग की युवा महिलाओं को साथ लेकर 'डाटर आफ चैरिटी' (Daughter of Charity) नामक संगठन स्थापित किया गया। ये युवा महिलायें निर्धन व्यक्तियों की सहायता करते हुए समाज कार्यकर्ताओं की अगुआ बनकर सामने आयीं। फ्रांस ही नहीं वरन् अनेक दूसरे देशों में भी फादर विन्सेन्ट से प्रभावित होकर इन सहायता कार्यक्रमों को नयी दिशा मिली और सहायता कार्य अच्छी तरह सम्पन्न होता रहा।

धार्मिक गुरुओं एवं पादरियों ने इंग्लैण्ड में धार्मिक कार्यों व धार्मिक संस्थाओं के उदय होते ही लाचार, निराश्रितों, गरीब-निर्धन, वृद्ध, रुग्ण, विकलांग, बेसहारा लोगों की मदद की। मध्ययुगीन इंग्लैण्ड में निर्धनों की देखभाल का प्रबन्ध चर्च द्वारा मान्य था। बेसहारा, अन्धे, अपंग

व्यक्ति को भिक्षा/दान देना धार्मिक कृत्य एवं मृत्यु के बाद ईश्वरीय दण्ड से बचने का साधन समझा जाता था। दानी व्यक्ति दान प्राप्त करने वाले के प्रति कोई सहानुभूति न रखकर भिक्षा देना व दानपुण्य को अपनी (दानी-पुरुष) आत्मा की मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानता था। लेकिन 14वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से निर्धनों को दो खण्डों में विभाजित पाया गया। प्रथम शारीरिक रूप से स्वस्थ्य निर्धन जो स्वयं जीविकोपार्जन कर सकते हों तथा द्वितीय-निर्बल बेसहारा निर्धन जैसे - अपंग, अन्धे, वृद्ध, बीमार, अल्पवयस्क बालक एवं गर्भवती महिलायें जो श्रम करने में असमर्थ हों। ऐसे व्यक्तियों को सहायता का वितरण चर्च वार्डनों एवं अन्य कर्मचारियों की मदद से पेरिस के पादरियों द्वारा किया जाता था। 13वीं एवं 14वीं शताब्दी में चर्च संस्थाओं व धार्मिक संस्थाओं ने निर्धनों की देखभाल सम्बन्धी कार्यों से पेरिस के गिरजाघरों को असम्बद्ध कर दिया। 15वीं शताब्दी में अनेक मठ, चिकित्सालय तथा ईसाई पादरियों के डेरे, निर्धनों व घूमने-फिरने वाले भिक्षुकों को भिक्षा, दान व शरण-आश्रय देने लगे। धनाढ्य व्यक्तियों एवं राज-परिवार के सदस्यों द्वारा दिये गये धन से निर्मित कोष द्वारा अनेक संस्थायें संचालित की जा रही थीं। मठों के दरवाजों पर दैनिक भोजन वितरण किया जाता था तथा गृहविहीन व्यक्तियों को मठों में आश्रय मिलता था, लेकिन निर्धनों की सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन हेतु कुछ नहीं हो पाता था जिससे उन्हें पुनः आत्मनिर्भर बनाया जा सके। व्यावसायिक संघ की मदद/कार्य से, चर्च संस्थाओं के निर्धन सहायता सम्बन्धी विशिष्ट कार्य को बल प्राप्त होता रहा। व्यावसायिक संघ ग्रामीण-भाईचारा समितियों तथा सामाजिक अथवा चर्च संघों को एक दूसरे की मदद के लिए संगठित किया गया। ये समितियाँ नगर में स्थित निर्धनों के हेतु सहायता कार्य संगठित तो करती ही थीं, साथ ही समस्याग्रस्त लोगों, बीमारों, अनाथों व विधवाओं को सहारा भी देती थी। ये संस्थायें मुख्यतया अकाल अथवा सूखा पड़ने पर बेसहारा लोगों को खाद्य पदार्थों के वितरण, भोजन मुहैय्या कराने एवं गरीब निर्धन यात्रियां को निःशुल्क आवास उपलब्ध कराती थीं।

इंग्लैण्ड के राजा तथा संसद ने चौदहवीं शताब्दी तक अपने आप को व्यावसायिक संघों और चर्च के सहायता कार्यों से पृथक रखा। लेकिन जागीरदारी प्रथा के खत्म होने तथा नयी आर्थिक प्रणाली के अपनाये जाने से सामाजिक बदलाव के परिणामस्वरूप दास स्वतंत्र हो गये और ग्रामीण श्रमिक संख्या में बढ़ने लगे। इन श्रमिकों में लोफरगिरी, अनुशासनहीनता एवं लूटपाट इस कदर बढ़ गई कि इंग्लैण्ड के राजा तथा उसके पदाधिकारियों के सम्मुख इनको नियंत्रण में लाने की समस्या पैदा हो गयी। जागीरों द्वारा दास प्रथा से ग्रामीण श्रमिकों को स्वतंत्र कर देने से नवीन समस्यायें आ गईं क्योंकि पूर्व में प्रत्येक जागीरदार दास व उसके परिवार को भोजन, कपड़ा व मकान/आवास की सुविधा उपलब्ध कराता था और वृद्धों व बीमारों की देख-रेख समुचित ढंग से करता था। अब स्वतंत्र हो जाने से मजदूर व उसके परिवार इधर से उधर जाने लगे, साथ ही पहले जैसी सुरक्षा भी उन्हें प्राप्त नहीं रही। ऐसी दशा में वे असमर्थ,

वृद्ध व बेरोजगार व्यक्ति में भिक्षावृत्ति की तरफ आकृष्ट होने को विवश हो जाते थे। इस प्रकार ऐसी सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि निर्धनता की समस्या विकराल रूप में आ गई।

इंग्लैण्ड में 1348 में भयानक प्लेग के कारण एक साल के भीतर एक तिहाई जनसंख्या समाप्त हो गई परिणामस्वरूप श्रमिकों की संख्या घट जाने से उनके (श्रमिक) वेतन की दरें आसमान छूने लगी। श्रमिकों की घटती संख्या को भापकर तथा भूमिहीनों के बिना लक्ष्य भ्रमण के कारण जागीरदारों ने एडवर्ड तृतीय को कड़ा कानून बनाने हेतु प्रोत्साहित किया। 1349 में एडवर्ड ने विख्यात श्रम विधान (Statute of Labourers) की घोषणा की। इस प्रथम कानून के मुताबिक स्वस्थ शरीर वाले बेसहारा श्रमिक को यदि कोई व्यक्ति कार्य देने की इच्छा व्यक्त कर रहा हो तो उस श्रमिक को आवश्यक रूप से कार्य स्वीकार करना होगा। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर यह प्रतिबन्ध लागू कर दिया गया कि वह अपना गाँव (Parish) छोड़कर नहीं जा सकेंगे। साथ ही नागरिकों द्वारा ऐसे व्यक्तियों को भिक्षा/दान देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस तरह यह कानून निर्धन सहायता के क्षेत्र का प्रथम कानून था, जिससे चर्च की शक्ति का स्थान राज्य की शक्ति ने ग्रहण कर लिया। ग्रामीण श्रमिकों की जागीरों (भूमि) पर रोकना तथा लोफरगिरी व भिक्षावृत्ति को रोकना इस कानून का उद्देश्य था। इस कानून का पालन न करने वाले को कठोर दण्ड दिये जाने के आदेश दे दिये गये।

प्लेग के अतिरिक्त इंग्लैण्ड में अकाल, उपज में गिरावट तथा इसकी काल में (महाद्वीप में) युद्ध भी हुए। इसके अलावा जोती जाने वाली जमीन को ज्यादा लाभदायक भेड़ों की चारागाहों में Act of Enclosure के अन्तर्गत परिवर्तित कर दिया गया जिसे ग्रामीण श्रमिकों में बेकारी की और अधिक वृद्धि हो गई।

हेनरी अष्टम (Henry VIII) ने सरकार की ओर से 1531 में नवीन कानून की घोषणा की। निर्धन सहायता के लिए सरकार के रचनात्मक कार्य के रूप में यह प्रथम तरह का कानून था। इस कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई कि शांति के न्यायाधीश तथा नगर प्रमुख, श्रम करने में असमर्थ, निर्धनों एवं बुड्ढों, जिनकी देखरेख गाँव के माध्यम से होती थी, के प्रार्थना पत्रों के सन्दर्भ में व्यापक ज्ञान प्राप्त करेंगे और ऐसे व्यक्तियों का निबन्धन करेंगे। उन्हें एक निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा मांगने के लिए लाइसेंस दिया जायेगा। भिक्षा मांगने वाले स्वस्थ शरीर के बेरोजगार व्यक्तियों को भिक्षा के रूप में नगद रुपये या आवास देने वाले नागरिकों पर दण्ड लगाये जाने की व्यवस्था की गई ताकि भिक्षावृत्ति पर अंकुश लग सके। इतना ही नहीं, बल्कि शारीरिक रूप से स्वस्थ भिखारियों को कोड़े लगाकर उन्हें अपने मूल जन्म स्थान पर वापस भेज दिये जाने का प्रावधान था, जहाँ पर पहुँच कर वे श्रमकार्य करेंगे। इस कानूनी घोषणा से यह स्पष्ट है कि प्रथमतः राज्य द्वारा निर्धनों की समस्या को मान्यता प्राप्त हुई तथा उनकी सहायता की जिम्मेदारी को स्वीकार किया गया। इस कानूनी घोषणा से इंग्लैण्ड के निर्धन सहायता कार्य की

समस्त पद्धति में मौलिक बदलाव आ गये। 15वीं शताब्दी तक व्यावसायिक संगठनों का प्रभाव भी खत्म हो गया। शनैः शनैः कुलीन प्रथा भी समाप्त हो गयी। हेनरी अष्टम ने गिरजाघरों की सम्पत्ति को राज्य में सम्मिलित कर लिया। मठों में कार्यरत व्यक्ति, साधु, महिला साधु एवं अनेक परिवार हटा दिये गये। इनमें से अधिकांश दूसरे निर्धनों एवं घुमक्कड़ों में सम्मिलित हो गये। ऐसी स्थिति में निर्धनों की सहायता हेतु दूसरा साधन इकट्ठा करना जरूरी हो गया। 1536 में इन समस्याओं के निराकरण हेतु एक नया कानून बना। इस कानून से इंग्लैण्ड में सरकार की तरफ से जनता की सहायता हेतु प्रथम योजना बनाई गई। इस कानून के अन्तर्गत : (1) स्थानीय अधिकारी (चर्च अधिकारी भी सम्मिलित) चर्च के जरिये धन एकत्र करेंगे, जो निर्बल, निर्धन, अपंग, बीमार व्यक्तियों की मदद के लिए उपयोग में लाया जायेगा ताकि भिक्षावृत्ति में कमी आ सके। (2) 5 वर्ष से 14 वर्ष की आयु के बालकों को, यदि वे भिक्षा माँगते हुए पाये गये, उनके माता पिता से लेकर अन्य नागरिकों को सौंप देने का अधिकार न्यायाधीश व अन्य स्थानीय अधिकारियों को दिया गया, जिससे उन्हें अपनी आजीविका कमाने के लिए प्रशिक्षण दिया जा सके, (3) शरीर से तन्दुरुस्त व लोफर तथा हिम्मती भिक्षुओं को कोड़े लगाये जायेंगे और यदि वे बारम्बार घूमते पाये जायें तो उनके हाथ-पैर काट दिये जायेंगे। (4) निर्धन व्यक्तियों का उनके ही गाँव/पेरिस (Parish) में निबन्धन (Registration) किया जायेगा। उस गाँव/पेरिस को अपने निर्बल निर्धनों को गाँव वालों से चर्च के जरिये एकत्र किये गये ऐच्छिक चन्दों से सहायता देनी होगी।

यह कानून यद्यपि कठोर था लेकिन 16वीं शताब्दी में इस कानून से निर्धन सहायता कार्य जो चर्च द्वारा अनियमित तरीके से चल रहा था सरकार द्वारा नियमित तरीके से चलाया जाना शुरू हुआ।

हेनरी अष्टम (Hennry VIII) ने 1535 तथा 1539 में धार्मिक मठों को अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया और अधिकांश पादरियों तथा नन्स (Nuns) को निकाल बाहर कर दिया। इनमें से ज्यादातर भिक्षुक सड़कछाप घूमने फिरने वाले बन गये। खाद्य सामग्री के दाम आसमान छूने लगे तथा भिक्षावृत्ति में बढ़ोत्तरी हो गयी। इस समस्या के समाधान हेतु 1563 में पार्लियामेंट (Parliament) को निर्धन सहायता कार्यों को संचालित करने लिए नये कदम उठाने पड़े। हर परिवार के मुखिया को कानून द्वारा विवश किया गया कि उसे अपनी आमदनी एवं सम्पत्ति के आधार पर साप्ताहिक चंदा देना होगा। 1572 में रानी एलिजाबेथ (Queen Elizabeth) ने एक नये कानून पर हस्ताक्षर किये जिसके तहत सामान्य कर द्वारा निर्धन कोष की स्थापना हुई और इस नये कानून के प्रशासनिक व्यवस्था हेतु निर्धनों के ओवरसियर (Overseer) नियुक्त हुए। इस कानून (1572) से ज्ञात होता है कि अंततः यह मान लिया गया कि निर्धन सहायता की जिम्मेदारी सरकार पर है। 1576 में क्षेत्रीय न्यायाधीशों को यह

अधिकृत कर दिया गया कि वह सुधार-गृह के उपयोग हेतु किसी भी मकान को क्रय कर सकते हैं या किराये पर ले सकते हैं। इन सुधार-गृहों को ऐसे पदार्थ उपलब्ध कराये गये जिनसे बेकार स्वस्थ शरीर वाले व्यक्तियों से विवश कराके श्रम कराया जा सके और उनमें कार्य करने की योग्यता/क्षमता पैदा हो सके तथा सहायता कार्य की जरूरत को घटाया जा सके। 1597 के कानून के द्वारा शांति के न्यायाधीशों (Justice of Peace) को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वे चर्च वार्डेन तथा चार अमीर परिवारों के प्रमुख-मुखिया नियुक्त करेंगे। ऐसे व्यक्तियों के लिए जो निर्बल, विकलांग, बूढ़े, नेत्रहीन, लंगड़े व श्रम करने में असमर्थ हों, भिक्षावृत्ति की स्थापना की जायेगी और बालकों तथा माँ-बाप को एक दूसरे की सहयता करने के लिए विवश कर दिया गया।

कार्ल दी स्कीवीनिज (Karl De Schweinitz) ने इंग्लैण्ड के इन प्रारम्भिक सहायता कार्यों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि हेनरी अष्टम से लेकर एलिजाबेथ तक पास किये गये कानूनों से एक परम्परा व एक सिद्धांत की स्थापना होती है जिसके अन्तर्गत स्थानीय नागरिकों की सहायता के लिए स्थानीय आधार पर धन एकत्र करने और स्थानीय स्तर पर सहायता कार्य के प्रशासन की प्रणाली की रचना हुई। इसमें निर्धनों के ओवरसियर (Overseer) प्रतिष्ठित अधिकारी मान्य हुए तथा जन सहायता की एक प्रणाली (System) की रचना हुई जिसमें श्रम करने में असमर्थ व्यक्ति को अनुदान और शरीर से तन्दुरुस्त व्यक्तियों से जबरदस्ती श्रम करवाने की व्यवस्था की गई। दो शतक तक निर्धनता को कड़े कानूनों से नियंत्रित करने के पश्चात् सरकार ने यह पहचाना कि निर्धनों की सहायता की जिम्मेदारी सरकार पर है। इंग्लैण्ड के शासक 1349 से लेकर 1601 तक के अनुभवों के आधार पर इस बात से सहमत हुए कि निर्धनों के अन्दर हीनता-दीनता एवं लाचारी पायी जाती है और इसे दण्ड देकर समाप्त नहीं किया जा सकता तथा राज्य के साधनों का उपयोग करके ही व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है।

निर्धन कानून

1558 में रानी एलिजाबेथ सिंहासनारूढ़ हुई और इसके पश्चात् 1563, 1572 तथा 1576 में निर्धन सम्बन्धी कानून का निर्माण हुआ जो कर तथा जबरदस्ती चन्दे वसूल करने, आवारा घुमक्कड़ों को जबरन कार्य करवाने, श्रम करने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों को काम देने, भिक्षागृहों तथा सुधारगृहों के निर्माण सम्बन्धित थे। इनके शासन के उत्तरार्ध में इन समस्त कानूनों को '39 Elizabeth 1597' और '43 Elizabeth 1601' के रूप में सूत्रबद्ध कर दिया गया। ये कानून Elizabeth Poor Law अथवा The Poor Law of 1601 के नाम से विख्यात हैं। इस नये कानून के अन्तर्गत पिता या पितामह के निर्वाह की जिम्मेदारी उनकी

सन्तान पर रखी गयी। इस कानून ने उन निर्धनों की देखभाल की जिम्मेदारी, जिसके सम्बन्धी मदद न कर रहे हों, गाँव (स्थानीय समुदाय) को दी गई। गाँव या पैरिश (Parish) को यह सहायता मात्र उन्हीं निर्धन व्यक्तियों को करनी होगी जिन्होंने गाँव में ही जन्म लिया हो अथवा गाँव में कम से कम 3 वर्ष से रहते आये हों। इस कानून के अनुसार- (1) उस व्यक्ति का निबन्धन नहीं किया जायेगा जिसके सम्बन्धी पति या पत्नी, पिता या पुत्र मदद कर सकने की दशा में हों। 'पारिवारिक उत्तरदायित्व' या 'सम्बन्धी उत्तरदायित्व' के सिद्धान्त का मतलब यह था कि पारिवारिक सदस्यों और सम्बन्धियों को अपने निर्धन सदस्यों के पालन-पोषण करने की प्रथम जिम्मेदारी उठानी पड़ेगी तथा राज्य सहायता अधिकारी मात्र उसी निर्धन की सहायता करेंगे जिसका परिवार उसकी सहायता करने की स्थिति में नहीं होगा। यह धारा वर्तमान जन-सहायता कार्यक्रमों में भी प्रमुख विषय बनी हुई है। (2) तीन श्रेणियों के निर्धनों को निर्धन कानून के अन्तर्गत सहायता उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई - **(अ) शरीर से स्वस्थ निर्धन** - शरीर से स्वस्थ निर्धनों या भिखारियों को 'सुधार गृहों' या 'कार्यगृहों' में कार्य करने हेतु विवश किया गया। ऐसे व्यक्तियों को भिक्षा न देने का आदेश नागरिकों को प्रसारित कर दिया गया। दूसरे गाँव से आने वाले निर्धनों को उन्हें वापस उसी जगह भेज दिया जायेगा जहाँ वह पिछले एक वर्ष से रह रहे थे। शरीर से स्वस्थ भिक्षुकों अथवा लोफर घुमक्कड़ों को, जो सुधारगृह में काम करने से इनकार कर दें, जेल में ठूँस दिया जायेगा अथवा उनके पैर तथा गले में बन्धन डाल दिये जायेंगे। **(ब) लाचार निर्धन** – काम करने में असमर्थ व्यक्तियों जैसे - रुग्ण, नेत्रहीन, गूँगे, बहरे, बच्चे तथा अत्यंत छोटे बच्चों की माताएँ। ऐसे लोगों को भिक्षागृह में रखा जायेगा। ऐसे लाचार व्यक्ति जिनका अपने रहने का स्थान होगा तथा उस जगह पर रहकर सहायता खर्च कम लगेगा तो निर्धनों के ओवरसियर (Overseer) को अधिकृत किया गया कि वह ऐसे व्यक्ति को उनके घरों पर सहायता उपलब्ध करा सकता है। इस सहायता सामग्री में खाद्य पदार्थ, कपड़ा व ईंधन हो सकते हैं। **(स) पराश्रित बच्चे** (Dependent Childern) – ऐसे बच्चे जो अनाथ हों तथा ऐसे बच्चे जिनके माँ बाप ने उन्हें त्याग दिया हो अथवा जिनके माँ बाप या पिता अथवा पितामह इतने निर्धन हों जो उनको सहारा न देने की दशा में हों। इस तरह के समस्त बच्चों को ऐसे नागरिकों के पास रखने का प्रबन्ध किया गया जो उनके पालन-पोषण हेतु न्यूनतम धन सरकार से माँगे। ऐसे बच्चों की जो 8 वर्ष अथवा इससे अधिक उम्र के हों, किसी नागरिक के साथ वचनबद्ध कर दिया जाता था। इन वचनबद्ध किये गये बालकों को मालिक का घरेलू कार्य (व्यवसाय) सीखना होगा तथा इस घर में 24 वर्ष की उम्र तक रहना होगा। बालिकाओं को घरेलू नौकरानियों के रूप में रखा जाता था और इस तरह वचनबद्ध लड़की को उस घर में 21 वर्ष की उम्र तक अथवा शादी होने तक रखा जाता था। (3) यदि बच्चे अपने माँ बाप या सम्बन्धियों के साथ रह सकें जो स्वयं निर्धन हों तो उन्हें ऐसे उत्पादन के पदार्थ उपलब्ध कराये जाते थे जिससे वह घरेलू उद्योग संचालित कर सकें। लेकिन यदि यह असम्भव हो तो इन बच्चों

को निर्धन-गृहों (Poor houses) में रखा जाता था। (4) इस निर्धन कानून को लागू करने तथा उसके प्रशासनिक कार्य को सम्पादित करने का कार्य निर्धनों के ओवरसियर (Overseer) करते थे। इनकी नियुक्ति मजिस्ट्रेट (Magistrate) अथवा शांति के न्यायाधीश (Justice of Peace) द्वारा की जाती थी। निर्धनों से सहायता के लिए प्रार्थना पत्र प्राप्त करना, उनकी सामाजिक स्थितियों की जानकारी प्राप्त करना तथा किस तरह की सहायता प्रदान की जाय, इससे सम्बन्धित निर्णय लेना इन अधिकारियों का प्रमुख कार्य था। (5) निर्धन कर द्वारा निर्धन सहायता के लिए कोष की स्थापना की गई। व्यक्तिगत दान, कानून के उल्लंघन करने पर जुर्माना से प्राप्त धन को भी कोष में जमा किया जाता था।

इंग्लैण्ड में तीन सौ वर्षो तक 1601 के इस निर्धन कानून ने सरकारी उत्तरदायित्व में एक जन सहायता का मापदण्ड निर्धारित कर दिया। यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि अपने क्षेत्र के निर्धनों की सहायता की जिम्मेदारी स्थानीय समुदाय (Local Community) पर होनी चाहिए। 1662 में The Law of Settlement पारित किया गया कि किसी भी जगह पर अन्य दूसरे जगहों से आकर निर्धन इकट्ठा जमा न हों।

इंग्लैण्ड में निर्धन सहायता (Poor Law) का विरोध, गरीबी में बढ़ोत्तरी तथा निर्धन कर (Poor Tax) में बहुत अधिक वृद्धि के कारण एक आयोग गठित किया गया जिसने दो वर्षों तक निर्धन कानून के प्रशासन का बहुत ही विस्तृत सर्वेक्षण किया और 1834 में अपनी रिपोर्ट पेश की। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित छः प्रमुख सिफारिशें की गई थीं :-

1. आंशिक दान समाप्त कर दिया जाय।
2. सम्पूर्ण स्वस्थ शरीर वाले सहायता के आवेदकों को कार्यगृहों में रखकर सहायता प्रदान की जाये।
3. घर पर मात्र उन्हीं लोगों की सहायता की जाय जो बीमार, वृद्ध, अपंग तथा विधवायें (जिनके बच्चे बहुत छोटे हों) हों।
4. समस्त गाँवों के निर्धन सहायता कार्यक्रमों और इनके प्रशासन के 'पुअर ला यूनियन' (Poor Law union) के रूप में संगठित किया जाय।
5. निर्धनों एवं भिखारियों की दशाओं को कम आमदनी वाले श्रमिकों की दशाओं व परिस्थितियों के अनुपात में कम उदार रखना चाहिए। इसे योग्यता को कम करने का सिद्धान्त (Principle of less eligibility) कहते हैं।
6. इन सहायता कार्यक्रमों के नियंत्रण के लिए एक केन्द्रीय मण्डल की स्थापना होनी चाहिए जिसे राजा नियुक्त करें।

अगस्त 1834 में इन सिफारिशों पर आधारित एक नया कानून बनाया गया जो 100 वर्ष तक कायम रहा। इस कानून का नाम 'नये निर्धन कानून' (The New Poor Law) रखा

गया। इस नये कानून ने निर्धन सहायता खर्च को एक तिहाई कर दिया। दो सौ कार्यगृह स्थापित किये गये और पुराने गृहों में सुधार किया गया। निर्धनों के समस्त परिवारों को इन कार्यगृहों में रखा गया। सभी तरह के व्यक्तियों को एक ही संस्था में रखा जाने लगा। कड़े अनुशासन का पालन होने लगा। फलस्वरूप इन गृहों की लोकप्रियता खत्म हो गई।

निर्धन कानून आयोग-1905 (The Poor Law Commission-1905)

इंग्लैण्ड में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही बेरोजगारी भीषण रूप में बढ़ गई। यह बेरोजगारी मुख्य रूप से कोयला खानों के क्षेत्र में अत्यधिक बढ़ने लगी। इस बेकारी के कारण इन कोयला खानों के मजदूरों व उनके परिवारों ने निर्धन सहायता मांगना शुरू कर दिया। लेकिन इस तरह की समस्या का मौजूदा निर्धन कानूनों से हल किया जाना दुरूह हो गया। इस विकराल समस्या के समाधान हेतु 1905 में एक आयोग का गठन किया गया जिसका नाम Royal Commission of the poor Laws and Relief of Distress था। इस आयोग का मुख्य कार्य निर्धन कानून में सुधार और बेरोजगार व्यक्तियों की सहायता करना था।

इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1909 में प्रस्तुत की और 4 सिफारिशें कीं :-

1. पुअर ला यूनियन (Poor Law Union) तथा संरक्षण मण्डल (Board of Guardians) को County Council में बदल दिया जाय जिससे स्थानीय सहायता प्रशासन में तीन चौथाई की बचत हो जायेगी।
2. गरीबों की सहायता के दण्डात्मक पक्ष को खत्म करके उसके स्थान पर मानवीय जन सहायता कार्यक्रम आरम्भ किया जाये।
3. सम्मिलित भिक्षागृह (सभी तरह के व्यक्ति, सभी श्रेणी के भिक्षुक जो पुरुष या स्त्री हों – स्वस्थ अथवा अस्वस्थ हों) समाप्त कर दिये जायें। मानसिक रोगियों को चिकित्सालयों में उपचार किया जाये और बच्चों को पालनगृहों अथवा आवासीय विद्यालयों में रखा जाये।
4. एक ऐसा कार्यक्रम आरम्भ किया जाये जिसमें वृद्धों के लिए राष्ट्रीय पेंशन, गरीबों के लिए चिकित्सालयों में निःशुल्क उपचार, सरकारी नौकरी की सुविधायें, बेकारी तथा अशक्तता की सुविधाओं के साथ सामाजिक बीमा का समावेश हो।

यद्यपि आयोग के सदस्यों में आपसी मतभेद विद्यमान रहा परन्तु इस आयोग के कार्यों के परिणामस्वरूप सामाजिक विधानों के निर्माण का मार्ग खुल गया अैर कई नये कानून पारित हुए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जब लन्दन पर निरन्तर बमबारी हो रही थी, तब इंग्लैण्ड विस्मयपूर्ण ढंग से अपनी सामाजिक व्यवस्था में सुधार कर रहा था। 1941 में इंग्लैण्ड ने अपने

समस्त समाज कल्याण कार्यक्रमों में क्रांतिकारी सुधार आरम्भ कर दिया। एक अन्तर्विभागीय आयोग (Inter Departmental Commission of Social Insurance and Allied Services) गठित किया गया जिसकी अध्यक्षता लार्ड विलियम बैवरिज (Lord William beveridge) ने की। इस आयोग का कार्य इंग्लैण्ड की सामाजिक सेवाओं की संरचना एवं कार्यक्षमता का सर्वेक्षण करना था। सामाजिक सेवाओं की इस व्यवस्था में यदि सुधार की जरूरत हो तो क्या सुधार करने चाहिए? यह भी बताना था। इस आयोग ने यह भी मत व्यक्त किया कि 'आवश्यकता' के अतिरिक्त चार अन्य महादैत्य हैं जो व्यक्ति को विपत्ति में डाल देते हैं : 'बीमारी' (Disease), 'अज्ञानता' (Ignorance), 'मलिनता' (Squalor) और 'निष्क्रियता' (Idleness)।

बेवरिज साहब की अध्यक्षता में तैयार की गई रिपोर्ट ने सामाजिक सुरक्षा के विचार को जन्म दिया जिसमें एक पद्धति का निर्माण किया गया, जिसका लक्ष्य हर एक नागरिक को उसके सहयोग के एक मूल आय के स्तर की गारण्टी (जमानत) देना था। इस तरह 5 कार्यक्रमों पर आधारित सामाजिक सुरक्षा की विस्तृत प्रणाली का श्रीगणेश किया गया। ये 5 कार्यक्रम निम्नलिखित हैं : (1) सामाजिक बीमा (Social Insurance) (2) जन सहायता (Public Assistance) (3) बालकों के लिए भत्ता (Children's Allowance) जो अब पारिवारिक भत्ता कहलाता है। (4) व्यापक निःशुल्क स्वास्थ्य एवं पुनर्वास की सेवायें (Comprehenive Free Health and Rehabilitation Services) (5) पूर्ण रोजगार का अनुरक्षण (Maintenance of full Employment)।

सामाजिक सुरक्षा के इस विस्तृत कार्यक्रम हेतु 6 सिद्धान्त मान्य हुए : (1) एकीकृत प्रशासन (United administration) (2) व्यापक संरक्षण (Comprehensive coverage) (3) अंशदान की सामान्य दर (Flat rate of contribution) (4) सामान्य दर से सुविधायें (Flat rate of benefits) (5) सहायता प्राप्तकर्ताओं की आधारभूत जरूरतों की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में समस्त सुविधायें और (6) जनसंख्या का वर्गीकरण (Classification of the population) (7) वर्गों का सुझाव रिपोर्ट में व्यक्त किया गया लेकिन राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, 1946 में मात्र 3 वर्ग निर्मित किये गये।)

बैवरिज की रिपोर्ट ब्रिटेन के आधुनिक सामाजिक कानून व्यवस्था का आधार-स्तम्भ बन गई, बाद में कई अन्य देशों ने इसका ही अनुसरण किया।

आधुनिक सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम बेवरिज की रिपोर्ट और उनकी सिफारिशों पर ही आधारित है। इसमें आंशिक संशोधन ही किये गये हैं। 1944 में राष्ट्रीय बीमा एवं पेंशन मंत्रालय (Ministry of Pension and National Insurance) की स्थापना की गई। इसी में एक विभाग राष्ट्रीय सहायता बोर्ड (National Assistance Board) का है जो सहायता के कार्य

को क्रियान्वित करता है। इस सामाजिक सुरक्षा के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं : (1) एक विस्तृत सामाजिक बीमा योजना जो National Insurnace (Industrial Injuries) Act, 1946 पर आधारित है, (2) 1945 के पारिवारिक भत्ता कानून (Family Allowance Act) के अन्तर्गत पारिवारिक भत्ते की सुविधायें (3) 1948 के राष्ट्रीय सहायता कानून (National Assistance Act) पर आधारित जन सहायता (Public Assistance) का पूरक (Supplementary) कार्यक्रम और (4) 1946 के राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा कानून (National Health Services Act) के आधार पर जनता को चिकित्सा और स्वास्थ्य सम्बन्धी सुविधाएं। समस्त सामाजिक सुरक्षा योजना की आधारशिला सामाजिक बीमा प्रणाली है जिसमें स्वास्थ्य बीमा, बेकारी बीमा, वृद्धावस्था (निवर्तन- Superanuation) एवं अशक्तता (Invalidity) बीमा, कामगार क्षतिपूर्ति (Workmen's Commpensation) और विवाह, शिशु जन्म एवं अन्त्येष्टि संस्कारों के खर्च के लिए विशिष्ट अनुदान। सामाजिक सुरक्षा का यह कार्यक्रम व्यक्तियों को रुग्णता, बेकारी, वृद्धावस्था, अशक्तता तथा अर्जक की मृत्यु के खतरों से सुरक्षा प्रदान करता है। बीमाकृत जनसंख्या के 3 वर्ग बनाये गये : (1) सेवायोजित व्यक्ति (Employed Persons), (2) स्वयं नियोजित व्यक्ति (Self Employed Persons), सेवायोजक (Employers), व्यवसायों के सदस्य (Members of professions) स्वतंत्र कलाकार तथा कारीगर, (3) बेकार व्यक्ति जिसमें मुख्य रूप से शादीशुदा महिलाएँ जो अपने घरों में ही आवासित रहती हैं, सम्मिलित हैं।

समयानुसार सामाजिक सुरक्षा के समस्त अधिनियमों में संशोधन करके सामाजिक सुरक्षा के कार्यक्रमों में अनेक बार समुचित बदलाव किये गये हैं। इंग्लैण्ड की जनता के लिए The Social Security Benefit Act 1975 ने एक विस्तृत सामाजिक सुरक्षा का कार्यक्रम बनाया है।

स्वास्थ्य सेवाएं रहने के लिए मकान, शिक्षा, मनोरंजन तथा कामगार सहकारी समितियाँ आदि सामुदायिक सेवाओं के क्षेत्र में संगठित की गई। श्रम कल्याण के अनेक अधिनियम पारित किये गये। सुधार के क्षेत्र में भी अनेक अधिनियम पारित किये गये।

समाज सुधार एवं दान संगठन

समाज सुधार (Social Reforms)

इंग्लैण्ड में 19वीं शताब्दी में निर्धन सहायता तथा सामाजिक दर्शन को 3 कारकों ने प्रभावित किया : (1) समाज सुधार आन्दोलन (2) चैरिटी आर्गेनाइजेशन और (3) सामाजिक अनुसंधान की पद्धतियाँ। परोपकार, मानवीय प्यार तथा मानव प्रगति में विश्वास रखने वाले

व्यक्तियों के फलस्वरूप तीनों प्रकार के यह विकास हो सके। औद्योगीकरण के कारण समाज सुधार के विकास का मुख्य कारण श्रमिक संघ आन्दोलन था। श्रम संघों के संगठन पर प्रतिबन्ध था लेकिन 1824 में इससे सम्बन्धित कानून खत्म कर दिये गये। श्रम संघों ने श्रमिकों की दशाओं में सुधार करना शुरू कर दिया। यह सहायता रूग्णता, बेकारी, अशक्तता तथा वृद्धावस्था में प्रदान की जाने लगी। इस तरह के प्रयत्नों में सफलता मिलने पर श्रम संघ कांग्रेस (Trade union congress) एक राष्ट्रीय फेडरेशन के रूप में स्थापित की गई। नगरीय श्रमिकों के लिए रिफार्म बिल आफ (Reforms Bill of 1867) किया गया तथा 1874 में प्रथम बार हाउस आफ कामन्स (House of Commons) में पहला श्रमिक संघों का प्रतिनिधि निर्वाचित हुआ। इस प्रकार समाज सुधार के विचारों के माध्यम से ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बुनियाद पड़ी। लेकिन बर्नार्ड शा, सिडनी, बिट्रिस वाल्स ने समाज सुधार आन्दोलन को अधिक मजबूती प्रदान किया। समाजवाद की अपेक्षा इन समाज सुधारकों के विचारों एवं प्रयत्नों द्वारा समाज सुधार आन्दोलन को और अधिक शक्ति प्राप्त हुई।

दान संगठन समाज (Charity organization society)

निर्धन सहायता पर होने वाले खर्च को सीमित करने एवं एक बेहतर उपयोगी सहायता प्रशासन संगठित करने में Poor Law Reform of 1834 ने महती भूमिका अदा की। लेकिन औद्योगिक मजदूरों तथा मिल मालिकों के मध्य आर्थिक खाई को यह अधिनियम घटा नहीं सका। मिश्रित भिक्षागृहों की कठोरता एवं हीनता से अपने जानने पहचानने वालों व अन्य व्यक्तियों, बालकों और विकलांगों के सुरक्षित बचाव हेतु देश के परोपकारी व्यक्ति सहानुभूतिपूर्ण ढंग से प्रयत्न करने लगे। अधिकांश दानार्थ समितियों का निर्माण हुआ। लेकिन इनकी काफी शिकायतें होने लगीं क्योकि इन पर यह आक्षेप लगाया गया कि यह काफी पैसा बर्बाद करती हैं, साथ ही दान व भेंट (Gift) द्वारा व्यक्तियों में भिक्षावृत्ति को बढ़ावा देती है और इस प्रकार गरीबों को आत्म निर्भर होने के लिए प्रतिबन्ध लगाती हैं।

दान संगठन समाज की नींव थामस चामर्स के सिद्धान्तों पर डाली गयी थी। चामर्स के विचारों में व्यक्ति के पुनर्वास हेतु उनमें आत्म-निर्भरता जाग्रत करना अति आवश्यक होता है। सहायता समितियों की राय में गरीब के गरीबी का कारण उसका निजी दोष होता था। यही विचार सरकारी निर्धन सहायता अधिकारियों का भी था। ऐसी दशा में सुधार हेतु 1868 में लन्दन नगर में Society for Organizing Charitable relief and Repression mendicity स्थापित हुई। थामस चामर्स के सिद्धान्तों से ही इसके सिद्धान्त को दिशा-निर्देश प्राप्त थे। इस सोसाइटी के विचार चामर्स के इस विचार से मिलते थे कि व्यक्ति अपनी गरीबी के लिए जिम्मेदार है और मदद प्राप्त करना उसके स्वाभिमान को समाप्त करता है और उसे भिक्षा पर आश्रित रहने को मजबूर करता है। अतः इस सोसाइटी ने चामर्स के इस विचार को

भी मंजूर किया कि गरीब व्यक्ति को अपने स्वयं द्वारा अपना भरण-पोषण करना चाहिये तथा अपनी समस्त क्षमताओं के उपयोग का उपभोग करना चाहिये। इस सोसाइटी ने इन सिद्धान्तों को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करके एक जाँच विभाग बनाया जो निर्धन कानून अधिकारियों, दान समाजों तथा निजी परोपकारी मनुष्यों को मदद माँगने वाले प्रार्थियों की सूचना देता था। इस तरह अनेक ऐसे व्यक्ति पाये गये जो भिक्षावृत्ति को एक व्यावसाय मानकर अंगीकार कर लिये थे। यही नहीं बल्कि एक साथ अनेक सहायता संस्थाओं से वे मदद ले रहे थे।

नगर को अत्यंत छोटे-छोटे जनपदों में विभाजित करने का कार्य इस सोसाइटी ने किया। हर एक जनपद में नागरिकों के समूह बनाकर स्वयं सेवकों के रूप में सहायता कार्य किया जाने लगा। स्वयं सेवकों के अधीन आने वाले परिवारों में दिलचस्पी लेकर उन्हे धन, कपड़ों एवं खाद्य सामग्रियों के माध्यम से सहायता पहुँचायी गयी और इस दौरान इन परिवारों की जीवन शैली को परिवर्तित करने का भी प्रयत्न किया गया। दान संगठन समाज द्वारा बृहद जनपदों में सवेतन कर्मचारी नियुक्त हुए जो इस कार्य को अच्छी प्रकार सम्पन्न करने लगे।

यह सासोइटी गरीबों पर सरकारी खर्च को न्यूनतम करने हेतु अपने सदस्यों को निर्देश देती थी तथा गैर सरकारी प्रयत्नों को प्रोत्साहित करती थी। यह सरकारी निर्धन सहायता के विरोध में थी। 1869 की लन्दन दान संगठन समाज की तरह ही इंग्लैण्ड व स्काटलैण्ड के अन्य नगरों में भी ऐसी समितियाँ बन गईं तथा बाद में इस आन्दोलन का अमेरिका में भी विस्तार हो गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका में समाज कार्य का इतिहास

अमेरिका में समाज कार्य के ऐतिहासिक विकास का क्रम लगभग इंग्लैण्ड के सदृश ही देखने को मिलता है। अर्थात् इस पर इंग्लैण्ड की परम्परा का स्पष्ट प्रभाव था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अमेरिका में समाज कार्य उसी मार्ग पर विकसित हुआ जिस पर कि इंग्लैण्ड में इसका विकास हुआ था। परन्तु उसके पश्चात् समाज कार्य के विकास एवं क्रियाकलापों में कुछ बदलाव नजर आया जो 1935 तक रहा। 1935 में अमेरिका में समाज कार्य के विकास एवं समाज कल्याण सेवाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए, फलस्वरूप इंग्लैण्ड में हुई प्रगति से वह एक कदम आगे बढ़ गया। इंग्लैण्ड में बेवरिज रिपोर्ट के प्रकाशित होने के पश्चात् अमेरिका सभी देशों का अगुवा बन गया। निःसंदेह अमेरिका के कार्यक्रमों में भी परिवर्तन आये परन्तु वे परिवर्तन इंग्लैण्ड में होने वाले परिवर्तनों से कुछ भिन्न और अधिक वैज्ञानिक तथा विस्तृत थे। अमेरिका में आज भी स्वतंत्र एवं व्यक्तिगत व्यापार को उत्तम समझा जाता है लेकिन स्वास्थ्य व चिकित्सा सेवाओं का समाजीकरण करना इस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं समझा गया। इन तथ्यों के आधार पर ही हम अमेरिका में समाज कार्य के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

1900 से पूर्व समाज कार्य का विकास

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इंग्लैण्ड से आकर अमेरिका में बसने वाले लोग अपने साथ वहां की प्रथायें, कानून आदि लेकर आये। अमेरिका में समाज कल्याण की समस्याओं को प्रभावित करने के ब्रिटिश एवं यूरोपीय सांस्कृतिक विभिन्नताओं ने महती भूमिका निभायी। इंग्लैण्ड की परम्परागत धारणाओं के अनुसार यह लोग भी यही समझते थे कि निर्धन, भिखारी, आवारा व्यक्ति अपराधी हैं। फलस्वरूप उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। लेकिन प्रत्येक समाज की तरह ही अमेरिकी समाज में भी अनाथ बच्चे, अपंग, रुग्ण, अशक्त एवं वृद्ध व्यक्ति थे तथा विधवा महिलाएँ थीं जिन्हें सहायता की जरूरत थी। अमेरिका निवासी इंग्लैण्ड की तरह अत्यधिक निर्धन करों से बचना चाहते थे।

अमेरिका में उस समय जमीन का मूल्य बहुत कम था और मजदूर भी कम थे। इसलिए स्वस्थ शरीर के भिखारियों को भिक्षा नहीं दी जाती थी। इसके अलावा वृद्ध, रुग्ण तथा छोटे बच्चों की माताओं को मदद की आवश्यकता होती ही थी। इन व्यक्तियों की सहायता की वे संस्थायें जो इंग्लैण्ड में थी (उदाहरण के लिए चर्च तथा इसी तरह के संगठन) यहाँ उनका अभाव था। स्थानीय व्यक्तियों को इन लोगों की देखरेख की व्यवस्था करनी पड़ती थी। एलिजाबेथन पुअर ला की भाँति अमेरिका में भी ओवरसियर एवं सुपरवाइजर्स की नियुक्ति गांवों व नगरों में की गई। ये लोग व्यक्तियों से निर्धन कर (Poor Tax) वसूल करते थे तथा सहायतार्थ प्रार्थना पत्र देने वाले व्यक्तियों की आवश्यकताओं को मापते थे। इन ओवरसियरों का ही कार्य निर्धन व्यक्तियों को सहायता धनराशि बांटना भी था। इंग्लैण्ड के एलिजाबेथ पुअर ला को यहाँ के नये रहने वालों ने सिद्धान्त रूप में मान लिया और इसलिए निर्धनों एवं भिखारियों के लिए कुछ न कुछ व्यवस्था करने का निश्चय किया। प्रत्येक नगर में अपने यहाँ के निर्धनों एवं भिखारियों को खाद्य-पदार्थ, कपड़ा, ईंधन और इसी तरह की अन्य आवश्यक घरेलू वस्तुएँ दिये जाने की व्यवस्था की गई। लेकिन यह सुविधा उन्हीं लोगों को उपलब्ध हो सकती थी जो वैधानिक रूप से आकर अमेरिका में बसे थे तथा जो 3 माह से लेकर 5 वर्ष तक की अवधि तक निवास करने का प्रतिबन्ध पूरा कर लेते थे।

निर्धन सहायता के दो रूप विद्यमान थे : (1) निर्धनों को उनके घर पर (वाह्य कक्ष सहायता- Out door Relief) खाद्य पदार्थ, कपड़े आदि वस्तुओं के रूप में सहायता दी जाती थी तथा (2) निर्धनों को ऐसे नागरिकों के पास रखना जो इस कार्य के लिए (भरण पोषण के लिए) सबसे कम धन सरकार से मांगे। विधवाओं, अनाथों, अपंग, वृद्ध, निर्धनों एवं भिखारियों को भी एक विशेष तरह से बेचा जाता था। उन्हें एक घर में ज्यादा दिनों तक नहीं रखा जाता था, उनके घर परिवर्तित कर दिये जाते थे। निर्धन सहायता पर आने वाले व्यय की पूर्ति के कई साधन बताये गये हैं : निर्धनता कर, काम करने से इन्कार करने पर दण्ड, रोटी व मक्खन

आदि निर्धारित दर से कम में बेचना। दण्ड के अनेक कारण माने गये जैसे- सामुदायिक प्रार्थना में उपस्थित न होने पर दण्ड, कानून के विपरीत किसी भिक्षुक को किसी बस्ती में लाने के कारण किया गया दण्ड इत्यादि। दुष्ट और बेरोजगार घुमक्कड़ों को प्रायः बेतों से पीटा जाता था और उन्हें गाँव से निकाल बाहर कर दिया जाता था।

व्यक्तिगत दान (Private Charities)

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड और अमेरिका के निर्धन सहायता कार्यों में अनेक भेद पाये जाते हैं :-

1. इंग्लैण्ड में निर्धन सहायता की प्रणाली के अन्तर्गत निर्धनों को निर्धन गृहों और कार्यगृहों में रखा जाता था जबकि अमेरिका में कुछ विशाल नगरों में भिक्षागृह कम तथा सुधार गृह अधिक थे। अमेरिका में प्रथम भिक्षागृह 1657 में न्यूयार्क में स्थापित किया गया था, बाद में कुछ नगरों में भी इनकी स्थापना हुई।
2. इंग्लैण्ड में निर्धनों की सहायता व्यक्तिगत दान की सहायता से अस्पतालों, अनाथालयों, शरणगृहों के जरिये की जाती थी परन्तु अमेरिका में व्यक्तिगत दान बिल्कुल महत्व नहीं रखता था और यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक समाप्त हो गया।

सरकारी निर्धन सहायता कार्यक्रम तो चलते ही थे लेकिन इसके साथ ही साथ धार्मिक संस्थाओं द्वारा भी निर्धन सहायता प्रदान की जाती थी लेकिन यह सहायता हर एक चर्च अपने ही धार्मिक वर्ग के गरीबों को प्रदान करते थे। अनाथ बच्चों, विधवाओं तथा बीमार व्यक्तियों के घर जाकर ये धार्मिक नेता सहायता प्रदान करते थे लेकिन ऐसे व्यक्तियों को सहायता नहीं दी जाती थी जो आलसी, असामाजिक व्यवहार वाले, पियक्कड़ तथा जुआड़ी हों।

राष्ट्रीयता पर आधारित एक अन्य प्रकार की गैर सरकारी चैरिटी भी थी। बोस्टन नगर में इस तरह की प्रथम सहायता समिति संगठित की गई। आयरिश, डच, जर्मनी और फ्रांस आदि देशों से आये व्यक्तियों ने अपने-अपने देशवासियों के लिए सहायता कार्यक्रम संचालित किये। एक अन्य प्रकार की गैर सरकारी सहायता प्रणाली में कुछ समूहों की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक परोपकारी संस्थायें संगठित की गई, उदाहरण के लिए न्यूयार्क सोसाइटी फार दि प्रिमेंशन आफ पायरिज्म (1987) जिसका लक्ष्य पुनर्वास के साधनों का विकास करने में मदद देना था, मात्र अर्थदान करना नहीं था। (इस सोसाइटी ने न्यूयार्क नगर को अनेक जनपदों में बाँटकर सहायता कार्य किया), एसोसियेशन फार इम्प्रूविंग दि कण्डीशन आफ पूअर्स, न्यूयार्क (1883), न्यूयार्क चैरिटी आर्गेनाइजेशन सोसाइटी (Charity organization society - London की C.O.S. की तरह, 1877)। अन्य नगरों में भी ऐसी सोसाइटीज स्थापित की गई।

चैरिटी आर्गनाइजेशन सोसाइटी के तीन उद्‌देश्य थे :-

1. समस्त स्थानीय चैरिटीज के प्रतिनिधियों के एक मण्डल की देखरेख में रखना।
2. सहायता कार्य में द्वितीयकरण को प्रतिबन्धित करने के लिए एक केन्द्रीय स्तर पर गोपनीय रजिस्टर रखना
3. हर गरीब की जरूरतों और उसकी अपनी योग्यताओं एवं प्रयत्नों की जानकारी प्राप्त करने के लिए सामाजिक जाँच।

इन समितियों के संगठनकर्ता धनाढ्य नागरिक थे जिनका विचार था कि (1) निर्धनता के मुख्य कारण व्यक्ति के अपने दोष-आलस्य, उपेक्षा, अव्यवस्था, आमदनी का मद, जुआ एवं अन्य दुर्गुण हैं और (2) इन व्यक्तियों को परामर्श देकर उनकी नैतिकता को मजबूत किया जा सकता है, लेकिन निर्धनों के घरों में जाने पर गरीबी के अन्य कारणों की भी जानकारी हुई जैसे गंदे पड़ोस व घरों के कारण स्वास्थ्य का खराब रहना जिससे नैतिक पतन होता है, तथा कम मजदूरी के कारण वे अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ हो जाते हैं। इस तरह इन 'चैरिटी आर्गेनाइजेशन सोसायटीज' ने इन परिस्थितियों को सुदृढ़ करने के लिए सामाजिक विधान को बनाने का प्रयास किया। गरीबी की समस्याओं को अच्छी तरह समझने के लिए 1898 में न्यूयार्क नगर में प्रथम समाजकार्य पाठ्यक्रम स्थापित किया गया। सम्पूर्ण गैर सरकारी संस्थाओं के कार्यों को अच्छी तरह से संगठित व संचालित करने के लिए कौंसिल आफ सोशल एजेन्सी स्थापित की गई। अपने कार्य संचालन के लिए क्लीवलैण्ड नगर में 1913 में एक सम्मिलित प्रयत्न से धन एकत्रित करके कम्युनिटी चेस्ट स्थापित की गई। इस तरह समस्त सामाजिक संस्थाओं में एकत्रित किये गये धन को वितरित किया गया।

सेटिलमेण्ट का आन्दोलन इस काल का एक और महत्वपूर्ण विकास है। आधुनिक मशीनों एवं उद्योगों के विकास ने बहुत सी जनसंख्या (श्रमिकों) को अमेरिका के शहरों में ला दिया। ये गंदे एवं भीड़ भरे मकानों में रहने लगे। बड़ी संख्या में अन्य देशों से लोगों के आगमन से भी इस तरह के रहन-सहन में बढ़ोत्तरी हुई। अमेरिकी विद्यार्थियों ने (इंग्लैण्ड के ट्वानबी से प्रभावित होकर) इन गंदी बस्तियों में रहना शुरू कर दिया ताकि इस तरह के लोगों के रहन-सहन में सुधार किये जा सकें। इन सेटिलमेण्ट हाउसेज में रहने वाले समाज सुधारक बन गये तथा गंदी बस्तियों को साफ सुथरा करने, बाल अपराधियों हेतु विशिष्ट बाल न्यायालय, आवासी विधान एवं रोगों के निवारणार्थ आवाज उठायी गई।

बीसवीं शताब्दी के शुरू में यह शिकायत होने लगी कि निर्धन सहायता का व्यय बहुत ज्यादा है। कुछ राज्यों में राज्य सरकारों ने उन व्यक्तियों के लिए सहायता दी जो वहाँ अपना काम शुरू नहीं कर पाये थे। लेकिन अधिकांशतः यही दृष्टिगोचर हुआ कि निर्धन के भरण पोषण का ज्यादा उत्तरदायित्व स्थानीय क्षेत्रों पर ही अधिक रहा। निर्धनों पर स्थानीय सरकारों द्वारा बढ़ते हुए खर्च के दो मुख्य कारण थे : प्रथम – जनसंख्या में वृद्धि से गरीबों की संख्या बढ़ती

गई, द्वितीय-कभी अकाल अथवा सही रोजगार न प्राप्त होने पर स्वस्थ शरीर के पुरुष भी निर्धन सहायता के लिए प्रार्थना पत्र देने लगे। ऐसे प्रार्थना पत्र व्यक्तिगत या राजनैतिक कारणों से पक्षपात करके पास कर दिये जाते थे, इस प्रकार निर्धन सहायता का गलत लाभ उठाया जाने लगा तथा कई परिवार सरकारी सहायता पर आश्रित होने लगे। इन परिस्थितियों के कारण 1821 तथा 1823 में अमेरिका के 2 राज्यों मेसोचुसेट्स और न्यूयार्क में कमेटियों की स्थापना की गई। इन कमेटियों ने अध्ययन करके यह नतीजा निकाला कि निर्धनों व भिखारियों को उनके घरों पर दी जाने वाले सहायता अधिक खर्चीली, फिजूलखर्ची व निर्धनों का नैतिक पतन करने वाली है। इन कमेटियों ने यह सिफारिश की कि भिक्षा-गृह और कार्य-गृह स्थापित किये जायें और सहायता-प्रार्थियों को इन संस्थाओं में रख दिया जाय। लेकिन इन संस्थाओं के माध्यम से भी निर्धनों की दशाओं में कोई सुधार नहीं हुआ क्योंकि इन संस्थाओं में सभी प्रकार के निर्धनों को एक साथ ही रखने का स्थान था। बच्चों, अनाथों, वृद्धों, अंधों, बहरों, गूंगों, मानसिक रोगियों, अपराधियों, वेश्याओं, महिलाओं एवं पुरुषों आदि सभी को एक साथ रख दिया गया था।

इन संस्थाओं की चिन्ताजनक दशाओं के कारण 19वीं शताब्दी में निर्धन सहायता में तीन मुख्य बदलाव किये गये : (1) व्यक्तिगत दान अथवा दान की गैर सरकारी संस्थाओं ने अनाथालय एवं शरण गृह स्थापित किये। अमेरिका की कल्याण व्यवस्था में Fraternal order, National Benevolent Association आदि का बहुत बड़ा हाथ रहा। (2) राज्य सरकारों ने कुछ खास श्रेणी के व्यक्तियों जैसे - मानसिक रोगी, अत्यंत दुर्बल मस्तिष्क वाले व्यक्ति और बन्दी अपराधी व्यक्तियों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। (3) स्थानीय राजकीय सहायता अधिकारियों ने प्राचीन सहायता पद्धति को असम्मानजनक मानकर उसकी आलोचना करनी शुरू कर दी।

1900 से 1935 तक समाज कार्य का विकास
(Development of Social Work from 1900 to 1935)

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं में यह एक स्थानीय मसला बना रहा। कुछ विशेष श्रेणी के व्यक्तियों के लिए राज्य सरकारों ने कुछ कार्य शुरू कर दिया था। 1900 के पश्चात् समाज कल्याण के क्षेत्र में दो नये तत्वों का उदय हुआ - (1) सरकारी एवं गैर सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाओं के कार्य को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता प्रदान की जाय। (2) समाज कार्य के कार्यों में केन्द्रीय सरकार को भी प्रत्यक्ष रूप से हाथ बँटाना चाहिए, चाहे वह मुख्य सेवा के रूप में हो या सहायक सेवा के रूप में।

राष्ट्रीय स्तर के संगठनों का नेतृत्व गैर सरकारी कल्याण संगठनों के हाथ में था। ये संगठन थे : National child labour committee (1904), National consumers

league (1899), American Association of mental deficiency (1876), American Human Association (1877), American Prison Association (1870), National Association of the Deaf (1880) and National Society for the Study of education (1895).

अमेरिका संविधान में केन्द्रीय सरकार पर समाज कल्याण की जिम्मेदारी सम्बन्धी किसी विशेष सिद्धान्त का उल्लेख नहीं था। इसके बावजूद भी केन्द्रीय सरकार कुछ विशिष्ट श्रेणियों के व्यक्तियों को सहायता देने की जिम्मेदारी से अस्वीकार नहीं कर सकती थी। इस तरह 5 समूह थे जिनको समाज-कल्याण सेवायें देना केन्द्रीय सरकार का काम था। ये समूह थे :-

1. भारतीय (The Indians)
2. देशान्तरवासी (The Immigrants)
3. पानी के जहाज के चालक एवं यात्री
4. भूतपूर्व सेवानिवृत्त सैनिक और
5. संघीय कानूनों को तोड़ने वाले अपराधी

अमेरिका के राष्ट्रपति (1909 में) रूजवेल्ट ने वाशिंगटन में बाल कल्याण संस्थाओं के कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन का नाम Conference of the care to dependent children था। इसमें एक प्रस्ताव पास किया गया कि गरीगी के कारण बच्चों को उनके परिवार तथा माता-पिता से अलग न किया जाय और यदि किन्हीं कारणों से किसी सामान्य बालक को अपने परिवार से पृथक् करना जरूरी हो तो उसे संस्था में रखने के बजाय किसी पालन गृह में रखा जाय। यदि बच्चों को कुछ विशिष्ट कारणों से बाल संस्था में रखना ही पड़े तो बहुत बड़ी-बड़ी आवासशालाओं की अपेक्षा उन्हें छोटी झोपड़ियों में छोटी इकाई बनाकर (घरेलू वातावरण में) रखा जाय। इस सम्मेलन में 2 और सिफारिशें की गईं - (1) राज्य सरकारें माताओं के हेतु पेंशन अधिनियम पारित करें जिससे विधवाओं तथा पतियों द्वारा त्यागी गई महिलाओं को पेंशन मिल सके जिससे वे अपना व अपने बच्चों का पालन-पोषण कर सकें और (2) संघीय सरकार को चाहिए कि एक संघीय बाल संस्था (Federal Children's Agency) की स्थापना करें। पहली शिफारिश के फलस्वरूप अनेक सरकारों ने माताओं व विधवाओं को पेंशन व भत्ते के कानून 1911 में पारित किये और दूसरी सिफारिश के फलस्वरूप एक बाल-मण्डल की स्थापना 1912 में की गई। इसका काम बालकों के कल्याणार्थ सम्पूर्ण कार्य करना था। यह ज्ञात करना था कि किसी श्रेणी में शिशु-मृत्यु दर अधिक क्यों है। जन्म दर, बाल अनाथालय, बाल न्यायालय, बाल श्रम तथा बालकों से सम्बन्धित कानूनों इत्यादि की देखभाल करके जो जरूरी हो वह करना इसका काम था। इस सम्मेलन की तरह हर दस वर्ष

के पश्चात 1919, 1930, 1940, 1950 में बालकों के कल्याण के सम्बन्ध में विचार विमर्श हेतु सम्मेलन आयोजित किये गये।

अक्टूबर 1929 में अमेरिका में भयानक अकाल और आर्थिक अस्त व्यस्तता फैल जाने से समाज कल्याण कार्यक्रमों में पूर्णरूपेण परिवर्तन आ गया। यह परिवर्तन मुख्य रूप से निर्धन सहायता में हुआ। राजनैतिक स्तर पर नियुक्त किए गये ओवरसियर्स और सुपरवाइजर्स द्वारा अब तक के निर्धन सहायता कार्यों का संचालन किया जाता था। निर्धनता की पहचान का आधार इन अधिकारियों द्वारा दुर्गुण व कार्यहीनता/आलस्य को माना जाता था और भूख के न्यूनतम स्तर पर उन्हें सहायता वितरित की जाती थी। मात्र 40 बड़े शहरों में ही सामाजिक संस्थाओं में प्रशिक्षित कार्यकर्ता कार्यरत थे। 500 बड़े शहरों में गैर सरकारी परिवार कल्याण संस्थाएं कार्यरत थीं। आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप काफी संख्या में बेरोजगार व्यक्ति निजी कल्याण संस्थाओं से सहायता का भरोसा करने लगे। इनकी सहायता का प्रयास स्थानीय प्राइवेट चैरिटीज ने किया। लेकिन बृहद आकार में समस्या होने के कारण इन संस्थाओं के धन के सम्पूर्ण स्रोत खत्म हो गये और वे बेरोजगारों की मदद करने में असमर्थ हो गयीं। परिणामस्वरूप बीमारी, आत्महत्या तथा बच्चों के कुपोषण आदि की समस्यायें पैदा हो गयीं। ऐसे समय में अमेरिका की कांग्रेस ने 1932 में आपातकालीन सहायता एवं निर्माण एक्ट पारित किया। इसके द्वारा Reconstruction Finance Corporation (RFC) के माध्यम से राज्यों को धन कर्ज के रूप में दिलाया गया। इससे सुधार न होने पर 1933 में एक और अधिनियम-संघीय आपातकालीन सहायता एक्ट पारित किया गया। इसने लघुऋण के सिद्धांतों को खत्म कर दिया और इस बात का प्रतिपादन किया कि संघीय सरकार पर जनकल्याण की अधिक जिम्मेदारी है। राज्यों के लिए संघ सरकार ने लम्बी अवधि के लिए ऋण दिये। इस नये कानून का प्रशासन संघीय आपातकालीन सहायता प्रशासन (Federal Emergency Relief Administrator) के हाथ में दे दिया गया। इस प्रशासन के दो प्रमुख कार्य थे : (1) बेरोजगारों की सहायता के लिए राज्यों को अनुदान देना (2) बेरोजगार व्यक्तियों के लिए सन्तोषजनक कार्य किये जाये तथा अनुदान का अच्छी प्रकार से उपयोग हो। इस संस्था (FERA) के संगठन को 5 भागों में विभाजित किया गया :-

1. संघीय विभाग जो राज्यों को कल्याण के लिए अनुदान इत्यादि देता था।
2. सम्बन्ध विभाग (Division of Relations) जो अपनी प्रतिनिधियों के द्वारा राज्यों में किये जा रहे कल्याण कार्य की देखरेख करता था।
3. विशिष्ट कार्यक्रमों का विभाग (Division of Special Programme) भी नये आने वाले व्यक्तियों (प्रवासी श्रमिकों) की विशेष आवश्यकताओं की ओर अपना ध्यान केन्द्रित

करता था। इन व्यक्तियों का अमेरिका में कोई वैधानिक निवास स्थान नहीं होता था।

4. अनुसंधान संस्था और वित्त विभाग (Division of research, statistics and finance) जिसका कार्य था जाँच पड़ताल और सर्वेक्षण करना, निर्धनों के विषय मे सत्य सूचनाएं एकत्रित करना, तथा राज्यों के अनुदान कार्यक्रम के समुचित प्रशासन के लिए जरूरी सूचनायें प्रदान करने के लिए नियमित रूप से सहायता-सांख्यिकीय आंकड़े जारी करना इत्यादि।

5. ग्रामीण पुनर्वास विभाग जिसका कार्य कृषकों, कृषक मजदूरों और आसामी काश्तकारों को मदद देना, पशुधन, बीज, खेती के साज-समान मरम्मत और ऋण के समायोजन के लिए मदद देना, उन कृषकों का जिन्हें अवसीमान्त भूमि से हटा दिया गया हो, पुनः स्थापन और कृषि मजदूरों एवं आसामी काश्तकारों के लिए निवास स्थान दिलाना था। FERA ने सर्वप्रथम यह नियम लागू किया कि समस्त केन्द्रीय अनुदान मात्र सरकारी संस्थाओं द्वारा ही प्रदान किये जायेंगे। अब तक ऐसा नहीं होता था। नयी व्यवस्था के तहत समस्त राज्य सरकारों की योजनाओं की सतर्कता से समीक्षा की जाती थी और FERA प्रत्येक संस्था में प्रशिक्षित एवं योग्य सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति पर जोर देता था ताकि सम्पूर्ण कार्यक्रम नियंत्रित ढंग से अधिक कुशल, योग्य व कारगर बन सके।

1935 से 1960 तक समाज कार्य का विकास
(Development of Social Work from 1935 to 1960)

इस अवधि में समाज कार्य के विकास में क्रांतिकारी बदलाव हुए। यहाँ पर इस अवधि के प्रमुख कार्यों का ही उल्लेख किया जा रहा है :-

(क) कार्य-योजनाओं का प्रशासन

FERA की स्थापना अस्थायी रूप में हुई थी इसलिए इसको 1935 में समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर Work Progress Administration की स्थापना की गई जिसका नाम 1939 में Work Projects Administration (WPA) रख दिया गया। इसका उद्देश्य सहायता पाने वाले को नौकरी देना था। इस संगठन का कार्य था नीतियाँ निर्धारित करना, कार्यक्रमों का संचालन तथा स्थानीय एवं राज्य सरकारों द्वारा प्रस्तुत की गई परियोजनाओं का अनुमोदन करना तथा परियोजनाओं पर काम करने वाले श्रमिकों के प्रमाणीकरण की समीक्षा करना तथा यह ज्ञात करना कि कहाँ तक उन्हें नौकरी की जरूरत है और कहाँ तक वे नौकरी के योग्य हैं? 1942 में इस संगठन को भी समाप्त कर दिया गया जब सभी उपलब्ध श्रमिकों को मिलों तथा फैक्ट्रियों में काम मिल गया।

(ख) बेरोजगार युवकों के लिए कार्यक्रम

उपर्युक्त कार्यक्रम के अतिरिक्त बेरोजगार युवकों के लिए New Deal के अन्तर्गत दो अन्य कार्यक्रम बनाये गये। इनका काम नवयुवकों को अच्छे रोजगार दिलाना तथा सुस्ती और उदासीनता को दूर करना था। ये कार्यक्रम थे - (1) Civil Conservation Corps तथा (2) National Youth Administration की स्थापना।

Civil Conservation Corps (C.C.C.) का कानून 1933 में पास किया गया था। 17 वर्ष से 25 वर्ष के नवयुवक जो पढ़ते नहीं थे और काम करना चाहते थे तथा शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ थे, अपना नाम C.C.C. के शिविर के लिए लिखा सकते थे। इसके अतिरिक्त भूतपूर्व अवकाश प्राप्त सैनिक तथा अमेरिका निवासी भारतीय भी इन शिविरों में प्रवेश पा सकते थे। शिविर के सदस्यों को मासिक वेतन मिलता था जिसका कुछ अंश उनके परिवारों को भेज दिया जाता था। 1940 से 42 तक C.C.C. ने अपने शिविर के कार्यक्रम में सुरक्षा तथा औद्योगिक प्रशिक्षण को भी सम्मिलित कर लिया। इस कार्यक्रम को 1942 में समाप्त कर दिया गया क्योंकि इसमें खर्च ज्यादा होता था तथा अब गाँवों में खेती करने के लिए नवयुवकों की जरूरत थी।

राष्ट्रीय युवक प्रशासन (National Youth Administration) का दूसरा कार्यक्रम 1935 में चलाया गया जिसके दो मुख्य उद्देश्य थे :-

1. विद्यार्थी सहायता कार्यक्रम जिसके अन्तर्गत स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को कुछ काम देकर सहायता करने की योजना को कार्यरूप देना, जिससे विद्यार्थी अध्ययन करते रहे।
2. 18 से 25 वर्ष की आयु के बेरोजगार नवयुवकों के लिए शिक्षा की कुछ ऐसी व्यवस्था बनाना जिससे कि वे औद्योगिक शिक्षा प्राप्त कर सकें, उन्हें कुछ अनुभव प्राप्त हो और इससे भविष्य में उन्हें आसानी रहे। इसके अतिरिक्त N.Y.A. ने Junior guidance and Placement Services की स्थापना जन रोजगार एवं प्रशिक्षण सेवा के सहयोग से की जिससे कि मनोरंजन सम्बन्धी सेवाओं के लिए नेताओं को प्रशिक्षित किया जाय। 1939 में इस संस्था का विलय Federal Security Agency में कर दिया गया और अन्त में यह संस्था 1943 में समाप्त कर दी गई।

(ग) ग्रामों के कल्याण के लिए कार्यक्रम

अकाल तथा आर्थिक मंदी से गांव में छोटे-छोटे कृषकों को बड़ा कष्ट हुआ। FERA ने ग्रामीणों की कुछ सहायता अवश्य की लेकिन 1935 में यह संस्था समाप्त कर दी गई। इस संस्था के ग्राम सम्बन्धी कार्यो को करने के लिए Resettlement Administration की स्थापना

की गई जिसका स्थान 1937 में Farm Security Administration ने ले किया। इस नये संगठन ने दो कार्यक्रम चलाये-पुनर्वास एवं सामाजिक सेवायें। पहले कार्यक्रम में कृषकों, आसामी काश्तकारों और बटाईदारों को कृषि साज समान, बीज, कृषि प्रबन्ध तकनीक, कृषि सहकारी समितियों के लिए ऋण देना आदि कार्यक्रम रखे गये और दूसरे कार्यक्रम के अन्तर्गत चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ रखी गई जिनके लिए वर्ष में एक निश्चित रकम ले ली जाती थी। दुर्घटना जैसी आपात स्थितियों में कुछ धन से भी सहायता की जाती थी। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् farm Security Administration ने उन व्यक्तियों को पुनः भूमि तथा पुनर्वास की सुविधाएं दी, जिनकी भूमि युद्ध कार्यों के लिए ले ली गई थी। 1946 में इस संस्था का स्थान अमेरिका के कृषि विभाग के अन्तर्गत कृषक गृह प्रशासन ने ले लिया। यह नवीन संस्था 3 प्रकार कर ऋण किसानों को देने लगी : (1) Farm ownership loan जिसकी अवधि 40 वर्ष रखी गई। इससे कृषक परिवार के आकार के अनुसार नया फार्म/खेत खरीद सकते थे, अथवा पुराने फार्म में सुधार या उसकी मरम्मत कर सकते थे, (2) Insured Mortagages जिसके माध्यम से गैर सरकारी साहूकारों द्वारा ऋण के लिए 40 वर्ष की गारन्टी दी जाती थी जिससे कृषक अपने लिए कृषि फार्म/खेत खरीद सकें या उसकी मरम्मत कर सकें, (3) Production and Subsistance Loans जिससे कृषक उचित दरों एवं शर्तो पर बीज, पशुधन, चारा, खाद तथा कृषि साज-समान खरीद सकें और ऋण को वापस लौटा सकें और आपातकालीन दशाओं में परिवार का भरण-पोषण कर सकें।

आधुनिक सामजिक सुरक्षा कार्यक्रम (Modern Social Security System)

FERA के द्वारा सहायता तथा कल्याण के अधिकांश कार्य किये गये लेकिन यह धारणा स्पष्ट बनती गई कि सामाजिक सुरक्षा का कोई स्थायी कार्यक्रम बनाया जाना चाहिए जिसके व्यय का एक भाग केन्द्रीय सरकार दे। 1934 में प्रेसिडेन्ट रूजवेल्ट ने आर्थिक सुरक्षा पर एक कमेटी की नियुक्ति की इस कमेटी की सिफारिशों पर 1935 में सामाजिक सुरक्षा कानून पास किया गया। इस कानून के अन्तर्गत 3 प्रकार के मुख्य कार्यक्रम चलाये गये :-

इसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा वृद्धावस्था बीमा प्रणाली तथा केन्द्रीय बेरोजगार मुआवजा/प्रतिपूर्ति प्रणाली का संचालन रखा गया। इस कानून व सम्बन्धित कार्यक्रम का उद्देश्य था कि वृद्धावस्था में मृत्यु इत्यादि कारणों से व्यक्ति या उसके परिवार को आर्थिक कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। बेरोजगार तथा बेकारी के बीमें का उद्देश्य भी यही है कि नौकरी छूट जाने पर कुछ आर्थिक सहायता मिले जिससे कि उनके भोजन, वस्त्र में कोई व्यवधान न हो।

यह कार्यक्रम केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुदान पद्धति पर आधारित था और तीन समूहों के व्यक्तियों के लिए था : (क) वृद्धावस्था की सहायता, (ख) साधनहीन अन्धे व्यक्तियों के

लिए सहायता, (ग) असहाय एवं निराश्रित बालकों के लिए सहायता। इसमें एक चौथा समूह 1950 में जोड़ दिया गया, (घ) स्थायी रूप से पूर्ण अपंग व्यक्तियों की सहायता।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत माताओं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की सुविधाएँ, अपंग बालकों के लिए कार्यक्रम तथा बाल-कल्याण के कार्यक्रम आते हैं। इसमें आगे चलकर दो सेवायें औ जोड़ दी गई : व्यावसायिक पुनर्वास (Vocational rehabilitation Act, 1943 के अनुसार) और जनस्वास्थ्य की सेवायें (Public health services Act, 1944 के अनुसार)।

उपर्युक्त इन तीनों कार्यक्रमों की देखरेख का कार्य 1935 में एक नवीन संस्था, सामाजिक सुरक्षा मण्डल को सौंप दिया गया जिसके तीन सदस्य थे। इनकी नियुक्ति अमेरिकी राष्ट्रपति द्वारा की गई। इस सामाजिक सुरक्षा मण्डल को 1939 में एक नवीन संगठन Social Security Agency के नियंत्रण में कर दिया गया। 1946 में इस बोर्ड को समाप्त करके एक नया विभाग सामाजिक सुरक्षा प्रशासन संगठित किया गया। 1953 में इसे भी एक अन्य विभाग स्वास्थ्य, शिक्षा एवं कल्याण विभाग (Deptt. of Health, Education and Walfare) में मिला दिया गया। इस तरह केन्द्रीय सरकार ने जन-कल्याण के क्षेत्र में मात्र थोड़ी जिम्मेदारी ही ली। अमेरिका के सामाजिक सुरक्षा कानून ने समाज-कल्याण के समस्त क्षेत्रों में एक विस्तृत प्रणाली की रचना न करके समाज-कल्याण के क्षेत्र में थोड़े गिने चुने विशिष्ट तरह के सहायता कार्यों में केन्द्रीय अनुदान ही संचालित किया।

इस अवधि में विशिष्ट रूप में 'निर्धनों के विरुद्ध कार्यक्रम' का संचालन था। अनेक समाजशास्त्रीयों, अर्थशास्त्रीयों तथा राजनैतिक विचारकों ने अमेरिकी समाज में एक तरफ अति सम्पन्न एवं अति समृद्ध समाज की तो दूसरी तरफ इसी अति समृद्धि के बीच गरीबी (निर्धनता) की भी चर्चा करनी प्रारम्भ कर दी। इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप 1960 के पश्चात् केन्द्रीय सरकार निर्धनता निवारण कार्यों में संलग्न हो गयी और 1930 के नवीन आचरता (New Deal) के काल से आगे बढ़कर निर्धनता विरोधी नियम पारित किये गये। इस अवधि के मुख्य कानून इस प्रकार हैं : क्षेत्र विकास अधिनियम 1961, मानवशक्ति विकास तथा प्रशिक्षण अधिनियम 1962, राष्ट्रीय व्यावसायिक शिक्षा अधिनियम 1963, आर्थिक सुअवसर अधिनियम 1964, (यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण अधिनियम रहा है) यह निर्धनता की समस्या पर प्रत्यक्ष आक्रमण के लिए धन देता है। यह अधिनियम 5 प्रकार के कार्यक्रमों की व्यवस्था करता है : (1) युवक कार्यक्रम, (2) नगरीय एवं ग्रामीण सामुदायिक कार्यक्रम, (3) ग्रामीण क्षेत्रों की निर्धनता-निवारण हेतु विशिष्ट कार्यक्रम, (4) रोजगार तथा विनियोजन प्रवर्तन (Inventive) कार्यक्रम और (5) कार्य अनुभव कार्यक्रम। इन कार्यक्रमों में से कुछ को अधिनियम के अन्तर्गत निर्मित आर्थिक अवसर के कार्यालय द्वारा सीधे संचालन किया है। शेष का संचालन स्वास्थ्य, शिक्षा एवं कल्याण विभाग, कृषि विभाग, श्रम विभाग आदि द्वारा किया जाता है। इतने के बावजूद यह उल्लेख

करने में संकोच नहीं होगा कि इन प्रयत्नों के पश्चात् भी वर्तमान समय में अनेकानेक युवक व प्रौढ़ बेकारी या अल्प बेकारी की समस्याओं से ग्रस्त है।

गैर सरकारी संस्थाओं के कार्य (Role of Private Agencies)

आर्थिक मन्दी के काल में गैर सरकारी संस्थाओं को आर्थिक मदद का कार्य त्यागना पड़ा। अब तक आर्थिक मदद देना इन संस्थाओं का प्रमुख कार्य था। इसका कारण कुछ उनके सीमित साधन थे और कुछ बेकारी का ज्यादा विस्तृत हो जाना था। पूर्व उल्लेख के अनुसार कल्याण कार्यों की जिम्मेदारी अब ज्यादातर कल्याण विभाग के ऊपर आ गयी। जिन व्यक्तियों की सरकारी जन सहायता नहीं उपलब्ध हो सकती उन्हें गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा सहायता दी जाती थी। गैर सरकारी संस्थाओं के कार्यों में प्रमुख विशेषता यह है कि गैर सरकारी संस्थाएं व्यक्तियों तथा उनके परिवारों की सामाजिक, पर्यावरण सम्बन्धी तथा व्यवहार की समस्याओं को वैयक्तिक सेवा कार्य और सामूहिक सेवा कार्य की पद्धतियों से हल करने का प्रयास करती हैं। इस तरह की सेवायें सरकारी संस्थायें प्रदान नहीं करती। गैर सरकारी संस्थायें अब प्रमुख रूप से आर्थिक मदद के कार्य नहीं करतीं। जब सरकारी जन सहायता पर्याप्त नहीं हो पाती तभी यह आर्थिक मदद उपलब्ध कराती है। इस तरह ये सरकारी संस्थाओं के पूरक (Supplemetary) की भूमिका अदा करती हैं। गैर सरकारी संस्थायें ज्यादातर मिलजुलकर अथवा पृथक्-पृथक् रूप से क्षयरोग, कैंसर, गुप्त रोग (V.D.) हृदय रोग, बालकों की बीमारियाँ, व्यावसायिक निर्देशन एवं औद्योगिक प्रशिक्षण की सेवायें प्रदान करती हैं।

अध्याय-7

समाजकार्य का व्यावसायिक स्वरूप

समाजकार्य का व्यावसायिक स्वरूप उस समय से प्रारंभ हुआ जब यह अनुभव किया गया कि वर्तमान समाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए विशेष ज्ञान एवं निपुणता की आवश्यकता होती है। यद्यपि भारत में यह बात बहुत पहले से हमारे मनीषियों ने कही थी कि सेवा परम धर्म है किन्तु कुछ विशेष सेवा हेतु ऐसे विशिष्ट ज्ञान की अपेक्षा होती है जो ज्ञानियों को भी अगम्य है। वैसे भारतीय मनीषी तो त्याग एवं तपस्या के प्रतीक थे अतः अर्थ की तो वे कामना ही नहीं करते थे। पाश्चात्य संस्कृति में यह बात संभव नहीं थी। वहाँ यह महसूस किया गया कि समाजकार्य हेतु अपेक्षित निपुणता का विकास सम्यक प्रशिक्षण द्वारा ही हो सकता है। परंतु इस प्रकार का प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति यदि व्यवस्थिति रूप से लोगों की सहायता में लगेगा तो उसकी व्यक्तिगत आर्थिक आवश्यकता की भी पूर्ति तो होनी ही चाहिए। अतः पाश्चात्य जगत में यह बात स्थापित हुयी कि समाजकार्य प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति को दूसरों की सेवा के बदले कुछ आर्थिक पुरस्कार की व्यवस्था होनी चाहिये।यहीं से समाजकार्य के व्यावसायिक स्वरूप का प्रारम्भ हुआ।

व्यवसाय का अर्थ एवं मानदण्ड

व्यवसाय एक ऐसा कार्य है जिसका उद्देश्य केवल आजीविका का उपार्जन ही नहीं वरन् उस कार्य में विशिष्ट ज्ञान एवं निपुणता समावेश करना है। इस कार्य का एक उद्देश्य यह होता है कि इसके माध्यम से सेवा करते हुए समाज के किसी वर्ग विशेष की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये। प्रोफेसर गेटे (1965) के अनुसार व्यवसाय को ज्ञान और निपुणतायें, कार्य करने के क्षेत्र, एक आचार संहिता तथा कुछ सीमा तक व्यावसायिक सदस्यों के संगठन के रूप में देखा जा सकता है। मिलासन (1964) ने 21 ऐसे लेखों जिसमें व्यवसाय के संबंध में लिखा गया था का अध्ययन करने के पश्चात् व्यवसाय की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है :-

(i) सैद्धान्तिक ज्ञान पर आधारित निपुणतायें

(ii) प्रशिक्षण तथा वित्तिक प्राविधान

(iii) सदस्यों की क्षमता का परीक्षण

(iv) संगठन

(v) व्यावसायिक आचरण संहिता

(vi) परोपकारी सेवा

फ्रिड लेण्डर (1955) ने व्यवसायों की शिक्षा के विकास के तीनों चरणों का उल्लेख किया है :-

(i) अनुभवी अध्यापकों एवं अभ्यास कर्त्ताओं की देखरेख में प्रशिक्षण,

(ii) शिक्षा हेतु शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना,

(iii) विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षा संस्थानों को मान्यता देना और उन्हें अपने शैक्षणिक कार्यक्रम का भाग बनाना।

जॉनसन के अनुसार व्यवसाय में निम्नलिखित विशेषताओं का समावेश होना चाहिए :-

(i) बौद्धिक प्रशिक्षण से अर्जित विशेष क्षमता जो न केवल यांत्रिक कुशलताओं वरन् अन्य योग्यताओं को भी विकसित करती हो, और जिसके लिये स्वतंत्र एवं दायित्वपूर्ण निर्णय का प्रयोग होता हो।

(ii) बौद्धिक अभिगम पर आधारित ज्ञान एवं कौशल के प्रयोग के साथ एक व्यवस्थित तथा विशेषीकृत शैक्षणिक विज्ञान के माध्यम से संचालित किये जाने योग्य अलग से पढ़ाई जाने वाली प्रविधियाँ।

(iii) व्यावसायिक कार्यकर्त्ता जिन्हें सामान्य बातों का ज्ञान हो और जो उच्च मानकों के विकास तथा सामान्य हितों की रक्षा के लिये एक व्यावसायिक संघ के रूप में संगठित हों।

(iv) व्यावसायिक संघ एक संपूर्ण इकाई के रूप में व्यवसाय के लिये सेवा मानकों के विकास का ध्यान रखता हो। जनता के हित में प्रयोग किये जाने के लिये नीतिशास्त्र संहिता, विशिष्ट शिक्षा के प्राविधान और विशेषीकृत तथा निपुणता की व्यवस्था।

(v) एक व्यावसायिक व्यक्ति का कुछ निर्धारित मानकों के लिये एक ही क्षेत्र में अन्य लोगों के प्रति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी तथा जिम्मेदार होना।

उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट है कि किसी व्यवसाय के अधोलिखित मानदण्ड अथवा कसौटियाँ :-

(i) क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक ज्ञान

(ii) निपुणतायें, प्रविधियाँ एवं यन्त्र

(iii) उच्चस्तरीय प्रशिक्षण संस्थानों के द्वारा शिक्षण एवं प्रशिक्षण

(iv) व्यावसायिक संगठन

(v) सामाजिक अनुमोदन

(vi) आचार संहिता

अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या समाजकार्य में व्यवसाय के उपरोक्त गुण विद्यमान हैं :-

1. क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक ज्ञान–

समाजकार्य वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित है, इसका अधिकांश ज्ञान विभिन्न विज्ञानों से लिया गया है, और यह पूरी तरह से परीक्षित है। प्रमुख रूप से समाजकार्य में अधोलिखित क्षेत्रों का ज्ञान कराया जाता है : मानव व्यवहार, सामाजिक पर्यावरण, व्यक्तित्व एवं उसके कारक, सिद्धान्त, सामाजिक पक्ष तथा मनोचिकित्सकीय पक्ष, मानव संबंध, सामूहिक सामाजिक सेवायें तथा संस्थायें, सामाजीकरण, सामाजिक नियंत्रण, पर्यावरण, प्रौद्योगिकी इत्यादि। इसके अतिरिक्त इसकी कुछ प्रमुख प्रणालियाँ और क्षेत्र हैं और यह विशिष्ट समस्याओं का निराकरण करता है तथा इसके कुछ सिद्धान्त भी हैं :-

(i) समाजकार्य की प्रणालियाँ–

वैयक्तिक समाज सेवा कार्य, सामूहिक समाज सेवा कार्य, सामुदायिक संगठन, समाज कल्याण प्रशासन, सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक शोध।

(ii) समाजकार्य के क्षेत्र–

बाल विकास, महिला सशक्तीकरण, युवा कल्याण, श्रम कल्याण, ग्राम्य विकास, अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण, परिवार कल्याण सामाजिक सुरक्षा तथा अपराधी सुधार इत्यादि।

(iii) सामाजिक समस्यायें –

अपराध, बाल अपराध, मद्यपान, मादक द्रव्य व्यसन, भिक्षावृत्ति, वैश्यावृत्ति, बेरोजगारी, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, भ्रष्टाचार, राष्ट्रीय एकीकरण, आदि।

(iv) समाज कार्य के विशिष्ट सिद्धान्त हैं –

वैयक्तीकरण का सिद्वान्त, स्वीकृति का सिद्वान्त, सेवार्थी के आत्म निर्णय का सिद्धान्त, गोपनीयता का सिद्धान्त, आत्मप्रकटन का सिद्धान्त आदि। व्यावसायिक समाज कार्यकर्ता को मानव व्यवहार का समुचित ज्ञान होता है। उसमें सुनने तथा अवलोकन करने की अभूतपूर्व क्षमता होती है। उसमें परानुभूति की योग्यता होती है। उसमें सेवार्थी की भावनाओं को समझने की क्षमता होती है। वह सेवार्थी की योग्यता, गरिमा एवं महत्ता को स्वीकार करता है। उसका यह दृढ़ विश्वास है कि व्यक्ति में समस्या समाधान की क्षमता होती है केवल उसे इसके बारे में जागरूक करना होता है।

2. निपुणतायें, प्रविधियां तथा यंत्र

समाज कार्यकर्ता में निपुणताओं का विकास शिक्षण तथा प्रशिक्षण द्वारा किया जाता है। समाज कार्यकर्ता अपनी निपुणता द्वारा ही सेवार्थी के साथ उद्देश्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करता है तथा किसी प्रकार्यात्मक समझौते पर पहुंचता है। वह सामाजिक स्थितियों के विश्लेषण में निपुण होता है। उसमें व्यक्तियों एवं समूहों की भावनाओं को समझने तथा उनमें निपटने की क्षमता पायी जाती है। वह सेवार्थी को आत्मनिर्भर बनाने में निपुण होता है। वह समुदाय तथा अभिकरण के स्रोतों एवं साधनों को समयानुसार उपयोग में लाता है। उसमें सबसे बड़ी निपुणता सम्बन्धों के रचनात्मक उपयोग की होती है। वह आत्मबोधन, प्रत्यक्षीकरण, समस्या विश्लेषण, व्यावसायिक सम्बन्धों का प्रयोग तथा निदान व उपचार के तरीकों के उपयोग में दक्ष होता है। कार्यकर्ता वैयक्तिक तथा सामूहिक आत्मा की चेतना के जागरण (Individual and Group conscientization) संगठन तथा नियोजन, प्रति व्यवस्था (Counter System) निर्माण तथा प्रशासनिक प्रविधियों का प्रयोग करता है। कार्यकर्ता के पास 3 प्रमुख यंत्र होते हैं :- (1) स्वयं का प्रयोग, (2) कार्यक्रम नियोजन, (3) सेवार्थी के साथ सम्बन्ध। इन यंत्रों का उपयोग वह समझ बूझ कर करता है।

3. उच्चस्तरीय शिक्षण संस्थानों के द्वारा प्रशिक्षण

समाज कार्य की उच्चस्तरीय शिक्षा की अलग से व्यवस्था की गई है। इसकी शिक्षा स्नातक, स्नातकोत्तर, पी.एच.डी. स्तर की दी जाती है। यह शिक्षा विश्वविद्यालय के विभागों तथा स्वतन्त्र रूप से कार्यरत समाज कार्य विद्यालयों के माध्यम से दी जाती है। सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती है। विद्यार्थियों को समाज कार्य अभ्यास के लिए विभिन्न संस्थाओं में भेजा जाता है। उन्हें चिकित्सालयों, श्रम कल्याण केन्द्रों, आवास गृहों, विद्यालयों, मलिन बस्तियों, सामुदायिक विकास केन्द्रों, निर्देशन केन्द्रों आदि में क्षेत्रीय कार्य करने के लिए भेजा जाता है।

4. व्यावसायिक संगठन

जैसे-जैसे समाज कार्य का विकास हुआ, वैसे-वैसे इसके व्यावसायिक संगठन भी बनते गये। इन व्यावसायिक संगठनों का कार्य समाजकार्य व्यवसाय के स्तर को ऊंचा उठाना तथा कार्यकर्ताओं में उच्चतम योग्यताओं, क्षमताओं एवं निपुणताओं का विकास करना है। ये संगठन कार्यकर्ताओं के हितों की रक्षा करते हैं तथा व्यावसायिक व्यवहार पर नियंत्रण रखते हैं। अमरीका में पाए जाने वाले प्रमुख संगठन हैं : अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्कर्स, नेशनल एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्कर्स, अमेरिकन हास्पिटल सोशल वर्क एसोसियेशन,

साइक्याट्रिक सोशल वर्क एसोसियेशन। भारत में प्रमुख व्यावसायिक संगठन हैं : एसोसियेशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क इन इण्डिया, महाराष्ट्र में राज्य स्तर पर महाराष्ट्र एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्क एजूकेटर्स कार्यरत हैं।

5. सामाजिक अनुमोदन

समाज कार्य एक व्यवसाय के रूप में सरकार द्वारा अनुमोदित है। सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार की सामाजिक संस्थायें समाज कार्य को सेवायें प्राप्त करती है। अधिकांश संस्थाओं में प्रशिक्षित कार्यकर्ता कार्य करते हैं।

6. आचार संहिता

अमरीका में समाज कार्यकर्ताओं के लिए एक निश्चित आचार संहिता है जिसका पालन करना सभी व्यावसायिक समाज कार्यकर्ताओं के लिए अनिवार्य है। इस आचार संहिता को 5 वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

(अ) सेवार्थियों से सम्बन्ध

1. सेवार्थी के कल्याण को समुदाय के कल्याण के अनुकूल रखना।
2. वैयक्तिक लक्ष्यों एवं मतों की अपेक्षा व्यावसायिक उत्तरदायित्व को प्रधानता देना।
3. अपने विषय में स्वयं निर्णय लेने के सेवार्थी के अधिकार को स्वीकार करना।
4. सेवार्थी को गोपनीयता का आश्वासन देना।
5. बिना भेदभाव के सेवार्थी की सहायता करना एवं ऐसा करते समय वैयक्तिक भिन्नताओं का आदर करना।

(ब) नियोजन करने वाली संस्था से सम्बन्ध

1. संस्था के कार्यक्रमों, नीतियों एवं कर्मचारियों के व्यवहार का ज्ञान रखना और उसमें उन्नति करने का प्रयास करना।
2. व्यावसायिक समाज कार्य की अचार संहिता के विरुद्ध नीति एवं कार्यरीति वाली संस्था में कार्य न करना।
3. संस्था के साथ सेवायोजन के लिए किये गये समझौते का पालन करना।
4. संस्था की नीतियों एवं कार्यरीतियों के निर्धारण में कर्मचारियों को भाग लेने के अवसर उपलब्ध कराना।

(स) व्यावसायिक साथियों से सम्बन्ध

1. व्यावसायिक साथियों की स्थिति एवं उनकी योग्यताओं का आदर करना।
2. व्यावसायिक साथियों को अपने ज्ञान एवं अनुभव से लाभान्वित करना।

3. व्यावसायिक साथियों के आपसी मतभेदों का आदर करते हुए उन्हें दूर करने का प्रयास करना।
4. निष्पक्ष एवं विषयात्मक सूचना के आधार पर कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति, पदच्युति, इत्यादि करना।

(द) समुदाय से सम्बन्ध

1. समुदाय की उन्नति के कार्यक्रमों में ज्ञान एवं निपुणताओं का प्रयोग करना।
2. संस्थाओं एवं व्यक्तियों द्वारा समाज कार्य के अनैतिक प्रयोग से समुदायों को सुरक्षित रखना।
3. व्यवसायिक शिक्षा, प्रशिक्षण अनुभव एवं कुशलता से समुदाय के साथ अपने संबंधों को प्रभावित करना और इनकी व्याख्या करना।
4. अपने कथनों को व्यक्त करते समय तथा व्यवहार करते समय यह स्पष्ट कर देना कि वे एक व्यक्ति के रूप में कहे और किये गये हैं, न कि किसी समिति या संस्था के प्रतिनिधि के रूप में।

(य) समाज कार्य व्यवसाय से सम्बन्ध

1. व्यवसाय के आदर्शों को समर्थन करना और उनमें सुधार का प्रयास करना।
2. एक उच्च स्तर की सेवा प्रदान करके व्यवसाय में जनता के विश्वास को बनाये रखना और उसे बढ़ाने का प्रयास करना।
3. बाहरी न्यायहीन आक्रमणों और अनुचित प्रतिनिधित्व से व्यवसाय को सुरक्षित रखना।
4. समाज कार्य एवं व्यावसायिक सेवा में विषयात्मक सुधार लाने के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना जिसमें समाज कार्य को आलोचना से बचाया जा सके।

भारतीय समाज कार्यकर्ता भी इन आचार संहिताओं को स्वीकार करते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज कार्य एक पूर्ण व्यवसाय है, क्योंकि उसमें व्यवसाय की सभी विशेषतायें विद्यमान हैं। परन्तु यह विश्वास केवल सिद्धान्त पर आधारित है, वास्तविकता इससे भिन्न है। आज भी अनेक विद्वानों का विचार है कि समाजकार्य व्यवसाय नहीं है क्योंकि यह कोई ऐसा कार्य नहीं करता जो असाधारण हो। कार्यकर्ता का व्यवहार एवं उसकी दक्षता कोई विशिष्ट नहीं होती है। प्रशिक्षित या अप्रशिक्षित कार्यकर्ता में व्यावहारिक अंतर स्पष्ट नहीं होता है। त्याग की भावना की निपुणता तथा सहायता की इच्छा जाग्रत नहीं करती है, प्रशिक्षण का कोई विशेष महत्व नहीं है। कार्यकर्ता आत्म छवि को विकसित करने में असफल रहे हैं। व्यावसायिक संगठन महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा पा रहे हैं तथा समाजकार्य का उपयुक्त वैज्ञानिक ज्ञान उन्हें नहीं है। इन आलोचनाओं के बावजूद भी समाज कार्य की व्यावसायिक विशेषताओं को धीरे-धीरे विकसित कर रहा है, इसे सभी विद्वान मानते हैं।

भारत में समाज कार्य की व्यावसायिक छवि

भारत में व्यावसायिक समाज कार्य का विकास अमरीका की तरह नहीं हो पाया है। निम्नलिखित क्षेत्रों में उसकी कोई उपलब्धि नहीं है :-

(5) अनुसंधान को बढ़ावा देने में।

(6) समाज कार्य का साहित्य प्रकाशित करने में।

(7) राष्ट्रीय फोरम के रूप में कार्य करने में।

वर्तमान समय में टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज के प्रयास से एक आचार संहिता का निर्माण हुआ है जिसे अल्यूमनाई असोसिएशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क इन इंडिया ने स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त भारत में समाजकार्य के व्यवसायिक स्वरूप के विकास में कुछ अन्य आयाम भी जुड़ रहे हैं।

अ. सामाजिक मान्यता एवं अनुमोदन

भारत में समाज कार्य को धीरे-धीरे मान्यता प्राप्त हो रही है। कारखाना अधिनियम के अनुसार उन कारखानों में जिनमें श्रमिकों की संख्या 500 से अधिक है श्रम कल्याण अधिकारी का नियुक्त किया जाना अनिवार्य है। बाल विकास, महिला सशक्तिकरण, परिवार कल्याण आदि क्षेत्रों में भी समाज कार्य में प्रशिक्षित लोगों को वरीयता दी जाती है। चिकित्सालयों में समाज कार्यकर्त्ता नियुक्त किये जाते हैं। शोध कार्यों में भी समाज कार्य में प्रशिक्षित व्यक्तियो को प्राथमिकता दी जाती है। लेकिन यह मान्यता बहुत अपरिपक्व है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में कोई भी ऐसा पद नहीं है जो पूर्णरूपेण समाज कार्य में प्रशिक्षित व्यक्तियों के लिये आरक्षित हो। आज जहां कहीं भी प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं की नियुक्ति के अवसर होते हैं वहां पर दूसरे विषयों के लोगों को भी चयनित कर लिया जाता है।

ब. व्यावसायिक संगठन

सन् 1951 में इंडियन असोसियेशन ऑफ अलुमनाई ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क बनाया गया, जिसका सन् 1964 में नाम बदल कर इंडियन एसोसियेशन ऑफ ट्रेण्ड सोशल वर्कर्स कर दिया गया। इसकी शाखायें बम्बई, चंडीगढ़, कोयम्बटूर, दिल्ली, हैदराबाद, इंदौर, जमशेदपुर, मद्रास, नागपुर, त्रिवेन्द्रम, उदयपुर, बनारस, वाल्टेयर तथा लखनऊ में थीं। सन् 1960 में एसोसियेशन ऑफ स्कूल्स ऑफ सोशल वर्क इन इंडिया का गठन किया गया, जिसका उद्देश्य समाज कार्य शिक्षा को प्रोत्साहन देना है। एसोसियेशन ऑफ मेडिकल एण्ड साइक्यािट्रक सोशल वर्क भी समाज कार्य व्यवसाय की सहायता कर रहा है। इसके अतिरिक्त समाज कार्य के विद्यालयों के स्तर पर भी संगठन बनाए गए हैं जो समाज कार्य के हितों की रक्षा कर रहे हैं।

इस प्रकार भारत में समाज कार्य धीरे-धीरे व्यावसायिक गुणों को अर्जित करता जा रहा है। लेकिन व्यवसायीकरण की गति धीमी है। इसके अनेक कारण हैं और यदि इन कारणों को दूर नहीं किया गया तो समाज कार्य की स्थिति और अधिक बिगड़ जायेगी।

भारत में समाज कार्य व्यवसाय के रूप में विकास की धीमी गति के कारण

व्यवसाय के रूप में भारत में समाज कार्य आज भी बाल्यावस्था में है। इसका व्यावसायिक रूप अभी तक विकसित नहीं हो सका है। कुछ लोगों के मन में यह आशंका है कि क्या समाज कार्य में कोई विशेष सैद्धान्तिक ज्ञान एवं प्रत्यय नहीं हैं जिनके आधार पर इसे एक विद्या विशेष या ज्ञान की शाखा समझा जाये। समाज कार्य का संबंध मानव अन्तःकरण से है। समाजकार्य करने के लिये यह आवश्यक है कि समाज कार्यकर्ता अपनी सोच एवं व्यवहार में मानवतावादी तथा प्रजातांत्रिक हो। उसमें परानुभूति की क्षमता हो तथा दूसरों को सहायता प्रदान करने की एक वचनबद्धता हो। वह स्वयं कष्ट उठाकर पीड़ित मानवता को दुःखों से छुटकारा दिलाने के त्याग तथा बलिदान करने की इच्छा रखता हो। वाह्य प्रशिक्षण मात्र से समाज कार्य के लिए आपेक्षित गुणों को अर्जित नहीं किया जा सकता है। समाज कार्य का वित्तिक पक्ष समाज कार्यकर्ताओं को भी भ्रमित किये हुए है। यद्यपि यह सत्य है कि व्यावसायिक समाज कार्यकर्ता अपनी सेवाओं के लिए पारितोषिक लेता है किन्तु यह भी सत्य है कि वह पूर्ण निष्ठा एवं लगन के साथ अपने सेवार्थी की सहायता करता है।

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि भारत में व्यवसाय के रूप में समाज कार्य का प्रारम्भ ठीक से नहीं हुआ। समाज कार्य का दर्शन, सिद्धान्त, प्रणालियाँ, प्रविधियां, इत्यादि उसी रूप में भारत के समाज कार्य के विद्यालयों में स्वीकार कर ली गयी हैं जैसी वे अमरीका में हैं। अमरीका एक पूंजीवादी देश है तथा वहां की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था व्यक्ति केन्द्रित उपागम के अनुकूल है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था उससे भिन्न है। यहां पर बहुसंख्यक समस्याओं की जड़ें सामाजिक संरचना में सन्निहित हैं। इसलिए इसमें अपेक्षित परिवर्तन लाने के पश्चात् ही इनका समाधान किया जा सकता है। इसके बावजूद भी समाज कार्य स्कूलों में वैयक्तिक उपागम को स्वीकार किया है। इसीलिये समाज कार्य का अभ्यास ठीक प्रकार से नहीं हो पा रहा है।

भारत में समाज कार्य के अर्थ के विषय में ही आज तक भ्रम बना हुआ है। कभी यह परोपकार का कार्य समझा जाता है। कभी इसे दान के रूप में देखा जाता है। कभी इसे चरित्र निर्माण, निःस्वार्थ सेवा, श्रमदान अथवा आपातकालीन सेवा के रूप में समझा जाता है। ऐच्छिक शारीरिक श्रम को भी समाज कार्य की श्रेणी में माना जाता है। इसी प्रकार समाज कार्यकर्ता के अर्थ के विषय में भ्रम है। समाज सुधारक, दानी, परोपकारी, स्वैच्छिक कार्यकर्ता तथा नेता सभी को समाज कार्यकर्ता कहा जाता है तथा वे अपने कार्यों को समाज कार्य कहते हैं। परिणामतः

आधुनिक समाज कार्य का व्यवसायिक रूप उभरने में कठिनाई हो रही है।

भारतीय संदर्भ में शिक्षण सामग्री का नितान्त अभाव है। जो भी पुस्तकें उपलब्ध हैं वे पश्चिमी देशों की शिक्षा के आधार पर रची गयी हैं। उनका यहां पर औचित्य स्थापित नहीं हो पा रहा है। सिद्धान्त तथा व्यवहार में काफी अन्तर है। कक्षाओं में उन सिद्धान्तों को बताया जाता है जो पश्चिमी देशों के लिए प्रामाणिक हैं लेकिन वे सिद्धान्त भारत में लागू नहीं हो पा रहे हैं। उदाहरण के लिये अमरीकी पुस्तकें इस मूल मान्यता के आधार पर लिखी गयी हैं कि सेवार्थी स्वयं संस्था में आता है और सेवा प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। लेकिन भारत में यह स्थिति नहीं है। यहां पर विद्यार्थियों को लोगों को विशेष रूप से निरक्षर एवं अज्ञानियों को, संस्था की सेवा लेने के लिए प्रेरित करना पड़ता है। इन सभी कारणों से विद्यार्थी निराशा का सामना करते हैं और स्वयं में परिवक्व नहीं हो पाते हैं।

समाजकार्य में विशेषीकृत क्षेत्र का अभी अभाव है। इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये गये हैं लेकिन इनसे यह पता नहीं चलता है कि यह कार्य समाज कार्य व्यवसाय में प्रशिक्षित व्यक्ति ही कर सकता है। भारतीय परिस्थिति के अनुकूल कार्य की प्रणालियों का विकास नहीं हो पाया है जिससे प्रयास एवं त्रुटि (Trial and Error) का सिद्धान्त सदैव लागू किया जाता है।

समाजकार्य के व्यावसायिक संगठन भी प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर रहे हैं। वे समाज कार्य को व्यवसायिक रूप देने में विशेष रुचि नहीं ले रहे हैं। इन संगठनों का कार्य इतना संकुचित है कि समाज कार्यकर्ता स्वयं इनके अस्तित्व को समझ नहीं पा रहे हैं।

सबसे महत्वपूर्ण कारक समाज कार्यकर्ताओं में लगनशीलता एवं कर्तव्यपरायणता की कमी है। उनमें मानवतावादी दृष्टिकोण नहीं है। वे प्रायः अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने में लगे रहते हैं। वे व्यवसायिक आचार संहिता को ताख पर रखकर अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगे हुए हैं। परिणामस्वरूप यह खतरा उत्पन्न हो गया है कि कहीं समाज कार्य अपना व्यवसायिक स्वरूप ही न खो दे और सामान्य जनता में इसकी बची-खुची साख भी समाप्त हो जाये। समाज कार्यकर्ताओं को विशेष लगन एवं निष्ठा से कार्य करना होगा तभी समाज कार्य का अपना व्यावसायिक रूप ग्रहण कर सकेगा।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि जहां अमरीकी पाश्चात्य समाज कार्य अपने में व्यवसाय की सभी योग्यतायें धारण कर चुका है, वहीं भारत का समाज कार्य अभी शिक्षण तथा संगठन संबंधी व्यवसाय के गुणों का ही स्वयं में विकास कर पाया है, शेष अंश अर्थात् क्रमबद्ध ज्ञान और प्रणाली जो भारतीय परिवेश के अनुकूल हों, आचार संहिता, सामुदायिक मान्यता एवं अनुमोदन प्राप्त करने में असफल रहा है, जिसका मुख्य कारण सामाजिक परिवेश के कारण प्रणाली के ज्ञान का विकास न हो पाना और नौकरशाही की नकारात्मक प्रवृत्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत में समाज कार्य का एक व्यवसाय के रूप में विकास अभी अपने बाल्यकाल में है।

भारत में समाजकार्य को व्यावसायिक रूप ग्रहण करने में कठिनाइयाँ

सामान्य रूप से किसी व्यवसाय की निम्नलिखित कसौटियाँ होती हैं। यद्यपि उनका विवरण ऊपर दिया जा चुका है तथापि उनके कुछ विशिष्ट पक्षों पर अलग से प्रकाश डाला जा रहा है :-

(i) व्यवसाय को जन स्वार्थ की पूर्ति हेतु जिम्मेदार होना चाहिए और अपनी सेवाओं के द्वारा समाज कल्याण को बढ़ावा देता है। जिन प्रणालियों एवं मानकों के आधार पर वह अपने कार्यों का संपादन करता है, उसके लिए सामान्य जन के प्रति जिम्मेदार होता है।

(ii) उसके पास एक तारतम्य युक्त व्यवस्थित एवं प्रेषणीय ज्ञान होना चाहिए, जिसकी जड़ वैज्ञानिक विचारधाराओं में सन्निहित होना चाहिए, जो व्यावसायिक अभिकर्मियों को इस योग्य बना देता है कि वे अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों की विज्ञता प्राप्त करें और उन्हें विशिष्ट स्थितियों में प्रयोग करें।

(iii) व्यवसाय कर्मियों को एक आचार संहिता के माध्यम से कुछ मूल्यों पर अडिग आस्था रखनी चाहिए और अपने दिन प्रतिदिन के व्यवहार अपने सेवार्थियों की सेवा एवं अपने सहकर्मियों के साथ कार्य करते हुए उन मूल्यों का सदैव पालन करना चाहिए।

(iv) व्यवसाय कुछ व्यवस्थित ज्ञान एवं कौशल पर आधारित होता है, जिसे कोई अभिकर्मी तभी अर्जित कर सकता है जब कि उससे संबंधित क्षेत्र में किसी स्तरीय प्रशिक्षण संस्थान में अध्ययन करके उक्त ज्ञान एवं कौशल का अर्जन किया हो।

(v) व्यवसाय कर्मियों का एक सक्षम संगठन होना चाहिए, जहाँ उसे व्यवसाय हेतु समुचित ज्ञान, कौशल, अभिवृत्ति, एवं मूल्यों के बारे में विचार विमर्श करने और उन्हे और भी ऊँचा उठाने का अवसर मिले।

(vi) सामान्यतया व्यवसाय कर्मी या तो किसी संगठन या अभिकरण के माध्यम से या स्वतंत्र रूप से अपना कार्य करते हैं और कार्य के बदले में कुछ वित्तीय पुरस्कार भी अर्जित करते हैं।

उपरोक्त मानदण्डों के परिप्रेक्ष्य में एब्राहम लेक्सनर का मत है कि समाजकार्य व्यवसाय की कसौटियों पर खरा नही उतरता है। यह कुछ विशिष्ट ज्ञान एवं कौशल पर आधारित नहीं है। अतः यह आंशिक रूप से ही व्यवसाय कहा जा सकता है। दूसरी ओर ब्राउन आदि कुछ विद्वान इसे एक व्यवसाय ही मानते हैं। जो कुछ भी हो यह बात तो सत्य है कि भारत में अभी तक समाज कार्य एक स्वतंत्र एवं पूर्ण व्यवसाय का स्वरूप नहीं अपना पाया है। यह बात निम्न लिखित आधार पर सत्यापित होती है :-

(i) समाज कार्य अभी व्यवस्थित ज्ञान एवं कौशल पर आधारित नहीं हो पाया है। इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि समाज कार्य में भारतीय परिवेश में आजतक किसी मानक पुस्तक का प्रकाशन नहीं हुआ है। दूसरी बात यह है कि सोशल वर्क अभी तक पूर्णतया ऐसे ज्ञान पर आधारित नहीं है जो, पूर्णतया परीक्षित हो। उदाहरणार्थ सोशलवर्क की सबसे महत्वपूर्ण विधि ''केसवर्क'' है जो फ्रायड द्वारा प्रतिपादित इड 'इगो' एवं 'सुपर इगो' की विचारधारा पर बहुत कुछ आधारित है, परंतु अभी तक परीक्षणों द्वारा इस तथ्य का सत्यापन नहीं हो पाया कि व्यक्ति के व्यक्तित्व में इड ईगो या सुपर इगो का अस्तित्व है भी या नहीं?

(ii) जहाँ तक वृत्तिक संगठनों की बात है, इस दिशा में भी स्थिति बहुत अधिक उत्साहवर्धक नहीं है। भारत में बहुत पहले इंडियन कांफ्रेंस ऑफ सोशल वर्क की स्थापना हुयी थी, किन्तु वह संगठन कुछ दिनों के पश्चात् ही मृतप्राय हो गया। बाद में एसोसियेशन ऑफ स्कूल ऑफ सोशलवर्क की स्थापना हुई, किन्तु वह संगठन भी कारगर रूप से कार्य नहीं कर रहा है। इनसाइक्लोमीडिया ऑफ सोशल वर्क इन इंडिया के अनुसार देश में लगभग 100 राष्ट्रीय स्तर के और 200 रीजनल स्तर के समाज कार्य संगठन हैं। जिनमें से अधिकांश संगठन स्वैच्छिक समाज कार्यकर्त्ताओं के हैं। केवल 'एसोसियेशन ऑफ मॉरल एंड सोशल हाइजीन इन इंडिया', 'इंडियन काउन्सिल फॉर चाइल्ड वेलफेयर,' 'इंडियन एडल्ट्स एजुकेशन एसोसियेशन' तथा 'फैमिली प्लानिंग एसोसियेशन ऑफ इंडिया' आदि प्रोफेशनल सोशल वर्कर्स के एसोसियेशन हैं, जिनकी संख्या बहुत ही कम है और समाज कार्य के बहुत ही कम और सीमित क्षेत्रों में इन संगठनों के द्वारा कारगर रूप से कुछ काम हो पाता है।

(iii) आज समाज कार्य की जिन विधियों का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है, उनकी उपयोगिता हमारे देश में नहीं है। उदाहरणार्थ– समाजकार्य में केसवर्क सबसे कारगर विधि है, किन्तु हमारे देश में इसकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। इसके विपरीत हमारे देश में जरूरत है कारगर रूप से सामुदायिक संगठन एवं सामाजिक क्रिया की विधि के प्रयोग की। किन्तु हम सामाजिक क्रिया का तो प्रयोग ही नहीं कर पाते, समुदाय संगठन की विधि के प्रयोग का अवसर सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रारंभ में समाज कार्यकर्त्ताओं को मिला था, किन्तु सामाजिक कार्यकर्त्ता वहाँ भी सफल नहीं हो पाये।

(iv) आज समाजकार्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि समाजकार्य पूर्णतया एक प्रोफेशनल (व्यावसायिक) रूप नहीं ले पाया है, क्योंकि यह पाश्चात्य देशों से लिये गये नये ज्ञान पर आधारित है और अभी भी ऐसी समस्याओं पर विशेष जोर देता है जो पाश्चात्य देशों में बहुत अधिक प्रभावशाली हैं। उदाहरणार्थ - हमारे समाजकार्य कर्ता अविवाहित माताओं के पुनर्स्थापन की बात करते हैं जो पाश्चात्य देश की समस्या है।

(v) भारत में समाजकार्य दान दया एवं समाज सुधार का कार्य समझा जाता है और इसमें

जो लोग लगे हुये हैं उनसे यह आशा की जाती हैं कि वे निःस्वार्थ भावना और स्वैच्छिक रूप से कार्य करें। ऐसी स्थिति में प्रोफेशनल सोशल वर्कर के अस्तित्व को तो हमारा समाज स्वीकार ही नहीं करता है।

(vi) व्यावसायिक समाज कार्यकर्त्ता जिन क्षेत्रों में कार्य करते हैं, वहाँ उनके कार्य को कोई विशेष मान्यता नहीं मिल पायी है। केवल श्रम कल्याण एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ कानूनी प्राविधानों के अन्तर्गत सोशल वर्कर की कल्याण अधिकारी के रूप में नियुक्ति होती है। किन्तु उसकी कार्य प्रणाली पर भी कभी-कभी प्रश्न उठ जाता है। उदाहरणार्थ- प्रसिद्ध अमेरिकन समाज कार्यकर्त्ता एवं शिक्षाविद प्रोफेसर हरबर्ट आप्टेकर ने एक बार यह प्रश्न उठा दिया था कि श्रम कल्याण अधिकारी की जो कानूनी ड्यूटी भारत में निर्धारित है, उनके अनुसार तो वह आंशिक रूप से ही समाज कार्यकर्त्ता है और बहुत अंश में तो वह कार्मिक प्रबन्धक है। कार्मिक प्रबन्ध का कार्य एक अधिकारीवादी कार्य है, इसके अन्तर्गत जनतांत्रिक रूप से समाजकार्य का प्रयोग नहीं होता है अतः कल्याण अधिकारी एक सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं है।

(vii) दूसरे व्यवसाय जैसे कानून और चिकित्सा समाजकार्य को वृत्तिक कार्य नहीं समझते हैं। यद्यपि हमारे स्कूल ऑफ सोशल वर्क मेडिकल और साइक्येट्रिक सामाजकार्य में विशेषीकरण प्रदान करते हैं, किन्तु पिछले चार दशकों से स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में ऐसे कार्यकर्त्ताओं को कोई अहमियत नहीं प्रदान की गयी।

(viii) आज वृत्तिक समाज कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति हमारे देश में मुख्य रूप से एन0जी0ओ0 के द्वारा होती है। किन्तु बहुत से एन0जी0ओ0 में सदैव वित्तीय संकट रहता है। अतः समाज कार्यकर्त्ताओं को समय से वेतन नहीं मिलता है और मिलता भी है तो वही वेतन जो सरकारी कार्यालयों में चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को दिया जाता है।

(ix) इस संबंध में कोई दो मत नहीं हैं कि हमारे स्कूल ऑफ सोशल वर्क एवं सोशल वर्क संगठन अमेरिकी समाज कार्य के दर्शन के आधार पर ही कार्य करते हैं। हमने अभी तक अपनी कोड ऑफ एथिक्स न तो स्वयं निर्मित की है और न भारतीय परिवेश में समाजकार्य के मूल्यों का ही विकास हम कर पाये हैं। अतः समाज कार्य का वृत्तिक स्वरूप हमारे देश में विकसित नहीं हो पाया है।

(x) सेवा का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें हमारे व्यावसायिक समाज कार्यकर्त्ताओं ने अपनी योग्यता प्रमाणित की हो। प्रारंभ में श्रम कल्याण के क्षेत्र में इनका विशेष महत्व था परंतु आज मानव संसाधन में विशेषीकरण या डिग्री प्राप्त छात्रों को समाजकार्य की उपाधि प्राप्त छात्रों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जा रहा है।

(xi) समाजकार्य के तीन महत्वपूर्ण कार्य क्षेत्र हैं :- (1) समस्याओं का उपचार, (2) क्षमताओं का विकास तथा (3) समस्याओं का निरोध। कहना नहीं होगा कि समाज कार्यकर्त्ता

समस्याओं के उपचार में ही लगे रह जाते हैं। दूसरे तथा तीसरे क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कार्य कर ही नहीं पाते हैं।

(xii) आज आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु समस्या की जड़ तक पहुँचा जाये और समुदाय के निम्न लोगों से संबंध स्थापित किया जाय। किन्तु हमारे प्रशिक्षित एवं वृत्तिक समाज कार्यकर्त्ता ऐसे लोगों से सदैव दूरी बनाये रखना चाहते हैं, अतः इनकी अपेक्षा स्वैच्छिक एवं रचनात्मक कार्यकर्त्ता अधिक उपयोगी प्रमाणित हुये हैं।

(xiii) अंतिम एवं महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस प्रकार उच्च श्रेणी का चिकित्सक व्यावहारिक रूप से कुछ गंभीर मरीजों की अवश्य चिकित्सा करता है और अच्छे से अच्छा अधिवक्ता उच्च न्यायालय के तो कुछ विवादों में अवश्य अधिवक्ता के रूप में सम्मिलित होता है, उसी प्रकार हमारे उच्च स्तर के वृत्तिक कार्यकर्त्ता को भी कम से कम कुछ समस्याग्रस्त व्यक्तियों का केस अवश्य देख लेना चाहिये या किसी विशेष समुदाय में विकास हेतु कुछ कार्य करना चाहिये। किंतु हम इन क्षेत्रों में भी उदासीन ही हैं।

उपरोक्त तथ्यों से परिपेक्ष्य में यह बात स्पष्ट है कि हमारे देश में समाजकार्य का वास्तविक वृत्तिक स्वरूप अभी तक नहीं हो पाया है।

सन्दर्भ

1. फ्रिड लेण्डर, डब्ल्यू.ए., इन्ट्रोडक्शन सोशल वेलफेयर 1955 पृष्ठ 620
2. गेटे, एम.एस., सोशलवर्क एवं स्पेशल वर्क एजूकेशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बाम्बे 1965
3. जॉनसन ए., कोटेड बाई फ्रिडलेण्डर डब्ल्यू.ए., इन्ट्रोडक्शन को सोशल वेलफेयर
4. मिलरसन् जी, दि क्वालीफाइंग एसोसियेशन एटलेज़ एंड केनन प्रा लि0, लण्डन 1964.

खण्ड—दो

समाजकार्य की विधियाँ

16f

अध्याय-8

सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य

विकासात्मक पृष्ठभूमि

बहुत प्राचीन काल से यह परंपरा चली आ रही है कि व्यक्तिगत रूप से दीन हीन और दुःखी व्यक्ति की कोई दूसरा व्यक्ति दान, दया व धर्म की भावना से सहायता करे। व्यक्तिगत स्तर पर सेवा या सहायता की यह परंपरा बहुत पुरानी है। हमारी प्राचीन परंपरा में इस प्रकार दूसरों की सहायता बहुत आसान नहीं समझी जाती थी, वरन् यह दुरूह कार्य समझा जाता था और ज्ञानी लोगों की दृष्टि से भी अगम्य समझा जाता था। पाश्चात्य वांगमय में भी इस प्रकार की सेवा को कई प्रकार के मूल्यों सिद्धान्तों और तकनीकि पर आधारित समझा जाता था। अतः वहाँ के अनुसार भी यह एक कठिन और दुरूह कार्य ही है। पाश्चात्य जगत में यही सेवा आगे चलकर वैयक्तिक सेवा कार्य के रूप में प्रचलित हुई।

पाश्चात्य विद्वान क्लार्क वैयक्तिक सेवा कार्य को एक उत्तम या भलाई का कार्य समझते थे, पर इसकी उत्पत्ति कब हुयी, इस बात का निर्धारण नहीं हो पाया है। 1911 में नेशनल कांफ्रेंस ऑफ सोशल वर्क में सर्वप्रथम इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया। 1911 में न्यूयॉर्क स्कूल ऑफ सोशलवर्क के निदेशक पोर्टरली ने वैयक्तिक सेवा कार्य को व्यक्तिगत आवश्यकताओं साधनों और प्रक्रियाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से समझने की एक पद्धति कहा।

1869 में स्थापित चैरिटी ऑर्गनाइजेशन सोसायटी, लंदन एवं 1877 में बफैलो (अमेरिका) में स्थापित इसी प्रकार की सोसायटी को कुछ लोग वैयक्तिक सेवा कार्य के श्री गणेश का श्रेय देते हैं। इन संगठनों का यह विचार था कि समस्याग्रस्त व्यक्तियों का पुनर्वास इस प्रकार होना चाहिए कि वह अपने परिवार के भरण पोषण हेतु सक्षम बन सके। इन संगठनों के द्वारा निर्धनों की जाँच पड़ताल करके उनकी समस्या के बारे में परिवार एवं आसपास के लोगों से सम्यक परामर्श कर कुछ कदम उठाया जाता था। कुछ विद्वान यहीं से वैयक्तिक सेवा कार्य का उद्गम मानते हैं। 19वीं सदी के अन्तिम दशक में इन संगठनों में कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यह स्वीकार करने लगे कि असमायोजन एवं अन्य समस्याओं के लिये संबंधित व्यक्ति जितना जिम्मेदार है, उतना ही जिम्मेदार समाज एवं उसकी परिस्थितियाँ भी हैं। ऐसी दशा में समाज सुधार पर भी जोर दिया जाने लगा। परंतु यह बात पूरी तौर पर स्वीकार की गयी कि समाज

सुधार से भी व्यक्तिगत समस्याओं का हल संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत समस्याओं को लेकर उनके उपचार पर विशेष बल दिया जाने लगा। 20वीं सदी के प्रारंभ में व्यवसायिक प्रशिक्षण की शुरुआत गयी। सामाजिक सेवा प्रदान करने वाले अभिकरणों में प्रशिक्षण प्राप्त अभिकर्मियों की नियुक्ति होने लगी। मैरी रिचमण्ड ने 1922 में अपनी पुस्तक "ह्वाट इज सोशल केस वर्क" में प्रशिक्षण प्राप्त कार्यकर्त्ता एवं विशेषज्ञ की सहायता कार्य में अन्तर बतलाया। इस प्रकार 1922 में मैरी रिचमण्ड ने वैयक्तिक सेवा कार्य की जो परिभाषा दी उसे पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुयी। क्लार्क के अनुसार वैयक्तिक सेवा कार्य का विकास निम्नलिखित चार चरणों में हुआ :-

प्रथम चरण

इस चरण को अन्वेषी एवं अनुशासन संबंधी चरण का नाम दिया जाता है। इस चरण में परोपकारी व्यक्तियों एवं छात्र संगठनों में भाग लेने वाले समाज सुधारकों का यह मत था कि निर्धनता पूँजीवादी पद्धति की देन है। अतः निर्धनों की सहायता का दायित्व धनवान व्यक्तियों पर है। वे इस मत के थे कि निर्धनों की आर्थिक दशाओं में बदलाव की अपेक्षा पर्यावरण संबंधी बदलाव अधिक अपेक्षित है। उनका यह मत था कि अज्ञानता आलस्य, धर्मान्धता तथा बेइमानी आदि के कारण निर्धनता जनित होती हैं। निर्धनों को कम से कम सहायता दी जानी चाहिए, किन्तु वे व्यक्ति जो बीमारी, वृद्धावस्था, मानसिक बाधिता और अपंगता आदि के कारण निर्धन एवं असमायोजित हैं उन्हें अधिक से अधिक सहायता प्राप्त हो। इससे स्पष्ट है कि प्रथम वर्ग के गरीबों के प्रति उनकी प्रकृति दण्डात्मक थी और समाज कार्यकर्त्ताओं और पूअर लॉ अधिकारियों की यह अपेक्षा थी कि ऐसे निर्धनों को कठोर अनुशासन के माध्यम से भिक्षा गृहों में रखकर उनकी आर्थिक सहायता की जाय।

द्वितीय चरण

निर्धनों एवं समस्याग्रस्त व्यक्तियों के मानवीय व्यवहार एवं समस्याओं को समझने के लिये दान संगठन आन्दोलन के प्रारंभिक काल में सामाजिक विज्ञान अथवा जैवकीय विज्ञान की भूमिका को नहीं समझा गया, परन्तु जब समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र एवं जीवविज्ञान आदि के ज्ञान में वृद्धि हुई और इन विज्ञानों के प्रयोग को उपयोगी पाया गया तो दान संगठन के कार्यकर्ताओं ने इस ज्ञान का प्रयोग अपने कार्य व्यवहारों में करना शुरू किया और वैयक्तिक-सेवा कार्य प्रणाली में भी इस ज्ञान का प्रयोग प्रारंभ किया। इस चरण में वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत समाज शास्त्रीय एवं पर्यावरणीय दिशा में आगे बढ़ते हुए मुख्य रूप से भौतिक पर्यावरण पर अधिक जोर दिया जाने लगा।

वैसे तो मैरी रिचमण्ड के प्रयासों से वैयक्तिक सेवा कार्य को व्यावसायिक रूप मिला ही परंतु साथ ही उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि यदि व्यक्ति की सहायता करनी है तो इस

हेतु वातावरण एवं संपूर्ण परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए उसके परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति में सुधार लाना होगा। मैरी रिचमण्ड ने सोशल डायग्नोसिस (1917) नामक अपनी पुस्तक में प्रथम बार वैयक्तिक सेवाकार्य के सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का विश्लेषण करते हुए मनोवैज्ञानिक पक्ष की अपेक्षा समाजशास्त्रीय पक्ष को अधिक महत्व दिया। यद्यपि उनके अनुसार वैयक्तिक सेवा कार्य-व्यवहार में समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन शास्त्र, आयुर्विज्ञान तथा विधि शास्त्र आदि सभी का योगदान परिलक्षित होता है। इस प्रकार मैरी रिचमण्ड ने वैयक्तिक सेवा कार्य को एक व्यावसायिक प्रक्रिया एवं क्रियाकलाप के रूप में विकसित करने का सफलतम प्रयास किया।

तृतीय चरण

यद्यपि मैरी रिचमण्ड के काल में व्यक्तिगत समस्याओं के सामाजिक एवं पर्यावरणीय पक्ष पर ही विशेष बल दिया गया किन्तु 1918 में मनोचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण व्यवस्था के प्रभाव से वैयक्तिक सेवा कार्य में मनोविज्ञान का भी प्रभाव बढ़ने लगा। ये प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता सेवा के क्षेत्र के मनोचिकित्सकों से घनिष्ठ संबंध स्थापन कर मनोविकार के रोगियों के उपचार में अपना दायित्व निभाने लगे। फ्रायड के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाने लगा कि मानव का व्यवहार भावनाओं पर आधारित होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि व्यक्ति के व्यक्तित्व पर उसकी बाल्यावस्था की घटनाओं का प्रभाव पड़ता है। कुछ ख्याति प्राप्त समाज कार्यकर्त्ताओं ने मानसिक स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान को समाज कार्य के अन्तर्गत प्रयोग करने का प्रयास किया। इस ज्ञान के उचित अंश को सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने समाज कार्य के ज्ञान एवं प्रशिक्षण में सम्मिलित करके एक नवीन विचारधारा - मनोविश्लेषण- का उपयोग वैयक्तिक सेवा कार्य में किया। सांवेगिक दृष्टि से क्षुब्ध व्यक्तियों की मदद के लिये फ्रायड, युंग, एडलर आदि अनेक मनोविश्लेषकों के द्वारा विकसित ज्ञान एवं पद्धतियों का प्रयोग समाजकार्य में होने लगा।

इस प्रकार वैयक्तिक सेवाकार्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान का पर्याप्त उपयोग होने लगा।

चतुर्थ चरण

इस चरण में कार्यकर्त्ता वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत सामाजिक एवं पर्यावरणीय कारकों एवं सेवार्थी के व्यक्तित्व संबंधी मनोवैज्ञानिक कारकों को समन्वित कर इस बात में विश्वास करने लगा कि व्यक्ति की समस्याओं के जनन में सामाजिक एवं पर्यावरणीय कारकों के साथ व्यक्तित्व संबंधी मनोवैज्ञानिक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। अतः व्यक्तित्व एवं पर्यावरण दोनों कारकों के परिप्रेक्ष्य में निदान एवं उपचार की योजना बनाने एवं उसका क्रियान्वयन करने की बात सोची जाने लगी। इस परिप्रेक्ष्य में मिलफोर्ड ने पेन्सिलवानियाँ में सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के क्षेत्र में कार्यरत राष्ट्रीय संगठनों की कार्यकारिणी के सदस्यों की 1923 की बैठक में सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के कुछ प्रमुख क्षेत्र निर्धारित किये, जिनमें

प्रमुख हैं परिवार कल्याण, बाल कल्याण संस्थायें, चिकित्सा, मनोरोग एवं परिवीक्षण इत्यादि।

इस प्रकार वैयक्तिक सेवाकार्य के विकास के चौथे चरण में इसके संश्लेषणात्मक या समेकित पक्ष का विकास हुआ, जिसके अन्तर्गत सामाजिक अभिकरणों के स्वरूप और भिन्नता पर दृष्टि डाले बिना सभी कार्यकर्त्ताओं को एक ही श्रेणी में रखा गया है। चाहे वे मनोरोग के कार्यकर्त्ता हों या वैयक्तिक सेवा कार्यकर्त्ता या उपचारी कार्यकर्त्ता। इन समस्त कार्यकर्त्ताओं को एक ही तरह की वैयक्तिक सेवाकार्य की शिक्षा प्रदान की जाने लगी।

वैयक्तिक सेवा कार्य की परिभाषा

वैयक्तिक सेवा कार्य के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उसके अन्तर्गत मानवीय दर्शन, सर्वोतम हित एवं सर्वांगीण विकास की भावना निहित है। यह समाज कार्य की ऐसी पद्धति है जो वैज्ञानिक ज्ञान एवं कौशल पर आधारित है, जो समस्या से पीड़ित और असमर्थ जन की सहायता, उसके सक्रिय सहयोग से इस प्रकार करती हैं कि वह व्यक्ति अपनी अधिकतम क्षमता का उपयोग करते हुए अपनी समस्या के निराकरण में सफल हो सके। समाज में रहते हुए कभी-कभी व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व, पर्यावरण संबंधी असमायोजन, साधनों की कमी आदि के कारण उसके सामान्य जीवन में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है, ऐसी स्थिति में उसकी मनोदशा, कार्यक्षमता और परस्पर संबंध प्रभावित होते हैं। फलस्वरूप वह अपने कार्यों एवं जिम्मेदारियों के निर्वाह में असमर्थ हो जाता है, साथ ही समस्या से निपटने में स्वयं को असमर्थ महसूस करने लगता है। ऐसी स्थिति में वह या तो स्वयं या किसी दूसरे व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक अभिकरण में सहायता प्राप्ति हेतु जाता है। अभिकरण में वैयक्तिक सामाजिक कार्यकर्त्ता सेवार्थी की सामर्थ्य एवं सीमाओं को देखते हुए उसके व्यक्तित्व, सामाजिक संपर्क, अन्तर्संबंध एवं समस्या के कारकों की जानकारी प्राप्त करता है। तत्पश्चात् समुचित निदान एवं समस्या सुलझाव प्रक्रिया के माध्यम से न केवल सेवार्थी में समस्या सुलझाव के प्रति जागरुकता उत्पन्न करता है वरन् उस की आत्मनिर्भरता, सामंजस्य स्थापन तथा सामाजिक प्रकार्यात्मकता में वृद्धि कर उसकी समस्या के समाधान में सहायता देता है और व्यक्ति या सेवार्थी को इस योग्य बनने में सहायता देता है कि वह सर्वागीण विकास का लक्ष्य हासिल कर सके।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम हम वैयक्तिक सेवा कार्य के संबंध में दी गयी कुछ प्रमुख परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे-

1. मैरी रिचमण्ड (1915)- वैयक्तिक सेवा कार्य विभिन्न व्यक्तियों के साथ सहयोग करते हुए उनकी अपनी तथा समाज की एक साथ भलाई करने हेतु उनके साथ विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने की कला है।
2. मैरी रिचमण्ड (1917)- वैयक्तिक सेवा कार्य व्यक्ति के रूप में पुरुषों तथा स्त्रियों अथवा बच्चों के सामाजिक संबंधों में अधिक अच्छे समायोजन लाने की एक कला है।

3. वैफ्ट (1922) – वैयक्तिक सेवा कार्य व्यक्ति के व्यवहार व्यक्तित्व और सामाजिक संबंधों को समझने तथा एक अधिक अच्छे सामाजिक एवं वैयक्तिक समायोजन लाने में उसकी सहायता करने के प्रयास युक्त कुसमायोजित व्यक्ति का सामाजिक उपचार है।
4. मैरी रिचमण्ड (1922)– वैयक्तिक समाज कार्य का अर्थ ऐसी प्रक्रियाओं से है जो व्यक्तियों एवं उनके सामाजिक पर्यावरण के बीच एक चेतन रूप से लाये गये समायोजन के माध्यम से व्यक्तित्व का विकास करती है।
5. स्वीथन बोनर्स (1949)– वैयक्तिक सेवा कार्य एक ऐसी कला है, जिसके अन्तर्गत मानव संबंधों में विज्ञान में ज्ञान तथा संबंध की निपुणता का प्रयोग व्यक्ति की उपयुक्त क्षमताओं तथा समुदाय के संसाधनों की सेवार्थी तथा उसके संपूर्ण पर्यावरण के समस्त अंगों अथवा किसी अंग के बीच अधिक अच्छे समायोजन के लिये गतिशील बनाने हेतु किया जाता है।
6. फ्लोरेंस हॉलिस (1954) – वैयक्तिक सेवा कार्य समाज कार्य की एक ऐसी पद्धति है, जिसके द्वारा सामाजिक कार्यकर्त्ता सामाजिक समायोजन की समस्याओं के सुलझाव हेतु ऐसे व्यक्तियों की सहायता करता है, जो स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा अपनी समस्याओं का संतोष जनक हल नहीं कर पाते हैं।
7. देसाई (1956)– वैयक्तिक सेवा कार्य व्यक्ति की न केवल यथस्थिति के साथ समायोजन करने बल्कि परिवर्तन तथा नये-नये स्तरों पर अपने परिवर्तित होते हुए पर्यावरण के साथ समायोजन करने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनने में सहायता प्रदान करने की प्रक्रिया है।
8. पर्लमैन (1957)– वैयक्तिक सेवा कार्य कुछ मानव कल्याण अभिकरणों के द्वारा व्यक्तियों की सामाजिक क्रिया में अपनी समस्याओं का अधिक प्रभावपूर्ण रूप से समाधान करने में सहायता प्रदान हेतु प्रयोग में लाई जाने वाली एक प्रक्रिया है।

उपर्युक्त मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट है कि वैयक्तिक सेवाकार्य सर्वप्रथम मैरी रिचमण्ड द्वारा एक कला के रूप में प्रवर्तित किया गया, जिसका उद्देश्य स्वयं अपना एवं समाज का कल्याण था। तदुपरान्त वैक्ट ने इसे सामाजिक चिकित्सा के रूप में चिन्हित करते हुए, इसका उद्देश्य अधिक अच्छा वैयक्तिक एवं सामाजिक समायोजन बतलाया। बाद में वैयक्तिक सेवाकार्य को एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जाने लगा तथा इस प्रक्रिया के दौरान किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के कार्यो तथा अंगभूतों का निरूपण करते हुए, समायोजन लाने को प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लेने के उद्देश्य पर भी बल दिया जाने लगा।

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं उनके विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि वैयक्तिक सेवा कार्य की परिभाषा के मूलतत्व निम्नलिखित है :-

(i) वैयक्तिक सेवा कार्य समाज कार्य की एक पद्धति है।

(ii) जो वैज्ञानिक ज्ञान एवं कौशल से युक्त प्रशिक्षित समाज कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रयोग में लाई जाती है।

(iii) इसका प्रयोग एक प्रक्रिया के रूप में निजी एवं सार्वजनिक अभिकरणों के द्वारा किया जाता है।

(iv) इसके द्वारा समाज में असमायोजित एवं समस्या ग्रस्त लोगों की इस प्रकार सहायता की जाती है कि ये बेहतर सामाजिक समायोजन के साथ व्यक्तिगत रूप से संतोषप्रद एवं अपेक्षाकृत श्रेष्ठ जीवन स्तर को प्राप्त कर सके।

(v) फलस्वरूप उन्नत समाज की रचना में वे सक्रिय भागीदारी निभा सकें।

सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य की मौलिक मान्यताएँ

वैयक्तिक सेवाकार्य की विभिन्न परिभाषाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि वैयक्तिक सेवाकार्य के विभिन्न पक्ष हैं जिन्हें विद्वानों ने अपने-अपने मत के अनुसार व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। समस्त मान्यता प्राप्त परिभाषाओं के आधार पर वैयक्तिक समाज कार्य की मौलिक मान्यताओं का उल्लेख किया जा सकता हैं। प्रमुख रूप से हैमिल्टन (Hamilton) और हॉलिस (Hollis) द्वारा व्यक्त मौलिक मान्यताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

हैमिल्टन के अनुसार ये मौलिक मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं :–

1. व्यक्ति एवं समाज अन्योन्याश्रित होते हैं।
2. सामाजिक शक्तियाँ व्यवहार एवं मनोवृत्तियों को प्रभावित करती हैं और जिस संसार में हम रहते हैं उसके प्रति अपना योगदान देने तथा आत्म विकास के लिये अवसर प्रदान करती हैं।
3. सम्पूर्ण समस्याएँ न केवल मनोवैज्ञानिक-आन्तरिक व बाह्य होती हैं वरन् अधिकतम वैयक्तिक सेवा कार्य की समस्याएँ अन्तर्वैयक्तिक होती हैं अर्थात् व्यक्ति के उपचार में एक से अधिक व्यक्तियों के शामिल किये जाने की सम्भावना होती है, और वैयक्तिक सेवा कार्य में पारिवारिक इकाई विशेष रूप से शामिल होती है।
4. अपनी समस्याओं को हल करने में सेवार्थी प्रत्येक कदम पर एक जिम्मेदार सहभागी होता है।
5. उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु वैयक्तिक सेवा कार्य प्रक्रिया का केन्द्र कार्यकर्त्ता-सेवार्थी सम्बन्ध का सचेतन एवं नियन्त्रित प्रयोग होता है।

हॉलिस के मातानुसार वैयक्तिक समाज कार्य मानव व्यक्तित्व, सामाजिक मूल्यों व लक्ष्यों के प्रति कुछ मौलिक मान्यताओं पर आधारित है।

सर्वप्रथम वैयक्तिक सेवा कार्य मानव मूल्य, व्यक्ति की अद्वितीय विशेषता (Uniqueness) तथा अपनी सन्तुष्टि के अनुसार विकास एवं समायोजन करने की कुशलता पर आधारित होता है। वैयक्तिक सेवा कार्य की यह धारणा है कि सामाजिक संरचना का लक्ष्य व्यक्ति को उत्तम जीवनयापन के योग्य बनाना है। राज्य की रचना व्यक्ति के कल्याण के लिए की जाती है। व्यक्ति और समाज का हित एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित है। अतः एक व्यक्ति के कल्याण में ही पूरे समाज का कल्याण निहित है। व्यक्ति, वैयक्तिक एवं सामूहिक स्तर पर एक दूसरे के हित/कल्याण के लिए जिम्मेदार होते हैं और इसके साथ ही साथ अपने उद्देश्यों की भी प्राप्ति कर सकते हैं।

वैयक्तिक समाज कार्यकर्त्ता का मानना है कि मानवीय व्यवहार एक आकस्मिक (Accidental) व्यवहार नहीं होता बल्कि इसमें एक विधवत स्वरूप निहित होता है। इस विधिवत व्यवहार को समुचित रूप से समझा भी जा सकता है और प्रभावित भी किया जा सकता है। यह मानवीय व्यवहार व्यक्ति के अपने गुणों, जीवन के पूर्व अनुभवों तथा जिन परिस्थिति विशेष में वह प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, का फल होता है।

वैयक्तिक समाज कार्यकर्त्ता यह विश्वास करते हैं कि व्यक्ति की मदद तीन प्रकार से की जा सकती है :-

(1) व्यक्ति पर बाह्य शक्तियों अथवा सीमाओं के प्रभाव को कम करके।

(2) व्यक्ति और उसकी परिस्थितियों को भलीभाँति समझाकर।

(3) कार्यकर्त्ता- सेवार्थी सम्बधों के प्रत्यक्ष प्रभावों का उचित प्रयोग करके, कार्यकर्ताओं की भूमिका की स्वीकृति और उसके प्रति सद्भावना का विकास करके।

वैयक्तिक समाज कार्य के सभी क्रियाकलाप उपर्युक्त तीनों तथ्यों का मिश्रण होता है जिनके प्रयोग द्वारा व्यक्ति के सामाजिक समायोजन में सुधार करने के लिए मदद की जाती है।

समस्त वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति को अपने जीवन को निर्देशित करने का अधिकार है, अनेक सम्भावनाओं में से अपनी इच्छा व जरूरतों कें अनुरूप किसी एक को चुनने का भी अधिकार है और कुछ अयोग्य व्यक्तियों को छोड़कर अन्य सभी सामान्य व्यक्तियों को कार्यकर्ता से मदद लेने अथवा न लेने का अधिकार है।

फ्रायड के मनोविज्ञान (Freudian Psychology) और इसके आशोधित ज्ञान का विस्तृत प्रयोग आधुनिक वैयक्तिक समाज कार्य में व्यक्तियों को समझने में किया जाने लगा है। इसी के साथ ही साथ अनेक अन्य सामाजिक विज्ञानों जैसे- सामान्य मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनैतिक अर्थशास्त्र, सामाजिक अर्थशास्त्र आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य कल्याण को बढ़ावा देने का एक साधन है। किन्तु कल्याण हेतु इस विधि का चयन कुछ मूल्यों पर आधारित होता है। इन मूल्यों को बौद्धिक स्तर पर नहीं वरन सांवेगिक स्तर पर स्वीकार किया जाता है किन्तु बौद्धिक समझदारी का अपेक्षा कृत अधिक महत्व है। क्योंकि इसके आधार पर कार्यकर्ता उन मूल्यों के औचित्य का पता लगाता है और यह भी देखता है कि उसके कार्य उन मूल्यों के अनुकूल हैं या नहीं। सामान्यतया समाज कार्यकर्त्ताओं एवं समाज कार्य विशेषज्ञों में इन मूल्यों के संबंध में कोई एक मत नहीं होता है। कुछ सामाजिक कार्यकर्त्ता दूसरे व्यक्तियों के बारे में धार्मिक आधार पर अपने मूल्य निर्धारित करते हैं और कुछ दूसरे कार्यकर्त्ता मानवीय आधार पर मूल्यों का निर्धारण करते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति के साथ कार्य करना होता है, उसकी अपनी आवश्यकतायें मूल्य तथा विचारणीय होते हैं, समाज कार्यकर्त्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि उन मूल्यों और अपने मूल्यों में तालमेल स्थापन करके यदि वह कार्य करेगा तो अधिक सफल होगा।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में कार्यकर्त्ता-सेवार्थी सम्बन्ध

समाज कार्य एक व्यावसायिक सेवा है जो वैज्ञानिक ज्ञान व मानव सम्बन्धों की निपुणता पर आधारित है। समाज कार्य अभ्यास में व्यावसायिक सम्बध की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कार्यकर्त्ता अपने सेवार्थी के साथ उद्देश्यपूर्ण व्यावसायिक सम्बन्ध की स्थापना करता है। समस्त सम्बन्धों के विज्ञान और कला पर ही वैयक्तिक समाज कार्य, सामूहिक समाज कार्य और सामुदायिक संगठन आधारित होते हैं। प्रत्यक्ष सम्बन्ध आध्यात्मिक एवं संवेगात्मक प्रक्रियाओं की उत्पत्ति करते हैं, मानव में मनोवृत्तियों का सर्जन एवं व्यक्ति का सामाजीकरण करते हैं। इन सम्बन्धों की अनुभूति प्रत्यक्ष रूप से की जा सकती है जब किसी व्यवसाय का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से मानव जाति से हो तो, सम्पूर्ण स्व (Total Self) का पूर्णतया सन्निहित होना आवश्यक है।

कार्यकर्त्ता और सेवार्थी अभिकरण के साधनों तथा अन्य सामुदायिक साधनों से प्रभावित होते हैं। वैयक्तिक सेवा कार्य के अभ्यास के दौरान अपनी सहायता अपने आप करने के लिये सेवार्थी की मदद करने की प्रक्रिया में कार्यकर्त्ता-सेवार्थी सम्बन्ध व्यवसायिक होता है तथा यह मैत्री सम्बन्ध या मात्र सम्बन्ध स्थापन की दृष्टि से ही नहीं स्थापित किया जाता, बल्कि व्यवसायिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए और आत्मीयता स्थापित करने के लिए बनाया जाता है। जब कोई समस्याग्रस्त व्यक्ति सहायता हेतु संस्था में आता है तो वह अपनी सभी विशिष्टताओं, भावनाओं, मनोवृत्तियों एवं व्यवहारों आदि के साथ होता है जिसका आधार उसके अपने जीवन सम्बन्धी बहुत से अनुभव होते हैं। किसी भी व्यक्ति से मात्र मुलाकात से ही व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता, जब तक कि उस व्यावसायिक सम्बन्ध के लक्ष्य को पाने के लिए आत्मीयता न स्थापित की जाय। इस स्तर पर जब व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित होता है तभी

व्यक्ति सेवार्थी बन जाता है। हैमिल्टन ने अपना मत व्यक्त किया है कि सेवार्थी के साथ व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जरूरी है कि कार्यकर्त्ता एक ऐसे वातावरण का सृजन करे जिसमें सेवार्थी को अपनेपन की भावना का एहसास हो, सेवार्थी की आवश्यकताओं को स्वीकृति प्रदान की जाय और उसे अपने सम्बन्ध में स्वयं निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त हो।

कार्यकर्ता सेवार्थी सम्बन्ध दो प्रकारों में व्यक्त किये गये हैं :-

(1) वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध (Objective Relationship)

सेवार्थी की कार्यकर्ता के प्रति जो धारणा बनती है वह उसके कुशलता, कार्यक्षमता, नम्रता, कार्यशैली व ज्ञान पर आधारित होता है न कि उसके भावनात्मक प्रत्यक्षीकरण पर। वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध वास्तविकता पर आधारित होता है। कार्यकर्ता यथार्थ में जिस तरह का होता है सेवार्थी उसे (कार्यकर्ता को) वैसा ही समझता है।

(2) आत्मनिष्ठ सम्बन्ध (Subjective Relationship)

आत्मनिष्ठ सम्बन्ध सेवार्थी की आत्मनिष्ठ भावनाओं से प्रेरित होता है। सेवार्थी कार्यकर्ता को भावना प्रधान दृष्टि से देखने लगता है। वह (सेवार्थी) कार्यकर्ता के प्रति जो भी विचार बनाता है वह उसके अवस्थाविक प्रत्यक्षीकरण पर आधारित होता है जिसमें उसके बचपन के अनुभव एवं मनोवृत्तियाँ भी शामिल होते हैं इसे भावनात्मक प्रत्यारोपण (Transference) प्रतिक्रिया कहते हैं। जिस तरह के विचार, मनोवृत्ति, भावना व्यक्ति में अपनी बाल्यावस्था से ही माता-पिता के प्रति विकसित होती है उसी तरह के विचार, मनोवृत्ति, भावना बड़ा होने पर वह समाज के अन्य सदस्यों (कार्यकर्ता सहित) के प्रति आरोपित करता है। अतः भावनात्मक प्रत्यारोपण से जो भी सम्बन्ध स्थापित किया जाता है वह सेवार्थी के अवास्तविक, आत्मनिष्ठ प्रत्यक्षीकरण पर आधारित होता है। ऐसी दशा में कार्यकर्ता की यह जिम्मेदारी होती है कि वह भावनात्मक प्रत्यारोपण की घटनाओं को समझते हुए उन्हें कम करने का प्रयत्न करे और सेवार्थी को अपनी परिस्थिति के वास्तविक कारको का परिचय करावे तथा इस परिस्थिति के बारे में अपने वर्तमान सचेत संवेगों को प्रकट करने में मदद पहुँचाये।

बोवर्स ने वैयक्तिक सेवा कार्य की परिभाषा में "सम्बन्धों में निपुणता" (Skill in relationship) की शब्दावली का प्रयोग किया है तथा इसे वैयक्तिक समाज कार्य की पद्धतियों में एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में वर्णन किया है। इस परिभाषा के अन्तर्गत इसका अर्थ एक सेवार्थी और एक कार्यकर्ता में सम्बन्धों की निपुणता से है। कार्यकर्ता सामुदायिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु एक अभिकरण द्वारा नियुक्त होता है और भूमिका भी अभिकरण के द्वारा ही निश्चित होती है। वैयक्तिक समाज कार्य के सिद्धान्तों से निर्देशित मानव व्यवहार सम्बन्धी ज्ञान व सहायता करने की निपुणता से तैयार होकर यह कार्यकर्ता, सेवार्थी-कार्यकर्ता सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। सेवार्थी से तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से है जो आपदा में होता है तथा समस्याग्रस्त

(कष्टप्रद) होता है। यह व्यक्ति स्वयं अभिकरण में सहायता प्राप्ति हेतु आता है अथवा समाज के अन्य माध्यमों के द्वारा किसी अभिकरण में सहायता के लिए भेज दिया जाता है दोनों ही दशाओं में कार्यकर्ता का सामना सेवार्थी से होता है, जो संकटग्रस्त अथवा सामाजिक विचलन की स्थिति में होता है। इन समस्त परिस्थितियों में वैयक्तिक व सामाजिक असन्तुलन की समस्या परिलक्षित होती है। इसी असंतुलन के रूपान्तर हेतु वैयक्तिक समाज कार्य पद्धति में सेवार्थी-कार्यकर्ता सम्बन्धों को एक माध्यम के रूप में उपयोग में लाया जाता है। इन सम्बन्धों की दिशा एवं प्रकार, समस्या की भिन्न-भिन्न स्थितियों के अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं।

हैमिल्टन (Hamilton) ने कार्यकर्ता- सेवार्थी व्यावसायिक सम्बन्धों के कई पक्षों का विवेचन किया है, जो निम्न प्रकार में हैं :-

(1) व्यावसायिक सम्बन्ध साक्षात्कार का आधार है –

समस्या समाधान की प्रक्रिया में सेवार्थी की समस्या को समझने के लिए उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक होता है। समस्या को जानने के लिये सेवार्थी के पूर्व जीवन के अनुभव, विगत इतिहास, वर्तमान दशायें और पर्यावरण आदि के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जानकारी आवश्यक होती है जिसे साक्षात्कार के माध्यम से ही ज्ञात किया जाता है। कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध मजबूत होने की स्थिति में ही सेवार्थी अपनी बात सहज रूप से कह सकता है। सेवार्थी की समस्या के निदान और उपचार के लिए उसके विगत इतिहास का महत्वपूर्ण स्थान होता है अतः उसके इतिहास की यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के हेतु कार्यकर्ता साक्षात्कार के जरिये ही घनिष्ठ एवं विश्वसनीय सम्बन्ध बनाता है।

(2) व्यावसायिक सम्बन्धों में कार्यकर्ता का आत्मज्ञान –

प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व में भिन्नता का होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार कार्यकर्ता के व्यक्तित्व में भी भिन्नता हो सकती है। इस कारण प्रायः सभी कार्यकर्ता सभी सेवार्थियों से पूर्णरूपेण स्वीकृति प्राप्त नहीं कर पाते। समस्याग्रस्त व्यक्तियों की सहायता करना समाज कार्य का लक्ष्य होता है। इसलिये कार्यकर्ताओं में आत्म-ज्ञान का होना आवश्यक है ताकि अपने सेवार्थी के साथ व्यावसायिक सम्बन्धों को सचेतन रूप में प्रयोग कर सके। उन्हें अपनी अभिरुचियों, आत्म-चेतना, पक्षपात, प्रेरणाओं, आवेगों (Impulses), संवेगात्मक भावनाओं आदि का ज्ञान होना चाहिए। प्रशिक्षण के माध्यम से वैयक्तिक समाज कार्यकर्ताओं को यह ज्ञान कराया जाता है कि वे सेवार्थी के असामाजिक व्यवहारों एवं कार्यों की निन्दा न कर उसे अच्छी प्रकार समझाकर उसकी समस्याओं का समाधान करे। कार्यकर्ता समस्या समाधान की प्रक्रिया में सेवार्थी की भावनाओं का ज्ञान प्राप्त करता है साथ ही साथ अपनी भावनाओं का भी ज्ञान रखता है इस प्रकार वह इन भावनाओं के आधार पर ही समस्या के निराकरण का प्रयास कर सकता है।

(3) व्यावसायिक सम्बन्धों में प्राधिकार (Authority) का उपयोग—

सेवार्थी के कल्यार्थ कभी-कभी कार्यकर्ता उपदेश अथवा संकेतों के द्वारा अपने प्रभुत्व/प्राधिकार का प्रयोग वैयक्तिक सेवा कार्य के अभ्यास के दौरान करता है लेकिन व्यावसायिक सम्बन्धों में इस प्राधिकार का प्रयोग ताकत या धमकी के रूप में नहीं किया जाता। प्राधिकार प्रयोग के पूर्व कार्यकर्ता अपने सेवार्थी की विद्रोही भावनाओं, आक्रमणकारी या उग्र प्रवृत्तियों अथवा मनोविकार सम्बन्धी विचलन के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करता है तत्पश्चात् अभिकरण के कार्यों के हित में अथवा सेवार्थी के कल्याण के लिए कार्यकर्ता प्राधिकार प्रयोग से भयभीत नहीं होता। अतः प्राधिकार प्रयोग से पूर्व वह यह निश्चित कर लेता है कि उसके द्वारा किया जाने वाला प्रभुत्व/अधिकार का प्रयोग सेवार्थी तथा अभिकरण के कार्यों के लिए उचित व कल्याणकारी है।

(4) व्यावसायिक सम्बन्धों का बहुमुखी पक्ष—

अधिकांश परिस्थितियों में किसी एक सेवार्थी की समस्या में अनेक पक्ष परिलक्षित होते हैं। ऐसी दशा में कार्यकर्ता को एक से अधिक कार्यकर्ताओं के साथ सम्बन्धों को बाँटना होता है एवं सहयोग के आधार पर कार्य करना होता है। मात्र समस्या अथवा सेवार्थी के विषय में ही नहीं बल्कि अभिकरण में वैसे भी कई कार्यकर्ता होते हैं और उनकी जिम्मेदारी व कार्य क्षेत्र का बँटवारा जरूरत के अनुसार हो जाता है। एक से अधिक कार्यकर्ता एक ही सेवार्थी की समस्या के निराकरण में अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह करते हैं। इस प्रकार सेवार्थी एवं कार्यकर्ताओं को एक से ज्यादा सेवार्थी अथवा कार्यकर्ता से सम्बन्ध बनाना पड़ता है। इस तरह के बहुमुखी सम्बन्ध सेवार्थी के लिए कारगर हो सकते हैं।

(5) व्यावसायिक सम्बन्धों में मूल्यों का स्थान—

वैयक्तिक समाज कार्य अभ्यास के दौरान कार्यकर्ता का अपने सेवार्थी, अभिकरण, समुदाय व स्वयं अपने प्रति कर्तव्य होता है। कार्यकर्ता के इस जिम्मेदारीपूर्ण कर्तव्यों में सेवार्थी का एक मानव तथा एक व्यक्ति के रूप में सम्मान और उसकी स्वीकृति भी शामिल है। अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्यकर्ता किसी भी परिस्थिति में सेवार्थी का शोषण नहीं करता है। समस्या के निराकरण की प्रक्रिया में उसे सेवार्थी की आन्तरिक क्षमताओं के उचित प्रयोग का अवसर प्रदान करना चाहिए। कार्यकर्ता को अपने मूल्यों को जबरदस्ती सेवार्थी पर लादना नहीं चाहिए। उसे यह भी ध्यान देना चाहिए कि सेवार्थी के मूल्य उसके स्वयं के लिए तथा समाज के लिए लाभप्रद हैं अथवा नहीं। मूल्यों में संघर्ष की अवस्था में सर्वप्रथम इस संघर्ष को ही दूर करने की जरूरत होती है। उसे यह प्रयत्न करना चाहिए कि सेवार्थी के सर्जनात्मक मूल्यों का विकास हो।

वैयक्तिक समाज कार्य के अन्तर्गत जब सम्बन्धों की चर्चा की जाती है तो इसका यह मतलब समझा जाता है कि दो व्यक्तियों के मध्य (अस्थाई या दार्घकालीन) समान रुचियों अथवा लक्ष्यों के लिए भावनात्मक प्रतिक्रियायें होती हैं लेकिन एक बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि केवल दो व्यक्तियों की आपसी-निकटता अथवा किसी स्थान पर एकत्र हो जाने से ही सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाते हैं वरन् जब दोनों व्यक्तियों के बीच संवेगात्मक भावनाएँ शुरू होती है तब सम्बन्ध बनना आरम्भ होता है।

पर्लमैन (Perlman) ने कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्धों की स्थापना के अनेक पक्षों का उल्लेख किया है :-

(1) संवेगों से भरी परिस्थितियों एवं इन परिस्थितियों में सहभागिता के परिणामस्रूप लोगों के बीच जैव (Vital) सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

(2) सम्पूर्ण विकास उत्पन्न करने वाले सम्बन्धों, जिनमें वैयक्तिक समाज कार्य सम्बन्ध भी एक है, के अन्तर्गत स्वीकृत एवं आकांक्षा, आलम्बन एवं प्रोसाहन के तत्व सन्निहित होते हैं।

(3) एक व्यवसायिक सम्बन्ध का पहचान चिन्ह उसका सचेत लक्ष्ययुक्त विकास है, जो इस ज्ञान से पैदा होता है कि लक्ष्य की प्राप्ति कैसे की जाय?

(4) वैयक्तिक समाज कार्य सम्बन्ध उस दशा में प्रारम्भ होता है जब सेवार्थी अपनी समस्या के कुछ भाग में कार्यकर्ता को भागीदारी बनाता है तथा कार्यकर्ता यह प्रदर्शित करता है कि वह सेवार्थी के साथ होने की भावना रखता है इसके साथ ही वह उसकी समस्या के समाधान की व्यवसायिक दक्षता भी रखता है।

(5) वैयक्तिक सेवा कार्य सम्बन्ध अनेक उपचारात्मक मूल्य रखता है।

(6) वैयक्तिक सेवा कार्य परिस्थिति के बाहर की कठिनाइयाँ और सम्बन्धों की आवश्यकताएँ भी वैयक्तिक सेवा कार्य सम्बन्धों में प्रविष्ट हो सकती हैं और सम्बन्ध को जटिल बना सकती हैं तथा उनमें सुधार लाने की जरूरत होती है।

(7) वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता स्वयं सम्बन्ध के प्रति प्रतिक्रियाएँ करता है और उसकी व्यवसायिक निपुणता का एक हिस्सा इन्हीं प्रतिक्रियाओं का प्रबन्ध करना है।

कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध के सिद्धान्त

समस्या समाधान की प्रक्रिया में कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध की एक महती भूमिका होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में सेवार्थी के सहयोग की अपेक्षा तभी की जा सकती है जब कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध अति घनिष्ठ हों। इन्हीं सम्बन्धों को वैयक्तिक सेवा कार्य के अभ्यास का एक उपकरण मानते हुए बीस्टेक (Biestek) ने कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध के सिद्धान्तों का उल्लेख निम्न रूप में प्रस्तुत किया है :-

(1) व्यक्तिकरण का सिद्धान्त (Principle of Individualization):

समस्या ग्रस्त सेवार्थी जब अभिकरण पर सहायतार्थ आता है तो वह समाज का एक सदस्य एवं व्यक्ति होता है। समाज में नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं उसी समाज में उसकी समस्यायें परिलक्षित होती हैं इसके बावजूद उसकी समस्या (उसकी स्वयं की समस्या) विशिष्ट एवं व्यक्तिगत होती हैं, जिसे अच्छी तरह समझकर सहायता प्रदान करने के लिये सेवार्थी का भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तिकरण करना अवश्यम्भावी हो जाता है। व्यक्तिकरण से मतलब है सेवार्थी के विशेष गुणों की क्रमबद्ध तरीके से जानकारी हासिल करना, उसकी समस्याओं को मनोसमाजिक अध्ययन व निदान कर उपचार हेतु वैयक्तिक सेवा कार्य के सिद्धान्तों, प्रक्रियाओं व प्राविधियों का उपयोग करके उसकी समस्या का निराकरण कर सहायता करना, इसके साथ ही वह अपनी सामाजिक परिस्थितियों व पर्यावरण के साथ उच्चतम सामंजस्य स्थापित कर सके।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने अपनी रुचि एवं इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार दिया जाये, जो व्यक्तिकरण का मुख्य आधारभूत सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत व्यक्तित्व के अन्तरों एवं अद्वैत को महत्व दिया जाता है। वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता व्यक्तिकरण के सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान करते हुए अपने उपयुक्त मनोवृत्तियों, ज्ञान, कुशलता और क्षमताओं का प्रयोग करते हुये समस्या के समाधान का यथोचित प्रयत्न करता है।

प्रोफेसर अहमद ने व्यक्तिकरण के सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्यकर्ता की इस भूमिका में निम्नांकित विशेषताओं का होना अवश्यम्भावी माना है :-

(1) कार्यकर्ता का दृष्टिकोण एकांगी होना तथा पक्षपात के बिना सेवार्थी को वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखना। (2) कार्यकर्ता के अन्दर मानवीय व्यवहार का वृहद-ज्ञान हो। (3) कार्यकर्ता में यह गुण हो कि सेवार्थी की बातें अच्छी तरह सुने तथा उसके व्यवहार का निरीक्षण करने में योग्य हो। (4) कार्यकर्ता में यह योग्यता हो कि वह सेवार्थी की दशा को भलीभाँति समझ सके और उसकी अपनी क्षमता व योग्यता के अनुसार सेवार्थी की सहायता कार्य की योजना बना कर प्रस्तुत कर सके। (5) कार्यकर्ता इतना योग्य हो कि वह सेवार्थी में आत्मीयता की भावना का विकास कर सके और उसकी भावनाओं को समझ सके। (6) कार्यकर्ता इतना सजग हो कि साक्षात्कार हेतु एकांत स्थान का प्रयोग करे ताकि सेवार्थी अपनी बात सहज रूप से निःसंकोच कह सके। (7) सेवार्थी की समस्या का अध्ययन, निदान तथा उपचार स्वयं सेवार्थी की क्षमता एवं सहयोग/सहभागिता से करना। (8) कार्यकर्ता सेवार्थी की समस्या समाधान प्रक्रिया में उसके व्यक्तित्व व उसकी क्षमताओं का ख्याल रखकर उपचार प्रक्रिया में ऐसा लचीलापन रखे कि उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सके।

(2) भावनाओं के वस्तुनिष्ठ/लक्ष्यपूर्ण अभिव्यक्ति का सिद्धान्त (Principle of objective/ Purposeful Expression of Feelings)

वैयक्तिक सेवा कार्य के अभ्यास के अन्तर्गत कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी को पूर्ण रूप से अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का अवसर व स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है। चाहे ये भावनाएँ नकारात्मक हों या सकारात्मक, दोनों ही तरफ की भावनाओं को व्यक्त करने से कार्यकर्ता न तो उसे रोकता है और न तो उसकी निन्दा करता है। बल्कि सेवार्थी की समस्त बातों को धैर्यपूर्वक ध्यान से सुनता है। उसकी भावनाओं की अभिव्यक्त करने में सहायता प्रदान करता है, क्योंकि इन भावनाओं के उद्देश्यपूर्ण अभिव्यक्तिकरण से सेवार्थी के उपचार में महती मदद मिलती है। अतः भावनाओं का उद्देश्यपूर्ण प्रकटन सार्थक होता है।

(3) नियन्त्रित संवेगात्मक सम्बन्ध का सिद्धान्त (Principle of controlled Emotional Relationship)

कार्यकर्ता द्वारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि सेवार्थी जिन भावनाओं को अभिव्यक्त करता है उसको सूक्ष्मतापूर्वक ग्रहण करके व्यावसायिक लक्ष्यों के अनुरूप ही उनका प्रत्युत्तर दे। इस सिद्धान्त के पालन के क्रम में कार्यकर्ता सेवार्थी की भावनाओं के प्रति जो अपनी भावना प्रकट करता है वह पूर्णतः नियन्त्रित होना चाहिए। कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध नियंत्रित संवेगों के घेरे में व्यावसायिक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु ही बने होने चाहिए।

(4) स्वीकृति का सिद्धान्त (Principle of Acceptance)

सेवार्थी जिस भी प्रकार की परिस्थिति में है उसे उसी रूप में स्वीकार करके उसकी वर्तमान दशा के अनुरूप उसके साथ व्यवहार किया जाना चाहिए। सेवार्थी की वर्तमान परिस्थितियों को सम्मुख रखकर ही उसके प्रति मत बनाया जाय। सेवार्थी की योग्यता, क्षमता, शक्तियों अथवा कमजोरियों, अनुकूल या प्रतिकूल गुणों, सकारात्मक व नकारात्मक भावनाओं, सर्जनात्मक एवं विघटनकारी मनोवृत्तियों एवं व्यवहार को ध्यान में रखकर कार्यकर्ता को अपने व्यवहार का निर्धारण करना चाहिए। सेवार्थी के वैयक्तिक मूल्यों से भी कार्यकर्ता का व्यवहार प्रभावित होना चाहिए। कार्यकर्ता सेवार्थी को बिना पक्षपात व अपने संवेगों, भावनाओं, विश्वासों, मूल्यों व पूर्वाग्रहों का समावेश किये यथार्थ रूप में उसी प्रकार स्वीकार करता है और स्वीकृति समस्या-समाधान हेतु आवश्यक होती है।

(5) अनिर्णयात्मक मनोवृत्ति का सिद्धान्त (Principle of Non-Judgmental attitude)

वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास के दौरान कार्यकर्ता की मनोवृ यिाँ सेवार्थी के गुण-दोष के सम्बन्ध में अनिर्णयात्मक होनी चाहिए। उसे सेवार्थी के किसी व्यवहार की न तो निन्दा करनी चाहिए और न ही उसके गुण-दोष के सम्बन्ध में कोई निर्णय ही लेना चाहिए। कार्यकर्ता अपने

ज्ञान व अनुभव की मदद से सेवार्थी की मनोवृत्तियों, क्रियाकलापों व व्यवहारों आदि का यथार्थ रूप से मूल्यांकन करता है। इस मूल्यांकन का लक्ष्य सेवार्थी की निन्दा करना अथवा उसमें नैतिक दोष निकालना अथवा उसके प्रति पहले से किए गये निर्णय के आधार पर व्यवहार करना नहीं है बल्कि इस मूल्यांकन में समाज के मूल्यों, परम्पराओं, आदर्शों व विश्वासों आदि का भी ख्याल रखा जाता है। इस प्रकार इस मूल्यांकन का आधार नैतिक मानदण्ड न होकर उसका ज्ञान व अनुभव होता है।

(6) सेवार्थी के आत्म–निर्देशन का सिद्धान्त (Principle of client self-Direction)

सेवार्थी को अपनी समस्या के अध्ययन और निदान में सहभागी की तरह शामिल होने एवं अपनी रुचि के अनुरूप सम्बन्धित समस्या के समाधान (उपचार) का पूर्ण अधिकार होता है। आत्म निर्देशन के सिद्धान्त के अन्तर्गत सेवार्थी को पूर्ण अधिकार है कि कार्यकर्ता की मदद हासिल करे अथवा न करे या अपनी समस्या का निराकरण अपनी रुचि के विपरीत करने की स्वीकृति करे या न करे। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि सेवार्थी की समस्या का जिस भी प्रकार समाधान किया जाय, समस्या के निवारण में जिन साधनों का उपयोग किया जाय तथा सेवार्थी व उसकी समस्या के सम्बन्ध में जो भी मत बनाया जाय वह सेवार्थी का स्वयं निर्णय होना चाहिए। समस्या समाधान की प्रक्रिया में सेवार्थी को अपनी अहम् शक्ति के विकास का मौका प्रदान किया जाय ताकि वह अपने जीवन सम्बन्धी निर्णय को स्वतंत्रतापूर्वक लेने के योग्य हो सके। सेवार्थी के लिए इसकी महत्ता सर्वाधिक है। अतः सेवार्थी में आत्म निर्देशन की योग्यता/क्षमता का विकास उसके अहम् शक्ति के विकास के फलस्वरूप ही किया जा सकता है।

(7) गोपनीयता का सिद्धान्त (Principle of Confidentiality)

सेवार्थी की सहायता के दौरान कार्यकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि सेवार्थी के विषय में जो भी महत्वपूर्ण सूचनायें एवं तथ्य ज्ञात हों उसे पूर्णतः गोपनीय रखें ताकि कार्यकर्ता–सेवार्थी सम्बन्धों का विकास हो और इन सम्बन्धों का समस्या के अध्ययन, निदान और उपचार में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सके। चूंकि सेवार्थी अपने जीवन से सम्बन्धित व्यक्तिगत रहस्यों, निजी बातों एवं संवेगात्मक भावनाओं को सहज रूप से व्यक्त करता है इसलिए कार्यकर्ता का नैतिक व व्यवसायिक कर्तव्य बनता है कि वह सेवार्थी सम्बन्धी सभी सूचानायें गुप्त रखे। साथ ही सेवार्थी को यह विश्वास भी हो कि उससे सम्बन्धित सभी सूचनायें गुप्त रखी जायेंगी। इस प्रकार गोपनीयता का विश्वास होने पर ही सेवार्थी निःसंकोच अपनी समस्या की तह में जाकर सभी पक्षों को उजागर करता है। किन्हीं परिस्थितियों में अभिकरण के भीतर तथा बाहर दूसरे व्यावसायिक व्यक्तियों को सेवार्थी की रहस्यमयी बातें भी बताने की आवश्यकता पड़ जाती हैं लेकिन इन सूचनाओं को देने के पूर्व सेवार्थी की रजामन्दी ली जानी चाहिए साथ ही सम्बन्धित व्यक्तियों का भी उत्तरदायित्व होता है कि वे इन सूचनाओं को गुप्त रखें।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास के सिद्धान्त
(Principles of Social Case work Practice)

वैयक्तिक सेवा कार्य के विकास के दौरान एक ऐसी भी अवधि थी जब इसके अभ्यास की आधारशिला को स्वीकार कर सिद्धान्तों का उल्लेख कर लिया जाता था, शनैः शनैः, इस प्रकार निष्पादित सिद्धान्तों को समस्त अभ्यासकर्ता स्वीकार करने लगे, किन्तु किन परिस्थितियों में और कैसी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता कार्य की सफलता हेतु किन सिद्धान्तों को किस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता था, इन प्रश्नों पर मतैक्य नहीं था। इस विकास क्रम में अनेक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ और कुछ प्रारम्भिक मदभेदों के पश्चात् वैयक्तिक सेवा कार्य के क्रियाकलापों को पूर्ण करने के लिए ये सिद्धान्त सामान्य रूप से पर्याप्त एवं उपयोगी हुए।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के अभ्यास में प्रयुक्त किये जाने वाले सिद्धान्तों की सूची बनाना कठिन कार्य लगता है क्योंकि इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ समाज कार्य अभ्यासकर्ताओं के समक्ष यह प्रश्न उभरा कि सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में क्या सिद्धान्तों का प्रयोग समान रूप से उपयुक्त है अथवा उनमें कुछ आवश्यक परिवर्धन, परिवर्तन या सुधार की जरूरत है। इस विचार के समर्थक प्रे (Pray) ने भी यह प्रश्न किया है कि सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के मौलिक और अनिवार्य तथ्य क्या हैं अथवा वास्तव में यह किस प्रकार अभ्यास में लाया जाता है? यह अन्य सेवा कार्यों से किस प्रकार प्रश्न भिन्न है? और समाज में इसकी क्या भूमिका है? इसके साथ ही प्रे (Pray) यह भी मानते हैं कि वैयक्तिक सेवा कार्य के विकास के साथ ही इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त होते जा रहे हैं और मतभेद भी समाप्त होते जा रहे हैं। उनके अनुसार, वैयक्तिक सेवा कार्य के सिद्धान्तों, तकनीकों (Techniques) और क्रिया कलापों के निष्पादन (Performance) व अन्तर्दृष्टि के विकास के साथ इसके सिद्धान्त अपने आप स्पश्ट होते जा रहे हैं।

फ्रिडलैण्डर (Friedlander) ने सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के सिद्धान्तों को दो भागों में विभक्त किया है : (1) सामान्य सिद्धान्त (Generic Principles) जो वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास की सम्पूर्ण स्थितियों में उपयोग में लाये जाते हैं। (2) विभेदक सिद्धान्त (Differential Principles) जो उन भिन्न-भिन्न स्थितियों में पृथक्-पृथक् उपयोग में लाये जाते हैं जब कार्यकर्ता सेवार्थी की समस्या सम्बन्धी कुछ जानकारी व निदान कर चुका होता है तो इन सिद्धान्तों का प्रयोग होता है। अर्थात् सेवार्थी की समस्या के समुचित अध्ययन व मनोसामाजिक निदान के पश्चात् इन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तथा कार्यकर्ता द्वारा यह निश्चित कर लिया जाता है कि सेवार्थी की समस्या समाधान प्रक्रिया की विभिन्न स्थितियों में किस विशिष्ट विभेदक सिद्धान्त का प्रयोग किया जाय।

क- सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य अभ्यास के सामान्य सिद्धान्त (Generic Principles of Social Case work Practice)

(1) स्वीकृति का सिद्धान्त (Principle of Acceptance)

सेवार्थी संकटग्रस्त, कमजोर होता है और कार्यकर्ता व्यावसायिक ज्ञान, अनुभव, क्षमता/योग्यता से परिपूर्ण होता है। दोनों जब सर्वप्रथम मिलते हैं तब उन दोनों के मध्य सहानभूति पूर्ण व सौहार्दपूर्ण वातावरण की अपेक्षा होती है। मानव व्यवहार को समझने, सेवार्थी द्वारा संकट का सामना करने का स्वरूप, उसकी अहम् शक्ति की स्थिति इत्यादि का ज्ञान कार्यकर्ता में विद्यमान होता है। इसी ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वह सेवार्थी को एक व्यक्ति के रूप में आदर-सम्मान प्रदान करता है। इसी ज्ञान व आदर-सम्मान के व्यवहार से ही वह सेवार्थी के व्यवहार एवं तत्सम्बन्धी कारणों को समझकर उसके प्रति एक अनिर्णयात्मक दृष्टिकोण बनाता है। कार्यकर्ता सेवार्थी में रुचि लेकर तथा उसकी दशा के बारे में चिन्तित होकर कारणों की जानकारी एवं उनमें परिवर्तनीय सुधार करने का प्रयास करता है। कठिनाइयों से जूझ रहे सेवार्थी को जिस भी स्थिति में होता है उसे कार्यकर्ता एक व्यक्ति के रूप में वैसे ही स्वीकार कर लेता है। कार्यकर्ता सेवार्थी की भावनाओं एवं मनोवृत्तियों का अध्ययन करता है जिसके आधार पर वह सेवार्थी को समझने का प्रयत्न करता है। सेवार्थी को कार्यकर्ता द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर वह (सेवार्थी) अपनी आत्म रक्षण-प्रवृत्तियों को छोड़ देता है और अपनी बातें सहजता से बता देता है क्योंकि उसे यह विश्वास हो जाता है कि उसे वर्तमान स्थितियों के सहित कार्यकर्ता ने स्वीकार कर लिया है। इसी तरह सेवार्थी द्वारा कार्यकर्ता की स्वीकृति भी उपचार में प्रभावशाली भूमिका अदा करती है। इसी तरह सेवार्थी-कार्यकर्ता में जब यह परस्पर-स्वीकृति होती है तब सौहार्द और विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

(2) संचार का सिद्धान्त (Principle of Communication)

समस्या-समाधान की प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यकर्ता और सेवार्थी के बीच अन्तःक्रियायें होती हैं यद्यपि इसके पूर्व दोनों एक दूसरे से अनजान होते हैं और सेवार्थी में कुछ संकोच/हिचक बना होता है लेकिन प्रारम्भ में कार्यकर्ता सेवार्थी के व्यक्तित्व, समस्या व परिस्थितियों का गहन अध्ययन कर उसके साथ घनिष्ठ व विश्वसनीय सम्बन्ध स्थापित कर विशिष्ट संकेतों, चिन्हों, भाषा व हाव-भाव का प्रयोग करते हुए अर्थ समझाता है। दोनों के बीच किसी विषय पर सहमति-असहमति हो सकती है लेकिन शनैः शनैः उनमें एक समझ बननी आवश्यक है। उनमें एक दूसरे की भूमिका की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए अतः कार्यकर्ता और सेवार्थी के बीच अन्तःक्रिया संचार द्वारा होती है तथा भावनाओं व तथ्यों का आदान-प्रदान सम्यक ढंग से होता है। सही जानकारी पाने हेतु कार्यकर्ता उसकी समुचित मदद करता है। संस्था कैसे उसकी मदद कर सकती है और इसके एवज में संस्था सेवार्थी से क्या उम्मीद रखती है इसका स्पष्टीकरण

कार्यकर्ता द्वारा किया जाता है।

सेवार्थी के अन्दर सही ढंग से भावनाओं का आदान-प्रदान न हो पाने की दशा में कार्यकर्ता कुछ बातों को दृष्टिगत रखते हुये संचार के सिद्धान्त का पालन करता है जैसे-कार्यकर्ता सेवार्थी के स्तर के अनुरूप ही भाषा व शैली का उपयोग करता है ताकि सहायता प्रक्रिया के दौरान सेवार्थी पूरी बातों को सरलता से समझ सके। इसके अतिरिक्त कार्यकर्ता का यह प्रयास होता है कि सेवार्थी अपनी सभी अन्तर्मन की बातें साफ-साफ सहजता से व्यक्त कर सके और कार्यकर्ता भी सेवार्थी की हर बातें ध्यानपूर्वक सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में सुने व समझे तत्पश्चात संस्था के लक्ष्यों, सेवा विधियों एवं क्षमता आदि का सेवार्थी को ज्ञान कराये।

(3) वैयक्तीकरण का सिद्धान्त (Principle of Individualization)

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वैयक्तिक कार्यकर्ता यह स्वीकार करता है कि यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो दूसरों से मिलती हैं तथापि हर व्यक्ति की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी होती हैं जो दूसरों में नही पायी जाती हैं। इस अधार पर हर व्यक्ति दूसरे से अलग किया जा सकता है अर्थात् हर व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के आधार पर एक दूसरे से भिन्न रहता है। वैयक्तीकरण का सिद्धान्त इन्हीं भिन्नताओं को समझने पर जोर देता है।

प्रत्येक व्यक्ति की समस्यायें होती हैं लेकिन एक व्यक्ति की समस्या से दूसरे की समस्या से भिन्नता दिखाई देती है। समस्या एक सी ही क्यों न हो लेकिन उनके कारणों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। साथ ही एक ही समस्या का प्रभाव अलग-अलग व्यक्तियों पर उनके वैयक्तिक गुण-दोष के आधार पर भिन्न-भिन्न रूपों में परिलक्षित हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति में समस्या के समाधान भी दूसरों में भिन्न होती है। कार्यकर्ता अपने व्यावसायिक ज्ञान व अनुभव के आधार पर यह समझने का प्रयास करता है कि किस प्रकार सेवार्थी की समस्या के मनो-सामाजिक अध्ययन तथा निदान के सम्बन्ध में सामाजिक भूमिकाओं से सम्बन्धित समस्याओं, अनुकूलन की मनोवृत्तियों, अहम् शक्तियों या दुर्बलताओं की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार सेवार्थी की समस्याओं का अलग ढंग से अध्ययन, निदान एवं उपचार किया जाता है।

(4) सहभागिता का सिद्धान्त (Principle of Participation)

समस्या के निवारण के प्रयास में सेवार्थी की हर स्थान पर सक्रिय भागीदारी होनी चाहिए, यही इस सिद्धान्त की मूल भावना है। कार्यकर्ता इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए सेवार्थी के लिए एक ऐसा अवसर प्रदान करता है कि वह अपनी यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करते हुए समस्या के निदान में सहभाग करे, इससे सेवार्थी की अहम् शक्ति में वृद्धि हो सकती है। अतः समस्या समाधान प्रक्रिया के अन्तर्गत 'सेवार्थी-कार्यकर्ता सम्बन्धों की परिधि में' कार्यकर्ता सेवार्थी की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयत्न करता है।

(5) आत्म-चेतना का सिद्धान्त (Principle of self-Awareness)

सेवार्थी की ही तरह कार्यकर्ता भी जटिल सम्प्रेरणाओं से युक्त एक मानव प्राणी होता है। उसके अन्दर सांस्कृतिक विश्वासों एवं मूल्यों की छाप होती है। कार्यकर्ता के संवेग एवं मनोवृत्तियाँ साक्षात्कार की अवधि में विभिन्न सेवार्थियों के सम्बन्धों को प्रभावित कर सकती हैं इसलिए आत्म-चेतना के सिद्धान्त के अनुसार कार्यकर्ता की व्यक्तिगत भावनाएँ, मनोवृत्तियाँ एवं सम्प्रेरणाएँ कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्धों में दखल न दें, ऐसी कार्यकर्ता से अपेक्षा रहती है। कार्यकर्ता- सेवार्थी सम्बन्धों में कार्यकर्ता की व्यक्तिगत जीवन सम्बन्धी प्रवृत्तियों, झुकावों, आवेगों व भावनाओं का कोई स्थान नहीं होना चहिए। आत्म-चेतना के सिद्धान्त से तात्पर्य है कि सेवार्थी-कार्यकर्ता सम्बन्धों में कार्यकर्ता को अपनी सकारात्मक व नकारात्मक व्यक्तिगत भावनाओं का निरीक्षण कर उन्हें नियन्त्रित रखना चाहिए। कार्यकर्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने प्रशिक्षण के दौरान ही व्यावसायिक व्यक्तित्व में यह निपुणता लाये। कार्यकर्ता में इन व्यक्तिगत भावनाओं को नियन्त्रित रखने का कौशल अनुभव के साथ-साथ आ जाता है। अतः कार्यकर्ता को सेवार्थी के साथ अपने सम्बन्धों का उपयोग उसकी अहम् शक्ति के विकास हेतु करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(6) गोपनीयता का सिद्धान्त (Principle of Confidentiality)

वैयक्तिक सेवा कार्य का यह एक मुख्य सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उसे यह विश्वास दिलाता है कि संस्था की नीति के अनुरूप साक्षात्कार के माध्यम से मिली सूचनाएँ एवं तथ्य गुप्त रखे जायेंगे। विश्वास अर्जित करने के बाद ही सेवार्थी अपनी समस्याओं के निराकरण के लिये कार्यकर्ता को स्वीकार कर उससे अपमी आन्तरिक मनोभावों एवं संकटपूर्ण स्थिति का रहस्योद्घाटन कर सहभाग करता है। सेवार्थी द्वारा दी गयी सूचना आवश्यक सहायता हेतु अभिकरण के अन्दर व बाहर मात्र व्यावसायिक सम्बन्धों की सीमा में रखी जाती है। सेवार्थी के वृत्त-अभिलेख (case record) गुप्त रखे जाते हैं, अभिकरण के अन्दर या बाहर अन्य व्यावसायिक कार्यकर्ताओं को कोई सूचना सेवार्थी की अनुमति से ही दी जाती है। गोपनीयता के सिद्धान्त की मौलिक अनिवार्यता यह है कि इन सूचनाओं के दुरुपयोग से सेवार्थी को पूर्ण वैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान की जाय। इस संदर्भ में एक अजीब प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि सेवार्थी अपराधी है और वह इसकी जानकारी कार्यकर्ता को देता है तो कार्यकर्ता को उक्त बात को गुप्त रखना चाहिए या नहीं? यह सिद्धान्त इतना तो स्पष्ट करता है कि सामाजिक व मनोवैज्ञानिक समस्याओं के विषय में सेवार्थी की अन्य कार्यकर्ताओं से संवाद हो सकता है लेकिन सेवार्थी को इन अपराधी प्रवृत्ति की सूचनाओं को गुप्त बनाये रखने का भरोसा नहीं दिया जाना चाहिए, बल्कि सेवार्थी स्वयं यह निश्चय करे कि इस उपर्युक्त सूचना को कार्यकर्ता को दिया जाय अथवा न दिया जाय। इस प्रकार जिम्मेदारीपूर्वक

सेवार्थी की मनोसामाजिक परिस्थितियों का आंकलन कर तत्पश्चात् अभिकरण की नीतियों के अनुसार उसका समाधान ढूढ़ा जाना चाहिए।

अन्य सिद्धान्त

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आलावा समाज कार्य विद्वानों द्वारा अन्य सिद्धान्तों का भी विवरण दिया जा रहा है जो इस प्रकार है :-

(7) सेवार्थी की मनोदशा के अनुसार कार्यारम्भ का सिद्धान्त (To begin where the client is)

पूर्व में कार्यकर्ता सेवार्थी के लिए अनजान सा रहता है ऐसी परिस्थिति में यदि सेवार्थी की मनोदशा के अनुरूप ही कार्यकर्ता वार्तालाप करना शुरू करता है तो सहज रूप से सेवार्थी कार्यकर्ता की तरफ से आकर्षित हो जाता है और तद्नुरूप रुचि का प्रदर्शन करता है। इस तरह शनैः शनैः सम्बन्ध बनने लगते हैं जिससे सेवार्थी कार्यकर्ता से भावनात्मक निकटता व विश्वास की अनुभूति करता है फलस्वरूप कार्यकर्ता सहायता कार्य हेतु योजना बनाना शुरू कर देता है। कभी-कभी प्रारम्भ में ऐसा भी होता है कि सेवार्थी की मनोदशा की जानकारी नहीं होती, तो कार्यकर्ता सेवार्थी को ही अपनी बात कहने के लिए प्रोत्साहित करता है और फिर तदनुरूप उस आधार पर वह सेवार्थी की मानसिक दशा व क्षमता की जानकारी प्राप्त कर अनुकूल वातावरण में कार्य करता है।

(8) सहायता कार्य के दौरान आवश्यक साधनों के उपयोग का सिद्धान्त (Principle of Resource Utilization)

सहायता कार्य की प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यकर्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि अभिकरण (संख्या) व समुदाय में उपलब्ध विभिन्न साधनों की विधिवत जानकारी उसे अवश्य हो और आवश्यकतानुसार सेवार्थी की क्षमता वृद्धि हेतु उनका सही उपयोग हो। इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है कि कार्यकर्ता साधनों के प्रयोग के समय सदैव सेवार्थी को उन साधनों का ज्ञान कराते रहें तथा सेवार्थी को स्वयं के द्वारा साधनों की प्राप्ति हेतु प्रोत्साहित करे। परन्तु कभी-कभी सेवार्थी किन्हीं कारणों से स्वयं के प्रयासों के द्वारा सफलता पाने में आयोग्य होता है तो ऐसी परिस्थिति में कार्यकर्ता अपने स्वयं के प्रयत्न द्वारा सेवार्थी के लिए आवश्यक साधनों की उपलब्धि करा देता है और इस प्रकार सफलता हासिल हो जाती है।

(9) सहकार का सिद्धान्त (Principle of Co-operation)

यह सिद्धान्त प्रजातंत्र व स्वावलम्बन की भावना से ओतप्रोत है। कार्यकर्ता हमेशा इस दृढ़ विश्वास के साथ कार्य करता है कि वह उसके साथ (with) कार्य कर रहा है न कि उसके लिए (for) कार्य कर रहा है (एहसान नहीं)। इससे सेवार्थी में परावलम्बन की भावना कम हो

जाती है और आगे भविष्य में वह अपने स्वयं के प्रयास द्वारा अपनी सहायता स्वयं करने में सक्षम हो जाता है व सफलता प्राप्त करता है। इस प्रकार समस्या समाधान प्रक्रिया के अन्तर्गत योजना बनाने व उसे क्रियान्वित करने में सेवार्थी का सक्रिय सहभाग प्राप्त हो, ऐसी व्यवस्था में कार्यकर्ता का विशिष्ट ध्यान लगा रहता है दूसरे शब्दों में, सेवार्थी ही सभी क्रियाकलाप सम्पादित करे, परावलम्बी बनकर सुस्त न बैठा रहे। इस सिद्धान्त के समुचित प्रयोग द्वारा सेवार्थी में आत्म निर्भरता व अहम् शक्ति का विकास होता है। सहायता प्रक्रिया के दौरान वैयक्तिक कार्यकर्ता मात्र सलाहकार की भूमिका अदा करता है और सेवार्थी अपने सम्बन्ध में स्वयं ही जरूरी निर्णय लेता है तथा स्वयं ही उपचार के मार्ग में आगे बढ़कर कार्य करता है अतः इस सिद्धान्त की महत्वपूर्ण भूमिका परिलक्षित होती है।

(10) सम्बन्ध स्थापन का सिद्धान्त (Principle of establishing relationship)

वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत कार्यकर्ता एवं सेवार्थी के बीच सम्बन्ध का अति महत्वपूर्ण स्थान होता है। सम्बन्ध दो व्यक्तियों के मध्य किसी समान रुचि के आधार पर भावनाओं से युक्त अन्तःक्रिया की एक स्थिति है। प्रो. राजाराम शास्त्री के अनुसार, सेवार्थी के साथ स्थापित किया गया सम्बन्ध ही एक ऐसा उपकरण होता है जिसके माध्यम से कार्यकर्ता सेवार्थी को उपचार की योजना के कार्यान्वयन में लगाता है।

कार्यकर्ता सेवार्थी की समस्या एवं उसके आन्तरिक व वाह्य वातावरण से सम्बन्धित जानकारी समुचित सम्बन्ध स्थापन के उपरान्त ही प्राप्त कर सकता है। वस्तुगत एवं विषयगत दोनों तरह की भावनायें सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत होती हैं। निपुण कार्यकर्ता अपने स्व का सचेतन उपयोग कर अपनी भावनाओं के प्रति सदैव सचेत रहता है। वास्तविक व अवास्तविक भावनायें भी सम्बन्ध स्थापन के अन्तर्गत होती हैं। निपुण कार्यकर्ता अवास्तविक व स्थानान्तरित भावनाओं को भी सदैव ध्यान में रखकर उनका समुचित नियंत्रण और उपयोग करता है। कार्यकर्ता का दिमाग सम्बन्धों के व्यावसायिक पक्ष की तरफ भी केन्द्रित होता है। ये व्यवसायिक सम्बन्ध किसी विशिष्ट लक्ष्य से स्थापित होते हैं। इन सम्बन्धों के बीच कार्यकर्ता की व्यक्तिगत बातें गौण हो जाती हैं। इस तरह के सम्बन्ध में परस्पर-जिम्मेदारी, परस्पर एक दूसरे की मान्यता और मतभेदों की स्वीकृति शामिल होती है। चूँकि कार्यकर्ता सेवार्थी को आदर-सम्मान देता है इसलिए सेवार्थी महसूस करता है कि उसकी भावनाओं को स्वीकृति प्रदान की गयी है और इसके साथ ही सेवार्थी पर कार्यकर्ता के श्रेष्ठ व्यक्तित्व का भी असर पड़ता है तथा सेवार्थी के अन्तर्मन में कार्यकर्ता के प्रति एक विश्वास की भावना भी जाग्रत होती है, फलस्वरूप सेवार्थी अपनी कठिनाइयों को स्पष्ट रूप से कार्यकर्ता को व्यक्त कर देता है तथा कार्यकर्ता की सलाह को भी स्वीकार करने लगता है लेकिन यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि कार्यकर्ता अपना निर्णय व सलाह उस पर लादे नहीं, बल्कि सेवार्थी द्वारा ही निर्णय देने का यथा सम्भव प्रयास कराये।

(11) विभेदक सिद्धान्त (Differential Principle)

फ्रीडलैण्डर (Friedlander) ने स्वीकृति, संचार, वैयक्तीकरण, सहभागिता, आत्मचेतना एवं गोपनीयता के सामान्य सिद्धान्तों के अतिरिक्त सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य अभ्यास के विभेदक सिद्धान्तों का भी उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि विभिन्न परिस्थितियों में उपचार की अलग-अलग विधियाँ उपयुक्त होती हैं। कुछ परिस्थितियों में उपचार की कुछ विशिष्ट विधियाँ उपयोगी होती हैं तो इसके प्रतिकूल कुछ अन्य परिस्थितियों में उपचार की कुछ अन्य विशिष्ट विधियाँ उपयोगी होती हैं। कार्यकर्ता हर एक सेवार्थी के सम्बन्ध में उसकी समस्या का अध्ययन व निदान करके उसकी समस्या के निराकरण की विधियों को निर्धारित करता है जो अन्य दूसरे किसी सेवार्थी के सम्बन्ध में उपयुक्त नहीं भी हो सकती। अतः कहा जा सकता है कि एक सेवार्थी की अपेक्षा दूसरे सेवार्थी हेतु उपचार की विधियाँ पृथक् होती हैं।

सेवार्थियों में भिन्नता के कारण विभेदक सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। उपचार योजना चयन में मदद पहुँचाने के साथ-साथ उपचार-प्रक्रिया के दौरान इसमें जरूरी बदलाव लाने में यह विभेदक सिद्धान्त सहायक सिद्ध होता है। फ्रीडलैण्डर का मानना है कि विभेदक सिद्धान्तों का उपयोग एक कठिन कार्य है जिसके सफल प्रतिदान के लिए उचित ज्ञान की जरूरत होती है।

उन्होंने विभेदक सिद्धान्तों के प्रयोग के तीन क्षेत्रों का उल्लेख इस प्रकार किया है :-

(i) पर्यावरणीय संशोधन एवं अहम् आलम्बन (Environmental Modification and Ego-Support)

कार्यकर्ता विभिन्न सेवार्थियों की भिन्न-भिन्न समस्याओं का अध्ययन कर पृथक्-पृथक् उपचार योजना बनाकर उन्हें सहायता प्रदान करता है साथ ही उनकी परिस्थितियों व पर्यावरण में संशोधन एवं परिवर्तनीय सुधार लाने का प्रयत्न करता है तथा अहम् शक्ति को आलम्बन एवं समर्थन प्रदान करता है।

(ii) व्यवहार के अर्थ एवं प्रभाव का स्पष्टीकरण (Clarification of the effect and meaning of behaviour)

भिन्न-भिन्न सेवार्थी किस प्रकार अपने व्यवहार अथवा प्रभाव के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष ज्ञान रखते हैं और अपनी समस्या के समाधान में सफल हो जाते हैं?

विकृति कायम रहने की स्थिति में सेवार्थी समस्याग्रस्त हो जाता है इसलिए ही कार्यकर्ता इस विभेदक सिद्धान्त का उपयोग करता है। हर एक सेवार्थी को समझते हुए कार्यकर्ता उसके व्यवहार के अर्थ, लक्ष्य, प्रकृति एवं प्रभाव का स्पष्टीकरण करता है और समस्या समाधान का प्रयास करता है।

(iii) व्यवहार के भूले हुए कारणों का प्रकटन (Uncovering of forgotten causes of behaviour)

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी को अपने व्यवहार के भिन्न-भिन्न कारणों को समझने में मदद करता है और वह सेवार्थी की अन्तर्दृष्टि विकसित करने का प्रयत्न करता है। सेवार्थी अपने बाल्यकाल एवं किशोरावस्था के भूले गये अनुभवों को पुनः याद करता है जिनकी महती भूमिका होती है और जिसके परिणामस्वरूप संकटकालीन दशा से छुटकारा मिल पाता है। हॉलिस (Hollis) के मतानुसार विभेदक सिद्धान्तों के प्रयोग के कुछ विशिष्ट क्षेत्र निम्न प्रकार हैं : व्यवहार का आशोधन (Modification of Behaviour) मनःसामाजिक आलम्बन (Psycho-social Support), स्पष्टीकरण (Clarification) व अन्तर्दृष्टि का विकास (Insight Development.)

वैयक्तिक सेवा की विचारधारायें

(अ) नैदानिक या मनोसामाजिक विचारधारा

यह विचारधारा मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा से प्रभावित थी, आगे चलकर इरिक्सन की "इगो साइकॉलजी" की विचारधारा और अंतिम रूप से पारसन्स एवं मर्टन की सामाजिक प्रणाली से भी यह विचारधारा प्रभावित हुई, व्यक्ति के अन्तर्जीवन के प्रभाव एवं उसके सामाजिक जीवन के प्रभाव को मिलाकर इस विचारधारा का निर्माण हुआ है।

इलिस मनोसामाजिक विचारघारा को सिस्टममूलक विचार समझते हैं। अर्थात किसी व्यक्ति की सहायता योजना निर्माण में उसकी आंतरिक प्रणाली ही नहीं वरन उसकी वाह्य प्रणाली का भी ध्यान दिया जाता है। यही सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष है। इस विचारधारा के प्रतिपादकों का यह विश्वास है कि किसी समस्या के उपचार के पूर्व उसका समुचित निदान आवश्यक है। निदान के आधार पर ही समस्या के स्वरूप की ठीक जानकारी मिल सकती है, और यह जानकारी भी मिल सकती है कि समस्या किन कारकों द्वारा उत्पन्न हो रही है और समस्या के समाधान हेतु किन क्षेत्रों में परिवर्तन की आवश्यकता है। इस वैचारिक प्रक्रिया में तीन प्रकार के प्रयास किये जाते हैं : (i) गतिशील निदान-इसके अन्तर्गत सेवार्थी की समस्या संबंधी परिस्थिति को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों का निरूपण किया जाता है; (ii) कारणात्मक कारकों की खोज़, इस चरण में कार्यकर्ता यह सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि समस्या की उत्पत्ति के लिये मुख्य रूप से कौन से कारक जिम्मेदार हैं; (iii) वर्गीकरण-इस चरण में कार्यकर्ता समस्या समाधान के उपायों का पता लगाकर प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से उनका वर्गीकरण करता है।

मनोसामाजिक उपागम का अंतिम लक्ष्य बहुत व्यापक होता है, वैसे उसका एक उद्देश्य है सेवार्थी की समस्या जनित दुःख एवं परेशानी को कम करना और दूसरा महत्वपूर्ण लक्ष्य है

व्यक्ति एवं पर्यावरण के बीच उत्पन्न असमायोजन को कम करना। इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु समाजकार्यकर्ता सेवार्थी की समायोजन शील क्षमताओं की वृद्धि करता है।

इस उपागम के अन्तर्गत सामाजिक कारकों को उतना ही महत्व दिया जाता है जितना कि मानसिक कारकों को। कभी-कभी समाज कार्यकर्ता सेवार्थी के पर्यावरण में सीधे हस्तक्षेप करता है और सेवार्थी को ठोस रूप से सहायता करता है। उदाहरणार्थ-आज के विकासात्मक युग में किसी व्यक्ति की आर्थिक कठिनाई को दूर करने के हेतु किसी राजकीय स्रोत या एन०जी०ओ० के द्वारा दी जाने वाली सहायता की शर्तों के अनुसार सेवार्थी के हित में कार्यकर्ता स्वयं ही योजना बनाता है और सेवाओं का लाभ दिलाता है।

इस विचारधारा के विकास का श्रेय मैरी रिचमण्ड को है। इसके अतिरिक्त न्यूयार्क स्कूल ऑफ सोशल वर्क की मेरियन केन वर्दी, फेमली सोसायटी ऑफ फिलेडेल्फिया की वेत्सीलिवी, लेखक, शिक्षक एवं विद्वान गार्डन हैमिल्टन, बर्था रेनाल्ड्स, सार्लट टावले, फ्लारेन्स डे, लूत्सिली ऑस्टिन, गैरेट इत्यादि ने भी इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

निदानात्मक विचारधारा पर फ्रायड के सिद्धान्त का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस सिद्धान्त के अनुसार सेवार्थी की समस्या के निदान एवं उपचार के लिए समस्या को उसके पर्यावरण के अंश के रूप में देखा जाना तथा सम्पूर्ण के साथ इसके सम्बन्ध के विषय में जानकारी प्राप्त किया जाना आवश्यक होता है क्योंकि व्यक्ति जिस पर्यावरण में रहता है उसके विभिन्न तत्व आपस में प्रतिक्रिया करते हुए व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। चेतन मन के साथ अचेतन मन के प्रभाव भी व्यक्ति के मूल्यों, व्यवहार तथा आत्मसंयम पर पड़ते हैं। अतः वैयक्तिक समाज कार्यकर्ताओं के लिए इन वाह्य तथा आन्तरिक प्रभावों का समुचित ज्ञान आवश्यक हो जाता है।

निदानात्मक विचारधारा में सेवार्थी की समस्या के निदान एवं उपचार हेतु निम्नलिखित बातों की पूर्ति किया जाना आवश्यक समझा जाता है :-

(1) सेवार्थी की सहायता करने अथवा उसकी समस्या का समाधान करने के लिए उसके वाह्य पर्यावरण के साथ उसके अन्तर्कियाओं की जानकारी आवश्यक होती है। वाह्य पर्यावरण के सापेक्षतया अधिक महत्वपूर्ण एवं सामान्य दोनों प्रकार के ही पक्षों का समझा जाना आवश्यक होता है। वाह्य पर्यावरण के अन्तर्गत परिवार, सामाजिक समूह, शिक्षण संस्थायें तथा अन्य विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थायें आती हैं।

(2) सेवार्थी की आवश्यकतानुसार उसकी चिकित्सा योजना तैयार की जानी चाहिए। सभी सेवार्थियों के लिये सामान्य चिकित्सा योजना न बनाकर वैयक्तीकरण करना आवश्यक होता है। सेवार्थी की समस्या की उत्पत्ति उसकी कार्यात्मक अक्षमता अथवा दोषपूर्ण सामाजिक परिस्थितियों अथवा इन दोनों की सम्मिलित प्रभाव के कारण हो सकती है।

(3) वैयक्तिक समाज कार्य के अन्तर्गत किये जाने वाले उपचार में वैयक्तिक अथवा सामाजिक अथवा अन्तर्वैयक्तिक पर्यावरण अथवा इन दोनों में परिवर्तन किया जाना आवश्यक होता है।

(4) उपचार का उद्‌देश्य सेवार्थी की इस प्रकार सहायता करना होता है कि वह अपने आप में तथा पर्यावरण अथवा इन दोनों में इस प्रकार परिवर्तन ला सके जिससे उसका उचित समायोजन सम्भव हो सके।

इस सम्प्रदाय के विचारकों की यह मान्यता है कि वैयक्तिक सेवाकार्य के द्वारा उपचार के परिणामस्वरूप सेवार्थी के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाते हुए इसका विकास किया जा सकता है और उपचार की प्रक्रिया के दौरान पर्यावरण में किये गये परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उसका समायोजन सरलतापूर्वक सम्भव हो जाता है। उपचार का प्रभाव कार्यकर्ता एवं सेवार्थी के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध की घनिष्ठता पर निर्भर करते हैं।

उपचार के प्रारम्भिक चरण में निम्नलिखित कार्य सम्पादित किये जाते हैं :-

(1) सेवार्थी के अभिकरण के साथ सम्पर्क स्थापित किये जाने के कारणों की जानकारी प्राप्त करना, अर्थात यह पता लगाना कि सेवार्थी ने किन प्रेरकों से प्रेरित होकर संस्था के साथ सम्पर्क स्थापित करने का निर्णय लिया है।

(2) सेवार्थी के साथ सम्बन्ध स्थापित करना।

(3) सेवार्थी को उपचार की क्रिया में लगाना, अर्थात उसे इस बात के लिए प्रेरित करना कि वह उपचार कार्य में सक्रिय सहभागी हो तथा उसके दौरान आने वाले विभिन्न प्रकार के अवरोधों को दूर करना।

(4) उपचार सम्बन्धी कार्य का शुभारम्भ करना।

(5) मनोसामाजिक निदान तथा उपचार सम्बन्धी निर्देशन के लिये आवश्यक सूचनायें एकत्र करना।

इस विचारधारा का यह स्पष्ट मत है कि समुचित निदान के बिना वैयक्तिक सेवा कार्य सम्बन्धी सेवायें नहीं प्रदान की जा सकतीं। निदान ऐसी समस्याओं के कारणों की खोज है जो सेवार्थी को वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता के पास उसकी सहायता के लिए ले जायी जाती है। समुचित निदान के लिये मनोसामाजिक तथा सामाजिक कारणों का उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। निदान की प्रक्रिया के दौरान निम्नलिखित तीन प्रकार के कार्य सम्पादित किये जाते हैं :-

(1) सेवार्थी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों की सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ प्रतिक्रिया की प्रकृति के विषय में जानकारी प्राप्त करना।

(2) कारणात्मक कारकों का वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही स्तरों पर पता लगाया जाना।

(3) सेवार्थी की प्रकार्यात्मकता तथा क्लीनिकल निदान का वर्गीकृत किया जाना।

सेवार्थी की प्रकार्यात्मकता के आधार पर उसे अनेक श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है : उदाहरण के लिए सेवार्थी का वर्गीकरण उसकी सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, पारिवारिक पृष्ठभूमि, धर्म, जाति इत्यादि के आधार पर किया जा सकता है। शारीरिक बीमारियों का शिकार होने की स्थिति में रोग के आधार पर वर्गीकरण किसी विशेषज्ञ द्वारा किया जाता है किन्तु मनोसामाजिक समस्याओं के वर्गीकरण का कार्य वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता द्वारा सम्पादित किया जाता है। मनोसामाजिक समस्याओं के उदाहरण के रूप में पति-पत्नी के बीच कुसमायोजन, पिता-पुत्र के बीच कुसमायोजन, सीखने की प्रक्रिया में विकास की धीमी दर इत्यादि को देखा जा सकता है। मनोविकार सम्बन्धी समस्याओ के पाये जाने की स्थिति में वर्गीकरण का कार्य मनश्चिकित्सकीय कार्यकर्ता द्वारा सम्पादित किया जाता है।

निदानात्मक विचारधारा में उपचार के दो प्रमुख स्वरूप पाये जाते हैं :- (1) पर्यावरण में परिवर्तन, तथा (2) व्यक्तित्व में परिवर्तन।

(ब) प्रकार्यात्मक विचारधारा

प्रकार्यात्मक विचारधारा का विकास पेन्सिलवैनिया स्कूल ऑफ सोशल वर्क द्वारा 1930 में किया गया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रायड के समर्थकों ने अहम, मनोविज्ञान पर बल देते हुए इस विचारधारा को प्रतिपादित किया कि व्यक्ति अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। ऑटो रैन्क (Otto Rank) ने एक नए दृष्टिकोण को सामने रखते हुए यह विचारधारा प्रतिपादित की कि व्यक्ति की संकल्प शक्ति ही उसका नियंत्रण एवं संचालन करती है और इस आधार पर एक नयी विचारधारा की आधारशिला रखी जिसे प्रकार्यात्मक विचारधारा के नाम से जाना जाता है। यद्यपि इस सम्प्रदाय का विकास ऑटा रैंक के सिद्धान्तों के आधार पर हुआ किन्तु इस पर टैफ्ट (Taft) के विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस विचार को सामने रखा कि संस्था के कार्यों का उपयोग समाज कार्य सहायता का मूल है और अपने एक लेख द्वारा संस्था के कार्य तथा सहायतामूलक प्रक्रिया के बीच सम्बन्ध स्थापित किया। राबिन्सन ने प्रकार्यात्मक सिद्धान्तों का उपयोग समाज कार्य शिक्षा प्रदान करते समय किया। आप्टेकर (Aptekar), डावले (Dawley), डी. स्वीनिज़ (De Schweinitz), फिलिप्स, लेविस, स्मैली (Smslley) इत्यादि विचारकों ने भी प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय के विकास में अपना योगदान दिया।

प्रकार्यात्मक विचारधारा की मौलिक मान्यता यह है कि व्यक्ति के अन्तर्गत ऐसी शक्ति पायी जाती है जो जीवन, स्वास्थ्य एवं पूर्णता की प्राप्ति में सदैव महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा ही अपने अन्दर तथा अपने पर्यावरण में परिवर्तन एवं

संशोधन करता है। यह परिवर्तन, अवसर, उद्देश्य, स्थिति तथा सीमा में होने वाले परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति के अन्तर्गत मानव संबंधों के उपयोग की पूर्ण क्षमता पायी जाती है। वह कार्यकर्ता के साथ सम्बन्ध स्थापित करके अपने में शक्ति अर्जित कर सकता है तथा अपनी समस्या का समाधान कर सकता है।

प्रकार्यात्मक विचारधारा के अन्तर्गत एक सहायतामूलक प्रक्रिया को अपनाया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में सेवार्थी में ही परिवर्तन लाने के प्रयास किये जाते हैं। उसकी इच्छा शक्ति को सुदृढ़ बनाया जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान कार्यकर्ता सेवार्थी को केवल प्रोत्साहन प्रदान करने का कार्य करता है। वह न तो कोई उपचार करता है और न ही सेवार्थी निष्क्रिय होकर कार्यकर्ता का अनुसरण करता है। सेवार्थी की प्रकार्यात्मकता को बढ़ाने का सतत प्रयास किया जाता है। वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता द्वारा किसी समाज कार्य संस्था के तत्वावधान में प्रावधानित सेवाओं का अधिकतम उपयोग करने की प्रेरणा प्रदान की जाती।

इस विचारधारा में तीन चरणों में कार्य किये जाते हैं : प्रारम्भिक चरण, मध्यवर्ती चरण तथा अन्तिम चरण। प्रारम्भिक चरण में कार्यकर्ता सेवार्थी के अन्दर पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के डरों तथा अवरोधों को समझता है और इन्हें दूर करने का प्रयास करता है, सेवार्थी को अपनी भूमिका से अवगत कराता है, सेवार्थी को अपनी आशाओं, इच्छाओं, समस्याओं, रुचियों इत्यादि को व्यक्त करने के लिये प्रोत्साहित करता है, समस्या का वर्गीकरण करता है तथा समस्या-समाधान को प्रारम्भ करने की स्थिति का निर्धारण करता है।

मध्यवर्ती चरण में सेवार्थी के उत्तरदायित्व ग्रहण करने की क्षमता में वृद्धि होती है और उसके साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित हो जाते हैं। टैफ्ट का यह मत है कि मध्यवर्ती चरण होता ही नहीं है क्योकि सेवार्थी के साथ एक बार उपचार का कार्य प्रारम्भ कर दिये जाने पर वह तब तक अनवरत रूप से चलता रहता है जब तक कि निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति न हो जाय।

अन्तिम चरण में सेवार्थी के अन्दर इस बात का भय विद्यमान रहता है कि सेवार्थी से कार्यकर्ता अलग हो जायेगा। कार्यकर्ता इस भय से मुक्ति दिलाने के लिए सेवार्थी में आत्म विश्वास पैदा करता है, उसमें आत्मबल बढ़ाता है, उसकी संकल्प शक्ति को सुदृढ़ बनाता है और अन्तिम रूप से उसे इस बारे में सक्षम बना देता है कि वह कार्यकर्ता की अनुपस्थिति में भी अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग करते हुए अपनी समस्याओं का समाधान करता रहे।

इस विचारधारा की मान्यताओं के आधार पर कार्य करता हुआ वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता सेवार्थी की सामन्य पृष्ठभूमि यथा उसकी आयु, लिंग, स्थिति, संस्कृति, विभिन्न प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशाओं, इत्यादि से सम्बन्धी जानकारी को ध्यान में रखते हुए उससे (सेवार्थी से) साक्षात्कार करता है। वह सेवार्थी से सम्बन्धित सभी प्रकार की

सूचनाओं को एकत्रित कर उनका अध्ययन करता है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत सेवार्थियों को श्रेणीबद्ध करने का प्रयास नहीं किया जाता है।

प्रकार्यात्मक विचारधारा के कुछ अन्य आयाम

(i) इस विचारधारा के अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि समस्या का स्रोत अकार्यात्मकता होती है।

(ii) इस विचारधारा के अन्तर्गत सेवार्थी स्वयं ही अपनी इच्छाशक्ति को सशक्त बनाकर आवश्यक परिवर्तन लाता है और समस्याओं का सुलझाव करता है। कार्यकर्ता की जिम्मेदारी केवल यही होती है कि सेवार्थी की इच्छाशक्ति के सशक्तीकरण एवं उसकी आन्तरिक क्षमताओं के प्रगटीकरण में सहायता दे।

(iii) सेवार्थी को कार्यकर्ता द्वारा इस बात के लिये पूरा अवसर प्रदान किया जाता है कि वह अपनी समस्या के समाधान का मार्ग स्वयं ही सुनिश्चित करें और उक्त मार्ग में सफल होने के लिए आवश्यक संसाधन भी स्वयं ही जुटायें।

(iv) प्रकार्यात्मक विचारक विकास के मनोविज्ञान पर विश्वास करते हैं और बीमारी के मनोविज्ञान को अनपेक्षित समझते हैं।

(v) निदानात्मक विचारकों के समान प्रकार्यवादी विचारक निदान को उपचार से अलग नहीं करते हैं वरन् वे सहायता हेतु एकीकृत योजना बनाते हैं और उसके माध्यम से सेवार्थी को सतत् सहायता प्रदान की जाती है।

(vi) जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है वे उपचार हेतु कोई कार्यकर्ता अलग से कार्य नहीं करता है वरन् सेवार्थी की इच्छाशक्ति को इतना सशक्त बना देता है कि वह स्वयं ही अपनी समस्याओं का उपचार करता है।

(vii) प्रकार्यात्मक विचारक वैयक्तिक सेवा कार्य में अभिकरण को अतिशय महत्व देते हैं। उनके अनुसार समाज कार्यकर्ता जहाँ कौशल प्रदान करता है वहीं अभिकरण संसाधन प्रदान करते हैं। बिना संसाधनों के सामाजिक कार्यकर्ता सहायता कार्य संपन्न नहीं कर सकता।

(viii) प्रकार्यात्मक विचारक समय को अतिशय महत्व देते हैं। उनके अनुसार यदि सहायता कार्य हेतु समुचित समय दिया जायगा तो सफलता अवश्य प्राप्त होगी। किन्तु सहायता के समय को कई फेज में बाँट लिया जाता है। उदाहरणार्थ प्राथमिक सहायता का क्या समय होगा, सहायता के बीच का क्या समय होगा और अन्तिम रूप से सहायता कब पूरी होगी।

(ix) प्रकार्यात्मक विचारक सेवार्थी के आत्म निर्णय को बहुत अधिक महत्व देते हैं, उनके अनुसार किसी भी स्थिति में सेवार्थी को ही अपनी सहायता के संबंध में निर्णय लेना चाहिए।

(x) प्रकार्यात्मक विचारक इस बात में विश्वास करते हैं कि वैयक्तिक सेवाकार्य एक ऐसी विधि है जिसके माध्यम से कार्यकर्ता सेवार्थी को सम्बन्ध स्थापन के माध्यम से अभिकरण की सेवाओं के उपयोग हेतु सहायता देता है।

(xi) प्रकार्यात्मक विचारक समय एवं स्थान को अतिशय महत्व देते हैं। प्रारंभ में जब सेवार्थी कार्यकर्ता के पास आता है तो कार्यकर्ता उसे अभिकरण की सेवाओं तथा संसाधनों एवं समय से अवगत कराता है, तत्पश्चात् कार्यकर्ता सेवार्थी को इस प्रकार सहायता करता है कि स्वयं ही उपचार की योजना कई मंजिलों में बनायें और कार्यकर्ता एवं अभिकरण की सहायता से क्रियान्वित करे। किन्तु इस योजना का निर्माण टाइम फेज के अनुसार होना चाहिए।

(xii) प्रकार्यात्मक विचारक इस बात में विश्वास नहीं करते हैं कि सेवार्थी की संपूर्ण समस्याओं एवं व्यक्तित्व को समझते हुए इसके अनुसार कार्य की योजना बनानी चाहिए, वरन् वे इस बात में विश्वास करते हैं कि सेवार्थी की समस्या विशेष के संबंध में ही नियोजित ढंग से कार्य करते हुए उपचार के लक्ष्यों को प्राप्त किया जाना चाहिए।

प्रकार्यात्मक विचारधारा के कुछ सिद्धान्त

इस विचारधारा के कुछ आधारभूत सिद्धांत हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है :-

(i) प्रकार्यात्मक विचारधारा में भी निदान का महत्व है, किन्तु सेवार्थी की संपूर्ण समस्याओं का निदान नहीं किया जाता है, वरन् सहायता कार्य के दौरान कुछ सेवाओं के उपयोग के पूर्व उनका निदान किया जाता है।

(ii) किसी सामाजिक प्रक्रिया की प्रभावोत्पादकता इस बात पर निर्भर करती है कि समाज कार्यकर्ता सेवार्थी की कान्शस कीपिंग किस अंश तक कर रहा है और सेवार्थी की सहायता योजना के क्रियान्वयन हेतु जो टाइम फेज की प्रारंम्भिक स्थिति, बीच की स्थिति एवं अंतिम स्थिति बनी हुई है उसे कितने प्रभावशाली ढंग से क्रियान्वयन में लाया जा रहा है।

(iii) सहायता कार्य में अपने दायित्वों और भूमिकाओं के निर्वाह में समाज कार्यकर्ता यदि कोई दबाव का प्रयोग करता है तो उसके परिणामों के लिए उसे अभिकरण एवं समाज के प्रति जिम्मेदार होना चाहिए।

विचारधारा के कुछ धनात्मक पक्ष

(i) यह विचारधारा बहुत कुछ गांधीवादी रचनात्मक कार्यकर्ताओं के समान ही सहायता कार्य सम्पन्न करती है। अर्थात रचनात्मक कार्यकर्ताओं की ही भाँति इस विचारधारा के

कार्यकर्ता भी सेवार्थी की इच्छाशक्ति को इतना सुदृढ़ बनाते हैं कि वे समस्याओं का स्वयं निराकरण करते हैं। इस प्रकार यह विचारधारा भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में सहायता कार्य हेतु अनुकूल है।

(ii) इसके कुछ दूसरे पक्ष अर्थात् समय एवं अभिकरण का जो महत्व इस विचारधारा में दिया गया है, वह भी अतिशय महत्वपूर्ण है।

(iii) इसकी तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह विकास के मनोविज्ञान पर आधारित है, बीमारी के मनोविज्ञान पर नहीं। इस दृष्टि से भी इसका महत्व है।

आलोचना

(i) यह बात तो सर्वमान्य है कि हमारे देश में वैयक्तिक सेवा कार्य निदानात्मक विचारधारा पर आधारित हैं, न कि प्रकार्यात्मक विचारधारा पर। इस दृष्टि से यह विचारधारा अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण हो जाती है।

(ii) यह कहा जाता है कि यह विचारधारा विकास के मनोविज्ञान पर आधारित है न कि बीमारी के मनोविज्ञान पर। किन्तु बीमारी एवं समस्यायें तो मानव जीवन में आती रहती हैं, जब तक उनका इलाज नहीं किया जायेगा तब तक विकास किस प्रकार हो पायेगा।

(iii) किसी समस्या का तब तक सही ढंग से उपचार नहीं हो सकता है जब तक उसका सही ढंग से निदान नहीं किया जायेगा किन्तु इस विचारधारा में निदान को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता। अतः यह विचारधारा बहुत प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती।

(स) व्यवहार संशोधन मूलक विचारधारा (Behaviour Madification Approach)

इस उपागम या विचारधारा का श्रीगणेश पावलो और ऑटोरैंक की विचारधारा के आधार पर हुआ। एक कुत्ते के समीप जब खाना आता था तो उसके लार टपकने लगती थी। खाने के पहले घंटी बजती थी, बाद में ऐसा हो गया कि घंटी बजते ही उसकी लार टपकने लगती थी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला गया कि किसी खास परिस्थिति में कोई जीव एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का अभ्यस्त हो जाता है। इसी आधार पर इस विचारधारा का प्रचलन हुआ। इसका निहितार्थ यह है कि असमायोजित व्यक्ति कुछ परिस्थिति विशेष में गलत काम करने एवं समस्याओं का शिकार बनने का अभ्यस्त हो जाता है और स्वयं अपने प्रयास से उस परिस्थिति में सही ढंग से सुधार नहीं कर पाता है, ऐसी स्थिति में कुछ विशेष प्रविधियों के प्रयोग से उसके व्यवहार में संशोधन लाकर उसे सही ढंग से समायोजित किया जाता है। सामान्यतया निम्नलिखित प्रविधियों द्वारा व्यवहार में परिवर्तन या संशोधन होता है :-

(i) असमायोजित व्यवहारजन्य परिस्थितियों की समाप्ति (Simple Extinction)

इस प्रविधि के अन्तर्गत उन परिस्थितियों और उत्तेजकों को समाप्त कर दिया जाता है, जिनके कारण कोई व्यक्ति असमायोजित व्यवहार करता है और व्यक्ति उनके अभाव में अपने आप ही सामान्य व्यवहार करने लगेगा।

(ii) व्यवस्थिति नकारात्मकता (Systemetic Desseutisation)—

कभी-कभी व्यक्ति ऐसी दुखद परिस्थितियों में आ जाता है कि उसे सांवेगिक व्यतिक्रम एंक्जाईटी तथा फोबिया आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी स्थितियों में कार्यकर्ता ऐसा प्रयास करता है कि वे दुखद परिस्थितियाँ जिनमें सेवार्थी विभिन्न समस्याओं का शिकार होता है, धीरे-धीरे दूर कर दी जायें ताकि सेवार्थी उन परिस्थितियों का शिकार न हो सके।

(iii) भावनात्मक उपचार–

कभी-कभी सेवार्थी कुछ चिन्ताओं का शिकार हो जाता है और उनके कारण समस्याग्रस्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में कार्यकर्ता उसे किसी सुरक्षित स्थिति में पहुँचाकर उस पर कई प्रकार की चिन्ताओं का बोझ डालता है, सुरक्षित स्थिति होने से सेवार्थी में उन चिन्ताओं से परेशान न होने की क्षमता का विकास होता है।

(iv) प्रभावपूर्ण उपचार–

कार्यकर्ता सेवार्थी की ऐसी सहायता करता है कि वह स्थितियों के साथ अधिक प्रभाव पूर्ण ढंग से समायोजन कर सके।

(द) दण्डात्मक उपचार सम्बन्धी विचारधारा –

इस उपचार का प्रयोग सर्वप्रथम 1930 में कैटोरोविच ने किया था। उन्होंने शराबखोरों के उपचार हेतु उन्हें बिजली का झटका (Electric Shock) लगाना शुरू किया, फलस्वरूप उन लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया। अतः इस उपचार में समस्याग्रस्त सेवार्थी को दण्ड देकर उन परिस्थितियों को छोड़ने का प्रयास किया जाता है जिसमें कोई समस्या उत्पन्न होती है। किन्तु यह उपचार की ऋणात्मक विचारधारा है।

(य) कॉग्निटिव थ्योरी –

इस विचारधारा के प्रणेताओं का यह मानना है कि एक ही स्थिति को अलग अलग लोग अपने अपने दृष्टिकोण से देखते हैं। अतः यदि कोई स्थिति विशेष या वस्तु या व्यक्ति विशेष किसी को नकारात्मक प्रतीत होता है तो वही स्थिति विशेष दूसरे को सकारात्मक लगती है। यह विचारधारा निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :-

1. यदि प्रत्यक्षीकरण में परिवर्तन होता है तो संवेग और व्यवहारों में भी परिवर्तन होता है।
2. यदि लक्ष्य बदलते हैं तो व्यवहार भी बदल जाते हैं।
3. नये क्रिया कलापों एवं नवीन व्यवहारों से प्रत्यक्षीकरण बदल सकता है, इस प्रकार उपचार के अन्तर्गत इस बात में विश्वास किया जाता है कि प्रत्यक्षीकरण, संवेग, लक्ष्य एवं व्यवहारों में अन्तर्संबंध है।

यदि कार्यकर्ता यह महसूस करता है कि सेवार्थी के लक्ष्य या उसका प्रत्यक्षीकरण नकारात्मक है तो उसे बदलने में वह सेवार्थी की सहायता करता है, फलस्वरूप सेवार्थी के संवेग एवं व्यवहारों में अपने आप सकारात्मक परिवर्तन होता है।

(र) रोल थ्योरी-

रोल अर्थात् भूमिका एवं स्टेटस अर्थात् प्रस्थिति एक दूसरे से जुड़ी होती है; एक व्यक्ति की समाज में कई प्रकार की प्रस्थिति होती है और उसी के अनुसार उसकी अनेक भूमिकायें होती हैं। कुछ व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप सभी प्रकार की भूमिकायें अच्छी तरह निभाते हैं और कुछ व्यक्ति बहुत सी भूमिकायें नहीं निभा पाते हैं। ऐसे व्यक्ति जो अपनी परिस्थिति के अनुरूप भूमिकायें नहीं निभा पाते हैं, समस्याग्रस्त बन जाते हैं। समाज कार्यकर्ता ऐसे व्यक्तियों को उनकी भूमिका को समझाने और आवश्यकतानुसार उनमें बदलाव करने एवं नयी भूमिकाओं के निर्वाह में सहायता देता है, यदि भूमिकाओं में कोई बदलाव नहीं भी होता है तब भी समाज कार्यकर्ता वर्तमान भूमिकाओं के सफल निर्वाह में सेवार्थी को सहायता देता है।

वैयक्तिक सेवा कार्य के जैविक प्रत्यय

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य कुछ भौतिक प्रत्ययों पर आधारित है। ऐसे कुछ मूलभूत प्रत्यय निम्नलिखित हैं :-

(i) सामाजिक भूमिका-

प्रत्येक व्यक्ति की समाज में एक प्रस्थिति होती है, यह प्रस्थिति उसे समाज में स्थापित विभिन्न संबंधों, जिम्मेदारियों एवं कार्यों के आधार पर प्रदान की जाती है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ जिम्मेदारियाँ या कर्तव्य भी जुड़े होते हैं। यह कर्तव्य सामाजिक नियमों परिस्थितियों, परंपराओं, प्रथाओं, रीतियों और नियमों के आधार पर निर्धारित होते हैं। उक्त दायित्व एवं कर्तव्य, व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण करते हैं। भूमिका एवं प्रस्थिति के साथ कुछ कर्तव्य या उत्तरदायित्व तो ऐसे होते हैं जिन्हें किसी संगठन द्वारा औपचारिक रूप से प्रदान किया जाता है और कुछ दूसरे कर्तव्य ऐसे होते हैं जिनका निर्धारण प्रचलित सामाजिक मर्यादाओं के द्वारा

किया जाता है। इन कर्तव्यों में देश एवं काल के परिप्रेक्ष्य में भिन्नता होती है। उदाहरणार्थ-अमेरिका जैसे देश में बालक-किशोर अपनी किशोरावस्था समाप्त होते-होते अपने पैरों पर अपने आप ही खड़े होने लगते हैं और उनके भरण पोषण की जिम्मेदारियों या कर्तव्यों से पितामुक्त हो जाते हैं। परंतु भारत जैसे देश में एक व्यक्ति को अपनी पत्नी का आजीवन एवं बच्चों को उनकी कमाने की आयु तक और कभी-कभी पूरे जीवन पर्यन्त भरण पोषण की जिम्मेदारी निभानी पड़ती है। भूमिका की अवधारणा में दो तत्व समाहित होते हैं :- (i) भूमिका से सम्बद्ध प्रत्याशायें, (ii) इन प्रत्याशाओं के संदर्भ में सम्पादित की गयी क्रियायें। सामाजिक भूमिका प्रत्याशाओं एवं क्रियाओं का एक अन्तर्संबंधित समूह है, जो किसी सामाजिक समूह का एक समेकित रूप होता है।

इस प्रकार भूमिकाओं का निर्धारण प्रस्थिति के आधार पर होता है। इसके अन्तर्गत वे कर्तव्य आते हैं, जो सामाजिक प्रस्थिति का निर्वाह करने वाले व्यक्ति द्वारा संपन्न किये जाते हैं। इन उत्तरदायित्वों एवं कर्तव्यों का निर्धारण सामाजिक मान्यताओं के द्वारा किया जाता है। भूमिका के अन्तर्गत प्रत्याशित उत्तरदायित्व और कर्तव्य तथा वास्तव में सम्पादित उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य दोनों ही सम्मिलित हैं। प्रत्याशित भूमिकाओं एवं वास्तविक भूमिकाओं के बीच जब अन्तर अधिक हो जाता है तो व्यक्ति समस्याओं से ग्रस्त हो जाता है। यदि उन समस्याओं का वह स्वयं समाधान नहीं कर पाता है तो दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसी बहुत सी स्थितियों में उसे वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और यह भी समझ लेना चाहिए कि सेवार्थी किस अंश तक अपनी सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर पा रहा है और उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता है।

(ii) अनुकूलन-

अनुकूलन वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति पर्यावरण के अनुसार अपने को ढालता है। व्यक्ति में यह क्षमता पायी जाती है कि वह समय के साथ अपनी जीवन शैली में परिवर्तन कर लेता है। कभी वह अपने को परिवर्तित करता है तो कभी पर्यावरण को। अनुकूलन तीन प्रकार का होता है :- (i) प्राणि शास्त्रीय, (ii) भौतिक, तथा (iii) सामाजिक। सामाजिक अनुकूलन व्यक्ति के लिये अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके बिना न तो विकास एवं उन्नति संभव है और न सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

सामाजिक परिस्थितियों के साथ व्यक्ति तीन प्रकार से अनुकूलन करने का प्रयास करता है : (i) समस्त एवं पूर्व निश्चित ढंगों का उपयोग करते हुये; (ii) बुद्धि अथवा संघर्ष का प्रयोग करते हुये; (iii) उदासीनता, मानसिक अमुखता, पथ्याहार अथवा कल्पना की उड़ान का प्रयोग करते हुये;

सर्वप्रथम व्यक्ति अपनी समस्या का स्वयं समाधान करना चाहता है, इस प्रकार यदि समस्या का समाधान नहीं हो पाता है, तो वह या तो संघर्ष करता है या अपने आप को उस स्थिति में अनुकूल कर लेता है, या उस स्थिति से दूर होने का प्रयास करता है। यदि ये तरीके भी असफल हो जाते हैं तो वह उदासीन हो जाता है और मानसिक विकार के अनेक लक्षण उत्पन्न कर लेता है।

(iii) अहम्–

फ्रायड ने मानव व्यक्तित्व में तीन शक्तियों का निरूपण किया : (अ) जीवन शक्तियों की संतोषपूर्ण अभिव्यक्त, (ब) स्वैच्छिक अथवा स्वचालित व्यवस्था का कार्यान्वयन, (द) संगठन और प्रशासन व्यवस्था जो संतुलन स्थापन का कार्य करती है। फ्रायड ने इन शाक्तियों को क्रमशः अहम्, इदम् एवं पारहम् का नाम दिया है। यद्यपि किसी प्रयोग के द्वारा मानव व्यक्तित्व में इन शक्तियों के अस्तित्व का सत्यापन तो नहीं हो पाया, पर वैयक्तिक सेवा कार्य का नैदानिक स्कूल इन तीनों शक्तियों के आधार पर ही कार्य करता है और वैयक्तिक सेवाकार्य भी बहुत अंश में इन तीनों शक्तियों के अस्तित्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। फ्रायड के अनुसार इदम् मानव व्यक्तित्व की उस शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है जो सामाजिक मान्यताओं को अस्वीकार कर तत्कालिक सुख की प्राप्ति करना चाहता है। अहम् व्यक्तित्व की उन शक्तियों की द्योतक है जो मानव व्यक्ति एवं कार्य व्यवहारों में सन्तुलन बनाये रखता है। पराहम् व्यक्त्वि की उन शक्तियों का परिचायक है जो सामाजिक मान्यताओं के आधार पर व्यवहार करने के लिये नियन्त्रण लागू करती है।

वास्तकिता की जानकारी करने एवं इदम् और पराहम् के बीच सन्तुलन स्थापन करने के कारण अहम् की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अहम् व्यक्तित्व में कार्य करने वाले ऐसे अंश का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने आपको व्यक्त करता है और दूसरों से संप्रेषण करता है। अहम् परिणामों के विषय में सोचता है, उन स्थितियों का पूर्वानुमान करता है जो घटित नहीं होती हैं तथा समाधान के उपाय निर्धारित करता है। अहम् के अनेक कार्य हैं, जिनमें प्रमुख हैं : प्रत्यक्षीकरण, निर्णय सोच समझकर/जल्दीबाजी में नहीं, वास्तविकता परीक्षण, आत्मनिर्णय, मूल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण, विचार तथा सुरक्षात्मक उपायों का प्रयोग। अहम का ज्ञान व्यक्ति को समझने तथा उसे सहायता पहुँचाने हेतु आवश्यक है। सेवार्थी की समस्या के वास्तविक कारणों तथा इसके समाधान हेतु उसके द्वारा किये प्रयासों की जानकारी प्राप्त करने हेतु कार्यकर्ता अहम् की विगत कार्यात्मकता का ज्ञान प्राप्त करता है। जब उसे ज्ञात होता है कि सेवार्थी अपनी वर्तमान समस्याओं के समाधान में असफल है और उसे विगत जीवन में विघटित प्रत्यक्षीकरण के अनुभव प्राप्त हुये हैं, तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सेवार्थी की अहम् शक्ति दुर्बल है और उसे सुदृढ़ करने की आवश्यकता है।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के अवयव

पर्लमैन ने सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य की जो परिभाषा दी है उनमें 4Ps (चार तत्वों) को पहचाना जाता है, जो इस प्रकार हैं :-

(i) व्यक्ति

व्यक्ति से अभिप्राय उस सामान्य व्यक्ति से है जो सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, आदर्शों व परम्पराओं आदि के अनुरूप सामंजस्य स्थापित कर अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका के समुचित निर्वहन का प्रयत्न करता हो, जिसमें उसके स्वयं के एवं पूरे समाज के विकास व कल्याण की अभिरुचि विद्यमान हो। यदि ऐसी सम्भावना दिखे कि व्यक्ति में अभिरुचि का अभाव हो तो ऐसी दशा में व्यक्ति के सम्बन्ध में समूह के दूसरे सदस्यों से जानकारी प्राप्त की जा सकती है। कभी-कभी किसी व्यक्ति के समाज विरोधी कार्यों व व्यवहारों की स्थिति में भी इसे सहायतार्थ स्वीकार कर समाज की मुख्य धारा से जोड़कर उसे उपयोगी सदस्य बनाने का प्रयास किया जा सकता है।

जन्म लेने के पश्चात् व्यक्ति अपनी अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में तल्लीन हो जाता है जिसमें उसकी मुख्य भौतिक एवं सुरक्षात्मक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ दूसरी विशिष्ट आवश्यकताएँ उसके प्रत्यक्षीकरण द्वारा निर्धारित होती हैं। एक व्यक्ति की अपेक्षा दूसरे व्यक्ति में आवश्यकताओं की तीव्रता में भेद पाया जाता है जिसका आधार व्यक्ति की व्यक्तिगत क्षमता, उसकी संचित शक्ति एवं सांस्कृतिक समूह की विशेषताएँ व व्यक्तिगत भिन्नताएँ होती हैं। आवश्यकता पूर्ति के प्रयत्न में व्यक्ति अनेक बाधाओं का मुकाबला करता है, परेशान होकर पीछे हटता है या कठिनाइयों से संघर्ष करते हुए परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको समायोजित कर लेता है तथा जीवन के विकास पथ में आने वाली रुकावटों को दूर करने का प्रयत्न करता है। व्यक्ति के व्यवहार का लक्ष्य निराशा से बचते हुए परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ संतुलन स्थापित कर संतुष्टि प्राप्त करना होता है। किसी व्यक्ति का व्यवहार उसकी परिस्थितियों के अनुकूल कितना उपयोगी है? है भी, या नहीं, यह व्यक्ति के व्यक्त्वि संरचना पर आधारित होता है। जैव ऊर्जा, नियंत्रण तंत्र व संगठित तथा नियंत्रित प्रतिक्रियाएँ व्यक्तित्व संरचना के 3 कारक होते हैं।

जब व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती अथवा समायोजन स्थापित करने में वह असफल हो जाता है तो वह सामान्यतः अपनी समस्याओं को लेकर अभिकरण में सहायता लेने के लिए आता है। समस्याओं का सम्बन्ध उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से होता है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसकी शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विशेषताएँ, विगत जीवन के अनुभव, वर्तमान की क्रियाएँ और प्रतिक्रियायें व भविष्य की आशाएँ आदि सभी कुछ छिपी रहती हैं।

सब का अध्ययन तो एक वृहद कार्य होगा पर वैयक्तिक कार्य के दृष्टिकोण से हम यह कह सकते हैं कि किसी भी अभिकरण में किसी समस्या को लेकर कोई व्यक्ति आता है तो कार्यकर्ता का लक्ष्य यही होता है कि उसकी समस्याएँ सुलझाते हुए उसकी क्षमताओं का इस प्रकार विकास किया जाय कि वह यथासम्भव अधिक सुख और सन्तोष का जीवनयापन कर सके। कार्यकर्ता सहायता कार्य के दौरान व्यक्ति के व्यक्तित्व, व्यवहार, सम्बन्धों, परिवार व पर्यावरण जन्य परिस्थितियों का अध्ययन करता है। इस हेतु व्यक्तित्व एवं इससे सम्बन्धित शाक्तियों की भी संक्षिप्त अध्ययन की आवश्यकता महसूस की जाती है।

सबसे पहले **फ्रायड** (Freud) ने व्यक्तित्व एवं इसमें निहित मन के सम्बन्ध में दो प्रमुख अवधारणाओं का वर्णन किया है और ब्राउन आदि द्वारा प्रस्तुत मनोरचनाओं का भी उल्लेख किया है जिनके परस्पर सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध को ही व्यक्तित्व के स्वरूप के रूप में जाना जा सकता है और इसके विश्लेषण को ही व्यक्तित्व संरचना माना जा सकता है।

(अ) मन की गत्यात्मकता

फ्रायड (Freud) मूल प्रवृत्ति के सिद्धान्त (Theory of basic urges) से प्रभावित हुए तथा कहा कि हर एक व्यक्ति में कुछ प्राथमिक प्रेरणाएँ होती हैं जो मूल प्रवृत्तियों के रूप में व्यक्ति की प्राथमिक शाक्तियाँ हैं, जो व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। फ्रायड ने इन मूल प्रवृत्तियों को जन्मजात कहकर दो रूपों में वर्गीकरण किया है :-

(क) जीवन–मूल प्रवृत्ति

हर व्यक्ति जीवित रहना चाहता है और जीवित रहने की प्रेरणा से ही वह कार्य व व्यवहार करता है अर्थात जीवित रहने के लिए उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ, प्रतिक्रियायें एवं व्यवहार होते रहते हैं। यूनानी पुराणों जिसमें इरोज (Eros) जीवन प्रदत्त देवता को कहते हैं। इसके अन्तर्गत जीवित रहने तथा दूसरों को जीवित रहने देने की भावना विद्यमान होती है, इसीलिए जीवन-मूल प्रवृत्ति को "प्रेम" नाम से भी सम्बोधित किया गया है। व्यक्ति के अन्दर प्रेम व समीप होने की अभिलाषा जाग्रत होती है। जिसे यौन (Sex) भी कहा जाता है और जीवन-मूल प्रवृत्ति (Eros) संरचनात्मक (Constructive) होती है और इसी से जीवन प्रभावित होता है। इस मूल प्रवृत्ति का एक हिस्सा यौन प्रवृत्ति से सम्बन्धित होता है जिसे कामलिप्सा (Libido) कहा जाता है जो यौन-पूर्ति का साधन बनता है। इसमें इच्छा (will) की भावना निहित होती है और अपनी पूर्ति "संयोग" से चाहता है। जीवन-मूल प्रवृत्ति के महत्वपूर्ण कार्य है - व्यक्ति को संकलित कर एकता लाना, चीजों को समीप लाना, संगठित होना व एकरूपता पैदा करना, इकट्ठा करना आदि जिनके आधार पर मानव का विकास होता है।

(ख) मृत्यु–मूल प्रवृति

फ्रायड के अन्दर (सन् 1919 के पश्चात्) यह चेतना जाग्रत हुई कि व्यक्ति के अन्दर मात्र प्रेम, सहानुभूति, सर्जन, एकता एवं निकटता की ही नहीं बल्कि उसके अन्दर घृणा एवं

विध्वंसात्मक प्रवृत्ति भी विद्यमान होती है। जिस प्रकार अपने जीवन के प्रति मोह, माया एवं रक्षा की इच्छा होती है उसी प्रकार इसके विपरीत उनमें आत्महत्या करने की भी रुचि होती है। उनके अनुसार जब व्यक्ति को कुछ निर्माण कार्य को करने में असफलता मिलती है तो वह सम्पूर्ण को विध्वंस कर देता है जिस कार्य से उसे एक विशेष सुखानुभव प्राप्त होता है और अयोग्यता व विफलता की भावना दमित होती है। फ्रायड ने इस प्रवृत्ति को मृत्यु-मूल प्रवृत्ति (Thanatos) के नाम से सम्बोधित किया। थैनाटस यूनान में मृत्यु देवता को कहते हैं। व्यक्ति के अन्दर जब मृत्यु-मूल प्रवृत्ति की अधिकता हो जाती है तब वह आत्महत्या कर लेता है। इसके अन्तर्गत निराशा व हतोत्साह की दशा में तथा सच्चाई से नामंजूर करने की स्थिति में अपने आपको समाप्त करने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए मनुष्य वध सम्बन्धी प्रवृत्ति (Homicidal Tendency) पर आधारित समझा जाता है। शारीरिक रूप से उग्र व्यवहार की उत्पत्ति एवं जैवकीय अस्तित्व की समाप्ति इसकी विशिष्टता है। मृत्यु-मूल प्रवृत्ति को विशेषता है। आलोचना व व्यंग्य करना और आत्म व प्रजाति को समाप्त करना है।

उपर्युक्त दोनों तरह की परस्पर विपरीत मूल-प्रवृत्तियाँ मानव में विद्यमान होती हैं, जिनका सदैव परस्पर संघर्ष चलता रहता है लेकिन जो अधिक शक्तिशाली मूल-प्रवृत्तियाँ होती हैं उसी से प्रेरित होकर व्यक्ति कार्य एवं व्यवहार सम्पन्न करता है। दोनों की शक्तियाँ जब बराबर-बराबर हो जाती हैं तब अस्पष्ट निर्णय, अनिश्चिय की स्थिति एवं भावना (Ambivalence) पैदा हो जाती है परिणामस्वरूप मानसिक बाधिता की स्थिति भी बन जाती है। यह अनिश्चितता और उभयवादिता की स्थिति उत्पन्न न हो, इसके लिए अहम् शक्ति, दोनों (जीवन एवं मृत्यु) मूल-प्रवृत्तियों के बीच आपसी संघर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करती है।

2. व्यक्तित्व संरचना

फ्रायड के मतानुसार व्यक्ति एक मनोवैज्ञानिक जीव है उसके अन्तर्गत तीन शाक्तियाँ- इदम् (Id), अहम् (Ego), और पराहम् (Superego) होती हैं। इन्ही के द्वारा व्यक्ति के सभी व्यवहार संचालित होते हैं व्यक्तित्व संरचना के ये तीन अवयव सदैव सक्रिय एवं गत्यात्मक रूप में पाये जाते हैं, इन्हें निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

(क) इदम् : इदम् का स्वरूप अचेतन होता है वह सदैव आनन्द की प्राप्ति के लिए इच्छाओं की पूर्ति होने देना चाहता है और सम्पूर्ण क्रियाकलाप अनियन्त्रित तरीके से होता है यह कोई प्रतिबन्ध भी नहीं मानता। यह एक शक्ति के रूप में बाहर निकलना चाहती है। यह मूल प्रवृंत्तियों से जनित शारीरिक आवश्यकताओं की अपने मूल रूप में सन्तुष्टि करना चाहती है। व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से नहीं हो सकता यदि इसे वास्तविकता से नियन्त्रित न किया जाये। जन्म के पश्चात् बच्चा इदम् से ही परिपूर्ण माना जाता है। सामान्य रूप में इदम् प्रभावित कार्य व व्यवहार समाज द्वारा मान्य नहीं होता। इसी कारण इसकी ज्यादातर माँगे या इच्छायें अहम्

द्वारा नियन्त्रित हो जाती हैं और व्यवहारशील नहीं हो पाती। प्रारम्भिक अवस्था में इदम् का दमन कर दिया जाता है लेकिन क्रमशः बड़ा होने पर व्यक्ति यह महसूस करता है कि कोई आन्तरिक शक्ति उसे गलत कार्य एवं व्यवहार करने से मना करती है यह आन्तरिक शक्ति पराहम् (Superego) होती है। अहम् एवं पराहम् के नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध के परिणामस्वरूप इदम् की थोड़ी बहुत इच्छाएँ ही पूर्ण हो जाती है।

(ख) अहम् : यह व्यक्तित्व का मुख्य भाग है जो पूर्णरूपेण सचेतन रूप में होता है, यह व्यक्ति के व्यक्तित्व को संतुलित बनाने में प्रमुख भूमिका अदा करता है। यह प्रत्यक्षीकरण एवं अवलोकन करते हुए इदम् की थोड़ी बहुत इच्छाओं को भी पूरा करता है। अहम् सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं एवं मार्यादा को ध्यान में रखकर व्यक्ति की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति हेतु सम्यक जाँच के पश्चात् ही व्यवहार का संचालन करता है। यह वास्तविकता से सम्बन्धित होता है। यह सतर्क व जागरूक रहकर स्थान, काल, व्यक्ति, मूल्य, मर्यादा व परिस्थितियाँ आदि को ध्यान में रखकर अपने व्यवहार के परिणामों की जानकारी रखता है। यह इदम् और पराहम् की इच्छाओं व आवश्यकताओं को नियन्त्रित रखते हुए समायोजन-स्थापन में मदद करता है अर्थात् इदम् तथा पराहम् के बीच के संघर्ष को समाप्त करके सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करता है।

अहम् सचेतन रूप से प्रयास करता है कि कुण्ठा की स्थिति में व्यक्ति की शक्ति एवं क्षमता का ह्रास न होने पाये, और न तो व्यक्तित्व विघटित हो। अतः व्यक्तित्व को विघटित होने से बचाने की अहम् सक्रियता की रक्षा युक्ति (Defence mechanism) है। अहम् की स्थिति सदैव एक समान नहीं रहती, इसमें लचीलापन होता है परिस्थितियों के अनुसार इसकी शक्ति घटती-बढ़ती है। कुण्ठा या चिन्ता जिन परिस्थितियों के कारण होती है उसमें अहम् कमजोर हो जाता है और उसकी कार्य-क्षमता कम हो जाती है। इसके विपरीत सुखमय परिस्थितियों में अहम् शक्ति बढ़ जाती हैं।

(ग) पराहम् : पराहम् आदर्श, नैतिकता व आध्यात्मिकता पर आधारित व्यक्तित्व में निहित एक महत्वपूर्ण शक्ति है। इसके द्वारा समाज के आदर्शों व मूल्यों का प्रतिनिधित्व किया जाता है, व्यक्तित्व के अन्तर्गत इदम् के द्वारा उत्पन्न हुई असांस्कृतिक और सामाजिक इच्छाओं का इसके द्वारा नियन्त्रण किया जाता है और व्यक्ति को समाज के आदर्शों और मूल्यों के अनुकूल चलने के लिए प्रेरित किया जाता है। यह समाज द्वारा अमान्य व्यवहारों को करने से रोकती है, तथा इदम् की माँगों व इच्छाओं की पूर्ति का प्रतिरोध करती है। यह व्यक्तित्व का न्यायिक भाग है जो उचित व अनुचित का निर्णय करती है। जब बच्चों को उनके कार्यों व व्यवहारों के आधार पर दण्ड या पुरस्कार प्रदान किया जाता हैं तब पराहम् का विकास प्रारम्भ होता है। सर्वाधिक शक्तिशाली व दृढ़ पराहम् आदर्शवादी हो जाता है और वास्तविकता से दूरी बढ़ाता जाता है

फलस्वरूप दोष-भावना (Guilt feeling) पैदा हो जाती है और व्यक्ति में सामाजिक असमायोजन की समस्या उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसका व्यवहार स्थान, काल, व्यक्ति तथा वास्तविकता के अनुरूप उचित नहीं होता और सामाजिक समायोजन का सन्तुलन बिगड़ जाता है।

3. **समस्या**

व्यक्ति के जीवन में कुछ ऐसी बाधाएँ एवं अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं जिनके कारण उसकी कार्य करने की शक्ति प्रभावित हो जाती है। वह ऐसे किसी कार्य को करने में असमर्थ हो जाता है जिससे उसके तनावों व दबावों में कमी आ सके ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति समस्या से ग्रस्त कहा जाता है ऐसे समस्याग्रस्त व्यक्ति की समस्याओं के निराकरण हेतु किसी वाह्य मदद की आवश्यकता पड़ती है जो संस्था/अभिकरण के माध्यम से प्रदान की जाती है।

जब किसी व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति समुचित रूप से नहीं हो पाती है तो व्यक्ति समस्याग्रस्त हो जाता है और आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति व संतुष्टि न हो पाने की दशा में व्यक्ति में कुण्ठा (Frustration) पैदा हो जाती है। बारम्बार ऐसी कुण्ठा की स्थिति आने पर व्यक्ति के जीवन में यही कुण्ठा समस्या का रूप धारण कर लेती है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कभी-कभी व्यक्ति स्वयं प्रयास न कर दूसरे पर ज्यादा आश्रित हो जाता है जिस कारण भी समस्या पैदा हो जाती है। दूसरों पर अधिक आश्रित होने के समय यदि उसके सम्मुख कोई रुकावट अथवा बाधा पैदा हो जाती है तो वह अनुभव के अभाव के कारण उसका समाधान नहीं कर पाता है परिणामस्वरूप उसमें स्वभावतः कुण्ठा पैदा होती है जिसकी अधिकता समस्या का रूप ले लेती है। जब किसी व्यक्ति को उसकी क्षमता/योग्यता से अधिक कार्य व जिम्मेदारी मिल जाती है तो व्यक्ति पर मानसिक दबाव अत्यधिक बढ़ जाता है और स्थिर दबाव के कारण उसमें कुण्ठा (Frustration) आ जाती है, जो क्रमशः बाद में समस्या का रूप ले लेती है।

समस्या के दो पक्ष होते हैं, एक वस्तुगत और दूसरा विषयगत। एक ही प्रकार की समस्या का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न तरह से प्रभाव पड़ता है। वास्तविक रूप से समस्या के कारण जो कठिनाई होती है और उसका जो प्रभाव पड़ता है वह तो उसका वस्तुगत पक्ष हुआ, इसके अतिरिक्त जब व्यक्ति अपनी अहम् भावनाओं और संवेग आदि के आधार पर एक ही समस्या से अलग-अलग प्रकार से प्रभावित होता है तो ये सब बातें विषयगत पक्ष के अन्तर्गत आती हैं। सहायता देते समय वैयक्तिक कार्यकर्ता को दोनो पक्षों का ध्यान रखना चाहिए। किसी समस्या के अन्तर्गत ये दोनों पक्ष साथ-साथ तो रहते ही हैं और सामान्यतः एक पक्ष दूसरे पक्ष की उत्पत्ति का कारक भी बनते हैं। एक समस्या से दूसरी समस्या उत्पन्न होती है और दूसरी से तीसरी। इस प्रकार एक प्रकार की समस्या से ग्रस्त व्यक्ति धीरे-धीरे अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हो जाता है।

जब कोई भी सेवार्थी समस्याग्रस्त होकर संस्था में सहायता लेने आता है तो एक ही साथ वह अनेकानेक समस्याओं में उलझा रहता है ऐसी दशा में सीमित समय व साधन को ध्यान में रखते हुए वरीयता के क्रम में कार्यकर्ता को गम्भीर व महत्वपूर्ण समस्या को पहले हल करना चाहिए, तत्पश्चात संस्था की नीति के अनुसार क्रमशः समस्या का चुनाव कर सेवार्थी की योग्यता व निपुणता के आधार पर अपेक्षाकृत अधिक सरलता व अच्छे ढंग से समाधान का प्रयास करना चाहिए।

कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि व्यक्ति अपनी समस्या से पूरी तरह वाकिफ होता है उसके ''कारण'' व ''समाधान'' का तरीका भी जानता है फिर भी अपनी समस्याओं को हल करने हेतु समुचित वाह्य साधनों की कमी के कारण असमर्थ हो जाता है। ऐसी स्थिति में कार्यकर्ता अभिकरण के माध्यम से उसको आवश्यक साधनों को उपलब्ध कराता है। कभी-कभी व्यक्ति अपनी समस्याओं, उसके कारण अथवा निवारण के विषय में अनभिज्ञ होता है, तो इस स्थिति में कार्यकर्ता सेवार्थी को आवश्यक तथ्य एवं सूचनाओं की जानकारी कराकर सहायता प्रदान करता है। कभी-कदार व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं का इस तरह ह्रास हो जाता है कि वह स्वयं अपनी समस्या के निराकरण में समुचित प्रयत्न नहीं कर पाता, ऐसी परिस्थिति में कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ सार्थक सम्बन्ध स्थापित कर सम्बल (Support) आदि की प्राविधियों के समुचित प्रयोग द्वारा अहम् शक्ति का विकास कर उसके शारीरिक व मानसिक क्षमताओं/योग्यताओं का इस प्रकार पुनर्जागरण करता है कि वह अपनी समस्या का स्वयं समाधान करने में समर्थ हो सके। किसी अप्रिय घटना के कारण भी व्यक्ति में अत्यधिक संवेग पैदा हो जाता है और अत्यधिक कष्ट की दशा में व्यक्ति की विचार एवं कार्यशक्ति समाप्त होने लगती है तब कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ सम्बन्ध स्थापित कर तादात्मीकरण (Indentification) की उप प्रविधि के माध्यम से संवेगों में कमी लाने का प्रयत्न करता है।

विगत जीवन में किसी घटना से सम्बन्धित अवास्तविक भावनायें एवं संवेग जो व्यक्ति के अचेतन मन में दबे रहते हैं, कभी-कभी मौका पाकर चेतन मन में दृष्टिगोचर हो जाते हैं तथा व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करने लगते हैं ऐसी स्थिति में व्यक्ति वास्तविक व्यवहारों के जरिये अपनी समस्या का निराकरण करने में असमर्थ हो जाता है। अतः कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ समुचित सम्बन्ध बनाकर प्राख्या की प्रविधि के माध्यम से वास्तविकता का बोध कराते हुए यथोचित व्यवहार के लिए सेवार्थियों को प्रेरणा प्रदान करता है। कार्यकर्ता के लिए आवश्यक है कि वह किसी व्यक्ति की समस्याओं के निराकरण से पहले उसके आन्तरिक व वाह्य क्षमताओं की सम्पूर्ण जानकारी तथा उसकी समस्याओं, उनके कारणों का विस्तृत ज्ञान रखे।

4. संस्था / अभिकरण

वैयक्तिक सेवा कार्य की प्रक्रिया सम्पन्न करने के लिए किसी स्थान विशेष की

आवश्यकता होती है जहाँ पर प्रशिक्षित कार्यकर्ता एक विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा एक अवधि में एक समस्याग्रस्त व्यक्ति की समस्या का समाधान कर सहायता प्रदान करता है। सामान्य रूप से इस कार्य की सम्पन्नता के लिए कुछ आवश्यक उपकरण, विशेषज्ञों की सेवायें, कुछ भौतिक वस्तुएँ या रूपये पैसे आदि का प्रबन्ध भी इसी स्थान पर अपेक्षित होता है। इस तरह के स्थान को संस्था/अभिकरण कहते हैं। पर्लमैन के मतानुसार फोर पी (4Ps) का तीसरा तत्व अभिकरण है। अभिकरण या संस्था या स्थान है जहाँ व्यावसायिक कार्यकर्ता समस्याग्रस्त व्यक्ति की पक्षपात के बिना सहायता प्रदान करता है ताकि समस्याग्रस्त व्यक्ति अपनी समस्या का समाधान करके समाज में समायोजित होकर अपना व समाज का कल्याण कर सके। वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत मात्र उन्हीं अभिकरणों को शामिल किया जा सकता है जो मानव हित व कल्याण के लक्ष्यपूर्ति हेतु स्थापित होते हैं तथा समस्या समाधान में मददगार होते हैं।

अभिकरण का लक्ष्य ऐसे व्यक्तियों की मदद करना है जिनके वैयक्तिक व पारिवारिक जीवन में विशेष सामाजिक रुकावटें पैदा हो जाती हैं। अभिकरण वह स्थान है जहाँ कार्यकर्ता व्यक्ति की सहायता संस्था के नियम व लक्ष्य के अनुरूप प्रदान करता है। संस्थायें एक दूसरे से अनेक अर्थों में भिन्न-भिन्न होती हैं लेकिन सेवार्थी को सहायता देने का कार्य संस्था के माध्यम से अधिक निपुणता से सम्पादित किया जाता है।

अभिकरण कई प्रकार के होते हैं जो इस प्रकार हैं :-

सहायता प्राप्ति के स्रोत की दृष्टि से उन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :-

(1) **सामाजिक अभिकरण :** जिनके संचालन का आर्थिक भार राज्य या केन्द्र सरकार द्वारा वहन किया जाता है। (2) **निजी अभिकरण :** जब किसी रूप से एक या दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों के किसी संगठन द्वारा संस्था का संचालन होता है और आर्थिक व्ययभार भी उन्हीं लोगों द्वारा वहन किया जाता है।

अधिकार की दृष्टि से भी संस्थाओं को दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है :-

(1) **प्राथमिक अभिकरण :** वे अभिकरण हैं जिन्हें अपने लक्ष्य के अनुरूप नीति-निर्धारण एवं कार्यक्रम कार्यान्वयन दोनों का अधिकार प्राप्त होता है। (2) **द्वितीयक अभिकरण :** वे अभिकरण हैं जो मानव कल्याण के किसी वृहद् संगठन से सम्बन्धित होती हैं और जहाँ सामान्यतः नीति-निर्धारण का कार्य ऊपर से होता है लेकिन अभिकरण द्वारा केवल उनका कार्यान्वयन ही होता है।

कार्य की दृष्टि से भी संस्थाओं का वर्गीकरण किया जाता है :-

(1) **बहुउद्देश्यीय अभिकरण :** ऐसे अभिकरण हैं जिसके द्वारा अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त व्यक्तियों को सहायता प्रदान की जाती है। (2) **विशिष्ट अभिकरण :** ऐसे अभिकरण

हैं जिसके द्वारा कुछ विशिष्ट समस्याओं से ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता प्रदान की जाती है अर्थात् क्षमता, निपुणता व साधनों के अनुरूप ही विशिष्ट समस्याओं से ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता की जाती है।

अभिकरण की स्थापना करते समय कुछ विशिष्ट उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाता है। अभिकरण में उद्देश्यों के अनुरूप कुछ कर्मचारियों को रखकर उनका एक संगठन बनाया जाता है और उनके अधिकार एवं कर्तव्य निश्चित कर दिये जाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध भी निर्धारित हो जाता है। इस तरह से सभी लोग एक दूसरे के सहयोग एवं समन्वय से अभिकरण के लक्ष्य की पूति हेतु कार्य करते हैं। अभिकरण में कार्यकर्ता एवं सेवार्थी दोनों को महत्व प्रदान किया जाता है। अभिकरण जिस समुदाय में स्थित होता है उसके आदर्श व मूल्यों का भी प्रतिनिधित्व करता है और अपेक्षा की जाती है कि अभिकरण अपनी उपयोगिता को कायम रखने के लिए समुदाय की बदलती हुए जरूरतों, आदर्शों व मूल्यों के अनुरूप अपने में भी सार्थक परिवर्तन लाये।

5. प्रक्रिया

प्रक्रिया से अभिप्राय उन क्रमागत क्रियाओं से है जिसके द्वारा समस्या के समाधान हेतु वैज्ञानिक आधार पर व्यावसायिक विधियों एवं प्राविधियों का सदैव प्रयोग किया जाता है। इसमें कार्यकर्ता और सेवार्थी के मध्य उचित संचार होता है। कार्यकर्ता सेवार्थी से व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करता है और लक्ष्यपूर्ण सम्बन्धों का उपयोग करते हुए व्यक्ति की समस्याओं का अध्ययन एवं निदान करता है और उन समस्याओं व उनके कारणों की जानकारी व्यक्ति को भी कराता है। साथ ही, उसकी आन्तरिक व वाह्य क्षमताओं/योग्यताओं को उत्प्रेरित करता है ताकि वह अपनी समस्याओं को हल करने व क्षमताओं के विकास के क्रम में समुचित प्रयास हेतु योग्य बन सके और अधिकतम सुखमय व सन्तोषप्रद जीवनयापन व्यतीत कर सके।

इस प्रक्रिया मे अन्तर्गत सामान्यतः समस्याग्रस्त व्यक्ति को किसी अभिकरण के माध्यम से प्रशिक्षित कार्यकर्ता द्वारा वैयक्तिक सेवा कार्य की विभिन्न प्रविधियों व सिद्धान्तों का उपयोग कर सहायता प्रदान की जाती है। व्यक्ति को किसी भी कार्य को करने के लिए वाध्य न कर प्रत्येक पग पर यथासम्भव आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान किया जाता है। इस प्रकार इस प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यकर्ता प्रमुख रूप से 3 कार्यों को सम्पन्न करता है :-

प्रथम : सेवार्थी की समस्या, उसका व्यक्तित्व और सामाजिक पर्यावरण के सम्बन्ध में तथ्यों का अध्ययन करना।

द्वितीय : निदान-समस्या की उत्पत्ति पर व्यक्तित्व व सामाजिक पर्यावरण का प्रभाव और इसे कैसे दूर किया जाय?

तृतीय : विभिन्न वाह्य और आन्तरिक साधनों के उपयोग से समस्या का उपचार करना। इनका विवरण निम्नलिखित है :-

अध्ययन :

इसके अन्तर्गत सबसे पहले कार्यकर्ता सेवार्थी से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करता है जिससे भविष्य में सेवार्थी की समस्याओं को जानने-समझने एवं उसके उपचार हेतु मदद मिलती है। इस अध्ययन में सेवार्थी के जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण व्यक्तियों और घटनाओं एवं इनके प्रति सेवार्थी की भावना व व्यक्तित्व आदि के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना है। सेवार्थी में स्वयं समस्या के समाधान करने की क्षमता की सीमा क्या है यह भी अवलोकन किया जाता है।

अध्ययन एक गतिशील प्रक्रिया है, जिसके द्वारा वैयक्तिक सेवा कार्य प्रारम्भ किया जाता है। इस कार्य हेतु सामान्यतः निरीक्षण, अन्वेषण एवं वैयक्तिक इतिवृत्ति की प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। अध्ययन द्वारा पर्यावरण तथा परिस्थितियों के साथ समायोजित होने की सेवार्थी की क्षमता, योग्यता व प्रयत्न आदि के विषय में उपयोगी एवं महत्वपूर्ण सूचनाओं को एकत्र किया जाता है। अध्ययन कार्य की सफलता कार्यकर्ता और सेवार्थी दोनों पर निर्भर है। यदि कार्यकर्ता सेवार्थी को सम्मान व रुचि के साथ स्वीकार कर उसके साथ समुचित सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करे और उसकी समस्याओं व उनसे उत्पन्न विभिन्न भावनाओं के साथ तादात्मीकरण कर अन्वेषण की प्रविधि द्वारा भिन्न-भिन्न तरह की जानकारी का प्रयास करें, तो उसे सर्वाधिक तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं।

अध्ययन के माध्यम से सेवार्थी की व्यक्तिगत भावनाओं को समझा जाता है साथ ही रक्षायुक्तियों के प्रयोग के कारण छिपी हुई भावनाओं को वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सहभागिता का महत्वपूर्ण स्थान है और सेवार्थी का कार्यकर्ता के साथ पूर्ण सहयोग होने के पर अध्ययन की परिपूर्णता सम्भव हो सकती है।

कार्यकर्ता सेवार्थी को आत्म-निर्णय का समुचित अवसर प्रदान कर उसकी परेशानियों एवं समस्याओं को धैर्यपूर्वक सुनने का प्रयास करता है लेकिन कभी-कभी आवश्यकतानुसार समुचित नियंत्रण व निर्देशन के द्वारा भी कार्यकर्ता सेवार्थी से तथ्यों की जानकारी करता है। तथ्यों की वास्तविक जानकारी के लिए कार्यकर्ता सेवार्थी से अलावा उसके परिवार व उससे सम्बन्धित अन्य लोगों से भी मिलता है और प्राप्त तथ्यों का उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से प्रयोग करता है।

अध्ययन कार्य के समापन के पश्चात निदान व उपचार का कार्य प्रारम्भ हो, ऐसा होना आवश्यक नहीं होता, बल्कि सामान्यतः ये तीनों कार्य अर्थात अध्ययन, निदान व उपचार

साथ-साथ भी जारी रहता है जैसे जब कभी सेवार्थी पहले साक्षात्कार के लिए आता है तो उसका तात्कालिक उपचार करना आवश्यम्भावी हो जाता है। अध्ययन कभी-कभी स्वयं उपचार का रूप धारण कर लेता है। कभी-कभी कार्यकर्ता अन्वेषण की प्रविधि द्वारा प्रश्नीकरण की प्रक्रिया से सेवार्थी को ऐसी अवस्था में ला देता है कि सेवार्थी को अपनी समस्याओं के यथार्थ कारणों की जानकारी अपने आप हो जाती है तदनुरूप जानकारी के बाद सेवार्थी समस्याओं के निराकरण हेतु स्वयं अपने व्यवहारों में परिवर्तन कर लेता है इस प्रकार उपचार हो जाता है।

अध्ययन की तकनीक या प्रवीणता

सेवार्थी एवं उसकी समस्या के संदर्भ में विभिन्न तत्व अध्ययन के द्वारा ही एकत्र किये जाते हैं। समुचित निदान हेतु यथार्थ रूप से अध्ययन करना अपेक्षित होता है, इसीलिए कुछ महत्वपूर्ण तकनीक, प्रवीणता अथवा साधन (Tools) का प्रयोग अध्ययन को सफल एवं सदुपयोगी बनाने के लिए किया जाता है जो इस प्रकार हैं :-

(क) केन्द्रीकरण

सेवार्थी की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में समुचित ज्ञान आवश्यक होता है इसलिए केन्द्रीकरण की तकनीक का प्रयोग अध्ययन की प्रक्रिया में किया जाता है। जब सेवार्थी एक समय एक से अधिक समस्याओं से ग्रसित होता है और एक ही समय में अपने भिन्न-भिन्न समस्याओं को अभिव्यक्त करने लगता है तो ऐसी दशा में उसकी प्रमुख समस्या पर केन्द्रित होना अपेक्षित होता है। अतः कार्यकर्ता सेवार्थी की किसी एक विशिष्ट समस्या का गहन ध्यान द्वारा केन्द्रीकरण की तकनीक की मदद से उचित अध्ययन करता है।

(ख) प्रेक्षण

अध्ययन काल में ध्यानपूर्वक यह निरीक्षण किया जाता है कि सेवार्थी की बातचीत की शैली किस तरह की है किसी बात को वह किस तरह से अभिव्यक्त करता है। बातचीत के दौरान मुख की आकृति, हाव-भाव और शारीरिक हिस्सों के खिचाव आदि का प्रभाव किस प्रकार का है? इन समस्त बातों का महत्व कार्यकर्ता के लिए अति आवश्यक होता है क्योंकि उनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि उसकी बातों का वास्तविक अर्थ क्या है? उनके संवेग कैसे हैं? जिनका ज्ञान शब्दों के साथ ही साथ शारीरिक क्रियाओं के प्रेक्षण से (अध्ययन का उद्देश्य पूर्ण होना) सम्भव हो सकता है।

(ग) समन्वेषण

इसके द्वारा मन के भीतर दबी हुई भावनाओं व संवेगों की अभिव्यक्ति हेतु सेवार्थी को प्रेरित कर और टीका-टिप्पणी कर उसके कार्यों व व्यवहारों को अच्छी तरह समझने का प्रयास किया जाता है। इसके माध्यम से अनेक गोपनीय तथ्य बाहर प्रकट हो जाते है इससे निदान के

कार्य में भी सहूलियत होती है साथ ही अधूरी इच्छाओं व जरूरतों की अभिव्यक्ति मात्र से ही सेवार्थी के मन का भार भी घट जाता है और वह हल्का महसूस करने लगता है। समन्वेषण अध्ययन की तकनीक के साथ-साथ उपचार की भी एक प्रविधि है जिसकी महत्वपूर्ण उपयोगिता है।

तथ्यों के संकलन के मुख्यतः दो साधन या माध्यम होते हैं। प्रथमः इसके अन्तर्गत स्वयं सेवार्थी ही होता है जो अपनी तथा अपनी समस्याओं के विषय में सूचनाएँ देता है। द्वितीय : इसके अन्तर्गत सेवार्थी से इतर व्यक्तियों अथवा समूहों से सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं जो सेवार्थी के कार्यों, व्यवहारों, सम्बन्धों व समायोजन आदि के विषय में होती हैं।

अध्ययन से सम्बन्धित तथ्य

समस्या निवारण की प्रक्रिया में अध्ययन प्रथम महत्वपूर्ण चरण होता है जिसके द्वारा एकत्रित सूचनाओं के आधार पर ही निदान व उपचार का कार्य आगे बढ़ता है। कार्यकर्ता जिन महत्वपूर्ण सूचनाओं को एकत्रित करता है वे निम्नलिखित हैं :-

(1) समस्या से सम्बन्धित तथ्य :

समस्या के बारे में जानकारी हासिल करना कि समस्या कितने दिन से है? समस्या की प्रकृति, पूर्व समस्या, पूर्व एवं वर्तमान काल में समस्या बढ़ाने वाले कारक आदि क्या हैं? समस्या समाधान को प्रभावित करने वाली बाधाएँ, सेवार्थी की दृष्टि से समस्या के कारकों के मध्य भिन्नताएँ व सम्बन्ध तथा तत्व कारक आदि का पता करना। समस्या को पैदा करने वाले आन्तरिक व वाह्य कारकों के मध्य अन्तर का ज्ञान हासिल करना, दोनों पक्षों के अन्तर्प्रभावों का विश्लेषण करना, अन्य सम्बन्धित तथ्यों का मूल्यांकन करते हुए उनमें सुधार लाने पर चिन्तन करना। समस्या के प्रति सेवार्थी का दृष्टिकोण क्या है? मूल्यांकन करना, सेवार्थी द्वारा इंगित समस्या के लिए जिम्मेदार तत्वों पर (कार्यकर्ता द्वारा) प्रकाश डालना। यह भी पता करना कि इस सम्बन्ध में अभिकरण की मदद से सेवार्थी क्या करना पसंद करता है? समस्या के समाधान में सेवार्थी का अब तक का क्या प्रयास रहा और आगे क्या और कितना प्रयास करने हेतु उत्सुक है?

(2) सेवार्थी की अहम् सामर्थ्य क्षमता :

कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी की आकृति, स्वरूप, उसकी सम्बन्ध स्थापन व परिवर्तन की क्षमता का मूल्यांकन करना कि पहले साक्षात्कार एवं बाद के साक्षात्कार में क्या बदलाव दिख रहा है? यह यथार्थ के आधार पर उसकी अहम् सामर्थ्य/क्षमता के संदर्भ में निर्णय करता है। कार्यकर्ता यह भी अध्ययन करता है कि सेवार्थी की विचार प्रक्रिया की सामर्थ्य, समुचित निर्णय लेने की क्षमता, यथार्थता को जानने समझने की योग्यता व अनुभव और अन्य दूसरे लोगों के

मनोभावों व विचारों का प्रत्यक्षण करने की योग्यता क्या है? कार्यकर्ता का यह भी कार्य है कि सेवार्थी के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न परिस्थितियों में पूर्व एवं वर्तमान प्रकार्यात्मकता को अच्छी तरह जांच करे और उनका समस्या से सम्बन्ध देखे। सेवार्थी की अहम् सामर्थ्य की जानकारी प्राप्त करने के लिए वाह्य सामाजिक दबावों एवं उनके स्वरूप का अध्ययन करे।

(3) पर्यावरण से सम्बन्धित तथ्य :

(i) कार्यकर्ता से यह आशा की जाती है कि पर्यावरण से सम्बन्धित शक्ति व सीमाओं के ज्ञान प्राप्ति हेतु वह निम्नलिखित तथ्यों को एकत्र करें :- (क) पर्यावरण के मूल्यांकन के विषय में सम्बन्धित लोगों, घटनाओं एवं दशाओं का मूल्यांकन करना। (ख) सेवार्थी की दृष्टि से विशिष्ट लोगों की धारणा की जानकारी लेना जो उसके वर्तमान पर्यावरण से सम्बन्धित हों तथा यह भी ध्यान देना कि इन लोगों से सेवार्थी किस तरह अन्तःक्रिया व सम्बन्ध स्थापित करता है? (ग) पर्यावरण में सेवार्थी से सम्बन्धित विशिष्ट व्यक्तियों का इस तरह मूल्यांकन करना कि उनके कारण, सेवार्थी को आलम्बन (Support) प्राप्त होता है या दबाव पड़ता है।

(ii) **पर्यावरण के साथ व्यक्ति की अन्तःप्रतिक्रिया :** (क) सेवार्थी की महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाओं को जीवन सम्बन्धी दशाओं व घटनाओं के प्रति विचाराधीन रखना और उपयुक्तता के संदर्भ में उसकी गम्भीरता, अंश व प्रकृति को मूल्यांकित करना। (ख) सेवार्थी की आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के प्रकारों, स्वयं अपने आप को सुरक्षित रखने के तरीकों तथा मनोभावों आदि का अध्ययन करना, सेवार्थी के अन्तवैयक्तिक सम्बन्धों, उसकी प्रतिक्रियाओं एवं दबाव सम्बन्धी दशाओं आदि की जानकारी करना जिससे निदानात्मक अन्तर्दृष्टि का विकास हो सके। (ग) सेवार्थी की अनुकूलन की सामर्थ्य, नये व्यक्तियों, दशाओं व विचारों के प्रति उसकी धारणा आदि का मूल्यांकन करना कि इनके प्रति सेवार्थी की प्रतिक्रिया सक्रिय-सचेत है अथवा उदासीन एवं धीमी है।

(4) सेवार्थी की अनुकूलन विधि

सेवार्थी की सुरक्षात्मक दृष्टि के मद्देनजर उसके व्यवहार को सम्मान एवं मान्यता प्रदान करना। उसके अनुकूलित व्यवहार को मान्यता व स्वीकृति देना। पर्यावरण की परिस्थितियों व अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के समय व्यक्त की गयी रक्षा-युक्तियों (Defence Mechanism) को समझना और उनके लक्ष्य व प्रभावों को इस तरह समझना कि सेवार्थी दबाव की वास्तविक स्थिति को अच्छी तरह से जान सके।

(5) भावनाओं से सम्बन्धित तथ्य

सेवार्थी की भिन्न-भिन्न तरह की भावनाओं में भेद देखना और सेवार्थी के मनोगत्यात्मक संरचना के आधार पर उनकी उपस्थिति की संगणना करना कि किस तरह पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया होती है और पर्यावरण में सेवार्थी की प्रकार्यात्मकता पर भावनाओं का क्या प्रभाव

पड़ता है? यह भी सुनिश्चित करना कि क्या किसी महत्वपूर्ण प्रभाव के प्रति सेवार्थी सचेत है अथवा नहीं? इस हेतु सेवार्थी की चेतना या ऐसे संकेतों के आधार पर सेवार्थी की महत्वपूर्ण प्रभावों के प्रति चेतना की जानकारी लेना जिसके प्रति सेवार्थी अनजान होता है लेनिक कार्यकर्ता को वह स्पष्ट होती है।

(6) कारक

सेवार्थी की वर्तमान प्रकार्यात्मकता के कारण सम्बन्धी स्रोतों को समझने के प्रयोजन से सेवार्थी के पूर्व के जीवन से सम्बन्धित अनुभवों के विषय में अपने ज्ञान का कार्यकर्ता द्वारा उपयोग करना।

अध्ययन की शर्तें

अध्ययन के अन्तर्गत कार्यकर्ता सचेत रहे कि तथ्यों के संकलन में चुने हुए आवश्यक तथ्य ही संकलित किया जाये। अध्ययन के समय नियन्त्रण तो हो लेकिन उसमें लचीलापन हो ताकि सफल साक्षात्कार के लिए सेवार्थी को प्रोत्साहन व आलम्बन मिलता रहे। परिस्थितियों का इस प्रकार अध्ययन करना चाहिए जैसा सेवार्थी स्वयं समझता व आभास करता है।

अध्ययन के अन्तर्गत कार्यकर्ता अपनी पूर्वाग्रह से ग्रसित भावनाओं या मनोवृत्तियों के अनुसार अध्ययन न करे बल्कि उन पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण रखकर आवश्यक तथ्य संकलित करे।

कार्यकर्ता की निष्पक्ष व अनिर्णयात्मक मनोवृत्ति होनी चाहिए अर्थात वह सेवार्थी पर अपना व्यक्तिगत निर्णय न थोपे बल्कि सेवार्थी को ही उचित निर्णय लेने के लिए प्रेरित करे।

सेवार्थी की कुछ ऐसी भावनायें, व्यवहार व रूचियाँ होती हैं जिन्हें छिपाकर दूसरा व्यवहार करता है ऐसी दशा में कार्यकर्ता अपनी योग्यता व कौशल द्वारा सेवार्थी की छिपी हुई भावनाओं को समझकर तदनुरूप प्रयास करता है।

कार्यकर्ता सेवार्थी को प्रोत्साहित करता है कि वह अध्ययन में सहयोग प्रदान करें ताकि अध्ययन की प्रक्रिया पूर्णरूपेण सफल हो सके।

सेवार्थी सदैव सहायतार्थ सम्बन्ध का अभिलाषी होता है अतः सेवार्थी की इस अभिलाषा की सन्तुष्टि हेतु कार्यकर्ता अध्ययन व उपचार दोनों ही प्रक्रियाओं में सेवार्थी के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित करे।

सेवार्थी के अपने व्यक्तिगत अनुभव और विचार विनिमय में उपचारात्मक क्षमता एवं शक्ति सामर्थ्य विद्यमान होती है जिसके उपयोग हेतु कार्यकर्ता को ध्यान देने की अपेक्षा होती है।

सेवार्थी प्राथमिक सूचना का स्रोत होता है। अतः सेवार्थी ही अपने स्वयं के सम्बन्ध में

अपनी समस्या के सम्बन्ध में प्रथम तथ्यात्मक सूचना देने का स्रोत माना जाता है इसलिए अध्ययन करते समय आवश्यक सूचना सबसे पहले सेवार्थी से ही लेनी चाहिए।

वैयक्तिक कार्यकर्ता को तथ्यों का संकलन द्वितीयक स्रोतों से तभी करना चाहिए जब उन सूचनाओं को प्राथमिक स्रोत से प्राप्त करना असम्भव हो, इसके बावजूद भी द्वितीयक स्रोत से जरूरत से अनुसार मात्र चयनात्मक सूचनाएँ ही प्राप्त करनी चाहिए।

वैयक्तिक कार्यकर्ता को आत्मनिर्णय एवं गोपनीयता के सिद्धान्त का सदैव पालन करना चाहिए। यद्यपि सेवार्थी की समस्या से सम्बन्धित किसी तथ्य को बिना उसकी अनुमति/विश्वास प्राप्त किये किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं बताना चाहिए फिर भी यदि कोई विशेष परिस्थिति में अभिकरण की नीति के कारण किसी अन्य विशेषज्ञ से विचार विमर्श हेतु बताना अनिवार्य हो तो उसके कल्याण हेतु सेवार्थी की बिना अनुमति के भी ऐसा किया जा सकता है।

अध्ययन हेतु किया गया साक्षात्कार

अध्ययन के माध्यम से अपेक्षित तत्वों के संकलन हेतु साक्षात्कार का प्रयोग किया जाता है। साक्षात्कार वह प्रक्रिया है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं। साक्षात्कार एक ऐसी क्रमबद्ध प्रणाली है जिसमें परस्पर सम्पर्क द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के अनजान व आन्तरिक तथ्यों की जानकारी को हासिल करता है। साक्षात्कार के अन्तर्गत दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य संवाद, वार्तावहन की क्रियाएँ चलती रहती हैं, जिससे अपेक्षित लक्ष्यों की पूर्ति होती रहती है।

साक्षात्कार निपुणता, मौलिक, व्यावसायिक, मनोवृत्ति तथा स्वीकृति (Acceptance) पर आधारित होता है। स्वीकृति (Acceptance) से अभिप्राय सेवार्थी को, जिस तरह का भी वह है। उसी रूप से स्वीकार करना जिस स्थिति में वह हो, चाहे वह दशा साक्षात्कर्ता हेतु सुखद या दुखद हो, अनुकूल हो या प्रतिकूल (Uncongenial) हो, चाहे जिस तरह का भी व्यवहार हो, उदाहरणार्थ- आक्रामकता (Aggressivenss) का, शत्रुता (Hostility) का, पराश्रिता (Dependency) का अथवा निष्कपटता के अभाव हो। वैयक्तिक कार्यकर्ता सेवार्थी को यथावत उसी रूप में स्वीकार कर लेता है। वह 'स्वीकृति' का प्रदर्शन तथा विनय, नम्रता (Courtesy) एवं धैर्य (Patience) से सेवार्थी की बात सुनने की रूचि तथा उसे निन्दित न करने जैसे क्रियाकलापों को अपनाता है। साक्षात्कार के लिए अनिवार्य होता है कि कार्यकर्ता में लचीलापन एवं मैत्री भावना हो, इससे सेवार्थी को अन्दर स्वीकृति की भावना का विकास होता है। कार्यकर्ता साक्षात्कार के माध्यम से सेवार्थी की शक्तियों की खोज, उन्हें सुदृढ़ बनाने, उसकी आवश्यकताओं और उनकी हीन भावनाओं को समझकर उसे सम्मान प्रदान करता है। सेवार्थी को अपनी समस्या के समाधान हेतु उपचार प्रक्रिया में हिस्सा लेने हेतु प्रोत्साहित किया जाता

है और साक्षात्कार के दौरान ही उसे प्रेरित किया जाता है कि वह अपनी समस्या से सम्बन्धित सामाजिक तथ्यों अथवा इतिहास और अपनी भावनाओं को कार्यकर्ता के सामने प्रकट करें। सेवार्थी का पुनर्बलन (Reinforcement) किया जाता है ताकि वह बिना संकोच के अपनी दुःखद व कष्टकारी भावनाओं और सूचनाओं को भी कार्यकर्ता के सम्मुख रखे।

सफल व निपुण साक्षात्कारकर्ता सेवार्थी से आवश्यक प्रश्न पूछकर ही तथ्य संकलन करता है ताकि सेवार्थी में कोई संकोच/हिचक न पैदा हो। सेवार्थी की व्यक्तिगत वृत्ति (Case History) लेने तथा मैत्रीपूर्ण वातावरण में साक्षात्कार करके तथ्य संकलन करने में अन्तर है। अनुक्रियाशील (Responsive) वातावरण में साक्षात्कार द्वारा तथ्यों को संकलित करने में सेवार्थी की अन्तर्भावितता (Involvement) ज्यादा उपयोगी होती है जिसके परिणामस्वरूप वह सभी तथ्यों को सहज, सरल व स्पष्ट रूप से कह पाता है। व्यक्तिगत वृत्ति (Case History) का साक्षात्कारकर्त्ता (कार्यकर्ता) द्वारा लिया जाना प्रगाढ़ व विश्वसनीय सम्बन्धों पर निर्भर करता है। व्यक्तिगत वृत्ति के जरिये सम्बन्ध कायम होते हैं इसलिए सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास में साक्षात्कार का विशिष्ट स्थान है।

सेवार्थी के व्यवहार के हर एक पक्षों-जैसे तनाव (Tensions), विनिवर्तन लक्षण (withdrawl Symptoms) व दुश्चिन्ता आदि लक्षणों को कार्यकर्ता साक्षात्कार के माध्यम से समझता है। साक्षात्कार के अन्तर्गत पर्यवेक्षण (Observation) के जरिये सेवार्थी की प्रकार्यात्मकता के स्तर, सहायता लेने की तत्परता की जानकारी होती है। इसी से सेवार्थी की अहम् शक्ति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया जाता है। साक्षात्कार के समय कार्यकर्ता को कुछ बातों को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए जैसे-सेवार्थी के संवेगात्मक भावों को समझना, उसके शारीरिक उतार-चढ़ाव आदि का ध्यान, सेवार्थी में कष्ट अथवा दुश्चिन्ता के भावों को समझना, सेवार्थी की बौद्धिक क्षमता, भाषा, अनुभव आदि। कार्यकर्ता सेवार्थी की ही भाषा का प्रयोग कर साक्षात्कार को बेहतर व उपयोगी बना सकता है। आवश्यकतानुसार कार्यकर्ता साक्षात्कार की गति को नियन्त्रण में रखता है और समयानुसार उसे आगे बढ़ाता है।

साक्षात्कार में बहुत सी उपचार प्रक्रियाओं व प्राविधियों का प्रतिपादन किया जाता है। साक्षात्कार द्वारा अर्थनिरूपण (Interpretation), स्पष्टीकरण (Clarification) आदि प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। साक्षात्कार की प्रक्रिया में स्पष्टीकरण, व्याख्या और व्यवहार के प्रतिमानों (behaviour patterns) की ओर संकेत करके अर्थ निरूपण किया जाता है। व्याख्या के अन्तर्गत साक्षात्कारकर्ता संस्था की नीतियों व नियमों का स्पष्टीकरण करते हुए सेवार्थी को इसे समझने में सहायता प्रदान करता है। इसी तरह समुदाय के अन्य साधनों एवं इनके उपयोग की व्याख्या भी करता है। स्पष्टीकरण के अन्तर्गत सेवार्थी की समस्याओं के भिन्न-भिन्न पक्षों का अर्थ-निरूपण करके उसकी गलत धारणाओं को दूर करने का प्रयत्न करता

है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साक्षात्कार के माध्यम से सेवार्थी की समस्या के निराकरण हेतु विस्तारपूर्वक अध्ययन, निदान व उपचार का कार्य समुचित ढंग से सम्पन्न किया जाता है। अतः सेवार्थी की समस्या के अध्ययन में साक्षात्कार की विशिष्ट व महत्वपूर्ण भूमिका होती है लेकिन इसके लिए एक निपुण साक्षात्कारकर्त्ता की महती आवश्यकता होती है जिसके निम्न गुण होते हैं : जैसे- पर्यवेक्षण (Observation) करने की निपुणता, सेवार्थी की बात ध्यानपूर्वक व धैर्यपूर्वक सुनने की क्षमता, बातचीत के दौरान कौशल, निर्देशन (Direction) और भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साक्षात्कार करने की योग्यता।

निदान :

निदान के प्रति दो प्रश्न उभरकर सामने आते हैं पहला कि सेवार्थी की समस्या के क्या कारण हैं। दूसरा यह कि सेवार्थी की समस्या के निवारण हेतु किस प्रकार सहायता की जा सकती है?

अध्ययन और निदान के भेद को रिचर्ड केवट ने इस प्रकार बताया कि अध्ययन के अन्तर्गत हम आँखे खोलकर देखते हैं और निदान की अवस्था में हम आँखें बंदकर सोचते हैं। यानी यह एक प्रकार का मानसिक कार्य है जिसके अन्तर्गत अध्ययन की विभिन्न विधियों के द्वारा प्राप्त सामग्री पर कार्यकर्ता अपने ज्ञान के संदर्भ में विचार करता है और विभिन्न सूत्रों में प्राप्त तथ्यों को संगठित कर आवश्यकतानुसार उनका विश्लेषण और संश्लेषण करता है, फलस्वरूप सेवार्थी के व्यक्तित्व, उसकी समस्याओं, उनके कारण था उन्हें दूर करने के उपायों का स्पष्ट पता लगता है। इस प्रकार हम निदान के द्वारा सेवार्थी की समस्या तथा उनके कारणों का पता लगाते हैं व समस्याओं के हल के लिए सेवार्थी की परिस्थितियों में परिवर्तन के स्वरूप का पता लगाते हैं। सेवार्थी कहाँ तक अपनी परिस्थितियों में स्वयं ही परिवर्तन करने में समर्थ है, सेवार्थी की अहम् शक्ति तथा प्रतिरक्षात्मक युक्तियों के अपनाने की क्षमता और विभिन्न परिस्थितियों में उसकी समायोजन क्षमता का पता लगाते हुए यह निश्चय किया जाता है कि कार्यकर्ता को उसकी सहायता के लिए क्या करना है। इस प्रकार निदान के द्वारा उपचार की दिशा निर्धारित होती है।

पर्लमैन के मतानुसार यह मानसिक क्रिया समस्या के हर एक अंग का परीक्षप्प करती है ताकि उसकी विशिष्ट प्रकृति तथा संगठन की जानकारी और उनके अन्तःसम्बन्धों की जानकारी हो सके तथा उनके समाधान के लिए साधनों का पता लगाया जा सके। इस समस्या के परीक्षण क्रिया को ही नैदानिक प्रक्रिया कहते हैं।

कार्यकर्ता सेवार्थी की परिस्थितियों का अध्ययन कर उसकी समस्या के प्रति अपना विचार बनाता है कि उसे किस प्रकार की सहायता की अपेक्षा है तथा उसकी वर्तमान सामाजिक

कार्यात्मकता की प्रकृति को समझकर उसे परिभाषित करता है। कार्यकर्ता इस बात का भी अनुमान लगाता है कि सेवार्थी कहाँ तक अपनी भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर पा रहा है? उसमें क्या खामियाँ हैं? और यह किस सीमा तक अपने आन्तरिक व वाह्य कारकों अथवा तनावों/शक्तियों से प्रभावित हो रहा है? इस प्रकार सेवार्थी से सम्बन्धित समस्त सूचनाएँ या तथ्य स्पष्ट आइने की तरह सम्मुख आ जाते हैं।

कार्यकर्ता सेवार्थी में विभिन्न घटनाओं, उसके इतिहास और व्यवहार आदि के जो भी आशय निकालता है उसी को उसका "निदानात्मक चिन्तन" कहा जाता है और कार्यकर्ता के लेख (record) में इसे निदानात्मक सारांश (Diagnostic Summary) अथवा निदानात्मक विवरण (Diagnostic statement) कहा जाता है। इसका कई बार स्पष्टीकरण किया जाता है जब तक कि सेवार्थी व उसकी समस्या के सम्बन्ध में उचित निदान नहीं हो जाता समस्या का उपचार सम्भव नहीं है। वैयक्तिक समाज कार्य अभ्यास में निदान को पर्लमैन (Perlman) ने वैयक्तिक समाज कार्य प्रक्रिया द्वारा किये जाने वाले समस्या समाधान कार्य में "तथ्यों का चिन्तन" (Thinking through the facts) बताया है, एक ऐसा चिन्तन जिसमें सेवार्थी की समस्या को समझने और उसके मूल्यांकन का कार्य किया जाता है और उपचार की योजना का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार किये गये मानसिक कार्य करने की प्रक्रिया को उन्होंने निदानात्मक प्रक्रिया (Diagnostic process) बताया है और इस मानसिक कार्य के फलस्वरूप जो निष्कर्ष निकलता है उसे निदानात्मक उत्पादन (Diagnostic product) बताया है। उनके मतानुसार इस निदान को मात्र एक बौद्धिक अभ्यास (Intellectual experience) के स्तर पर ही नहीं छोड़ना चाहिए। इसे निदान पर आधारित उपचार की एक क्रियात्मक योजना (Action Plan) में परिवर्तित किया जाना चाहिए।

सामान्य रूप से निदान का कार्य अध्ययन के साथ ही जारी रहता है। साक्षात्कार के प्रारम्भ से ही कार्यकर्ता अस्थायी रूप से निदान से सम्बन्धित योजना भी बनाता रहता है लेकिन आगे अन्य सूचनाओं की जानकारी के पश्चात जरूरत के अनुसार बदलाव भी लाता रहता है। समुचित अध्ययन सामग्री के आधार पर ही समुचित निदान सम्भव हो सकता है। सफल निदान के लिए कार्यकर्ता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सेवार्थी की समस्याओं के प्रति वस्तुगत और विषयगत दोनों तरह के मिले तथ्यों को पृथक-पृथक करके उनका उपयोग करे। प्रारम्भिक निदान अस्थायी तरीके वाले होते हैं और समस्त भिन्न-भिन्न तथ्यों को सही जानकारी के उपरांत अंतिम दौर में स्थायी ढंग से समस्या का निदान किया जाता है। इस प्रकार आगे उपचार का मार्ग प्रशस्त होता है।

पर्लमैन एवं कुछ अन्य विद्वानों ने निदान के 3 प्रकार बताये हैं जो निम्नलिखित हैं :-

(1) **गतिशील निदान :** इस निदान के अन्तर्गत सेवार्थी की समस्या, इसके व्यक्तित्व तथा

वातावरण में सम्बन्ध सेवार्थी से सम्बन्ध स्थापित कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि सेवार्थी की समस्याओं की उत्पत्ति में उसकी वर्तमान परिस्थितियों एवं व्यक्तित्व का सम्मिलित प्रभाव किस हद तक पड़ रहा है। जैसे-जैसे सेवार्थी के विषय में जानकारी में बढ़ोत्तरी होती जाती है और नये तथ्यों की जानकारी होती है वैसे-वैसे निदान के स्वरूप में भी जरूरत के अनुसार बदलाव किया जाता है। सामान्यतः वैयक्तिक सेवा कार्य की पद्धति के अन्तर्गत निदान में इसी स्वरूप का विशिष्ट रूप से प्रचलन है।

(2) **कारणान्वेषी निदान :** इस निदान के अन्तर्गत सेवार्थी के विगत जीवन की घटनाओं पर विशिष्ट रूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है और यथाषक्ति सेवार्थी के समस्यामूलक व्यवहारों का सम्बन्ध उसके विगत जीवन की घटनाओं से जोड़ा जाता है। फ्रायड और उनके अनुयायियों का इस प्रकार के निदान की विचारधारा पर विशिष्ट प्रभाव है। वैयक्तिक सेवा के अन्तर्गत इस विचारधारा को मानने वाले लोग नैदानिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत आते हैं। इनके विपरीत आप्टेकर और उनके मित्र प्रकार्यवादी सम्प्रदाय के माने जाते हैं। वे सभी समस्याओं का सम्बन्ध सेवार्थी के वर्तमान जीवन से ही जोड़कर स्थापित करते हैं।

(3) **उपचारात्मक निदान :** इस निदान के अन्तर्गत सेवार्थी या रोगी की समस्या या बीमारी के आधार पर उसका भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया जाता है तथा कुछ निश्चित परीक्षणों के आधार पर पूर्व जानकारी, अनुभव आदि के अनुसार यह सुनिश्चित कर लिया जाता है कि किस प्रकार की समस्या या बीमारी के क्या शारीरिक व मानसिक कारण होते हैं तथा उनका व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है और किस रूप में पड़ता है तथा उनके उपचारार्थ या निवारणार्थ क्या किया जाना अपेक्षित होगा? अतः समस्या या बीमारी के लक्षणों के आधार पर सेवार्थी या रोगी को एक विशिष्ट नैदानिक वर्ग के अन्तर्गत रखकर उसके अनुरूप उपचार किया जाता है लेकिन इस तरह के निदान के अन्तर्गत सामाजिक वातावरण का विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है और इसका ज्यादा महत्व समस्या के निदान में है। इस कमी की पूर्ति हेतु गतिशील निदान का ही आश्रय लेना पड़ता है।

उपचार की योजना

अध्ययन और निदान के पश्चात् तथा उपचार प्रारम्भ करने के पूर्व उपचार की एक योजना बनायी जाती है। उपचार की योजना भी अपने आप में एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत सेवार्थी और कार्यकर्ता परस्पर मिलजुलकर सेवार्थी हेतु सहायता के उद्देश्य व उसे पाने के तरीके को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार की योजना जो अनिवार्य व महत्वपूर्ण होती है, बन जाने के पश्चात् उपचार का कार्य चैतन्य रूप से एक निर्दिष्ट व निर्धारित दिशा में चलता रहता है। इस प्रकार सेवार्थी व कार्यकर्ता के समय व शक्ति, दोनों की बचत होती है और साधनों का भी समुचित रूप से उपयोग सम्भव हो पाया है।

सेवार्थी किस तरह की मदद चाहता है और उसकी यह चाह कहाँ तक पूर्ण की जा सकती है इस बात का निश्चय कार्यकर्ता योजना बनाने के पूर्व अध्ययन व निदान की प्रक्रिया द्वारा करता है तथा योजना का लक्ष्य व उसकी पूर्ति के तरीकों का निर्धारण करते समय कार्यकर्ता का मुख्य कार्य होता है कि वह सेवार्थी का सक्रिय सहभाग सुनिश्चित करे। कार्यकर्ता सेवार्थी की अनावश्यक व असम्भव लक्ष्य-आकांक्षा की दशा में उसे त्यागने या उसमें परिवर्तन करने हेतु उचित मदद प्रदान करता है।

सेवार्थी के लिए उपचार की योजना के लक्ष्य निर्धारण हेतु सेवार्थी की समस्या, उसकी रूचि, आशा, आन्तरिक क्षमता, कार्यात्मक शक्ति, साधन, अभिकरण की नीति और कार्यकर्ता के स्वयं के ज्ञान व निपुणता को दृष्टिगत रखा जाता है। हर एक सेवार्थी की मदद का लक्ष्य होता है उसे इतना सक्षम बना देना कि वह अपने सामाजिक एवं अन्तर्वैयक्तिक पर्यावरण एवं परिवेश में अपनी सर्वाधिक सुखमय एवं सर्जनात्मक क्षमताओं का सदुपयोग कर सके। इस लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रत्येक सेवार्थी के लिए कुछ विशेष उद्देश्यों का निर्धारण सुनिश्चित किया जाता है साथ ही उन्हें प्राप्त करने के लिए कुछ निश्चित तरीके भी निर्धारित किये जाते हैं। परिणामस्वरूप स्वाभाविक एवं सहयोगात्मक ढंग से कार्यकर्ता व सेवार्थी दोनों अपने निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति करते हैं।

उपचार

उपचार, वैयक्तिक सेवा कार्य की समस्या, समाधान प्रक्रिया का तीसरा मुख्य चरण है जिसके दौरान कार्यकर्ता और सेवार्थी परस्पर सहभागितापूर्ण स्थिति के साथ पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु कार्य प्रारम्भ करते हैं। इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सचेतन स्थिति में अपने व्यावसायिक सम्बन्धों के अनुरूप निर्देशित क्रियाओं के द्वारा उपचार के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्राविधियों व प्रक्रियाओं का चयन कर उनका प्रयोग करता है। इस कार्य को सफल बनाने हेतु जरूरी है कि कार्यकर्ता और सेवार्थी में आवश्यक परिवर्तन कर उपचार के लक्ष्यों की प्राप्ति की जाय। यह अपने आप में एक प्रक्रिया है जो कई चरणों में प्रयोग की जाती है जिससे सेवार्थी में बदलाव आता है और उपचार के लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

उपचार के लक्ष्य की प्राप्ति को मद्देनजर रखकर विभिन्न विद्वानों ने अनेक प्रक्रियाओं तथा प्रविधियों का निरूपण किया है। हॉलिस (Hollis) ने विशेष रूप से चार प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रविधियाँ बताई गयी हैं, जब कि हैमिल्टन (Hamilton) ने तीन विधियों की व्याख्या की है। प्रो. राजाराम शास्त्री ने इन्हीं प्रक्रियाओं या विधियों को अपनी पुस्तक में प्रविधि व सह-प्रविधि के रूप में व्यक्त किया है। इसी तरह दूसरे समाज कार्य के विद्वानों ने उसे उपचार की प्रक्रिया या प्रविधि के रूप में माना है। इसके अलावा सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत समस्या के निवारण में मदद व उपचार की दृष्टि से मनोविज्ञान

के अन्तर्गत प्रयुक्त की जाने वाली मनः चिकित्सा (Psychotherapy), मनोविश्लेषण (Psychoanalysis), परामर्श (Counselling) आदि विधियों को भी उपचार में प्रयोग किया जाता है।

हैमिल्टन (Hamilton) ने उपचार की विधियों को 3 भागों में बाँटकर व्याख्या की है :-

(1) व्यावहारिक सेवा का प्रशासन

यह सर्वाधिक पुरानी विधि है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी को समुदाय में उपलब्ध एक अथवा अनेक सामाजिक साधनों को प्रयोग करने में मदद पहुँचाता है। इसमें भी कार्यकर्ता साक्षात्कार के माध्यम से सेवार्थी के साथ व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस विधि के प्रयोग में अध्ययन, निदान एवं सेवार्थी के सामर्थ्य तथा साधनों के मूल्यांकन आदि का प्रयोग भी होता है। सेवार्थी को परामर्श दिया जाता है। सेवार्थी प्रायः अपनी जरूरतों को जानता है, किन्तु वह इस बात से अनभिज्ञ होता है कि उसकी पूर्ति वह किस प्रकार और किन साधनों से कर सकता है और सामाजिक सेवा का उपयोग कैसे करें? कुछ सेवार्थी अपनी जरूरतों से भी अवगत नहीं होते जब कार्यकर्ता उनकी जरूरतों का स्पष्टीकरण करता है। कार्यकर्ता को सामुदायिक साधनों की जानकारी होती है और वह सेवार्थी की सहायता करने हेतु इन साधनों में से उचित साधन का चयन कर उचित मात्रा में प्रयोग करता है। इस विधि में साधन ही "उपचार" बनता है लेकिन वैयक्तिक समाजकार्य प्रणाली व्यक्ति को उसके उचित प्रयोग में मदद करती है। इस व्यावहारिक सेवा का वैयक्तिक समाज कार्य प्रणाली में शामिल किया जाना इस बात पर निर्भर करता है कि किस हद तक व्यवसायिक सम्बन्धों के माध्यम से कार्यकर्ता सेवार्थी का व्यक्तीकरण करता है और किस हद तक उसकी समस्याओं के संदर्भ में निदानात्मक क्षमता रखता है और सेवार्थी में स्वतंत्रता, आत्म-निर्भरता, आत्म-जागरुकता एवं जिम्मेदारी का विकास करता है जिसकी मदद से सेवार्थी अपनी समस्या के समाधान में स्वयं भाग ले सके।

(2) पर्यावरणीय आशोधन

पर्यावरणीय आशोधन या परिमार्जन तथा जोड़-तोड़ का प्रयोग सकारात्मक अर्थों में किया जाता है। इस विधि में कार्यकर्ता सेवार्थी की बातों का श्रवणकर उसके व्यक्तित्व, आवश्यकताओं, संघर्षों और रक्षात्मक मनोभावों को अच्छी तरह समझकर इनमें आवश्यकता के अनुरूप आशोधन व जोड़-तोड़ करने का प्रयत्न करता है। इन सभी में उचित बदलाव लाने का परामर्श वह सेवार्थी को देता है। उसके पर्यावरणीय सदस्यों को उचित सलाह देकर सेवार्थी के प्रति उनके व्यवहार में जोड़-तोड़ अथवा आशोधन करता है। सेवार्थी की दशा में सुधार करके उस पर होने वाले दबावों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार सेवार्थी के जीवन के समस्त अनुभवों का आशोधन करके विकास के अवसर प्रदान किया जाना पर्यावरणीय आशोधन है। इस विधि को अप्रत्यक्ष उपचार भी कहा जाता है। इस विधि से सेवार्थी को भयभीत करने अथवा

धमकाने का कार्य नहीं किया जाता। सेवार्थी को इस परिवर्तन में सहभागिता प्राप्त करने के लिए व्यावसायिक सम्बन्धों एवं साक्षात्कार का प्रयोग किया जाता है, लेकिन मुख्य लक्ष्य पर्यावरण में आशोधन करना है।

(3) प्रत्यक्ष उपचार

सेवार्थी में संवेगात्मक संतुलन कायम रखने के उद्देश्य से साक्षात्कारों की एक श्रृंखला के माध्यम से ऐसी सहायता प्रदान करना कि सेवार्थी की मनोवृत्तियों को स्पष्ट करके उसमें अपेक्षित परिवर्तन एवं समृद्धि लायी जा सके। इस अवधारणा के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक समर्थन भी शामिल है जो वैयक्तिक सेवाकार्य प्रणाली में मनःसामाजिक समायोजन का प्रमुख कारक होता है। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों की झलक साक्षात्कार और सम्बन्धों के प्रयोग में मिलती है। इस उपचार के अन्तर्गत कार्यकर्ता जितना अधिक मनःचिकित्सा (Psychotherapy) के प्रयोग की ओर उन्मुख होता है उसे उतना ही अधिक कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखने की जरूरत पड़ती है। उतना ही अधिक उसका उद्देश्य सेवार्थी में आत्म-सम्बद्धता (self-involvement), आत्म-जागरुकता (Self-awareness) तथा पर्यावरणीय समायोजन (Environmental adjustment) लाना होगा।

हालिस (Hollis) ने सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य के अन्तर्गत उपचार की प्रमुख चार प्रक्रियाओं का वर्णन किया है जो निम्नलिखित हैं :-

(1) समन्वेषण

यह उपचार की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह लक्ष्य निर्देशित प्रश्नों द्वारा अन्तर्निहित तथ्यों की प्राप्ति का साधन भी है। इसे लक्ष्यपूर्ण प्रश्नीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है। यह अध्ययन की सफलता हेतु प्रयोग की जाने वाली प्रविधि है साथ ही उपचार की प्रक्रिया भी है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी से अति घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर उसके विचारों और भावनाओं को ससम्मान अपनाते हुए, प्रश्न पूछते हुए उसकी समस्याओं की तह में घुसता है। परिणाम यह होता है कि कार्यकर्ता को सेवार्थी की समस्याओं व उनके कारणों की समुचित जानकारी तो होती ही है साथ ही साथ सेवार्थी भी अपनी समस्याओं और उनके कुछ नये कारणों से अवगत हो जाता है जिस जानकारी से वह अब तक अनभिज्ञ रहा। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इस जानकारी के द्वारा सेवार्थी अपनी समस्याओं के कारणों का स्वयं ही निराकरण करने का प्रयत्न करने लगता है और उपचार का उद्देश्य अपने आप पूरा हो जाता है। इसके अलावा कार्यकर्ता तादात्मीकरण की प्रविधि एवं स्वीकृति के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए जब धैर्यपूर्वक व रुचि के साथ सेवार्थी से एक-एक करके सवाल करता है तो सेवार्थी कभी-कभी कार्यकर्ता से प्रभावित होकर अपनी अन्दरूनी भावनाओं व कुण्ठाओं को भी निःसंकोच बिना भय व लज्जा के कार्यकर्ता को बतला देता है। इससे भी आंशिक रूप से उपचार के उद्देश्य की पूर्ति होती

है। भावनाओं की अभिव्यक्ति से सेवार्थी में मानसिक तनाव कम होता है और वह अपने को वास्तव में उतना दोषी नहीं समझता, जिनता पूर्व में समझता था फिर भी कार्यकर्ता सेवार्थी से पूर्ववत स्नेहपूर्ण व्यवहार करता है। फलस्वरूप उसमें एक नवीन उत्साह की भावना जाग्रत होती है। सेवार्थी भी कार्यकर्ता के प्रति अनुकूल दृष्टि बनाता है कि वह समस्या के प्रति ध्यानपूर्वक सकारात्मक रुचि प्रदर्शित कर रहा है।

(2) स्पष्टीकरण

यह प्रक्रिया के साथ-साथ एक प्रविधि भी है जिसके द्वारा सेवार्थी को उसके व्यवहारों के सम्बन्ध में बौद्धिक ज्ञान के साथ ही अन्य समस्त तथ्यों की जानकारी प्रदान की जाती है। इससे सेवार्थी यह जान पाता है कि उसके व्यवहारों की सचेतन प्रेरणा किस तरह की है, कौन-कौन सी चेतन भावनाएँ व्यवहारों के चारों तरफ क्रियाशील हैं? इसके माध्यम से सेवार्थी को यह ज्ञात होता है कि उसके लक्ष्य की प्राप्ति में उसके व्यवहार कितने समर्थ हैं? इस ज्ञान के परिणामस्वरूप वह अपने लक्ष्य की पूर्ति हेतु अपने व्यवहारों में स्वयं ही सर्जनात्मक परिवर्तन का समुचित प्रयास करता है।

स्पष्टीकरण की यह प्रक्रिया सेवार्थी के अन्दर समस्या के प्रति जागरुकता, व्यवहार, वातावरण व परिस्थितियों के प्रति सचेतन भावनाओं को बढ़ाती है। स्पष्टीकरण द्वारा वास्तविकता का प्रत्यक्षीकरण कराने का प्रयत्न किया जाता है, जिस विषय में उसे भांतिपूर्ण ज्ञान है, वास्तविक ज्ञान कराया जाता है। गलत धारणाओं को दूर किया जाता है और उसे नये तथ्यों की जानकारी करायी जाती है इसके साथ ही उसकी अहम् शक्ति को इतना शक्तिशाली बना दिया जाता है कि वे विभिन्न परिस्थितियों को बेहतर समझते हुए उनके अनुरूप अपने व्यवहारों में अपेक्षित बदलाव ला सकता है।

कार्यकर्ता सेवार्थी के व्यवहारों के प्रति कुछ ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणी करता है कि सेवार्थी को अपने-आप ही आपेक्षित ज्ञान का बोध हो जाता है। यदा-कदा इस हेतु प्रक्षेपण विधियों का भी आश्रय लेना पड़ जाता है। सामान्यतया स्पष्टीकरण का प्रयोग चेतन व लघु समस्याओं के संदर्भ में किया जाता है।

इस प्रक्रिया का प्रयोग उसी दशा में उपयुक्त होता है जब कार्यकर्ता-सेवार्थी सम्बन्ध अति गहन एवं विश्वनीय हों और कार्यकर्ता द्वारा सेवार्थी के व्यवहारों की आलोचनात्मक परीक्षा करने पर भी सेवार्थी कार्यकर्ता के प्रति नकारात्मक प्रतिक्रिया न व्यक्त करे। इसके साथ ही सेवार्थी में यथोचित सहनशीलता का भी विकास होना चाहिए ताकि समयानुसार यह स्वयं ही अपने व्यवहारों का आत्म परीक्षण व मूल्यांकन कर सके।

जब कभी सेवार्थी के व्यवहारों में प्रतिकूलता (Contradiction) होती है तो उसके (सेवार्थी के) सम्मुख इस व्यवहार को रखकर बोध कराया जाता है, ताकि वह उन विरोधी तत्वों

को छोड़ दे जो उसके व्यवहार में सम्मिलित हैं। इससे सेवार्थी को अपने त्रुटिपूर्ण व्यवहार को जानने का मौका मिलता है और वह आगे जागरूक होकर सचेतन रूप से अनुचित व्यवहार नहीं करता। इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी को कोई निर्देश नहीं देता बल्कि जागरूक करता है। इस प्रकार सेवार्थी अपने व्यवहार के प्रति तार्किक दृष्टि का विकास कर अपने व्यवहार में सुधार लाने का प्रयत्न करता है।

(3) अर्थ–निरूपण (अन्तर्दृष्टि विकास)

इसके अन्तर्गत सेवार्थी को अर्ध चेतन (Semi-conscious) के निकट की समस्याओं और उनके पीछे छिपे कारणों, व्यवहारों और भावनाओं की जानकारी करायी जाती है। इस प्रविधि का प्रयोग मुख्य रूप से अर्ध चेतन व गंभीर समस्याओं के निराकरण हेतु किया जाता है। इसमें कार्यकर्ता जरूरी प्रश्न व टीका-टिप्पणी के अलावा सेवार्थी को सीधे, स्पष्ट व सरल ढंग से कुछ तथ्यों की जानकारी स्वयं प्रदान करता है। कभी-कभी सेवार्थी का सम्बन्ध कुछ ऐसी भावनाओं व विचारों से होता है जो चेतन अवस्था में उसे ग्राह्य नहीं होती। उनसे बचाव हेतु वह उन्हें अचेतन में दबाने का प्रयत्न करता है अथवा भिन्न-भिन्न तरह की रक्षा-युक्तियों (Defence mechanisms) का प्रयोग करता है। इस तरह उसके व्यवहार वास्तविक तथ्यों व भावनाओं से प्रेरित नहीं होते, बल्कि अवास्तविक व सुरक्षात्मक प्रेरकों से परिचालित होने लगते हैं। अस्तु इस प्रविधि के प्रयोग द्वारा सेवार्थी से सम्बन्ध स्थापित कर, आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर सवाल पूछकर तथा सीधे-सीधे शब्दों में नयी अन्तर्दृष्टि (insight) विकसित कर सेवार्थी को वास्तविक ज्ञान कराया जाता है। इस हेतु कभी-कभी उसकी रक्षा-युक्तियों को भी समाप्त करना पड़ता है जिससे सेवार्थी कष्ट का अनुभव करता है और उसके निवारण के लिए सम्बल की प्रविधि कर फिर आश्रय लेना पड़ता है। (अर्थ निरूपण का प्रयोग प्रक्रिया के रूप में तो किया ही जाता है, साथ ही आवश्यकता के अनुसार इसे एक प्रविधि के रूप में भी प्रयोग में लाया जाता है।) इस प्रविधि के परिणामस्वरूप सेवार्थी को अपनी गंभीर समस्याओं व उनके कारणों की वास्तविक जानकारी हो जाती है जिससे वह स्वयं की अपने व्यवहारों में सर्जनात्मक परिवर्तन करके अपनी समस्या के निवारण हेतु प्रयासरत हो जाता है। इस प्रविधि के प्रयोग के समय सेवार्थी व कार्यकर्ता के मध्य घनिष्ठ व सकारात्मक सम्बन्ध स्थापित होने चाहिए तथा सेवार्थी के व्यवहारों का कार्यकर्ता द्वारा गहन जाँच पड़ताल किये जाने पर भी सेवार्थी के अन्दर कार्यकर्ता के प्रति अस्वीकार्यता के भाव न पनपे, साथ ही सेवार्थी की अहम शक्ति भी अत्यधिक मजबूत हो। इसका प्रयोग सेवार्थी की गंभीर आन्तरिक दबावों से उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु करना चाहिए लेकिन उनकी समस्याओं का समाधान तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि सेवार्थी को यह जानकारी न करा दी जाय कि उनकी समस्याओं के पीछे छिपे हुए अचेतन कारक कौन है?

अर्थ-निरूपण या अन्तर्दृष्टि विकास अपने में एक प्रक्रिया के ही एक भाग के रूप में प्रविधि है जिसके द्वारा प्रश्नों व व्याख्यात्मक विवरणों द्वारा सेवार्थी की अन्तर्दृष्टि विकसित की जाती है तथा उसे नयी व यथार्थ तथ्यों की जानकारी करायी जाती है।

अर्थ निरूपण की प्रक्रिया के अन्तर्गत तीन चरण होते हैं : (1) सेवार्थी ही रक्षा-युक्तियों को त्यागने के लिए कहना ताकि उसे वास्तविकता का बोध हो। कार्यकर्ता को मात्र इस बात हेतु तैयार रहना चाहिए कि उसके प्रश्नों व टीका-टिप्पणी की सेवार्थी के ऊपर जो प्रतिक्रिया हुई है उसे अनुकूल दिशा में मोड़ते हुए सेवार्थी की भावनाओं का समन्वेषण वह कर सके। (2) कार्यकर्ता सेवार्थी को उसके वेतन मन के निकट उपप्रविधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। (3) कार्यकर्ता दृष्टि दौड़ाता है कि सेवार्थी द्वारा अपनाये गये रक्षा-युक्तियों को समाप्त करते हुए उसे जो अन्तर्दृष्टि प्रदान की जाती है उसका उसके व्यक्तित्व पर हानिकारक प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो तो सामान्यीकरण इत्यादि उप-प्रविधियों का आश्रय लेकर सेवार्थी हेतु रक्षा-युक्तियों का पुनर्निर्माण किया जाता है। इसके विपरीत यदि उस प्रविधि के द्वारा सेवार्थी के अन्दर नई अन्तर्दृष्टि व जागरूकता की भावना जागृत हुई हो और वह अपनी समस्या का समाधान अच्छे व प्रभावी ढंग से करना शुरू कर दे तो समझें कि अनुकूल प्रभाव पड़ रहा है।

(4) आलम्बन (Support)

इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी को साहस व उत्साह दिलाते हुए उसकी अहम् शक्ति में और मजबूती प्रदान करता है। परिणामस्वरूप उसके मानसिक तनाव व दबाव एवं अपराधभाव दूर होते हैं जिससे उसमें आत्म-विश्वास जाग्रत होती है और समुन्नत कार्य हेतु समुचित शक्ति का विकास होता है, लेकिन इससे पूर्व कार्यकर्ता का सेवार्थी से अति गहन सम्बन्ध का होना आवश्यक होता है ताकि उचित ज्ञान द्वारा सही तरीके से उसे आलम्बन प्रदान किया जा सके।

इस प्रक्रिया के अन्तर्गत चिन्ताग्रस्त सेवार्थी के साथ सहानुभूति, सान्त्वना व उदारता से परिपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन किया जाता है ताकि वह अपनी समस्या को बिना संकोच के व्यक्त कर सके। इसके लिए उसे मान्यता प्रदान कर प्रोत्साहित व प्रशंसित किया जाता है। इस प्रक्रिया के द्वारा सेवार्थी में आत्मसम्मान व आत्मनिर्णय की भावना जाग्रत की जाती है, सम्बन्ध घनिष्ठ बनाये जाते हैं तथा विभिन्न प्रविधियों के प्रयोग द्वारा सेवार्थी को उचित व्यवहार करने के लिए सहारा दिया जाता है।

इस प्रक्रिया के रूप में आलम्बन का प्रयोग तो किया जाता है लेकिन कुछ विद्वानों ने उसे उपचार की विधि (Method of treatment) के रूप से भी निरूपित किया है। इस विधि के प्रयोग के द्वारा सेवार्थी में आशा व उत्साह का संचार किया जाता है परिणामस्वरूप उसके अन्दर अपनी समस्याओं के समाधान की प्रेरणा अपने आप जागृत होने लगती है और इसके अलावा सामाजिक दशाओं के अस्थायी दबाव व तनाव से भी सेवार्थी को समुचित सुरक्षा प्रदान

की जाती है इसके साथ ही अन्य प्रविधियों के प्रयोग द्वारा सेवार्थी पर पड़ने वाले दबावों से ही उसकी सुरक्षा की जाती है।

आलम्बन एक विशिष्ट प्रविधि है जिसके लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कुछ उपविधियों का समुचित प्रयोग किया जाता है जो निम्नलिखित हैं :-

(क) सामान्यीकरण

किसी विशेष परिस्थिति में जब सेवार्थी अपनी समस्या से अत्यधिक घबड़ाकर परेशानी महसूस करने लगता है कि वही एकमात्र व्यक्ति है जिसने सबसे ज्यादा गलत कार्य कर दिया है। इससे उसमें अपराध या दोष भावना घर कर जाती है जिससे उसके अन्य दूसरे कार्य भी प्रभावित होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में इस उप-प्रविधि का प्रयोग किया जाता है। इस उप-प्रविधि के प्रयोग द्वारा सेवार्थी में रक्षा-युक्तियों का पुनर्निर्माण किया जाता है। उसे अवगत कराया जाता है कि ऐसी दशा में प्रायः सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के साथ इस प्रकार के कार्य घटित हो जाते हैं इसमें कोई घबड़ाने की बात नहीं हैं। ऐसा समझाने व विश्वास दिलाने से सेवार्थी में राहत की अनुभूति होती है और मानसिक रूप से वह अपेक्षाकृत हल्का महसूस करने लगता है।

(ख) संक्षिप्तीकरण

किसी विशिष्ट परिस्थिति में सेवार्थी के मन में जब अनेक तरह के प्रभाव पैदा हो जाते हैं और वह इन विस्तृत प्रभावों से परेशान होकर अपने कार्य को निश्चित ढंग से करने में असमर्थ हो जाता है तब कार्यकर्ता द्वारा इस प्रविधि का प्रयोग किया जाता है। इसके अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्यों को क्रमबद्ध रूप से संगठित करने का प्रयास किया जाता है अर्थात् कार्यकर्ता विभिन्न कारणों व प्रभावों और विचारों को एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित कर संक्षिप्त तरीके से सेवार्थी के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है, जिससे सेवार्थी अधिक सरलता व सहजता से समस्याओं व कारणों की जानकारी कर उसके समाधान की दिशा में आगे बढ़ता है।

(ग) तादात्म्यीकरण

इस प्रविधि के अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार द्वारा आत्मीयता का प्रदर्शन करता है और उसकी भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। दूसरे शब्दों में, कार्यकर्ता यह आभास दिलाता है कि किसी विशिष्ट परिस्थिति में सेवार्थी के मन में पैदा हुई भावनायें और कार्यकर्ता के मन में पैदा हुई भावनायें एक सी हैं। इसके परिणामस्वरूप सेवार्थी के अन्दर कार्यकर्ता के प्रति आत्मीयता की अनुभूति उत्पन्न होती है और दोनो के बीच सम्बन्ध अति घनिष्ठ हो जाते हैं और इससे सेवार्थी के मानसिक तनाव में कमी आती है और वह (सेवार्थी) थोड़ी बहुत राहत महसूस करने लगता है।

(घ) पुष्टीकरण

इसके द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी की स्वयं अपने प्रति अथवा दूसरे व्यक्तियों के प्रति महसूस

की गयी वास्तविक भावनाओं और विचारधाराओं का पुष्टीकरण करता है। इससे सेवार्थी के अन्दर अपने प्रति एक विश्वास का भाव जागृत होता है साथ ही उसकी अहम् शक्ति में भी ज्यादा मजबूती आ जाती है।

(च) पुनर्विश्वासीकरण

इस प्रविधि की मदद से कार्यकर्ता सेवार्थी को प्रत्यक्ष व स्पष्ट वक्तव्यों द्वारा वह संकेत देता है कि उसकी भावनायें व व्यवहार समझने लायक हैं और उसकी समस्याओं का समाधान सम्भव है। इससे सेवार्थी के अन्दर स्थित चिन्ता, भय, शंका आदि की भावनाओं में कमी आने लगती है और वह स्वयं को आश्वस्त महसूस करता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि "सेवार्थी को अनुचित व असत्य विश्वास न दिला दिया जाय" इसके लिए वास्तविक स्थिति की जानकारी आवश्यक होती है तभी पुनर्विश्वासीकरण का उचित व प्रभावपूर्ण उपयोग सार्थक हो सकता है।

(छ) विभक्तीकरण

सेवार्थी कभी-कभी एक ही साथ व एक ही समय में अनेक तरह की समस्याओं से पीड़ित हो जाता है और सीमित समय व साधन के कारण कार्यकर्ता सम्पूर्ण समस्याओं को एक साथ ही समाधान नहीं कर सकता। अब कार्यकर्ता सेवार्थी के सहयोग से समस्याओं को कई भागों में बाँटकर सर्वप्रथम अति आवश्यक व गंभीर समस्याओं का समाधान करता है इसके पश्चात् धीरे-धीरे क्रमशः कम आवश्यक व कम गंभीर समस्याओं को हल करता जाता है।

(ज) स्वीकृति

इसके द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी को सम्मान व प्रेम सहानुभूति के साथ ग्रहण करने की भावना को प्रदर्शित करता है इससे सेवार्थी आश्वस्त महसूस करता है तथा उसमें एक नयी आशा व जागृति की भावना उत्पन्न होती है। फलस्वरूप वह अपनी समस्याओं का सामना करने हेतु अधिक मजबूती व धैर्य के साथ तैयार हो जाता है। सेवार्थी के व्यवहारों, भावनाओं, अच्छी व बुरी आदतों आदि के बावजूद कार्यकर्ता उसे सम्मान के साथ स्वीकार करता है तो वह (सेवार्थी) यदा-कदा उत्साह में आकर अपनी भय व लज्जा से युक्त गोपनीय बातों को भी कार्यकर्ता के सामने कह देता है इससे एक तरफ सेवार्थी राहत महसूह करता है तो दूसरी तरफ कार्यकर्ता को भी अच्छी तरह से समस्याओं को जानने-समझने का मौका मिल जाता है। सेवार्थी द्वारा प्रयुक्त रक्षात्मक उपायों को भी कार्यकर्ता स्वीकार करता है। सेवार्थी के किसी व्यवहार को स्वीकार करने लायक न होने पर भी कार्यकर्ता उक्त व्यवहार के पीछे छिपी हुई भावनाओं का समन्वेषण करता है और जरूरत के अनुसार स्वीकृति देता है। इससे सेवार्थी आश्वस्त सा महसूस करता है और कार्यकर्ता-सेवार्थी दोनों के सम्बन्ध मजबूत होते हैं।

(झ) प्रोत्साहन

इसके अन्तर्गत सेवार्थी द्वारा सम्पन्न किये गये अच्छे कार्यों के लिए कार्यकर्ता उसकी प्रशंसा करता है जिससे सेवार्थी के अन्दर नये जोश, उत्साह व साहस की भावना उत्पन्न होती है और उसकी अहम् शक्ति भी विकसित हो जाती है।

(ट) व्याख्या

इसके अन्तर्गत सेवार्थी कभी-कभी शंका, भ्रम व वास्तविक ज्ञान की कमी के कारण व्यर्थ की समस्याओं या उसके गलत अनुचित प्रभावों की शंका से ग्रस्त हो जाता है ऐसी स्थिति में कार्यकर्ता द्वारा सही व्याख्या कर सेवार्थी की गलत/अनुचित धारणाओं को दूर किया जाता है साथ ही वास्तविकता का आभास कराते हुए नये तरीके से कार्य करने के लिए उत्साहित किया जाता है।

(ठ) निर्देशन

कार्यकर्ता सेवार्थी को कभी-कभी उसकी कुछ विशेष भावनाओं व दशाओं के अन्तर्गत व्यवहारों के नियन्त्रण हेतु कुछ विशिष्ट व अधिकार सदृश निर्देशन प्रदान करता है। लेकिन इसके पूर्व यह सुनिशिचित कर लेना चाहिए कि कार्यकर्ता सेवार्थी का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ हो, साथ ही कार्यकर्ता यह समझे कि उसके परामर्श को सेवार्थी स्वीकार कर लेगा। इसके अतिरिक्त जिस सन्दर्भ में परामर्श दिया जा रहा है उसके सम्बन्ध में सभी शुद्ध व जरूरी सूचनाएँ कार्यकर्ता को उपलब्ध हो।

(ड) शिक्षण

इसके द्वारा कार्यकर्ता सेवार्थी को उसकी समस्याओं, सामाजिक पर्यावरण या उपचार सम्बन्धी तरीकों के सन्दर्भ में कुछ ऐसी नयी जानकारी देता है जिससे सेवार्थी अब तक अनभिज्ञ था। इस प्रकार उपर्युक्त जानकारी के उचित उपयोग द्वारा सेवार्थी की समस्याओं का समाधान सम्भव हो पाता है।

(ढ) संसाधन उपयोग

सेवार्थी की समस्याओं के समाधान के प्रयास में कार्यकर्ता यह पता करता है कि समुदाय में उपलब्ध किन साधनों का उपयोग किया जाना उचित हो सकता है। इस हेतु वह दिशा-निर्देश देता है ताकि सेवार्थी सामुदायिक साधनों का सही ढंग से उपयोग करते हुए अपनी समस्या का उचित समाधान कर सकें।

(त) वातावरण में परिशोधन

कभी-कभी सेवार्थी की समस्या-समाधान प्रक्रिया के दौरान पर्यावरण का परिमार्जन जरूरी हो जाता है जब समस्या का कारण वातावरण में निहित हो। इस प्रविधि के माध्यम से

उसके समस्त वातावरण का अध्ययन कर उसमें निहित ऐसे तत्वों को जो बाधा उत्पन्न करते हैं, दूर किया जाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शिक्षाप्रद क्षमता का सेवार्थी के साथ उपयोग करके जीवन के नये अनुभवों को इस तरह प्रदान किया जाता है कि वह वातावरण में विद्यमान सामाजिक साधनों, विचारों अथवा मार्ग निर्देशनों का प्रभावकारी उपयोग किया जा सकें।

(थ) अन्तर्दृष्टि का विकास

इसके द्वारा सेवार्थी की ऐसी सहायता प्रदान की जाती है कि वह अपनी आन्तरिक सामर्थ्य, क्षमता, भावनाओं व संवेगों तथा इनके उपयोग को अच्छी तरह समझने की क्षमता का उचित विकास करे। सेवार्थी की अन्तरिक शक्तियों की क्षीणता की स्थिति में कार्यकर्ता उसके सर्वांगीण विकास हेतु भी मदद करता है जिसके परिणामस्वरूप सेवार्थी अपनी अन्तर्निहित शक्ति सामर्थ्य का विकास करते हुए आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियों की यथार्थ स्थिति को समझ सके।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास में परामर्श

परामर्श, उपचार की अत्यधिक प्रयोग में लायी जाने वाली विधि है। यह एक शैक्षिक प्रक्रिया होती है। परामर्श, कुछ विशिष्ट सहायता हेतु प्रयोग में लाया जाता है जैसे-सेवार्थी की समस्या को स्पष्ट करने, उसकी स्थिति से जुड़ी हुई समस्याओं के तार्किक रूप से समाधान करने, वास्तविकता के साथ संघर्ष करने और समाधान के चयन व निर्धारण की जिम्मेदारी को ग्रहण करने इत्यादि। सामान्यतया अनेक निर्देशन सेवाओं में से परामर्श को एक सेवा समझा जाता है जो परामर्शदाता व सेवार्थी के मध्य आमने-सामने के सम्बन्धों पर आधारित होती है। इसके द्वारा परामर्शदाता सेवार्थी का अपना मूल्यांकन करने व अपनी भावनाओं और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपनी क्रियाकलापों को समझने में मदद पहुँचाता है।

लक्ष्यों व क्षेत्रों के अनुसार परामर्श के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं : (1) **शैक्षिक परामर्श :** इसका प्रयोग समाज कार्य के क्षेत्र-विद्यालयी समाज कार्य में तथा विद्यार्थियों व उनके माता-पिता की मदद हेतु होता है। (2) **व्यावसायिक परामर्श :** इसमें भिन्न-भिन्न व्यावसायिक धाराओं, व्यावसायिक अनिवार्यताओं, सम्भावनाओं, व्यावसायिक सम्बन्धों, शिक्षण-प्रशिक्षण व व्यवसाय के चयन आदि में परामर्श दिया जाता है। (3) **व्यक्तिगत परामर्श :** इसका प्रयोग वैयक्तिक सेवा कार्य में ज्यादा किया जाता है। इसके द्वारा विशिष्ट रूप से व्यक्तियों के दिन-प्रतिदिन की संवेगात्मक समस्याओं का समाधान कर उसे समायोजित करने का प्रयत्न किया जाता है। व्यक्तिगत परामर्श सेवार्थी की समस्या के तुरन्त निवारण से शुरू होता है, इसका लक्ष्य सेवार्थी में पर्याप्त निपुणता, वस्तुनिष्ठा, परिपक्वता व जिम्मेदारी का विकास करना है ताकि उसमें आत्म-निर्देशन तथा एकीकृत व्यक्तित्व का विकास हो सके। हैमिल्टन ने भी परामर्श की अवधारणा का प्रयोग व्यक्तिगत परामर्श के रूप में किया है जिसमें साक्षात्कार हेतु व्यावसायिक

शिक्षा, प्रशिक्षण तथा अनुभव की जरूरत होती है। सेवार्थी की सहायता करते समय निर्णय लेने हेतु साक्षात्कार का प्रयोग करने के लिए कार्यकर्ता को ज्ञान व कुशलता की जरूरत होती है। कार्यकर्ता परामर्श द्वारा साक्षात्कार के उपयोग हेतु सेवार्थी की मदद करता है। इस परामर्श का लक्ष्य सामाजिक समस्या के निवारण तथा सामाजिक समायोजन के संदर्भ में सचेतन अहम् का सहयोग पाना होता है। स्पष्टीकरण के अन्तर्गत सेवार्थी को अपनी भावनाओं व मनोवृत्तियों के प्रति जागरूक किया जाता है, यथार्थ और आत्मनिष्ठा का स्पष्टीकरण किया जाता है। सेवार्थी सुनियन्त्रित हो सके इस हेतु उसे अपने पर्यावरण व अपने आपको समझने योग्य बनाया जाता है। परामर्श द्वारा समस्या समाधन के लिए की जाने वाली उचित क्रियाओं का विश्लेषण किया जाता है, जिससे सेवार्थी को सूचनाएँ प्रदान कर परिस्थिति की व्याख्या व विश्लेषण किया जाता है। लेकिन जब इसमें सामाजिक समस्या में इतर लोग जैसे माँ-बाप, बालक, पति-पत्नी व अन्य नाते-रिश्तेदार सम्मिलित होते हैं, तो परामर्श मनोचिकित्सा की दिशा में बदलाव आने लगता है कार्यकर्ता का लक्ष्य व्यवहार व मनोवृत्तियों में बदलाव लाना हो तो परामर्श उपचारात्मक-साक्षात्कार में शामिल हो जाता है तथा परामर्श, मनोचिकित्सा (Psychotherpy) का रूप धारण करने लगता है। इन दोनों उपचार विधियों में भेद होता है अर्थात् सामान्य व्यक्ति की समस्या के निराकरण में व्यक्तिगत परामर्शदाता सहायता प्रदान करता है जब कि मानसिक रोगी की चिकित्सा मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता (Psychiatric Social Worker) की सहायता से पूर्ण होती है। (4) **औद्योगिक परामर्श** : इसके अन्तर्गत श्रमिकों में व्याप्त चिन्ता, तनाव, कुण्ठा, असंतोष, विरोधों, विनाशकारी मनोवृत्तियों व अनुपस्थिति आदि समस्याओं के निराकरण हेतु परामर्श दिया जाता है साथ ही उनके मनोबल (Morale) को बढ़ाने हेतु व्यक्तिगत परामर्श द्वारा समुचित प्रयास किया जाता है। इस प्रकार परामर्श द्वारा श्रमिकों की व्यक्तिगत क्षमता, दक्षता व प्रवीणता को बढ़ाकर आद्योगिक उत्पादन को बेहतर बनाया जाता है। (5) **वैवाहिक परामर्श** : इस परामर्श के द्वारा दाम्पत्य समायोजन (Marital adjustment), पारिवारिक सम्बन्धों के अन्तर्गत व्यक्तिगत कठिनाइयों व उनके बीच मतभेदों, अविश्वासों व रोजमर्रा के तू-तू मैं-मैं (संघर्षों) आदि जैसी समस्याओं के समाधान में सहायता प्रदान की जाती है।

उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त परिवार कल्याण कार्यक्रम (Family welfare Programmes), पारिवारिक जीवन शिक्षा (Family Life Education) और परिवार एवं बाल कल्याण (Family and Child Welfare) और इसी तरह के अन्य कई क्षेत्रों में भी परामर्श का प्रयोग किया जाता है जो अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

परामर्श में नवीन विचारों के समावेश के फलस्वरूप व्यक्ति की समग्रता (Totality of the individual) और उसके जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की महत्ता के साथ ही साथ परामर्शदाता के उच्च्य व्यावसायिक स्तर और उसके क्रियाकलापों के अनुरूप

व्यावसायिक आचार-संहिता (Professional Ethics) को भी महत्व दिया जाने लगा है। सेवार्थी के लक्ष्यों एवं उसकी प्रेरणाओं के महत्व को भी समझा जाने लगा है। मानव जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण क्षेत्रों में परामर्श सेवाओं की आवश्यकता पड़ने लगी है।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास में उपचारात्मक साक्षात्कार

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य अभ्यास के अन्तर्गत किये जाने वाले उपचारात्मक प्रयास निर्योग्यता अथवा मनोसामाजिक अक्षमता, रुग्णता आदि के सन्दर्भ में ही होते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में मनोविज्ञान और सामाजिक पक्ष के साथ ही साथ जैविकीय (Biological) पक्षों को भी शामिल किया जाने लगा है। इसी प्रकार समायोजन व अनुकलन की समस्याओं के निराकरण में सामाजिक विज्ञानों तथा सम्बन्धित व्यवसायों के नवीन ज्ञान व कौशल का प्रयोग होने लगा है। चिकित्सा के क्षेत्र में मनोगत्यात्मक अवधारणाओं के समीकृत (assimilated) होने से मनोचिकित्सा (Psychotherapy) सम्बन्धी ज्ञान को किसी एक भाग या शाखा तक सीमित नहीं किया जा सकता। अतः मनोरोग विज्ञानी (Psychiatrist), सामाजिक कार्यकर्ता (Social worker), मनोवैज्ञानिक (Psychologist), मनोविश्लेषक (Psychoanalysit) आदि को मानव व्यवहार की समस्याओं के उपचार में मनःचिकित्सा के प्रतिष्ठित स्थान को उचित ध्यान देना चाहिए।

साक्षात्कार का उपयोग उपचार की दृष्टि से सामाजिक वैयक्तिक सेवा अभ्यास की प्रथम प्रक्रिया ''अध्ययन'' से ही आरम्भ हो जाता है। मानसिक बीमारी के क्षेत्र में मनःचिकित्सा और सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में उपचार अतिव्याप्त क्षेत्र हैं। इन दोनों क्षेत्रों के परस्पर सम्बन्ध विचार-विमर्श का प्रकरण बने हुए हैं। दोनों में समानताएँ व असमानताएँ पायी जाती हैं।

उपचार की अन्य विधियाँ

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में उपचार एवं समस्या समाधान हेतु मनोविज्ञान, मनोरोग विज्ञान व अन्य सामाजिक विज्ञानों की अवधारणाओं को भी जरूरत के अनुसार प्रयोग में लाया जाता है। कुछ प्रमुख अवधारणाओं तथा उपचार की प्रविधियों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है :-

(1) मनोविश्लेषण

समाज कार्य अपने विकास के शुरुआती दौर में क्रमबद्ध व वैज्ञानिक ढंग का नहीं था लेकिन आज इसमें उत्तरोत्तर विस्तार होता जा रहा है। पहले निर्धनों, कमजोरों, असहाय लोगों की सहायता सद्भाव व कल्याण की इच्छा से सामाजिक व धार्मिक भाव से होती थी, परन्तु

ये अव्यवस्थित व वैयक्तिक भावनायें परिवर्तित होकर व्यवस्थित एवं संगठित प्रयत्न की ओर अग्रसर हो गई। जब समाज कार्य के क्षेत्र में सबसे पहले मैरी रिचमण्ड ने सामाजिक निदान के अन्तर्गत हर समस्याग्रस्त व्यक्ति की मदद के लिए सामाजिक सूचनाओं की भूमिका पर जोर दिया। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् तन्त्रिका ताप (Neurosis) में रोगी के व्यक्तित्व को समझने के लिए समाज कार्य द्वारा मनोरोग विज्ञान तथा मनोविश्लेषण की मदद ली जाने लगी। इस क्रम में मनोविश्लेषणात्मक सूचनाओं की भूमिका पर बल दिया जाने लगा। सामान्यतया यह स्वीकृति प्रदान कर दी गयी कि सेवार्थी की समस्याओं के निवारण में सहायतार्थ उनकी कुसमायोजन व द्वन्द्व तथा असफलताओं की दशा को दूर करने के लिए गहन मनोवैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत होती है। इसी तरह जब सेवार्थी का व्यक्तित्व समस्या से जुड़ा होता है जब उसकी समस्या के सामाजिक निदान के साथ ही व्यक्तित्व का निदान भी अनिवार्य होता है।

मनोविश्लेषण का लक्ष्य अन्तर्दृष्टि का प्रयोग करते हुए सेवार्थी के तान्त्रिक ताप के मूल/आधार का ही निवारण करके उसके तान्त्रिकातापी व्यक्तित्व में बदलाव लाना है। इस हेतु सेवार्थी के अन्तर्मन के द्वन्द्व और तनाव की वास्तविक गतिशीलता को समझते हुए शैशव काल में उत्पन्न होने वाली अशांति के सभी पक्षों को भी अच्छी तरह समझने की जरूरत होती है। मनोविश्लेषण के अन्तर्गत विशिष्ट प्रणाली मुक्त साहचर्य (Free Association) के प्रयोग द्वारा सेवार्थी के सन्दर्भ में जरूरी विस्तृत अथवा अति व्यापक सूचनाएँ एकत्रित की जाती हैं। इस प्रणाली के प्रयोग के फलस्वरूप सेवार्थी के विचारों, भावनाओं, कल्पना-तरंगों, आवेगों आदि का जो अनिर्देशित व स्वेच्छानुरूप उद्गम होता है, वही सेवार्थी के संदर्भ में अति गहन तथ्य व सूचनाएँ देता है जो उपचार का आधार बन जाती है।

संकलित की गयी सूचनाओं के प्राविधिक प्रयोग के लिए बाइब्रिंग (Bibring) ने दो स्वरूपों में व्याख्या की है :- (1) अर्थ निरूपण (Interpretation) : इससे अभिप्राय है सेवार्थी की वर्तमान तथा भूतकालीन विचारों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, स्वप्नों, लक्ष्यों व प्रवृत्तियों आदि के अचेतन अर्थ व सम्बन्धों का स्पष्टीकरण किया जाना। सेवार्थी को अपने लक्षणों के अचेतन कारणों का यथार्थ व स्पष्ट ज्ञान हो जाता है और जिसके परिणामस्वरूप वह अपने शैशवाकालीन द्वन्द्वों के निवारण की क्षमता हासिल कर लेता है और उसकी समस्या का समाधान/उपचार होता है। सेवार्थी के लिए अचेतन में छिपे हुए सम्बन्धों, अर्थों व अभिप्रेरणाओं की अन्तर्दृष्टि तथा इनका पुनः अनुभव किया जाना सरल नहीं होता। यह कार्यकर्ता की मदद से दीर्घकालीन उपचार होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु एक ओर अहम् विरोधी शक्तियों को दूर करना पड़ता है तो दूसरी ओर दमित की गयी भावनाओं आदि के बहुरूपीय प्रमाणों को संकलित करना पड़ता है।

(2) प्राविधिक प्रयोग की दूसरी विधि जोड़-तोड़ (Manipulation) है जिसके द्वारा सेवार्थी के व्यक्तित्व और कार्यकर्ता से उसके सम्बन्धों का जोड़-तोड़ में अन्यारोपण (Trans-

ference) भी शामिल होता है। सेवार्थी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों के गहन ज्ञान पर यह जोड़-तोड़ आधारित होता है। उपचार की दृष्टि से इस जोड़-तोड़ के अन्तर्गत कार्यकर्ता सेवार्थी को अनेक तरह से प्रभावित कर उसके संवेगों का प्रयोग करता है। जोड़-तोड़ सेवार्थी को प्रभावित कर उसके संवेगों का प्रयोग करता हैं। जोड़-तोड़ सेवार्थी को प्रभावित करने की प्रत्यक्ष प्रणाली है, वैसे अर्थ निरूपण व अन्तर्दृष्टि की अप्रत्यक्ष प्रणालियों का यह जोड़-तोड़ सकारात्मक व नकारात्मक दोनों ही प्रकार का हो सकता है। सकारात्मक जोड़-तोड़ के अन्तर्गत उपचार का फल प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है और नकारात्मक जोड़-तोड़ के अन्तर्गत जटिलताओं से बचाव का प्रयत्न किया जाता है। इस जोड़-तोड़ की जानकारी सेवार्थी को हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यह जोड़-तोड़ वैयक्तिक अथवा पर्यावरणीय भी हो सकता है।

मनोविश्लेषणात्मक उपचार में भिन्न-भिन्न तरह के जोड़-तोड़, मुख्यतः पर्यावरणीय जोड़-तोड़ अनेक रूपों में प्रयोग किया जाता है। मनोविश्लेषण प्रक्रिया के अन्तर्गत सेवार्थी सम्बन्धी अधिकाधिक जानकारी संकलित की जाती है यह जानकारी सेवार्थी के मुक्त साहचर्य (Free association) एवं व्यवहार के पर्यवेक्षण (Observation) द्वारा एकत्रित कर अर्थनिरूपण व जोड़-तोड़ के लिए उपयोग में लायी जाती है।

व्यक्ति के व्यक्तित्व में समायोजन स्थापित करने में मदद देना सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य का लक्ष्य होता है जिसे मैरी रिचमण्ड ने व्यक्त किया है। किन्ही परिस्थितियों में पर्यावरण में परिवर्तिनीय सुधार और किन्ही में व्यवहार व मनोवृत्तियों में आशोधन की जरूरत पड़ती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में पर्यावरणीय सुधार को ज्यादा महत्व प्रदान किया जाता है लेकिन 20वीं शताब्दी के शुरुआत में मनोविश्लेषण के प्रयोग द्वारा मनोविज्ञान का प्रयोग भी होने लगा। वैयक्तिक सेवा कार्य में पर्यावरणीय उपचार पर ज्यादा जोर था परन्तु बाद में इसके स्थान पर गहन उपचार (Intensive Treatment) और प्रत्यक्ष उपचार (Direct Treatment) का प्रयोग होने लगा, जिसमें मनोवैज्ञानिक कारकों को ज्यादा महत्व प्रदान किया जाने लगा। परिणामस्वरूप फ्रायडियन (Freudian) सिद्धान्त के अन्तर्गत अहम् शक्ति, चिन्ता व रक्षा-युक्तियाँ सम्बन्धी नवीन ज्ञान प्रयोग में लाया जाने लगा। इस तरह अचेतन मन की अपेक्षा अहम् पर ज्यादा जोर दिये जाने के कारण मनोविश्लेषणात्मक प्रविधियों में बदलाव आया। सेवार्थी की वर्तमान यथार्थ स्थिति के साथ ही साथ शैशवकालीन तंत्रिकाताप (Child Neurosis) पर भी जोर दिया जाने लगा और सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य तथा मनोविश्लेषण (दोनों) समान लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु व्यवसाय के रूप में कार्य करने लगे। मनःचिकित्सा, मनोविश्लेषण की अपेक्षा एक आंशिक चिकित्सा है, लेकिन सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य की पुरानी विधि गहन उपचार (Intensive Treatment) की अपेक्षा अधिक विस्तृत उपचार है। इस प्रकार दोनों के मध्य मनःचिकित्सा के मिलाप का स्थान बन गया। वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता और मनोविश्लेषक दोनों ही उपयुक्त प्रशिक्षण के पश्चात् ही मनःस्थिति का अध्ययन कर सकते हैं।

(2) मनःचिकित्सा

व्यवहार एवं मनोवृत्तियों में जरूरी परिवर्तनीय सुधार हेतु मनःचिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। मनःचिकित्सा का आशय मनोवैज्ञानिक उपचार से होता है जिसमें सम्बन्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। अतएव यह दो व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों के फलस्वरूप प्रयोग में आती है। आस्टिन (Austin) के मतानुसार, मनःचिकित्सा में, कार्यकर्ता सेवार्थी सम्बन्धों के अन्यारोपणात्मक पक्षों का विकास एवं प्रयोग, सेवार्थी की अहम् की शक्तियों का प्रयोग, और अहम् में निहित अचेतन अभिप्रेरणाओं का ज्ञान और उनका उपयुक्त प्रयोग, विनाशकारी रक्षा-युक्तियों का आशोधन, तथा पर्यावरण का प्रयोग, आदि प्रविधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं।

आस्टिन ने अपनी पुस्तक में एकरमैन (Ackerman) द्वारा प्रदत्त मनःचिकित्सा की परिभाषा को उद्धृत किया है : "मनःचिकित्सा एक व्यवस्थित अन्तवैयक्तिक कार्यविधि है जिसमें व्यावसायिक योग्यता प्राप्त कार्यकर्ता रोगी के मानसिक कार्यों पर सोद्देश्य नियंत्रित प्रभाव डालता है। इस प्रकार की कार्यविधि का लक्ष्य एक तरफ़ सामाजिक निर्योग्यताओं को समाप्त करना है और दूसरी तरफ व्यक्तित्व का सकारात्मक व स्वस्थ विकास करना है।

मनःचिकित्सा में मुख्यतया दो विचारधाराओं की व्याख्या मिलती है :-

(1) अन्तर्दृष्टि चिकित्सा (Insight therapy) और (2) आलम्बनात्मक चिकित्सा (Supportive Therapy) लेकिन अस्टिन (Austin) ने इन विचारधाराओं के साथ एक तीसरे अनुभाग मध्यवर्ती या प्रयोगात्मक चिकित्सा (Intermediary of Experimental therapy) को जोड़कर व्याख्या की है :-

(क) अन्तर्दृष्टि चिकित्सा (Insight Therapy)

सेवार्थी में अपनी बाधाओं/कठिनाइयों के सन्दर्भ में अन्तर्दृष्टि का विकास करके अहम् में बदलाव लाना इस चिकित्सा पद्धति का लक्ष्य है और संवेगात्मक अनुभवों के जरिये अन्यारोपण की परिस्थितियों द्वारा अहम् शक्ति में विकास करना है। मुख्य समस्यायें जो इस विधि के व्यावहारिक अभ्यास में परिलक्षित होती हैं वह हैं - उपचार के लिए सेवार्थी तथा उसकी केन्द्रीय समस्या के चुनाव सम्बन्धी, सेवार्थी की रक्षा-युक्तियों से प्रभावित अचेतन भावनाओं सम्बन्धी ज्ञान, तथा पर्यावरणीय क्रियाकलापों को शुरू करने के लिए चयन सम्बन्धी ज्ञान आदि। चाहे जो भी हो यह चिकित्सा विधि तंत्रिका ताप एवं चरित्र सम्बन्धी समस्याओं के समाधान हेतु प्रयोग की जाती है।

सेवार्थी के अविवेकी आवेगों को समझने के लिए अन्यारोपणीय सम्बन्धों का प्रयोग किया जाता है ताकि वह अपने व्यवहार का आशोधन कर सके। लेकिन यह प्रयास किया जाना चाहिए कि इस अन्यारोपण को नियंत्रण में रखा जाय और सेवार्थी को अपनी भावनाओं की प्रकृति एवं आकार को समझने हेतु अर्थ-निरूपण की विधियों का आवश्यक रूप से प्रयोग करना

चाहिए। इसका एक उद्देश्य शैशवकालीन स्मृतियों को पुनः सचेतन स्थिति में लाया जाता है तथा अवरोधित संवेगों को मुक्त किया जाता है। इस विवरण से स्पष्ट है कि वैयक्तिक सेवा कार्यकर्ता के प्रशिक्षण के अन्तर्गत मनोविकार विज्ञान का ज्ञान अनिवार्य रूप से प्रदान किया जाना चाहिए। ऐसा इसलिए आवश्यक है क्योंकि सेवार्थी की मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अध्ययन, निदान व उपचार में कार्यकर्ता को इस ज्ञान की मदद लेनी पड़ती है। कार्यकर्ता अपने शिक्षण व प्रशिक्षण में सामाजिक चिकित्सा के पक्षों की जानकारी प्राप्त करता है साथ ही मनोविश्लेषण, अहम् आलम्बन और अन्य मध्यकालीन उपचारों का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करता है। कार्यकर्ता व्यावसायिक मूल्यों और आचार संहिता को ग्रहण करके एक जिम्मेदार व्यक्ति की भूमिका प्रतिपादित कर सके, इसके लिए उसे अपने व्यक्तित्व के आशोधन/परिवर्तनीय सुधार की आवश्यकता पड़ती है।

(ख) आलम्बनात्मक चिकित्सा (Supportive Therapy)

पर्यावरणीय परिस्थितियों के परिणामस्वरूप कुसमोजित अथवा गंभीर तंत्रिकाताप से पीड़ित व्यक्ति को आलम्बन द्वारा उसके व्यक्तित्व और मनोवृत्ति को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। आलम्बनात्मक चिकित्सा में गंभीर सेवार्थियों जिनकी अहम् शक्ति/क्षमता क्षीणता स्पष्ट हो, उनकी अहम् सामर्थ्य की वृद्धि कर कार्यात्मकता को बढ़ाया जाता है। इसका लक्ष्य व्यक्ति के विकार या व्यवधान को रोकना है। सेवार्थी की समस्या का कारण उसके या उसके परिवार के इतर सदस्यों के व्यक्तित्व-दोषों को ही माना जाता है। इसलिए इस विधि में इनके व्यक्तित्व को समझकर मनोविश्लेषणात्मक प्रविधियों के प्रयोग पर ही जोर दिया जाता है। आलम्बनात्मक चिकित्सा के अन्तर्गत सेवार्थी की दोषी/अपराधी भावनाओं को मुक्त करने हेतु अनेक प्रविधियों का उपयोग किया जाता है साथ ही इन प्रविधियों में रक्षात्मक सम्बन्ध तथा सामाजिक सेवाओं का प्रयोग भी शामिल होता है। इस चिकित्सा विधि में अन्यारोपण का ज्ञान एवं सम्पूर्ण पारिवारिक निदान सम्बन्धों का आधार बनता है जिनका प्रयोग सेवार्थी को तनावों से रक्षा तथा व्यवधान से बचाये रखने हेतु किया जाता है। कमजोर अहम् वाले सेवार्थियों के लिए यह चिकित्सा पद्धति अति उपयोगी है।

(ग) मध्यवर्ती या प्रयोगात्मक चिकित्सा (Experimental Therapy)

इस चिकित्सा प्रणाली का उल्लेख आलम्बनात्मक एवं अन्तर्दृष्टि चिकित्सा के मिश्रण के रूप में किया जाता है। वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत यह प्रणाली सामाजिक घटनाओं से सम्बन्धित समस्याओं से पीड़ित व्यक्तियों के साथ कार्य के अनुभव से पहचानी जाती है। इसका लक्ष्य भी सेवार्थी के व्यवहार व मनोवृत्तियों में बदलाव लाना होता है। यह बदलाव अन्यारोपण की गतिशीलता का प्रयोग करके सेवार्थी को बेहतर संवेगात्मक अनुभव प्राप्त कराता है। यह उपचार प्राथमिक रूप से अन्योरोपण के प्रयोग एवं जीवन सम्बन्धी परिस्थितियों के माध्यम से

किया जाता है। इसमें सेवार्थी के व्यवहार में बदलाव की प्रत्याशा रहती है और बदलाव दृष्टिगोचर भी होता है। सेवार्थी की अन्यारोपण (Transference) की प्रतिक्रियाओं को स्थायी रूप प्रदान करने हेतु उसको (सेवार्थी) वास्तविकता पर आधारित अनुभव प्रदान किया जाता है और किन्ही परिस्थितियों में अर्थ-निरूपण की प्रविधि के प्रयोग द्वारा सेवार्थी के आत्मज्ञान में वृद्धि की जाती है।

(घ) सामाजिक चिकित्सा

समाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के अन्तर्गत सामाजिक चिकित्सा से अभिप्राय सेवार्थी की समस्या के समाधान में उपयुक्त प्रविधियों के प्रयोग द्वारा भिन्न-भिन्न पर्यावरणीय कारकों को प्रभावित किया जाना और सामाजिक साधनों का प्रभावी प्रयोग किया जाना है। सामाजिक चिकित्सा उसी परिस्थिति में अधिक प्रभावशाली होती है जहाँ समस्या का कारण व स्रोत बाह्य पर्यावरण में विद्यमान होता है। सेवार्थी के अध्ययन के दौरान उसके व्यक्तित्व व परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है। इन्हीं सम्बन्धों के माध्यम से सेवार्थी को अपनी समस्या का विवरण देने में मदद दी जाती है और संवेगात्मक समस्याओं से युक्त सामाजिक समस्याओं के यथार्थ पक्षों पर जोर दिया जाता है।

समाजिक चिकित्सा का मनोवैज्ञानिक लक्ष्य दीर्घकालीन संचित तनावों के प्रभावों को प्रतिबन्धित करते हुए आत्म विश्वास की मनोवृत्तियों की रक्षा करने हेतु प्रोत्साहन देना, पुनः आश्वासन देना, स्पष्टीकरण करना आदि है। इस तरह सामाजिक चिकित्सा के अन्तर्गत उपचारार्थ सम्बन्धों, चिन्ताजन्य दशाओं, अहम् को निर्बल करने वाली बाह्य शक्तियों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में अन्यारोपण(Transferance)

अन्यारोपण अचेतन स्तर पर उत्पन्न होता है और सेवार्थी के अध्ययन, निदान एवं उपचार प्रक्रियाओं के अभ्यास के समय यदा-कदा विद्यमान हो सकता हो। गैरेट (Garrett) के विचार के अनुसार अन्यारोपण कार्यकर्ता को ऐसी विकसित अन्तर्दृष्टि देता है कि वह सेवार्थी के व्यक्तित्व, उसकी कमजोरियों, कठिनाइयों के स्रोत तथा उसकी क्षमता, अहम् शक्ति, जो और अधिक विकास का आधार प्रदान करती है, के प्रति जानकारी कर सके।

भूतकालीन सम्बन्धों पर आधारित अविवेकशील तत्त्वों से युक्त अन्यारोपण (Transferance) की घटना होती है, वह अचेतन मन की अभिप्रेरणा होती हैं, चिकित्सक के सम्मुख आती हैं जिन्हें चिकित्सा की निगाह से समझना एवं नियन्त्रित करना अनिवार्य होता है। अन्यारोपण एक तरह का उत्तेजित अनुभव होता है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने प्राचीन/पूर्व अनुभवों को पुनः अनुभव करता है। शैशवकालीन (infantile) विरोधी (Hostile) और विकृत (Distorted)

भावनाओं को व्यक्त करने के साथ-साथ व्यक्ति अपने वर्तमान और भूतकालीन व्यवहार में और कार्यकर्ता के साथ तथा अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार में चेतन सम्बन्ध निकालने लगता है। इस क्रिया के परिणामस्वरूप वह आत्म-जागरुकता अनुभव करने लगता है और इस प्रकार अपनी कार्यात्मकता व मनोवृत्तियों में सुधार करने लगता है।

अन्यारोपण का पूर्ण विश्लेषण न करके, इसे नियन्त्रण में रखा जाता है और साक्षात्कार कुछ-कुछ अवधि बाद करके, अन्य यथार्थ तथ्यों का प्रयोग किया जाता है। अन्यारोपण व प्रति अन्यारोपण के तत्वों का समुचित रूप से उत्तम प्रबन्ध करके, आलम्बन व स्पष्टीकरण करके भावनाओं का संग्रहण एवं उनकी गतिशीलता में वृद्धि करके उन्हें निर्मुक्त (Release) करना अधिक प्रभावी होता जो समुचित चिकित्सा हेतु लाभप्रद होता है।

लेवी (Levey) के मतानुसार अन्यारोपण सेवार्थी व चिकित्सक के मध्य एक मैत्री होती है। लेकिन इस भेद के साथ कि सेवार्थी की तरफ से इसके अचेतन अविवेकशील तत्वों (जिसके अन्तर्गत किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम के साथ अविश्वास की भावना के साथ-साथ उसे प्रेम देने की रुचि, आदि शामिल होती है।) रक्षा-युक्तियों, चिन्ताओं आदि को वाह्य अभिव्यक्ति हेतु प्रोत्साहन दिया जाता हैं दूसरी तरफ चिकित्सक में भी इसी तरह की अचेतन प्रवृत्तियाँ प्रति-अन्यारोपण के रूप में होती हैं जिन्हें वह चेतन रूप से समझकर नियन्त्रित कर लेता है। इन्ही संवेगात्मक प्रवृत्तियों का समग्र ही सेवार्थी व कार्यकर्ता के मध्य भावनाओं का अन्यारोपण कहलाता है जो अन्तर्वैयक्तिक होता है।

लेवी (levey) ने वैयक्तिक समाज कार्यकर्ता के तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया है : (1) सेवार्थी में अचेतन कारकों का अस्थायी निदान, (2) उपचार के लक्ष्यों को सीमित करके एक अस्थायी उपचार योजना का प्रतिपादन (3) अन्यारोपण का ज्ञान तथा इसका उचित प्रबन्ध करना।

इन उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अन्यारोपण की सहायता से सेवार्थी अचेतन कारकों से सम्बन्धी सूचनायें देता है। निदानात्मक निपुणताओं के विकास से अन्यारोपण में एकरूपता का उपचार के एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। साथ ही साथ उपचार की सीमा को सीमित करके योजना बनाना फलदायी होता है जिसके लिए एक उत्तम निदानात्मक निपुणता आवश्यक होती है।

अन्यारोपण के सूक्ष्म पक्षों को समझना आसान नहीं है। इस हेतु व्यावसायिक शिक्षा एवं पर्यवेक्षित प्रशिक्षण आवश्यक होता है। क्योंकि उपचार के उद्देश्यों के आधार पर व्यवहार व मनोवृत्तियों में बदलाव हेतु अन्यारोपण के प्रयोग को ज्यादा बढ़ाने की जरूरत होती है जिसे एक प्रशिक्षित एवं अनुभवी कार्यकर्ता ही पूर्ण कर सकता है।

सामाजिक वैयक्तिक सेवा–कार्य उपचार में रक्षायुक्ति (Defence Mechanism) एवं प्रतिरोध

(अ) रक्षायुक्ति

जन्म लेने के साथ ही व्यक्ति स्नेह और स्वीकृति की अपनी जरूरतों को पूर्ण करने का प्रयत्न करता रहता है और इनके अपूर्ण होने वाले क्रोध एवं वंचन की भावनाओं का नियंत्रण करने का प्रयत्न करता है। इन भावनाओं का जब तक वह सन्तोषपूर्ण ढंग से प्रकट नहीं कर पाता, वह कठिन स्थिति में रहता है। समाज में रहते हुए वह जानता है कि क्रोध एक अस्वीकृत व्यवहार है अतः वह अपने क्रोध के सन्दर्भ में दोष (Guilt) की भावना से पीड़ित हो जाता है, पर एक स्वस्थ व सक्षम व्यक्ति अपनी ऐसी भावनाओं को इस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न करता है कि उससे अन्य व्यक्तियों को भी नुकसान न पहुँचे। इन समाधानों को उस व्यक्ति की रक्षा-युक्तियाँ (Defence Mechanisms) कहते हैं।

रक्षा-युक्तियाँ अचेतन स्तर पर अविवेकशील सांवेगिक एवं सामान्यतया किसी विशेष परिस्थिति से बचाने के लिए प्रयोग की जाती है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इन रक्षा-युक्तियों की आन्तरिक मानसिक प्राक्रियाओं (Psychiatic process) को विवेचित किया है।

विल्सन (Wilson) राइलैण्ड (Ryland) और फ्रायड (Freud) आदि विद्वानों ने वंचन व क्रोध की भावनाओं के समाधान सम्बन्धी साधनों को स्वस्थ और अस्वस्थ रक्षा युक्तियों के रूप में इस प्रकार से उल्लेख किया है :-

(1) **दमन या शमन :** इसके अन्तर्गत व्यक्ति सचेतन रूप से विचार कर अप्रिय और दुःखद भावनाओं को अपने मस्तिष्क से निकाल बाहर करने का प्रयत्न करता है अथवा विस्मृत करने का प्रयास करता है।

(2) **अवदमन :** जिसमें दबी हुई इच्छाएँ व जरूरतें अचेतन में बैठ जाती हैं और सक्रियता सदैव बनी रहती है। अतिदमन के परिणामस्वरूप शारीरिक व मानसिक लक्षण विकसित हो जाते हैं।

(3) **उदात्तीकरण :** इसके अन्तर्गत एक उद्देश्य के स्थान पर दूसरे उद्देश्य अपनाते हैं एक आवश्यकता को दमित करते हैं तो समाज द्वारा मान्य आवश्यकता को अपनाते हैं। यह एक प्रतिपूरक क्रियातंत्र युक्ति (Compensation Mechanism) है जो चेतन नियंत्रण का औचित्य स्थापन करता है जिसके द्वारा अस्वीकृत इच्छाओं को अपनी संतुष्टि के लिए स्वीकृत साधनों द्वारा पूर्ण करते हैं।

(4) **प्रतीकीकरण :** यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज द्वारा कम स्वीकृति प्राप्त इच्छाओं की संवेगात्मक संतुष्टि एवं अन्य माध्यम से पूर्ण करने का प्रयास करता है।

(5) **विस्थापन** : इसमें व्यक्ति मूल दुःखद भावनाओं के स्रोत की अपेक्षा किसी अन्य व्यक्ति अथवा अन्य वस्तु के प्रति अपने बैर भाव को व्यक्त करता है।

(6) **प्रक्षेपण** : इसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने असफल एवं दुःखदायी भावनाओं को दूसरे व्यक्तियों पर आरोपित करता है।

(7) **तादात्मीकरण** : यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं, विचारों व गुणों को अपने में ग्रहण करने लगता है और दूसरों की सफलता अथवा विफलता के साथ आत्मसात करते हुए उसी के अनुरूप कार्य व व्यवहार करता है।

(8) **प्रतिगमन** : यथार्थ स्थिति या स्तर से निम्न स्तर का कार्य अथवा व्यवहार करने को प्रतिगमन कहा जाता है।

(9) **युक्तिकरण** : अपनी कमी के कारण जब व्यक्ति इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाता तो उसमें हीन भावना पैदा होती है और दुःख होता है। वह अपनी इच्छापूर्ति की भावना को स्वीकृति प्रदान नहीं करता। मन में जब झूठा तर्क विश्वसनीय ढंग से बैठ जाता है, तो इसे रक्षा युक्ति से रूप में स्वीकृति प्रदान किया जाता है। युक्तिकरण की अधिकता के परिणामस्वरूप मानसिक असामान्यता हो जाती है।

(10) **प्रतिस्थापन** : इसके अन्तर्गत पूर्व निर्धारित और इच्छित मौलिक उद्देश्यों की जगह दूसरे उद्देश्यों को प्रतिस्थापित करके सन्तुष्टि प्राप्त कर ली जाती है तथा वर्तमान स्थितियों में प्रतिस्थापित नये उद्देश्यों को सम्पूर्ण स्वीकृति एवं मान्यता प्रदान की जाती है।

सन्दर्भ

1. बाबर्स स्वीफोन, "दि नेचर एंड डिफिनीशन ऑफ सोशल वर्क" प्रिन्टेड इन थ्री पार्ट्स इन जरनल ऑफ सोशल केस वर्क (अक्टूबर, नवंबर एंड दिसम्बर) 1949.
2. देसाई मनु, एन, सोशल केस वर्क एण्ड कल्चरल प्रॉबल्म, दि इंडियन जनरल ऑफ सोशल वर्क, बांबे टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, दिसम्बर 1954.
3. हॉलिस फ्लोरेंस, सोशल वर्क इयर बुक, अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्कर्स, न्यूयॉर्क, 1945.
4. पर्लमैन एच.एच., सोशल केस वर्क, ए प्रॉब्लम सॉल्विंग प्रॉसेस, शिकागो, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1957
5. रिचमण्ड मैरी, हॉट इन सोशल केस वर्क, दि रसॅल सेज फाउन्डेशन न्यूयॉर्क, 1922
6. टाफ्ट, दि फेमिली, वाल्यूम-। नं0 5, पृष्ठ-1

अध्याय-9

सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य

सामूहिक सेवाकार्य समाजकार्य की एक महत्वपूर्ण प्राथमिक विधि है, जिसके द्वारा व्यक्तियों को सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति में मदद दी जाती है। इसके द्वारा सामूहिक क्रियाकलापों के माध्यम से कार्यकर्त्ता विभिन्न व्यक्तियों में पारस्परिक रचनात्मक संबंध विकसित करने का प्रयास करता है। व्यक्ति एवं संगठित सामूहिक प्राणी है जिसका दिन प्रतिदिन पारस्परिक अन्तर्क्रियाओं के द्वारा समाजीकरण होता रहता है। अतः मानवीय प्रणियों के विकास में समूह के अनुभवों का अत्यधिक महत्व है। समूह कार्य का प्रारंभ वाई0एम0सी0ए0, वाई0डब्ल्यू0सी0ए0 तथा स्काउट एंड गाइड आदि समूहों की आत्म सहायता संबंधी कार्यवाहियों से हुआ। 1935 में नेशनल काफ्रेन्स ऑफ सोशल वर्क के एक नवस्थापित विभाग के चेयरमैन श्री ग्रेस क्वायल ने यह स्पष्ट किया कि सामूहिक सेवाकार्य भी समाजकार्य की एक अलग और स्वंतत्र विधि है। 1940 में सामूहिक कार्य ने समाजकार्य की एक विधि के रूप में पूर्णतया मान्यता प्राप्त कर ली। ग्रेस क्वायल, क्लास केसर, विल्वर न्यून, लेटर जी, विल्सन एवं हेलेन फिलिप्स आदि के प्रयासों से सामूहिक सेवा कार्य के क्रियाकलापों का मुख्य केन्द्र आम समझदारी, अन्तर्दृष्टि एवं व्यवहार संबंधी परिवर्तन हो गया। आज अमेरिका के बहुत से स्कूलों में सामाजिक सामूहिक कार्य का अध्यापन किया जा रहा है। वहाँ पर अमेरिकन एसोसियेशन आफ ग्रुप वर्कर्स की स्थापना हुयी, जिसमें ''ग्रुप'' नामक एक व्यवसायिक पत्रिका का प्रकाशन 1950 में प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे यू.एस.ए., ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा एवं दुनिया के दूसरे देशों में इसकी अलग से पहचान बन गयी। 1960 में प्रसिद्ध पुस्तक ''थ्योरी ऑफ सोशल वर्क प्रैक्टिस'' में एक एकीकृत विचारधारा का प्रस्तुतीकरण किया, जो ग्रुपवर्क, केस वर्क और समुदाय संगठन तीनों में लागू होता है। 1970 के पश्चात सामूहिक सेवा कार्य की विधि को व्यापक रूप से प्रसार मिला।

भारत में भी समाजकार्य का एक लंबा इतिहास है और हम देख रहे हैं कि समूह उपागम का प्रयोग धार्मिक शिक्षण, स्वतंत्रता आन्दोलन, सामाजिक सुधार, श्रमदान एवं भूदान आन्दोलन में हुआ।

भारत में समाजकार्य शिक्षण के क्रम में जब 1936 में टाटा इन्स्टीट्यूट की स्थापना बंबई में हुयी, उसी समय से समाज कार्य शिक्षण के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में ''ग्रुप वर्क'' का भी शिक्षण प्रारंभ हुआ। बाद में डेलही स्कूल ऑफ सोशल वर्क तथा काशी विद्यापीठ आदि

संस्थाओं की स्थापना के पश्चात इस शिक्षण कार्य को विशेष बढ़ावा मिला। हमारे देश में एसोसियेशन ऑफ स्कूल ऑफ सोशल वर्क तथा टेक्नीकल कोऑपरेशन मिशन (यू.एस.ए.) के सहयोग से समाज विज्ञानों के विकास के फलस्वरूप यह परिलक्षित होने लगा कि व्यक्ति सामूहिक जीवन में भाग लेकर, अन्य सदस्यों के साथ सर्जनात्मक सम्बन्ध स्थापित करके, जन सामान्य के कल्याण संबंधी क्रिया कलापों में सहभाजन कर, सामुदायिक एवं अपने स्वयं के हितों में अनुरूपता स्थापित करके अपना समुचित विकास कर सकता है। इस प्रकार सामूहिक सेवा कार्य को मान्यता प्राप्त होने लगी।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य का वर्तमान विकास

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य के वर्तमान विकास की व्याख्या निम्न चार मुख्य क्षेत्रों के अन्तर्गत की गई है :-

(1) व्यावसायिक शिक्षा का निरूपण (The Formulation of Professional Education)

(2) व्यावसायिक संगठन का सृजन (The Creation of Professional Organization)

(3) नवीन क्षेत्रों में सामूहिक सेवा कार्य का विस्तार (Extension of Group Work in to New Areas)

(4) सामूहिक सेवा कार्य के अर्थ एवं उपयोग की परिवर्तनशील अवधारणाएँ (To Changing Concepts of its Meaning and Use)

(1) व्यावसायिक शिक्षा का निरूपण (The Formulation of Professional Education)

अमेरिका में समाज कार्य की व्यावसायिक शिक्षा में उत्तरोत्तर प्रगति हुई और सामूहिक रूप से यह प्रयत्न हुआ कि व्यावसायिक शिक्षा के प्रयोग की जरूरत पर बल दिया जाये। 1920 में ग्रुप सर्विस वर्क (Group Service Work) नामक पहला पाठ्यक्रम वेस्टर्न रिजर्व यूनिवर्सिटी (Western Reserve University) में शुरू किया गया। 1920 में सामूहिक सेवाकार्य परिभाषित हुआ और संस्थाओं द्वारा इसे मान्यता मिली। 1920 व 1930 के आसपास सामूहिक सेवा कार्यकर्ताओं द्वारा अपने कार्यों को परिभाषित किया गया तथा समान अवधारणाओं का उल्लेख होने लगा। 1925 और 1935 के मध्य समाज सेवा विद्यालयों में जब सामूहिक सेवा कार्य का अध्ययन होने लगा तब व्यक्ति के व्यवहार को समझने हेतु मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाने लगा। सम्मिलित प्रयत्नों के परिणामस्वरूप समाज कार्यकर्ताओं हेतु समान पाठ्यक्रमों का भी सृजन किया गया। हालाँकि अमेरिका में काउन्सिल ऑन सोशल वर्क एजुकेशन (Council on Social Work Education) की स्थापना के पूर्व ही सामूहिक सेवा कार्य का पाठ्यक्रम विकसित हो चुका था, फिर भी समाज कार्य की शिक्षण संस्थाओं को मान्यता दिलाने

में इस काउन्सिल की महत्ता अधिक थी और आज भी है। सामूहिक सेवा कार्य के पाठ्यक्रम समस्त संस्थाओं में स्नातकोत्तर स्तर पर तो चलाये जा रहे हैं, पी-एच.डी. स्तर के भी पाठ्यक्रम अनेक शिक्षा संस्थाओं में उपलब्ध हैं। समाज कार्य शिक्षण में परिवर्तन के फलस्वरूप सामूहिक सेवा कार्य की शिक्षा भी प्रभावित हुई है। हर एक मान्यता प्राप्त समाज कार्य शिक्षण संस्थाओं में कम से कम सामूहिक सेवा कार्य का एक पाठ्यक्रम निश्चित रूप से उपलब्ध है जो समस्त विद्यार्थियों को पढ़ना होता है। इस क्षेत्र में नये-नये प्रयोगों के परिणामस्वरूप सामूहिक प्रक्रिया की गत्यात्मकता (Dynamics of Group-Process) का ज्ञान और इसका व्यावसायिक सम्बन्धों में प्रयोग करने की कुछ योग्यता समाज कार्यकर्ता के लिए आवश्यक मानी जाने लगी है। परिवर्तन के दौर में पिछले कुछ दशकों में सामान्य (Generic) पाठ्यक्रम में तीनों मुख्य पद्धतियों की एकीकृत अवधारणा को मान्यता मिलने लगी है, ऐसा होने से समेकित अवधारणा (Integrated Approach) की मान्यता में वृद्धि होती जा रही है इस प्रकार सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में सेवार्थी के सामूहिक सम्बन्धों और सामुदायिक संगठन में सामूहिक प्रक्रिया की अनिवार्यता को अधिकाधिक महत्व प्रदान किया जा रहा है।

भारतवर्ष में समाज कार्य की शिक्षा का स्वरूप ''सामान्य'' (Generic) है। हालाँकि विशेषीकरण की सुविधाएँ तो हैं लेकिन यह समाज कार्य के क्षेत्रों के अनुरूप विकसित की गई हैं। समाज कार्य की अन्य पद्धतियों के पाठ्यक्रम की ही भाँति सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के पाठ्यक्रम को भी समान महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। 1982 में उदयपुर में यू.जी.सी. वर्कशाला (U.G.C. Workshop) के अन्तर्गत यह निश्चय हुआ कि समाज कार्य की शिक्षा में सम्पूर्ण पद्धतियों के पाठ्यक्रम के साथ-साथ क्षेत्रों के अनुसार विशेषीकरण में शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्रदान करने की विधि जारी रहे। इस प्रकार समाज कार्य के शिक्षण-प्रशिक्षण में समस्त विद्यार्थियों हेतु सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के पाठ्यक्रम की महत्ता आज भी बरकरार है।

समाज कार्य की शिक्षा प्रदान करने वाली सभी संस्थाएँ एक मुख्य पद्धति के रूप में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य को एम.ए. उपाधि के पाठ्यक्रम में शामिल किये हुए हैं। सुविधाओं की उपलब्धता के अनुसार क्षेत्रीय व्यावहारिक कार्य की व्यवस्था भी प्रदान की जाती है लेकिन अन्य पद्धतियों के पृथक् सामूहिक सेवा कार्य पर आधारित किसी विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था का अभाव है।

(2) व्यावसायिक संगठन का सृजन (The Creation of Professional Organization)

अमेरिका में 1946 में स्थापित अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ ग्रुप वर्कर्स (American Association of Group Workers) के रूप में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ता संगठित हुए। यह संगठन समाज कार्य के अन्य राष्ट्रीय संगठनों का सदस्य है, लेकिन भारतवर्ष में इस

तरह का कोई अलग संगठन नहीं है। समाज कार्य में शिक्षित एवं प्रशिक्षित कार्यकर्ता समाज कार्य के किसी भी व्यावसयिक संगठन की सदस्यता ग्रहण कर सकता है।

(3) नवीन क्षेत्रों में सामूहिक सेवा कार्य का विस्तार (The Extension of Group Work into New Areas)

अमेरिका के साथ-साथ भारत में भी सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य का प्रयोग नये-नये क्षेत्रों जैसे बाल निर्देशक केन्द्रों, चिकित्सालयों, बाल संस्थाओं आदि में किया जाने लगा है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामूहिक रहन-सहन की हर परिस्थिति में सामूहिक सेवा कार्य का प्रयोग किया जा सकता है। सावकाश (Leisure time) कार्यक्रम, बच्चों व युवकों के सामूहिक मनोरंजन के कार्य करने वाली सामाजिक संस्थाओं में इस पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है।

(4) सामूहिक सेवा कार्य के अर्थ एवं उपयोग की परिवर्तनशील अवधारणाएँ (The Changing Concepts of its Meaning and Use)

सामूहिक प्रक्रिया में अन्वेषण के परिणामस्वरूप सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास में नवीन अवधारणाओं का प्रभाव पड़ा है। शिक्षा के क्षेत्र में सिद्धान्तों व पद्धतियों को सामूहिक सेवा कार्य में शामिल किया गया है। इसी तरह समाजशास्त्र के क्षेत्र में भी जो सामूहिक प्रक्रिया की नवीन जानकारी सामने आयी है, उसे भी इसमें शामिल किया गया है। मानव व्यवहार को जानने के लिए मनोरोग विज्ञान के क्षेत्र का प्रभाव भी इस पर पड़ा जिसके परिणामस्वरूप सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास पर तीन प्रभाव पड़े :- (क) समूह में व्यक्ति के व्यवहार को समझने में नवीन ज्ञान का प्रयोग, (ख) व्यक्ति के व्यवहार पर सामूहिक प्रक्रिया के प्रभाव का अध्ययन और (ग) सामूहिक कार्यकर्ता की भूमिका का अध्ययन। मुख्य रूप से इसके अन्तर्गत समूह और सदस्यों के साथ सम्बन्धों का अध्ययन किया जाने लगा।

विद्वान खिडुंका (Khinduka) ने भारत में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की स्थिति की महत्वपूर्ण समीक्षा करते हुए कहा है कि टी.सी.एम. (T.C.M.) द्वारा आयोजित गोष्ठियों ने सामूहिक सेवा कार्य के पाठ्यक्रम के सृजन में उचित योगदान दिया है किन्तु उससे सम्बन्धित भारतीय साहित्य और अन्वेषण में कमी तथा समाज कार्य व्यवसाय की नवीनता के कारण सामूहिक सेवा कार्य पर्याप्त विकसित नहीं हो सका है।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की परिभाषा
(Definition of Social Group Work)

यह समाज कार्य की दूसरी मुख्य पद्धति/प्रणाली है। ट्रेकर के अनुसार प्रणाली का अर्थ है समूहों में व्यक्तियों के साथ सेवा कार्य करने का एक क्रमबद्ध, व्यवस्थित, लक्ष्य प्राप्ति के लिए नियोजित चेतन, कार्यविधि व अभिकल्पित साधन और विधि। वाह्य तरह से एक प्रणाली

कोई भी कार्य करने का एक तरीका होता है, लेकिन इस कार्य के पीछे हमेशा ज्ञान, बुद्धि तथा सिद्धान्तों की एक संगठित व्यवस्था परिलक्षित होगी। व्यक्ति की सहायता करना ही सामूहिक सेवा कार्य का लक्ष्य होता है किन्तु इस सहायता में समूह एक माध्यम होता है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने सामूहिक सेवा कार्य की पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ दी हैं, लेकिन ये सभी परिभाषाएँ एक समान विषयवस्तु लिए हुए हैं।

विल्सन एवं राइलैण्ड (Wilson & Ryland) के मतानुसार : सामूहिक सेवा कार्य एक प्रक्रिया व एक प्रणाली है जिसके माध्यम से सामूहिक जीवन एक कार्यकर्ता द्वारा प्रभावित होता है जो परस्पर व्यवहार सम्बन्धी प्रक्रिया को प्रजातांत्रिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सचेत रूप से निर्देशित करता है।

हैमिल्टन (Hamilton) के अनुसार : "सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य एक मनःसामाजिक प्रक्रिया है जो नेतृव्य की योग्यता तथा सहकारिता के विकास से उतनी ही सम्बन्धित है जितनी सामाजिक लक्ष्य के लिए सामूहिक अभिरुचियों के निर्माण से।"

अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ ग्रुप वर्कर्स (American Association of Group Workers) द्वारा सन् 1948 में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की परिभाषा सम्बन्धी एक प्रारूप निर्मित किया गया जिसका उल्लेख कई लेखकों ने किया है। उसके अनुसार सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य एक पद्धति है जिसके द्वारा सामूहिक कार्यकर्ता भिन्न-भिन्न प्रकार के समूहों को इस प्रकार कार्य करने के योग्य बनाता है कि सामूहिक परस्पर क्रिया कलाप तथा कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलाप, व्यक्ति की सम्वृद्धि एवं वांछित सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु योगदान करें।

कर्ल एडम (Curle Adam) की परिभाषा में : समाज कार्य के एक पक्ष के रूप में, सामूहिक सेवा कार्य का उद्देश्य, समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास तथा उनके मानवीय सम्बन्धों को बढ़ाना बताया गया है और सामूहिक सेवा कार्य को एक ऐसी पद्धति बताया गया है जिसके माध्यम से व्यक्ति के अन्दर ऐसी क्षमताओं का निर्मोचन (Release) किया जाता है जो उसे अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क बढ़ाने की ओर निर्देशित होती है।

कोयल (Coyle) के मतानुसार, सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य, वैयक्तिक सेवा कार्य, सामुदायिक संगठन, प्रशासन तथा शोध की तरह समाज कार्य अभ्यास के एक मौलिक पक्ष के रूप में मान्य किया जाता है। इसकी पृथक विशेषताएँ इस यथार्थता पर निर्भर है कि सामूहिक सेवा कार्य का प्रयोग, समूह अनुभव के अन्तर्गत व्यक्ति के विकास और समृद्धि के लिए एक साधन स्वरूप किया जाता है तथा सामूहिक कार्यकर्ता प्रजातान्त्रिक समाज की उन्नति हेतु सामाजिक जिम्मेदारी और सक्रिय नागरिकता के विकास से सम्बन्धित है।

ट्रेकर (Trecker) ने सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य को बेहतर ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, उनके अनुसार, "सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य एक पद्धति है, जिसके द्वारा

व्यक्तियों की समााजिक संस्था के परिवेशों में समूहों में एक कार्यकर्ता द्वारा मदद की जाती है। यह कार्यकर्ता कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलापों में व्यक्तियों की अन्तःक्रियाओं का मार्ग-दर्शन करता है ताकि वे दूसरों से सम्बन्ध स्थापित कर सकें और वैयक्तिक, सामूहिक व सामुदायिक विकास के ध्येय से अपनी जरूरतों व क्षमताओं के अनुसार संवृद्धि के सुअवसरों का अनुभव कर सकें।"

ट्रेकर ने उपर्युक्त परिभाषा को 5 भागों में विभाजित करके विश्लेषित किया है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है :-

पहले भाग में, सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य को एक पद्धति कहा गया है जो वैज्ञानिक ज्ञान, समूह बोध, सिद्धान्त व कौशल पर आधारित है अथवा इन सबका समिश्रित समावेश है।

द्वितीय भाग में, इस पद्धति द्वारा अभिकरण के तत्वावधान में निर्मित समूहों में व्यक्तियों की सहायता करने की बात कही गयी है। ये व्यक्ति समुदाय द्वारा संगठित अभिकरणों में बने समूहों के माध्यम से सहायता का प्रयोग करते हैं। इस पद्धति का प्रयोग अभिकरण के बाहर समुदाय में निर्मित समूहों में किया जा सकता है।

तीसरे भाग में, मार्ग-दर्शन से सम्बन्धित बातें हैं। सामूहिक कार्यकर्ता स्वीकृति, वैयक्तीकरण, कार्यक्रम व लक्ष्य निर्धारण में समूह की सहायता, प्रेरणा एवं निर्देशन, संगठन और साधनों के उपयोग पर आधारित सम्बन्धों द्वारा समूह का मार्ग-दर्शन करता है।

चौथे भाग में, व्यक्तियों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करना व अपनी जरूरतों तथा क्षमताओं के अनुरूप विकास के सुअवसरों का अनुभव करना इस सहायता का लक्ष्य है।

पांचवे एवं अन्तिम भाग में इस सहायता का लक्ष्य व्यक्ति, समूह व समुदाय का विकास है। इसके अन्तर्गत एक प्रजातांत्रिक समाज के लक्ष्य के अनुरूप व्यक्ति व समूह के व्यवहार में बदलाव लाने के लिए यह सहायता प्रदान की जाती है।

सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य का अर्थ एवं प्रकृति

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन के आलोक में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अर्थ व प्रकृति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है :-

- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य एक पद्धति व एक प्रक्रिया है जो वैज्ञानिक ज्ञान, प्रविधि, सिद्धान्तों व कुशलता पर आधारित है।
- सामूहिक सेवा कार्य समूह में व्यक्ति पर जोर देता है।
- यह अभिकरण के तत्त्वावधान में किया जाता है।
- व्यक्ति व समूह का विकास करना इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य है। समूह के माध्यम

से व्यक्ति के विकास सम्बन्धी सहायता प्रदान की जाती है।

- इस सेवा कार्य में समूह स्वयं एक उपकरण होता है।
- प्रशिक्षित कार्यकर्ता अपने ज्ञान व कौशल का प्रयोग करके कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलापों में समूह के भीतर समस्त अन्तःक्रियाओं का मार्ग-दर्शन करता है ताकि समूह के सदस्यों में रचनात्मक सम्बन्धों में वृद्धि, पारस्परिक सहयोग की अनुभूति, अपने व्यक्तित्व में नेतृत्व की भावना का विकास व व्यवहार में समुचित बदलाव आ सके।
- इस पद्धति का प्रयोग व्यक्ति द्वारा सामूहिक अनुभवों में सर्जनात्मक सामाजिक सम्बन्धों द्वारा एक माध्यम के रूप में किया जाता है।
- इस पद्धति के अन्तर्गत समूहों के जरिये व्यक्ति की आन्तरिक क्षमताओं का निर्मोचन (Release) करके व्यक्तियों के बीच सर्जनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में मदद की जाती है ताकि उनके व्यक्तित्व का विस्तृत विकास हो सके।
- यह एक पद्धति है, जिसके द्वारा कार्यकर्ता भिन्न-भिन्न तरह के समूहों को इस प्रकार कार्य करने में मदद करता है कि उनके कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलाप व अन्तःक्रियायें वांछित सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति कर सकें तथा साथ ही व्यक्तियों का विकास भी करें।
- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास का केन्द्रीय (Core) तत्व सामूहिक सम्बन्धों का सचेतन व निर्देशित प्रयोग है।
- इस पद्धति के अन्तर्गत-समूह में व्यक्ति तथा समुदाय के भाग के रूप में समूह केन्द्र-बिन्दु है। इसका लक्ष्य दोनों का विकास है।
- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य समूहों में व्यक्तियों के साथ क्रमबद्ध, व्यवस्थित व नियोजित ढंग से सहायता कार्य करने की एक पद्धति है।

ट्रेकर (Trecker) के मतानुसार व्यक्ति सम्पूर्ण समाज कार्य का केन्द्र-बिन्दु है। यह व्यक्ति समूह का एक अंग होते हुए समूह व समूह के दूसरे सदस्यों से सम्बद्ध होता है। सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के 4 (चार) आधारभूत स्तम्भ हैं इन स्तम्भों का प्रयोग एक प्रजातांत्रिक समाज और संस्कृति के मूल्यों पर आधारित होता है।

ये चार प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित हैं :-

(१) **समूह** – समूह के सभी सदस्य,

(२) **समुदाय** – आवश्यकताएं, साधन, सेवायें, शक्तियाँ व मूल्य इत्यादि।

(३) **अभिकरण** – उद्देश्य, कार्य, कार्यक्रम, साधन तथा सुविधाएँ,

(४) **सामूहिक कार्यकर्ता** – वैज्ञानिक ज्ञान, बोध, सिद्धान्त एवं निपुणताएँ आदि।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य का दर्शन
(Philosophy of Social Group Work)

1- जन्म लेने के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति समूहों का सदस्य बन जाता है और समूहों का वृत्त (Circle) हमेशा बढ़ता जाता है। व्यक्ति (सदस्य) परिवार जैसे- प्राथमिक समूहों, जाति जैसे द्वितीयक समूहों से सम्बद्ध रहकर अपना सामूहिक सम्पर्क बढ़ाता जाता है। व्यक्ति का प्रभावी जीवन इन भिन्न-भिन्न समूहों में रहने, कार्य करने तथा अपनी भूमिकाओं का उचित ढंग से निर्वहन करने की योग्यता पर निर्भर करता है। यह कथन सत्य ही लगता है कि - ''सामूहिक अनुभवों की आवश्यकता एक आधारभूत व सार्वभौमिक (Universal) आवश्यकता है।'' इसी सम्बन्ध में ट्रेकर (Trecker) ने बताया कि मानवीय जरूरतों का कोई भी दर्शन क्यों न विकसित हो जाय, सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की यह केन्द्रीय धारणा है कि सभी व्यक्तियों को विभेदक सामूहिक अनुभवों की जरूरत पड़ती है। इसी प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति भिन्न-भिन्न तरह के सामूहिक समायोजन करने पर विवश हो जाता है। सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य भिन्न-भिन्न स्तरों पर यह सामूहिक अनुभव प्रदान करने का प्रयत्न करता है। स्लेवसन (Slavson) के अनुसार, ''सामूहिक अनुभव व्यक्तित्व के आधार हैं इनके बिना मानव निम्न स्तर पर पशु समान रहेगा अथवा शैशवकालीन अहम् केन्द्रता की अवस्था में सीमित व पृथकत्व (Isolation) में रहेगा।

2- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत कार्यकर्ता यह स्वीकार करते हैं कि व्यक्तियों के विकास एवं उनके व्यक्तित्व व मनोवृत्तियों में बदलाव लाने में मदद की जा सकती है। यह मदद सामाजिक अभिकरणों के जरिये समूह के अन्य व्यक्तियों (सदस्यों) के साथ अनुभव के सुअवसर प्रदान कर दी जाती है। जिस समूह में एक निपुण कार्यकर्ता उपलब्ध होता है उस समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास बेहतर होता है।

समाजकार्य की अन्य पद्धतियों की ही भांति सामूहिक सेवा कार्य भी व्यक्तियों एवं समूहों के संकलनवादी सिद्धान्त (Eclectic Theory) पर आधारित है। बाल्यावस्था के अनुभव व्यक्तित्व के विकास को प्रभावकारी ढंग से प्रभावित करते हैं, अतः व्यक्ति को समझने हेतु इस बात पर जोर दिया जाता है। यद्यपि व्यक्ति में बदलाव होते रहते हैं इसलिए प्रारम्भिक बालकाल के अनुभवों के साथ ही साथ बाद में अनुभव भी अति महत्वपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार अचेतन अभिप्रेरणाएं तथा सचेतन व विवेकपूर्ण क्षमताएं भी व्यक्ति की क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार इन्हें भी जानने व समझने का प्रयत्न किया जाता है।

विभिन्न विद्वानों के मतानुसार-मानव जीवन की आठ अवस्थाएं होती हैं जिनकी कुछ विशेषताएँ होती हैं। समूह के माध्यम से सामूहिक कार्यकर्ता व्यक्तियों के साथ कार्य करते हुए

इस तथ्य को अच्छी तरह जानने का प्रयत्न करता है कि विकास के इन विभिन्न चरणों में उसका विकास संतोषपूर्ण ढंग से हुआ है अथवा नहीं। व्यक्ति का जीवन काल तीन प्रकार के समूहों में व्यतीत होता है : (क) प्राथमिक समूह (Primary Group) अर्थात परिवार जिनमें उसका जन्म होता है, (ख) स्वतंत्र रूप से चुना गया मित्रता समूह (Friendship Group) और (ग) अति आवश्यक अभिरुचि समूह (Vital Interest Group)। कार्यकर्ता को इस ज्ञान का प्रयोग करना होता है।

3- व्यक्ति, समूहों के माध्यमों से विकसित होते हैं ऐसी सामूहिक सेवा पर कार्यकर्ताओं का विश्वास है।

4- चूँकि सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य मूलतः व्यक्तित्व विकास से सम्बन्धित होता है, सामूहिक कार्यकर्ताओं का यह विश्वास है कि इस लक्ष्य की पूर्ति अभिकरणों के माध्यम से समूह निर्माण करके अथवा पूर्व निर्मित समूहों के चेतन प्रयोग से ही हो सकती है।

5- सामूहिक सेवा कार्यकर्ता यह विश्वास करता है कि परस्पर स्वीकृति की भावना एवं बराबरी का रिश्ता रखने वाले हमारे घनिष्ठ मित्र, हमारी आदतों, मनोवृत्तियों तथा प्रत्युत्तरों के प्रतिमानों के सृजन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

6- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ताओं का यह मानना है कि प्रजातांत्रिक व्यवहार, ज्ञान प्राप्त कर एक सीखा हुआ व्यवहार होता है। प्रजातंत्र के अन्तर्गत दो मुख्य बातें समझने की होती हैं प्रथम, व्यक्ति प्रजातंत्र का अर्थ समझ सके तथा द्वितीय, उन्हें प्रजातान्त्रिक जीवन व्यतीत करने का सुअवसर मिल सके। सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत इसी प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया का प्रयोग व्यक्तियों में इस सिद्धान्त के विकास के ध्येय से किया जाता है।

7- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ताओं की यह मान्यता है कि सामाजिक जीवन में स्वीकृति तथा अस्वीकृति की बात मात्र दो व्यक्तियों के बीच न होकर व्यक्तियों एवं समूहों के बीच भी हो सकती है क्योंकि व्यक्ति समूह में रहते हैं और समूह द्वारा स्वीकार भी किये जाते हैं और अस्वीकार भी कर दिये जाते हैं। पारस्परिक स्वीकृति के अभाव में तो सामाजिक जीवन ही महत्वहीन हो जाता है। यह स्वीकृति समूह में परस्पर प्रभाव द्वारा अथवा सदस्यों द्वारा भावनाओं, इच्छाओं या मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति से होने वाली अन्तःक्रियाओं द्वारा प्राप्त हो सकती है।

8- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य पद्धति में व्यक्तियों की जरूरतों और अभिरूचियों के सम्बन्ध में ज्यादा से ज्यादा लचीलापन रखा जाता है क्योंकि व्यक्ति का महत्व क्रिया-कलापों से ज्यादा होता है। अतः सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में दृढ़ता (Rigidity), पूर्ण निर्धारित प्रतिमानों (Standards) एवं अधिरोपित कार्यक्रमों (Imposed Programmes) का कोई स्थान नहीं है।

9- सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य प्रथमतः लक्ष्य प्राप्ति का साधन होता है और यह लक्ष्य व्यक्ति का विकास है।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के उद्देश्य
(Objective of Social Group Work)

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के उद्देश्यों से अभिप्राय है कि हमें क्या करने की चाहत है? अतः जिस कार्य को करने की चेष्टा करते हैं उसे वक्तव्य (Statement) अथवा निरूपण (Formulation) के रूप में उद्देश्यों की व्याख्या द्वारा व्यस्त किया जाता है। सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में उद्देश्य और कार्य-पद्धतियाँ सदा परस्पर सम्बन्धित होती हैं। स्पष्ट उद्देश्यों द्वारा कार्यकर्ता को उचित मार्गदर्शन एवं अपने कार्यों का मूल्यांकन करने में मदद मिलती है, साथ ही सेवा प्रदान के स्वरूप का निर्धारण करने में भी सहायता मिलती है।

अनेक विद्वानों ने सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के उद्देश्यों का विवेचन निम्नांकित रूप से किया है :-

1. सामाजिक सामूहिक कार्य का महत्वपूर्ण एवं अनिवार्य उद्देश्य प्रजातांत्रिक विकास करना है।

2. क्वॉयल (Coyle) के अनुसार उसके निम्नलिखित उद्देश्य है :-

(अ) व्यक्तियों की आवश्यकताओं एवं क्षमताओं के अनुसार विकास का अवसर प्रदान करना

(ब) व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों, समूहों तथा समुदायों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में मदद देना,

3. विल्सन एवं राइलैण्ड (Wilson & Ryland) के अनुसार उसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं:-

(अ) समूह के माध्यम से व्यक्तियों को संवेगात्मक संतुलन बनाये रखते हुए उन्हें शारीरिक रूप से स्वथ्य रखना, तथा

(ब) समूह के उन उद्देश्यों की प्राप्ति में मदद करना जो आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक प्रजातन्त्र हेतु जरूरी हैं।

4. ट्रेकर (Trecker) ने मत व्यक्त किया है कि सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के उद्देश्य समाज कार्य के उद्देश्यों से अति गहनता से सम्बद्ध है इसलिए सामूहिक सेवा कार्य के उद्देश्यों की व्याख्या समस्त समाज कार्य के संदर्भ में की जा सकती है। ये उद्देश्य समाज कार्य की निम्नलिखित विशेषताओं से प्रभावित होते हैं :-

(अ) समाज कार्य एक सहायक क्रिया (Helping Activity) है जिसका उद्देश्य उन

समस्याओं के निवारण में मदद करना है जो व्यक्तियों, परिवारों तथा समूहों को न्यूनतम वांछित सामाजिक व आर्थिक स्तर प्राप्त करने में बाधक होती है।

(ब) समाज कार्य एक सामाजिक क्रिया (Social Activity) है जो किसी राजकीय अथवा गैर-राजकीय अभिकरण या दोनों के तत्त्वावधान में समुदाय के उन सदस्यों के लाभ के लिए की जाती है जिन्हें मदद की जरूरत होती है न कि किसी अभ्यासकर्ता के व्यक्तिगत लाभ के लिए।

(स) समाज कार्य एक सम्पर्क (Liaison) स्थापित करने की क्रिया है जिसके द्वारा सुविधाओं से वंचित व्यक्ति, परिवार तथा समूह अपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उपलब्ध सामुदायिक साधनों का उपयोग करते हैं। ट्रेकर द्वारा समाज कार्य के उद्देश्यों का निर्धारण इन्हीं तीनों क्रिया-कलापों पर आधारित है।

5. प्रो. मिर्जा रफीउद्दीन अहमद के द्वारा भी सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के निम्नांकित उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है : व्यक्तियों के सामाजिक सामंजस्य में वृद्धि, समूह की सामाजिक चेतना को बढ़ाना, व्यक्तित्व विकास के लिए संतोषजनक पारस्परिक अनुभव उपलब्ध कराना, विकास के सर्वोच्च स्तर की उपलब्धता हेतु समूह को अन्य समूहों, अभिकरणों तथा समुदाय के साथ उत्तरदायी व सहकारी सम्बन्ध स्थापित करने में मदद देना, समूह व समुदाय की क्रियाओं में भाग लेने के हेतु व्यक्तियों को सहायता देना, व्यक्तियों में समूह के प्रति एकता की भावना, दूसरे व्यक्तियों की स्वीकृति हासिल करने तथा समूह में स्वयं को सुरक्षित समझने में सहायता करना, व्यक्तियों का विकास, आत्म-प्रकटन तथा सामूहिक जीवन में भागीदारी की योग्यता का विकास सुनिश्चित हो सके, साथ ही व्यक्तियों में अपने व्यवहार के लिए स्वयं अपने आप को जिम्मेदार मानने की प्रवृत्ति विकसित करने में सहायता प्रदान करना है।

6. सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत कार्यकर्ता का लक्ष्य होता है व्यक्तियों के अन्दर सामाजिक सामंजस्य को बढ़ाना तथा समूह में सामाजिक चेतना का विकास करना। व्यक्तियों के आपसी संतोषजनक अनुभवों के कारण ही व्यक्तित्व का विकास एवं संवृद्धि सम्भव है।

7. सामूहिक सेवा कार्य का उद्देश्य व्यक्तियों की इस प्रकार सहायता करना है कि वे अपने में समूहों तथा समुदायों के क्रिया-कलापों में भाग लेने की क्षमताओं का विकास कर सकें।

8. सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित व सामुदायिक मान्यता प्राप्त कार्यक्रमों के जरिये सामुदायिक जीवन का विकास करना है।

9. समाज के समस्त सदस्यों को अच्छे अनुभव की जरूरत पड़ती है जो उन्हें परिवार के बाहर प्रभावी सामूहिक सम्बन्ध स्थापित करने में मदद दे सकते हैं यदि इसे मान लिया जाये तो सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य इन अनुभवों को उपलब्ध कराकर सामुदायिक जीवन में सकारात्मक योगदान देता है।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की आवश्यकता
(Need of Social Group Work)

मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति समुचित ढंग से समूह के माध्यम से हो सकती है। सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य इन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करता है।

आज के वैज्ञानिक युग में औद्योगिकरण एवं नगरीकरण के कारण मानव समाज प्रगति व परिवर्तन की ओर अग्रसर है लेकिन साथ ही साथ जीवन भी जटिल होता जा रहा है। मानव सम्बन्धों में इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आज के आधुनिक जीवन में व्यक्ति का मशीनीकरण होता जा रहा है फलस्वरूप अमानवीकरण (Dehumanization) में वृद्धि हो रही है और उत्तम मानवीय सम्बन्धों का तीव्रता से ह्रास हो रहा है ऐसी दशा में समाजिक सामूहिक सेवा कार्य अमानवीकरण की प्रक्रिया से बचने/सुरक्षा हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए सहायता प्रदान कर सकता है।

विकास एवं परिवर्तन के जटिल समाज में व्यक्तियों में तनाव, दबाव, चिन्ता, कुंठा व्यवधान, प्रतिस्पर्धा आदि की सम्भावनाओं के कारण सामाजिक समायोजन की आवश्यकताएँ भी गंभीर बनती जा रही हैं, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सामूहिक सम्बन्धों पर आधारित सद्भाव विश्व को विनाशकारी मार्ग पर आगे बढ़ने से रोक सकते हैं। अतः सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की इस परिप्रेक्ष्य में महती आवश्यकता है।

अद्यतन परिवारों के आकार, संगठन एवं कार्यों में बदलाव आ रहा है जिससे पारिवारिक असामंजस्य की स्थिति पैदा होती जा रही है यद्यपि समाजिक सामूहिक सेवा कार्य परिवार का स्थान तो नहीं पा सकता, परन्तु पारिवारिक जीवन के एक अंग के रूप में बहुतेरे महत्वपूर्ण अनुभव प्रदान कर पारिवारिक संवृद्धि हेतु सहायता दे सकता है।

सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य सामूहिक अनुभव उपलब्ध कराते हुए भावी नागरिकों को अपने प्रति व समाज के प्रति सामाजिक जिम्मेदारी ग्रहण करने की शिक्षा देता है। यह व्यक्तियों में अपने समय का सदुपयोग करने में सहायता दे सकता है ताकि वे अपनी सर्जनात्मक क्षमताओं का प्रयोग कल्याण व विकास के कार्यों में लगा सकें।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ता की भूमिका
(Role of Social Group Worker)

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास के अन्तर्गत समूह के क्रियाकलापों को उत्तम ढंग से संचालित करने व इनका प्रयोग व्यक्तियों (सदस्यों) की मदद करने हेतु समूह के बाहर से (समूह का सदस्य नहीं) एक कार्यकर्ता की जरूरत पड़ती है, जो एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा

करता है। वह समूह के सदस्यों के साथ मिल-जुलकर लक्ष्यपूर्ति के लिए कार्य सम्पादन करता है तथा समूह का मार्ग-दर्शन करता है। कार्यकर्ता समूह में समस्याओं के समाधान को स्वयं प्रस्तुत नहीं करता बल्कि सुलझाने में मदद करता है। वह ऐसा प्रयास करता है कि समूह स्वतंत्र रूप से कार्य करने के योग्य व आत्मनिर्भर बन सके।

अमेरिकन एसोसिएशन ऑफ ग्रुप वर्कर्स (American Association of Group Workers) ने सामूहिक कार्यकर्ता की भूमिका को निम्न प्रकार से बताया है :-

1. सामूहिक कार्यकर्ता समूह के सदस्यों की अन्तर्क्रियाओं तथा कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलापों से व्यक्ति के विकास व वांछित सामाजिक लक्ष्यों की उपलब्धि हेतु सहायता देता है।
2. सामूहिक कार्यकर्ता का लक्ष्य अपने अनुभव के उपयोग द्वारा दूसरे समूहों व विस्तृत समुदाय के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए उत्तरदायी नागरिकता, समुदाय के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक समूहों के साथ परस्पर समझ (Understanding) पैदा करना तथा साथ ही प्रजातांत्रिक लक्ष्यों की प्राप्ति और समाज की सतत प्रगति में एक भागीदारी लाने में योगदान करना है।
3. प्रजातांत्रिक समाज की सामान्य मान्यताओं पर आधारित सामूहिक कार्यकर्ता द्वारा पथ-प्रदर्शन का उद्देश्य व्यक्ति को स्वतंत्रतापूर्वक अपनी क्षमताओं को प्राप्त करने का अवसर प्रदान करना, एक दूसरे की प्रशंसा व आदर सम्मान करना तथा प्रजातांत्रिक समाज को कायम रखने और उसमें निरन्तर उन्नति लाने में अपने सामाजिक जिम्मेदारी को ग्रहण करने में मदद करना है।
4. सामूहिक कार्यकर्ता का उद्देश्य व्यक्ति की क्षमता व जरूरत के अनुसार व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों, समूहों एवं समुदाय के साथ समायोजन, व्यक्तिगत विकास का विधान, समाज सुधार हेतु व्यक्ति की सम्प्रेरणा और व्यक्तियों के अधिकारों, सीमाओं, योग्यताओं एवं अन्तरों की स्वीकृति देना है।
5. सामूहिक कार्यकर्ता, सामूहिक प्रक्रिया (Group Process) को प्रभावित करने के ध्येय से समूह के साथ सहभागिता करता है ताकि सामूहिक निर्णय की प्राप्ति उचित ज्ञान, विचारों, अनुभवों तथा ज्ञान के एकीकरण के परिणामस्वरूप हो सके, न कि समूह के आन्तरिक अथवा बाहरी प्रभावों के परिणामस्वरूप।
6. सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास के अन्तर्गत अद्यतन सामाजिक विज्ञानों पर आधारित वैयक्तिक एवं सामूहिक व्यवहारों तथा सामाजिक दशाओं व सामुदायिक सम्बन्धों का ज्ञान निहित है। इस ज्ञान के आधार पर सामूहिक कार्यकर्ता, सदस्यों की अपनी पूर्ण क्षमताओं का उपयोग करने तथा सामाजिक दृष्टि से रचनात्मक सामूहिक क्रिया-कलापों का सर्जन करने के योग्य बनाने के सम्बन्ध में सदस्यों को नेतृत्व की निपुणता का योगदान करता है।

7. समस्त सामाजिक कार्यकर्ता कुछ सामान्य निपुणताओं (Generic Skills) का प्रयोग करने के साथ-साथ वैयक्तिक कार्यकर्ता अथवा सामूहिक कार्यकर्ता के रूप में कुछ विशिष्ट निपुणताओं का भी प्रयोग करते हैं। सामूहिक सेवा कार्यकर्ता व्यक्ति के साथ-साथ सम्पूर्ण समूह के साथ भी कार्य करता है और सेवार्थी व्यक्ति के सम्बन्धित अन्य समूहों व परिवार के सम्पर्क में भी आता है। सामूहिक सेवा कार्यकर्ता जिस संस्था में कार्य करता है उसके कर्मचारी समूह के साथ एक सदस्य के रूप में कार्य करते हुए अपना योगदान देता है तथा जरूरत पड़ने पर वैयक्तिक सेवा कार्य की सहायता से कर्मचारी सदस्यों के समायोजन में मदद करता है।

8. सामूहिक कार्यकर्ता समूह के साथ अपने सम्बन्धों तथा कार्यक्रमों को एक उपकरण के रूप में प्रयोग करने और वैयक्तिक व सामूहिक प्रक्रिया से सम्बन्धित ज्ञान का चेतन रूप से प्रयोग करता है साथ ही व्यक्तियों, समूहों व सामाजिक मूल्यों के प्रति अपनी जिम्मेदारी को पहचानता है।

9. समूह के प्रत्येक सदस्य की रुचियों व जरूरतों के अनुसार सामूहिक कार्यकर्ता सामूहिक अनुभवों व कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलापों से संतुष्ट, एक जिम्मेदार नागरिक के रूप में सामाजिक सम्बन्धों में भाग लेने के अवसर प्रदान करता है इस प्रकार सदस्यों को व्यक्तिगत विकास प्राप्त करने में मदद करता है।

10. **विल्सन एवं राइलैण्ड** (Wilson & Ryland) के मतानुसार : व्यक्ति समूहों में अनेक लक्ष्यों की पूर्ति हेतु संगठित होते हैं। उदारणार्थ : सुरक्षा, शिक्षा, साहसिक कार्य, प्रशासन, उन्नति, सहयोग, नियोजन, एकीकरण, परामर्श तथा उपचार। इनकी पूर्ति के लिए सामूहिक कार्यकर्ता समूह के माध्यम से सहायता प्रदान करता है।

11. **विल्सन एवं राइलैण्ड** (Wilson & Ryland) के अनुसार : सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास के चार क्षेत्रों का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है :-

    1. प्राथमिक समूहों के साथ मौलिक समाज कार्य अभ्यास, 2. मौलिक कार्यकर्ताओं का पर्यवेक्षण, 3. सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की सेवाओं को प्रदान करने वाले अभिकरणों तथा विभागों का प्रशासन और 4. सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य सेवाओं एवं अभिकरणों हेतु सामुदायिक नियोजन व समन्वय।

12. सामूहिक सेवा कार्यकर्ता, अन्य समूह सदस्यों की तरह, समूह के क्रियाकलापों में भाग नहीं लेता परन्तु यह (सामूहिक कार्यकर्ता) सदस्य के रूप में भाग न लेकर समूह के सदस्यों तथा सम्पूर्ण समूह को व्यावसायिक सहायता देने के उद्देश्य से भाग लेता है।

13. समूह के सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं की विषय-वस्तु (Content) को समझते हुए सामूहिक सेवा कार्यकर्ता अन्तःक्रियाओं की प्रक्रियाओं के माध्यम से सहायता कार्य करता है।

14. सामूहिक अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में कार्यकर्ता केन्द्र-बिन्दु नहीं बनता। यह कार्य तो समूह के नेता का हो सकता है। कार्यकर्ता तो एक सीमित समय हेतु समूह के साथ कार्य करता है। सामूहिक कार्यकर्ता सीमित समय में अपने व्यवहार पर चेतन रूप से नियन्त्रण रखते हुए समूह की जरूरतों को समझकर उनकी पूर्ति में मदद करता है।
15. सामूहिक कार्यकर्ता समूह को निर्धारित सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति में तभी सहायता दे सकता है जब उसे कार्यक्रम सम्बन्धी विषय-वस्तु (Programme Content) का पूर्ण ज्ञान, सदस्यों का ज्ञान व उनकी स्वीकृति प्राप्त होती है तथा समूह की स्थिति में अन्तःक्रिया की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न सम्बन्धों के सर्जनात्मक प्रयोग करने की निपुणता होती है।
16. सामूहिक जीवन की गतिशीलता का पूर्ण ज्ञान कार्यकर्ता को होना चाहिए क्योंकि समूह के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तिगत व सामाजिक संतुष्टि एवं लक्ष्य की प्राप्ति, व्यक्तिगत एवं सामाजिक आदर्शों का बदलाव, समाज में नियन्त्रण, परम्पराओं, रस्मों, रिवाजों, आदर्शों एवं मूल्यों का हस्तान्तरण होता है। समूह में आदर्शों एवं मूल्यों का स्वाभाविक संघर्ष, सदस्यों के व्यक्तित्व की संरचना सम्बन्धी भेद, समूह से स्वीकृति-अस्वीकृति, रक्षायुक्तियाँ (Defence Mechanisms), समूह में उप-समूहों की सम्भावना एवं इनका विभेदित व्यवहार, समूह की परिवर्तनशील संरचना, समूह के सदस्यों में परस्पर सम्बन्धों की प्रकृति, समूह में संघर्ष एवं सहमति आदि सभी सामूहिक गतिकी के पक्षों के सम्बन्ध में सामूहिक कार्यकर्ता को समझ होनी चाहिए।
17. सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ता के कार्यों में विल्सन एवं राइलैण्ड ने कुछ विशिष्ट कार्य समाविष्ट किया : (क) समूह के साथ गोष्ठी, (ख) सदस्यों के साथ विचार-विमर्श जिसके अन्तर्गत साक्षात्कार विधि का प्रयोग होता है उदाहरणार्थ- पंजीकरण के साथ साक्षात्कार, आकस्मिक साक्षात्कार, नियुक्त द्वारा साक्षात्कार, सदस्यों के घर जाकर सम्पर्क, (ग) प्रतिवेदन तथा अभिलेख लिखना, और (घ) सामुदायिक कार्यों में अभिकरण का प्रतिनिधित्व करना।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य की आधारभूत निपुणताएँ
(Basic Skills of Social Group Work)

व्यक्ति का अस्तित्व समूह से ही व समूह में ही है। व्यक्तियों में अन्तनिर्भरता पायी जाती है अन्तनिर्भरता के कारण अपने कार्य-निर्वहन के लिए उसे प्रशिक्षण की जरूरत होती है, जिससे वह उन निपुणताओं का विकास कर सके, जिसके द्वारा अपनी उपयोगिता का प्रमाण देते हुए अपने कार्यों का सम्पादन करने में सफल हो।

समाज कार्य की उन्नति एवं विकास हेतु निपुणताओं का एक विशिष्ट महत्व है, निपुणताएँ मानव व्यवहार की समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित है जिसमें विशेष योग्यता एवं कौशल का विकास आवश्यक है।

फ्लेक्सनर (Flexner) द्वारा निपुणता को व्यवहार की एक प्रविधि (Technique) बताया गया है जिसे एक उच्चस्तरीय विशिष्ट शिक्षा द्वारा संचालित किया जा सकता है।

सामान्य अर्थ में निपुणता का तात्पर्य कार्य करने की क्षमता से है। **वेबस्टर** (Webster) शब्दकोश के अनुसार- निपुणता का अभिप्राय कार्य के क्रियान्वयन तथा उसे पूर्ण करने के ज्ञान व दक्षता से है। **वर्जीनिया रोबिन्सन** (Virginia Robinson) के अनुसार-निपुणता का अर्थ है "विशिष्ट वस्तु में बदलाव की प्रक्रिया को इस प्रकार गतिशील और नियन्त्रित करने की क्षमता जिससे वस्तु में होने वाला बदलाव उस वस्तु की क्षमता एवं गुण की उपयोगिता तथा उच्च कोटि के चिन्तन द्वारा प्रभावित है।

ट्रैकर (Trecker) के अनुसार- निपुणता कार्यकर्ता की एक विशेष परिस्थिति में ज्ञान एवं प्रबोध के उपयोग की क्षमता है।

ट्रैकर (Trecker) ने सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में निम्नलिखित निपुणताओं को सम्मिलित होना बताया है।

1. **उद्देश्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में निपुणता** (Skill in Establishing Purposelful Relationship)

   (अ) सामूहिक कार्यकर्ता के अन्दर समूह की स्वीकृति पाने तथा समूह से एक सकारात्मक व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने की निपुणता होनी चाहिए।

   (ब) समूह के सदस्यों में एक दूसरे को स्वीकार करने एवं सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति में समूह के साथ सहयोग करने में मदद देने की निपुणता सामूहिक कार्यकर्ता में होनी चाहिए।

2. **समूह की दशा के विश्लेषण की निपुणता** (Skill in Analysing Group Situation)

   (अ) सामूहिक की आवश्यकताओं, समूह के स्तर को जानने, समूह के विकास की क्षमता तथा रूचि को निर्धारित करने की निपुणता सामूहिक कार्यकर्ता में होनी चाहिए।

   (ब) सामूहिक कार्यकर्ता के अन्दर सहायता करने की ऐसी निपुणता होनी चाहिए कि समूह अपने विचारों को व्यक्त करने, लक्ष्यों के सर्जन करने, निकटतम लक्ष्यों का स्पष्टीकरण करने तथा समूह के रूप में अपनी क्षमताओं और कमजोरियों को समझ सकें।

3. **समूह के साथ सहभागिता में निपुणता** (Skill in Participation wih the Group)

   (अ) सामूहिक कार्यकर्ता के अन्दर यह निपुणता होनी चाहिए कि वह समूह के प्रति अपनी

भूमिका का निर्धारण, उसकी व्याख्या, उसे ग्रहण व परिवर्तित कर सके।

(ब) समूह के सदस्यों में सहभागिता विकसित करने, उनमें से नेतृत्व चयन करने तथा अपनी क्रियाओं के विषय में जिम्मेदारी स्वीकार करने में मदद देने की निपुणता सामूहिक कार्यकर्ता में होनी चाहिए।

4. **समूह की भावनाओं से निपटने की निपुणता** (Skill in Dealing with Group Feelings)

(अ) सामूहिक कार्यकर्ता को समूह के प्रति अपनी भावनाओं की नियन्त्रित करने में निश्चय ही निपुण होना चाहिए तथा उसे उच्चकोटि की वस्तुनिष्ठता (Objectivity) सम्बन्धी प्रत्येक नवीन परिस्थति का अध्ययन करना चाहिए।

सामूहिक समाज कार्यकर्ता की प्रमुख भूमिकायें

(1) **समूह का निर्माण** – सर्वप्रथम कार्यकर्त्ता किसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये, विभिन्न व्यक्तियों से विचार विमर्श करके एक समूह का निर्माण करता है।

(2) **कार्यक्रम का नियोजन** – समूह के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समूह के सदस्यों के द्वारा कुछ कार्यक्रमों का नियोजन करता है।

(3) **जिम्मेदार सहभाजन का विकास** – सामूहिक सेवाकर्ता समूह के सदस्यों की इस प्रकार सहायता करता है कि वे समूह के कार्यक्रमों में जिम्मेदारी पूर्ण ढंग से सहभाजन करें।

(4) **सामूहिक अन्तर्क्रियाओं का निर्देशन** – सामूहिक सेवाकर्त्ता यथासंभव समूह के सदस्यों की अन्तर्क्रियाओं को एक स्वस्थ दिशा प्रदान करता है ताकि वे समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर हो सकें।

(5) **नेतृत्व का विकास** – कार्यकर्त्ता एक यह भी प्रयास होता है कि ऐसे व्यक्तियों की पहचान करें, जिनमें नेतृत्व के गुण हों और उन व्यक्तियों की नेतृत्व क्षमता का विकास करें।

(6) **समूह के सदस्यों की व्यक्तिगत सहायता** – सामूहिक सेवा कार्य का एक यह भी स्थापन करें एवं आवश्यकतानुसार उसकी व्यक्तिगत सहायता करें।

(7) **मूल्यांकन** – एक निश्चित अवधि के पश्चात सामूहिक सेवा कार्यकर्त्ता को समूह के क्रिया कलापों का मूल्यांकन करते रहना चाहिये ताकि यह ज्ञात हो सके कि समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सफल हुआ है।

सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य में कार्यक्रम नियोजन एवं विकास
(Programme Planning and Development in Social Group Work)

कार्यक्रम का निर्माण करना कार्यकर्ता का प्रथम दायित्व होता है, सामान्य रूप से समूह का निर्माण किसी अभिकरण (Assemble) में किया जाता है। समूह के कार्यक्रम जब

व्यक्ति-केन्द्रित होकर विशिष्ट लक्ष्यों की पूर्ति करते हैं तो अधिक उपयोगी हो जाते हैं। कार्यक्रम को समूह के सदस्यों की जरूरतों एवं अभिरुचियों के अनुरूप विकसित होना चाहिए। सदस्यों की योग्यता के अनुसार कार्यक्रम का नियोजन स्वयं सदस्यों द्वारा किया जाना चाहिए तथा कार्यकर्ता की भूमिका एक सहायक व्यक्ति के रूप में होनी चाहिए। कार्यक्रम के विकास की प्रक्रिया एक आवश्यक प्रक्रिया होती है जिसमें अभिकरण, समूह, व्यक्ति और कार्यकर्ता के ज्ञान पर विशेष जोर दिया जाता है और इन सम्मिलित प्रयासों के द्वारा कार्यक्रम सम्बन्धी जरूरतें पूरी होती हैं।

कार्यक्रम–अर्थ एवं लक्ष्य :

ट्रेकर (Trecker) के अनुसार – "साधारण शब्दों में सामाजिक सेवा कार्य के अन्तर्गत कार्यक्रम का अर्थ किसी भी कार्य से है जिसे समूह अपनी अभिरूचियों की संतुष्टि के लिए करता है।"

ट्रेकर का मानना है कि कार्यक्रम एक अवधारणा है, एक विस्तृत अवधारणा जिसमें क्रिया-कलापों, सम्बन्धों, अन्तःक्रियाओं तथा वैयक्तिक एवं सामूहिक अनुभवों का एक पूर्ण फैलाव शामिल किया जाता है जिसका नियोजन समुचित ढंग से समझ-बूझकर व्यक्तियों व समूहों की जरूरतों की पूर्ति हेतु कार्यकर्ता की मदद से किया जाता है। इस तरह कार्यक्रम एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कार्यकर्ता अभिकरण के लक्ष्यों, कार्यों तथा सामुदायिक पृष्ठभमि में समूह के सदस्यों की आवश्यकताओं व अभिरुचियों को समझता है। इन जरूरतों व अभिरुचियों को समझने व खोजने में कार्यकर्ता व्यावसायिक पद्धतियों व अपने कौशल का प्रयोग करता है।

कार्यक्रम का विषय वस्तु :

यह समूह के तत्वावधान में एक उपकरण है जिसका प्रयोग व्यक्तियों तथा समस्त समूह के अपने लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किया जाता है। इस प्रकार कार्यक्रम व्यक्ति व समूह के विकास एवं प्रगति का एक माध्यम अथवा उपकरण है। यह एक विकासात्मक अनुभव द्वारा संचालित कार्य है न कि कोई अध्यारोपित वस्तु समूह द्वारा किया जाने वाला एक क्रिया-कलाप। कार्यक्रम सामूहिक सेवाकार्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है और इसे सामूहिक सेवाकार्य के लक्ष्यों के प्राप्ति हेतु संचालित किया जाता है।

कार्यक्रम के अंगभूत (Components of Programme)

कार्यक्रम के तीन अंगभूत हैं :- (1) विषयवस्तु एवं क्षेत्र (Content and Area), (2) माध्यम (Media), (3) कार्यक्रम के सम्पादन की पद्वति (Methodology)। विषयवस्तु (Content) के अन्तर्गत मनोविनोद व अवकाश के समय (Leisure Time) का प्रयोग शामिल होता है। सामूहिक सेवा कार्य के महत्वपूर्ण क्षेत्र के अन्तर्गत समुदाय के विषय में नागरिकों की सहभागिता भी जरूरी है। कुछ अभिकरण, पारिवारिक जीवन में समाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों

समस्याओं पर जोर देते हैं। कार्यक्रम के माध्यम (Media) में पार्टी, सामाजिक उत्सव, मनोविनोद के कार्यक्रम आदि आते हैं। कार्यक्रम के सम्पादन की पद्धति के अन्तर्गत कार्यकर्ता द्वारा समूह के साथ संचालित विभिन्न प्रकार की क्रियाओं की एक शृंखला आती है। कार्यकर्ता, कार्यक्रम सम्बन्धी विषय वस्तु, कार्यक्रम सम्पादन के माध्यम एवं पद्धति निर्धारित करने में समूह को सहायता प्रदान करता है।

विचार-विमर्श (Consultation) कार्यक्रम का प्रमुख भाग होता है कार्यकर्ता, कार्यक्रम के निर्माण हेतु इस विचार-विमर्श को निर्देशित करने में मदद देता है। कार्यक्रम के तीन पक्षों-विषय वस्तु एवं क्षेत्र माध्यम तथा सम्पादन की पद्धति के सम्बन्ध में सामूहिक कार्यकर्ता उच्च स्तर के कौशल का प्रयोग करता है। कार्यकर्ता, समूह के सदस्यों की पृष्ठभूमि, दृष्टिकोणों, जरूरतों व आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रम के निर्माण में सहायता करता है। विल्सन एवं राइलैण्ड (Wilson & Ryland) के मतानुसार- सामूहिक कार्यकर्ता कार्यक्रम नियोजन एवं विकास का एक ऐसा कलाकार होता है जिसे अपने उपकरणों तथा सामग्री का पूर्ण ज्ञान होता है। यह कार्यक्रम विषय-वस्तु की उपयुक्तता, अभिकरण के लक्ष्य एवं कार्य, समूह के सदस्यों की विकासात्मक आवश्यकताएँ व अभिरूचियाँ तथा किसी विशिष्ट समूह एवं सम्पूर्ण समुदाय के मूल्य व आदर्श हैं। उनके अनुसार कार्यक्रम प्रक्रिया के तीन आधारभूत तत्व होते हैं (1) सदस्य, (2) सामूहिक कार्यकर्ता तथा (3) कार्यक्रम का विषय वस्तु। प्रत्येक तत्व के अपने-अपने विभिन्न अंगभूत होते हैं : उदाहरणार्थ, सदस्यों की अपनी जरूरतें, अभिरूचियों, योग्यता, मूल्य व आदर्श तथा परस्पर सम्बन्ध होते हैं। कार्यकर्ता का अपना व्यावसायिक ज्ञान, निपुणता, विशेषता, अभिकरण के संदर्भ में भूमिका, सदस्यों के साथ सम्बन्ध, अभिकरण और समुदाय के मूल्य व आदर्श आदिकारक कार्यक्रम को प्रभावित करते हैं। कार्यक्रम के विषय-वस्तु में समूह के सदस्यों की जरूरतों, अभिरूचियों को पूर्ण करने की क्षमता, और समूह, समुदाय एवं समाज के मूल्यों तथा आदर्शों को परिवर्तित करने की क्षमता आदि बातें सम्मिलित हैं।

नियोजन एवं विकास के अर्थ : पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किसी भी कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से सम्पन्न करना ही नियोजन होता है। आवश्यकताओं एवं लक्ष्यों के आधार पर समूह के कार्यक्रमों को नियोजित तथा संचालित किया जाता है। समूह के संदर्भ में निंयोजन कीं सुव्यवस्थित रूपरेखा होती है जिसमें मुख्य तीन तत्वोंः समूह के उद्देश्यों की स्पष्टता, बदलाव की संभावनाएँ तथा समूह में नियन्त्रण का समावेश दृष्टिगोचर हो सकता है।

प्रगतिशील कार्यक्रम सम्बन्धी अनुभव का सिद्धान्त सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इस सिद्धांत के अनुसार कार्यकर्ता समूह के कार्यक्रम निर्माण व सतत विकास में सहायता कराता है और साधारण कार्यक्रमों के विकास के साथ ही जटिल कार्यक्रमों के नियोजन एवं विकास में भी मदद करता है।

कार्यक्रम नियोजन और विकास में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ता की भूमिका (Role of Social Group Worker in Programme Planning and Development)

कार्यक्रम नियोजन और विकास के सम्बन्ध में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्ता की भूमिका में निम्नलिखित पक्षों का उल्लेख विल्सन एवं राइलैण्ड ने किया है :-

(1) कार्यक्रम के नियोजन में सदस्यों को मदद (2) समूह में अभिरुचियों की खोज और उन्हें पैदा करना, जिसके अन्तर्गत तीन तरह की रूचियाँ, जैसे- गृहीत अभिरूचियाँ (Assumed Interests), अभिव्यक्त अभिरूचियाँ (Expressed Interests) और निहित अभिरूचियाँ (Implied Interests) आती हैं। (3) पर्यावरण का उपयोग (4) सीमाओं का उपयोग जिसके अन्तर्गत तीन तरह की सीमाएँ जैसे-भौतिक पदार्थो, नियमों व परिस्थितियों द्वारा अधिरोपित सीमायें (Limitations Imposed by Material, Rules and Situations), साधनों और सुविधाओं द्वारा अधिरोपित सीमायें (Limitations Imposed by Resources and Facilities) तथा व्यक्तियों के अन्दर अन्तर्निहित सीमायें (Limitations Inherent Within Individuals)

कार्यक्रम नियोजन में सामूहिक कार्यकर्ता द्वारा सदस्यों की मदद

(1) अवलोकन करके, सुनकर तथा कार्यों द्वारा (2) विश्लेषण तथा अभिलेखन द्वारा (3) गृह निरीक्षण व परामर्श (4) अध्यापन व नेतृत्व (5) निपुणता प्राप्ति में व्यक्तियों को सहायता (6) नेतृत्व करने में सदस्यों को सहायता और (7) विशेषज्ञ का उपयोग करके।

कार्यक्रम में अभिकरण का स्थान (Piace of the Agency in Programme)

अभिकरण हेतु कार्यक्रम से अभिप्राय लक्ष्य प्राप्ति के लिए निर्धारित सेवाओं व क्रियाकलापों से है। कार्यक्रम नियोजन तथा विकास के विषय में अभिकरण के उत्तरदायित्व में निम्नलिखित कार्यों को मान्य किया जाता है :-

(क) अभिकरण के पास एक विस्तृत व लिखित कार्यक्रम नीति का विवरण होना चाहिए (ख) अभिकरण के पास कार्यक्रम नियोजन हेतु एक सक्रिय कार्यक्रम समिति होनी चाहिए (ग) अभिकरण के अन्दर हर एक विभाग की अपनी कार्यक्रम नियोजन समिति होनी चाहिए (घ) अभिकरण के लक्ष्यों के अनुसार ही अभिकरण के कार्यक्रम सम्बन्धी निर्णय होने चाहिए

(च) समुदाय की दशाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप ही कार्यक्रम होने चाहिए। (छ) कर्मचारियों की जरूरतों व बजट के सम्बन्ध में कार्यक्रम नियोजित किये जाने चाहिए। (ज) कार्यक्रम एवं समूहों की स्थापना, अभिकरण की एक निर्धारित नीति के अनुरूप होती है (झ) विभिन्न तरह की क्रियायें अभिकरण के कार्यक्रम में सम्मिलित होती हैं (ट) समूह के सदस्यों को समूह से सम्बन्धित कार्यक्रम सम्बन्धी नीतियों के प्रतिपादन में भाग लेना चाहिए। अभिकरण के कार्यक्रम में बदलाव करने में सदस्यों की सहमति होनी चाहिए तथा अभिकरण के पास समूहों से सम्बन्धित विवरणात्मक अभिलेख होना चाहिए। (ठ) अभिकरण को कार्यक्रम के मूल्यांकन में समूह अभिलेखों का प्रयोग करना चाहिए। कार्यक्रम के निरन्तर मूल्यांकन हेतु एक मापदण्ड होना चाहिए। अभिकरण द्वारा अपने कार्यक्रमों की समीक्षा के दौरान यह देखना चाहिए कि यदि उनके किसी भाग की आवश्यकता न हो तो उसे रोक देना चाहिए, अतः कार्यक्रम नियोजन व विकास में अभिकरण का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है।

ट्रेकर ने अभिरुचियों व आवश्यकताओं के ज्ञान को कार्यक्रम नियोजन व विकास का आधार माना है। निर्देशित अन्तःक्रिया को कार्यक्रम प्रक्रिया का हृदय माना है, जिसमें अन्तःक्रिया की समस्त परिणामों अथवा आकारों को समझना जरूरी है, उदाहरणार्थ : समूह के कार्यक्रमों के अन्तर्गत सदस्यों की सहभागिता का क्रम, अन्तःक्रिया का अर्थ, अन्तःक्रिया की विषय-वस्तु व दिशा, सम्मिलित हैं।

कार्यक्रम नियोजन व विकास में समूह में अभिलेखों की अहम् भूमिका होती है, इन अभिलेखों के अभिलेखन के दौरान अन्तःक्रिया को प्रभावित करने वाले पाँच प्रमुख कारक प्रभावकारी होते हैं :- (1) समूह के सदस्यों में पारस्परिक सम्बन्ध (2) सामूहिक कार्यकर्ता व समूह में पारस्परिक सम्बन्ध (3) समूह में एकता बनाये रखने हेतु आवश्यकताओं व अभिरुचियों का चेतन बन्धन (4) लक्ष्य जिन्हें पाने हेतु वह कार्यरत है तथा (5) ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ जिनमें उनका अपना महत्वपूर्ण अस्तित्व है। सामूहिक कार्यकर्ता, कार्यक्रम विकास प्रक्रिया के सन्दर्भ में मार्गदर्शन करता है और सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया का प्रदर्शन करता है। जब कार्यकर्ता चेतन रूप से वैयक्तिक व सामूहिक विकास हेतु सदस्यों के मध्य होने वाली अन्तःक्रियाओं का निर्देशन व उनका प्रयोग करता है तभी यह प्रक्रिया सक्रिय होती है।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के आधारभूत सिद्धान्त
(Basic Principal of Social Group Work)

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य समाज कार्य की एक मुख्य प्रणाली है इसलिए समाज कार्य की तरह इसके भी कुछ सिद्धान्त हैं जिनका पालन करना कार्यकर्ता के लिए अति आवश्यक होता है क्योंकि इन सिद्धान्तों को प्रयोग में लाये बिना उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सिद्धान्त के विषय में उल्लेख के तौर पर कुछ कहना उपयुक्त होगा। प्रत्यय (Concept) व सिद्धान्त (Principle) ऐसे दो शब्द हैं जिनका प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर किया गया है लेकिन दोनों में कुछ भिन्नताएँ हैं जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रत्यय से अभिप्राय विचार अथवा मूल विचारों (जो महत्वपूर्ण होते हैं) से है। ये विचार व्यक्तियों, समूहों अथवा समाज के प्रति सामाजिक या जैविकीय विज्ञानों व मानविकी (Humanities) से उत्पन्न होते हैं ये विचार समाज कार्य अभ्यास के मूलभूत आधार है। इसके प्रतिकूल, सिद्धान्त मार्गदर्शी अभिकथन (Guiding Assertions) अथवा कथन (Statements) होते हैं जो अनुभव व अन्वेषण द्वारा प्राप्त होते हैं। विकास एवं परिवर्तन लाने के लिए समूहों के माध्यम से व्यक्तियों के साथ कार्य करने के सिद्धान्त समाज कार्य अभ्यास से ही पैदा हुए हैं।

व्हाइट (White) के मतानुसार- ''एक सिद्धान्त को एक उपकल्पना ही समझा जाना चाहिए जिसका परीक्षण अवलोकन तथा प्रयोग द्वारा किया जाता है जिससे उसे बुद्धिमत्तापूर्ण क्रिया के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप में अथवा ज्ञान/बोध (Understanding) के साधन के रूप में सामने रखा जा सके। एक दूसरी परिभाषा के अन्तर्गत, ''एक सिद्धान्त को एक व्यक्त कथन कहकर स्पष्ट किया गया है। सिद्धान्त-अर्थात् सामान्य नियम अथवा कानून, प्रत्यय (Concepts), मूलभूत सत्यता, सामान्य रूप से माने गये सिद्धान्त (Tenets)- साधन होते हैं जिनके माध्यम स्वरूप हम एक परिस्थति से दूसरी तक चलते हैं.... सिद्धान्त या तो आलोचनात्मक दृष्टि से अनुभवों के विश्लेषण अथवा व्यवस्थित अन्वेषण से पैदा होते है।''

ट्रेकर (Trecker) के मतानुसार सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के सिद्धान्त निम्नलिखित है :-

1. नियोजित समूह निर्माण का सिद्धान्त (The Principle of Planned Group Formation)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य समूह की ऐसी मौलिक इकाई है जिसके माध्यम से व्यक्ति को सहायता प्रदान की जाती है। इसलिए सामूहिक कार्यकर्ता अथवा अभिकरण को सामूहिक परिस्थितियों में विद्यमान ऐसे कारकों की जानकारी होनी चाहिए जो समूह के वैयक्तिक विकास तथा मान्यता प्राप्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक सकारात्मक शक्ति बनते हैं। यह सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित होता है कि समूहों में भिन्नता होती है। समूह निर्मित, विकसित व परिवर्तित होते रहते हैं। समूह का गहरा प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार पर पड़ता है इसलिए समूह के अन्दर व्यक्तित्व विकास की सम्भावनाएँ होनी चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुपालन में सामूहिक कार्यकर्ता पूर्व निर्मित समूहों का अध्ययन और नये समूहों के सर्जन में नियोजित तरीके से सहायता करता है।

2. सोद्देश्य कार्यकर्ता-समूह सम्बन्ध का सिद्धान्त (The Principle of Purposeful Worker-Group Relationship)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत कार्यकर्ता तथा समूह के बीच सम्बन्धों की घनिष्ठता होनी चाहिए, उनमें चेतन व लक्ष्यपूर्ण सम्बन्ध होने चाहिए। इस बात पर यह सम्बन्ध आधारित होना चाहिए कि कार्यकर्ता समूह के सदस्यों को उनकी वर्तमान स्थिति में ही स्वीकार करें और समूह (समूह द्वारा सामूहिक कार्यकर्ता व अभिकरण में विश्वास के कारण) सामूहिक कार्यकर्ता से मदद लेने हेतु तैयार हो। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि कार्यकर्ता समूह की सहायता करने के योग्य हो सके उसके पूर्व समूह के साथ यह प्रभावशाली कार्यकारी (Working) सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक होता है। कार्यकर्ता व समूह की एक दूसरे की परस्पर स्वीकृति की प्राप्ति के पश्चात् ही उनमें प्रभावशाली सम्बन्धों का विकास होता है इनके सम्बन्धों की प्रबलता (Strength) व गुणवत्ता (Quality) ही यह निश्चित करती है कि समूह अपनी समर्थताओं (Potentialities) को किस सीमा तक पूर्णरूपेण प्राप्त करने में सहायता पा सकते हैं।

3. विशिष्ट उद्देश्यों का सिद्धान्त (The Principle of Specific Objectives)

समूह की इच्छाओं एवं क्षमताओं व अभिकरण के कार्यों के अनुसार सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत व्यक्ति व समूह के विकास सम्बन्धी विशिष्ट लक्ष्यों का सचेतन प्रतिपादन किया जाता है। संस्था के तत्वावधान में समूह कार्यकर्ता के साथ एक अविभाज्य समग्र होता है। समूहों से सदस्यों की भिन्न-भिन्न आशाएँ रहती हैं, इसलिये अभिकरणों एवं कार्यकर्ता को यह बोध होना चाहिए कि भिन्न सदस्य विभिन्न समूहों में भिन्न-भिन्न अनुभवों द्वारा भिन्न-भिन्न परिणाम प्राप्त करते हैं। इसीलिए लक्ष्य सामूहिक संस्थाओं जीवन के नियंत्रित बल बनते हैं। विशिष्ट लक्ष्यों के सचेतन प्रतिपादन की जरूरतों को पहचानने वाला कार्यकर्ता व्यक्तियों व समूहों हेतु एक उद्देश्यपूर्ण कार्यकर्ता बन जाता है। ऐसा होने से सामूहिक कार्य नियोजित होता है। वैयक्तिक एवं सामूहिक उद्देश्यों पर जोर देते समय कार्यकर्ता समूह के सामने अपनी खुद की जरूरतों का समावेश नहीं होने देता तथा वह सदस्यों को अपने लक्ष्य निर्धारित करने में सहायता देते समय उनकी शक्तियों को व्यक्तित्व के साधन के रूप में परिवर्तित करने में सफल हो जाताहै।

4. साधनों के उपयोग का सिद्धान्त (The Principle of Resources Utilization)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत सामूहिक अनुभवों को व्यक्ति और समस्त समूह के कल्याण हेतु अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से कार्यकर्ता अभिकरण के सम्पूर्ण वातावरण एवं समुदाय में उपलब्ध साधनों का प्रयोग करता है। कार्यकर्ता, अभिकरण व समुदाय का एक भाग होता है, इन दोनों द्वारा समूह प्रभावित होता है तथा इन दोनों के साथ समूह का पारस्परिक सम्बन्ध होता है इसलिए अभिकरण तथा समुदाय में उपलब्ध साधनों का समुचित प्रयोग करने में कार्यकर्ता समूह की सहायता करता है।

5. जनतान्त्रिक सामूहिक आत्म–निश्चयीकरण का सिद्धान्त (The Principle of Democratic Group self-Determination)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत समूह को स्वयं निर्णय लेने, स्वयं अपने क्रियाकलापों को निश्चित करने तथा अपनी क्षमताओं एवं योग्यताओं के अनुरूप अधिकतम उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए सहायता दी जानी चाहिए समूह के ऊपर नियन्त्रण रखने का प्राथमिक साधन स्वयं समूह ही होता है। यह मानकर चला जाता है कि सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास व्यक्तियों एवं समूहों में तभी हो सकता है जब उन्हें उत्तरदायित्व ग्रहण करने के अवसर उपलब्ध करायें जायें। कार्यकर्ता द्वारा समूह को यह अधिकार दिया जाता है कि वह अभिकरण की सेवाओं को स्वीकार करें या न करें। समूह निर्माण के प्रारम्भिक चरण से लेकर अंतिम चरण तक होने वाली क्रियाएँ जनतन्त्रीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। कार्यकर्ता समूह को अपने अधीन न करे, बल्कि उसके साथ मिलकर कार्य करे तथा अपने ज्ञान, अनुभव, योग्यता व दक्षता द्वारा समूह को फायदा पहुँचाता है।

6. निरन्तर व्यक्तिकरण का सिद्धान्त (The Principle of Continuous Individualization)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य में यह स्वीकार किया जाता है कि समूहों में भिन्नताएँ होती हैं तथा व्यक्ति अपनी भिन्न-भिन्न जरूरतों की पूर्ति हेतु विभिन्न तरह के सामूहिक अनुभवों का प्रयोग करता है इसलिए कार्यकर्ता द्वारा व्यक्तिकरण का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। यह समझना जरूरी है कि व्यक्तियों व समूहों में विकास और बदलाव का होना स्वाभाविक है।

7. निर्देशित सामूहिक अन्तःक्रिया का सिद्धान्त (The Principle of Guided Group Interaction)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य में प्राथमिक शक्ति का स्रोत सदस्यों की अन्तःक्रिया है जो समूह को चलाती है तथा सदस्यों को परिवर्तन हेतु प्रभावित करती है। सामूहिक कार्यकर्ता सहभागिता के प्रकार एवं गुणवत्ता से इस अन्तःक्रिया को प्रभावित करता है। समूहों में व्यक्ति जब एकत्र होकर समीप आते हैं तो अन्तःक्रिया का होना स्वाभाविक होता है उनमें पारस्परिक प्रत्युत्तर होते हैं। सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में व्यक्ति का व्यक्ति पर प्रभाव एक मुख्य गतिक (Dynamic) होता है।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया का अर्थ है : अन्तःक्रिया के स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण, निर्देशन तथा सचेतन प्रयोग। कार्यकर्ता द्वारा इस अन्तःक्रिया के प्रकार व मात्रा को प्रभावित करना ही सामाजिक प्रक्रिया (Social Process) को सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया में परिवर्तित करता है। कार्यकर्ता सदस्यों के बीच अन्तःक्रिया के महत्व को समझता है

और अपने व समूह के मध्य चेतन रूप से अन्तःक्रिया को सीमित व नियन्त्रित रखता है। वह अन्तःक्रिया की मात्रा में वृद्धि करने हेतु सदस्यों को ऐसी सहायता देता है कि वे अपनी सहभागिता की भूमिकाओं को निभा सकें।

8. लचीले कार्यात्मक संगठन का सिद्धान्त (The Principle of Flexible Funtional Organization)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया के अर्न्तगत कार्यकर्ता समूह का एक औपचारिक संगठन तथा उसकी वास्तविक संरचना सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पक्षों को स्थापित करने के लिए पक्ष-प्रदर्शन करता है। इस औपचारिक संगठन को लोचदार, अनुकूली (Adaptive) तथा समूह में परिवर्तन के अनुसार परिवर्तनशील होना चाहिए। इस संगठन को प्रोत्साहन तभी दिया जाना चाहिए जब वह समूह की जरूरतों को पूर्ण करता हो, जब सदस्यों द्वारा इस संगठन को समझा जाता हो तथा जब यह संगठन समुचित ढंग से अपनी भूमिका का निर्वहन करता हो।

समूह को कार्य करने योग्य बनाने हेतु प्रत्येक समूह का एक अनौपचारिक संगठन भी होता है। इसके बावजूद भी, अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु समूह को एक औपचारिक संगठन की जरूरत पड़ती है। औपचारिक संगठन द्वारा सदस्यों की शक्तियों का नियन्त्रण समूह को अपना नेता चुनने का अवसर व एक स्थिति प्रदान की जाती है।

समूहों में भिन्नता होती है, अतः वे एक विशेष प्रकार का संगठन चाहते हैं। कार्यकर्ता समूह की आवश्यकता की पूर्ति के सम्बन्ध में समूह को स्वयं संगठित होने में सहायता करता है। वह समूह को अपनी आवश्यकताओं का ज्ञान, लक्ष्यों व कार्यों के निर्धारण की योग्यता के विकास करने में सहायता प्रदान करता है। साथ ही वह समूह के पदाधिकारियों, समितियों, अध्यक्ष व कार्यविधियों के सन्दर्भ में स्वयं निर्णय लेने के योग्य होने, समूह को अपने पदाधिकारियों एवं नेताओं हेतु अर्हताएँ निश्चित करने में मदद करता है। वह सामूहिक नेताओं अथवा पदाधिकारियों के साथ मिलजुलकर कार्य करते हुए उनको अपनी भूमिकाओं का पालन करने में मदद देता है।

9. प्रगतिशील कार्यक्रम सम्बन्धी अनुभव का सिद्धान्त (The Principle of Progressive Programme Experience)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य में कार्यक्रम सम्बन्धी अनुभव उसी स्तर से प्रारम्भ होने चाहिए जिस स्तर की सदस्यों की अभिरूचियों, जरूरतें, अनुभव-निपुणता व दक्षता है। समूह की योग्यता के विकास के साथ-साथ ही कार्यक्रम का विकास होना चाहिए।

इस सिद्धान्त के अनुसार सामूहिक कार्यक्रम का एक आरम्भ बिन्दु होता है जिसे भली-भाँति स्पष्ट करना महत्वपूर्ण होता है। कार्यक्रम विकास की प्रक्रिया में अभिरूचियों, जरूरतें एवं योग्यताओं सम्बन्धी अन्तर महत्वपूर्ण होते हैं। कार्यकर्ता समूह के विकास के स्तर के अनुरूप

ही विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों को संगठित करने की सलाह देता है। शुरू में कार्यक्रम छोटे, सरल व अल्पकालीन होते हैं। कार्यकर्ता आवश्यकतानुसार समूह को सुझाव देता है (परन्तु अपना सुझाव वापस ले लेता है)। वह समूह को सीधे-सादे कार्यक्रमों से आरम्भ करके अति जटिल व उपयोगी कार्यक्रमों का अनुभव प्राप्त करने में मदद करता है। इस सम्बन्ध में वह समूह को अपनी इच्छानुसार कार्यक्रमों का नियोजन करने में मदद देता है।

10. मूल्यांकन का सिद्धान्त (The Principle of Evaluation)

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य में प्रक्रियाओं तथा कार्यक्रमों का लगातार मूल्यांकन किया जाता है जिससे लक्ष्य की प्राप्ति और परिणाम की स्थिति की जानकारी मिलती है कि कहाँ तक सफलता प्राप्त की जा सकी है? मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में कार्यकर्ता, समूह तथा अभिकरण सभी भाग लेते हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया आवश्यक व स्वाभाविक क्रिया होती है। मूल्यांकन द्वारा समूह की स्थिति, सदस्यों के अनुभव, उनकी क्षमताएं एवं कमियाँ ज्ञात होती हैं। निरन्तर मूल्यांकन के सिद्धान्त के अनुपालन से ध्यानपूर्वक लिखे गये सामूहिक अभिलेखों की महत्ता भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि हमारी सफलता या असफलता का प्रमाण यही अभिलेख होते हैं।

फ्रीडलैण्डर (Friedlander) ने सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के निम्नलिखित सिद्धान्तों का वर्णन किया है :-

(क) सामाजिक सामूहिक सेवा कार्यकर्त्ता की एक सहायक अथवा समर्थ प्रकृति। (ख) व्यक्तियों, समूहों तथा सामाजिक पर्यावरण के संदर्भ में तथ्यों की खोज, विश्लेषण और निदान जैसी वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग (ग) समूह व समूह के सदस्यों के साथ कार्यकर्ता द्वारा लक्ष्यप्राप्ति का प्रयास। (घ) 'स्व' का चेतन प्रयोग-एक उपकरण के रूप में। (च) मौलिक आदर तथा स्नेह पर आधारित व्यक्तियों की स्वीकृति जिसमें उनकी शक्तियों एवं कमजोरियों को मान्यता देते हुए उनके सम्पूर्ण व्यवहार को स्वीकार किये बिना अपनी स्वीकृति प्रदान करना। (छ) समूह की वर्तमान दशा से कार्यारम्भ। (ज) व्यक्तियों व समूहों की जरूरतों तथा अभिकरण के कार्यों सम्बन्धी सीमाओं का सर्जनात्मक प्रयोग। (झ) व्यक्तीकरण विधि में व्यक्ति के व्यक्तिगत अस्तित्व को समग्र (Whole) में न खोने दिया जाना। (ट) हानि-कारक संघर्ष को प्रतिबन्धित कर, उचित संघर्ष की अनुमति देकर, सामूहिक अन्तःक्रिया का प्रयोग। (ठ) अवाचिक (Non-Verbal) कार्यक्रम के साथ वाचिक (Verbal) सामग्री अर्थात् विचार-विमर्श को समझना तथा उसका सचेतन प्रयोग।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अलावा कोनोपका (Konopka) ने सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के निम्नलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख किया है : कार्यकर्ता द्वारा सहायता प्रदान करना, स्वतंत्रता व आत्म सहायता की क्षमता का विकास करना, उद्देश्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापन, वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग, समस्त व्यवहार की स्वीकृति का सिद्धान्त, समूह के साथ वर्तमान स्थिति से

कार्यारम्भ, समूह की अन्तःक्रिया व अन्तर्दृष्टि का प्रयोग, व्यक्तिकरण, अन्तःक्रिया- प्रक्रिया का प्रयोग, मौखिक विषयवस्तु व लिखित कार्यक्रम का चेतन प्रयोग एवं बोध।

टी.जे.कुक (T.J. Kooke) ने भी सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन किया है : समूह के माध्यम से पूर्ण होने वाली समस्त सदस्यों की कुछ सामान्य आवश्यकताएँ, समूह के द्वारा व्यक्ति विकास का लक्ष्य, व्यक्ति में संवृद्धि, परिवर्तन एवं विकास का साधन, समूह के सदस्यों, कार्यकर्ता तथा समूह में गतिशील अन्तःक्रिया, समूह को आत्म-निश्चय करने का अधिकार तथा व्यक्ति-निर्देशन।

उपर्युक्त विभिन्न विद्धानों द्वारा दिये गये सिद्धान्तों में सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के उद्देश्यों या मूल्यों की अधिक उपस्थिति दृष्टिगोचर होती है। **ट्रेकर** (Trecker) के मातानुसार-सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त गातिशील हैं इनके अध्ययन व अभ्यास पर आधारित अनुभव से यह स्पष्ट होता है कि ये सिद्धान्त परिवर्तनशील हैं और होते रहेंगे। भविष्य में अध्ययन एवं अनुभवों द्वारा सिद्धान्तों से सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि होगी। कार्यकर्ता नवीन अन्तर्दृष्टि ग्रहण करके उसे इन सिद्धान्तों के सफल प्रयोग हेतु बेहतर निपुणतायें विकसित कर लेंगे। इस प्रकार समयानुसार इन सिद्धान्तों में परिवर्तन होते रहेंगे।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में सामूहिक प्रक्रिया
(Group Process in Social Group Work)

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास के अन्तर्गत व्यक्तित्व के परिवर्तन, उन्नति और विकास का प्राथमिक साधन, समूह के सदस्यों के मध्य एक गतिशील अन्तःक्रिया है, इसीलिए समूह के सदस्यों के मध्य यही अन्तःक्रिया अथवा सामूहिक प्रक्रिया महत्वपूर्ण होती है। स्लेवसन (Salvson) के मातानुसार- सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत समूह के सदस्यों तथा नेता के मध्य जनतान्त्रिक सहभागिता के कारण अन्तःक्रिया उत्पन्न होती है जिसके परिणामस्वरूप मानवीय सम्बन्ध विकसित होते हैं। डोरोथी स्पेलमैन (Dorothy Spellman) का कहना है कि-सामूहिक प्रक्रिया तथा सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया में अन्तर है। दोनों प्रक्रिया की पृथक-पृथक अवधारणा है। सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया में सामूहिक कार्यकर्ता अनिवार्य रूप से उपस्थित रहकर अन्तःक्रिया को निर्देशित करता है। इस क्रम में कार्यकर्ता गतिशील अन्तःक्रिया के साथ ही कार्यक्रम के जरिये उपलब्ध विषय-वस्तु का भी प्रयोग करता है। **ग्रेस कोयल** (Grace Coyle) के तीन तत्वों का उल्लेख किया है : समूह का उद्देश्य (Purpose of the Group), सदस्यता सम्बन्धी निर्णय (Decision as to Membership), तथा संरचना का निर्धारण (Determination of Structure)। उन्होंने सामूहिक प्रक्रिया की व्याख्या कई तरह की प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में किया है। उदाहरणार्थ- समूह-निर्माण, समूह-नियन्त्रण, स्वीकृति-अस्वीकृति,

सामूहिक चिन्तन व निर्णय लेने, दलीय भावना, सामूहिक पर्यावरण तथा सामूहिक मूल्य आदि की प्रक्रियायें। वैब्स्टर्स कालेजिएट शब्दकोश ने प्रक्रिया को समय के अनुसार परिवर्तित होने वाली घटना के रूप में परिभाषित किया है। समाज कार्य में प्रक्रिया एक क्षणिक, सतत व परस्पर सहयोग सम्बन्धी विकासात्मक प्रकृति की मानवीय क्रिया होती है जो एक विस्तृत प्रकृति की एकता का निर्माण करती है। **मैकमिलन** (McMillen) के मतानुसार-सामाजिक प्रक्रिया समस्त मानवीय सम्बन्धों की विशेषता होती है तथा समाज कार्य की कला के रूप में अभ्यास करने का माध्यम है। समाज कार्य की सम्पूर्ण पद्धतियाँ आवश्यक रूप से सामाजिक प्रक्रिया के साथ तथा इसके द्वारा ही कार्य करती हैं। इनके कथनानुसार प्रत्येक सामाजिक क्रिया में तीन तत्व विद्यमान होते है :- (1) व्यक्तिगत व्यवहार (2) सामूहिक सम्बन्ध तथा (3) अन्तर्समूह सम्बन्ध **कुक** (Kooke) ने सम्बन्धों के तात्त्विक (Meta Physical) पक्षों का प्रयोग करके सामूहिक प्रक्रिया एवं सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया के अर्थों में गहरी अन्तर्दृष्टि की व्याख्या की है। इस व्याख्या के अन्तर्गत उन्होंने **सेण्ट थामस** (St. Thomas) के दर्शन का प्रयोग करते हुए सम्बन्धों के प्रकारों का वर्णन किया है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया की अवधारणा का स्पष्टीकरण हो जाता है :- उनके मतानुसार सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया में निम्नलिखित प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं : (क) व्यक्तिगत सदस्यों (सदस्य) तथा समूह के अन्य सदस्यों के मध्य अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध। (ख) प्रत्येक व्यक्ति (सदस्य) एवं समूह के सामान्य कल्याण के आधारभूत सम्बन्ध। (ग) प्रत्येक सदस्य एवं समस्त समूह की समग्रता से सम्बन्धित सम्बन्ध। (घ) व्यक्तिगत सदस्यों तथा सामाजिक सामूहिक कार्यकर्ता के मध्य अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण में स्पष्ट है कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति (सदस्य) समीप आकर समूह निर्माण करते हैं तो उनमें भिन्न-भिन्न तरह की अन्तःक्रियायें अथवा सम्बन्ध बनने शुरू हो जाते हैं। सामाजिक सामूहिक कार्यकर्ता की मदद से जब समूह के सदस्य सामान्य लक्ष्यों की ओर अग्रसर होते हैं तो गतिशील अन्तःक्रियाओं अथवा सम्बन्धों की एक शृंखला उत्पन्न हो जाती है जिन्हें समूह निर्माण एवं व्यक्तिगत संतृष्टि हेतु निर्देशित किया जाता है। इसी सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया को सामाजिक सामूहिक कार्यकर्ता एक जनतान्त्रिक सामूहिक प्रक्रिया कह देते हैं तथा यही सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया व्यक्ति व समूह के विकास का प्राथमिक साधन बन जाती है। **कुक** (Cooke) के कथनानुसार-बने-बनाये समूह को नहीं लेना चाहिए बल्कि समूह को कार्यक्रम की एक प्रक्रिया स्वरूप ही देखा जाना चाहिए परन्तु कार्यक्रम को समूह पर अध्यारोपित (Superimposed) नहीं करना चाहिए। समूह की व्यक्त तथा अव्यक्त जरूरतों व अभिरुचियों के अनुसार ही कार्यक्रम नियोजित किये जाने चाहिए इस प्रकार के ही कार्यक्रम रुचिकर व स्वतःस्फूर्त (Sponanceous) होते हैं।

स्लेवसन (Slavson) ने सामूहिक अनुभवों को व्यक्तित्व का आधार मानते हुए समूह को एक त्रिकोण (Triangle) बताया है तथा समूह को परिभाषित करते हुए कहा है कि समूह निम्नतम तीन सदस्यों से मिलकर निर्मित होता है। मुख्य रूप से यह तीसरा अथवा आगे आने वाला अन्य व्यक्ति समूह में समस्या या तनाव पैदा करते हैं। इसे इन्होंने "तीसरा/अन्य व्यक्ति समस्याएँ" (Third Person Problems) बताया है। दो व्यक्ति तो आमने-सामने सामान्य ढंग से व्यवहार करते हैं परन्तु तृतीय व्यक्ति के आ जाने पर उनमें परिवर्तन दिखने लगते हैं अर्थात उनमें छिपे हुए संवेगात्मक तनाव सम्मुख दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

कुछ प्रमुख सामूहिक प्रक्रियायें **स्लेवसन** (Slavson) के मतानुसार-इस प्रकार है :-

(1) अन्तःउत्तेजना (Interstimulation), (2) अन्तःक्रिया (Interaction), (3) अनुगमन (Induction), (4) तीव्रता (Intensification), (5) अप्रभावीकरण (Neutralization), (6) परस्पर तादात्मीकरण (Mutual Identification), (7) परिपाक (Assimilation), (8) ध्रुवीकरण (Polarity), (9) प्रतिस्पर्धा (Rivalary), (10) प्रक्षेपण (Projection), (11) एकीकरण (Integration) और (12) रूढ़िवादिता (Conservatism)।

समाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास
(Social Group Work Practice)

वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग प्रमुख व्यवसायों में किया जाता है अतः अन्य व्यवसायों की ही तरह समाज कार्य की समस्त प्रणालियों में भी वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग होता है। इसके अन्तर्गत अध्ययन (Study), निदान (Diagnosis) व उपचार (Treatment) विधियाँ एक साथ ही प्रयोग में लायी जाती हैं। ये विधियाँ, सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य अभ्यास में भी सहायता कार्य में प्रयोग की जाती हैं। सामूहिक कार्यकर्ता, समूह के साथ कार्य करते हुए पर्यवेक्षण (Observation) करके, समझने का प्रयत्न करता है अर्थात तथ्यों की खोज व निदान कराता है लेकिन साथ ही उपचार भी शुरू हो जाता है। इस तरह वैज्ञानिक प्रक्रिया के अन्तर्गत उक्त तीनों चरण (Steps) साथ-साथ चलते रहते हैं।

अध्ययन अथवा तथ्यों की खोज (Fact Finding)

ट्रेकर (Trecker) के मतानुसार – सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में तथ्यों की खोज (अध्ययन) के तीन तरीके होते हैं :-

(1) पर्यवेक्षण व श्रवण करके, (2) समूह अथवा परिवार के सदस्यों से सम्पर्क करके, (3) घर जाकर मुलाकात करके, पड़ोस व कार्यस्थल से सूचनायें एकत्र करके। इस प्रकार व्यक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान, उसकी भूमिका, समूह में उसके सम्बन्ध, समूह का उस पर प्रभाव, प्रभाव की

प्रकृति, व्यक्ति का समूह पर प्रभाव, समूह का सम्पूर्ण वातावरण, समूह के बाहर अन्वैयक्तिक सम्बन्ध, सामाजिक व आर्थिक पर्यावरण आदि से सम्बन्धित तथ्यों की खोज का कार्य होता है।

निदान और उपचार की योजना (Diagnosis and Treatment Plan)

कार्यकर्ता, तथ्यों की खोज के कार्य में मात्र बाहरी या ऊपरी तथ्यों की हो खोज नहीं करता, बल्कि वह आन्तरिक तथ्यों की भी खोज करता है तथा उसे किस तरह की समस्या का समाधान करने में मदद देना है, इसे भी निश्चित करने का प्रयास करता है। मनोरोग अथवा चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत निदान द्वारा विभिन्न प्रकार के लक्षणों पर आधारित बीमारी या रोग को एक नाम देकर परिभाषित किया जा सकता है। समाज कार्य के अन्तर्गत इतनी स्पष्टता न होने पर भी निदान व उपचार में भग्न परिवार (Broken Family), बाल अपराध (Delinguency), व्यक्तिगत समस्या आदि अवधारणाओं का प्रयोग होता है लेकिन इससे सेवार्थी के सम्पूर्ण लक्षणों का ज्ञान नहीं होता।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत सामूहिक कार्यकर्ता, निदानात्मक निपुणता के प्रयोग से समस्या के लक्षणों तथा उसके आन्तरिक कारणों का स्पष्ट सारांश तैयार करता है। वह (कार्यकर्ता) सामूहिक प्रक्रिया और व्यक्तिगत व्यवहार के ज्ञान से अपने निदानात्मक उपकरणों के रूप में उपयोग करता है।

प्रारम्भिक निदान के पश्चात् भी सामूहिक कार्यकर्ता का निदान कभी समाप्त नहीं होता। वह लगातार उसका परीक्षण करता रहता है और या तो उसकी पुष्टि करता है अथवा आवश्यकतानुसार तथ्यों में बदलाव आने के कारण अपने निदान को भी बदल देता है।

सामूहिक कार्यकर्ता, निदान निश्चित हो जाने पर समस्या समाधान हेतु सहायता देने की प्रक्रिया को दिशा प्रदान करने के उद्देश्य से उपचार की योजना बनाया करता है ताकि उपचार का संकल्प पूरा हो सके।

उपचार (Treatment)

सामूहिक सेवा कार्य में उपचार की प्रक्रिया की अवधारणा, चिकित्सा में उपचार की अवधारणा से मेल खांती है। लेकिन सामूहिक सेवा कार्य में उपचार का अभिप्राय है इस पद्धति का वास्तवित प्रयोग। इस उपचार के अन्तर्गत निम्नलिखित उपकरणों का प्रयोग किया जाता है:- (1) सामूहिक प्रक्रिया अर्थात् समूह के सदस्यों की पारस्परिक अन्तःक्रिया का प्रयोग। (2) कार्यक्रम को माध्यम के रूप में प्रयोग। (3) समूह के सदस्यों के सम्बन्ध में कार्यकर्ता का प्रबोध तथा अनुाशासनबद्ध चेतन और अपनी तदानुभूति (Empathy) की क्षमता का प्रयोग।

सभी व्यक्ति दो तरह के अनुभवों से परिचित होते हैं। प्रथम, ऐसी परिस्थिति जब व्यक्ति एक सहायक के रूप में हमारे जीवन में सम्पर्क हेतु सामने आता है तथा एक मित्रवत् या

स्नेहयुक्त सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इन सम्बन्धों द्वारा हमें सहायता मिलती है, अपने के सम्बन्ध में आत्म-विश्वास पैदा होता है। ये सम्बन्ध हमें अपनी क्षमताओं का प्रयोग कर अपने को विकसित व सन्तुष्ट करने में योग्य बनाता है। स्नेह व मित्रता के फल मीठे होते हैं, एक व्यावसायिक सम्बन्ध इनको उत्पन्न नहीं कर सकता। द्वितीय प्रकार के सम्बन्ध में संभव है, जब हम दूसरे किसी भी व्यक्ति के सहायतार्थ अर्थपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हैं, इस सम्बन्ध की स्थापना के लिए समाज कार्य की व्यावसायिक शिक्षा एक विशिष्ट कौशल प्रदान करती है। यह व्यावसायिक सम्बन्ध स्वीकृति व बोध द्वारा उन्नति के अनुभव प्रदान करता है। यह समूह के सदस्यों को अपनी सम्पूर्ण शक्तियों व दुर्बलताओं सहित एक उपयोगी तथा प्रभावशाली व्यक्ति के रूप में स्वीकृति की भावना प्रदान करता है। यह सम्बन्ध सभी सदस्यों में यह भावना उत्पन्न करता है कि कार्यकर्ता उनकी अभिरूचियों में रूचि रखता है और अपनी इच्छाओं को उन पर अधिरोपित नहीं करता। लेकिन यह भावना सदस्यों में तभी आ सकती है जब कार्यकर्ता सदस्यों की जरूरतों के प्रति अति संवेदनशीलता (Sensitivity) रखता हो।

समस्या समाधान प्रक्रिया के अर्न्तगत कार्यकर्ता समुदाय की आवश्यकताओं का भी ख्याल रखता है लेकिन वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु समूह का प्रयोग कदापि नहीं करता। चिकित्सकीय (Therapeutic) उद्देश्य पर आधारित समूह में ऐसे सदस्य होते हैं जो दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करने तथा मिलजुल कर नियोजन करने के योग्य नहीं होते और कुछ ही सीमा तक जिम्मेदारी का निर्वहन करने के योग्य होते हैं। जब कभी समूह के एक या दो सदस्य अथवा उपसमूह कार्यक्रम नियोजन के उत्तरदायित्व को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होते तो उन्हें समूह से हटाकर चिकित्सा की दृष्टि से एक अलग संरक्षित समूह (Protective Group) में रख दिया जाता है। जब ऐसी प्रवृति वाले सदस्यों की संख्या अधिक होती है तो उम्र के अनुसार उनकी सामाजिक समायोजनात्मक सहायता की जाती है।

सामूहिक सेवा कार्य तथा सामूहिक चिकित्सा/उपचार
(Group Work & Group Therapy)

जिस प्रकार सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य की एक विशिष्टता मनश्चिकित्सा (Psychotherapy) है उसी प्रकार सामूहिक अनुभवों का एक विशिष्ट प्रकार सामूहिक चिकित्सा (Group Therapy) है। सामूहिक चिकित्सा/उपचार, समस्त रोगियों/समस्याग्रस्त लोगों के लिए एक उत्तम उपचार बन सकता है। एक पद्धति के रूप में इसके अन्तर्गत उपचार के दोनों प्रकार- "क्रिया-कलाप" (Activity) तथा "साक्षात्कार" (Interview) शामिल हैं। सामूहिक चिकित्सा, वैयक्तिक सेवा कार्य के साथ-साथ सामूहिक सेवा कार्य से भी समान घनिष्ठता रखती है। दोनों के निदानात्मक सिद्धान्त (Clinical Principles) समान हैं। लेकिन बहु-व्यक्ति

(Multi-Person) परिस्थिति का प्रयोग सामूहिक चिकित्सा में उपचार हेतु किया जाता है। ऐसे व्यक्तियों, जो अपने सामाजिक सम्बन्धों में कठिनाई महसूस करते हैं, उनमें परिवर्तन व विकास के लिए सामूहिक चिकित्सा/उपचार का प्रयोग किया जाता है। सामूहिक कार्यकर्ता, सामूहिक उपचार के अभ्यास के दौरान अपने ज्ञान व अनुभव का उपयोग करके समस्या के वास्तविक कारणों व स्रोत की जानकारी प्राप्त करता हैं। सामूहिक कार्यकर्ता यह जानता है कि सामूहिक प्रक्रिया के माध्यम के प्रयोग के साथ-साथ पारिवारिक आशोधन (सुपरिवर्तन) एवं प्रत्यक्ष साक्षात्कार के जरिये उत्तम समायोजन प्राप्त करने में समूह के सदस्यों को मदद की जा सकती है।

सामूहिक चिकित्सा/उपचार सामूहिक नेता-सदस्य सम्बन्धों की प्रमुख गतिकी के सचेतन नियन्त्रित उपकरण पर आधारित होती है और सर्जनात्मक अनुभवों व अहम्शक्ति की वृद्धि करके व्यक्ति को निर्मुक्ति (Release), उदात्तीकरण (Sublimation) तथा आत्म (Self) के समुचित प्रयोग करने का सुअवसर देता है।

मैक कोर्मिक (Mc Cormick) के मतानुसार- सामूहिक चिकित्सा सामूहिक सेवा कार्य से बिल्कुल भिन्न प्रणाली है। उन्होंने बताया कि सामूहिक चिकित्सा में समस्याग्रस्त बच्चों, उपकरणों, कार्य-सामग्री तथा एक प्रौढ़ व्यक्ति की उपस्थिति सुनिश्चित होती है जिसकी वाह्याकृति सामूहिक कार्य की स्थिति जैसी प्रतीत होती है लेकिन सामूहिक चिकित्सा का प्रत्येक पक्ष सामूहिक सेवा कार्य से स्पष्ट रूप से भिन्न है। चिकित्सा समूह के लक्ष्य, बच्चों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध तथा चिकित्सा समूह का सम्पूर्ण वातावरण सभी अनोखे होते हैं और ये सभी मात्र मनश्चिकित्सा की विधियों पर ही लागू होते हैं। दोनों की अभ्यास क्रियायें, दिशायें व सिद्वान्त भिन्न हैं। शिक्षा के सिद्धान्तों के आधार पर सामूहिक सेवा कार्य का गठन किया जाता है और सामूहिक चिकित्सा/उपचार, मनोरोग विज्ञान के उद्देश्यों से सम्बन्धित होता है। सामूहिक सेवा कार्य में सेवार्थियों को शैक्षिक प्रक्रिया के अनुभव दिये जाते हैं जब कि सामूहिक चिकित्सा में सेवार्थियों को चिकित्सा सम्बन्धी अनुभव प्रदान किये जाते हैं। सामूहिक सेवा कार्य व्यक्तित्व के विकास द्वारा व्यवित्तयों के समाजीकरण का प्रयत्न करता है जिससे व्यक्ति एक समाकलित, आत्म-निर्भर तथा सामाजिक सहभागिता पर आधारित नागरिकता के गुणों को अपना सके। सामान्य सामूहिक परिस्थिति में मैत्रीपूर्ण अनौपचारिक पर्यावरण में व्यक्तियों की सुरक्षा एवं सुविधा हेतु कुछ प्रतिबन्ध व नियन्त्रण रखा जाता है। कार्यकर्ता का समूह में व्यक्तियों से सम्बन्ध द्विपक्षीय होता है तथा वह असामाजिक व्यवहार को नियन्त्रित कर सकता है और समाज द्वारा मान्य व सर्जनात्मक व्यवहार करने के लिए समूह का मार्ग-दर्शन करता है।

उपचारात्मक प्रक्रिया के दौरान व्यवहार पर समस्त सामान्य प्रतिबन्धों को अल्पकालिक रूप से निलम्बित कर दिया जाता है। सेवार्थी को स्वतंत्रतापूर्वक अपने आक्रोश या शत्रुता को दर्शाने का अवसर दिया जाता है ताकि सेवार्थी की मनमुताबिक क्रियायें, चाहे वे क्रियायें

विनाशकारी ही क्यों न हों, बिना अनुशासन, नियन्त्रण अथवा निन्दा के दर्शा सके। इससे सेवार्थी आंतरिक तनाव व चिन्ता से निर्मुक्त हो जाता है तथा उसमें स्वीकृति की भावना का विकास हो जाता है। ऐसी दशा में वह अपने संवेगों को पुनः निर्मित करना शुरू कर देता है और शनैः-शनैः कार्यकर्ता व अन्य व्यक्तियों के साथ सकारात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। **स्लेवसन** (Slavson) के अनुसार- "मनश्चिकित्सा का लक्ष्य रोगी को सर्वप्रथम चिकित्सक/उपचारकर्ता के साथ, बाद में दूसरे लोगों तथा अन्त में विस्तृत जगत् से सर्जनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में मदद देना है।" अतः सामूहिक चिकित्सा/उपचार का लक्ष्य मुख्यतः बालकों को अपने वातावरण, परिवार, विद्यालय, क्लब एवं मनोविनोद के प्रभावों से लाभान्वित होने की सम्भावनाओं के साथ उसकी अहम् संरचना (Ego Structure) का पुनः निर्माण करना है।

सामूहिक सेवा कार्य सामान्य बच्चों (Normal Children) के साथ व्यक्त होता है जब कि सामूहिक चिकित्सा/उपचार के माध्यम से कुसमायोजित तथा संवेगात्मक रूप से क्षुब्ध (Emotionally Disturbed) सेवार्थियों की चिकित्सा/उपचार होती है। सामान्य दशा में सामूहिक सम्बन्धों द्वारा सदस्यों को प्रभावी जीवन के अनुभव प्रदान किये जाते हैं।

सामूहिक उपचार के अन्तर्गत सम्बन्ध एक पक्षीय होता है कार्यकर्ता सेवार्थी को स्वयं यह निर्धारित करने का अवसर देता है कि वह कार्यकर्ता से कैसी भूमिका की आशा करता है। कार्यकर्ता की तटस्थ भूमिका होती है।

सामूहिक सेवा कार्य एवं सामूहिक उपचार में उपयोग हेतु जो कार्य सामग्री उपलब्ध करायी जाती है, भिन्न-भिन्न होती हैं। सामान्य बच्चों को सामान्य समूह की दशा में अपने व दूसरों के आनन्द हेतु सर्जनात्मक क्रियायें करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। सामूहिक अनुभवों से अपने व्यक्तिव्य का विकास करने में मदद दी जाती है। इसके विपरीत उपचार समूह में कार्य सामग्री का चयन सेवार्थी के भीतर संवेगात्मक तनावों को संतुलित करने की दृष्टि से किया जाता है।

मैककोर्मिक (Mc Cormick) के विचारों को पूरी तरह से न स्वीकार कर **मार्की** (Marky) ने कहा है कि- सामूहिक कार्यकर्ता को व्यक्ति के मनोविज्ञान का ज्ञान होता है। सामूहिक अनुभवों की शैक्षिक प्रक्रियाओं से उपचारात्मक तत्त्वों को पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता। सामान्य समूह तथा रोगी समूह में उपचार की मात्रा में अन्तर हो सकता है। आधुनिक युग में विभिन्न विशेषताओं को सीमित नहीं किया जा सकता। उभय क्षेत्रों के विशेषज्ञ सामान्य मानवीय विज्ञान पर आधारित परस्पर बोध का प्रयोग करते हैं।

मैककोर्मिक (Mc Cormick) का कहना है कि – सामूहिक उपचार, मनश्चिकित्सा का एक उपकरण है जिसे कुछ विशिष्ट तरह के कुसमायोजन सम्बन्धी समस्याओं के उपचार के लिए

प्रयोग में लाया जाता है, जब कि सामूहिक सेवा कार्य, मानवीय व्यवहार तथा सामाजीकरण की प्रक्रियाओं से सम्बन्धित समाजकार्य की एक प्रणाली अथवा एक व्यवसाय है जो व्यक्तियों के जीवन की प्रगति तथा समस्त समुदाय की स्थितियों में सुधार हेतु उच्च ज्ञान का प्रयोग करता है। सामूहिक सेवा कार्य में व्यक्तित्व विकास तथा सामूहिक सम्बन्धों की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित होता है जबकि सामूहिक उपचार में इस बात पर बल दिया जाता है कि असमायोजन को सुधारने हेतु व्यक्ति के अन्दर क्या क्रियायें हो रही हैं? अर्थात् समूह उपचार का एक उपकरण होता है जब कि सामूहिक सेवा कार्य में समूह व्यक्ति की अव्यक्त क्षमताओं (Latent Potentialities) के विकास का उपकरण होता है। इसमें सदस्यों सहित समूह की निरन्तरता का बना रहना जरूरी होता है जब कि सामूहिक उपचार में अन्य सदस्यों की उपस्थिति उपचारात्मक प्रक्रिया की अनिवार्यता के रूप में ही होती है। सामूहिक सेवा कार्य में सामूहिक प्रक्रिया प्रमुख कारक होती है जब कि सामूहिक उपचार में, मनोरोग विज्ञान द्वारा निर्धारित उपचार प्रक्रिया प्रमुख कारक बनती है। सामूहिक उपचार का कार्य मानसिक और संवेगात्मक विकृति (Emotional Pathology) का उपचार है जो सामूहिक सेवा कार्य के कार्यक्षेत्र में नहीं हैं।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में अभिलेखन
(Recording in Social Group Work)

सामूहिक कार्यकर्ता का आवश्यक उत्तरदायित्व है कि समूह की क्रियाओं का क्रमबद्धता से अभिलेखन करे। उनके कार्यों में प्रतिवेदन तथा अभिलेखन एक महत्वपूर्ण कार्य है। संस्था की नीतियों के अनुसार इन प्रतिवेदनों व अभिलेखों की विशेष विषय-वस्तु और शैली में भिन्नता हो सकती है लेकिन इनके प्रकार समान होते हैं। व्यक्तियों व समूहों के निबन्धन (Registration), भर्ती, उपस्थिति आदि के संदर्भ में सूचनाओं के उल्लेख हेतु निबन्धन कार्ड अथवा रजिस्टर का प्रयोग किया जाता है।

समूहों के क्रिया-कलापों पर आधारित कार्यक्रमों में प्रतिवेदन, अध्ययन द्वारा एकत्रित समुदाय सम्बन्धी सूचनाओं, बैठकों अथवा सभा के कार्यवृत (Minutes) आदि को भी सामूहिक कार्यकर्ता द्वारा अभिलिखित किया जाता है जिसका प्रयोग समूह अपने कार्यों की समीक्षा हेतु योजनाओं के निर्माण तथा अनुवर्ती (Fallow-Up) कार्यों हेतु करता है।

सामूहिक कार्यकर्ता द्वारा जो दूसरी तरह का अभिलेख रखा जाता है वह सामूहिक सेवा कार्य प्रक्रिया का कालानुक्रामिक वर्णनात्मक अभिलेख (Chronological Narrative Record) है जिसे प्रक्रिया अभिलेख (Process Record) भी कहा जाता है। इसमें समूह की बैठक का पूर्ण विवरण लिखा जाता है। इसके अन्तर्गत मौलिक रूप से समूह के क्रिया-कलापों में सदस्यों की सहभागिता की मात्रा, उनकी अन्तःक्रिया, भूमिका का उल्लेख होता है। अतः व्यक्ति और समूह के विकास व उन्नति हेतु ऐसे अभिलेख की महती आवश्यकता है।

वर्णनात्मक अभिलेख की महत्ता एवं उद्देश्य :

सामूहिक कार्यकर्ता के लिए जितना आवश्यक समूह के साथ कार्य करना होता है उतना ही आवश्यक अभिलेखों को तैयार करना होता है। सामूहिक कार्यकर्ता अभिलेखों के लेखन व उसके विश्लेषण द्वारा सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में अपने कौशल को दर्शाता है क्योंकि वे उसे समूह में सदस्यों को अच्छी प्रकार समझने में मदद देते है। अभिलेखन के दौरान वह समूह की बैठक के अनुभवों का अभिलेखन करता, सदस्यों के व्यवहार के अर्थों को समझता व अपनी भूमिका का स्पष्टीकरण करता है तथा समस्त समूह की गति को समझता है। अभिलेख द्वारा सदस्यों व अपने आप में हो रहे विकास के परिणामों को प्रदर्शित करता है। अभिलेख पर्यवेक्षी कान्फ्रेन्स (Superisory Conference) को विषयवस्तु प्रदान करते हैं तथा भावी कार्यक्रमों के नियोजन में मदद देते हैं। अभिलेख संस्था के कार्यों और नियोजन का एक उपकरण बनते हैं। नवागन्तुक कार्यकर्ता के लिए वह अभिलेख सूचनाओं व प्रबोध का स्रोत बनते हैं और जनता-जनार्दन के सामने (समक्ष) अभिकरण के कार्यों का अर्थनिरूपण करते हैं।

कार्यकर्ता की दृष्टि से वर्णनात्मक अभिलेखों की महत्ता यह मानी जाती है कि यह उसे समूह के साथ अपनी भूमिका को और अधिक प्रभावशाली बनाने में मदद देते हैं। इस अभिलेख का मुख्य उद्देश्य समूह को प्रदान किये जाने वाले अनुभव की गुणवत्ता में वृद्धि करना है।

मूल रूप से अपने लिए तथा समूह के साथ अपने सम्बन्ध में लगातार प्रयोग के लिए कार्यकर्ता अभिलेख तैयार करता है। वर्णनात्मक अभिलेख द्वारा ही समूह के साथ कार्यकर्ता के सम्बन्धों और उसकी भूमिका में हो रहे विकास को समझा जा सकता है। उत्तम तरीके से लिखित वर्णनात्मक अभिलेखों से ही समाजकार्य की व्यावसायिक शिक्षा तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण (in-Service Training) के लिए अध्यापन सामग्री मिलती है। अध्ययन, अनुसंधान और प्रयोग के लिए सामूहिक अभिलेख अनिवार्य होते हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि उत्तम ढंग से लिखित वर्णनात्मक अभिलेख के कई उद्देश्य होते हैं उदाहरणार्थ : समूह का ज्ञान, मूल्यांकन, पर्यवेक्षण, भावी कार्यक्रम योजना, अभिकरण के कार्यों की सम्पन्नता, सामूहिक अन्तःक्रिया तथा पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान व प्रबोध, समूह कार्यकर्ता सम्बन्धों व भूमिका का ज्ञान, नये कार्यकर्ताओं के मार्गदर्शन में मदद, समाजकार्य शिक्षा में मदद, अन्वेषण में मदद, मूल्यांकन एवं पर्यवेक्षण में मदद, सामूहिक क्रिया-कलापों में सदस्यों द्वारा सहभागिता के स्तर का ज्ञान, समूह के सदस्यों की आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों का बोध तथा सेवाओं में सुधार व उन्नति करना आदि।

सामूहिक सेवा कार्य के अभिलेखों के लेखन में जिन कारकों पर कार्यकर्ता को एकाग्रता बरतनी चाहिए वे इस प्रकार हैं : समूह की दशा में व्यक्तियों के मिलजुलकर कार्य करने पर (Individulas), व्यक्तियों के द्वारा उनकी सहभागिता से प्रदर्शित आपसी सम्बन्धों पर

(Relationship), समूह के भीतर व समूहों के मध्य अन्तःक्रिया पर (Interaction) और सहायक की भूमिका का सम्पादन करते हुए कार्यकर्ता पर।

वर्णनात्मक अभिलेख का विषय-वस्तु :

सामूहिक सेवा कार्य में वर्णनात्मक अभिलेख का लिखा जाना कार्यकर्ता की भूमिका का एक आवश्यक अंग है। कार्यकर्ता में निपुणता व अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। जब कार्यकर्ता के पास सामूहिक सेवा कार्य के सिद्धान्तों, ज्ञान व बोध की उत्तम अन्तर्दृष्टि होती है तो उसके द्वारा लिखित अभिलेखों में इन सभी का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। एक उत्तम अभिलेख में ट्रेकर ने अनिवार्यतः निम्नलिखित बातों का समावेश होना बताया है : (1) समूह के सम्बन्ध में परिचयात्मक सूचनायें अर्थात नाम, तिथि, समय, स्थान, बैठक का स्थान, उपस्थित एवं अनुपस्थित सदस्यों के नाम, (2) व्यक्तियों के नाम सहित विवरण अर्थात् वे क्या करते हैं? क्या कहते हैं? समूह में दूसरे सदस्यों के साथ कैसे सम्बन्ध हैं, उनके क्रिया-कलापों में भाग लेने का अनुक्रम (Sequence), सदस्यों का योगदान, व्यवहार द्वारा प्रदर्शित सहभागिता की संवेगात्मक गुणवत्ता आदि। (3) कार्यक्रम सम्बन्धी क्रिया-कलापों, सकारात्मक तथा नकारात्मक अनुभव और समूह के विकास के विभिन्न पक्षों का चित्रण, (4) समूह में कार्यकर्ता के सम्बन्धों एवं भूमिका के सम्पादन का विवरण, (5) समूह की बैठक के अन्त में इस बैठक में होने वाले समस्त कार्यों का मूल्यांकन (6) समूह के साथ नियोजित अथवा अनौपचारिक बैठक के पहले और बाद में बैठक के मध्य में होने वाली समस्त बातों का विवरण।

अभिलेख के सिद्धान्त (Principles of Recordings)

लिन्डसे (Lindsay) ने अभिलेखन के पाँच प्रमुख सिद्धान्त बताये हैं :-

(1) लचीलापन का सिद्धान्त (Thr Principal of Flexibility) : अभिलेख अभिकरण के लक्ष्यों के अनुकूल लिखे गये हों, क्योंकि अभिकरण के लक्ष्य एवं सामूहिक सेवा कार्य के लक्ष्य एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं।

(2) चुनाव का सिद्धान्त (The Principal of Selection) : कार्यकर्ता अभिलेख में सभी बातों को नहीं लिखता बल्कि व्यक्ति व समूह के विकास व उन्नति के संदर्भ में महत्वपूर्ण सामग्री का चयन करके अभिलेख में सम्मिलित करता है।

(3) सुपाठ्यता का सिद्धान्त (The Principal of Readability) : अभिलेख सुस्पष्ट हो और उसकी भाषा एवं शैली स्पष्ट, समस्त सामग्री पढ़ी जाने योग्य लिपि में लिपिबद्ध हो और उसकी व्याख्या सरल ढंग से सम्पन्न हो सके।

(4) गोपनीयता का सिद्धान्त (The Principal of Confidentiality) : अभिलेख एक व्यावसायिक दस्तावेज होता है अतः इसकी विषय-वस्तु को व्यावसायिक नैतिकता के अनुसार गुप्त व सुरक्षित रखा जाना चाहिए, और

(5) कार्यकर्ता द्वारा स्वीकृति का सिद्धान्त (The Principles of Worker Acceptance) : अभिलेख लिखने के अपने उत्तरदायित्व को कार्यकर्ता द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए।

अतः कार्यकर्ता द्वारा अपने अभिलेखों की पुनः समीक्षा करते हुए उस पर आधारित एक विश्लेषण व सारांश तैयार करना चाहिए जो उसके लिए अति उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में मूल्यांकन
(Evaluation in Social Group Work)

समाज कार्य में मूल्यांकन का विशिष्ट महत्व है। इसके सभी प्रणालियों के अभ्यास में मूल्यांकन विधिवत् किया जाता है। इस हेतु अनुसंधान की प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है अथवा मूल्यांकन साधारण विवरणात्मक प्रकृति का हो सकता है जिसमें अभिकरण के लक्ष्यों व सदस्यों की संतुष्टि का अवलोकन सामुदायिक प्रत्याशा के सन्दर्भ में किया जा सकता है। समाज कार्य की किसी भी पद्धति की समस्त प्रक्रिया के दौरान अथवा किसी एक कार्य के पूर्ण हो जाने पर समीक्षा के रूप में मूल्यांकन किया जा सकता है। **ट्रेकर** (Trecker) के अनुसार, "सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य में मूल्यांकन वह भाग है जिसमें कार्यकर्ता अभिकरण के लक्ष्यों व कार्यों से सम्बन्धित सामूहिक अनुभवों की गुणवत्ता को नापने का प्रयत्न करता है" मूल्यांकन, वैयक्तिक विकास, कार्यक्रम के विषय-वस्तु अथवा कार्यकर्ता के कार्य निष्पादन पर केन्द्रित हो सकता है क्योंकि ये सभी पक्ष समूह की उपलब्धियों को प्रभावित करते हैं।

मूल्यांकन हेतु सदस्यों के विकास के विस्तृत प्रमाणों का एकीकरण तथा प्रमाणों का अर्थनिरूपण करना पड़ता है। इसी तरह समूह व कार्यकर्ता के मूल्यांकन में भी इस प्रक्रिया का लगातार प्रयोग किया जाता है। व्यक्तियों व समूहों के विशिष्ट लक्ष्यों का प्रतिपादन करने से ही मूल्यांकन का प्रथम चरण शुरू हो जाता है इसके पश्चात् दूसरा चरण समायोजन व विकास के अवसर के लिए सामूहिक अनुभवों को प्रदान करना है। इसके पश्चात् कार्यकर्ता व्यक्तियों के व्यवहार का रिकार्ड रखते हुए उनके प्रत्युत्तरों का अध्ययन करता है। इस तरह से व्यक्तियों व समूहों के लक्ष्यों में मूल्यांकन से आशोधन किया जाता है। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि समूह की आवश्यकताओं की पूर्ति वर्तमान कार्यक्रम से हो रही है तो उसे चालू रखा जाता है लेकिन यदि यह ज्ञात हो कि दिये गये अनुभवों की गुणवत्ता का विकास करने हेतु के सामूहिक दशा को परिवर्तित करना जरूरी है तो उसे परिवर्तित कर दिया जाता है। मूल्यांकन द्वारा ही ज्ञात होता है कि किस सीमा तक लक्ष्य की प्राप्ति हो रही है। निरन्तर मूल्यांकन न होने से उद्देश्य अप्रचलित (Out-Moded) तथा कार्यक्रम स्थिर (Staic) हो जाते हैं और समूह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असफल हो जाता है। अतः कार्यकर्ता व अभिकरण की

जिम्मेदारी होती है कि मूल्यांकन के आधार पर अपने अभ्यास के सम्बन्ध में पुनः चिन्तन करके उसे पुनः संगठित करें। मूल्यांकन का महत्व इसलिए भी होता है क्योंकि इसके जरिये लक्ष्य प्राप्ति का ज्ञान, नवीन लक्ष्य निर्माण में मदद, समूह के साथ कार्य करने के परिणामों का ज्ञान, सामूहिक सेवा कार्य पद्धति की विभिन्न प्रविधियों की उपयुक्तता का ज्ञान होता है और व्यवसाय का विकास होता रहता है।

ट्रेकर (Treacker) ने सामूहिक सेवा कार्य के अन्तर्गत मूल्यांकन को एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट कर इसके निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया हैः- (1) संस्था के लक्ष्यों के संदर्भ में व्यक्तियों व समूहों के लिए लक्ष्यों का निर्माण करना, (2) व्यक्ति व समूह के विकास व उन्नति को निश्चित करने के लिए मानदण्ड को पहचानना अथवा उसका ज्ञान रखना, (3) विकास व बदलाव लाने हेतु कार्यक्रम सम्बन्धी अनुभवों का प्राविधान करना, (4) व्यक्ति व समूह के व्यवहार का पूर्ण अभिलेख रखना, (5) विकास व उन्नति के मानदण्ड का प्रयोग करके अभिलेखों का विश्लेषण करना, (6) लक्ष्यपूर्ति की सुनिश्चितता हेतु विश्लेषणात्मक तथ्यों अथवा सूचनाओं का अर्थनिरूपण करना, (7) कार्यक्रम की विषय-वस्तु तथा प्रणाली की समीक्षा करना, (8) लक्ष्यों में आशोधन करना और मूल्यांकन को निरन्तर बनाये रखना।

इस तरह सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य अभ्यास के अन्तर्गत जितने भी जरूरी कार्य सम्पन्न किये जाते हैं, लक्ष्यों के संदर्भ में उन सम्पूर्ण का मूल्यांकन किया जाता रहता है। इस मूल्यांकन के अन्तर्गत सामूहिक सेवा कार्य की क्रियाओं, कार्यक्रमों की दशाओं, स्थितियों, व्यक्तियों, समूहों, कार्यकर्ताओं और अभिकरणों के समस्त पक्षों का मूल्यांकन सम्मिलित होता है। इस मूल्यांकन के पक्ष ये हैं : कार्यक्रम का संचालन, पारस्परिक स्वीकृति, सदस्यों एवं कार्यकर्ताओं द्वारा भाग लेने के समान अवसरों की उपलब्धि, समूह एवं सदस्यों में आत्म-विश्वास, आत्म-निर्णय, आत्म-निर्देशन का विकास, कार्यक्रम नियोजन एवं संचालन की क्षमता, वैयक्तिक एवं सामूहिक जिम्मेदारी का विकास आदि। कार्यकर्ता की भूमिका एवं उसका व्यवहार तथा अभिकरण की भूमिका एवं इसके समस्त कर्मचारियों के व्यवहार के संदर्भ में मूल्यांकन किया जा सकता है।

बर्नस्टीन (Bernstein) ने सामूहिक सेवा कार्य में मूल्यांकन हेतु एक सारिणी का विकास किया है, उन्होंने बताया कि इस सारिणी के तीन प्रकार हैं :-

(1) **समूह मूल्यांकन सारिणी** (Group Evaluation Chart) : इसमें चार स्तरों पर विभिन्न सामूहिक मानदण्डों का श्रेणीकरण किया है- पश्चगमन (Retrogression), स्थिर (Static), थोड़ी उन्नति (Slight Progress) और अधिक उन्नति (Great Progress)। सामूहिक मानदण्डों के अन्तर्गत ये कारक सम्मिलित हैंः उपस्थिति, समूह गठन, समूह-स्तर, कार्यक्षेत्र में विस्तार, समुदाय व संस्था के प्रति पारस्परिक सामाजिक जिम्मेदारी, मूल्यांकन रुचियाँ, संघर्ष

निवारण, नेतृत्व व सहभागिता, नियोजन, सामूहिक विचार, समूह भक्ति एवं मनोबल, परस्पर अन्तरों की स्वीकृति, नेतृत्व की जरूरत में कमी, आदि।

(2) **व्यक्तिगत मूल्यांकन सारिणी** (Individual Evaluation Chart) : इसके अंतर्गत समूह की तरह ही व्यक्ति के मानदण्डों का भी श्रेणीकरण किया जाता है इनके कारक इस प्रकार हैं : उपस्थिति, नये कौशल व रुचियाँ, नये ज्ञान, विस्तृत भक्ति, सहभागिता का क्षेत्र व दर, नेतृत्व, पूर्वाग्रहों अथवा पक्षपातों में कमी, समूह में स्थान, कुसमायोजन के लक्षण, स्वास्थ्य विकास, व्यावसायिक व शैक्षिक विकास।

(3) **समूह में सदस्यों के योगदान की सारिणी** (Members Group Contribution Chart) : इसके माध्यम से समूह के विकास में सदस्यों के योगदान का अध्ययन किया जाता हैं इसका प्रयोग प्रत्येक बैठक के पश्चात् किया जाता है। इस सारिणी के दो पक्ष हैं और प्रत्येक पक्ष में 5-5 अंक दर्शाये गये हैं ये दोनो पक्ष इस प्रकार हैं :- (1) सर्जनात्मक योगदान (2) विध्वंसात्मक योगदान।

सामूहिक सेवा कार्य की विचारधारायें :

सामूहिक सेवाकार्य समाज कार्य की एक महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष विधि है, इसके माध्यम से समूह के सदस्यों के व्यवहारों में परिवर्तन कर सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति की जाती है। अतः मनोवैज्ञानिकों ने व्यवहार में परिवर्तन संबंधी जिन विचारधाराओं का प्रणयन किया है। उनमें से कुछ विचारधारायें सामूहिक सेवाकार्य में भी लागू होती हैं। ऐसी कुछ विचारधाराओं का विवरण निम्नलिखित है।

(1) **मनोविश्लेषणात्मक विचारधारा** (Psycho analytical Theory) : इस विचारधारा के प्रणेता फ्रायड हैं। उन्होंने इगोसाइकॉलजी, अचेतनमन की भावनाओं में तथा बाल्यावस्था के अनुभवों आदि के आधार पर इस विचारधारा का प्रयोग व्यक्ति के स्तर पर किया। किंतु आगे चलकर वायन, रेडी, हिटकर, लीबरमैन तथा येलोन ने इस विधारधारा का प्रयोग समूह के परिप्रेक्ष्य में किया। उन लोगों के अनुसार समूह के सदस्य परिवार के साथ जुड़ी हुयी अपने विगत जीवन की भावनाओं और अनुभवों का संबंध समूह से जोड़ते हैं। इस प्रकार परिवार के मुखिया के पूर्व व्यवहारों के साथ यदि किसी सदस्य की ऋणात्मक भावनायें जुड़ी हुयी होती हैं अथवा भाइयों के बीच बाल्यावस्था की सिबलिंग राइवलरी की भावना भी ट्रॉसफर होकर समूह के दो सदस्यों के बीच की राइवलरी में प्रकट हो जाती है। अतः ग्रुप में स्वस्थ संबंध स्थापन हेतु कार्यकर्त्ता को इन भावनाओं का सही ढंग से निराकरण करना होगा, तभी समूह का स्वस्थ ढंग से विकास होगा और वह अपने लक्ष्यों की दिशा में अग्रसर होगा।

फ्रायड की विचारधारा को स्वीकार करने पर इन बातों पर ध्यान तो देना ही होगा, पर वास्तविक व्यवहार में कार्यकर्त्ता द्वारा इन भावनाओं की पहचान और उनका निराकरण कठिन होता है।

(2) **लर्निंगथ्योरी** (Learning Theory) : स्पेशल लर्निंग थ्योरी के अनुसार समूह के सदस्यों का व्यवहार लर्निंग के तीन तरीकों में से किसी एक तरीके के द्वारा स्पष्टीकृत किया जा सकता है :-

उदाहरणार्थ - प्राचीन क्लासिकल विचारधारा के अनुसार यदि समूह का सदस्य दूसरे सदस्यों की बातों पर सदैव ऋणात्मक प्रतिक्रिया करता है जो आगे चलकर यदि ऐसी कोई बात नहीं भी करता है तब भी यह समझा जाता है कि उक्त सदस्य का व्यवहार ऋणात्मक ही होगा। दूसरा तरीका अपरेन्ट कण्डीशनिंग का है। इसके अनुसार यदि समूह का एक सदस्य दूसरे के प्रति धनात्मक या सकारात्मक व्यवहार करता है, तो पहला सदस्य सदैव पूर्ववत व्यवहार करता रहेगा। लर्निंग थ्योरी के तीसरे तरीके का प्रयोग बाण्डुरा ने किया। उनके अनुसार समूह बहुत से व्यवहार दूसरों को देखकर सीखता है। इस प्रकार यदि समूह में कोई सदस्य ऐसा व्यवहार करता है जिसकी दूसरे सदस्य प्रशंसा करते हैं तो केवल वह सदस्य ही नहीं वरन दूसरे सदस्य भी वैसा ही व्यवहार करना सीख लेते हैं। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि लर्निंग थ्योरी यद्यपि संपूर्ण रूप से समूह के व्यवहारों का अध्ययन तो नहीं करती किंतु इसके द्वारा समूह के सदस्यों में आपेक्षित परिवर्तन लाने में मदद अवश्य मिलती है।

(3) **फील्ड थ्योरी** (Field Theory) : इस विचारधारा का श्रीगणेश कुर्ट लेविन, लिपिट और ह्वाइट के कार्यों के द्वारा हुआ। इन लोगों ने ग्रुप के संबंध में किसी विचारधारा के विकास में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया। उनके प्रयोगों एवं कार्यों के आधार पर फील्ड थ्योरी का विकास हुआ। इस थ्योरी के अनुसार समूह का भी एक जीवनक्रम होता है। अन्य विषयों के परिप्रेक्ष्य में इसका भी एक स्थान होता है। यह लक्ष्य मूलक होता है। अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उसे बाधाओं का भी सामना करना पड़ सकता है। इस विचारधारा का सबसे बहुमूल्य योगदान यह है कि यह समूह के एक "जेस्टाल" या समग्र के रूप में देखती है, अर्थात समूह को एक ऐसी इकाई समझती है जिसका गठन परस्पर विरोधी ताकतों के योग से हुआ है। इन ताकतों के द्वारा व्यक्ति विरोधी समूह के सदस्य के रूप में कार्य करता रहता है और इसके द्वारा समूह अपने लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ता रहता है। कुर्ट लेविल के अनुसार समूह सामाजिक स्थितियों के अनुसार अपने में बदलाव करता रहता है। कुर्ट लेविन की इसी विचारधारा के अनुसर आगे चलकर टी ग्रुप ट्रेनिंग या लेबोरेटरी ट्रेनिंग के प्रत्यय का विकास हुआ। जिसके द्वारा एक ही स्थान पर संगठन के विभिन्न प्रस्थिति धारक सदस्य जब एक साथ मिलकर परस्पर अन्तक्रिया करते हैं तो एक दूसरों की आलोचनाओं के आधार पर विभिन्न प्रस्थिति धारकों को ज्ञात होता है कि उनमें क्या कमियाँ हैं और उन्हें किस प्रकार से दूर किया जाये।

(4) **सोशल एक्सचेंज थ्योरी** (Social Exchange Theory) : इस विचारधारा का विकास ब्लाऊ होमन्स, थिवर और केली के कार्यों के आधार पर हुआ। जहाँ फील्ड थ्योरी संपूर्ण समाज

पर लागू होती है, वहीं सोशल एक्सचेंज थ्योरी समूह के कुछ सदस्यों के ऊपर लागू होती है। इस विचारधारा का मूलमंत्र यह है कि सामान्यतया किसी व्यक्ति को कोई भी उपलब्धि या लाभ या विधायी प्रतिफल तब तक नहीं प्राप्त हो सकता जब तक कि वह बदले में भी कुछ विधायी या धनात्मक लाभ दूसरों को न पहुँचाये। समूह में विधायी सामूहिक अन्तर्क्रियाओं और विधायी सहभागी संस्कृति का विकास इसी आधार पर हुआ है। यदि कार्यकर्ता समूह के एक सदस्य को इस प्रकार सहायता देगा कि दूसरे के साथ विधायी ढंग से अन्तर्क्रिया करे तो परिणाम स्वरूप दूसरा सदस्य भी पहले सदस्य से विधायी तरीके से अन्तर्क्रिया करेगा। इस प्रकार विधायी अन्तर्क्रिया की संस्कृति समूह में विकसित होगी।

अपराधी किशोरों के सुधार हेतु भी इस विचारधारा के आधार पर गठित संरचित समूह का प्रयोग किया जाता है, उदाहरणार्थ यदि कोई अपराधी किशोर बालक ऐसे समूह में रखा जायेगा जहाँ दूसरे सदस्य उसके साथ विधायी रूप से अन्तर्क्रिया करते हैं तो उसके व्यवहार में भी अपने आप बदलाव आयेगा और उसकी अन्तर्क्रियायें भी ऋणात्मक से धनात्मक हो जायेंगी।

(5) **प्रणाली उपागम** (System Theory) : इस विचारधारा के प्रमुख प्रणेता पारसन्स और उनके साथी हैं। इनके अनुसार प्रणाली उपागम के परिप्रेक्ष्य में समूह के चार कार्य हैं :-

1. इण्ट्रीग्रेशन – समूह के सदस्य परस्पर एकीकृत रूप में व्यवहार करते हैं।
2. एडाप्शन – समूह अपने पर्यावरण की माँगों की पूर्ति हेतु अपने क्रिया कलापों में परिवर्तन करता रहता है।
3. पैटर्न मेनटेनेंस– समूह के कुछ अपने प्रतिमान एवं अपनी विशेषतायें होती हैं, जिन्हें वह हर स्थिति में कायम रखने पर पूरा प्रयास करता है।
4. गोल अटेनमेन्ट– समूह यथासंभव प्रयासकर अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करता है। पारसन्स के अनुसार समूह को अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए इन चारों कार्यों का सक्षम ढंग से निर्वाह करना पड़ता है। प्रणाली के संबंध में प्रतिपादित एक अन्य विचारधारा के अनुसार किसी समूह का अस्तित्व बहुत कुछ पर्यावरण के साथ समूह के समायोजन (इकोलाजिकल एडजस्टमेन्ट), समूह के सदस्यों के द्वारा समूह के लक्ष्यों की स्वीकृति और इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु समूह के सदस्यों की तत्परता पर निर्भर करता है। समूह के सदस्य आन्तरिक एवं वाह्य अपेक्षाओं के बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में सदैव सन्तुलन (इक्विलिब्रियम) बनाने का प्रयास करते हैं। आगें चलकर होमन्स गिटरमैन तथा सिम्पोरिन आदि विचारकों ने सिस्टम के इकोलॉजिकल पक्ष पर विशेष बल दिया। इन विद्वानों का यह मानना है कि समूह की एक आन्तरिक एवं एक वाह्य प्रणाली होती है। इसमें सदैव बदलाव होता रहता है और समूह इनके दबाव एवं अपेक्षाओं में यथाशक्ति सन्तुलन स्थापन कर लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रत्यनशील होता है।

इस प्रकार समूह के सन्दर्भ में सिस्टम थ्योरी को लागू करने के सम्बन्ध में दोनों विचार-धारायें परस्पर पूर्णतया मेल नहीं खातीं तथापि सब कुछ मिलाकर समूह के सन्दर्भ में प्रणाली उपागम के कुछ बिन्दु निर्धारित किये जा सकते हैं जैसे :-

1. समूह का अस्तित्व एवं सामूहिक शक्तियों का समूह के सदस्यों पर प्रभावपूर्ण प्रभाव,
2. बाहरी या आन्तरिक क्रियाओं की स्थिति में समूह द्वारा अपने अस्तित्व को कायम रखने का प्रयास,
3. समूह का अपनी वाह्य शक्ति एवं आन्तरिक शक्तियों के बीच सन्तुलन बनाये रखने का निरन्तर प्रयास,
4. समूह निरन्तर परिवर्तन और विकास की स्थिति में रहता है जिसके कारण उसमें होमियोस्थैसिस या सन्तुलन नहीं स्थापित हो पाता है। कार्यकर्त्ता सामूहिक कार्य के दौरान इन चारों बातों को सदैव ध्यान में रखता है।

समूह का विकास

ट्रैकर ने समूह के विकास की छह (6) मंजिलें निर्धारित की हैं जो निम्नवत हैं :-

1. प्रारंभिक मंजिल
2. समूह भावना के विकास की मंजिल
3. संगठन
4. कार्यक्रम
5. समूह बन्धनों का विकास
6. उद्देश्य एवं पारस्परिक सहयोग और सम्बद्धता

इस क्रम में सारी और नैलिंसकी ने भी जो मॉडल प्रस्तुत किया है उसके अनुसार सामूहिक सेवा कार्य के विकास की 6 मंजिलें निर्धारित की हैं, जिनका विवरण निम्नलिखित है:-

1. उद्गम मंजिल –

इस मंजिल के अन्तर्गत खास कर विश्लेषणात्मक उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये यह विचार किया जाता है कि समूह की बनावट किस प्रकार हो रही है।

2. निर्माणात्मक मंजिल–

समूह के सदस्यों के प्रारंभिक क्रियाकलाप, जिनके द्वारा वे एक दूसरे से समानता का बोध करते हैं और वे यह भी महसूस करते हैं कि उनके उद्देश्य परस्पर एक दूसरे से मिलते हैं, उनके द्वारा समूह निर्माण के प्रारम्भिक क्रिया कलापों की शुरुआत होती है। इस परिप्रेक्ष्य में समूह के सदस्यों का समूह के लक्ष्यों के प्रति प्रारंभिक प्रतिबद्धता और उनके बीच वैयक्तिक

सम्बन्धों की शुरुआत आदि भी महत्वपूर्ण है।

3. माध्यमिक मंजिल –

इस मंजिल में समूह के सदस्य परस्पर एक दूसरे से मिल जाते हैं, उनके उद्देश्यों में भी स्पष्टता आ जाती है और लक्ष्य के निर्देशित क्रिया कलापों में सदस्य स्पष्ट रूप से संलग्न हो जाते है।

4. संशोधन मंजिल –

इस मंजिल में विद्यमान समूह संरचना के बीच चुनौतियों का स्पष्टीकरण होता है, और उसके परिपेक्ष्य में समूह के लक्ष्यों और उसकी कार्यात्मक प्रणाली में आवश्यक संशोधन किया जाता है।

5. परिपक्वता की मंजिल –

इस मंजिल में समूह के उद्देश्य, समूह की संरचना, समूह की कार्यपद्धति और समूह की संस्कृति का प्रस्तर स्पष्ट हो जाता है और वाह्य एवं आन्तरिक दबावों के संबंध में समूह की प्रतिक्रिया भी स्पष्ट होने लगती है।

6. समाप्ति की मंजिल –

इस मंजिल में समूह को अंततोगत्वा समाप्त कर दिया जाता है। इसके कई आधार हो सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि प्रारंभ में ही यह निश्चय कर लिया गया हो कि समूह अमुक अवधि तक कार्य करेगा तो उक्त अवधि की पूर्ति के पश्चात् समूह के क्रियाकलाप समाप्त हो जायेंगे। दूसरी बात यह है कि यदि समूह के लक्ष्य पूरे हो जाते हैं अथवा समूह में विघटन हो जाता है तब भी उसे समाप्त किया जा सकता है।

समूह विकास का एक पंचस्तरीय मॉडल कुछ चिल्ड्रेन एजेन्सियों ने अपने प्रयोगों के आधार पर विकसित किया है। उक्त मॉडल के पाँचों स्तरों का विवरण निम्नलिखित है :-

1– पूर्व सम्बद्धता

इस अवधि में कार्यकर्त्ता का मुख्य ध्यान नवगठित समूह के सदस्यों में एकता स्थापन पर रहता है। समूह के सदस्य प्रारम्भिक अवधि में इस दुविधा में रहते हैं कि समूह के सदस्य बने रहकर उसके क्रियाकलापों में निरन्तर भाग लें या न भाग लें। कार्यकर्त्ता उन में परस्पर एकता स्थापन का प्रयास करता है।

2– अधिकार एवं नियन्त्रण

अंततोगत्वा जब समूह के सदस्य नियमित रूप से उसके क्रियाकलापों में भाग लेने लगते हैं तो समस्या पर अधिकार एवं नियन्त्रण किया जाता है। समूह के कुछ सदस्य चाहते हैं कि समूह का सारा अधिकार उन्हीं के हाथों में आ जाये और वे ही समूह का नियन्त्रण करें। ऐसी

स्थिति में कभी-कभी उनमें द्वन्द्व भी उत्पन्न हो जाता है। कार्यकर्त्ता उस द्वन्द्व को मिटाकर समूह में पारस्परिक सहमति स्थापित कर जनतांत्रिक आधार पर अधिकारों का आवंटन कराने का प्रयास करता है।

3– सामीप्य –

इस मंजिल तक आने पर समूह के सदस्यों में पारस्परिक सामीप्य स्थापित हो जाता है और वे अपेक्षाकृत दूसरे के अधिक समीप आकर कार्य करने लगते हैं।

4– वैभिन्नता –

समूह के सदस्यों में जब परस्पर सामीप्य हो जाता है तो वे एक दूसरे को धीरे-धीरे अपेक्षाकृत अधिक अच्छे ढंग से पहचानने लगते हैं, ऐसी स्थिति में वे यह भी महसूस करते हैं कि प्रत्येक सदस्य की कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं, अतः इस आधार पर वे एक दूसरे से भिन्न किये जा सकते हैं और इस प्रयास को वे स्वीकृत प्रदान करते हैं कि समूह के सदस्यों की व्यक्तिगत विशेषताओं और एक दूसरे से पारस्परिक भिन्नता के आधार पर समूह कार्यकर्त्ता उनकी अलग समस्याओं को अलग ढंग से सुलझाने में मदद करें।

5– अलगाव –

अतंतोगत्वा समूह का अनुभव एवं सामूहिक कार्य के उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति में समूह के सदस्य धीरे-धीरे समूह से अलग होने लगते हैं और बाद में यदि उनके समाजीकरण की कोई आवश्यकता पुनः उत्पन्न होती है तो उसे वे दूसरे तरीकों से पूरा करने लगते हैं।

सामूहिक सेवाकार्य के कुछ विशेष मॉडल्स

पैपेल और राथमैन ने सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के तीन मॉडल्स प्रस्तुत किये हैं, जिनका विवरण निम्नवत है :-

1- सोशल गोल मॉडल्स -

इस मॉडल का उद्गम सामाजिक सामूहिक सेवाकार्य के परम्परागत व्यवहारों में निहित है। इस मॉडल का निहितार्थ यह है कि सामाजिक परिवर्तन सामूहिक कार्य के जिम्मेदार सदस्यों के द्वारा लाया जाता है। यह मॉडल जनतांत्रिक समूह के मूल्य पर आधारित है, कहना नहीं होगा कि यही मूल्य सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के आधारभूत मूल्य हैं। वर्तमान में इस मॉडेल के प्रमुख प्रणेता होमैन और बिनर हैं। इन लोगों का यह विश्वास है कि सामाजिक जिम्मेदारी और सामाजिक पहचान केवल वैज्ञानिक परियोजनाओं के द्वारा ही की जा सकती है। ऐसी परियोजनाओं का चयन अभिकरण में सामूहिक सेवा कार्य को दिये जाने वाले महत्व के आधार

पर किया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में इस बात का भी विचार होता है कि अभिकरण एवं समुदाय में अधिकार का वितरण किस प्रकार है। इस मॉडल का निहितार्थ यह है कि समूह के जिम्मेदार सदस्यों द्वारा सामाजिक जिम्मेदारी की पहचान की जाती है ऐसे ही सदस्यों के द्वारा सामाजिक परिवर्तन सामूहिक सेवा कार्य के माध्यम से लाया जाता है।

2- रिमेडियम मॉडल-

इसे उपचारात्मक मॉडल भी कहा जाता है, इसका निहितार्थ यह है कि सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तरीकों से सम्बन्धित समूह की समस्याओं को पहचानकर उनका उपचार करती हैं।

3- रेसीप्रोकल मॉडल -

इस मॉडल के अन्तर्गत इस तथ्य पर विश्वास किया जाता है कि ग्रुप-वर्क के कुछ ऐसे लक्ष्य नहीं हैं जिनकी प्राप्ति हेतु समूह एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता को पारस्परिक सहयोग के साथ प्रयास करने की आवश्यकता होती है वरन सब कुछ मिलाकर सामूहिक कार्य के अन्तर्गत व्यक्तियों के अन्तर्वैयक्तिक संबंधों पर ही अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। सामूहिक कार्यकर्त्ता इस बात में भी विश्वास करता है कि समूह एवं समाज परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं, अतः दोनों में परस्पर समायोजन पर भी कार्यकर्त्ता बल देता है।

<u>सन्दर्भ</u>

1. कायल ग्रेस लॉंगवेल "सोशल ग्रुप वर्क" इन सोशल वर्क इयर बुक-1954, पेज-480-485.
2. कुर्ल एडम, डायनमिक्स ऑफ ग्रुपवर्क इन कुनेस्लर पी. (एड.), सोशल ग्रुपवर्क इन ग्रेट ब्रिटेन, लन्दन, फेवर एंड फेवर-1950
3. राबिन्सन वर्जीनीया पी., दि मीनिंग ऑफ स्किल ट्रेनिंग इन सोशल केस वर्क, यूनिवर्सिटी ऑफ पेन्सिलवानिया, फिलेडाल्फिया, 1942
4. सुलिवान डोरोथिया एफ., रीडिंग इन ग्रुपवर्क, न्यूयार्क एसोसियेशन प्रेस, 1952 पेज-420.
5. स्लेवसन्स एस.आर., एन. इन्ड्रोडक्शन टू थिरेपी, न्यूयार्क कामनवेल्थ प्रेस पृष्ठ-202
6. व्हाइट लियेनार्ट डी., दि फ्रंटियर्स आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1966, पृष्ठ-21

अध्याय-10

सामुदायिक संगठन

'सामुदायिक संगठन' शब्द के कम से कम तीन अर्थ हैं- प्रथम, इसका प्रयोग समाज कार्य की उन प्रत्यक्ष एवं समाविष्ट प्रक्रियाओं को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है, जिसकी आवश्यकता समाज कल्याण के मौलिक उद्देश्यों के पूर्णतम प्रकटन के लिए होती है। द्वितीय, सामुदायिक संगठन का प्रयोग सम्पूर्ण समुदाय के कल्याण के लिए व्यावसायिक व्यक्तियों एवं सभ्य नागरिकों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली क्रियाओं का बोध कराने के लिए किया जाता है तृतीय, सामुदायिक संगठन का प्रयोग समाजशास्त्रियों द्वारा तथा समाज वैज्ञानिकों द्वारा समुदाय की संरचना का बोध कराने के लिए किया जाता है।

सामुदायिक संगठन की प्रमुख परिभाषाओं का वर्णन यहाँ किया जा रहा है :-

लिण्डमैन (1921)

सामुदायिक संगठन सामाजिक संगठन का वह स्तर है जिसमें समुदाय के द्वारा चेतन प्रयास किये जाते हैं तथा जिसके द्वारा वह अपने मामलों को प्रजातांत्रिक ढंग से नियंत्रित करता है तथा अपने विशेषज्ञों, संगठनों, संस्थानों से जाने-पहचाने अन्तर्सम्बन्धों के द्वारा उनकी उच्च कोटि की सेवायें प्राप्त करता है।

पैटिट (1925)

सामुदायिक संगठन एक समूह के लोगों को उनकी सामान्य आवश्यकताओं को पहचानने तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करने के रूप में उत्तम प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है।

सैण्डरसन एण्ड पोल्सन (1939)

सामुदायिक संगठन का उद्देश्य समूहों तथा व्यक्तियों के मध्य ऐसे संबन्ध विकसित करना है जिससे उन्हें ऐसी सुविधाओं तथा संस्थाओं का निर्माण करने तथा उन्हें बनाये रखने के लिए एक साथ कार्य करने में सहायता मिलेगी तथा जिसके माध्यम से समुदाय के सभी सदस्यों के समान कल्याण में अपने उच्चतम मूल्यों का अनुभव कर सकें।

मैकमिलन (1947)

अपने सामान्य अर्थ में सामुदायिक संगठन समूहों की सहायता का विचारपूर्वक किया हुआ निर्देशित प्रयास है जिससे वे अपने उद्देश्यों और कार्यों को प्राप्त कर सकें। इनका प्रयोग

चाहे लोगों को इसका ज्ञान हो या न हो, से परे रह कर, उस स्थान पर किया जाता है, जहाँ पर दो या दो से अधिक समूहों की योग्यताओं व साधनों को सामान्य या विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एकत्रित करना होता है।

डनहम (1948)

समाज कल्याण के लिए सामुदायिक संगठन का अर्थ एक भौगोलिक क्षेत्र या कार्यक्षेत्र के समाज कल्याण संसाधनों में समायोजन लाने तथा बनाये रखने की प्रक्रिया से है।

रास (1955)

सामुदायिक संगठन एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समुदाय अपनी आवश्यकताओं अथवा उद्देश्यों के साथ कार्य करने के लिए विश्वास एवं इच्छा विकसित करता है, इन आवश्यकताओं अथवा उद्देश्यों के साथ कार्य करने के लिए साधनों (आन्तरिक अथवा वाह्य) का पता लगाता है, इनके संबंध में क्रिया करता है और ऐसा करते हुए समुदाय में सहयोगात्मक तथा सहकारात्मक मनोवृतियों एवं व्यवहारों का विकास एवं विस्तार करता है।

फ्रीडलैण्डर (1955)

समाज कल्याण के सन्दर्भ में सामुदायिक संगठन की परिभाषा एक भौगोलिक क्षेत्र में समाज कल्याण आवश्यकताओं तथा सामुदायिक कल्याण साधनों के बीच क्रमिक और अधिक सार्थक समायोजन उत्पन्न करने वाली समाज कार्य की एक प्रक्रिया के रूप में की जा सकती है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामुदायिक संगठन में समाज कार्यकर्ता का सेवार्थी समुदाय होता है। इसका प्रमुख उद्देश्य समुदाय की इस प्रकार सहायता करना होता है जिससे वह अपनी सहायता स्वयं करने में समर्थ हो सके। इसकी प्रक्रिया उद्देश्यमूलक होती है। सामुदायिक संगठन की कार्यविधि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से अधिक समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर निर्भर करती है।

सामुदायिक संगठन दो शब्दों से मिलकर बना है। समुदाय तथा संगठन। समुदाय की एक भौगोलिक सीमा होती है तथा उस क्षेत्र की कुछ सामान्य विशेषताएं होती हैं। समाज कार्य की दृष्टि से समुदाय वह क्षेत्र है जहाँ पर लोग समाज कल्याण सम्बन्धी सामान्य रुचियां रखते हैं तथा जहाँ सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया चल रही होती है। यह एक छोटा समुदाय, नगर का एक क्षेत्र, अथवा पूरा नगर, एक राज्य, एक देश, सभी कुछ हो सकता है। संगठन एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समुदाय के लोगों को अपनी मूलभूत समस्याओं को समझने, सुलझाने तथा इसके लिए आवश्यक सुविधायें उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया जाता है। समुदाय स्वयं विभिन्न प्रकार की संस्थाओं की सेवाओं का उपयोग करता है। चाहे ये संस्थायें आर्थिक विकास से सम्बन्धित हो अथवा स्वास्थ्य से या कल्याण से, सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता का कार्य निरन्तर समुदाय के सदस्यों को उत्साहित करते रहना होता है।

जब हम विभिन्न लेखकों द्वारा दी गयी परिभाषाओं का विश्लेषण करते हैं तो सामुदायिक संगठन की निम्नलिखित विशेषतायें समाने आती है :-

1. यह एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समुदाय पहले से अधिक सकारात्मक एवं रचनात्मक रूप से कार्य करने की क्षमता विकसित करता है। सामाजिक कार्यकर्त्ता इस प्रक्रिया को जान-बूझ कर सतर्क होकर उपयोग में लाता है।
2. इस प्रक्रिया के द्वारा समुदाय अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को जानने तथा उनकी पूर्ति की महत्ता को पहचानने में सफल होता है। समुदाय स्वयं आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समस्या समाधान का प्रयास करता है। इस स्थिति में कार्यकर्त्ता का पहला कार्य समुदाय की उन समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने में सहायता करना होता है जिनसे उनका सम्पूर्ण जीवन प्रभावित होता है।
3. जब समस्याओं एवं आवश्यकताओं का ज्ञान समुदाय को हो जाता है तो कार्यकर्त्ता उन आवश्यकताओं को पूरा करने तथा समस्याओं के निराकरण करने हेतु प्राथमिकता निर्धारित करने में समुदाय की सहायता करता हैं जिससे उसी के अनुसार प्रयासों में एकरूपता तथा गहनता लायी जा सके।
4. सामुदायिक संगठन कार्यकर्त्ता समुदाय को उन संसाधनों की खोज करने में सहायता करता है जिनसे आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समस्याओं का समाधान संभव है। समुदाय में अनेक ऐसी संस्थाएं होती हैं जो समुदाय के कल्याण के लिए कार्य करती हैं लेकिन समुदाय को उनका ज्ञान नहीं होता है। कार्यकर्त्ता इन संस्थाओं का पता लगाकर समुदाय द्वारा इनकी सेवाओं का उपयोग किए जाने पर बल देता है।
5. इस प्रक्रिया के द्वारा कार्यकर्त्ता समुदाय को विशेष समस्या का समाधान करने तथा आवश्यकता पूर्ति करने के लिए प्रेरित करता है, प्रयास करने के लिए उत्साहित करता है तथा मार्गदर्शन करता है।
6. जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, समुदाय के लोग उसकी महत्ता को समझने लगते हैं, स्वीकार करने लगते हैं, एक दूसरे के साथ सहयोग करने लगते हैं, आपसी मतभेदों को दूर करते हैं, तथा सभी प्रकार के संसाधनों का उपयोग करने का प्रयास करते हैं एवं स्वयं समर्थ बनने की प्रबल इच्छा जागृत कर लेते हैं।

सामुदायिक संगठन का क्षेत्र

सामुदायिक संगठन का क्षेत्र वृहद है तथा इसकी विषयवस्तु विविध प्रकार की है। इसकी आवश्यकता सभी प्रकार के समुदायों-गांव, शहर, कस्बा, मलिन बस्तियों सभी को है। सामुदायिक संगठन की प्रक्रिया चेतन या अचेतन रूप से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों-राजनीति, कला, शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक जीवन सभी में उपयोग में लायी जाती है। आज समाज कल्याण

सेवाओं का सामुदायिक संगठन के रूप में उपयोग करने की आवश्यकता अनेक कारकों से निरन्तर बढ़ रही है। कुछ कारक निम्नलिखित हैं :-

1. समुदाय पहले से अधिक जटिल एवं समस्याग्रस्त हो रहे हैं।
2. समाज कल्याण संस्थाओं की संख्या बढ़ रही है।
3. समाज कल्याण के क्षेत्र में आवश्यकतायें निरन्तर बढ़ रही हैं।
4. आज के समुदाय के लिए उच्च स्तर की सेवाओं तथा उनके प्रशासन की विशिष्ट कला की आवश्यकता है।
5. बढ़ते हुए विशेषीकरण के लिए उनमें परस्पर अधिक संगठन करने की आवश्यकता है।
6. समुदायों में एकता और सहयोग कम होता चला जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप समस्यायें अधिक बढ़ रही हैं।
7. आज परस्पर कार्य करने के लिए विशेष ज्ञान एवं निपुणता की आवश्यकता अनुभव होने लगी है।

सामुदायिक संगठन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सामुदायिक संगठन शब्द उतना ही प्राचीन है जितना कि सामुदायिक जीवन। ऐसा इसलिए है क्योंकि जहाँ कहीं भी लोग एक समय रहते है संगठन आवश्यक हो जाता है। लेकिन जब जीवन अधिक जटिल हो जाता है तो ऐसी दशा में समुदाय के कल्याण के लिए कुछ औपचारिक संगठनों की आवश्यकता प्रतीत होती है। इंग्लैण्ड में इलिजाबेथ का निर्धन कानून इस दिशा में प्रथम प्रयास माना जा सकता है। दान संगठन समिति (Charity Organization Society) आधुनिक सामुदायिक संगठन की आधारशिला थी। सन् 1889 में लंदन में वह इसलिए स्थापित की गयी जिससे दान या सहायता देने वाली संस्थायें यह जान सकें कि किसको किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है। सभी को बिना जाँच-पड़ताल किये आर्थिक सहायता न प्रदान करें। सन् 1877 में अमेरिका के बफैलों (Buffalo) नगर में पहली बार दान संगठन समिति (Charity Organization Society) की स्थापना की गयी। उसके बाद पेन्सिलवानियां, बोस्टन, न्यूयार्क, फिलेडेल्फिया तथा अन्य स्थानों पर भी इसकी स्थापना की गयी। इन दान संगठन समितियों का मूल उद्देश्य एक क्षेत्र की सभी दान संस्थाओं में सहयोग स्थापित करना तथा उनके प्रयत्नों में एकात्मकता या एकीकरण लाना था। सैटेलमेण्ट हाउस आन्दोलन सामुदायिक संगठन की दिशा में दूसरा कदम था। सबसे पहला पड़ोसी गिल्ड (Neighbourhood Guild) सन् 1886 में न्यूयार्क में स्थापित किया गया। इसके पश्चात ये अन्य औद्योगिक नगरों में स्थापित होते गये। प्रथम विश्वयुद्ध के समय अमरीका में रेडक्रास गृह सेवा कार्यक्रम (Red Cross Home Service Programme) चलाया गया जिसका व्यवहारिक स्वरूप व्यवसायिक समाज कार्य जैसा था। उसी दौरान अन्य संस्थायें जैसे यंगमेन्स

क्रिश्चियन एसोसियेशन, यंग विमन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन, ब्यायज स्काउट्स, गर्ल गाइड आदि कार्यक्रम चलाये गये।

सामुदायिक संगठन के उद्देश्य एवं लक्ष्य

वायलेट एम0सीडर ने सामुदायिक संगठन के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों के विकास की पाँच स्थितियां बतलायी हैं :-

1. पहली स्थिति में सेवार्थियों द्वारा सेवाओं के दुरुपयोग को रोकने के प्रयास किये गये।
2. दूसरी स्थिति में सेवार्थियों को सेवा प्रदान करते हुए धन एवं प्रयासों के अपव्यय और पुनरावृत्ति के रोकने का प्रयास किये गये।
3. तीसरी स्थिति में संस्थाओं के साधनों को व्यक्तियों की आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य की स्थिति में ले जाने के प्रयास किये गये।
4. चौथी स्थिति में सामुदायिक संगठन को समुदाय के अन्तर्गत कारणात्मक कारकों का पता लगाते हुए सामाजिक समस्याओं को रोकने पर जोर दिया गया।
5. पाँचवी स्थिति में सामुदायिक संगठन को समुदायों की एक प्रत्यक्ष सेवा में रूप में देखा गया।

राबर्ट पी0लेन ने सामुदायिक संगठन का एक सामान्य उद्देश्य और कुछ द्वितीयक लक्ष्य बतलाये हैं। सामान्य उद्देश्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है –

सामुदायिक संगठन का सामान्य उद्देश्य समाज कल्याण साधनों और समाज कल्याण आवश्यकताओं में प्रगति की ओर उन्मुख अधिक प्रभाव-पूर्ण सामंजस्य लाना और इसे बनाये रखना हैं। इसमें यह अन्तर्निहित है कि सामुदायिक संगठन का सम्बन्ध (1) आवश्यकताओं के अन्वेषण और परिभाषा, (2) साधनों और आवश्यकताओं का समायोजन करने और परिवर्तित होती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधनों के निरन्तर पुनः सामंजस्य करने से हैं।

द्वितीयक लक्ष्यों का वर्णन करते हुए लेन ने कहा है-ये लक्षण सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में 6 प्रकार के हैं : (1) स्वथ्य नियोजन और क्रिया के लिए एक उपयुक्त वास्तविक आधार प्राप्त करना तथा बनाये रखना, (2) साधनों एवं आवश्यकताओं में अधिक अच्छा सामंजस्य प्राप्त करने के लिए कल्याण सम्बन्धी कार्यक्रमों तथा सेवाओं को आरम्भ, विकसित करना और व्यक्तिगत समाज कार्य के मानदण्डों को विकसित करना (3) व्यक्तिगत संस्थाओं की प्रभावशीलता को बढ़ाना, (4) पारस्परिक सम्बन्धों में सुधार लाना, सुविधायें प्रदान करना, समाज कल्याण कार्यक्रमों और सेवाओं से सम्बन्धित संगठनों, समूहों एवं व्यक्तियों में समन्वय की अभिवृद्धि करना, (5) कल्याण समस्याओं एवं आवश्यकताओं तथा समाज कार्य के उद्देश्यों, कार्यक्रमों और ढंगों के विषय में जनता में अधिक अच्छे ज्ञान को विकसित करना

और (6) समाज कल्याण क्रियाओं के लिए जनता में सहयोग और सम्मिलन को विकसित करना।

सैण्डर्सन तथा पॉल्सन के अनुसार इसके विशिष्ट उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

1. सामुदायिक पहचान की चेतना जागृत करना
2. सम्पूर्ण आवश्यकताओं की संतुष्टि करना
3. समाजीकरण के साधन के रूप में सामाजिक सम्मिलन की वृद्धि करना
4. सामुदायिक आत्मा तथा भक्ति भावना द्वारा सामाजिक नियन्त्रण को प्राप्त करना
5. संघर्ष को रोकने तथा कुशलता एवं सहयोग की वृद्धि के लिए समूह और क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना।
6. समुदाय की अवांछनीय प्रभावों अथवा परिस्थितियों से रक्षा करना
7. सामान्य आवश्यकताओं का पता लगाने के लिए अन्य संस्थाओं तथा समुदायों से सहयोग करना
8. एकमतता प्राप्त करने के साधनों का विकास करना
9. नेतृत्व को विकसित करना

सामुदायिक संगठन की मौलिक मान्यताएं (Basic assumptions of community organization)

सामुदायिक संगठन की तीन मान्यताएं हैं :-

1. मूल्य सम्बन्धी मान्यताएं
2. समस्या सम्बन्धी मान्यताएं
3. ढंग सम्बन्धी मन्यताएं

मूल्य सम्बन्धी मान्यताएं

1. व्यक्ति की आवश्यक गरिमा एवं उसके नैतिक गुण तथा व्यक्तित्व के प्रकटन के लिए स्वतंत्रता महत्वपूर्ण है।
2. प्रत्येक सामाजिक प्राणी में अभिवृद्धि की महान क्षमता होती है अपने जीवन की व्यवस्था के लिए शक्तियों एवं साधनों का पाया जाना आवश्यक है।
3. जीवन एवं पर्यावरण में सुधार लाने के लिए व्यक्ति द्वारा संघर्ष और प्रयास करने की आवश्यकता होती है।
4. उन आवश्यक आवश्यकताओं (भोजन, वस्त्र, मकान) की पूर्ति व्यक्ति का अधिकार है, जिनके बिना जीवन पूर्ण होने में बाधायें आती हैं।

5. आवश्यकता एवं संकट के समय व्यक्ति को सहायता प्राप्त करने का अधिकार है।
6. एक ऐसे सामाजिक संगठन का महत्व है जिसमें प्रति व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी है और जो स्वयं व्यक्ति की भावनाओं के प्रति उत्तरदायी होता है।
7. ऐसे पर्यावरण की आवश्यकता जो वैयक्तिक अभिवृद्धि एवं विकास को प्रोत्साहित करती है।
8. व्यक्ति को अपने समुदाय के कार्यों में भाग लेने का अधिकार तथा साथ ही साथ समुदाय के प्रति उसका कुछ कर्तव्य भी होता है।
9. आत्म सहायता किसी भी कार्यक्रम की आवश्यक आधार होती है।

सामुदायिक समस्या से सम्बन्धित मान्यताएं

1. वृहद उप समूहों के पृथक ईकाइयों के रूप से दृढ़ता विकसित करने की प्रवृत्ति समुदाय में सामाजिक तनाव उत्पन्न करती है, जो उसके लिए अचेतन रूप से हानिकारक है।
2. सामाजिक परिवर्तन की दिशा में सक्रिय सहभागिता को रोकने वाली बाधायें वैयक्तिक विकास को रोकती है।
3. प्रजातंत्र उस अवस्था में और भी दुर्बल हो जाता है जब सहायता प्रदान करने वाली संस्थाओं को सहायता न प्रदान की जाये तथा नवीन संस्थाओं का विकास न किया जाये।
4. व्यक्तियों की समुदाय के प्रति अपनत्व की भावना को नगरीकरण की समस्या ने पूरी तरह नष्ट कर दिया है।
5. प्रौद्योगिकी ही परिवर्तन की प्रमुख शक्ति है। प्रौद्योगिकरण से सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले प्रभावों पर बिना ध्यान दिये नगरीकरण तथा औद्योगीकरण जाने दिया जा रहा है।
6. औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के द्वारा सामान्य अथवा सम्मिलित मूल्यों को विकसित करने तथा बनाये रखने की समस्या को और कठिन बना दिया है।

विधियों से सम्बन्धित मान्यताएँ

1. व्यक्ति परिवर्तन चाहते हैं और परिवर्तन कर सकते हैं।
2. समुदाय अपनी समस्याओं के समाधान की क्षमता का विकास कर सकता है।
3. व्यक्ति को अपने समुदाय में परिवर्तन लाने तथा उनके साथ सामंजस्य प्राप्त करने में भाग लेना चाहिए।
4. उन समस्याओं के साथ पूर्णतावादी तरीका सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है जिसका सामना आशावादी तरीका कदापि नहीं कर सकता है।
5. प्रायः व्यक्ति व समुदाय अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए संगठित होने में ठीक उसी प्रकार सहायता की आवश्यकता का अनुभव करते हैं जिस प्रकार अनेक व्यक्ति अपनी समस्याओं का सामना करने के लिए सहायता चाहते हैं।

6. सामुदायिक जीवन में अपने आप लाये गये अथवा आत्म-विकसित परिवर्तन अर्थपूर्ण तथा स्थायी होते हैं जबरदस्ती लादे गये परिवर्तन ऐसे नहीं होते हैं।

सामुदायिक संगठन की विधियाँ (Methods of community organization)

मैंक मिलन ने सामुदायिक संगठन के निम्नलिखित तरीके बताये हैं :-

1. केन्द्रीय अभिलेख सदैव तैयार करना
2. नियोजन करना
3. विशिष्ठ अध्ययन एवं सर्वेक्षण करना
4. संयुक्त बजट तैयार करना
5. शिक्षा, विवेचन एवं जन सम्बंधों से सम्बंधित ढंगों का प्रयोग करना
6. संयुक्त वित्तीय कार्यों का नियोजन एवं क्रियान्वयन करना
7. संगठन करना
8. अन्तर्संस्थात्मक सलाह देना
9. सामूहिक विचार-विमर्श करना
10. विचार-विमर्श के द्वारा ऐच्छिक करारों को प्रोत्साहित करना
11. बहुमुखी सेवाओं को संयुक्त रूप से चलाना
12. कानूनों के महत्व पर प्रकाश डालना

जोन्स तथा डीमार्क ने निम्नलिखित तरीकों का उल्लेख किया है :–

1. तथ्यों का पता लगाना।
2. आवश्यकताओं का निर्धारण करना।
3. कार्यक्रम को निश्चित करना।
4. शिक्षा देना तथा विवेचन करना।

सामुदायिक संगठन की निपुणतायें (Skills of community organization)

सामुदायिक कार्यकर्ता में निम्नलिखित निपुणताओं का होना आवश्यक है :-

1. समुदाय से घनिष्ठता स्थापित करने की निपुणता
2. समस्याओं को समझने, उनके कारणों की खोज करने, बाधाओं का पता लगाने तथा समस्या की गहनता को जानने की निपुणता,
3. समुदाय के लोगों की भावनाओं के प्रकटन तथा गतिरोध पर विजय प्राप्त करने की निपुणता,
4. व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझाने की निपुणता,

5. सामुदायिक समस्याओं के प्रति जागरुकता उत्पन्न करने की निपुणता,
6. जन समुदाय को समस्या सुलझाने के लिए प्रेरित करने की निपुणता,
7. समुदाय के विकासात्मक लक्ष्य निर्धारित करने तथा उन्हें पूरा करने की निपुणता,
8. समुदाय में उपलब्ध सार्वजनिक एवं गैर सरकारी संसाधनों, कार्यक्रमों, सुविधाओं का पता लगाना तथा उनका समुदाय के विकास में उपयोग करने की निपुणता,
9. समुदाय के विचारों में एकरूपता तथा सामन्यजस्य बनाये रखने की निपुणता,
10. लक्ष्य की ओर प्रयासों को अग्रसित करने की निपुणता।

सामुदायिक संगठन के सिद्धांत (Principles of community organization)

आर्थर डनहम के मत में सामुदायिक संगठन के निम्नलिखित सिद्धान्त हैं :-

1. समाज कल्याण कार्यक्रमों को आवश्यकताओं पर आधारित तथा समुदाय के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये।
2. जहाँ तक सम्भव हो सके कार्यक्रमों द्वारा प्रभावित होने वाले सभी समूह, इसके निर्धारण तथा निर्देशन में भाग लें।
3. ऐच्छिक सहयोग प्रभावपूर्ण सामुदायिक संगठन की कुंजी है।
4. कल्याण कार्यक्रमों के निरोध पर बल देना चाहिए।

एम०जी० रास ने सामुदायिक संगठन के निम्नलिखित सिद्धान्त बताये हैं :—

1. समुदाय की वर्तमान परिस्थितियों के प्रति असंतोष संगठन के विकास के आरम्भ अथवा सुदृढ़ीकरण का आधार होना चाहिये।
2. असंतोष केन्द्रीभूत तथा विशिष्ट से सम्बन्धित संगठन, नियोजन एवं क्रिया में प्रवाहित होना चाहिये।
3. सामुदायिक संगठन को जन्म देने अथवा बनाये रखने वाला असंतोष समुदाय में विस्तृत रूप से व्याप्त होना चाहिये।
4. संगठन के अन्तर्गत समुदाय के बड़े उप समूहों द्वारा स्वीकृत और उनके साथ तादात्म्य की स्थिति में पाये जाने वाले नेताओं (औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों) को सम्मिलित किया जाना चाहिए।
5. संगठन के लक्ष्य तथा कार्यरीतियों के तरीके स्वीकृति प्राप्त होने चाहिए।
6. संगठन के कार्यक्रमों में संवेगात्मक सन्दर्भ वाली कुछ क्रियाओं को सम्मिलित करना चाहिए।
7. संगठन को समुदाय में पायी जाने वाली प्रकट तथा गुप्त सद्भावना के उपयोग का प्रयास करना चाहिए।

8. संगठन के अन्दर तथा संगठन एवं समुदाय के मध्य संचार प्रक्रिया तथा प्रभावपूर्ण बिंदुओं का विकास किया जाना चाहिए।
9. संगठन को उन समूहों को सहायता प्रदान करने एवं शक्तिशाली बनाने का प्रयास करना चाहिए, जिन्हें यह सहयोगात्मक कार्य प्रयोग में साथ लाता है।
10. संगठन की नियमित रूप से निर्णय लेने की दिनचर्या को बिना विच्छिन्न किये इसकी संगठनात्मक कार्यरीति में लचीलापन होना चाहिए।
11. संगठन को अपनी कार्य की गति का निर्धारण समुदाय की वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में करना चाहिए।
12. संगठन को प्रभावपूर्ण नेतृत्व के विकास के लिए प्रयास करना चाहिए।
13. संगठन को समुदाय के अन्तर्गत शक्ति, स्थिरता एवं सम्मान का विकास करना चाहिए।

सामुदायिक संगठन के चरण (Steps in community organization)

लिण्डमैन ने सामुदायिक कार्य के निम्नलिखित चरण बनाये हैं :-

1. आवश्यकता की चेतना जागृत करना
2. आवश्यकता की चेतना का प्रसार करना
3. आवश्यकता की चेतना का प्रक्षेपण करना
4. आवश्यकता को शीघ्र पूरा करने के लिए संवेगों को उभारना
5. सुझावों का मांगना
6. सुझावों में पाए जाने वाले संघर्ष को सुलझाना
7. अन्वेषण का कार्य करना
8. समस्या का खुला विचार-विमर्श करना
9. सुझावों का एकीकरण करना
10. प्रयोगात्मक प्रगति के आधार पर सुलह करना

सामुदायिक संगठन प्रक्रिया में निम्नलिखित कदम उठाये जाते हैं :-

(1) समस्या की पहचान करना

1. समस्या की प्रकृति को जानना
2. समस्या की गहनता की खोज करना
3. समस्या के प्रभाव का पता लगाना
4. इस बात का पता लगाना कि समस्या कहाँ मूलरूप से विद्यमान है।
5. समस्या के कारणों को जानना

6. बदलवाव लाने की इच्छा का पता लगाना

7. इस बात की जानकारी प्राप्त करना कि समस्या से कौन-कौन लोग प्रभावित करना।

8. समस्या समाधान करने के लिए किये गये प्रयत्नों की जानकारी करना।

9. किये गये प्रयत्नों की प्रभावपूर्णता का पता लगाना

10. सफलता या असफलता के कारणों को जानना

(2) समस्या का प्रत्यक्षीकरण करना (तथ्य तथा आँकड़े एकत्र करना)

1. समस्याग्रस्त समुदाय की मनोदशा को जानना

2. समस्या के प्रति समुदाय के रुख का पता लगाना

3. महत्वपूर्ण मनोवृत्तियों के अन्तरों का पता लगाना

(3) संरचनात्मक–कार्यात्मक का विश्लेषण करना

1. इस बात का पता लगाना कि समस्या कहाँ से उत्पन्न हो रही है।

2. समुदाय की उन संरचनात्मक विशेषताओं का पता लगाना जिसमें समस्या स्थित है।

3. अनुकूल तथा प्रतिकूल शक्तियों का पता लगाना

4. सामाजिक संरचना के महत्वपूर्ण तत्वों को जानना

(4) लाभार्थी के विषय में सूचना एकत्रित करना

1. यह पता लगाना कि जनसंख्या के किन वर्गों को लाभ मिलने चाहिए।

2. यह जानना कि समुदाय की भौतिक दशायें क्या हैं

3. व्यवहार निर्धारित करने वाले कारकों का पता लगाना

4. सामाजिक संरचना के इस भाग के सम्बन्धों का जानना

5. लाभार्थी द्वारा योजना स्वीकार करने का स्तर का पता लगाना

6. योजना स्वीकार किए जाने में बाधाओं का पता लगाना

7. बाधाओं की गंभीरता को जानना।

(5) कार्य योजना तैयार करना

1. अनेक कार्य योजनाओं पर विचार करना

2. लागत, प्रयास, परिणाम, प्रभावपूर्णता, स्वीकृति, आदि के संदर्भ में चलाए जाने वाले कार्यक्रम का विश्लेषण करना

3. सबसे उत्तम कार्यक्रम का चयन करना

4. समस्या समाधान की दृष्टि से संरचना तथा प्रक्रियाओं का विश्लेषण करना।

(6) रणनीति निर्धारण करना

1. सफलता के लिए आवश्यक प्रयासों के स्तर का पता लगाना

2. आवश्यक क्रिया-कलापों की प्रकृति को जानना

3. कम से कम कार्य किये जाने की आवश्यकता का पता लगाना

4. कार्य व्यवस्था-वैयक्तिक चेतना, सामूहिक चेतना, नियोजन तथा संगठन, निपुणताओं का विकास, प्रशासनिक दक्षताओं में वृद्धि आदि का निर्धारण करना।

(7) समुदाय को कार्यक्रम से जोड़ना

(अ) क्षेत्र

1. आवश्यकता विश्लेषण का स्तर ज्ञात करना

2. की जाने वाली क्रियाओं की प्रकृति को जानना

3. रणनीति का निर्धारण करना

4. योजनाएं तैयार करना

5. कार्यक्रम का आयोजन तथा प्रबन्धन करना

(ब) उपागम

1. वैयक्तिक उपागम का उपयोग करना

2. व्यापक उपागम का उपयोग करना

3. सामुदायिक शिक्षा देना

4. आवश्यकता के आधार पर समुचित उपागम को अपनाना

5. सामाजिक क्रिया का आवश्यकतानुसार उपयोग करना।

(स) उठाये जाने वाले आवश्यक कदम

1. समस्या के प्रति जागरुकता उत्पन्न करना

2. समस्या के विषय में प्रचार करना

3. समस्या समाधान के लिए सम्प्रेरणा विकसित करना

4. सुझाव आमंत्रित करना

5. सही ज्ञान प्रदान करना

6. संसाधनों का उपयोग करना

7. निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना
8. अनुवर्ती प्रयास (Follow up) करना।

(8) कार्यान्वयन तथा मूल्यांकन

1. प्रयासों की प्रभावपूर्णता को ज्ञात करना
2. समस्या समाधान की रणनीति की सफलता को मालूम करना
3. प्रयासों की कमियों का पता लगाना
4. नयी रणनीति तैयार करना।

सामुदायिक संगठनकर्ता की भूमिका
(Role of Community Organizer)

समाज कार्य की अन्य पद्धतियों की ही तरह सामुदायिक संगठन में भी सम्बन्धों का निपुणतापूर्वक प्रयोग एक मुख्य उपकरण के रूप में किया जाता है जिसमें कार्यकर्ता अधिक संतोषपूर्ण रहन-सहन की प्राप्ति हेतु अपना सचेतन व नियन्त्रित उपयोग समुदाय की मदद के लिए करता है। कार्यकर्ता को अपने स्वयं का तथा अपनी सम्प्रेरणाओं, नियंत्रण और जोड़-तोड़ की भावनाओं का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए।

सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न तरह के क्रियाकलाप व विधियाँ सम्मिलित हैं, जिसमें कई प्रकार के कार्यों का निष्पादन करना पड़ता है। सफलतापूर्वक कार्य निष्पादन हेतु कार्यकर्ता को विशिष्ट ज्ञान और अनुभवों की जरूरत पड़ती है, उसके व्यक्तिगत गुण, विशेषताएँ, सामान्य शिक्षा व अनुभव आदि मिलकर उसे समुदाय में अपनी भूमिका का निर्वाह करने में मदद करते हैं।

डनहम आर्थर (Dunham Arthur) के मतानुसार कार्यकर्ता की भूमिका के सफलतापूर्वक निर्वहन हेतु निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है।

(1) व्यक्तियों के साथ व्यवहार (Dealing) करने के लिए अनुभव, (2) समाज कल्याण के क्षेत्र एवं स्थानीय, राज्य और राष्ट्रीय स्तर के समाज कल्याण साधनों के प्रकारों का अच्छा कार्यात्मक ज्ञान, (3) सामुदायिक संगठन का कार्यात्मक ज्ञान व प्रयोग (4) सामुदायिक संगठन के अभ्यास से निपुणता, (5) व्यक्तिगत गुण जैसे सच्चाई, साहस, संवेगात्मक संतुलन, समायोजन, अनुकूलन क्षमता, कल्पना, वस्तुनिष्ठता आदि, (6) सामुदायिक संगठन का भला (sound) दर्शन।

एम0जी0रॉस (M.G. Ross) ने सामुदायिक संगठनकर्ता की चार प्रमुख भूमिकाओं का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं :-

(1) पथ प्रदर्शन के रूप में कार्यकर्ता की भूमिका (Role of worker as a Guide)

सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत कार्यकर्ता समुदाय को अपने उद्देश्यों को निश्चित करने तथा उनकी प्राप्ति के साधनों के निर्धारण में एक पथ प्रदर्शन के रूप में प्राथमिक भूमिका निभाता हुआ सहायता करता है। कार्यकर्ता अपने ज्ञान तथा पूर्व अनुभवों के आधार पर समुदाय को अपनी दिशा का निर्धारण और चुनाव करके अग्रसर होने में सहायता देता है। कार्यकर्ता की भूमिका पथ प्रदर्शक के रूप में निम्नलिखित दृष्टिकोणों के आधार पर होती है :-

(i) **पहल** (Initiative) : हस्तक्षेप न करने की नीति पथ प्रदर्शक की भूमिका में नहीं होती है। अगर कोई समुदाय स्वयं सहायतार्थ नहीं आता तो कार्यकर्ता स्वयं समुदाय के पास पहुँच कर पहल करता है तथा स्थानीय पहल को प्रोत्साहित करता है अर्थात् सक्रिय व्यक्ति बना रहता है। किन्ही परिस्थितियों में तो वह समुदाय के अन्दर असन्तोष के भाव लाने में पहल करता है, ताकि समुदाय की अवांछनीय स्थितियों को सुधारा जा सके।

(ii) **वास्तुनिष्ठता** (Objectivity) : कार्यकर्ता किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर समुदाय की दशाओं के प्रति वस्तुनिष्ठता की भावना रखता है।

(iii) **समुदाय के साथ तादात्मीकरण** (Identification with community) : कार्यकर्ता समुदाय के किसी एक भाग अथवा किसी एक समूह या वर्ग के साथ न जाकर सम्पूर्ण समुदाय में अपने आपको सम्मिलित कर "हम की भावना" विकसित करता है।

(iv) **भूमिका की स्वीकृति** (Acceptance of role) : कार्यकर्ता सहज, सरल व सुखद भावनाओं के साथ कर्तव्य-निर्वाह करता है और अपनी भूमिका को स्वीकार करता है।

(v) **भूमिका का अर्थनिरूपण** (Interpreation of Role) : कार्यकर्ता यह स्पष्ट करता है कि उसकी भूमिका के अर्थ क्या हैं, अर्थात् वह क्या करना चाहता है? जिससे समुदाय द्वारा अच्छे ढंग से समझा जा सके।

(2) सामर्थ्यदाता के रूप में कार्यकर्ता की भूमिका (Role of worker as an enabler)

कार्यकर्ता सामर्थ्यदाता के रूप में संगठन प्रक्रिया को सरल बनाने हेतु अपनी भूमिका को निभाता है। परन्तु यह भूमिका समुदाय की किसी परिस्थिति की जटिलता के अनुसार ही विस्तृत व जटिल होती है। यह भूमिका निम्नलिखित दृष्टिकोणों पर आधारित होती है :-

(i) **असन्तोष को केन्द्रित करना** (Focussin Discontent) : कार्यकर्ता समुदाय की दशाओं/परिस्थितियों के सम्बन्ध में असंतोष को जगाता है तथा उसे केंद्रित कर समुदाय की

मदद करता है। वह समुदाय को अपने अन्दर की कमजोरियों को समझने, सामुदायिक जीवन की गहन भावनाओं की खोज करने तथा भावनाओं के स्फुटीकरण (verbalization) में सहायता प्रदान करता है। समुदाय में गंभीर मतभेद की दशा में उनका स्पष्टीकरण एवं उनमें सहयोग की भावना विकसित करने में सहायता देता है।

(ii) **संगठन को प्रोत्साहित करना** (encouraging organization) : ऐसे समुदाय भी होते हैं जो सहजता/सरलता से संगठित होने की दिशा में अग्रसर नहीं होते अथवा उदासीनता एवं शिथिलता लिए हुए होते हैं अतः कार्यकर्ता को धैर्यपूर्वक समुदाय में संगठन स्थापित करने में मदद करनी चाहिए।

(iii) **अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों को बढ़ावा देना** (Nourishing good interpersonal relations) : कार्यकर्ता समुदाय के सदस्यों के मध्य स्वस्थ एवं उत्तम अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के प्रति सन्तुष्टि की मात्रा को बढ़ाने तथा सहकारिता की भावना में बढ़ोत्तरी करने में मदद देता है। प्रथम चरण में कार्यकर्ता ही विभिन्न समूहों के मध्य एक कड़ी के रूप में कार्य करता हुआ उनके आपस में मिलने का जरिया बनता है।

(iv) **सामान्य लक्ष्यों पर जोर देना** (Emphasizing common objectives): कार्यकर्ता अपनी भूमिका के अन्तर्गत सामुदायिक साधनों तथा प्रभावी नियोजन को विकसित करने हेतु सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति पर जोर देता है।

(3) विशेषज्ञ के रूप में कार्यकर्ता की भूमिका (Role of worker as an Expert)

कार्यकर्ता एक विशेषज्ञ के रूप में समुदाय की सूचना व अनुभव के आधार पर परामर्श देता है। यह शोध के निष्कर्षों अथवा शोध पर आधारित तथ्यों, प्राविधिक अनुभव, साधन सामग्री के सम्बन्ध में सलाह देता है। कार्यकर्ता समुदाय से सम्बन्धित तथ्यों व साधनों को समुदाय को ही बोध कराता है। उपलब्ध सूचनाओं व सामग्री के आधार पर समुदाय स्वयं निर्णय लेता है कि उसे क्या और कैसे करना है? कार्यकर्ता एक विशेषज्ञ के रूप में समुदाय के सम्मुख सामाजिक तथ्यों को प्रस्तुत करता है। कार्यकर्ता की भूमिका निम्निलिखित दृष्टिकोणों पर आधारित होती है :-

(i) **सामुदायिक निदान** (community diagnosis) : एक विशेषज्ञ के रूप में कार्यकर्ता समुदाय के विश्लेषण एवं निदान में सहायता प्रदान करता है अधिकांश समुदाय अपने ढाँचे व संगठन का ज्ञान नहीं रख पाते। अतः कार्यकर्ता समुदाय को समुदाय की विशेषताओं को समझाता है।

(ii) **अनुसंधान निपुणता** (Research skill) : कार्यकर्ता को स्वतंत्र रूप से समुदाय के अध्ययन व शोध नीति के प्रतिपादन के योग्य तथा अनुसंधान विधियों में कुशल होना चाहिए।

(iii) **दूसरे समुदायों के सम्बन्ध में जानकारी** (Information about other communitues): अन्य समुदायों में हुए अध्ययन, शोध तथा प्रयोगात्मक कार्यों के बारे में कार्यकर्ता द्वारा समुदाय को उपयोगी सिद्धान्तों के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान की जानी चाहिए ताकि वह दूसरे समुदायों के अनुभवों से फायदा उठा सके और दूसरे समुदायों में की गई गलतियों/त्रुटियों से बच सकें।

(iv) **पद्धतियों के संदर्भ में सलाह** (Advice on methods) : कार्यकर्ता को संगठन तथा उसकी कार्यविधियों का विशेषज्ञ ज्ञान (Expert knowledge) होता है जिसके तहत वह स्पष्ट करता है कि कौन सी पद्धति अपनाकर किस प्रकार कार्य किया जाय तो क्या प्रतिफल मिलेगा? आदि।

(v) **प्राविधिक सूचना** (Technical Information) : समुदाय को तकनीकी योजनाओं के अन्तर्गत साधन सामग्री उपलब्ध कराने से सम्बन्धी पूर्ण जानकारी कार्यकर्ता को होनी चाहिए। परियोजना हेतु कौन सामग्री जरूरी है, कहाँ व कैसे उपलब्ध हो सकते हैं इत्यादि का ज्ञान कार्यकर्ता को होना चाहिए। उसे यह भी जानकारी होनी चाहिए कि सरकारी एवं गैर सरकारी अभिकरणों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों व विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करने की पूर्ण विधियाँ क्या हैं? आदि।

(iv) **मूल्यांकन** (Evaluation) : सामुदायिक संगठन के अर्न्तगत किये जाने वाले समस्त क्रियाकलापों का मूल्यांकन समुदाय के सम्मुख रखने की योग्यता भी कार्यकर्ता के अन्दर विद्यमान होनी चाहिए।

(4) सामाजिक उपचारक के रूप में कार्यकर्ता की भूमिका (Role of worker as social therapist)

कुछ व्यवसायिक सामाजिक कार्यकर्ता समुदाय में एक सामाजिक उपचारक के रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन करतें हैं। उपचार से अभिप्रास सामुदायिक उपचार से होता है। समुदाय के स्तर पर यह उपचार सम्पन्न होता है जिसका अर्थ है समस्त समुदाय का निदान व उपचार। कार्यकर्ता, समुदाय में विघटन व संघर्ष उत्पन्न करने वाले सामाजिक शक्तियों व बाधक विचारों का पता करता है साथ ही एक सामाजिक उपचारक के रूप में समुदाय को संघर्ष के निवारण एवं समुदाय में एकता व अनुरूपता उत्पन्न करने के तौर-तरीकों को बताता है लेकिन समुदाय की समस्याओं के निदान हेतु उसे समस्त समुदाय अथवा उसके विभिन्न भागों की उत्पत्ति, इतिहास, प्रकृति व विशेषताओं का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

अतः कार्यकर्ता अपनी समस्त भूमिकाओं के परिप्रेक्ष्य में समुदाय के अन्दर आत्म-निर्देशन, आत्म-विश्वास व आत्म-निर्भरता का विकास करता है। वह उसे अपना कार्यक्रम स्वयं निर्मित करने, आत्म-निर्णय करने तथा सहकारिता के आधार पर सम्मिलित सामुदायिक प्रयत्न करने में मदद देता है। वह सामुदायिक नेतृत्व न ग्रहण कर समुदाय के सदस्यों में ही नेतृत्व क्षमता विकसित करता है।

सामुदायिक कल्याण नियोजन
(Community Welfare Planning)

स्वास्थ्य एवं कल्याण हेतु नियोजन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह व समुदाय सचेतन रूप से उन परिस्थितियों, कार्यक्रमों व सुविधाओं को निर्धारित करने, उनकी स्थापना तथा उन्हें कायम रखने का प्रयत्न करते हैं जो वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन को विघटित होने से बचा सकतें हैं और समस्त व्यक्तियों के हेतु उच्च स्तरीय कल्याण को सम्भव कर सकती हैं। सामुदायिक नियोजन की परिभाषा के अन्तर्गत जनसमर्थन जुटाना, सूचना प्रसारण, समितियों की नियुक्ति, विरोधी भावों का श्रवण, उनका विश्लेषण तथा समझौता करना आदि शामिल है। सामुदायिक नियोजन में समाज कार्य की अन्य पद्धतियों की ही तरह सामुदायिक संगठन पद्धति का प्रयोग होता है। स्वास्थ्य एवं समाज कल्याण के उत्तम नियोजन में समुदाय के आधारभूत तथ्यों और शक्तियों का प्रयोग निहित होता है। सामुदायिक नियोजन का प्रयोग स्थानीय, नगरीय जनपदीय तथा क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर पर किया जाता है।

भविष्य में जो प्रयत्न किये जाने वाले हैं, उनका पहले से ही प्रतिपादन किया जाना नियोजन है। नियोजन से तात्पर्य है समाज कल्याण के कार्यक्रम किन लक्ष्यों की पूर्ति हेतु किये जाने हैं, स्पष्ट किये जायें। एक विशिष्ट समय में कौन सा तथा कितनी मात्रा में क्रिया-कलाप किया जाना है और उसे कैसे किया जाना है, किस पद्धति का प्रयोग उसे करने के लिए किया जायेगा। पद्धति में किस स्तर की गुणवत्ता (Quality) तथा विशेषज्ञता (Expertness) होगी। क्रियाकलाप का समर्थन किस प्रकार किया जायेगा। इस सभी को प्रारम्भ से ही एक साथ निश्चित कर लिया जाता है।

नियोजन से आशय है सामुदायिक जीवन के क्षेत्रों में क्रमबद्ध चिन्तन लाना हैं, क्योंकि नियोजन चिन्तन सचेतन और सोद्‌देश्य निर्देशन होता है। समुदाय में समझौते की पूर्ति हेतु तर्कपूर्ण साधनों की रचना की जाती है और आवश्यक रूप में प्राथमिकताएँ निश्चित करके मूल निर्णय लेने पड़ते हैं। नियोजन मानवीय समस्याओं से निपटने की आधारभूत व प्रमुख विधि, एक दृष्टिकोण, एक मनोवृत्ति एवं मान्यता है जिसकी मदद से भविष्यवाणी कर उसे निर्देशित एवं नियंत्रित कर सकते हैं।

नियोजन हेतु व्यावसायिक कार्यकर्ता एवं विशिष्ट कुशलताओं की जरूरत पड़ती है। **ट्रेकर** (Trecker) के मतानुसार नियोजन के पाँच (5) पक्ष दिखलाई पड़ते हैं :

(1) एक सतत प्रक्रिया की स्थापना हेतु व्यावसायिक कौशल जरूरी होता है जिसके माध्यम से सामुदायिक समस्याओं को पहचाना जाता है। (2) तथ्य संकलन की एक प्रक्रिया की स्थापना हेतु व्यावसायिक कौशल जरूरी होता है ताकि समस्या सम्बन्धी समस्त सूचनायें आसानी से प्रसारित की जा सकें। (3) व्यावसायिक कौशल का प्रयोग योजना के प्रतिपादन हेतु एक कार्यात्मक पद्धति की रचना के लिए जरूरी होता है। (4) सामुदायिक संगठन की समस्त प्रक्रिया के अन्तर्गत योजना का प्रतिपादन एक बिन्दु-मात्र ही होता है। अधिक महत्वपूर्ण यह होता है कि इस प्रतिवादन के पूर्व तथा पश्चात् में क्या होता है। (5) व्यावसायिक निपुणता की आवश्यकता योजना के कार्यान्वयन और कार्यविधियों के निर्धारण में पड़ती है।

नियोजन हेतु लक्ष्य चाहिए। योजना के फलस्वरूप कुछ उपलब्धियाँ होनी चाहिए। लक्ष्य हमें दिशा निर्देश देते हैं कि हमे किधर जाना है। उस समुदाय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जहाँ हम सामुदायिक संगठन के अभ्यास हेतु जाते हैं। उद्देश्य निर्धारण में हमारे सहायतार्थ-चार प्रमुख क्षेत्र हैं- समाज कार्य के कार्य, समुदाय में अभिकरण की भूमिका, समूह की विशिष्ट आवश्यकताएँ तथा व्यक्तियों की विशिष्ट आवश्यकताएँ।

नियोजन के सिद्धान्त
(Principles of Planning)

नियोजन के सिद्धान्तों के अन्तर्गत ट्रेकर (Trecker) ने प्रशासन के जिन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है वे सामुदायिक संगठन अभ्यास में भी महत्व रखते हैं :-

(1) प्रभावी नियोजन उन व्यक्तियों की अभिरुचियों एवं आवश्यकताओं से उत्पन्न होना चाहिए, जिनसे संस्था बनतीी है। (2) प्रभावी नियोजन में उन लोगों की भागीदारी होनी चाहिए जो नियोजन से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होंगे। (3) प्रभावी नियोजन का यह यथेष्ट तथ्यात्मक आधार होना चाहिए। (4) अति प्रभावी योजनाएँ उस प्रक्रिया से उत्पन्न होती हैं जिसमें अपने-सामने की सम्पर्क प्रणालियों तथा अधिक औपचारिक समिति के कार्य की प्रणालियों का मिश्रण होता है। (5) परिस्थितियों की भिन्नता के कारण नियोजन प्रक्रिया का व्यक्तीकरण तथा विशिष्टीकरण किया जाना चाहिए अर्थात् स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप ही योजनायें बननी चाहिए। (6) नियोजन में व्यावसायिक नेतृत्व की जरूरत पड़ती है। (7) नियोजन में स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं, सामुदायिक नेताओं, अव्यवसायिक व्यक्तियों के साथ ही साथ व्यावसायिक कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों की भी जरूरत पड़ती है। (8) नियोजन में समस्त अभिलेखों व दस्तावेजों (Documentation) को रखने की जरूरत पड़ती है जिससे विचार-विमर्श के परिणामों को

सतता (Continuity) व निर्देशन हेतु सुरक्षित रखा जा सके। (9) नियोजन में विद्यमान योजनाओं तथा साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए और प्रत्येक नयी समस्या को लेकर नये सिरे से कार्यारम्भ नहीं करना चाहिए। (10) नियोजन क्रिया को पूर्व चिन्तन पर निर्भर होना चाहिए।

नियोजन के अन्तर्गत सहभागिता की महत्ता को कम करके नहीं आँका जाना चाहिए। नियोजन की प्रक्रिया तथा योजना के कार्यान्वयन के सम्पूर्ण चरणों पर समुदाय के सदस्यों की भागीदारी सुनिश्चित होनी चाहिए। सहभागिता में बाधायें जैसे-केन्द्रीकरण व विशेषज्ञता के कारण व्यक्ति के भाग लेने में कठिनाई की अनुभूति, योजना को नियन्त्रित करने वाले केन्द्र की योजना स्थल से दूरी आदि बाधायें हैं जिन्हें दूर कर दिया जाना चाहिए अर्थात् नियन्त्रण केन्द्र व कार्यस्थल में निकट सम्पर्क होना चाहिए तथा संचार की समस्त विधियों का प्रयोग करके समुदाय के सदस्यों द्वारा नियोजन व योजनाओं में भाग लेने हेतु प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके साथ ही साथ जनता में निष्क्रियता (Passivity) की भावना को भी समाप्त किया जाना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब यह समझाने का प्रयत्न किया जाय कि किस सीमा तक समुदाय के सदस्य समुदाय की प्रकृति, विशेषताओं व समस्याओं को समझते हुए उनके समाधान के प्रयत्नों में अपनी सहभागिता के उत्तरदायित्व को समझतें हैं, समुदाय किस सीमा तक संचार के माध्यम की स्थापना करता है जिससे विचारों, मतों, अनुभवों व योगदानों को दूसरों तक पहुँचाया जा सके, समुदाय के सदस्य तथा कार्यकारिणी के सदस्य आदि किस सीमा तक सरल व प्रभावी ढंग से समस्त कार्यों में भाग करते हैं, किस सीमा तक सहभागिता से सदस्यों को आत्म-संतुष्टि मिलती है और कार्यकर्ता किस प्रकार इस भागीदारी की प्रक्रिया का समुचित निर्देशन करता है।

समुदाय संगठन से सम्बन्धित कुछ प्रत्यय

समुदाय विकास

समुदाय विकास एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा लोगों के प्रयास को राजकीय प्राधिकारियों से जोड़कर समुदाय की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों में सुधार हेतु प्रयास किया जाता है और सामुदायिक जीवन को राष्ट्रीय जीवन से जोड़ने का प्रयास किया जाता है तथा समुदाय को इस योग्य बना दिया जाता है कि वह राष्ट्रीय सम्वृद्धि एवं विकास में अधिकतम योगदान दे सके। इस प्रकार समुदाय-विकास का मुख्य लक्ष्य विशेषज्ञ ज्ञान का प्रयोग करते हुये, लोगों का आर्थिक एवं सामाजिक विकास करना है। इस हेतु समुदाय में उलपब्ध सेवाओं एवं राजकीय सहायता दोनों का उपयोग किया जाता है। अतः सामुदयिक विकास का उद्देश्य व्यक्ति एवं समुदाय में इस प्रकार सक्रियता लाना है कि वे आत्म विकास हेतु प्रयास करें और राज्य द्वारा उपलब्ध संसाधनों का अधिक से अधिक उपयोग करते हुये, सामाजिक एवं आर्थिक विकास की दिशा में अग्रसर हों और साथ ही आत्म सहायता पर निर्भर रह कर विकास के कार्यक्रमों

में जन सामान्य का सहभाजन प्राप्त करें।

सामुदायिक विकास का अर्थ निरूपण

(i) सामुदायिक विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामान्य रूप से आर्थिक एवं सामाजिक उन्नति करने का प्रयास किया जाता है। समुदाय स्वयं इन कार्यों को करता है ताकि उसकी आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति से सुधार हो, इस प्रकार सामुदायिक विकास में मानव कल्याण के लिए दो प्रकार की शक्तियों का एकीकरण होना अवाश्यक है। ये शक्तियाँ है :-

(1) सहयोग, आत्म सहायता आत्मसात करने की योग्यता तथा शक्ति

(2) सामुदायिक तथा आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित तकनीकी ज्ञान की उपलब्धता।

(ii) सामुदायिक विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा जनता के प्रयासों को शासकीय सत्ता के साथ एकीकृत कर समुदाय की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों में सुधार लाया जाता है। सामुदायिक विकास के अर्थ निरूपण में निम्नलिखित तत्व उल्लेखनीय है।

(A) इसके क्रिया कलापों को समुदाय की मूल आवश्यकताओं से सम्बन्धित होना चाहिए।

(B) इसके अन्तर्गत संचालित बहुद्देशीय कार्यक्रम प्रभावशाली होने चाहिये।

(C) इसकी सफलता हेतु जन समुदाय की मनोवृत्तियों में बदलाव लाना।

(D) इसके अन्तर्गत स्थानीय नेतृत्व को प्रोत्साहित किया जाता है।

(E) महिलाओं तथा युवकों की यदि इस कार्यक्रम में सक्रिय सहभागिता होती है, तो इसकी सफलता की सभावनाएं बढ़ जाती हैं।

(F) इसके अन्तर्गत स्वैच्छिक संस्थाओं के स्रोतों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है।

(G) आवश्यकता अनुसार राजकीय संसाधनों का भी इसके अन्तर्गत अधिकतम उपयोग किया जाता है।

सामुदायिक विकास एवं सामुदायिक संगठन में अन्तर

सामुदायिक विकास एवं सामुदायिक संगठन में प्रमुख अन्तर यह है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम सरकार द्वारा आर्थिक विकास के लिए जनता के बीच चलाए जाते हैं। यहाँ पर लोगों की आर्थिक दशाओं को सुधारने के लिए विशेष जोर दिया जाता है। इसके लिए सरकार द्वारा सेवाएं प्रदान की जाती हैं। इसके विपरीत समुदाय संगठन के अन्तर्गत समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति एवं समस्याओं का निराकरण और समुदाय के विकास के कार्यक्रम प्रशिक्षित समाज कार्यकर्त्ता द्वारा समुदाय के संसाधनों एवम् समुदाय के सहयोग से किये जाते

हैं। इस कार्यक्रम में सरकार की सहायता तो ली जा सकती है, लेकिन सरकार पर बहुत कम ही निर्भरता होती है। इसके अन्तर्गत सामुदायिक एकीकरण एवम् परस्पर सहयोग पर अधिक बल दिया जाता है। सामुदायिक संगठन के कार्यक्रम स्वैच्छिक एवं शासकीय दोनों ही प्रकार के हो सकते है। ये कार्यक्रम जनसामान्य द्वारा समुदाय कार्यकर्त्ता की सहायता से चलाए जाते हैं। समुदाय विकास के कार्यक्रम विशेषकर विकासशील देशों में आर्थिक विकास के लिए चलाए जाते हैं। दूसरी ओर समुदाय संगठन के कार्यक्रम सहयोग पूर्ण जनसामान्य की मनोकृत्तियों एवं व्यवहारों को विकसित करने एवं जीवन को सामाजिक रूप से सुखमय बनाने के लिए सभी देशों में चलायें जाते हैं।

समुदाय विकास से सम्बन्धित कुछ अन्य तथ्य

समुदाय विकास कार्यक्रमों की सफलता इस बात में निहित है कि लोग सामाजिक रूप से इन कार्यक्रमों के साथ तादात्मीकरण करें। इस प्रकार का तादात्मीकरण, इस कार्यक्रम को एक आन्दोलन का रूप दे देता है, जिसके द्वारा इसे एक शक्ति प्राप्त होती है, और लोगों मे यह भावना जागृत होती है, कि आर्थिक एवम् सामाजिक विकास हेतु सम्पूर्ण राष्ट्र में एक परिवर्तन लायें। कुछ देशों में सामुदायिक विकास के कार्यक्रम वृहत स्तर पर चलाए जाते हैं और उन कार्यक्रमों का सम्बन्ध पूरे राष्ट्र से होता है। इस प्रकार के कार्यक्रमों की सफलता केवल इसी बात पर आश्रित नहीं होती है कि सामान्यजन कहाँ तक इन कार्यक्रमों में सहयोग देते हैं, वरन् इनकी सफलता उस बात पर भी आश्रित रहती है कि सम्पूर्ण राष्ट्र और वहाँ की सरकार इन कार्यक्रमों के संचालन में कहाँ तक सहयोग दे रही है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में एक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि समुदाय विकास के कार्यक्रम अपेक्षाकृत कम विकसित देशों में ग्रामीण क्षेत्रों के विकास हेतु चलाए जाते हैं। ऐसे कार्यक्रमों में मुख्य रूप में समुदाय के लोगों के रहन-सहन के स्तर को कुछ ऊँचा उठाने पर जोर दिया जाता है और कुछ गैर भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर जोर दिया जाता है। दूसरी ओर समुदाय संगठन की विधि का प्रयोग उन क्षेत्रों में किया जाता है, जहाँ समुदाय अपेक्षाकृत अधिक विकसित है और सामाजिक सेवाऐं भी अपेक्षाकृत अधिक विकसित होती है, किन्तु ऐसे स्थानों में समाजिक विकास हेतु जिन सेवाओं का उपभोग किया जाता है, उनमें अपेक्षाकृत अधिक एकीकरण की आवश्यकता होती है।

समुदाय विकास के अभिगम

मरे एवं रास ने समुदाय विकास के तीन अभिगतन निरूपित कियें :-

(1) **एकाकी प्रकार्य अधिगम :** इस अधिगम के अन्तर्गत किसी समुदाय के विकास के अन्तर्गत उसकी किसी विशेष आवश्यकता को देखते हुये कोई बाहरी अभिकरण एक योजना बनाता है

और जन सहयोग के आधार से उसे क्रियान्वित करता है। उदाहरण के लिए किसी बाहरी अधिकरण द्वारा समुदाय में किसी विशेष स्कूल या चिकित्सालय की स्थापना।

(2) **बहुप्रकार्य अधिगम :** इस अधिगम के अन्तर्गत सामुदायिक जीवन में सम्पूर्ण विकास हेतु कई कार्यक्रमों को चिन्हित किया जाता है। इस अधिगम के अन्तर्गत सामुदायिक जीवन की सर्म्पूणता को स्वीकार करते हुए, विशेषज्ञों की एक टीम गठित कर उसके द्वारा यह ज्ञात करने का प्रयास किया जाता है कि समुदाय के सम्पूर्ण विकास हेतु किन योजनाओं एवं प्रकार्यों को क्रियान्वत किया जाय। वास्तव में समुदाय में बहुत से परिवर्त्तन होते रहते है और समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति में पहले की भी स्थापित सेवाये कभी-कभी अक्षम हो जाती हैं और उनके स्थान पर नई सेवाओं की आवश्यकता होती है। इस अधिगम में ऐसी समस्त सेवाओं की व्यवस्था होती है, जिनके माध्यम से समुदाय बदलती हुई परिस्थितियों में समायोजन कर विकास के मार्ग पर अग्रसर होता है।

(3) **आन्तरिक संसाधन अधिगम :** इस अधिगम के अन्तर्गत समुदाय के विकास हेतु कोई योजना ऊपर से नहीं थोपी जाती है, वरन प्रयास यह किया जाता है कि समुदाय के लोग स्वयं ही समुदाय में अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु कोई योजना बनायें और इस योजना की पूर्ति हेतु समुदाय के लोगों का सहयोग तो प्राप्त होगा ही पर साथ ही साथ सरकार एवं अन्य अभिकरणों के संसाधनों को भी प्राप्त कर योजना के लक्ष्यों की प्राप्ति करें। आन्तरिक अभिगम का महत्व इस लिये अधिक हो जाता है, कि समुदाय विकास के कार्यक्रम यदि समुदाय पर ऊपर से आरोपित किऐ जाते हैं तो समुदाय के सदस्य उन कार्यक्रमों में अभिरूचि नहीं लेते हैं और उनकी सफलता भी सन्देहास्पद हो जाती है। वास्तव में इस प्रकार का कोई कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है जब कि समुदाय के सदस्यगण स्वयं ही इन कार्यक्रमों की आवश्यकता महसूस करें। इस परिप्रेक्ष्य में सामाजिक कार्यकर्त्ता की भूमिका अतिशय महत्वपूर्व होती है, जब सामाजिक कार्यकर्त्ता समुदाय के नेता तथा अन्य सदस्यों से मिलकर किसी महत्वपूर्ण आवश्यकता के बारे में उनकी चेतना जागृत करता है तो समुदाय के सदस्य धीरे-धीरे स्वयं ही उस आवश्यकता को महसूस करते है और उसकी पूर्ति हेतु आगे आते हैं ऐसी स्थिति में यदि उनकी उक्त आवश्यकता की पूर्ति हेतु कोई कार्यक्रम निर्मित होता है, तो उस कार्य्क्रम की सफलता में ये सक्रिय योगदान देते है।

भारत में सामुदायिक विकास

ऐतिहासिक दृष्टि से सामुदायिक विकास एवं सामुदायिक संगठन उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन हमारा समाज है। किन्तु व्यवहारिक रूप से 20वीं सदी के प्रथमार्ध से ग्रामीण विकास के जो कार्यक्रम चलाए गये, उन सभी कार्यक्रमों से समुदाय विकास के आधुनिक आयाम के तत्व जुड़े हुए थे। पर समाज कार्य का भारत में विकास पाश्चात्य प्रभाव से हुआ उसके

अन्तर्गत समुदाय संगठन को एक विधि के रूप में जो प्रयोग किया जाता है, वह अपेक्षाकृत नया है। संस्थागत सेवा के रूप में समाज कार्य के अन्तर्गत समुदाय संगठन का प्रयोग विभिन्न विश्वविद्यालयों में समाज कार्य के अध्ययन एवं अध्यापन के साथ होने लगा। यहाँ हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व एवं बाद में सामुदायिक विकास का विकास देंगे।

(1) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व समुदाय विकास

हमारे देश में बहुत ही प्राचीन काल से सौहार्द पूर्व सामुदायिक जीवन का प्रचलन है। कुछ लोगों का यह कहना है कि भारत का सौहार्दपूर्व सामुदायिक जीवन उतना ही प्राचीन है, जितना कि समाज की सभ्यता का अविर्भाव। सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता एवं हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की भी संस्कृति सामुदायिक विकास के अप्रतिम उदाहरण हैं। उस समय का सामुदायिक विकास कार्यक्रम ग्राम पंचायतों एवं ग्राम समितियों द्वारा संचालित होता था। प्रत्येक गांव का एक सभागार होता था, जहाँ गांव के वरिष्ठजन एक होकर ग्राम की समस्याओं, उनके समाधान एवं ग्रामीण विकास पर बल देते थे। प्राचीन काल में समुदायिक समितियाँ, ग्रामीण बैकिंग, ग्रामीण ऋण, ग्रामीण समस्याओं का समाधान, आन्तरिक एवं वाह्य आपदाओं से संरक्षण आदि कई कार्यक्रम संचालित होते थे एवं ग्राम समितियों के कार्यों में कोई बाधा नहीं डाली गई थी, ये कार्यक्रम विविध रूप में चलते रहें, किन्तु ब्रिटिश शासन काल में कुछ ऐसे कारकों का धीरे-धीरे प्रादुर्भाव हुआ जिससे ग्रामीण पंचायतें एवं ग्रामीण समितियाँ बाधित होने लगी, ऐसे कुछ कारक निम्नलिखित हैं :-

(1) **औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव :** औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात हमारे गांवों के जुलाहे, लुहार और बढ़ई आदि कुटीर उद्योगों के कारीगर बेकार होने लगें, उन्हें अपनी रोजी रोटी अर्जन हेतु नगरीय औद्योगिक केन्द्रों में जाना पड़ा। फलस्वरूप ग्रामीण आत्मनिर्भर इकाई डावांडोल हो गई। इसका ग्रामीण समितियों एवं ग्रामीण पंचायतों में क्रियाकलापों पर भी असर पड़ा।

(2) **कृषि में कोई सुधार नहीं :** ब्रिटिश काल में ग्रामीण कृषि कार्य में कोई सुधार नहीं हुआ। सरकार इसके प्रति पूर्णतया उदासीन थी। जनसंख्या वृद्धि के कारण प्राचीन कृषि पद्धति से अन्न की आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती थी। फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों से नगरीय औद्योगिक केन्द्रों की ओर पलायन प्रारंभ हुआ और ग्रामीण विकास ग्राम समितियाँ और पंचायतें उपेक्षित सी हो गई।

(3) **जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव :** ग्रामीण जनसंख्या में भी पूर्वापेक्षा अत्यधिक वृद्धि हुई है और कृषि हेतु सीमित भूमि पर दबाव बढ़ता गया तो ग्रामीण लोग गरीब होते गये, उन्हें रोजी-रोटी अर्जन की समस्या थी। ग्रामीण विकास एवं ग्राम पंचायतों से उनकी अभिरुचि कम होने लगी।

(4) **जमींदारी प्रणाली एवं भूमि का केन्द्रीकरण :** ब्रिटिश शासन काल में जमींदारी प्रथा लागू की गई थी जिसके अन्तर्गत ग्राम की समस्त भूमि का स्वामित्व किसी एक या दो जमींदारों के हाथ में केन्द्रित हो जाता था और ग्राम की समस्त जनता भूमिहीन हो जाती थी। ऐसी स्थिति में जमींदारों की समान्तवादी प्रवृत्ति एवं शोषण से समुदाय का सौहार्द बहुत अंश में प्रभावित होता था तथा ग्राम पंचायतें और समितियाँ भी अक्षम होती गईं।

स्वातन्त्रतोत्तर काल में सामुदायिक विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व समुदाय विकास के जो कार्यक्रम हमारे देश में संचालित होते थे वे गैर सरकारी प्रयास थे, अतः उनकी कोई विशेष उपलब्धि नहीं। इसी कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने अपनी ओर से समुदाय विकास के कार्यक्रम चलाये, जिनकी उपलब्धियाँ बहुत अंश में अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण थी। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी विनोबा भावे आदि कुछ लोगों ने भूदान एवं ग्रामदान के रूप में कुछ समुदाय विकास कार्यक्रमों का स्वैच्छिक आधार पर संचालन किया, किन्तु ऐसे अन्य कार्यक्रमों को राजकीय संसाधनों के द्वारा ही विशेष रूप से क्रियान्वित किया गया। इन कार्यक्रमों में जन सहयोग को विशेष महत्व दिया गया और सामाजिक कार्यकर्ता भी इन कार्यक्रमों में जन सहयोग की वृद्धि सामाजिक सौहार्द बढ़ाने के लिए आगे आये।

भारत में सरकार के द्वारा समुदाय विकास कार्यक्रमों का प्रारंभ 1950 में किया था। उस समय देश के ग्रामीण अंचलों में पूर्णतया गरीबी का साया था। बहुत से परिवारों को भोजन भी उपलब्ध नहीं होता था। दूसरी बात अशिक्षा की थी। उस समय 10% लोग ही केवल शिक्षित थे और शेष लोग अशिक्षित थे। तीसरी बात स्वास्थ्य सेवाओं की थी, जिनका ग्रामीण अंचलों में पूर्णतया अभाव था। अधिकांश लोगों का स्वास्थ्य रक्षण ग्रामीण झोला छाप डाक्टरों के द्वारा ही होता था। अगली बात नौकरशाही की थी। ब्रिटिश काल की नौकरशाही व्यवस्था के आध ार पर चली आ रही शासन प्रणाली में जनता का शोषण होता था। देश की सामाजिक संरचना पूर्णतया जातिवाद के द्वारा संचालित होती थी। जिसमें छोटी जातियों का पूर्णतया शोषण होता था।

समुदाय विकास का कार्यक्रम एक प्रक्रिया और आन्दोलन के रूप में प्रारंभ हुआ, जिसके अन्तर्गत समुदाय के सदस्य एवं सरकार साथ-साथ कार्य करते है और उनका उद्देश्य समुदाय का कल्याण एवं विकास होता है। विकास के कई आयाम हैं जैसे- शैक्षणिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विकास। सरकार लोगों को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता देती है और लोग स्वयं अपना लक्ष्य निर्धारित कर उसकी प्राप्ति हेतु प्रयास करते हैं। इस उपागम में जनसहयोग को विशेष महत्व दिया जाता है। इस उपागम के कुछ प्रमुख बिन्दु निम्नलिखित हैं :-

(i) **आत्म सहायता की अवधारणा :** इस उपागम के अन्तर्गत लोग स्वयं ही अपनी सहायता करते हुये अपने विकास का लक्ष्य बनाते है सरकार उन्हें वित्तीय एवं प्राविधिक कर्मियों की सहायता देती है ताकि उन्हें अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सुविधा हो।

(ii) **आवश्यकतद्यानुसार नियोजन :** समुदाय के सदस्यों की आवश्यकता एवं सम्पूर्ण समुदाय की आवश्यकता के आधार पर नियोजन किया जाता है।

(iii) **सहयोग पर बल :** इस कार्यक्रम का मूलमंत्र यह है कि राजकीय प्रविधिक अभिकर्मी एवं समुदाय के सदस्य परस्पर एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए समुदाय के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु प्रयास करते हैं।

(iv) **नेतृत्व :** समुदाय के स्थानीय नेताओं के हाथों में सम्पूर्ण अधिकार निहित होता है उन्हीं को सम्पूर्ण कार्यक्रम संचालन का अधिकार दिया जाता है।

(v) **अन्तर्विषयक उपागम :** इस कार्यक्रम के अन्तर्गत इस बात में विश्वास किया जाता है कि समुदाय विकास संबंधी कोई कार्य केवल एक विशेषज्ञ की सहायता से नहीं संचालित हो सकता है वरन इस प्रकार के कार्यक्रमों में विभिन्न विषयों को विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ यदि समुदाय का सर्वागीण विकास करना है तो केवल कृषि विशेषज्ञों की ही नहीं आवश्यकता होगी वरन् चिकित्सकों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं अन्य स्वास्थ्य तथा पशुपालनकर्मियों की भी आवश्यकता होगी।

सामुदायिक विकास की रणनीतियाँ

समुदाय विकास एवं समुदाय संगठन के संगठनात्मक तत्व ही इसके कारक एवं रणनीतियों से सामवित किया जा सकता है। इन कारकों एवं रणनीतियों के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक पर्यावरण के अन्तर्सम्बन्धित व्यक्ति और समूह, आन्तरिक और वाह्य दबाव जिनके कारण अकार्यात्मकता का जनन होती है और उन दवाओं के निराकरण हेतु अपनाई जाने वाली रणनीतियाँ तथा समुदाय में सदस्यों की क्षमताओं का प्रकटीकरण आदि का महत्वपूर्ण स्थान है।

मोटे तौर से समुदाय विकास हेतु प्रयुक्त कुछ रणनीतियों का विवरण निम्नलिखित हैं।

(अ) संगठन : सामुदायिक विकास एक प्रक्रिया है, जिसमें समुदाय नेतागण, अन्य सक्रिय सदस्य, राजकीय प्राविधिक अभिकर्मी एवं समाज कार्यकर्ता पारस्परिक सहयोग से कार्य करते हुये लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं। किन्तु लक्ष्यों की सुचारू ढंग से तभी प्राप्ति हो सकती है जबकि इस कार्य में लगे हुये लोगों का सक्रिय संगठन निर्मित हो, जो न केवल पास्परिक अन्तर्कियाओं के माध्यम से नीतियों का निरूपण करे वरन नीतियों के क्रियान्वयन हेतु सक्षम कार्यक्रम निर्धारित करें और उन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु विभिन्न अभिकर्मियों की भूमिकाओं और जिम्मेदारियों का

निर्धारण करें और उसके अनुरूप सभी सदस्य पारस्परिक समन्वय स्थापित कर अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करते हुये सम्पूर्ण समुदाय विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति करें।

(ब) कार्यक्रम : जैसा कि ऊपर ही लिखा जा चुका है, संगठन एवं उसकी नीतियों के निर्माण के पश्चात् उन नीतियों के क्रियान्वयन हेतु समुदाय विकास सम्बन्धी कुछ निश्चित कार्यक्रम बनाये जाते हैं। कहना नहीं होगा कि ये कार्यक्रम समुदाय की आवश्यकताओं, समस्याओं, संसाधनों एवं अभिकर्मियों की क्षमता के प्ररिपेक्ष में ही बनाये जाते हैं और उन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन हेतु अलग-अलग लोगों को जिम्मेदारियाँ दी जाती हैं।

(स) प्रशिक्षण : समुदाय विकास के कार्यक्रमों का तभी सम्यक ढंग से संचालन हो सकता है। जबकि इस कार्यक्रम में लगे हुये अभिकर्मी समान ढंग से प्रशिक्षित हों। प्रशिक्षण के आधार पर अभिकर्मियों में सम्बन्धित विभाग का न केवल अपेक्षित ज्ञान और कौशल जनित होता है, वरन उनमें कार्यक्रमों के प्रति प्रतिबद्धता भी विकसित होती है। ऐसा प्रशिक्षण कुछ विकास खण्डों में निरन्तर संचालित होता रहता है और विभिन्न क्षेत्रों के अभिकर्मी इन प्रशिक्षणों को प्राप्त करते रहते है। कभी-कभी किसी विशेष कार्यक्रम का यदि संचालन किया जाता है तो कार्यक्रम के पूर्व ही सम्बन्धित अभिकर्मियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। कार्यक्रम का संचालन प्रारम्भ होने पर भी आवश्यकतानुसार बीच में प्रशिक्षण दिया जाता है। समुचित प्रशिक्षण से न केवल अभिकर्मियों में प्रविधिक ज्ञान और कौशल का विकास होता है वरन वे कार्यक्रमों के प्रति पूर्णतया प्रतिबद्ध हो जाते है।

(द) पर्यवेक्षण : समुदाय विकास के कार्यक्रमों के संचालन के द्वारा समुचित लक्ष्यों की प्राप्ति तभी सम्भव है जब उन कार्यक्रमों का समुचित पर्यवेक्षण हो। यह पर्यवेक्षण सामान्य एवं प्राविधिक दोनों प्रकार का होता है। पर्यवेक्षण तात्कालिक अधिकारियों के द्वारा तो होता है पर समय-समय वाहृय विशेषज्ञों के द्वारा भी यह पर्यवेक्षण किया जाता है। ताकि सूक्ष्य एवं दीर्घकालीन कमियों का पता लगाकर उनमें सुधार किया जा सके।

(य) संसाधनों का विकास एवं प्रशासन : समुदाय विकास के विभिन्न कार्यक्रमों के संचालन हेतु विभिन्न संसाधनों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के कुछ संसाधन तो सरकार के द्वारा उपलब्ध कराया जाता है और कुछ संसाधन सामुदाय को स्वयं ही उपलब्ध कराना होता है। उदाहरणार्थ यदि सरकार की सहायता से समुदायिक चिकित्सा केन्द्र या सामुदायिक मनोरंजन केन्द्र के कार्यक्रम का संचालन किया जाता है तो इस प्रकार के कार्यक्रम हेतु चिकित्सक और नर्स एवं दवाइयाँ तो सरकार उपलब्ध करा देती है, किन्तु उस कार्यक्रम हेतु उपर्युक्त स्थान की व्यवस्था तो समुदाय को करना पड़ेगा। इसी प्रकार मनोरंजन केन्द्र में अन्तर्द्वार एवं बहिर्द्वार खेलों के लिए आवश्यक उपकरणों की व्यवस्था तो सरकार करेगी, किन्तु उपयुक्त स्थान की व्यवस्था तो समुदाय को ही करना होता है। संसाधनों की उपलब्धता के संबंध समुदाय कार्यकर्ता समुदाय

के नेताओं को समुचित परामर्श देकर उन्हें संसाधनों की प्राप्ति हेतु सक्षम बना सकता है। इसी प्रकार समुदाय विकास कार्यक्रम चूँकि एक कल्याणात्मक कार्यक्रम है अतः इन कार्यक्रमों की सफलता हेतु कल्याण प्रशासन की प्रविधियों का भी प्रयोग किया जाता है। कल्याण प्रशासन के द्वारा ही कार्यकर्ता समुदाय के नेताओं को इस योग्य बना सकता है कि वे संसाधनों का समुचित रूप से प्रयोग करें और प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य बनने में भी कार्यकर्ता सहायता करता है कि वे अपनी जिम्मेदारियों का सक्षम ढंग से निर्वाह करे।

मूल्यांकन :- कार्यक्रम की सफलता की सही परिणति का ज्ञान उसके मूल्यांकन के आधार पर किया जाता है। मूल्यांकन का सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि समुदाय के सदस्य स्वयं ही इस बात का मूल्यांकन करें कि उनका कार्यक्रम कहाँ तक सफल हुआ। किन्तु समुदाय के सदस्य इस कार्य में पूर्णतया परिपक्व नहीं होते हैं अतः समाज कार्यकर्ता उन्हें सहायता देते हुए उन्हीं के द्वारा कार्यक्रम का मूल्यांकन कराता है। यह मूल्यांकन कार्यक्रम के मध्य में भी एक बार होता है ताकि यह ज्ञात हो कि लक्ष्यों को प्राप्ति में क्या कमियाँ हैं और उन कमियों को दूर किया जाय, ताकि अन्तिम मूल्यांकन अपेक्षा के अनुसार हो।

सामुदायिक पेटिकायें (Community Council) एवं सामाजिक अभिकरणों की परिषद (Council of Socialagencies)

अमेरिका एंव ब्रिटेश में चेस्ट और कौसिल आन्दोलन ने समुदाय संगठन व्यवहारों को एक वृत्तिक स्वरूप देने में अति महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है। कम्युनिटी चेस्ट (सामुदायिक पेटिका) को नागरिकों एवं कल्याण अभिकरण के एक सहकारी संगठन के रूप में परिभाषित किया जाता है। इसके दो मुख्य कार्य है :-

(i) इसके द्वारा प्रत्येक वर्ष समाज कल्याण स्वास्थ्य एवं मनोरंजन संबंधी अभिकारकों के हेतु धन की उगाही की जाती है युद्ध एवं आपातकालीन स्थिति में तत्सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन अलग से एकत्रित किया जाता है। इसके द्वारा जो धन उगाही किया जाता है वह एक कम्युनिटी अपील के द्वारा इकट्ठा किया जाता है और एक व्यवस्थिति आय व्यय की पद्धति के द्वारा उसका वितरण किया जाता है।

(ii) इसके द्वारा समाज कल्याण, स्वास्थ्य एवं मनोरंजन संबंधी क्रियाकलापों को एक प्रभावी नियोजन-समन्वयन एवं प्रशासन प्रदान किया जाता है।

सामुदायिक पेटिका (Community Chest) का ऐतिहासिक विकास

सर्वप्रथम आधुनिक चेस्ट की स्थापना क्लीव लैण्ड में 1913 में हुई । यह पहला संगठन था, जिसने सामुदायिक नियोजन हेतु बजट का प्रावधान किया। 1918 में वार चेस्ट, लगभग 300 नगरों में स्थापित किया गया। शीघ्र ही युद्ध के समय एवं शान्ति के समय के चेस्ट एक साथ स्थापित होने लगे।

1930 के अकाल ने चेस्ट आंदोलन को एक नई नीति प्रदान किया। कालक्रम से अमेरिका में फेडरल गवर्नमेन्ट रिलीफ कार्य में आगे आई और चेस्ट के धन में वृद्धि होने लगी। 1941 तक संयुक्त राज्य अमेरिका के उन शहरों के जहाँ 10000 से अधिक आबादी थी, वहां धन उगाही हेतु कम्युनिटी चेस्ट मेथड का प्रयोग आरंभ किया गया।

द्वितीय महायुद्ध काल में अमेरिका और इंग्लैण्ड में विभिन्न समुदायों में स्थापित स्थानीय शन्ति कालीन कल्याणात्मक अभिकरणों की गुणात्मक और मात्रात्मक दोनों ही दृष्टि से वृद्धि हुई। कहना नहीं होगा कि ये अभिकरण सामुदायिक पेटिकाओं से ही आर्थिक सहायता प्राप्त करते थे। इस प्रकार विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका में पर्ल हार्बर के पूर्व ही इस बात को महसूस किया गया कि कुछ ऐसा प्रयास किया जाना चाहिये, जिसके द्वारा एक संयुक्त कोश की स्थापना हो, और इस कोष से शान्ति एवं कल्याण सम्बन्धी अभिकरणों एवं युद्ध तथा कल्याण संबंधी अभिकारकों को आर्थिक सहायता दी जाय। इसी क्रम में प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट ने एक वार-रिलीफ बोर्ड की स्थापना 1942 में की। 1943 में प्रेसीडेन्ट वार रिलीफ बोर्ड के आग्रह पर वार रिलीफ कन्ट्रोल बोर्ड की स्थापना की गई थी। जिसका मुख्य उददेश्य ऐसे अभिकरणों को धन प्राप्ति हेतु समुदाय को संस्तुत करना था जो वास्तव में वार रिलीफ हेतु धन संग्रह कर रहे हों, और ऐसे अभिकरणों को बन्द करने की संस्तुति करना था, जो युद्ध सहायता संबंधी कोई ठोस कार्य नहीं कर रहे हो और उस नाम पर धन उगाही कर रहे हों।

कौंसिल आफ सोशल एजेन्सीज (समाज कल्याण अभिकारकों के परिषद)

अमेरिका में कम्युनिटी चेस्ट के साथ ही सोशल एजेंसीज की कौंसिल भी स्थापित की गई। ऐसी कौंसिल नागरिकों का एक स्वैच्छिक संगठन है, जो सम्पूर्ण समुदाय के समाज कल्याण कार्यक्रमों का नियोजन एवं समन्वय करता है। जहाँ चेस्ट और कौंसिल एक साथ कार्य करते हों वहाँ कौसिल को चेस्ट का सोशल प्लानिंग पार्टनर कहा जा सकता है। कुछ शहरों में धन उगाही और सामाजिक नियोजन संबंधी कार्य एक ही अभिकरण के द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

मोटे तौर पर कौंसिल आफ सोशल एजेन्सीज के द्वारा निम्नलिखित कार्य सम्पन्न किये जाते थे।

(1) इसके द्वारा समुदाय के शैक्षणिक कार्य को बढ़ावा देने हेतु एक माध्यम प्राप्त होता है।

(2) सामाजिक नियोजन के क्षेत्र में समुदाय में किसी विशेष कार्य को सम्पन्न करने वाले प्राधिकारी से सीधी कार्यवाही की माँग इस समितियों के द्वारा किया जाता है।

(3) कुछ विशेष प्रकार की सेवाओं का वे स्वयं ही प्रशासन करती है।

(4) दो या दो से अधिक अभिकरणों के क्रियाकलापों में इनके द्वारा समन्वय भी स्थापित किया जाता है।

जहाँ चेस्ट और कौंसिल अलग-अलग कार्य करते हैं वहाँ भी उनके कार्यों में अत्यधिक एकीकरण होता है।

अमेरिका में सामुदायिक कल्याण परिषदें तीन प्रकार की हैं :-

(1) पम्परागत सामाजिक कल्याण की परिषदें (2) सामुदायिक कल्याण परिषद (3) विशेषीकृत परिषदें, पहले प्रकार की परिषदें समाज कल्याण विभाग से संबंधित हैं वे प्रायः सामाजिक क्रिया में लगी रहती है। दूसरे प्रकार की परिषदें स्वास्थ्य एवं कल्याण कार्यक्रमों में सुधार लाती है। विशेषीकृत परिषदें पहले और दूसरे प्रकार के कल्याणात्मक कार्यों में विशेष सुधार लाती हैं। ये प्रायः परिवार एवं बाल कल्याण, सामाजिक स्वास्थ्य, मानसिक सुरक्षा एवं पुनर्वास तथा युवा सेवाओं जैसे कार्यक्रमों से संबंधित होती है।

परिषदें ऐच्छिक संस्थायें होती हैं, जिनका कार्य तथ्यों का पता लगाना सामान्य नियोजन करना, वार्तालाप को प्रांरभ करना तथा बढ़ावा देना, टीम भावना को प्रोत्साहित करना, संस्थाओं की कार्यात्मकता को बढ़ाना, जनसम्पर्कों को अधिक उपयोगी बनाना तथा सामाजिक क्रिया को प्रोत्साहन देना है। सामाजिक दान पेटियां आज के कल्याणात्मक वित्तीय संगठनों की प्रतिरूप है। इनका महत्वपूर्ण कार्य कल्याणात्मक अभिकरणों को वित्तीय सहायता देने के लिए धनराशि एकीकृत करना है। इसके अतिरिक्त ये दान पेटियाँ जनता से सामाजिक कल्याण की संस्थाओं को सहायता करने की अपील भी करती है।

सन्दर्भ

1. डनहम ए. एडमिनिस्ट्रेशन आफ सोशल एजेन्सीज सोशलवर्क इयरबुक ए.ए.एस. डब्ल्यू पृ0-15.
2. लिण्डमैन, एडवर्ड सी, दि कम्युनिटी एसोसियेशन प्रेस न्यूयार्क 1921 पृष्ठ 139-173
3. फ्रिडलेण्डर डब्ल्यू.ए. इन्ट्रोडक्शनटु सोशल वेलफेयर प्रेन्टिस हाल न्यूयार्क 1955, पृ0-187.
4. मैकमिलन डब्ल्यु, कम्युनिटी आर्गनाइजेशन इन सोशल वर्क स्पेशल वर्क इयर बुक 1947
5. रास.एम.जी. कम्युनिटी आर्गनाइजेशन थ्योरी एण्ड प्रिंसपुल्स हार्पर एण्ड ब्रदर्स न्यूयार्क 1955, पृ0 39.
6. सैण्डरसन एण्ड पोल्सन, सोशल कम्युनिटी आर्गनाइजेशन जान विली एण्ड सन्य न्यूयार्क 1947.

अध्याय-11

समाज कल्याण प्रशासन

सामाजिक संस्थाओं और सरकारी एवं गैर सरकारी कल्याण कार्यक्रमों से सम्बन्धित प्रशासन को समाज कल्याण प्रशासन कहा जाता है। सरकारी एवं गैर सरकारी तरीके से समाज कार्य अथवा कल्याण कार्यक्रमों के विकास के साथ-साथ समाज कल्याण प्रशासन की जरूरत व व्यवहार को भी शक्ति प्राप्त होती गयी।

समाज कल्याण प्रशासन समाज कार्य की एक सहायक पद्धति है। कुछ समाज कार्य वेत्ता इसे सामर्थ्य पद्धति (Enabling Method) अथवा अप्रत्यक्ष प्रविधि (Indirect Techniqe) बतलाते हैं क्योंकि यह सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य, सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य तथा सामुदायिक संगठन के अन्तर्गत दी जाने वाली सेवाओं को कार्यान्वित करती है।

समाज कार्य मुख्य रूप से समाज कल्याण से सम्बन्धित संस्थाओं के माध्यम से अभ्यास में लाया जाता है अथवा विद्यालयों, सुधारगृहों आदि में व्यवहृत किया जाता है। अतः कार्यकर्ताओं के लिए समाज कल्याण प्रशासन का ज्ञान होना आवश्यक होता है। समाज कल्याण प्रशासन सामाजिक विधानों को समाज कल्याण अभिकरणों में कार्यान्वित करता है तथा लोगों के लिए नियमों व कानूनों को सेवा में परिवर्तित करता है। समाज कल्याण प्रशासन, निजी समाज कल्याण अभिकरणों एवं अन्य ऐच्छिक संगठनों के उद्देश्यों का मूल्यांकन कर इन्हें प्रयत्नों में परिवर्तित करता है अथवा कार्यरूप प्रदान करता है।

सामान्य रूप से समाज कल्याण प्रशासन का अभ्यास प्रशासन के सिद्धान्तों एवं प्रविधियों पर आधारित होता है लेकिन यह मानवीय समस्याओं को परिभाषित करने तथा इन समस्याओं का समाधान करने सें सम्बन्धी समाज के कार्यों से जुड़ा है। मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि से सम्बन्धित समाज कल्याण संस्थाओं के निदेशक को व्यवसाय अथवा उद्योग की अपेक्षा भिन्न ज्ञान की जरूरत पड़ती है तथा यह ज्ञान व्यावसायिक शिक्षा व समाज कार्य अभ्यास कार्य अभ्यास के अनुभव पर आधारित होता है। समाज कल्याण अभिकरण के प्रशासक हेतु सामाजिक कार्यकर्ता को समाज कार्य के लक्ष्यों, कार्यों व दर्शन का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए साथ ही साथ उसे समाज कार्य के सामाजिक निदान, विश्लेषण और व्यक्ति व समूहों की जरूरतों के संश्लेषण

की विधियों का ज्ञान होना चाहिए। उसे अपने अभिकरण का ढाँचा तथा सामुदायिक साधनों का बोध होना चाहिए। समाज कल्याण अभिकरण के सामाजिक कार्यों तथा सेवार्थियों, सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य और सामाजिक सामूहिक सेवा कार्य के मध्य होने वाली जटिल अंतःक्रियाओं का भी ज्ञान उसे होना चाहिए।

समाज कल्याण प्रशासन की परिभाषा
(Definition of Social Welfare Administration)

सामान्य रूप से समाज कल्याण प्रशासन की कोई सर्व मान्यता प्राप्त परिभाषा विकसित नहीं हो सकी है। कुछ लेखक समाज कल्याण प्रशासन को कार्यपालिका अथवा अधिशासी अथवा प्रबन्धक के कार्यों से मिलाकर जोड़ते हैं। भिन्न-भिन्न तरीके से अन्य विद्वानों ने परिभाषायें दी हैं जिनमें से कुछ परिभाषाओं का उल्लेख नीचे इस प्रकार किया जा रहा है :-

(1) आर्थर डनहम (Arthur Dunham) 0949

समाज कल्याण प्रशासन का अर्थ उन आलम्बन देने वाले या सुविधाजनक बनाने वाले क्रियाकलापों से है जो सामाजिक अभिकरण द्वारा प्रत्यक्ष सेवा दिये जाने के लिए आवश्यक होते हैं।

(2) जॉन सी किडने (John C. Kidneigh) 1950

किडने ने समाज कल्याण प्रशासन को परिभाषित करते हुए "सामाजिक नीति को सामाजिक सेवाओं में बदलने की एक प्रक्रिया" कहा है।

(3) फ्रीडलैण्डर (Friedlander) 1955

"सामाजिक अभिकरणों का प्रशासन सामाजिक विधान की धाराओं तथा निजी परोपकारिता एवं धार्मिक दान के उद्देश्यों को मानवता हेतु सेवाओं की गत्यात्मकता व लाभों में परिवर्तित कर देता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि : (1) समाज कार्य की प्रत्यक्ष सेवा में सहायता देने हेतु जो क्रियाकलाप सम्पादित होते हैं अथवा ऐसे क्रियाकलाप को आलम्बन देते हैं उन्हें समाज कल्याण प्रशासन के क्रिया-कलाप की संज्ञा प्रदान की जाती है। (2) समाज कल्याण प्रशासन एक ऐसी प्रक्रिया है जो सामाजिक विधानों पर आधारित सामाजिक नीतियों को समाज कल्याण सेवाओं में बदल देती है। (3) समाज कल्याण प्रशासन वह प्रक्रिया है जो निजी परोपकार तथा धार्मिक दान की भावनाओं को सामाजिक सेवाओं में परिवर्तित करती है। (4) व्यक्तियों की सहायता हेतु अभिकरणों का प्रबन्ध किया जाता है जिसमें अधिकाधिक व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध समाहित होते हैं, समाज कल्याण प्रशासन को इन मानवीय सम्बन्धों की कला

बताया गया है क्योंकि अभिकरण के सेवा सम्बन्धी उद्‌देश्यों की प्राप्ति हेतु समाज कल्याण प्रशासन के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्तरों पर मानवीय सम्बन्धों को निर्देशित किया जाता है।

समाज कल्याण प्रशासन की विशेषतायें

समाज कल्याण प्रशासन विज्ञान तथा कला दोनों है। एक विज्ञान के रूप में इसमें क्रमबद्ध ज्ञान (Systematic Knowledge) होता है जिसका उपयोग सेवाओं को अधिक प्रभावी बना देता है। विज्ञान के रूप में इसके निम्न तत्व प्रमुख हैं :- नियोजन, संगठन, कार्मियों की भर्ती, निर्देशन, समन्वय, प्रतिवेदन, बजट तथा मूल्यांकन (POSDCORB)। कला के रूप में, समाज कल्याण प्रशासन में अनेक निपुणताओं तथा प्रविधियों का उपयोग होता है जिसके परिणाम स्वरूप उपयुक्त सेवाओं को प्रदान करना सम्भव होता है।

समाज कल्याण प्रशासन की निम्न प्रमुख विशेषताएं हैं :-

1. समाज कल्याण प्रशासन कार्यों को पूरा करने के लिए की जाने वाली एक प्रक्रिया है। समाज कल्याण प्रशासन में स्वास्थ्य, शिक्षा, आवागमन, आवास, स्वच्छता, चिकित्सा आदि सेवाओं को प्रभावकारी बनाया जाता है।
2. समाज कल्याण प्रशासन की संरचना में एक उच्च-निम्न की संस्मरणात्मक (Hirarchy) व्यवस्था होती है। कर्मचारियों की स्थिति के अनुसार उनके कार्य तथा शक्तियाँ निर्धारित होती हैं।
3. नेतृत्व, निर्णय लेने की क्षमता, शक्ति संचार आदि प्रशासकीय प्रक्रिया के प्रमुख अंग हैं।

समाज कल्याण प्रशासन मूलरूप से निम्न क्रियाओं से सम्बन्धित है :-

1. राज्य के सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ऐसी नीति निर्धारित करना जिससे संगठन में कार्यरत जनशक्ति एकीकृत रूप से कार्य कर सके।
2. सेवाओं के प्रभावपूर्ण प्रावधान के लिए संगठनात्मक संरचना की रूपरेखा तैयार करना।
3. संसाधनों, कर्मचारीगणों तथा आवश्यक प्रविधियों का प्रबन्ध करना।
4. आवश्यक ज्ञान एवं निपुणताओं से युक्त मानव संसाधन का प्रबन्ध करना।
5. उन क्रिया-कलापों को संपादित करवाना जिनसे अधिकतम संतोषजनक ढंग से लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।
6. ऐसा वातावरण तैयार करना जहाँ आपसी मेल-मिलाप तथा प्रगाढ़ता बढ़े एवं कर्मचारी कार्य करने की प्रक्रिया के दौरान सुख अनुभव करें।
7. किये जाने वाले कार्यों का निरन्तर मूल्यांकन करना।

IV प्रशासन के लक्ष्य

सामाजिक प्रशासन के प्रमुख निम्न लक्ष्य हैं :-

1. राष्ट्रीय सुरक्षा तथा कानून और व्यवस्था का प्रबन्धन

आपातकाल की स्थिति में समाज कल्याण प्रशासन नागरिक सुरक्षा की व्यवस्था करने से सम्बद्ध लोगों की सहायता करता है तथा जनता का उत्साह बढ़ाता है जिससे चिन्ताजनक घटनाओं के घटित होने पर भी मानसिक संतुलन बना रहता है। समाज कल्याण प्रशासन शांति काल में एकता के लिए कार्य करता है जिससे सामाजिक वैमनस्य तथा संकीर्ण क्षेत्रीय भावना का ह्रास तथा एकता और समन्वय का अधिक से अधिक विकास हो सके। कानून और व्यवस्था की समस्या का दीर्घकालीन हल निकालने में भी समाज कल्याण प्रशासन संलग्न रहता है जिससे वयस्क, युवा और बाल अपराधों में कमी होती है तथा इन अपराधियों के लिए मानवतापूर्ण व्यवस्था करते हुए इनका समाज में पुनर्वास करता है।

2. आर्थिक प्रगति

एक विकासशील देश में राज्य का प्रमुख कार्य आर्थिक विकास करना होता है। इससे राजकीय क्षेत्र में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है तथा निजी क्षेत्र में व्यवस्था बनी रहती है तथा इसे उचित प्रोत्साहन एवं नियंत्रण मिलता है। आर्थिक विकास में समाज कल्याण प्रशासन का सहयोग आवश्यक है। विशेष रूप से समाज कल्याण प्रशासन आर्थिक विकास में निम्नलिखित रूप से योगदान देता है :-

1. यह लोगों की आकांक्षा के स्तर के साथ उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि करता है।
2. औद्योगिक उत्पादकता में वृद्धि करता है। इसके लिये समाज कल्याण प्रशासन उद्योगपतियों और प्रबन्धकों तथा श्रमिकों को अच्छे पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए प्रोत्साहित करता है, शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्षण, आवास तथा स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था करता है।
3. समाज कल्याण प्रशासन आर्थिक विकास कार्यों को प्रोत्साहित करते हुए उनके रहन-सहन के स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि को स्थायित्व प्रदान करता है, आय के अपव्यय को रोकता है और सबके पर्याप्त भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, कल्याण सेवाओं आदि की व्यवस्था करता है जिसके परिणामस्वरूप जन साधारण का वास्तविक कल्याण होता है।

3. सामाजिक प्रगति

समाज कल्याण प्रशासन जनशक्ति के अधिकतम विकास हेतु पोषाहार, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रशिक्षण, रोजगार, इत्यादि की व्यवस्था करता है।

समाज कल्याण प्रशासन के कार्य

प्रशासन के कार्यों का सर्वप्रथम 1916 में हेनरी फेमोल ने निरूपण किया। उनके अनुसार प्रशासन करने का आशय पूर्ण कल्पना एवं नियोजन करना, संगठन बनाना, आदेश देना, समन्वय करना तथा नियंत्रण करने से है। लूथर गलिक ने आगे चल कर प्रशासन से सात कार्य निरूपित किया। इन सभी कार्यों को एक में मिलाकर पोस्टकार्ब नामक एक संकेत शब्द से अविहित किया गया। प्रबन्ध के सात कार्य हैं :- (1) नियोजन (प्लानिंग), (2) संगठन (आर्गनाइजेशन) संचालन करना (डायरेक्शन), (3) नियुक्तियाँ (स्टाफिंग) (4) समन्वय (कोआर्डिनेशन) (5) रिपोर्टिंग (6) बजटिंग। कून्टज तथा ओ. डोनेल ने प्रबन्ध के निम्नलिखित पाँच कार्य बतलाये हैं :- (1) नियोजन (प्लानिंग) (2) संगठन (आर्गनाइजेशन) (3) निर्देशन (डाइरेक्शन) (4) नियंत्रण तथा (5) नियुक्तियाँ (स्टाफिंग)। अधिकांश विद्वानों के मतों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुछ आधारभूत कार्य जैसे नियोजन, संगठन, समन्वय तथा नियंत्रण तो लगभग सभी द्वारा स्वीकार किये जाते हैं, इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कार्य हैं, जिन्हें कुछ विद्वान तो स्वीकार करते हैं पर अधिकांश विद्वान नहीं स्वीकार करते। इन कार्यों में निर्देशन, नियुक्तियाँ तथा अभिप्रेरणा आदि आते हैं। प्रशासकीय कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :-

1. नियोजन –

किसी कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादन हेतु यह आवश्यक है कि उस कार्य के सम्बन्ध में पहले से नियोजन कर लिया जाय और फिर उसके अनुसार ही कार्य का संचालन किया जाय। जार्ज आर. टेरी के अनुसार 'नियोजन भविष्य में देखने की एक प्रविधि है....... इसके द्वारा भविष्य की आवश्यकताओं का रचनात्मक ढंग से पुनर्निरीक्षण किया जाता है, ताकि निर्धारित लक्ष्यों की दृष्टि से किये गये वर्तमान प्रयासों को उसके अनुरूप बनाया जा सके। नियोजन के अन्तर्गत उद्देश्य एवं लक्ष्यों का निर्धारण, नीति निर्धारण, उत्पादन की विधि का निर्धारण, भावी बिक्री का अनुमान तदनुसार उत्पादन की मात्रा का निर्धारण, वित्तीय आवश्यकताओं एवं मानव शक्ति नियोजन के कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है।

2. संगठन –

संगठन का आशय नियोजन द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति करने वाले तंत्र से है। श्री ई.एफ. ब्रेच के अनुसार 'संगठन प्रबन्ध की संरचना है, क्योंकि इसी के द्वारा अधिक प्रभावशाली निष्पादन हेतु कुल उत्तरदायित्व का विच्छेदन एवं वितरण सम्बन्धित समूहों में किया जाता है। संगठन ही वह आधारभूत ढांचा है, जिसके माध्यम से प्रबन्ध विभिन्न योजनाओं को व्यवहार में लाता है, उत्पादन करता है तथा उसका नियमन एवं नियंत्रण करता है।

उत्पादन विधियों का निर्धारण तथा श्रमिकों की रुचि के अनुसार उनके कार्य का वितरण करना, उनके पारस्परिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को परिभाषित करना तथा अधिकारों का

हस्तान्तरण आदि सब कुछ कार्य संगठन के अन्तर्गत आते हैं।

3. समन्वय –

प्रशासकीय उद्‌देश्यों की पूर्ति हेतु निर्मित संगठन में अनेक व्यक्ति व समूह सम्मिलित रहते हैं। इनके कार्य एवं उद्‌देश्य एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं, अतः सभी कार्यों में पारस्परिक समन्वय स्थापित कर सबके प्रयास से महत् लक्ष्यों की प्राप्ति करना, प्रबन्ध का एक महत्वपूर्ण कार्य है। ई.एल. ब्रेच के अनुसार 'किसी संस्था के विभिन्न सदस्यों के बीच इस ढंग से कार्यो का आवंटन करना कि उनमें संतुलन एवं सहयोग बना रहे तथा यह देखना कि कार्य सद्भावना के साथ हो जाय, समन्वय कहलाता है।' संगठन के विभिन्न अंगों में समन्वय स्थापना हेतु तीन विधियों का सहारा लिया जाता है :-

(1) संतुलन – व्यावसायिक प्रयासों में उपयोग किये जाने वाले विभिन्न तत्वों में इस प्रकार संतुलन स्थापित किया जाय कि कोई भी तत्व आवश्यकता से अधिक न हो और न कम तथा प्रत्येक तत्व आपस में मिलकर अनुकूलतम प्रभाव उत्पन्न कर सकें।

(2) समय-निर्धारण – इसका अर्थ है कि विभिन्न कार्यों की प्रगति के समय को इस प्रकार से व्यवस्थित करना कि वे निश्चित योजना में दी गयी समय-तालिका के अनुसार एक दूसरे के कुशल सम्पादन के अनुकूल हों।

(3) विलयन – इसका अर्थ है व्यवसाय में रत विभिन्न हितों को इस प्रकार एकीकृत करना कि व्यावसायिक उद्‌देश्यों एवं लक्ष्यों को कुशलतापूर्वक प्राप्त किय जा सके।

4. निर्णय करना –

पीटर ड्रकर के अनुसार प्रशासन के सारे कार्य निर्णय पर आधारित हैं। वास्तव में प्रबन्ध एक विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसकी पूर्ति निर्णय करने के रूप में होती है। व्यवसाय या उद्योग का आकार चाहे छोटा हो या बड़ा, सभी में प्रबन्धक को अनेक निर्णय लेने पड़ते हैं। प्रबन्ध में निर्णय की अधिक महत्ता होने के कारण ही कुछ आधुनिक विद्वान इसे ही प्रबन्धक का मुख्य कार्य कहते हैं। वह व्यक्ति जो उपयुक्त निर्णय नहीं कर पाता उसे प्रबन्धक के पद पर कार्य करने का कोई अधिकार नहीं है।

5. नियंत्रण –

ब्रेंच के अनुसार निर्धारित प्रतिमानों अथवा योजनाओं से वास्तविक निष्पादन की तुलना करने की प्रक्रिया ही नियंत्रण कहलाती है। जिससे यह पता लग जाय कि पर्याप्त प्रगति तथा संतोषजनक निष्पादन हो रहा है या नहीं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार प्राप्त किये गये अनुभव को सम्भावित भावी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु योगदान के रूप में अंकित किया जा सके। नियंत्रण की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि पिछले कार्य में कोई कमी रह गयी है तो उसे इस प्रकार सुधारना कि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में किसी प्रकार की असुविधा न हो। एलन

के अनुसार नियंत्रण के अन्तर्गत निम्नलिखित चार विशिष्ट क्रियायें सम्मिलित की जा सकती है :-

(1) उत्तरदायित्व का मापदण्ड स्थापित करना जिसके अनुसार कार्य की प्राप्ति का मूल्यांकन किया जा सके, (2) वास्तविक प्रगति का निर्धारित मापदण्डों के अनुसार विवरण तैयार करना, (3) नियोजित तथा वास्तविक प्रगति का तुलनात्मक अध्ययन करके विचलनों का पता लगाना तथा उसका विश्लेषण करना। इससे नियोजित तथा वास्तविक प्रगति के अन्तर के कारणों का पता चलता है, (4) सुधारात्मक कार्यवाही करना अर्थात् यदि कार्य का निष्पादन योजना के अनुरूप न रहा हो तो भविष्य में इसे निष्पादन योजना के अनुकूल बनाने के लिए कार्यवाही करना एवं आवश्यक संशोधन करना। किसी उपक्रम में स्वस्थ एवं प्रभावी नियंत्रण का होना आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा समस्त कार्य निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप सुचारू रूप से चलते हैं।

6. निर्देशन –

निर्देशन, प्रशासन का वह महत्वपूर्ण कार्य है जिसके द्वारा संगठित प्रयत्नों को प्रारम्भ किया जाता है और प्रबन्धकीय निर्णयों को वास्तविक स्वरूप प्रदान किया जाता है तथा व्यवसाय को अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उचित दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है। निर्देशन के अन्तर्गत कर्मचारियों को परामर्श देना तथा उनके कार्य का नियंत्रण भी सम्मिलित है। निर्देशन को सफल एवं उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि निर्देश पूर्णतया स्पष्ट, व्यावहारिक, सुसंगत तथा उपयुक्त हों। यथासम्भव निर्देश लिखित होना चाहिए।

7. अभिप्रेरणा –

अभिप्रेरणा का उद्देश्य उपक्रम के विभिन्न स्तरों पर कार्य कर रहे कर्मचारियों को उत्पादकता वृद्धि की प्रेरणा देना है तथा इस दिशा में उन्हें सफलता प्राप्त करने का उचित अवसर प्रदान करना है। कुशल अभिप्रेरणा से स्वस्थ मानवीय सम्बन्ध विकसित होते हैं। अभिप्रेरणा, प्रबन्ध का एक अति आवश्यक कार्य है। इसके अन्तर्गत प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष वित्तीय प्रोत्साहन, अच्छी कार्य की दशाएं, कार्य की प्रतिष्ठा आदि तत्वों को प्रबन्धक उपकरणों के रूप में प्रयुक्त करता है।

8. कर्मचारी व्यवस्था –

संगठन की योजना के अनुसार आवश्यक पदाधिकारियों एवं अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करना, आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान करना, पदोन्नति, अवनति, स्थानान्तरण, सेवामुक्ति, संतोषजनक पारिश्रमिक आदि की व्यवस्था करना भी प्रबन्धक का एक महत्वपूर्ण कार्य है। प्रबन्ध की सफलता बहुत कुछ इसी कार्य पर निर्भर करती है।

9. **सम्प्रेषण** --

संदेशवाहन की सक्षम प्रणाली के ऊपर ही प्रबन्धकीय कार्यों की सफलता निर्भर है। उपक्रम के संगठन में नियुक्त कर्मचारियों को सम्प्रेषण के माध्यम से ही प्रशासकीय अधिकारियों के आदेशों का निर्गमन किया जाता है और इस सम्बन्ध में पूछताछ का उत्तर दिया जाता है। सम्प्रेषण, प्रबन्ध का एक साधन है। आधुनिक युग में इस कार्य का इतना अधिक महत्व है कि इसे गत कुछ वर्षों से प्रबन्ध कार्य कहा जाने लगा है। यदि सम्प्रेषण अच्छा एवं प्रभावशाली होता तो दूसरे व्यक्ति कार्य के निष्पादन में अपने सारे प्रयास लगा देंगे। इसके विपरीत यदि सम्प्रेषण दोषपूर्ण होता तो पारस्परिक शंकायें, मनमुटाव तथा बेचैनी उत्पन्न होगी।

10. **दूरदर्शितापूर्ण नेतृत्व** –

प्रशासकीय उपक्रम को एक दूरदर्शी, सुयोग्य तथा सफल नेतृत्व में कर्मचारियों को निर्देश देते हुए एवं उनमें पारस्परिक सहयोग उत्पन्न करते हुए उन्हें लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में अग्रसारित करता है। प्रशासन एक प्रगतिशील प्रक्रिया है, इसमें आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रबन्धक के कार्यों में भी आये दिन परिवर्तन होते रहते हैं। अस्तु उपयुक्त कार्यो में भी हम भविष्य में परिवर्तन की आशा रखते हैं।

कुछ वर्तमान विद्वानों ने प्रशासन के उपयुक्त कार्यों को परम्परागत कार्य की संज्ञा दी जाती है और उनके स्थान पर नये सिरे से प्रबन्धकीय क्रिया-कलापों के निरूपण का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में हेनरी मिन्टजबर्ग ने पाँच अमेरिकन औद्योगिक प्रतिष्ठानों के मुख्य अधिशासियों के क्रिया-कलापों का पाँच सप्ताह तक अध्ययन किया। अपने अध्ययन के आधार पर उनका यह निष्कर्ष था कि प्रशासन की मुख्यतया 10 भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है, जिन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध विषयक भूमिका आती है। इनमें पहली भूमिका 'फीगर हेड' अथवा प्रतिष्ठान के सर्वोच्च अधिकारी की प्रस्थिति से जनित सम्मान के निर्वाह से सम्बन्धित है। इस भूमिका के निर्वाह हेतु उसे औपचारिक भोज और स्वागत समारोहों में सम्मिलित होना पड़ता है तथा दूसरी कम्पनियों के सर्वोच्च अधिकारियों एवं राजपुरुषों का स्वागत करना पड़ता है। दूसरी भूमिका लीडर या नायक की है। इस भूमिका के अन्तर्गत वह अपने प्रतिष्ठान में योग्य एवं कुशल अभिकर्मियों का चयन, प्रशिक्षण एवं विकास, उनका मार्ग निर्देशन करता हुआ, प्रतिष्ठान के लक्ष्यों की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता है। तीसरी 'लायजा' या सम्बन्ध स्थापना की है। इसके अन्तर्गत सर्वोच्च अधिशासी प्रतिष्ठान के बाहर के प्रभावशाली व्यक्तियों एवं संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित कर आवश्यक सूचना और सहयोग अर्जन करता है।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रथम भूमिका मानीटर की है। इसके अन्तर्गत वह विभिन्न स्रोतों से सूचनाओं को एकत्रित करता है। इन सूचनाओं का सम्बन्ध उसके संगठन के सामाजिक

परिवेश से होता है। कुछ सूचनायें तो ऐसी होती हैं, जो केवल उसी को प्राप्त होती है, अन्य अभिकर्मी उनसे अनभिज्ञ रहते हैं। दूसरी भूमिका सहभाजन की होती है। इसके अन्तर्गत वह कुछ सूचनाओं को अपने नीचे के अभिकर्मियों को सम्प्रेषित करता है। तृतीय भूमिका प्रवक्ता की है, जिसके अन्तर्गत वह वाह्य संसार को अपने प्रतिष्ठान की प्रगति से अवगत कराता है।

तृतीय वर्ग के अन्तर्गत आने वाली चारों भूमिकाओं का सम्बन्ध प्रशासक की निर्णय लेने की क्रियाओं से है। उद्यमकर्ता की भूमिका के अन्तर्गत वह प्रतिष्ठान के संगठन में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है। समस्या-समाधानकर्ता के रूप में वह प्रतिष्ठान में प्रसूत कुछ विषम समस्याओं..... हड़ताल आदि के समाधान हेतु प्रयास करता है। साधनों के आवंटनकर्ता के रूप में वह अपने संगठन में कार्यरत विभिन्न अभिकर्मियों की जिम्मेदारी एवं अधिकारों का निर्धारण करता है। वार्ताकार के रूप में वह अपने प्रतिष्ठान एवं वाह्य पक्ष के बीच होने वाली महत्वपूर्ण वार्ता में अपने प्रतिष्ठान के प्रतिनिधियों का नेतृत्व करता है।

प्रतिष्ठान के मुख्य अधिशासी के क्रिया-कलापों में इन सभी भूमिकाओं का एकाकार हो जाता है। वास्तव में उच्च अधिशासी अपने प्रस्थिति के कारण प्रतिष्ठान के क्रिया-कलापों से सम्बन्धित अधिकतम सूचनाओं की प्राप्ति करता है और सूचनाओं के परिप्रेक्ष्य में, अपनी प्रस्थिति से जन्य अधिकारों के द्वारा निर्णय लेता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में उसे विविध भूमिकाओं का सम्पादन करना पड़ता है। किन्तु संगठन के कार्य के स्वरूप के आधार पर कुछ भूमिकाओं को कहीं पर अधिक महत्व दिया जाता है और कुछ भूमिकाओं को अन्यत्र अधिक महत्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ विविध सेवाओं को प्रदान करने वाले संगठनों में उच्च-अधिशासी के लिए 'लायजॉ' की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है और वस्तुओं को वृहत पैमाने पर उत्पादित करने वाले संगठनों में उद्यमकर्ता की भूमिका को अधिक महत्व दिया जाता है। विभिन्न प्रबन्धकीय क्षेत्रों में कार्यरत अभिकर्मियों के द्वारा भी इन भूमिकाओं का निर्वाह भिन्न-भिन्न तरीके से होता है। उदाहरणार्थ उत्पादन प्रबन्धक 'निर्णय सम्बन्धी' भूमिकाओं को अधिक महत्व देता है और विपणन प्रबन्धक 'अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध' विषयक भूमिका को अधिक महत्व देता है, किन्तु इस प्रकार की भिन्नताओं के बावजूद भी यह बात सत्य है कि प्रत्येक उच्च अधिशासी को न्यूनाधिक रूप से इन सभी भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है।

समाज कल्याण की ऐच्छिक संस्थायें

समाज कल्याण का कार्य यद्यपि आज मुख्यतः राज्य द्वारा सम्पन्न किया जाता है पर केवल राज्य का प्रयास ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए ऐच्छिक या गैर सरकारी या निजी संगठनों या संस्थाओं का होना भी परम आवश्यक है। राज्य का कार्य क्षेत्र व साधन स्रोत सीमित होने के कारण भारत जैसे विकासशील देश में निजी संस्थाओं का महत्त्व बढ़ गया है।

ऐच्छिक संगठन का अंर्थ

ऐच्छिक संगठन उसे कहते हैं जिनके कार्यकर्ता चाहे वेतन भोगी हों, या न हों, पर जिसकी पहल व प्रसाधन इसके सदस्यों द्वारा बिना किसी बाहरी नियंत्रण के किये जायें।

ऐच्छिक कार्य अपनी प्रकृति के कारण स्थानीय होता है। एक क्षेत्र के निवासी अपने ऐच्छिक प्रयासों द्वारा अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करते हैं। ऐच्छिक अभिकरणों या संस्थाओं का प्रयोग प्रजातंत्र की मूल आत्मा है।

सामाजिक चेतना व विश्व प्रेम से प्रभावित एक स्वतंत्र समाज में ऐसे अनेक अभिकरण रहते जो ऐच्छिक कार्य करते हैं। अनेक बार ऐच्छिक अभिकरण व्यक्तिगत प्रयास के परिणाम होते हैं। पर जनतंत्र में अब यह कार्य किसी अभिकरण या संस्था द्वारा किया जाता है। संस्थानात्मक प्रयास से लाभ यह होता है कि इसमें अनेक लोगों के परिश्रम व साधन के स्रोतों का सही रूप से उपयोग हो जाता है और साथ ही साथ दोहराने की त्रुटि नहीं होती।

ऐच्छिक संगठनों की विशेषतायें

समाज कल्याण के उद्देश्य से बनाई गयी ऐच्छिक संस्थाओं की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :-

1. ये ऐच्छिक प्रयास का परिणाम होती है।
2. इन संगठनों की पहल तथा प्रशासन प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर बिना किसी गहरी नियंत्रण के स्वयं उसके सदस्यों द्वारा किया जाता है।
3. इनको एक अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत किया जाता है जिससे उनको निगमात्मक स्तर प्राप्त हो सके व एक कानूनी दायित्व मिल सके।
4. इन ऐच्छिक संस्थाओं में संगठन की दृष्टि से एक साधारण सभा होती है तथा नियमित रूप से बनाई गयी एक प्रबंध समिति होती है। जिसमें पुरुषों, महिलाओं, व्यवसायियों आदि सभी को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जाता है।
5. इनके कुछ निश्चित लक्ष्य व उद्देश्य होते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए निश्चित कार्यक्रम होता है।
6. ये जिस समुदाय में बनते हैं उनके द्वारा स्वीकृति प्राप्त किये होते हैं।

सरकारी व ऐच्छिक संगठनों में अन्तर

समाज कल्याण सेवायें सम्पन्न करने वाले संगठन मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं। सरकारी, अर्द्ध सरकारी तथा ऐच्छिक संगठन। अर्द्धसरकारी संगठन ऐसे होते हैं जिनमें सरकारी व निजी दोनों संगठनों का गुण पाया जाता है। सरकारी व निजी संगठनों में निम्नलिखित अन्तर हैं।

1. ऐच्छिक संस्थाये सदैव समाज को किसी विशेष समस्या को ध्यान में रखकर बनती हैं। समाज के कुछ व्यक्ति किसी अंतःप्रेरणा से, दया की भावना से, मानवता के भाव से, या किसी समय विशेष की आवश्यकता से प्रेरित होकर कोई कार्य प्रारम्भ करते हैं।

    इसके विपरीत सरकारी संस्थायें न तो इतनी जल्दी बन सकती हैं। न उसके पीछे किसी व्यक्ति विशेष की भावना या अंतःप्रेरणा का रहस्य छिपा हो सकता है। सरकारी संस्थाओं के पीछे सरकार की लम्बी योजनायें असीमित जन धन का जोर तो रहता है पर प्रेरणा नहीं।

2. ऐच्छिक संस्थायें किसी नये क्षेत्र में कार्य करने के लिये उपयुक्त होती हैं। आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन ला सकती है। नये प्रयोग कर सकती हैं। समस्याओं को सुलझाने का मार्ग निकाल सकती हैं। जबकि सरकारी संस्थाओं में कुछ नियमों के बंधन होते हैं जिनके कारण वे कोई नया कार्य शीघ्र करने में समर्थ नहीं हो पातीं। यदि कोई स्वतंत्र विचारों वाला व्यक्ति भी इन संस्थाओं में लगन से नया काम करना चाहता है तो ये सीमायें उनकी स्वतंत्रता, लगन व उत्साह को कुण्ठित करती हैं।

3. सरकारी संस्थाओं की रूपरेखा कुछ आधारभूत नियमों पर आधारित होती है और सभी स्थानों, व्यक्तियों व संस्थाओं के लिये वे ही नियम लागू होते हैं। पर स्थान विशेष की अपनी कुछ अलग समस्यायें होती हैं। इनका समाधान सरकारी संस्थाओं द्वारा नहीं हो सकता। इसे ऐच्छिक संस्थायें आसानी से कर सकती हैं।

4. अनेक समस्यायें, देशव्यापी नहीं होती। वे सरकार तक न तो पहुँचती हैं न उनके वश में होती हैं। इन समस्याओं को स्वयंसेवी संस्थायें शीघ्र कम खर्च पर व कम व्यक्तियों को लगाकर सुलझा सकती हैं।

5. स्वैच्छिक संगठनों में निर्णय शीघ्रता से लिये जा सकते हैं। जबकि सरकारी संगठनों में यह संभव नहीं होता क्योंकि यहाँ सोपान के अनुसार ही निर्णय लिये जाते हैं। सरकार द्वारा संचालित संगठनों में सत्ताधारी दल के राजनीतिक प्रभाव की संभावनायें रहती हैं। जबकि ऐच्छिक संगठनों में यह संभावना कम रहती है।

6. स्वैच्छिक संगठनों की लोचशील प्रकृति के कारण वे वित्तीय समस्याओं का समाधान करने के लिए शीघ्र ही उचित कदम उठा लेते हैं जबकि सरकारी संगठन ऐसा नहीं कर पाते। वे वित्तीय प्रभाव के कारण काम रोक देते हैं या काम बिगाड़ लेते हैं।

स्वैच्छिक संगठनों का महत्व

समाज कल्याण के लिये कार्य कर रहे सरकारी व अर्द्ध सरकारी संगठनों की अपेक्षा ऐच्छिक संगठनों की उपयोगिता व लाभ अधिक है। यही कारण है कि सरकारी संगठनों की अपेक्षा इनका समर्थन अधिक किया जाता है।

नवीन विचारों के जन्मदाता व्यक्ति होते हैं। सारे संसार में नवीन विचारों पर कार्य छोटे पैमाने पर ही प्रारम्भ किया जाता है। स्त्री शिक्षा, हरिजन उद्धार, अपंग लोगों की देखभाल आदि विभिन्न कार्य ऐच्छिक संगठनों द्वारा प्रारम्भ किये गये। स्वैच्छिक संस्थाओं के कार्यकर्ता अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं। कभी-कभी वे असफल हो जाते हैं व उनका प्रयास विफल होता है तो फिर नयी शुरुआत करनी होती है। कभी-कभी जिस समस्या को लेकर वे चलते हैं उसका रूप बदल जाता है। अतः प्रयोग की दिशा बदलनी पड़ती है। कभी निराश होकर संस्था बंद भी हो सकती है। पर निरंतर प्रयास के बाद उनको ठीक रास्ता मिल ही जाता है।

समाज में स्वैच्छिक संगठनों का निम्नलिखित महत्त्व है :-

1. प्रजातंत्र की अवधारणा को वास्तविकता में परिणत करने का महत्वपूर्ण साधन।
2. प्रारंम्भ से ही इन संगठनों ने समाज कल्याण सेवा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। आग लगने, बाढ़, अकाल आदि में सराहनीय योगदान इनके द्वारा दिया जाता है।
3. ये सरकारी कार्यभार को हल्का कर देती हैं। कोई सरकार चाहे कितनी ही साधन सम्पन्न हो सारे कल्याणकारी दायित्वों का भार नहीं उठा सकती।
4. कल्याणकारी कार्यों में जनता का प्रत्यक्ष योगदान इन स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से ही मिल पाता है।
5. स्वैच्छिक संगठन जो भी चन्दा एकत्र करते हैं उनका लाभ प्रत्यक्ष रूप से तुरन्त जनता को मिलता है।
6. इन संगठनों में लोचशीलता पायी जाती है जिसका कि सरकारी संगठनों में अभाव होता है।
7. ये लोगों को विभिन्न दस्तकारियों में प्रशिक्षण देते हैं। जिससे लोगों को स्वरोजगार प्राप्त होता है।

अन्य महत्व

- मानव स्पर्श।
- प्रयोग करने की क्षमता।
- सामाजिक निकटता।
- सामाजिक समस्याओं के प्रति सजगता।
- पारस्परिक सहायता को प्रोत्साहन।
- विवादित विषयों पर कार्य करना।
- आवश्यकतानुसार समाज के सहयोग से धन एकत्र करना।

स्वैच्छिक संस्थाओं की कमियाँ

स्वैच्छिक संस्थाओं की प्रमुख कमियाँ निम्नलिखित हैं :-

1. समाज में व्यापक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन के कारण इन संस्थाओं का परंपरागत साधन स्रोत सूखता जा रहा है। अतः ये सरकारी अनुदान पर निर्भर होते जा रहे हैं, जो इनकी स्वैच्छिक प्रवृत्ति पर प्रहार करती है।

2. ये संस्थायें जनता व जनमत से निरंतर दूर होती जा रही हैं। इनकी जीवन शक्ति जनता की निकटता व जनमत को समझकर उसके अनुसार व्यवहार करने में हैं। सामाजिक कार्यकर्ता दूसरी श्रेणी के अधिकारी बनते जा रहे हैं। आज रहन-सहन की लागत निरंतर बढ़ती जा रही है। रुपये की कीमत घटती जा रही है। इस स्थिति में कम आय पर योग्य कार्यकर्ताओं का मिलना सम्भव नहीं रहा है।

विभिन्न लोक कल्याण कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ी है। पर प्रशिक्षित कर्मचारी नाममात्र की आय पर कार्य करने को राजी नहीं हो पाते। आज संयुक्त परिवार व्यवस्था टूट रही है। व्यक्तिगत परिवारों में व्यक्ति के कार्य व दायित्व बढ़ गये हैं। अवकाश कम हो गये हैं अतः कम आय पर लोग अपना समय देने को सहमत नहीं होते।

सुधार का सुझाव

इन संस्थाओं की ओर आने वाले स्वयं सेवियों की संख्या निरंतर घटती जा रही है। इससे स्वैच्छिक कार्य पर बुरा असर पड़ेगा। अतः आवश्यक है कि -

1. इनको सरकारी सहायता कुछ धन के रूप में कुछ तकनीकी सहायता के रूप में प्राप्त हो।

2. इन संस्थाओं में काम की शर्तें इतनी सुधारी जायें जिससे अधिक से अधिक कार्यकर्ता इनकी ओर आकर्षित किये जा सकें, क्योंकि ऐच्छिक संस्थाओं में उच्च पदाधिकारियों को जो वेतन प्राप्त होता है वह सरकारी संस्थाओं में तृतीय व चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को प्राप्त होता है। इतने कम वेतन पर कोई योग्य व्यक्ति यह पद स्वीकार नहीं करेगा। प्रायः मैट्रिक पास या उससे कम शिक्षा वाले लोग इसमें लिये जाते हैं।

भारत में समाज कल्याण की स्थिति

हमारे देश में समाज कल्याण ने अभी तक वृति का स्वरूप तो नहीं लिया है किन्तु वृत्तिकरण के कुछ तत्व तो भारतीय समाज कल्याण के परिवेश में विद्यमान ही हैं। समाज कल्याण अभिकर्मी कई क्षेत्रों में कल्याणात्मक सेवायें प्रदान कर रहें हैं जैसे-स्वास्थ्य, परिवार, बाल कल्याण, युवा कल्याण, महिला कल्याण, वृद्ध कल्याण, बाधित, अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण इत्यादि क्षेत्रों में सरकारी एवं गैर सरकारी संसाधनों द्वारा प्रायोजित इस प्रकार की सेवाओं के माध्यम से सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है।

आज हमारे देश में विभिन्न स्वैच्छिक एवं गैर स्वैच्छिक अभिकरणों के माध्यम से समाज कल्याण सेवायें प्रदान की जा रही हैं। इस क्षेत्र में लगे हुए अभिकर्मियों के प्रशिक्षण हेतु समुचित संस्थाओं की स्थापना की गयी है और इनके कई महत्वपूर्ण संगठन भी स्थापित हो गये हैं। किन्तु इसके वावजूद हम इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते हैं कि इन समाज कल्याण या समाज कार्य सेवाओं को अभी तक हमारे देश में तो सामाजिक रूप से मान्यता नहीं प्राप्त हुई है। निजी क्षेत्र में समाज कार्य अभिकर्मियों का अभी तक न तो लाइसेंसिंग हो पाया है न उन्हें कार्य हेतु कोई सर्टिफिकट दिया जाता है, न तो उनके वृत्ति-कार्य व्यवहारों और अभिकरणों का ही पंजीकरण हो पाया है और न तो उनकी सेवाओं का नियमन ही हो पाया है। इन कारणों से समाज कार्य व्यवहारों को अभी भी मात्र एक उभरता हुआ व्यवसाय ही कहा जाता है।

समाज कल्याण प्रशासन एवं कार्मिक प्रशासन

समाज कल्याण प्रशासन एक व्यापक प्रव्यय है जिसके माध्यम से सामाजिक नीतियों को सामाजिक सेवाओं में परिणित किया जाता है किसी भी अभिकरण में सामाजिक नीतियों को सेवाओं में परिणित करने के लिए कुछ अभिकर्मियों की आवश्यकता होती है, जिनके द्वारा नीतियों का क्रियान्वयन किया जाता है। इस प्रकार के अभिकर्मी जितने ही सक्षम एवं दक्ष होंगे, सामाजिक नीतियाँ भी उतनी ही प्रभावपूर्ण ढंग से सेवाओं में परिणित होंगी। इस दृष्टि से कार्मिक प्रशासन का महत्व आज बहुत बढ़ गया है। समाज कल्याण अभिकरणों में तो अपेक्षाकृत कम संख्या में अभिकर्मी होते हैं किन्तु राजकीय संगठनों एवं राजकीय विभागों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में तो एक ही संगठन के अंतर्गत बहुत अधिक संख्या में अभिकर्त्ता कार्यरत रहते हैं। लॉरेंस अप्पले ने औद्योगिक प्रतिष्ठान की प्रबंध व्यवसाय के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है-कार्मिक प्रबंध ही वास्तविक प्रबंध है। इस परिप्रेक्ष्य में आज कार्मिक प्रबंध का नाम बदलकर मानव संसाधन प्रबंध रख दिया गया है। मानवीय संसाधनों को आज संगठन या प्रतिष्ठान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण संपदा के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस दृष्टि से प्रतिष्ठान या अभिकरण में समुचित मानवशक्ति नियोजन एवं कार्य विश्लेषण के पश्चात् सही व्यक्तियों की सही स्थान पर नियुक्ति, कार्य की अपेक्षाओं के अनुरूप उनका अधिकतम संभावित वेतन निर्धारण, कल्याणात्मक सुविधाओं की सम्यक उपलब्धता के आधार पर कार्य जीवन में गुणात्मकता के अवसरों का विकास, प्रशिक्षण एवं विकास के माध्यम से उनकी क्षमताओं का अधिकतम विकास, 360 डिग्री के आधार पर निष्पादन मूल्यांकन तथा कैरिअर एवं **सक्सेशन प्लानिंग** के आधार पर पदोन्नति एवं विकास किया जाता है, ताकि वे प्रतिष्ठान के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अपना अधिकतम योगदान करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। इस प्रकार प्रतिष्ठान एवं मानवीय संसाधन अधिकर्मी दोनों के लक्ष्यों की प्राप्ति होती है।

कार्मिक प्रशासन (मानव संसाधन प्रबंध) एवं समाज कल्याण प्रशासन में अन्तर

व्यापक रूप से कार्मिक प्रशासन एवं समाज कल्याण प्रशासन में निम्नलिखित अंतर हैः-

(i) कार्मिक प्रशासन किसी संगठन में कार्यरत मानवीय अभिकर्मियों के प्रशासन से संबंधित होता है, जबकि समाज कल्याण प्रशासन किसी समाज कल्याण अभिकरण के संपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु किया गया प्रयास है। मोटे तौर पर समाज कल्याण प्रशासक किसी संगठन का संपूर्ण प्रशासन है, जबकि कार्मिक प्रशासन संगठन में कार्यरत अभिकर्मियों का ही केवल प्रशासन है।

(ii) समाज कल्याण प्रशासन से सम्बन्धित अभिकरण सामान्यतया छोटे छोटे हैं और उच्च पदस्थ अभिकर्मियों की संख्या ऐसे अभिकरणों में कम होती है। इस कारण कार्मिक प्रशासन (जिसका नाम अब मानव संसाधन प्रबंध हो गया है) सामान्यतया उच्च अभिकर्मियों का प्रबंध एवं विकास करता है। जबकि समाज कल्याण प्रशासन अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के अभिकर्मियों के द्वारा सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति करता है।

(iii) संप्रेषण का महत्व दोनों प्रकार के प्रशासन में है, किन्तु कार्मिक प्रशासन में फीड फारवर्ड और फीड बैक के माध्यम से संप्रेषण कें जटिल क्रिया कलापों को सम्मिलित किया जाता है।

(iv) कार्मिक प्रशासन में अभिकर्मियों के प्रशिक्षण एवं विकास को अतिशय महत्व देते हुए यह कार्य निरन्तर चलता रहता है। जबकि समाज कल्याण प्रशासन में प्रशिक्षण एवं विकास को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया जाता है।

(v) समाज कल्याण संगठनों से संबंधित कर्मचारियों का वेतन अपेक्षाकृत कम होता है किन्तु कार्मिक-प्रशासन में कर्मचारियों के वेतन वृद्धि का संबंध उनकी उत्पादकता और संतुष्टि से जोड़ते हुए निरंतर वेतन पुनरीक्षण और वृद्धि होती रहती है।

(vi) कार्मिक प्रशासन से संबंधित विभागों में कार्यरत कर्मचारियों की कल्याणात्मक सुविधाओं में वृद्धि और उनके संतुष्टि हेतु निरंतर प्रयास किया जाता है जबकि समाज कल्याण प्रशासन से जुड़े अभिकर्मियों की कल्याणात्मक सुविधाओं की वृद्धि हेतु कोई विशेष कार्य नहीं किया जाता है।

(vii) कार्मिक प्रशासन के अन्तर्गत संगठन के नियोक्ता एवं कर्मचारियों के बीच सौहार्द्रपूर्ण संबंध को विशेष महत्व दिया जाता है। सामान्य समाज कल्याण प्रशासन में इसे विशेष महत्व नहीं दिया जाता है।

(viii) कार्मिक प्रशासन में संगठन के प्रति कर्मचारियों की प्रतिबद्धता विकास को विशेष

महत्व दिया जाता है। समाज कल्याण प्रशासन में इस बात को भी विशेष महत्व नहीं दिया जाता है।

(ix) कार्मिक प्रशासन में निष्पादन मूल्यांकन को अतिशय महत्व दिया जाता है और कर्मचारियों की वार्षिक वेतन वृद्धि भी निष्पादन मूल्यांकन से जोड़ी जाती है, जबकि समाज कल्याण प्रशासन में इस बात को भी विशेष महत्व नहीं दिया जाता है।

(x) कार्मिक प्रशासन में कर्मचारियों की परिवेदना निवारण और अनुशासन को विशेष महत्व दिया जाता है किन्तु समाज कल्याण प्रशासन में इन दोनों बातों के महत्व को स्वीकार तो अवश्य किया जाता है पर इसके हेतु कोई विशेष कार्यवाही नहीं की जाती है।

(xi) कार्मिक प्रशासन का उद्देश्य यह होता है कि कर्मचारियों को इस प्रकार संतुष्ट एवं विकसित किया जाये कि उनके माध्यम से प्रतिष्ठान के लाभ में पूर्ण वृद्धि हो, जबकि समाज कल्याण प्रशासन केवल कल्याण की बात सोचता है। ऐसे संगठनों में लाभार्जन होता ही नहीं है।

समाज कल्याण प्रशासन एवं लोक प्रशासन

प्रशासन का अर्थ है व्यक्ति और सामग्री का संगठन एवं उपयोग इस प्रकार से किया जाना कि लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। लोक प्रशासन का अपेक्षाकृत एक व्यापक क्षेत्र है। इसका अर्थ है जन सामान्य की भलाई के लिए राजकीय क्रिया-कलाप का प्रशासन, इसके अन्तर्गत वे सभी क्रिया-कलाप आते हैं जो जन नीतियों के क्रियान्वयन हेतु किए जाते हैं। भूत में राज्य केवल क़ानून और व्यवस्था तक अपनें क्रिया-कलापों को सीमित रखता था। किन्तु आज के युग में 'पुलिस स्टेट' के रूप में राज्य का जो ऋणात्मक पक्ष था अब वह कल्याणकारी राज्य के रूप में धनात्मक परिणति पा रहा है।

इस प्रकार समाज कल्याण प्रशासन लोक प्रशासन की एक शाखा है। इसके अंतर्गत लोक प्रशासन के बहुत से तत्व समाहित होते हैं। समाज कल्याण सेवाओं के अंतर्गत जन सेवाओं का प्रशासन होता है मुख्य रूप से स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा तथा वैयक्तिक सामाजिक सेवायें इसके अंतर्गत आती हैं जैसे व्यक्ति समूह एवं समुदाय को सहायता, सामाजिक देखभाल तथा संबंल प्रदान करने वाली सेवाएँ। इसके अतिरिक्त समाज कल्याण सेवाओं के प्रशासन के अंतर्गत व्यक्ति और समूह का विकास तथा कल्याण एवं सहायता एवं ऐसे लोगों के उपचार तथा पुनर्स्थापन संबंधी कार्य आते हैं जो अति कठिनाई में रहते हैं।

लोक प्रशासन एवं समाज कल्याण प्रशासन में अंतर

यद्यपि समाज कल्याण-प्रशासन लोक प्रशासन का ही एक अंग है तथापि इनमें कुछ विशिष्ट अन्तर है, जिसका विवरण निम्नलिखित है :-

(i) यद्यपि लोक प्रशासन का ही समाज कल्याण प्रशासन एक अंग है तथापि लोक प्रशासन राजनीति शास्त्र के अन्तर्गत अध्यापित किया जाता है और समाज कल्याण प्रशासन समाज कार्य के अन्तर्गत अध्यापित किया जाता है,

(ii) लोक प्रशासन एक नवीन विषय है पर समाज कल्याण प्रशासन उससे भी नया है।

(iii) लोक प्रशासन ने तो तमाम विरोधाभासों के बावजूद आज यह साबित कर दिया है कि वह एक व्यवसाय है पर समाज कल्याण प्रशासन को अपने को एक व्यवसाय के रूप में प्रमाणित करने में अभी कई मंजिलों को तय करना होगा।

(iv) लोक प्रशासन में कार्यरत अभिकर्मियों के प्रशिक्षण हेतु कई महत्वपूर्ण संस्थानों की स्थापना हो गयी है जैसे- इण्डियन इंस्टिट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन नयी दिल्ली, किन्तु समाज कल्याण प्रशासन के क्षेत्र में कार्यरत अभिकर्मियों हेतु अभी तक ऐसे किसी प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना नहीं हो पायी है।

(v) समाज कल्याण प्रशासन एवं लोक कल्याण प्रशासन की जिम्मेवारियों के निर्वाह हेतु जिस प्रकार के अभिकर्मियों की आवश्यकता होती है वे नियमों एवं व्यवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं, लक्ष्यों की प्राप्ति की अपेक्षा नियम एवं व्यवस्था पर अधिक बल देते हैं, जबकि समाज कल्याण प्रशासन में नियम एवं व्यवस्था के पालन करने वाले अभिकर्मियों की अपेक्षा समाज सेवा एवं समाज कल्याण में समर्पित अभिकर्मियों की आवश्यकता होती है। इनकी शैक्षणिक योग्यता भले ही कम हो पर उनमें समाज सेवा के प्रति प्रतिबद्धता होनी चाहिए।

(vi) समाज कल्याण प्रशासन के अभिकर्मी कुछ निश्चित आचार संहिताओं के आधार पर अपने साथियों सेवाकर्मियों एवं समुदाय और समूह या सेवार्थी (यक्ति) के साथ व्यवहार करते हैं। दूसरों का कल्याण, सन्तुष्टि और प्रतिष्ठा उनके लिए विशेष महत्व रखती है। किन्तु लोक प्रशासन के अभिकर्मी वास्तविक व्यवहार में आचार संहिताओं का बहुत ही कम पालन करते हैं बहुत सी स्थितियों में वे लोकहित की अपेक्षा अपने हित को अधिक महत्व देते है।

(vii) समाज कल्याण के अभिकरणों हेतु जिस प्रशासकीय नेतृत्व की आवश्यकता होती है उसमें समाज कार्य के तत्व सदैव विद्यमान रहते हैं। ऐसे अभिकर्मी अपने साथियों एवं सेवार्थियों को यथा सम्भव आत्मनिर्णय का अधिकार देना चाहते है, जब कि लोक प्रशासन के अभिकर्मी नौकरशाही मूलक सिद्धान्तों पर कार्य करते हैं। नियम एवं व्यवस्था ही उनके लिए सर्वोपरि है और जनहित गौड़ है।

(viii) समाज कल्याण प्रशासन सदैव यह प्रयास करता है कि सेवार्थियों को अपेक्षित सेवा प्रदान किया जाय जबकि लोक प्रशासक का उद्देश्य यह होता है कि नियमों एवं व्यवस्थाओं के अनुसार कार्य हो, लाभार्थियों को लाभ प्राप्त हो या न हो।

इस प्रकार लोक प्रशासन में साधनों का दुरुपयोग और भ्रष्टाचार अपेक्षाकृत अधिक होता है।

भारत में समाज कल्याण प्रशासन के कुछ अन्य आयाम

हमारे देश में सेवा एवं कल्याण की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। व्यक्तिगत रूप से दान और धर्म के मूल्यों के आधार पर किया गया दान एवं कल्याण हमारे देश की प्राचीन परम्परा है। राजा महराजा भी विभिन्न प्रकार के कल्याणात्मक कार्य किया करते थे। किन्तु ये प्रयास एवं परम्पराएँ क्रमबद्धता लिए हुए नहीं रहती थी। देश की स्वतंत्रता के पश्चात जब संविधान में कल्याणकारी राज्य का प्रावधान जोड़ा गया तो केन्द्रीय सरकार में कल्याण सम्बन्धी जिम्मेवारियों के निर्वाह हेतु एक अलग मंत्रालय की स्थापना की गयी।

सरकार द्वारा समाज कल्याण की जिम्मेवारियाँ निम्नलिखित स्तरों पर निर्वाह की जाती हैं :-

(1) **केन्द्रीय स्तर पर कल्याण मंत्रालय** – प्रारम्भ में समाज कल्याण विभाग का अस्तित्व भारत सरकार के किसी दूसरे विभाग के एक अंग के रूप में था। इस क्रम में सबसे पहले सामाजिक सुरक्षा विभाग की भारत सरकार में स्थापना हुई है। समाज कल्याण भी उसका एक अंग था। सन 1966 में सामाजिक सुरक्षा विभाग का नाम बदल कर समाज कल्याण विभाग कर दिया गया और अन्ततोगत्वा वह 1979 में समाज कल्याण मन्त्रालय में बदल दिया गया। आगे चलकर 1984 में वह मन्त्रालय समाज कल्याण एवं महिला कल्याण मन्त्रालय बन गया।

सितम्बर 1985 में भारत सरकार में कल्याण मन्त्रालय का गठन किया गया, इसके अन्तर्गत गृह मंत्रालय के कुछ विभागों को स्थानान्तरित कर दिया गया जैसे अनुसूचित जाति एवं जनजाति कल्याण और समाज कल्याण एवं बाधितों का कल्याण तथा सामाजिक रक्षा के कार्यक्रमों को भी इसके अन्तर्गत स्थानान्तरित कर दिया गया। महिला एवं बाल कल्याण विभाग को मानव संसाधन विभाग के अन्तर्गत रखा गया।

आगे चलकर केन्द्रीय मंत्रालय में कल्याण सम्बन्धी एक अलग विभाग की स्थापना की संस्तुति कई दलों समितियों एवं सम्मेलनों के द्वारा की गयी। जैसे-इण्डियन कान्फ्रेंस आफ सोशल वर्क तथा योजना आयोग इत्यादि।

कल्याण मन्त्रालय के अन्तर्गत आने वाले विषयों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण विषयों का विवरण निम्नलिखित है :-

(i) भारत अमेरिका, भारत इंग्लैण्ड, भारत स्विटजरलैण्ड तथा भारत स्वीडेन के एक समझौते के अन्तर्गत जरूरतमन्दों के सहायतार्थ प्राप्त धन एवं अन्य सामग्रियों का समुचित प्रबन्धन एवं वितरण

(ii) सामाजिक सुरक्षा एवं सामाजिक बीमा सम्बन्धी ऐसे कार्यों का प्रबन्धन, जिनकी व्यवस्था सरकार के किसी अन्य विभाग के द्वारा नहीं की जाती है।

(iii) बाधितों एवं बेरोजगार व्यक्तियों की सहायता।

(iv) समाज कल्याण नियोजन, परियोजना निर्माण एवं क्रियान्वयन।

(v) सोशल डिफेंस सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्रसंघ के कानवेशन का क्रियान्वयन।

(vi) बालकों के हेतु संस्थागत एवं गैर संस्थागत सेवाओं की व्यवस्था।

(vii) शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से बाधित व्यक्तियों का शिक्षण, प्रशिक्षण एवं पुनर्स्थापन।

(viii) शारीरिक रूप से बाधित एवं मानसिक रूप से बाधित व्यक्तियों हेतु राष्ट्रीय संस्थानों की स्थापना।

(ix) अन्धों हेतु राष्ट्रीय केन्द्रों की स्थापना।

(x) सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य कार्यक्रम।

(xi) भिक्षुओं, बाल अपराधियों तथा भगोड़ों की देखभाल सम्बन्धी कार्यक्रम।

(xii) सोशल डिफेंस सम्बन्धी सभी मामलों में शोध, मूल्यांकन एवं सूचनाओं के आदान प्रदान की व्यवस्था।

(xiii) बाल अपराधियों हेतु परिवीक्षा सेवा की व्यवस्था।

(xiv) शराबबंदी एवं नशा निवारण सम्बन्धी सभी मामलों की देखभाल।

(xv) नशाखोरों का शिक्षण एवं समाजिक समायोजन।

(xvi) निम्नलिखित अधिनियमों का प्रशासन।

(a) प्रोवेशन एण्ड अफेन्डर्स एक्ट - 1958

(b) चिल्ड्रेन एक्ट 1960

(xvii) अनुसूचित जाति एवं जनजाति का कल्याण।

(xviii) अल्पसंख्यकों का कल्याण।

(xix) माइनारिटी कमीशन से सम्बधित मामलों की देखभाल।

(xx) वक्फ एक्ट - 1954 का प्रशासन।

यद्यपि कल्याण सम्बन्धी उपर्युक्त प्रावधान काफी प्रभावपूर्ण हैं किन्तु वे व्यापक नहीं हैं।

प्रशासकीय संगठन

कल्याण मंत्रालय एक राज्य स्तरीय मन्त्री के अधीन केन्द्र सरकार के अन्तर्गत कार्यरत है। इस मंत्रालय के अन्तर्गत दो विभाग होते हैं।

(i) कल्याण विभाग जिसका सर्वोच्च अधिकारी सचिव कल्याण होता है।

(ii) महिला एवं बाल विभाग जिसका सर्वोच्च अधिकारी सचिव महिला एवं बाल विभाग होता है। मंत्रालय में संसद सदस्यों की एक सलाहकारिणी समिति भी होती है, जो विभिन्न मामलों में समय-समय पर अपने बैठकों के द्वारा सलाह देती रहती हैं।

कल्याण–मंत्रालय के कार्य

मुख्यरूप से कल्याण-मंत्रालय के द्वारा निम्नलिखित जिम्मेवारियों का निर्वाह किया जाता है :-

(i) समाज के विभिन्न वर्गो का कल्याण।

(ii) कल्याण हेतु नीतियों एवं कार्यक्रमों का निर्माण एवं सहयोग और समन्वयन स्थापन।

(iii) केन्द्रीय एवं केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजनाओं का क्रियान्वयन।

(iv) विभिन्न कल्याण नीतियों एवं कार्यक्रमों के सम्बन्ध में राज्य सरकारों की नीति का निर्देशन।

(v) योजना आयोग से समन्वयन स्थापना कर विभिन्न कार्यक्रम का संचालन।

(vi) राज्य सरकारों के मंत्रियों एवं समाज कार्य विभागों की बैठकों का आयोजन।

(vii) आवश्यकतानुसार विभिन्न समितियों आयोग एवं अध्ययन बदलो का गठन।

(viii) स्वैच्छिक संगठनों की सहायता।

(ix) विभिन्न कल्याणात्मक कार्यक्रमों के बारे में आवश्यकतानुसार शोध एवं मूल्यांकन की व्यवस्था।

(x) अन्तर्राष्ट्रीय विचार गोष्ठियों, सम्मेलनों एवं कर्मशालाओं में सहभाजन।

केंन्द्रीय कल्याण मन्त्रालय के अतिरिक्त राज्य सरकारों में भी कल्याण या समाज कल्याण मन्त्रालय कार्यरत हैं। इसके अतिरिक्त कल्याण के क्षेत्र में एन.जी.ओ. भी कार्यरत हैं। इसके बावजूद समाज कल्याण प्रशासन का अभी तक इस प्रकार विकास नहीं हो पाया है, कि उसे व्यवसाय का दर्जा दिया जा सके।

संदर्भ

1. डनहम अर्थर, एडमिनिस्ट्रेशन आफ सोशल एजेन्सीज, सोशल वर्क इयरबुक-1949

2. फ्रिडलेण्डर डब्ल्यू ए. पूर्वोद्धृत

3. किडनी जान सी, एडमिनिस्ट्रेशन आफ सोशल वर्क एजेन्सीज, सोशल वर्क इयर बुक 1957.

अध्याय-12

समाजकार्य शोध

समाज कार्य एक ऐसा व्यवसाय है जिसके द्वारा व्यक्ति एवं समाज की अधिक से अधिक सहायता तथा विकास एवं उन्नति करने का प्रयत्न किया जाता है। समाज के अन्तर्गत बढ़ती हुई जटिलता, प्राथमिक सम्बन्धों का धीरे-धीरे द्वितीयक सम्बन्धों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाना, पहले से पाई जाने वाली अनेक समस्याओं का अधिक विकराल रूप में उपस्थित होना तथा नयी समस्याओं की उत्पत्ति, समाज कार्य की अमरीकी पृष्ठभूमि तथा भारतीय सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता, समाज कार्य की एक व्यवसाय के रूप में मान्यता की अल्पअवधि तथा इस रूप में मान्यता का अब भी अपूर्ण होना, समाज कार्य व्यवसाय के प्रामाणिक ज्ञान सम्बन्धी आधार का अपर्याप्त एवं निर्बल होना, इत्यादि अनेक ऐसे कारक हैं जो समाज कार्य व्यवसाय की प्रभावपूर्णता को सुदृढ़ बनाने के लिए अधिक से अधिक समाज कार्य शोध की आवश्यकता पर बल देते हैं।

I समाज कार्य शोध तथा सामाजिक शोध में अन्तर (Difference between social work research and social research)

समाज कार्य शोध के अर्थ को स्पष्ट करने से पूर्व सामाजिक शोध तथा समाज कार्य शोध में अन्तर स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है। ईवान क्लेग ने यह लिखा है कि समाज कार्य शोध तथा सामाजिक शोध का प्रायः एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग इतनी ढिलाई के साथ किया जाता है कि इनकी विषय वस्तु अनिश्चित हो जाती है। फ्रैन्च के मत में समाज कार्य के अन्तर्गत शोध का एक उपयोगितावादी आधार होता है। इसका एक विशिष्ट लक्ष्य अभिमुखीकरण (Goal Orientation) होता है।

क्लीन ने तीन आधारभूत मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए समाज कार्य शोध तथा समाज विज्ञानों के अन्तर्गत किये गये शोध में अन्तर स्पष्ट किया है।

1. समाज कार्य शोध अन्य क्रियाओं को सम्पादित करने के अतिरिक्त निरोधात्मक एवं सुधारात्मक कार्यो को करने के लिए स्थापित किये गये संगठनों द्वारा अपनी क्रिया के दौरान आवश्यक सिद्धान्तों के अपनाये जाने से सम्बन्धित है।

2. सेवाओं को प्रदान करने की आवश्यकता का मूल्यांकन करने अथवा इन आवश्यकताओं एवं सेवाओं को जन्म देने वाली परिस्थितियों एवं समस्याओं का अध्ययन करने की आवश्यकता का अनुभव होने पर समाज कार्य शोध एवं सामाजिक शोध दोनो की सामान्य अभिरुचि उत्पन्न होती है।
3. सामाजिक सेवाओं का प्रदान किया जना उन प्रायोजक संस्थाओं (Sponspring destributions) के मूल्यों पर आधारित निर्णयों पर निर्भर करता है जो इन सेवाओं को आयोजित करती हैं।

सन् 1947 में वेस्टर्न रिजर्व युनिवर्सिटी, अमरीका के स्कूल ऑफ साइंसेज द्वारा आयोजित वर्कशाप ऑन रिसर्च इन सोशल वर्क के प्रतिवेदन में समाज कार्य शोध एवं सामाजिक शोध में इस प्रकार भेद स्थापित किया गया है :-

सामाजिक शोध मौलिक समाज विज्ञानों में से किसी की प्रगति की ओर निर्देशित होता है जबकि समाज कार्य के अन्तर्गत शोध व्यावसायिक समाज कार्यकर्ताओं द्वारा समाज कार्य के क्रिया कलापों (Social Work Functions) से समुदाय द्वारा अपने सम्बन्ध में अनुभव की गयी समस्याओं से सम्बन्धित है। समाज कार्य शोध के अन्तर्गत सदैव अन्वेषित की जाने वाली समस्या का समाज कार्य करने अथवा इसे करने की योजना बनाने के दौरान पता लगाया जाता है। इसमें समाज विज्ञान के ढंगों एवं सिद्धान्तों दोनों का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु वे समाज कार्यकर्ताओं को इसीलिए लाभकारी हैं क्योंकि वे समाज कार्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए प्रश्नों का उत्तर देने में सहायता पहुंचाते हैं।

इस प्रकार जबकि सामजिक शोध अपने अभिगम में सामान्य है तथा प्रमुख रूप से मानव मात्र में अभिरुचि रखता है, समाजकार्य शोध अधिक समस्योन्मुख (Problem Oriented) एवं अपने अभिगम (Approach) में विशिष्ट (Specific) है तथा यह अपना ध्यान मनुष्य एवं उसकी समीपवर्ती समस्याओं पर केंन्द्रित करता है। इसके अतिरिक्त, जबकि सामाजिक शोध के परिणाम सिद्धान्तों एवं नियमों के विकास की ओर योगदान देने की प्रवृत्ति रखते हैं, समाज कार्य शोध के परिणामों का उद्देश्य ऐसे सामान्यीकरणों (Generalisations) की स्थापना करना होता है जिनका उपयोग व्यक्तियों, समूहों एवं समुदायों को समाज सेवा प्रदान करने में व्यावसायिक समाज कार्यकर्ताओं के मार्गदर्शन के लिए किया जाता है।

॥ **समाज कार्य शोध की परिभाषा** (Definition of social work research)

समाज कार्य शोध एक ऐसी खोज है जिसके अन्तर्गत वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करते हुए ऐसे उपायों की खोज की जाती है जिससे सेवार्थी व्यक्ति, समूह तथा समुदाय को अधिक

अच्छे ढंग से सेवायें प्रदान की जा सकें तथा समस्याओं का समाधान अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सके।

फ्रीडलेण्डर (1957)

समाजकार्य शोध समाज कार्य ज्ञान, निपुणता, अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों की जाँच, सामान्यीकरण एवं विस्तार करने के लिए समाज कार्य संगठन, कार्य एवं ढंगों की प्रमाणिकता की आलोचनात्मक पूछताछ एवं वैज्ञानिक परीक्षण है।

नेशनल एसोसियेशन ऑफ सोशल वर्कर्स (1957)

समाज कार्य शोध के अन्तर्गत वे प्रश्न सम्मिलित होते हैं जो समाज कार्य प्रयोग के दौरान अथवा प्रशासन के दौरान अथवा उन समाज कार्य सेवाओं के नियोजन अथवा प्रशासन के दौरान उठते हैं जो शोध के माध्यम से सुलझाई जाने योग्य होती हैं, जो समाजकार्य के तत्वावधानों (Auspices) के अन्तर्गत अन्वेषण के लिये उपयुक्त होती है।

रिपल (1980)

समाजकार्य शोध व्यावहारिक समस्याओं से प्रारंम्भ होता है जिसका उद्देश्य उस ज्ञान का विकास करना है जिसे सामाजिक कार्यक्रमों के नियोजन तथा कार्यान्वयन में प्रयोग में लाया जा सके।

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज कार्य शोध, समाजकार्य व्यवसाय द्वारा अपनी क्रिया के दौरान अपनाये गये सहायक ढंगों की प्रभावपूर्णता को बढ़ाने के लिए मान्यताओं से सम्बन्धित ज्ञान (Assumptive Knowledge) को परिकल्पनात्मक ज्ञान(Hypothetical Knowledge) में और तत्पश्चात उसे प्रामाणिक (Validated) ज्ञान के रूप में निरन्तर परिवर्तित करने का प्रयास करता है।

सारांश में, समाजकार्य शोध की निम्न विशेषतायें हैं :-

1. समाज कार्य शोध के द्वारा सेवार्थी की अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की जाती है।
2. यह अपने कार्यक्रम के अन्तर्गत वैज्ञानिक ढंगों को उपयोग में लाता है।

इसमें निम्नलिखित चरण होते हैं :-

(क) समस्या के क्षेत्र के विषय का चुनाव

(ख) समस्या का परिसीमन

(ग) उपलब्ध सामग्री का अध्ययन

(घ) उपकल्पना का निर्माण

(ड.) उपकरणों का निर्माण

(च) तथ्यों का संकलन

(छ) तथ्यों का संपादन

(ज) तथ्यों का वर्गीकरण एवं सारणीकरण

(झ) तथ्यों का विश्लेषण एवं विवेचन

(ञ) प्रतिवेदन

3. सेवार्थी को अधिक वैज्ञानिक ढंग से सेवा प्रदान करने के लिए नये ढंगों की खोज की जाती है।
4. इसके द्वारा समाज कार्यकर्ता को नवीन ज्ञान, प्रविधि, निपुणता तथा कौशल प्राप्त होता है।
5. नये ज्ञान की खोज की जाती है तथा उपलब्ध ज्ञान को प्रमाणित किया जाता है।
6. सामाजिक घटनाओं के कारणों की खोज की जाती है।
7. सामाजिक समस्याओं के कारणों का पता लगाते हुए उनके समाधान के उपाय सुझाए जाते हैं।

III समाज कार्य शोध के प्रकार(Types of social work research)

समाज कार्य शोधकर्ता का मुख्य कार्य विभिन्न सेवाओं की आवश्यकता को निश्चित करना है। उसका कार्य वर्तमान सेवाओं की उपयुक्तता तथा उपयोगिता और उनके प्रभाव के मूल्याँकन से भी सम्बद्ध करना है। उसकी अभिरुचि केवल उन सेवाओं से प्राप्त परिणामों में नहीं होती है बल्कि सेवाएँ प्रदान करने के दौरान प्रयोग में लाए गए ढंगों एवं अपनाई गयी प्रक्रिया की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन करने में भी होती है। व्यावसायिक समाज कार्य की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए वह समाजकार्य के दर्शन एवं मूल्यों में रुचि रखता है। इस प्रकार समाजकार्य शोध को कई रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसका विवरण निम्नलिखित है :-

1. अन्वेषणात्मक शोध (Exploratory research)

इसका उद्देश्य किसी ऐसे नये क्षेत्र में अन्वेषण करना होता है जिसके बारे में पहले से प्रमाणिक जानकारी नहीं होती हैं इस प्रकार के शोध का उद्देश्य सामाजिक वास्तविकता के नये क्षेत्रों पर प्रकाश डालना होता है। इस प्रकार के शोध में शोधकर्ता शोध क्षेत्र से सम्बन्धित पूर्ण ज्ञान की अनुपस्थिति में अपनी निजी समझ, सूझ-बूझ तथा अन्तर्दृष्टि के आधार पर अपना शोध करता है।

2. विवरणात्मक अथवा निदानात्मक शोध (Investigative or descriptive research)

इन अध्ययनों का उद्देश्य किसी प्रक्रिया का गत्यात्मक चित्रण करना अथवा अन्तर्क्रिया

के प्रतिमानों अथवा किसी वृत्तांत का वस्तुगत अथवा सही विवरण प्रस्तुत करना है। इस प्रकार के शोध का महत्व नीति निर्धारण, नियोजन तथा कार्यक्रम कार्यान्वयन के लिए होता है। इस प्रकार के अध्ययन के दौरान एकत्रित किये गये तथ्य अध्ययन क्षेत्र का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं तथा इनका विश्लेषण इस क्षेत्र में पायी जाने वाली प्रमुख समस्याओं के कारणों तथा इनके समाधान के लिए उपलब्ध संसाधनों की जानकारी कराता हैं इस प्रकार के अध्ययन परिकल्पनाओं के चक्रों के बीच सहसम्बन्धों की जाँच करने में भी सहायक होते हैं।

3. **प्रयोगात्मक शोध** (Experimental research)

इसका उपयोग कार्यकारी परिकल्पना, (Working Hypothesis) परीक्षण, मूलभूत सैद्धान्तिक ज्ञानवर्धन, किसी विशिष्ट पद्धति की प्रभावपूर्णता के अध्ययन के लिए किया जाता है। इसमें दो प्रकार के चरों (Variables) स्वतंत्र (Independent), एवं निर्भर (Dependent) के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। प्रयोग में सम्बन्धित तकनीक का वास्तविक (Real) अथवा सांकेतिक (Notional) उपयोग किया जाता है। क्योंकि समाजकार्य शोधकर्ता अपने प्रयोगों को पूर्णरूपेण नियंत्रित परिस्थितियों में करने में असमर्थ होता है, अतः वह अपने प्रयोगों को करने के लिए या तो एक ही समूह में स्वतंत्र चर के घटित होने के पश्चात आश्रित चर पर इसके प्रभाव का अध्ययन करता है अथवा एक से अधिक समूह बनाकर उनकी कुछ विशिष्ट चरों के संदर्भ में मिलान करने के पश्चात स्वतंत्र चर से प्रभावित करने के बाद इसके आश्रित चर पर पड़ने वाले प्रभाव का परिणाम प्राप्त किया जाता है।

4. **क्रियात्मक शोध** (Action reseach)

इस प्रकार के शोध में नियोजित रूप से कार्यक्रम चलाकर उससे समस्या विशेष के समाधान में प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के शोध के माध्यम से किसी अंगीकृत किये गये क्षेत्र में विभिन्न समस्याओं का समाधान करना अथवा किसी भी उपकल्पना का परीक्षण करने का प्रयास किया जाता है। जिस प्रकार प्रयोगशाला में किये गये प्रयोग द्वारा भी परिस्थितियों में बड़े पैमाने पर कार्य करने की रूपरेखा अपेक्षित संशोधन करने के लिए बनाई जाती है, उसी प्रकार इन अध्ययनों से किसी समस्या के समाधान हेतु बनाये गये कार्यक्रमों की प्रभावपूर्णता की जाँच की जाती है। उदाहरणार्थ, समाज विज्ञान विद्यालय निर्मला निकेतन, बम्बई द्वारा अमरीका के स्वास्थ्य, शिक्षा एवं कल्याण विभाग के तत्वावधान में इस प्रकार का शोध कार्य भारतवर्ष में किया गया है। इसका उद्देश्य सामुदायिक कार्यकर्ताओं द्वारा किये गये कार्य के परिणामस्वरूप समुदाय में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का मूल्यांकन करना था। साथ ही यह स्पष्ट करना था किस प्रकार के सामुदायिक कार्य एवं समुदाय विशेष में स्थानीय सेवाएँ विकसित करने में सहायता प्रदान करते हैं।

IV शोध के चरण (Steps in research)

सम्पूर्ण शोध के कार्यक्रम को 12 प्रमुख चरणों में बाँटा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, शोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया में क्षेत्र के चुनाव से लेकर अन्तिम प्रतिवेदन तैयार करने तक किसी भी शोधकर्ता को क्रमशः निम्न प्रमुख 12 चरणों से गुजरना पड़ता है :-

1. क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित समस्या/विषय का चुनाव
2. समस्या और क्षेत्र का परिसीमन
3. चयन किये गये विषय पर उपलब्ध सामग्री का प्रारम्भिक अध्ययन
4. उपकल्पना का निर्माण
5. अध्ययन की योजना का निर्माण
6. सूचना स्रोतों का निर्धारण
7. उत्तरदाताओं का चयन
8. प्रमाणिक एवं प्रासंगिक शोध उपकरणों का निर्माण
9. तथ्यों/आंकड़ों का संकलन
10. संग्रहीत वर्गीकरण एवं सारिणीकरण
11. संकेतीकरण (Coding)
12. तथ्यों का विश्लेषण एवं उनका निर्वचन
13. प्रतिवेदन
14. भावी शोध हेतु समस्याओं एवं परिकल्पनाओं का सुझाव

1. समस्या/विषय का चयन (Selection of problem/subject)

शोधकर्ता के लिये आवश्यक है कि वह अपने शोध की समस्या का चयन करे। समाज कार्य के शोध की समस्या कोई भी ऐसी समस्या हो सकती है जो व्यक्ति या समाज के मनो-सामाजिक संगठन से संबंधित हो। व्यक्ति और समाज के संगठन से संबंधित समस्या का क्षेत्र और स्वरूप बहुत विशाल हो सकता है। समाज का निर्माण करने वाली तथा उसकी संरचना पर प्रभाव डालने वाली कोई भी कारक अथवा शक्ति इसमें आ सकती है। वे अनेक परिस्थितियां भी समस्या के रूप में चयनित की जा सकती है जो व्यक्ति पर किसी न किसी रूप में प्रभाव डालती हों। समाज का निर्माण करने वाली या उसकी संरचना पर प्रभाव डालने वाली कोई भी शक्ति इसमें सम्मिलित की जा सकती है। वे परिस्थितियाँ भी इसका क्षेत्र हो सकती हैं जो व्यक्ति पर किन्हीं रूपों में प्रभाव डालती हैं। समाज कार्य के शोध की समस्या का क्षेत्र व्यक्तिगत के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक इत्यादि पहलुओं से सम्बन्धित हो सकता है।

शोधकर्ता को शुरू में केवल यही तय करना पड़ता है कि जीवन के विविध पहलुओं में से किस पक्ष का अध्ययन करेगा। यदि शोध की समस्या सामाजिक समस्या है तो उसे प्रारम्भ से ही तय कर लेना होता है कि वह इसमें अस्पृश्यता, नशाबंदी, भ्रष्टाचार अथवा पारिवारिक विघटन की समस्याओं में से किस सामाजिक समस्या विशेष का अध्ययन करेगा। इसी प्रकार आर्थिक समस्याओं को निश्चित करने में उसे प्रारम्भ में ही माँग-पूर्ति की समस्या, महँगाई-भत्ते की समस्या, मजदूरी की समस्या, कार्य करने की दशाओं की समस्या, आदि में से किसी एक का चयन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार धार्मिक, सांस्कृतिक या राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययनों में शोधकर्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह उनमें से किसी एक विशेष समस्या का चयन कर ले। हर शोधकर्ता की रुचि अनुभव, शिक्षण, प्रशिक्षण तथा साधन आदि भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। यहाँ शोधकर्ता का तात्पर्य किसी व्यक्ति मात्र से ही न होकर उन दोनों प्रकार के राजकीय और गैर-राजकीय संगठनों से है जो शोध करते या करवाते हैं। शोधकर्ता को अपनी रुचि के अनुसार शोध की समस्या का चयन और निर्धारण करना चाहिए। ऐसा करने से शोध के अच्छे परिणाम सामने आते हैं।

2. समस्या और क्षेत्र का परिसीमन (Scope of problem and area)

शोध का दूसरा चरण चुनी गयी समस्या तथा उसके विषय और क्षेत्र को परिसीमित करना होता है। व्यक्तिगत अथवा सामाजिक पहलुओं से सम्बन्धित यदि कोई समस्या हो तो प्रायः उस पर शोध की आवश्यकता इसलिए महसूस होती है क्योंकि समस्या व्यापक होती है। यद्यपि व्यापकता रखने वाली समस्याओं का ही चयन करने पर शोध की उपादेयता भी व्यापक होती है फिर भी समस्या जितनी अधिक सुपरिभाषित (Well Defined) तथा सीमित एवं विशिष्ट होती है, शोध के उतना ही प्रभावपूर्ण होने की सम्भावना बढ़ जाती है। समाजकार्य के अध्ययन में क्षेत्र का तात्पर्य यह है कि शोधकर्ता यह निश्चित करता है कि वह किस भौगोलिक दायरे में समस्या का अध्ययन करेगा। यद्यपि मानवीय समस्याओं की प्रकृति सार्वभौमिक हो सकती है परन्तु भौगोलिक भिन्नता से समस्याओं की प्रकृति का वाह्य स्वरूप बदल जाता है। इसलिए शोध को अधिक उपयोगी एवं सही बनाने के लिए आवश्यक हो जाता है कि भौगोलिक क्षेत्र निश्चित कर लिया जाय। हर समाज की अपनी एक भौगोलिक विशेषता होती है और उसके आधार पर अनेक प्रकार की भिन्नतायें उत्पन्न होती हैं। अतः शोधकर्ता को अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए समस्या के चुनाव के साथ-साथ यह भी निश्चित कर लेना पड़ता है कि वह समस्या का किस क्षेत्र में अध्ययन करेगा। यदि विस्तृत क्षेत्र को शोध का क्षेत्र बनाकर अध्ययन किया जाता है तो अधिक खर्च, मानव प्रयास तथा समय लगने की सम्भावना होती है तथा साथ ही परिवर्तन की आवश्यकता को नियंत्रित और एकरूपता की दशा में बनाए रखना असम्भव होता है। विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र के शोधों के लिए या तो शोध को कई भागों में बांटकर भिन्न-भिन्न देशों में एक ही समय पर अथवा भिन्न-भिन्न चरणों में अध्ययन किया जाता है या देश के कुछ भूखण्डों

का चयन कर लिया जाता है जिसमें एक ही समय पर अथवा विभिन्न चरणों में शोधकार्य किया जाता है।

3. उपलब्ध सामग्री का प्रारम्भिक अध्ययन (Initial study of available material)

शोध के तीसरे चरण में शोधकर्ता को समस्या, विषय और क्षेत्र के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए ऐसी हर सामग्री का अध्ययन करना लाभकारी होता है, जो उससे सम्बन्धित हो और जिसे सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सके। सामग्री के अध्ययन के बाद ही वह शोध की दिशा, साधनों आदि का ठीक-ठीक निर्धारण कर सकता है। सामग्री के अध्ययन के आधार पर वह विषय और क्षेत्र की प्रकृति को ठीक से समझ पाता है और उसका एक उचित परिसीमन कर सकता है। अध्ययन के बाद वह शोध की रूपरेखा का निर्माण करता है और उसी के अनुसार सारे शोध की प्ररचना को तैयार करता है। बिना अध्ययन के उसे एक तो इन कार्यो को करने में बड़ी कठिनाई होती है, दूसरे वह अपने उद्देश्य एवं कर्तव्य से विमुख भी हो सकता है फलस्वरूप वह इच्छित शोध नहीं कर पाता है। शोध के इस चरण में ऐसी प्रत्येक सामग्री का अध्ययन सम्मिलित होता है जो सरलतापूर्वक उपलब्ध हो अथवा कर्ता के द्वारा समझी जा सकती हो।

4. उपकल्पना का निर्माण (Formulation of hypothesis)

ये उपकल्पनायें शोध के प्रारम्भ में की गयी ऐसी कल्पनायें हैं जो शोध के बाद प्राप्त होने वाले निष्कर्षों के आधार पर स्वीकार अथवा अस्वीकार की जाती हैं। ये शोध के बाद स्वीकार, अस्वीकार किये जाने वाले वे कथन हैं जिनकी कल्पना शोध के पूर्व ही कर ली जाती है यह शोध समस्या का शोध के पहले का संभावित हल है। शोधकर्ता शोध करने के लिए कुछ ऐसी बातों का निश्चय कर लेता है जो शोध के बाद भली प्रकार स्पष्ट होती है। इस निश्चय से उसे अपने शोध की दिशा, उसकी प्ररचना, उसकी प्रविधि और अन्य सहायक बातों का अनुमान लगाने और निर्धारण करने में सुविधा होती है। उपकल्पना की शोध के दौरान जाँच की जाती है, फिर उसमें सुधार कर अन्तिम सत्य की स्थापना की जाती है। अन्वेषणात्मक (Exploratory Research) शोध में उपकल्पना का निर्माण नहीं किया जाता, विवरणात्मक शोधों में उपकल्पनायें प्रायः बनायी जाती हैं। इन शोधों की उपकल्पनायें सत्य के काफी पास होती हैं। एक समस्या के कई पूर्व उत्तर होने से शोध की प्ररचना और प्रविधि के निर्माण में सुविधा होती है। परिकल्पना को बनाते समय इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि वह स्पष्ट, सरल तथा संक्षिप्त हो तथा उसकी भाषा ऐसी न हो कि उसके कई अर्थ निकलते हों। जो भी बात कही जाये छोटे और सरल वाक्यों में होनी चाहिये।

5. अध्ययन की योजना का निर्माण (Planning of study)

अध्ययन की सम्पूर्ण योजना के निर्माण के दौरान प्रासंगिक पुस्तकों की सूची तैयार करके

उसके विषय में निर्णय लेने, आवश्यक शोध उपकरण के बारे में निर्णय लेने, अध्ययन के आंकड़ों के संग्रह की उपयुक्त विधि के विषय में निर्णय लेने, उपयुक्त मापकों के बारे में निर्णय लेने, इत्यादि कार्य किये जाते हैं।

6. **सूचना के स्रोतों का निर्धारण** (Determination of sources of information)

इस स्तर पर यह निर्णय किया जाता है कि समग्र (Universe) क्या होगा अर्थात एक समय विशेष पर (जब आंकड़े एकत्रित किये जायेंगे) एक क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित किस श्रेणी के उत्तरदाताओं से सूचना एकत्रित की जायेगी। तदुपरान्त यह निश्चित किया जाता है कि सम्पूर्ण समग्र से सूचना एकत्रित की जायेगी अथवा इसके एक अंश विशेष से, जिसे प्रतिदर्श (Sample) कहतें हैं, ये सूचना एकत्रित की जायेगी तथा प्रतिदर्श का चयन किस प्रकार किया जायेगा।

7. **प्रामाणिक एवं प्रासंगिक शोध उपकरणों का निर्माण** (Construction of valid and appropriate tools)

इस स्तर पर चेकलिस्ट प्रश्नावली, अनुसूची, साक्षात्कार निदर्शनी, पर्यवेक्षण निदर्शनी, परीक्षण, प्रक्षेपण प्रविधि (Projective Techniques) इत्यादि उपकरणों का अध्ययन की आवश्यकतानुसार विकास किया जाता है।

8. **तथ्यों/आँकड़ों का संकलन** (Collection of facts/data)

आवश्यक उपकरणों के निर्माण के पश्चात इनकी सहायता से शोध के विभिन्न स्रोतों-प्राथमिक अथवा द्वितीयक से आवश्यक तथ्यों/आँकड़ों को एकत्रित किया जाता है। अध्ययन एवं अभिलेखन, पर्यवेक्षण, प्रश्नावली, साक्षात्कार इत्यादि विधियों का सहारा लेते हुए इच्छित सामग्री को संकलन किया जाता है।

9. **संग्रहीत सामग्री का सम्पादन** (Editing of collected material)

इस स्तर पर एकत्रित की गयी सूचना का सम्पादन किया जाता है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि सभी आवश्यक सूचना वास्तव में एकत्रित कर ली गयी हैं तथा एकत्रित की गयी निरर्थक सामग्री को निकाल दिया गया है।

10. **वर्गीकरण, संकेतीकरण तथा सारिणीकरण** (Classification, coding and tabulation)

एकत्रित की गयी सामग्री का अध्ययन करने के पश्चात इसे विभिन्न श्रेणियों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि ये श्रेणियाँ एकत्रित की गई सामग्री को अपने में समाहित करती हों, ये एक दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित किन्तु पृथक हों, ताकि पुनरावृत्ति न हो सके। तदुपरान्त, आवश्यकतानुसार इन श्रेणियों को संकेत (Codes) भी निर्धारित किए जा सकते

हैं ताकि सारिणीकरण के स्तर पर अनावश्यक श्रम तथा समय एवं धन के अपव्यय से बचा जा सके। इसके बाद सारिणियों का निर्माण इस प्रकार किया जाता है कि ये अध्ययन के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकें। सारिणियों का निर्माण करते समय इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखा जाना चाहिये कि सारिणियाँ अनावश्यक रूप से जटिल न हों, इनमें स्तम्भों (Columns) तथा पंक्तियों (Rows) की संख्या इतनी अधिक न हो कि प्रथम दृष्टया इनको देखकर समझ पाना कठिन हो जाए तथा इतनी कम भी न हो कि ऐसा लगे कि श्रेणियों का निर्माण करते हुए सारणी को केवल सारणी बनाने के लिए तैयार किया गया है। स्वतंत्र चर को स्तम्भों तथा आश्रित चर को पंक्तियों में दिखाया जाना चाहिए।

12. तथ्यों का विश्लेषण का निर्वचन (Analyisis and interpretation of facts)

सारणीबद्ध तथ्यों का तार्किक एवं सांख्यिकीय दोनों प्रकार के ढंगों का प्रयोग करते हुये विश्लेषण किया जाता है और विश्लेषण से प्राप्त परिणामों को अन्य अध्ययन से प्राप्त परिणामों के परिपेक्ष्य में प्रस्तुत किया जाता है और सापेक्ष गुणों एवं सीमाओं को उजागर करते हुए निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

13. प्रतिवेदन तैयार करना (Preparation of report)

उपरिलिखित सभी स्तरों पर किये गये कार्यों को शोध उपभोक्ताओं के समक्ष प्रभावपूर्ण रूप से प्रस्तुत करने हेतु उनकी अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुये प्रतिवेदन तैयार किया जाता है।

V समाज कार्य शोध के क्षेत्र (Areas of social work research)

समाजकार्य शोध निम्नलिखित प्रमुख क्षेत्रों में किया जाता है :-

1. उन कारकों की खोज तथा परिमापन जो सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं तथा सामाजिक सेवाओं की आवश्यकताओं को स्पष्ट करते हैं।
2. दान देने वाली संस्थाओं के इतिहास, समाजकार्य कल्याण अधिनियमों, समाज कल्याण कार्यक्रमों तथा समाज की आवश्यकताओं का अध्ययन,
3. समाजकार्यकर्ताओं की भूमिका प्रत्यक्षीकरण की तथा उनकी स्थितियों के मूल्यांकन सम्बन्धी अध्ययन,
4. समाज कार्यकर्ताओं द्वारा लक्ष्यों के निर्धारण तथा उनकी अपनी छवि का अध्ययन,
5. समाज कार्यकर्ताओं की आशाओं, अभिलाषाओं तथा क्रियाओं का अध्ययन,
6. समाज की विधिक प्रक्रियाओं का अध्ययन,
7. उपलब्ध समाज सेवाओं की वैयक्तिक, सामूहिक तथा सामुदायिक आवश्यकता के संदर्भ में उपयोगिता का अध्ययन,

8. समाज कार्य क्रिया के परीक्षण, मापन तथा मूल्यांकन सम्बन्धी अध्ययन तथा समाज कार्य अभ्यास के लिए वाँछित योग्यताओं के निर्धारण का अध्ययन,
9. समाज कार्य सेवाओं, कार्यकर्ताओं एवं अभिकरणों के सम्बन्ध में सेवार्थी के व्यवहार की प्रतिक्रिया का अध्ययन,
10. सेवार्थी की आशाओं, अभिलाषाओं, अपेक्षाओं, उद्देश्यों, प्रत्यक्षीकरणों का मूल्यांकन सम्बन्धी अध्ययन,
11. सामाजिक संस्था के अर्न्तगत तथा इनके बाहर कार्यरत तथा व्यावसायिक समाज कार्य कर्ताओं की भूमिका की परिभाषा तथा उनके अन्तर्सम्बन्धों में सहयोग की स्थिति का अध्ययन,
12. समुदाय के सामाजिक समूहों के मूल्यों तथा उनकी वरीयताओं का अध्ययन,
13. सामाजिक संस्थाओं की विभिन्न इकाइयों में अर्न्तसम्बन्ध तथा उनके सेवार्थी तथा संस्था के कर्मचारियों पर प्रभाव का अध्ययन,
14. समाजकार्य शोध की पद्धतियों की प्रभावपूर्णता का अध्ययन।

सारांश में, यह कहा जा सकता है कि समाजकार्य शोध का उद्देश्य उस नवीन ज्ञान की खोज करना है जो समाज के लिए उपयोगी कार्यक्रमों को नियोजित करने तथा लागू करने में सहायक सिद्ध हो सके।

संदर्भ

1. नेशनल एसोसियेशन आफ सोशल वर्कर्स 1957
2. रिपुल, एल प्राब्लम्स, आइडेन्टिफिकेशन एण्ड फारमुलेशन इन पोलैंसकी नार्मन (एड) सोशल वर्क रिसर्च यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस शिकागो 1960.

अध्याय-13

सामाजिक क्रिया

समाजकार्य एक कार्य-मूलक व्यावसायिक कौशल है जो कुछ सिद्धान्तों और मानव संबंधों के वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित है और इसका उद्देश्य है, मानव मात्र के लिये शांति एवं सौहार्द पूर्ण जीवनयापन में सहयोग देना। समाजकार्य केवल तभी प्रभावी हो सकता है जबकि वह सामाजिक समस्याओं का केवल उपचार न करें वरन् आवश्यकतानुसार सामाजिक पर्यावरण में बदलाव करते हुये ऐसी स्थिति उत्पन्न करें जिसमें न केवल सामाजिक समस्याओं का निरोध बल्कि आवश्यकतानुसार मानव मात्र के लिये स्वस्थ जीवन यापन का मार्ग प्रशस्त हो। यह कार्य सामाजिक क्रिया के माध्यम से ही संभव है, जिसके द्वारा सामाजिक पर्यावरण में बदलाव लाया जा सकता है। समाजकार्य शिक्षा के बारे में भारत सरकार द्वारा गठित प्रथम पुनरीक्षण समिति (1965) का मत था कि पिछली अर्ध शताब्दी तक भारत में समाजकार्य की भूमिका, समाज-सुधारक की भूमिका थी। किंतु अब समाज सुधार में मुख्य लक्ष्यों की प्राप्ति कर ली गयी है, और समाजकार्य की जिम्मेदारियों में एक बदलाव आया है। आज समाजकार्य से यह अपेक्षा है कि अनाथालयों में रह रहे-निराश्रित बालकों, बालिकाओं की आवश्यकताओं पर ध्यान दे, अविवाहित माताओं के पुनर्वास में सहायता दे और बच्चों को अवैधता के दंश से बचाये। स्वतंत्रता के पश्चात् कल्याणकारी राज्य के आदर्शों एवं मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में आज हम कुछ सामाजिक समस्याओं को विशेष तरजीह देने लगे हैं जैसे वेश्यावृत्ति, शराबखोरी, निर्धनता, अस्वस्थ रहन-सहन तथा भिक्षावृत्ति इत्यादि। वे बुराइयाँ व्यक्तिगत रूप से कार्यरत एक समाजिक कार्यकर्ता दूर नहीं कर सकता है। समाजकार्य शिक्षण के सम्बन्ध में भारत सरकार द्वारा गठित दूसरी पुनरीक्षण समिति (1978) ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है कि आज समाजकार्य का प्रमुख उद्देश्य उन समस्याओं और उनके कारणों का अध्ययन करना है जो गरीबी उत्पन्न करती हैं। किंतु अभी तक इस दिशा में कोई विशेष कार्य नहीं हो पाया है।

समाजकार्य का हमारा वर्तमान मॉडेल बहुत अंश में कैपिटलिस्टिक मॉडेल है जो दूसरों की सहायता करते हुये उनके समायोजन का विशेष बल देता है। उसके द्वारा गरीबी के कारणों का पता लगाकर उसको दूर करने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया जाता है। यह बात पूर्णतया स्थापित हो चुकी है कि औद्योगीकरण के द्वारा गरीबी का निराकरण नहीं हो सकता है। आज

गरीबी हटाओ आन्दोलन के लक्ष्यों की प्राप्ति में समाज कार्य को भी यदि सहयोग देना है तो उसे सामाजिक क्रिया पर विशेष बल देने की आवश्यकता है। वैसे तो इस प्रत्यय का सर्वप्रथम प्रयोग कैटी रिचकर ने 1922 में किया किन्तु अमेरिका जैसे पूँजीवादी समाज में इसे विशेष महत्व नहीं दिया गया। इसकी आवश्यकता विशेष रूप से विकासशील समाज में है, जहाँ इसके माध्यम से सामाजिक पर्यावरण में बदलाव लाते हुये ऐसी स्थिति निर्मित की जा सकती है जो समाजकार्य की अन्य विधियों के प्रयोग हेतु विशेष अनुकूल हो।

सामाजिक क्रिया के प्रत्यय का अर्थ निरूपण

1940 में जान फिच ने सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए कहा कि सामाजिक क्रिया एक समूह द्वारा (अथवा समूह क्रिया की प्रगति हेतु प्रयत्नशील व्यक्ति द्वारा) की गई एक ऐसी क्रिया है जो कानूनी दृष्टि से अनुज्ञेय (Permissible) है और विधिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से वांछित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु की जाती है।

1945 में प्रोफेसर प्रे केनेथ ने सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए कहा है कि सामाजिक क्रिया उन आधारभूत सामाजिक स्थितियों तथा नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का व्यवस्थित और चेतन प्रयास है, जिसके द्वारा सामाजिक समायोजन एवं कुसमायोजन की वे समस्यायें पैदा होती हैं, जिनके समाधान में सामाजिक कार्यकर्ताओं के रूप में हमारी सेवायें ली जाती हैं।

1963 में फ्रिडलेण्डर ने सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए कहा कि सामाजिक क्रिया समाजकार्य के दर्शन एवं अभ्यास को संरचना के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत, सामूहिक और सामुदायिक प्रयास हैं, जिसका लक्ष्य सामाजिक प्रगति को प्राप्त करना, सामाजिक नीति में संशोधन करना तथा सामाजिक विधान स्वास्थ्य एवं कल्याणकारी संस्थाओं में सुधार करना है।

विटमर के अनुसार सामाजिक क्रिया का अभिप्राय उन संगठित व कानूनी दृष्टि से वैध क्रियाकलापों से है, जिनकी संरचना समाज द्वारा इच्छित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु जनमत विधान तथा लोक प्रशासन को गतिमान करने हेतु की जाती है।

उपर्युक्त मतों के परिप्रेक्ष्य में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक क्रिया की परिभाषा में निम्नलिखित बिन्दु सम्मिलित किये जा सकते हैं।

(1) सामाजिक क्रिया में यथा सम्भव अहिंसात्मक ढंग से कार्य किया जाता है। यह क्रिया सामान्यतः उस समय आरम्भ की जाती है जबकि कार्यकर्ता यह महसूस करता है कि व्यवस्था में परिवर्तन किये बिना समुदाय संगठन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(2) सामाजिक क्रिया समाज कार्य का ही एक अंग है। इसमें भी समाज कार्य के ज्ञान एवं कौशल का प्रयोग किया जाता है।

(3) सामाजिक क्रिया सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका लक्ष्य समाज का कल्याण है। सामान्यतया यह वृत्तिक-समाज कार्यकर्ता संघ द्वारा किया जाता है।

(4) इस क्रिया में किसी एक व्यक्ति के द्वारा भी कार्य आरम्भ किया जा सकता है, किन्तु बाद में उसके उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सामूहिक सहयोग अपेक्षित है।

(5) इस क्रिया में आवश्यकतानुसार सामाजिक संस्थाओं, परिस्थितियों तथा सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का प्रयास कियां जाता है। साथ ही आवश्यक एवं अवांछनीय सामाजिक परिवर्तन को रोकने का भी प्रयास किया जाता है। इसका लक्ष्य यह होता है कि समाज के सदस्यों को इस योग्य बना दिया जाय कि वे आत्मनुशासित होकर अपनी परिस्थितियों को स्वयं नियंत्रित कर सकें।

(6) यह समाज व्यवस्था में परिवर्तन करने वाला एक ऐसा कार्य है, जो जनतांत्रिक मूल्यों एवं संविधान में दिये गये नागरिक अधिकारों पर आधारित है।

(7) सामाजिक क्रिया का क्षेत्र अति व्यापक है। यह पर्दा-प्रथा, दहेज-प्रथा आदि अनेक सामाजिक बुराइयों के निराकरण हेतु सामाजिक नीति एवं सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है।

(8) सामाजिक क्रिया में निम्नलिखित तत्वों का समावेश होना आवश्यक है -

(अ) समुदाय की सक्रिय, नियोजित एवं जनहित में भागीदारी

(ब) समाज की सहमति से नेतृत्व विकास

(स) जनतांत्रिक मूल्यों का महत्व एवं उनके आधार पर कार्य का संचालन

(द) स्वस्थ जनमत का विकास

सामाजिक क्रिया में सामाजिक कार्यकर्ता की भूमिका

सामाजिक कार्यकर्ता के अन्दर कुछ विशिष्ट कुशलताएँ व विशेषताएँ विद्यमान होती हैं जिससे वह सामाजिक क्रिया के कार्यों का सम्पादन उत्तम ढंग से करता है। ये विशेषताएँ व कुशलताएँ निम्नलिखित हैं :- (1) समाज कार्य व्यवसाय में प्रविष्ट होने वाले व्यक्तियों के मूल्य व उनकी सामाजिक चेतना, सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सामाजिक क्रिया में रुचि से प्रभावित होती है, (2) समाज कार्य का सामाजिक दर्शन व इसकी सामाजिक लक्ष्यों एवं उन्नति में आस्था व विश्वास तर्कपूर्ण ढंग से सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित है, (3) सहायता प्रक्रिया के दौरान सामाजिक कार्यकर्ता का समुदाय के समीप रहना सामाजिक समस्याओं की समीक्षा करने में मदद देता है, (4) व्यक्तियों, समूहों एवं सामुदायिक जीवन की गतिकी का ज्ञान कार्यकर्ता को समस्याओं को समझने व उनके निराकरण करने की क्षमता प्रदान करता है, (5) कार्यकर्ताओं

के सामाजिक पर्यवेक्षण (Observation), विश्लेषण व नियोजन में प्रशिक्षण तथा अनुभव जैसी मूल्यवान क्षमताओं का प्रयोग सामाजिक क्रिया में किया जा सकता है, (6) कार्यकर्त्ता की व्यक्तियों, समूहों व समुदायों के अध्ययन, नियोजन व क्रिया हेतु संगठित करने की कुशलता सामाजिक क्रिया के लिए महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

सामाजिक क्रिया में कार्यकर्ता की भूमिका के विभिन्न पक्षों को क्लार्क (clarke) ने निम्न प्रकार से कहकर स्पष्ट किया है :-

(1) यह स्वीकार्य मत है कि समस्त सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्तियों के हित व कल्याण को बढ़ावा देने में रूचि रखते हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक सामाजिक संस्था अन्ततः सामाजिक क्रिया के किसी न किसी पक्ष से सम्बन्धित होती है। कुछ संस्थायें आपसी सहमति से मिलजुलकर सामाजिक क्रिया के कार्य को एक केन्द्रीय संस्था को सौंप देती है।

(2) प्रत्येक सामाजिक कार्यकर्ता, अन्य नागरिकों की तरह ही किसी वैधानिक सामाजिक क्रिया में भाग लेने का संवैधानिक अधिकार रखता है, इस बात में सहमति है।

(3) तीसरे पक्ष के अन्तर्गत गंभीर मतभेद हैं कि एक सामाजिक कार्यकर्ता किस सीमा तक व कितने स्तर की सक्रियता से एक व्यक्ति या सामाजिक कार्यकर्ताओं के रूप में राजनैतिक-क्रिया-समूह के एक सदस्य के रूप में, व्यवसाय के हितार्थ, राजनैतिक सामूहिक क्रिया में हिस्सा ले सकता है।

प्रे (Pray) के अनुसार, सामाजिक कार्यकर्ता के लिए आवश्यक है कि वह सामाजिक परिवर्तन हेतु कार्य करते समय समाजकार्य की प्रणालियों को ध्यान में रखे। उसका सम्पूर्ण व्यवहार एक उचित व्यवहार होना चाहिए। उन्होंने यह भी विचार व्यक्त किया है कि प्रजातांत्रिक समाज सुधार के प्रयत्न अन्ततः एक राजनैतिक क्रिया का रूप धारण करने लगते हैं, इसलिए अगर हमें सामाजिक परिवर्तन के प्रति यथार्थता का दृष्टिकोण लेना है तो हम अपने आपको राजनैतिक-क्रिया-समूह से जोड़े रहने से नहीं रोक सकते।

(4) चौथे पक्ष में भी सहमति है कि सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्तियों या व्यावसायिक व्यक्तियों के रूप में विशेष कार्यक्रमों का समर्थन मात्र विशेषज्ञ होने के नाते ही नहीं, बल्कि उनमें पूर्ण आस्था व विश्वास रखते हुए समर्थन करेंगे।

(5) पाँचवें पक्ष में भी यह बात स्वीकार्य है कि सामाजिक कार्यकर्ता, एक प्राथमिक या द्वितीयक क्रियाकलाप के रूप में सामाजिक क्रिया में हिस्सा ले सकते हैं। अधिकांश अन्य व्यक्ति भी जो सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं होते परन्तु सामाजिक क्रिया के एक मुख्य या प्रासंगिक (Incidental) के रूप में हिस्सा लेते हैं।

सामाजिक क्रिया के प्रयोग का एक उदाहरण

राजकीय कानून को मानवीय दृष्टि से परिवर्तन करना :–

जब राजकीय कानून को मानवीय दृष्टि से परिवर्तन करना होता है तो उसके लिए सामाजिक क्रिया की सहायता लेनी पड़ती है। इसका एक उदाहरण निम्नलिखित है :-

उत्तर प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम के प्राविधानों के अन्तर्गत वीर बहादुर सिंह पूर्वान्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर की स्थापना हुई। इस विश्वविद्यालय के साथ सम्बद्ध जौनपुर, गाजीपुर, आजमगढ़, बलिया, वाराणसी, भदोही, चन्दौली तथा इलाहाबाद जनपदों के महाविद्यालयों की कुल संख्या लगभग 500 से भी अधिक हो गयी और इनका प्रशासन एवं नियन्त्रण पूर्वांचल विश्वविद्यालय के लिए एक बड़ी समस्या बन गया। इस समस्या को देखते हुए स्वैच्छिक समाज सेवियों ने महाविद्यालयों के छात्र संघों एवं अध्यापक संघों से सम्पर्क करके उनके माध्यम से यह आवाज उठाई कि वाराणसी में स्थित उत्तर प्रदेश के आवासीय विद्यालय "काशी विद्यापीठ" के अधिनियम में संशोधन कर उसे सम्बद्धता का अधिकार देकर वाराणसी के समीपस्थ जनपदों के महाविद्यालयों की सम्बद्धता काशी विद्यापीठ से जोड़ दी जाये। शिक्षकों और छात्रसंघों के पदाधिकारियों ने इस संबंध में कई बार बैठकों का आयोजन किया और सामाजिक कार्यकर्ताओं के आवाहन पर शिक्षक एवं छात्र प्रतिनिधि सरकार के अधिकारियों, मंत्रियों और मुख्यमंत्री से भी कई बार मिले। अंततोगत्वा सरकार इस बात के लिए सहमत हो गयी कि काशी विद्यापीठ के अधिनियम में संशोधन करके उसमें समीपस्थ जनपदों के महाविद्यालयों को उससे संबद्ध कर दिया जाये। इस आशय का बिल (विधेयक) विधान सभा में तो पारित हो गया किन्तु विधान परिषद में कुछ निहित स्वार्थियों के प्रभाव से पारित नहीं हो सका। सामाजिक कार्यकर्ताओं ने महाविद्यालय शिक्षकों एवं छात्र संगठनों के माध्यम से पुनः इस संबन्ध में आवाज उठाई, अंततोगत्वा सम्बधित संशोधन विधेयक (बिल) विधान परिषद से पारित होकर लागू हो गया।

सर्वोदय एवं अन्त्योदय

प्राचीनकाल में समाज सरल थे। समाज के सदस्यों में आपसी प्रेम, सौहार्द्र तथा सामूहिक भावना थी। लेकिन धीरे-धीरे समाज का विकास होता गया जिससे समाज में असमानता, कुपोषण, बेगार तथा व्यक्तिगत हित प्रधान स्थान ग्रहण करते गये। इससे सम्पत्ति का केन्द्रीकरण तथा अपने स्वजनों का पोषण आदि विचार प्रभावपूर्ण हो गये। इसको दूर करने के हेतु वैदिक धर्म में यह तत्त्व स्थापित किया गया कि दान से मोक्ष मिलता है। ताकि व्यक्ति, समाज, समुदाय मोक्ष की इच्छा से प्रेरित होकर दूसरों के उदय में सहायक हो सकें केवल अपना उदय ही नहीं सोचे। ऐसा इस्लाम धर्म में भी किया गया। उसमें कहा गया कि "ईश्वर को गरीब दुःखियों में खोजो"। इस्लाम ने विश्व बन्धुत्व के विकास में सबसे अहम् योगदान दिया। ईसाई धर्म के प्रवर्तक

ईसा को मानवतावाद की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। ईसा मसीह ने कहा ''यदि तुम सही बनना चाहते हो तो जो कुछ भी तुम्हारे पास है वह गरीबों को दे दो- तुम्हें स्वर्ग में खजाना मिलेगा।'' बौद्ध तथा जैनधर्म ने कहा कि आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति न ग्रहण करें। इन सबके पीछे तत्व यह था कि उपेक्षित, दीन-दुःखियों का उदय किया जाये। सामाजिक न्याय की स्थापना हो। सबका उदय हो।

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः''

इन प्रावधानों को कुछ लोगों ने स्वीकारा तथा सही तरीके से पालन किया। उसके बाद आधुनिक युग का पदार्पण हुआ। जिसमें तेजी से औद्योगीकरण, तथा उपयोगितावाद का विकास हुआ जिससे पूरा समाज दो वर्गों – पूँजीपति तथा श्रमिक – में विभाजित हो गया। परिणामस्वरूप श्रमिकों के उत्थान में पूँजीपति बाधक बन गये। जिनके बाद यह विचार पनपा कि श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा कैसे की जाये। इनके उदय हेतु मार्क्स ने एक विचार दिया कि वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना की जाय तथा शोषण से मुक्ति हेतु हिंसक तथा अहिंसक दोनों साधनों के प्रयोग को प्राथमिकता दिया जाय। मार्क्सवाद वर्गवाद के विरुद्ध श्रमिक वर्ग के उदय हेतु प्रयत्नशील था। तत्कालीन समाज में साम्यवाद की विचारधारा का जनन हुआ जो समाज में असमानता तथा शोषण से मुक्ति हेतु हिंसा को अपना साधन मानती है। हालांकि मार्क्सवाद तथा साम्यवाद दोनों दलित, उपेक्षित, शोषितों के उदय का भाव रखते हैं। किन्तु दोनों के लिए नैतिक मापदण्ड का कोई अर्थ नहीं है। ये किसी वर्ग विशेष के उदय से सम्बद्ध हैं। इन विश्व मान्यताओं के विरुद्ध भारत में सबके उदय का प्रयास किया गया, जिसका माध्यम अहिंसा हो।

भारत में सबके विकास की कल्पना की गयी जिसका 'सर्वोदय' नामकरण किया गया। सर्वोदय शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम जैन संत आचार्य सामन्त भद्र ने 2000 साल पहले किया था। इन्होंने कहा ''सर्वावदामन्तकार निरन्तं सर्वोदय।'' जिसको कार्य रूप में महात्मा गांधी ने परिणित किया। गाँधी तथा विनोबा ने 'अधिकतम के अधिकतम हित या कल्याण' की बात कही। जिससे सभी व्यक्ति स्वावलम्बी बनें। सर्वोदय तथा साम्यवाद दोनों इस आधार पर समान है कि दोनों ने वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की कल्पना की है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपनी योग्यता के अनुसार धन उत्पन्न करें और प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उपभोग का अवसर मिले। परन्तु दोनों के साधनों में महान अन्तर है- सर्वोदय कहता है कि शुभ साधन से ही शुभ साध्य की प्राप्ति होनी चाहिये, किन्तु साम्यवाद में पवित्रता का ध्यान नहीं है उसके प्रतिपादक साम्य लाने हेतु हिंसा को अपनाने की बात करते हैं। सर्वोदय के साधन सत्य, अहिंसा, प्रेम सहयोग तथा नैतिकता है। साम्यवाद आर्थिक क्रान्ति है जबकि सर्वोदय आदर्शवादी क्रान्ति। सर्वोदय समाज में नैतिक मूल्यों का समर्थन करता है। सर्वोदय का मानना है कि मनुष्य की समस्याओं का समाधान नैतिकता तथा मूल्यों के अन्तर्गत खोजा जाना चाहिए। इसी आधार पर

सर्वोदय साम्यवाद तथा मार्क्सवाद से श्रेष्ठ कहा जा सकता है। सर्वोदय के दर्शन को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है :-

1. सर्वोदय व्यक्ति के भले के लिए कार्य करता है।

2. सर्वोदय कर्ता की दृष्टि से वकील के कार्य का उतना ही महत्व है जितना कि एक नाई के कार्य का।

3. श्रम की महत्ता पर जोर।

जानरस्किन ने अन्टू द लास्ट (Unto The Last) में सर्वोदय की चर्चा की है। सर्वोदय ऐसा जीवन जीने की एक कला है जो, अहिंसा पर आधारित है। सर्वोदय का सिद्धान्त प्रेम पर आधारित है। सर्वोदय की विशेषता/सिद्धान्त है कि अयोग्य को योग्य, स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनाया जाये, समाज में सभी के उदय का प्रयास और प्रेम, अहिंसा तथा मानवीय मूल्यों के पालन पर बल दिया जाये।

सर्वोदय ने मानवजीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक पहलुओं पर विचार किया है। इसने समाज के सर्वांगीण विकास हेतु निम्न लक्ष्य रखे हैं :-

राजनीतिक लक्ष्य- (राजनीतिक विकेन्द्रीकरण)

- ग्राम स्वराज्य की स्थापना।

- राजनीति (राज्य की नीति जिसकी मुख्य विशेषता शक्ति सम्पन्न, शासन निर्मित, नियंत्रण की शक्ति तथा प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता) को लोक नीति (जनता के विचारों के अनुसार बनी नीति) में बदलना। लोकनीति की विशेषता आत्म नियंत्रण, स्वतंत्रता, अनुशासन तथा कर्तव्य पालन है।

- ग्राम स्वराज्य की स्थापना जिसके प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित हों तथा वे सभी ऊपर के प्रतिनिधियों को अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित करें ताकि दलीय व्यवस्था समाप्त हो।

- नयी राजनीति का विकास करना जो प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण पर आधारित हो। गांधी जी दिल्ली की सत्ता को प्रत्येक गाँव में पहुँचना चाहते थे।

- लोकनीति के आधार पर शासन, जो कि व्यक्ति को स्वतः अनुशासनप्रिय बनाता है।

- सच्ची लोकशक्ति की स्थापना

आर्थिक लक्ष्य- (आर्थिक विकेन्द्रीकरण)

- समाज कि अशक्तता को दूर करना तथा भूदान एवं श्रमदान द्वारा सामुदायिक विकास के लिए कार्य करना।

- हमारा लक्ष्य ऐसा हो कि हम ग्रामीण उद्योगों का विकास कर सकें तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण की तरफ अग्रसर हो सकें।

- उपयुक्त तकनीक का विकास जिससे कि समुदाय की महत्त्वपूर्ण जरूरतों को पूरा किया जा सके।

- ऐसी योजनाओं का विकास जिससे सबको काम मिल सके।

- एक दूसरे के विकास में सहयोग करना। गांधी ने कहा था कि "जो श्रम करेगा वही खायेगा।"

- सर्वोदय में सभी व्यक्तियों के लिए रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा की व्यवस्था की बात की गयी है।

- ऐसे समाज का निर्माण जिसमें शोषण की प्रवृति न हो, न ही संघर्ष और न ही वस्तुओं का संग्रह आवश्यक हो।

- गांधी जी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा का उपयोग औद्योगिक क्रिया के लिए करना।

- देश का प्रत्येक भाग स्वावलम्बी बने। ग्राम या गाँवों को मिलाकर एक ऐसा क्षेत्र बने जो अपने भोजन, वस्त्र और घर की आवश्यकता को पूरा कर सके।

सामाजिक लक्ष्य-(सामाजिक समता)

- समुदाय पर आधारित जीवन की समृद्धि के लिए साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए काम करना।

- जाति एवं वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना।

- सामाजिक समता की स्थापना करना जिसमें व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति का शोषण न हो सके।

आध्यात्मिक तथा नैतिक लक्ष्य (मानवीय मूल्यों का विकास)

- मानव का व्यक्तित्व का आध्यात्मिक विकास।

- नैतिक मूल्यों का विकास।

- साधन तथा साध्य दोनों पवित्र हों

- मानव में नैतिक मूल्यों का विकास ताकि उनका व्यक्तित्व निखरे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सर्वोदय समाज की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उससे सर्वोदय के निम्न आधार स्पष्ट होते हैं:-

(1) अहिंसा।

(2) विवेक पूर्ण कार्य।

(3) शरीर श्रम और अपरिग्रह।

(4) सादा एवं सरल जीवन।

(5) विकेन्द्रीकरण।

(6) स्वावलम्बन और सहयोग।

(7) आर्थिक समानता।

(8) कुटीर एवं ग्रामोद्योगों की प्रधानता।

आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को न रखना समाज के लोगों को उनसे वंचित न करना।

सर्वोदय मूलतः ग्रामीण जीवन का पुनर्निर्माण है, जो पूरे विश्व, देश को एक परिवार मानता है। यह मानता है संसार का उद्भव एक पिता (ईश्वर) से हुआ। अतः हम उसकी सन्तान हैं। इसलिए यह सिद्धान्त वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त से मिलता है जिसका आदर्श 'जिओ और जीने दो' की अपेक्षा दूसरे के लिए जिओ यानि अपने को मिटाकर दूसरों का हित है। सर्वोदय का उद्देश्य भौतिक तथा आर्थिक प्रगति के साथ मानसिक प्रगति (मानवीय मूल्यों का विकास) करना भी है। अपने मूल्यों के विकास के लिए सर्वोदय ग्रामीण पुननिर्माण के अनेक रूपों में कार्य करता है। वह मानता है कि ग्राम की भूमि भगवान की है इसलिए इस पर किसी का अधिकार नहीं है। सभी भूमि ग्रामीणों में आवश्यकता के अनुसार बाँटी गयीं। सभी को बीज-खाद तथा अनाज की सुविधायें दी गयी हों। ग्राम में सभी श्रमिक होंगे, मालिक कोई नहीं। गाँव में आवागमन के साधन, पशुपालन, शिक्षा, बैंक, स्वास्थ्य आदि का सुधार किया जायेगा। ग्रामीण क्षेत्र में पंचायत द्वारा सभी का कल्याण किया जायेगा, जिसमें सभी की सहमति से लोकनीति का विकास होगा। प्रत्यक्ष चयन द्वारा दल विहीन लोकतंत्र की स्थापना होगी। इस प्रकार प्रत्येक गाँव एक छोटे स्वावलम्बी रूप में परिवर्तित हो जायेगा। सभी का सहयोग इसमें जरूरी होगा। इस प्रकार गांधी द्वारा कल्पित आदर्श समाज भय रहित, अहिंसक तथा जनतंत्र पर आधारित होगा। वह पूर्ण मानवता के उत्थान से सम्बंधित होगा।

भारत में गांधी जी के सपनों का गाँव स्थापित करने में विनोबा भावे ने अमूल्य योगदान दिया। इसके लिए उन्होंने और उनके सहयोगियों ने निम्न कदम उठाये :-

(1) **भूदान-** यह आर्थिक क्रान्ति का एक तरीका है। विनोबा भावे ने सन् 1951 में पांचापल्ली में इसको शुरू किया, इसमें जिसके पास 3 एकड़ भूमि थी उसको भूदान करना था। सर्वप्रथम एक धनी व्यक्ति ने अपनी भूमि को दान किया। इसमें स्वेच्छा आवश्यक थी। यह धीरे-धीरे अन्य राज्यों में फैलता गया। इसमें व्यक्ति यह मानकर चलता था कि भूमि भगवान की है। इससे अहिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति, विकेन्द्रीकरण एवं स्वावलम्बन की भावना निहित थी। यह धन संचय की भावना को तोड़ता है। 1967 तक 4264,096 एकड़ भूमि इसमें दान हुई लेकिन इसके बाद यह मन्द पड़ गया था और फिर इसके धीमा पड़ने पर ग्रामदान शुरू किया गया।

(2) **ग्रामदान-** भूदान का अगला चरण ग्रामदान था। ग्रामदान की परिभाषा निम्न प्रकार दी गयी। ''यदि गाँव के 80% भूमिधारी अपना अधिकार त्यागने को तैयार हों तथा उनके द्वारा दी गयी भूमि कुल भूमि की तुलना में 51% है तो वह ग्रामदान होगा।'' इसमें भूदान अस्पष्ट रूप से समाहित था। भूदान व्यक्तिगत दान है ग्रामदान पूरे समूह द्वारा दिया गया दान है। भूदान में एक व्यक्ति या समूह लाभान्वित होता है। लेकिन ग्रामदान में पूरा ग्राम समूह लाभान्वित होता है। ग्राम दान का लक्ष्य-

- व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना करना।

- ग्राम की सम्पूर्ण भूमि ग्राम को सौंप दी जाती है तथा पुनः उसका वितरण आवश्यकतानुसार किया जाता है।

- उस पर कृषक सम्पूर्ण समाज के लिए कार्य करता है।

- सम्पूर्ण उत्पादन के कुछ हिस्से को शिक्षा, निराश्रितों की सहायता तथा विवाह पर खर्च किया जाता है।

- ग्रामदान ने कुटीर उद्योगों पर विशेष बल दिया ताकि ग्राम शीघ्र आत्म निर्भर बन सकें।

- ग्रामदान, खादी, उद्योग तथा शान्ति सेना की स्थापना पर बल देता है।

- इस प्रकार ग्राम सुगठित परिवार का रूप धारण कर लेता है।

(3) **सम्पत्तिदान-** ग्रामों के सामाजिक क्रान्ति भूदान तथा ग्रामदान से आयी तो शहरों में वह सम्पत्तिदान से आयेगी। इसमें अपील की जाती है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद शेष धन धनी लोग अन्य लोगों में बाँट दें। किन्तु धन सात्विक साधन से बनाया हो।

(4) **श्रमदान-** सम्पत्ति यदि गरीब नहीं दे सकता है तो श्रम दान करें।

(5) **बुद्धिदान-** अध्यापक पढ़ायें, डाक्टर दवा और वकील बिना शुल्क सेवा करें।

(6) **जीवनदान-** यदि व्यक्ति सर्वोदय समाज का सदस्य बनकर अपना सम्पूर्ण जीवन समाज के लिए देता है तो वह जीवनदान है।

सर्वोदय मानता है कि वास्तविक परिवर्तन तो जीवन के मूल्यों का ही परिवर्तन करके किया जा सकता है। ऐसा परिवर्तन बल प्रयोग द्वारा नहीं, वरन् धैर्य एवं समझदारी के साथ, अपने स्वयं के जीवन को नये मूल्यों के अनुसार ढालकर तथा स्वयं अपने लिए कष्ट सहकर तथा दूसरों को प्रभावित करके किया जा सकता है। इसको लक्ष्य करके विनोबा भावे ने कहा कि ''सर्वोदय क्रान्ति त्रिकोणात्मक है'' और यह त्रिभुज, हृदय परिवर्तन, विचार परिवर्तन तथा परिस्थिति परिवर्तन द्वारा बना है।''

भारत में सर्वोदय दर्शन को आधार मानकर बीस सूत्रीय कार्यक्रम इंदिरा गांधी द्वारा चलाया गया। उसके उपरांत पंचायती राज की स्थापना 73वें संविधान संशोधन द्वारा की गयी।

किन्तु पूर्ण वित्तीय शक्ति के हस्तान्तरण न होने, अधिकारी तंत्र का असहयोग तथा पंचायतों में विधायिका, में तथा लोकसभा में सदस्यों के बिना उद्देश्य दलबदल ने उसको असफल बना दिया है।

सर्वोदय समाज कार्य की सामाजिक क्रिया के रूप में जाना जाता है। किन्तु सर्वोदय तथा सामाजिक क्रिया में निम्न अन्तर देखने को मिलता है।

यद्यपि निर्बल वर्ग और कमजोर लोगों के कल्याण के लिए समाज कार्य तथा सर्वोदय दोनों कार्य करते हैं तथापि इनमें निम्न अन्तर है -

(1) सर्वोदय का विचार 'ईशोपनिषद्' से लिया गया है जिसके आधार पर स्वयं को दूसरों में तथा दूसरों को स्वयं में देखते हैं। इसलिए सर्वोदय का विकास बहुत पहले हो चुका था। किन्तु आधुनिक समाज कार्य का विकास केवल 150 वर्ष पहले विदेशों में हुआ।

(2) समाजकार्य व्यक्ति के सामाजिक/आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, समस्याओं के समाधान (विकलांग, कमजोर) के लिए 6 विधियों का प्रयोग करता है। जबकि सर्वोदय समस्याओं को दूर करने के साथ-साथ जातिविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना करते हुए जनकल्याण की आशा करता है। इस प्रकार सर्वोदय वृहद् तथा समाज कार्य लघु अवधारणा है। क्योंकि समाज कार्य व्यक्ति की समस्या को ध्यान में रखता है जबकि सर्वोदय वर्ग के कल्याण की भावना से पूर्ण है।

(3) सर्वोदय गांधी जी के दर्शन सत्य, अहिंसा तथा प्रेम पर आधारित है तथा सभी व्यक्तियों की भलाई चाहता है। जबकि समाज कार्य व्यक्तिगत (एक व्यक्ति) सिद्धान्तों पर आधारित न होकर प्राचीनकाल से समाज कार्य करने वालों द्वारा बताये गये सिद्धान्त तथा अनुभवों पर आधारित है।

(4) सर्वोदय का दर्शन केवल बौद्धिक आधार पर जनित विचारों का परिणाम नहीं है वरन् सर्वोदय का दर्शन ऐसी महान आत्माओं द्वारा दिये गये अनुभवों पर आधारित है जो कि सामाजिक असमानता तथा सामजिक अन्याय को पूर्ण रूप से खत्म कर देना चाहती है, परन्तु समाज कार्य बौद्धिक विचारों का परिणाम है। समाज कार्य सामाजिक विषयों जैसे समाज विज्ञान, मानव विज्ञान, राजनीति विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, मनोविज्ञान के सिद्धान्तों पर आधारित है। वह इन विषयों के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को ग्रहण कर उस पर दृढ़ता से कार्य करने की प्रक्रिया है।

(5) सर्वोदय में सामाजिक जागृति पैदा करने के लिए निम्न चरणों का अनुसरण किया जाता है।

(i) ग्राम भावना का विकास (सामूहिक भावना)

(ii) ग्राम संकल्प (मानसिक चेतना का विकास)

(iii) लोकशक्ति (लोगों की शक्ति का विकास जो कि अपनी भावना को शक्ति के रूप में व्यक्त करते हैं। जिसमें एक व्यक्ति शक्ति सम्पन्न नहीं होता है अपितु पूरा समाज शक्ति सम्पन्न होता है।)

लोकनीति :- आम लोगों की राय से नीति का निर्धारण ताकि अभिप्रेरणा प्राप्त हो। सर्वोदय कार्यकर्ता लोकनीति के आधार पर कार्य करता है।

परन्तु समाज कार्य व्यक्ति, समूह तथा समुदाय के आर्थिक, सामाजिक, संवेगात्मक चिकित्सीय, मनोवैज्ञानिक समस्याओं को दूर करने हेतु अपनी वैयक्तिक सेवा कार्य, समूह सेवाकार्य, सामुदायिक संगठन, समाज कार्य शोध, समाज कल्याण प्रशासन तथा समाजिक क्रिया आदि के 6 विधियों का प्रयोग करता है।

(6) सर्वोदय के तथा समाज कार्यकर्ता के प्रशिक्षण में एक और अन्तर यह पाया जाता है। एक व्यक्ति तब तक सर्वोदयी कार्यकर्ता नहीं हो सकता जब तक वह सत्य एवं अहिंसा में विश्वास न करें। उनका प्रशिक्षण आश्रम में होता है।

किन्तु समाज कार्यकर्ता सामान्य रूप से व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा प्रशिक्षित होते हैं। समाज कार्यकर्ता कुछ न्यूनतम पैसा प्राप्त करने के बाद कार्य करता है। वह अपने लक्ष्य को व्यावसायिक तरीके से प्राप्त करता है।

सारांशतः सर्वोदय एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था है जिसमें सभी वर्गों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक रूप से सम्पूर्ण उत्थान की कल्पना की गयी है। यदि इसको आदर्श मानकर सामाजिक क्रिया को संचालित किया जाये तो परिणाम काफी सकारात्मक होंगे।

अन्त्योदय

– दरिद्रता मानव समाज का एक अभिशाप है। गरीबी दूर करने के लिए बहुत सी बातें की गई, लेकिन व्यावहारिक जीवन में उनका आनुपातिक परिणाम देखना बाकी है। सत्तारूढ़ दलों ने समय-समय पर इस सम्बन्ध में कुछ कदम उठाए गए हैं जिससे गरीब वर्ग को राहत मिल सके। चूँकि गांधी जी दरिद्र वर्ग के उत्थान के लिए चिन्तित रहते थे, अतः उन्हीं के जन्म दिन 2 अक्टूबर 1977 से तत्कालीन सरकार ने एक ऐसा कार्यक्रम प्रारम्भ किया जो गांधी जी के दर्शन से निकट का महसूस हुआ एवं जिसमें समाज के गरीब वर्ग को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया गया। यह कार्यक्रम 'अन्त्योदय' कहलाया।

– अन्त्योदय शब्द में दो शब्द युग्म अनुस्यूत हैं, अन्त व उदय जिसका अर्थ है विकास पंक्ति में खड़े सबसे अन्तिम व्यक्ति का उत्थान अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो गरीबतम, निराश्रित निरीह, लेकिन कार्यशील होते हुए भी अपनी जीविका अर्जित करने में असमर्थ हो, का उत्थान करना।

– राज्य के ग्रामीण समुदाय में गरीबों में भी सबसे गरीब व्यक्ति के लिए अभीष्ट यह कार्यक्रम अन्त्योदय कहलाया। यह आर्थिक विकास के संक्रमण में एक श्लाघनीय उपागम है जो विकास की शुरुआत नीचे से करता है अर्थात् जो व्यक्ति विकास और लाभों से अब तक वंचित व उपेक्षित हैं, सबसे पहले उन्हीं व्यक्तियों को उठाना आवश्यक है।

– गांधी दर्शन पर आधारित यह कार्यक्रम विकासोन्मुख है। गांधी जी के सपनों का भारत समानता एवं सौहार्द्रता पर आधारित है। उन्होंने एक ऐसे समाज का स्वप्न देखा था जो गरीबी उन्मुक्त हो तथा प्रत्येक भारतवासी स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण में अपनी प्रभावपूर्ण आवाज रख सके।

– यहाँ पर यह विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम राजस्थान में जनता सरकार द्वारा ग्रामीण निर्धनता को दूर करने की दिशा में 'अन्त्योदय कार्यक्रम' अपनाया गया है। 33 हजार गांव वाले राजस्थान में इन कार्यक्रम ने अग्रणी होने का सौभाग्य प्राप्त किया।

– भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी कहा गया है कि हम समानता व न्याय के आधार पर रचित एक समाजवादी समाज का निर्माण करना चाहते हैं। केन्द्रीय व राज्य सरकारें भी गरीबी उन्मूलन के लिए आरम्भ से ही अपने प्रयासों के प्रति प्रतिबद्ध रही हैं, लेकिन कुछ अप्रत्याशित बाधाओं के कारण कार्यान्वयन में कोई न कोई कमी रही। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए अन्त्योदय को एक विशिष्ट रूप प्रदान किया गया। गरीब वर्ग की उन्नति के सन्दर्भ में अन्त्योदय अन्य कार्यक्रमों से कुछ निम्न आधारों पर भिन्न है –

(अ) चयन का मानदण्ड गरीबी है।

(ब) क्षेत्रीय विषमता का पूर्ण अभाव है।

(स) प्रक्रिया नीचे से चलकर ऊपर की ओर यात्रा करती है।

(द) कार्यक्रम के क्रियान्वयन में अपनाई गई पद्धति में सकारात्मक परिवर्तन किया गया।

चयन के लिए मानदण्ड

– गरीबी की रेखा से नीचे वाले परिवारों में से गरीबतम परिवार के चयन के लिए, सामान्यतः निम्न मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं :-

(अ) आर्थिक क्रियाओं योग्य (15–59 वर्ष की आयु के वर्ग के बीच) वित्त विहीन परिवार।

(ब) ऐसे परिवार जिनकी कुछ परिसम्पत्ति है, पर फिर भी आय बहुत कम है।

(स) ऐसे परिवार जिनके पास जमीन व दूसरी परिसम्पति है लेकिन गरीबी रेखा से नीचे रह रहे हो।

(द) ऐसे परिवार जिनके पास कोई आर्थिक परिसम्पत्ति नहीं है लेकिन आर्थिक क्रिया में संलग्न व्यक्तियों की वार्षिक आय गरीबी रेखा के निर्धारित मानदण्ड से नीची हो।

– प्रशासन तंत्र से अन्त्योदयी परिवार तक सम्बंध स्थापित करने में अनेक व्यक्तियों की शृंखला अपनी भूमिका अदा करती है। लाभार्थी परिवारों के चयन में मदद पहुँचाने में पटवारी का सर्वाधिक योगदान रहता है। साथ ही सरपंच-ग्रामसभा, ग्राम सेवक व अध्यापक इन परिवारों के चयन में सहायता करते हैं। जिला नियोजन की सुगमता प्रक्रिया से लोगों को इस योजना से विज्ञ कराया जाता है।

– अन्त्योदयी परिवारों को दी जाने वाली सहायता चहुँमुखी विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। इन परिवारों को भूमि, व ऋण दोनों प्रकार की सहायता दी जाती है जिससे सामान्यतः ऋण व अनुदान का प्रतिशत अधिक पाया जाता है। सहायता देते समय इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि सहायता की प्रकृति व्यवसाय के अनुरूप हो, ताकि उनकी उत्पादकता में धनात्मक प्रवृत्तियाँ फलीभूत हो सकें। ग्रामीण भारत में ऋणग्रस्तता का एक स्थाई स्वरूप बन चुका है। अधिकांश व्यक्तियों ने ऋण ले रखे हैं। ऋण का स्वरूप नगद मुद्रा या पशु क्रय करना या अनाज क्रय करना अथवा अन्य कुछ भी हो सकता है।

– अन्त्योदय योजना में भूमिहीन श्रमिकों व ग्रामीण दस्तकारों को अधिक लाभ के अवसर मिले। यद्यपि अन्त्योदयी परिवार सर्वोच्च प्राथमिकता कृषि भूमि को देते हैं और उसके बाद पशुपालन, कुटीर उद्योग, हथकरघा उद्योग आदि को महत्व देते हैं। ऐसे विचार प्रकट किये गये हैं, कि यदि इस कार्यक्रम के लिए बड़ी मात्रा में धनराशि की व्यवस्था की जाए तो निर्धनता को आसानी से दूर किया जा सकता है।

– किसी भी अन्य योजना की भाँति अन्त्योदय योजना भी अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं थी। यह तो तत्कालीन राजनीतिक चेतना एवं सत्ता संगठन की सूझबूझ तथा दूरदृष्टि के कारण इतनी अधिक लाभदायक तथा लोकप्रिय, आकर्षक व महत्वाकांक्षी रही है। योजना के विभिन्न गरीबी उन्मूलन एवं रोजगार दायक प्रावधानों का समाज के कमजोर वर्गों पर दूरगामी प्रभाव पड़ा है एवं आने वाले समय में जितनी गरीबी निवारक योजनाएँ चलाई जायेंगी उनका आधार भी न्यूनाधिक मात्रा में अन्त्योदय ही रहेगा।

संदर्भ

1. क्वायल ग्रेस, सोशल वर्क इयरबुक, ए.ए.एस.डब्ल्यू 1957
2. फ्रिडलेण्डर डब्ल्यू ए. पूर्वोधृत
3. हिलजॉन एन. सोशल एक्शन, प्रोसीडिंग्स ऑफ दि नेशनल कांफ्रेंस ऑफ सोशल वर्क, एए एस डब्ल्यू 1951.
4. रिचमण्ड मैरी "ह्वाट इन सोशल केस वर्क" रसेल सेज फाउन्डेशन, न्यूयॉर्क 1922.
5. सोलेण्डर एस. "सोशल एक्शन इन सोशल वर्क" इयरबुक ए.एस.डब्ल्यू-1937.

खण्ड–तीन

समाजकार्य का क्षेत्र

360

अध्याय–14

महिला कल्याण

मानव–समुदाय पुरूष और महिला, दोनों से बना होता है। इस कारण, समाज में दोनों के कल्याण की चर्चा हो सकती है, लेकिन व्यवहार में महिलाओं के कल्याण की ही बात उठती है, पुरुषों के कल्याण की नहीं। क्यों? इसका केवल यही कारण है कि महिलाओं को समाज का दुर्बल समूह माना जाता है। अगर समाज में दोनों की ही प्रस्थिति समान होती, तो महिलाओं के कल्याण का प्रश्न ही नहीं उठता। जिन देशों में महिलाओं को पुरुषों की तरह समानअधिकार तथा सुख–सुविधाएँ प्राप्त हैं और ये आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में सक्रिय रूप से भाग लेती हैं, वहाँ महिलाओं के 'कल्याण' की बात बिरले ही उठाते हैं। भारत जैसे कुछ देशों में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा शैक्षिक अशक्तताओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें ऐसी कई सुविधाएँ और अधिकार नहीं मिलते, जो पुरुषों को मिलते आए हैं। कभी–कभी उनकी स्थिति इतनी दयनीय होती है कि उनके हितों की रक्षा के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता पड़ती है। कई श्रेणियों की महिलाएँ अपने प्रयासों द्वारा भी अपनी स्थिति में सुधार लाने में असमर्थ रहती है। उनके हितों की रक्षा और उन्हें पुरुषों के साथ समानता के स्तर पर लाने के लिए राज्य एवं अन्य अभिकरणों द्वारा विशेष कदम उठाना आवश्यक होता है।

I. भारत में महिलाओं की स्थिति
(Position of Women in India)

1. प्राचीन भारत में महिलाओं की स्थिति (Postion of Women in Ancient India) –

वैदिक काल में महिलाओं को समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। उन्हें पुरुषों की तरह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। उन्हें शिक्षा और संस्कार के अधिकार भी उपलब्ध थे। महिलाएँ धार्मिक कृत्यों, शास्त्रार्थ, सभाओं आदि में पुरुषों के साथ संयुक्त रूप से भाग लेती थी। बालकों और बालिकाओं को समान रूप से वेदाध्ययन की सुविधा

उपलब्ध थी। परिवार की वे केंद्रबिंदु होती थी। 'अथर्ववेद' में तो उन्हें घर और परिवार की समाज्ञी समझा गया है –

सप्राक्ष्येधि श्वशुरेषु सप्राक्ष्युत देवृषु।
ननान्दुः सप्राक्ष्येधि सम्राक्ष्युत श्वश्र्वाः।।

("हे नववधू, तू जिस नवीन गृह से पदार्पण कर रही है, वहाँ तू रानी है, सम्राज्ञी है। वहाँ तेरा ही राज्य है। मेरे श्वसुर और सास, ननद और देवर तेरे राज्य में प्रसन्न एवं आनंदित रहें।")

वैदिक काल में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। स्वयंवर-प्रथा केवल राजकुमारियों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि सामान्य आर्यकन्याएँ भी इस पद्धति से अपने वर चुनती थीं। सामाजिक जीवन में उनके कन्या, बहन, पत्नी और माता रूपों को उज्जवल और पवित्र समझा जाता था। उनकी विद्या, बुद्धि, कला, सेवा, त्याग, स्वच्छता और पवित्रता आदि गुणों की प्रायः प्रशंसा की जाती थी। **राधाकुमुद मुखर्जी** के शब्दों में – ऋग्वेद ने तत्कालीन योग्य नारियों को उच्चतम सामाजिक पद प्रदान किया था। उत्तर-वैदिक काल में भी समाज में महिलाओं की स्थिति सम्मानजनक रही।

साधारणः, रामायण और महाभारत-काल में भी महिलाओं को पुरुषों की तरह सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। बालिकाओं को बालकों की तरह शिक्षा और संस्कार की सुविधाएँ उपलब्ध थी। माता को परिवार और समाज में बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। कहीं-कहीं तो उन्हें गुरु से भी श्रेष्ठ माना गया है। **गुरुणां चैव सर्वेषां माता हि परमो गुरुः।** लेकिन, महाभारत काल के अंतिम चरणों में महिलाओं की स्थिति में गिरावट आने लगी थी।

बौद्धकाल में महिलाओं की सामाजिक प्रस्थिति अच्छी नहीं थी, लेकिन योग्य महिलाओं को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। बौद्ध मठों में भिक्षुणियों के शिक्षण की व्यवस्था रहती थी, किन्तु आम स्त्रियों में शिक्षा का ह्रास हो रहा था। स्त्रियों पर कुछ नए सामाजिक प्रतिबंध भी लगाए गए। परिवार में भी उन्हें वह स्थान नहीं मिल पाता था, जो उन्हें वैदिक युग में प्राप्त था।

स्मृतिकाल में, समाज में महिलाओं की उच्च और निम्न दोनों प्रकार की प्रस्थितियों के उदाहरण मिलते हैं। 'मनुसंहिता' में एक स्थान पर कहा गया हैं–

यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्व्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।

("जिस कुल में स्त्रियों की पूजा की जाती है, उस कुल के देवता प्रसन्न रहते हैं। जहां ऐसा नहीं किया जाता, वहाँ सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।)

लेकिन, दूसरी ओर महिलाओं पर आजीवन नियंत्रण रखने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। 'मनुसंहिता' में ही एक स्थान पर कहा गया है –

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्यमर्हति।

("कौमार्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्री की रक्षा करे। स्त्री कभी स्वतंत्र न रहे।")

स्त्रियों पर इस प्रकार के नियंत्रण के निर्देश विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी मिलते हैं। प्राचीन चीन में भी उन्हें तीन प्रकार की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी :- विवाह के पहले पिता की अधीनता, विवाह के बाद पति की अधीनता तथा वृद्धावस्था में विधवा होने पर पुत्र की अधीनता। कई प्राचीन सभ्यताओं में पिता को अपनी पुत्री पत्नी को बेचने, घर से निकालने तथा मृत्युदंड देने के भी अधिकार प्राप्त थे।

वास्तव में, भारत में महिलाओं की अवहेलना स्मृतिकाल में भी प्रारम्भ हुई। धीरे-धीरे उनके शैक्षणिक, धार्मिक और सामाजिक कृत्यों पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाए जाने लगे। स्मृतियों में उन आधारों का भी उल्लेख किया गया, जिन पर पत्नियों का परित्याग किया जा सकता है। इन आधारों में मद्यपान, दुश्चरित्रता, असाध्य रोग, अपव्यय, बंध्यात्व, कटु भाषण, केवल पुत्रियों का ही जन्म आदि सम्मिलित थे। पति के संबंध में दूसरी तरह की नीति अपनाई गई। 'मनुसंहिता' में ही कहा गया है–

विशीलः कामवृतो वा गुर्णर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत् पतिः।।

("पति शीलरहित हो, व्यसनी हो, दुराचारी हो, विद्या आदि गुणों में शून्य हो, फिर भी पतिव्रता पत्नी को उसकी उपेक्षा न कर देवता की भाँति सेवा करनी चाहिए।")

कालक्रम में, लड़कियों को उपनयन के अधिकार से वंचित किया गया। पितृप्रधान परिवारों के उदय से परिवार में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आने लगी। समाज में बहुपत्नी विवाह की प्रथा भी तेजी से प्रचलित होती गई। धीरे-धीरे, सती-प्रथा में भी गिरावट शुरू हुई और विधवा-विवाह पर प्रतिबंध लगाए गए। स्त्रियाँ संपत्ति के अधिकार से भी वंचित होती गई। देश में स्त्रियों की इस प्रकार की प्रस्थिति मध्यकालीन युव के प्रारंभ तक बनी रही।

2. मध्यकालीन युग में महिलाओं की स्थिति (Position of Women during Medieval Period)–

मुस्लिम –आक्रमणकारियों के आने के बाद देश में स्त्रियों की स्थिति और भी बिगड़ती गई। पहले तो कई वीरांगनाएँ आक्रमणकारियों से लोहा लेने के लिए युद्ध के मैदानों में भी उतर पड़ती थीं। वे देश की मर्यादा और संस्कृति की रक्षा के लिए पुरुषों का हर तरह से साथ देती

थीं, लेकिन जब मुस्लिम-शासन स्थापित हो गया, तब वे शोषण और दुर्व्यवहार का शिकार होने लगीं। मुस्लिम-शासनकाल में पर्दा-प्रथा व्यापक रूप से फैलने लगी, जिससे भारतीय महिलाओं के शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रियाकलाप को गहरा धक्का लगा। उनके बीच अज्ञान और अंधविश्वास फैलता गया। उनकी सामाजिक प्रस्थिति निरंतर गिरती गई। यह सिलसिला मुगल-शासनकाल तक चलता रहा। मुगल-शासनकाल में तो उन्हें भोग-विलास की वस्तु भी समझा जाने लगा था। स्त्रियों की सामान्य प्रस्थिति में गिरावट के बावजूद, मध्यकालीन युग में कई महिलाओं की गौरवपूर्ण उपलब्धियों के उदाहरण मिलते है, विशेषकर कवयित्रियों, वीरागंनाओं तथा शासिकाओं के रूप में।

3. **आधुनिक युग में महिलाओं की स्थिति** (Position of Women during Modern Period)—

ब्रिटिश शासनकाल के प्रारंभिक चरणों में देश में महिलाओं की स्थिति अत्यंत ही खराब हो चुकी थी। देश के कई भागों में सती-प्रथा का प्रचलन था। विधवा-विवाह पर कड़े सामाजिक प्रतिबंध लगे थे। बाल-विवाह की प्रथा भी व्यापक रूप से फैली हुई थी। पर्दा और दहेज-प्रथाएँ भी सर्वत्र फैली हुई थीं। स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित रहने लगी थी। उनके साथ दुर्व्यवहार में भी वृद्धि हुई। अँग्रेजों के आने से भारतीय समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा। कई भारतवासियों को विदेशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करने के अवसर मिले। विदेशों में महिलाओं को समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त था तथा उन्हें शिक्षा तथा सामाजिक और राजनैतिक क्रिया-कलाप में भाग लेने के प्रचुर अवसर उपलब्ध थे। ब्रिटिश शासनकाल में कई भारतीय पाश्चात्य विचारधाराओं के संपर्क में आए। उन्होंने भारतीय नारियों के पुनरुत्थान के लिए कदम उठाए।

ब्रिटिश शासनकाल में महिलाओं के हितों की रक्षा और उनकी प्रस्थिति में सुधार का प्रयास करने वाले समाजसुधारकों में **राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रानाडे, दयानंद सरस्वती, विवेकानन्द, एनी बेसेट, मार्गरेट कजिन्स, महात्मा गांधी** तथा कई अन्य ख्यातिप्राप्त व्यक्तित्व सम्मिलित है। इन समाजसुधारकों के प्रयासों के फलस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में व्यापक सुधार हुआ तथा महिलाओं से संबद्ध कई सामाजिक बुराइयों पर नियंत्रण पाया जा सका। राजा राममोहन राय तथा अन्य समाज सुधारकों द्वारा चलाए जाने वाले आंदोलनों के फलस्वरूप सती-प्रथा पर कानून द्वारा रोक लगाई गई। विधवा-विवाह को कानूनी मान्यता दिलवाने में ईश्वरचंद्र विद्यासागर का योगदान उल्लेखनीय है। बाल-विवाह पर भी कानूनी प्रतिबंध लगाए गए तथा देवदासी जैसे कई कुप्रथाओं को अवैध घोषित किया गया। स्त्रियों के बीच शिक्षा के प्रसार के लिए भी कई महत्वपूर्ण कदम उठाए गए।

इन समाजसुधारकों ने देश के सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन में महिलाओं की सहभागिता पर बहुत अधिक जोर दिया। देश में महिलाओं के बीच शिक्षा के प्रसार, उनके

हितों की रक्षा और कल्याण के लिए कई संगठनों की स्थापना की गई। देश के स्वतंत्रता-आंदोलन में अनेक महिलाओं ने सक्रिय रूप से भाग लिया। कई महिलाओं ने कवयित्री, लेखिका तथा समाजसुधारक के रूप में भी ख्याति प्राप्त की। महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए कई सामाजिक कानून बनाए गए और पुराने कानूनों में संशोधन किए गए। लेकिन, सदियों से चली आ रही विभिन्न प्रकार की अशक्तताओं और असमर्थताओं के कारण महिलाओं की प्रस्थिति पर इन प्रयासों का केवल आंशिक प्रभाव ही पड़ा। वास्तव में, देश की स्वतंत्रता के बाद ही उनके हितों की रक्षा और उनके कल्याण के लिए व्यापक कार्यक्रम चलाए गए।

II. महिलाओं की समस्याएँ
(Problems of Women)

जनगणनाओं के अनुसार देश की कुल जनसंख्या में प्रति 1,000 पुरुष-स्त्रियों का अनुपात 1901-2001 की अवधि में 930 (1971) और 972 (1901) के बीच रहा है। इस अनुपात में 1901 से ही सामान्यतः क्रमिक रूप से गिरावट आई है। उपर्युक्त अवधि में यह अनुपात सर्वाधिक 1901 में 972 था जो घटता हुआ 1991 में 926 तथा 2001 में 933 हो गया। यद्यपि पुरुषों की तुलना में स्त्रियों का अनुपात कम रहा है तथापि देश की वृहत जनसंख्या (102.9 करोड़ (2001)) के परिप्रेक्ष्य में उनकी संख्या को विशाल ही माना जाएगा। स्त्रियों की इतनी बड़ी संख्या में अधिकांश को विभिन्न प्रकार की अशक्तताओं और असमर्थताओं का सामना करना पड़ता है। वे अब भी शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टियों से पुरुषों से बहुत पीछे हैं। कुछ श्रेणियों की महिलाओं की स्थिति तो अति दयनीय बनी हुई। अग्रलिखित पंक्तियों में भारतीय महिलाओं की समस्याओं की विवेचना की गई है -

1. महिलाओं की सामान्य समस्याएँ (General Problems of Women)–

देश में, महिलाओं की सामान्य समस्याओं में (i) उनकी निम्न सामाजिक प्रस्थिति, (ii) अशिक्षा और निरक्षरता, (iii) स्वास्थ्य तथा पोषाहार की दयनीय स्थिति (iv) आर्थिक रूप से पर-निर्भरता की समस्याएँ महत्वपूर्ण हैं।

(i) निम्न सामाजिक प्रस्थिति (Low Social Status)– साधारणतः, समाज के विभिन्न समूहों में स्त्रियों की प्रस्थिति उनके पुरुषों की प्रस्थिति के अनुसार होती है। उदाहरणार्थ, उच्च जातियों या उच्च वर्गों की स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति निम्न जातियों या वर्गों की स्त्रियों और पुरुषों की पुरुषों की सामाजिक प्रस्थिति से ऊंची होती है। लेकिन,भारत में एक ही सामाजिक समूह में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों की तुलना में निम्न रही है। सामान्यतः उन्हें पुरुषों के निर्देशानुसार काम करना पड़ता है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन पर निर्भर करना पड़ता

है। पितृसत्तात्मक परिवारों में स्त्रियों की प्रस्थिति अब भी निम्न बनी हुई है। अशिक्षा, निरक्षरता, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निर्भरता तथा परंपरागत प्रतिबंधों के कारण आज भी महिलाओं को समाज में यह स्थान प्राप्त नहीं है, जो पुरूषों को प्राप्त है।

(ii) **अशिक्षा एवं निरक्षरता की समस्या** (Problem of Lack of Education and Illiteracy)– भारत में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों के बीच शिक्षा और साक्षरता का प्रसार भी बहुत कम हुआ है। आज भी ग्रामीण महिलाओं के बीच अशिक्षा और निरक्षरता व्यापक रूप से फैली हुई है। स्वतंत्रता के बाद स्त्रियों के बीच शिक्षा और साक्षरता के महत्वाकांक्षी कार्यक्रम के बावजूद, उनकी शैक्षिक स्थिति में संतोषजनक सुधार नहीं हो पाया है। देश में 1901-2001 की अवधि में पुरुषों और स्त्रियों के बीच साक्षरता-संबंधी आँकड़े नीचे दिये गए हैं :-

भारत में पुरुषों और स्त्रियों के बीच साक्षरता का प्रतिशत (1901–2001)

वर्ष	व्यक्ति	पुरूष	स्त्री
1901	5.35	9.83	0.60
1911	5.92	10.56	1.05
1921	7.16	12.21	1.81
1931	9.50	15.59	2.93
1941	16.10	24.90	7.30
1951	18.33	27.16	8.86
1961	28.30	40.4	15.35
1971	34.45	45.96	21.97
1981	43.57	56.38	29.76
1991	52.21	64.13	39.29
2001	64.84	75.26	53.67

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि देश की स्त्रियों के बीच निरक्षरता बड़ी मात्रा में व्याप्त रही है। 1901 में तो एक प्रतिशत से भी कम स्त्रियाँ साक्षर थी। 1931 तक उनमें निरक्षरता की स्थिति ज्यों-कि-त्यों बनी रही। 1941 से स्त्रियों के बीच साक्षरता में कुछ सुधार हुआ। 1991 में लगभग 40 प्रतिशत और 2001 में लगभग 54 प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर हो चुकी थीं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लगभग 60 वर्षों के बाद भी 46 प्रतिशत स्त्रियों की निरक्षरता देश के लिए अपमानजनक है। निरक्षरता उत्थान में सबसे बड़ी बाधक है। जबतक इस समस्या के समाधान के लिए युद्ध-स्तर पर प्रयास नहीं किए जाते तब तक देश में स्त्रियों की स्थिति में सुधार नहीं लाया जा सकता।

देश में लड़कियों की शिक्षा की स्थिति भी संतोषजनक नहीं है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से देश में लड़कियों की शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया है तथा उनके लिए व्यापक शिक्षा-सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई हैं, फिर भी विद्यालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में उनका अनुपात लड़कों की अपेक्षा कम है। उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार 1950-51 और 1995-96 के बीच प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले लड़के और लड़कियों की संख्या और उनके प्रतिशत निम्न तालिका में दिये गए हैं।

तालिका

शिक्षा के प्राथमिक स्तरों पर लड़कों और लड़कियों की संख्या और प्रतिशत (1950–51 से 1995–96 तक)

वर्ष

			1950-51	1960-61	1979-80	1984-85	1995-96
(1)	**कक्षा 1 से 5 तक के विद्यार्थी**						
	(1)	लड़कों की संख्या (लाख में)	137.7	233.8	438.0	512.0	.
	(2)	6-11 की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	59.8	80.5	100.0	117.5	115
	(3)	लड़कियों की संख्या (लाख में)	53.8	109.6	272.0	341.7	.
	(4)	6-11 की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	24.6	40.4	65.2	69.2	93
(2)	**कक्षा 6 से 8 के विद्यार्थी**						
	(1)	लड़कों की संख्या (लाख में)	25.9	48.2	130.0	174.6	.
	(2)	11-14 की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	20.7	34.3	52.0	66.9	115
	(3)	लड़कियों की संख्या (लाख में)	5.3	14.7	65.0	92.7	.
	(4)	11-14 की कुल जनसंख्या का प्रतिशत	4.5	10.8	27.7	38.2	55

तालिका से स्पष्ट है कि 1950-51 में विद्यालयों में पढ़ने वाले 6-11 आयुवर्ग के विद्यार्थियों में लड़कियों का प्रतिशत 24.6 और 11-14 आयुवर्ग के विद्यार्थियों में उनका प्रतिशत केवल 4.5 था। 1950-51 के बाद विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रही लड़कियों की संख्या में व्यापक वृद्धि हुई, लेकिन लड़कों की तुलना में उनका अनुपात बहुत कम रहा है। 6-11 आयुवर्ग के विद्यार्थियों में लड़कियो का प्रतिशत 1960-61में 40.4 1979-80 में 65.2 तथा 1984-85 में 69.2 था, जबकि इन्ही वर्षों में लड़कों का प्रतिशत क्रमशः 85.5, 100.0 तथा 117.5 था। 11-14 आयुवर्ग के विद्यार्थियों में लड़कियों का प्रतिशत

1960-61 में 10.8, 1979-80 में 27.7 तथा 1984-85 में 38.2 था। भारत सरकार के मानव-संसाधन विकास मंत्रालय के अनुसार 1995-96 में एक करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में 6-11 वर्ष आयुवर्ग के लड़कों में लगभग 115 प्रतिशत और लड़कियों में 93 प्रतिशत, तथा 11-14 वर्ष आयुवर्ग के लड़कों में लगभग 80 प्रतिशत तथा लड़कियों में 55 प्रतिशत के नाम विद्यालयों में अंकित थे। लेकिन, इन आँकड़ों से विद्यार्थियों की वास्तविक संख्या की जानकारी नहीं मिलती, क्योंकि कई विद्यार्थी एक विद्यालय को छोड़कर दूसरे विद्यालय/विद्यालयों में नामांकन करा लेते हैं। साथ ही बड़ी संख्या में लड़कियाँ नामांकन के बाद स्कूल जाना बंद कर देती हैं। आज भी विद्यालयों में नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या बहुत कम है। उच्च वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षण-संस्थानों में लड़कियों का अनुपात और भी कम है।

(iii) **स्वास्थ्य और पोषाहार की समस्या** (Problem of Health and Nutrition)– महिलाओं को सामान्य स्वास्थ्य-समस्याओं के अतिरिक्त प्रसूति एवं कुपोषण की विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ता है। गर्भावस्था में बच्चे का स्वास्थ्य माता के स्वास्थ्य से जुड़ा होता है। देश में व्याप्त निर्धनता के कारण कई महिलाओं को सुमचित पोषाहार नहीं मिल पाता। कुपोषण और समुचित चिकित्सा के अभाव में आज भी देश में कई महिलाओं का निधन बच्चे को जन्म देते समय हो जाता है। बच्चे के जन्म के बाद भी महिलाओं को विशेष देखभाल तथा समुचित पोषाहार की आवश्यकता पड़ती है, लेकिन निर्धनता के कारण अनेक महिलाओं को ये सुविधाएँ नहीं मिल पाती। इनका प्रभाव नवजात शिशु के स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। अनेक महिलाओं का स्वास्थ्य अधिक बच्चों के जन्म देने के कारण गिर जाता है। अज्ञानता और अंधविश्वास के कारण देश की अनेक महिलाएँ, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाएँ, परिवार नियोजन के लाभ नहीं उठा पाती। परिवार के दुष्कर एवं अनवरत कार्यों, समुचित देखभाल और विश्राम के अभाव, पोषाहार की कमी, अशिक्षा तथा चिकित्सा-सुविधा के अभाव के कारण अनेक महिलाएँ विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो जाती हैं और उनमें कई का अकाल निधन हो जाता है।

(iv) **आर्थिक परनिर्भरता की समस्या** (Problem of Economic Dependence)– आज भी देश में अधिकांश महिलाएँ अपने निर्वाह के लिए पुरुषों पर आश्रित रहती हैं। परंपरा से कई श्रेणियों की महिलाओं पर घर से बाहर जाकर काम करने पर सामाजिक अकुंश लगे होते है। खेती तथा कुछ व्यवसायों को छोड़कर, अन्य आर्थिक क्रियाकलाप में उनकी संख्या बहुत ही कम है 1981 और 1991 की जनगणनाओं के अनुसार, भारत में कार्यरत जनसंख्या में स्त्रियों का अनुपात केवल क्रमशः 14.0 और 15.9 प्रतिशत था। 2001 की जनगणना के अनुसार देश के कुल कर्मियों में स्त्री-कर्मियों का अनुपात लगभग 31 प्रतिशत था जिनमें बड़ी संख्या में स्त्रियाँ अल्पकालिक कर्मी थी। इनकी कार्य सहभागिता-दर मात्र 25.6 प्रतिशत थी। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के 55वें चक्र (1999-2000) के सर्वेक्षण की परिणाम-रिपोर्ट के

अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्रियों की श्रम-शक्ति सहभागिता-दर प्रति हजार 299 थी, जो 2004 के 58वें चक्र के सर्वेक्षण के अनुसार घटकर 281 हो गई। ग्रामीण क्षेत्रों में 85 प्रतिशत स्त्रियाँ मुख्यतः कृषि-संबंधे क्रियाकलाप तथा पशुपालन में लगी थी जिनमें उनकी मजदूरी-दरें भी निम्न रही हैं। संगठित क्षेत्र में कुल कामगारों में स्त्री कामगारों का अनुपात 2001 में 17.9 तथा 2002 में 18.1 प्रतिशत था।

उद्योगों में महिला-श्रमिकों को प्रसूति की अवस्था की छुट्टी के अतिरिक्त प्रसूति-हितलाभ देने की आवश्यकता पड़ती है। साथ ही, उनके बच्चों की देखभाल के लिए शिशुगृहों की व्यवस्था करनी पड़ती है। कारखानों में महिलाओं के रात्रि में तथा खतरनाक मशीनों पर नियोजन-संबंधी प्रतिबंध भी लगे होते हैं। इन कारणों से कई नियोजक अपने प्रतिष्ठानों में महिलाओं को नियोजित करना नहीं चाहते। समुचित शिक्षा और प्रशिक्षण के अभाव में महिलाओं को कई प्रकार के कार्य उपलब्ध नहीं हो पाते। व्यवहार में, लड़कियाँ पैतृक संपत्ति के अधिकार से भी वंचित रहती आईं हैं। इन कारणों से अधिकांश महिलाओं को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता है।

2. निराश्रित एवं परित्यक्त महिलाओं की समस्याएँ (Problem of Destitute and Abandoned Women)—

भारत में निराश्रित एवं परित्यक्त महिलाओं की संख्या भी बहुत अधिक है। संयुक्त परिवार प्रथा के टूटने से विधवाओं को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। विधवा-विवाह को कानून के अंतर्गत मान्यता दी गई है, लेकिन व्यवहार में विधवाओं के पुनर्विवाह को सामान्य सामाजिक स्वीकृति नहीं मिल पाई है। अनेक स्त्रियाँ पतियों द्वारा त्याग भी दी जाती हैं। ये अपने दांपत्य अधिकारों के लिए न्यायालय की शरण में भी नहीं जा पाती और जीवनभर कष्ट सहती रहती हैं। कई स्त्रियों को अवैध यौन-संबंध या प्रसूति तथा दहेज के कारण घर से निकाल दिया जाता है। सांप्रदायिक झगड़ों, महामारी, प्राकृतिक प्रकोपों, आतंकवाद आदि के कारण कई महिलाएँ आश्रयहीन हो जाती है। इनमें कुछ को तो अपने निर्वाह के लिए काम मिल पाता है, लेकिन कई को तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ते हैं। देश में तलाकों की संख्या में भी निरंतर वृद्धि होती रही है। तलाकशुदा महिलाओं को भी विभिन्न प्रकार की आर्थिक और सामजिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। निराश्रित और परित्यक्त महिलाओं के लिए जीविकोपार्जन, पुनर्वास, प्रशिक्षण, संस्थागत देखभाल, सामाजिक समायोजन तथा आत्मनिर्भरता आदि क्षेत्रों में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

3. कामकाजी महिलाओं की समस्याएँ (Problem of working Women)—

देश में महिलाएँ खेतों और कुटीर-उद्योगों में सदियों से काम करती आई हैं, लेकिन औद्योगिकीकरण के प्रसार से उन्हें कारखानों, बागानों, खानों अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों,

कार्यालयों तथा कई प्रकार की सेवाओं में रोजगार के प्रचुर अवसर मिले हैं।

कामकाजी महिलाओं की समस्याएँ निम्नलिखित हैं -

(i) **दोहरे काम की समस्या** (Problem of Dual work) - कामकाजी महिलाओं को अपनी नौकरी से सम्बन्धित कार्यों के अतिरिक्त घर के भी कामकाज देखने पड़ते हैं। इस प्रकार, उन पर काम का बड़ा बोझा होता है। इसका उनके स्वास्थ्य और मानसिक संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(ii) **निम्न मजदूरी की समस्या** (Problem of Low Wages)- महिलाओं को केवल कुछ चुने हुए कार्यों में ही रोजगार के अवसर मिलते हैं :- जैसे- शिक्षा, परिचर्या, खेती, बागवानी, हस्तशिल्प तथा कार्यालयों से संबंद्ध कार्य। इन सीमित व्यवसायों में रोजगार की इच्छुक महिलाओं की संख्या अधिक होती है। वे नौकरी के लिए आपस में प्रतिस्पर्द्धा करने लगती है। साथ ही, अधिकांश कार्यों में उनकी उत्पादकता पुरुषों की तुलना में कम होती है। कई नियोजक प्रसूति की स्थिति में छुट्टी तथा प्रसूति-हितलाभ, शिशुगृह की स्थापना की अनिवार्यता तथा महिलाओं के रात्रिकार्य और खतरनाक कामों पर कानूनी प्रतिबंधों के कारण महिलाओं को नियोजित नहीं करना चाहते। इन कारणों से महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी मिलती है। राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त एवं नीति संस्थान के एक अध्ययन में दिखाया गया है कि पुरुषों की औसत मजदूरी की तुलना में स्त्रियों की औसत मजदूरी शहरी क्षेत्रों में 80 प्रतिशत तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 60 प्रतिशत ही रही है।

(iii) **कार्य की कठिन दशाओं की समस्या** (Problem of Difficult Working Conditions)- कई प्रकार के नियोजनों में, विशेषकर शारीरिक कार्यों वाले नियोजनों में, महिलाओं को उनके सामर्थ्य के अनुपात में अधिक कठिन कामों पर लगातार कई घंटों तक काम करना पड़ता है। कई कारखानों में उन्हें खतरनाक मशीनों या प्रक्रियाओं में भी नियोजित किया जाता है। कार्य-स्थल पर उन्हें विश्राम के अभाव, अपर्याप्त प्रकाश और संवातन, असुरक्षा व्यावसायिक रोग, दुर्घटना आदि समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(iv) **प्रसूति से उत्पन्न समस्याएँ** (Problem Resulting from Maternity)- कामकाजी महिलाओं को प्रसूति की स्थिति में कुछ विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें प्रसूति की अवधि में छुट्टी, वेतन या प्रसूति-हितलाभ की आवश्यकता होती है। कई नियोजक प्रसूति की अवस्था में महिला-श्रमिकों को काम से हटा देते है और उन्हें इस अवधि में मजदूरी भी नहीं देते। कई प्रतिष्ठानों में उन्हें गर्भावस्था में किसी प्रकार की चिकित्सा-सुविधा भी नहीं मिल पाती।

(v) **आवास और यातायात की समस्याएँ** (Problems of Accommodation and

Transport)- कई महिलाओं को घर से दूर अन्य स्थानों में जाकर काम करना पड़ता है। बड़े-बड़े नगरों में जाकर काम करने वाली महिलाओं को आवास की कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें कार्य-स्थल पर आने-जाने में यातायात की कठिनाइयाँ भी झेलनी पड़ती है।

(vi) **मनोरंजन की समस्या** (Problem of Recreation)- कामकाजी महिलाओं को मनोरंजन के लिए प्रचुर अवसर नहीं मिलते। वे घर और बाहर के कामों के बोझ में दबी रहती हैं। अत्यधिक काम और मनोरंजन के अभाव का उनके स्वास्थ्य और स्वभाव पर बुरा प्रभाव पड़ता हैं।

(vii) **सामाजिक सुरक्षा की समस्या** (Problem of Social Security)- पुरुष-कर्मचारियों की तरह महिला कर्मचारियों को भी दुर्घटना, बीमारी, वृद्धावस्था तथा बेरोजगारी आदि खतरों का सामना करना पड़ता है। इन स्थितियों में उन्हें आर्थिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है। इनके अतिरिक्त, महिला-कर्मचारियों को प्रसूति की अवस्था में अवकाश, प्रसूति-हितलाभ तथा चिकित्सा-सेवा की भी जरूरत होती है।

(viii) **अन्य समस्याएँ** (Other Problem)- कामकाजी महिलाओं की कुछ अन्य समस्याएँ हैं- आर्थिक सुरक्षा, नौकरी की सुरक्षा, पारिवारिक कार्यों में सुधार तथा कार्य-स्थल पर समायोजन की समस्याएँ।

4. अनैतिक व्यापार के शिकार और वेश्याओं की समस्याएँ (Problem of Fallen Women and prostitutes) –

भारत में कई लड़कियाँ तथा स्त्रियाँ अनैतिक व्यापार के ग्रहजाल में फँस जाती है। पहले, वेश्या-व्यवसाय प्रत्यक्ष रूप से फौज की छावनियों के समीप के नगरों, बड़े-बड़े शहरों तथा औद्योगिक केंद्रों में चलाया जाता था। इनमें कई स्त्रियों को अपना शरीर बेचकर धन कमाने के लिए बाध्य किया जाता था। स्वतंत्रता के बाद देश में वेश्वावृत्ति रोकने के लिए कई कदम उठाए गए। भारतीय संविधान में इस पेशे पर प्रतिबंध लगाने के निर्देश दिए गए हैं। अनैतिक व्यापार-निवारण अधिनियमों 1956, 2006 के अधीन प्रत्यक्ष रूप से चलाए जाने वाले वेश्यालयों पर प्रतिबंध लगाया गया तथा वेश्यावृति को प्रोत्साहित करने वाले कई प्रकार के व्यवहारों और आचरण पर अंकुश लगाए गए, लेकिन वेश्वावृत्ति पर अभी तक कानूनी रोक नहीं लगाई गई है। देश में आज भी अनेक होटल, ब्यूटी पार्लर, बार-हाउसेज तथा निजी मकान वेश्या-व्यवसाय के केंद्र बने हुए हैं। कई स्त्रियाँ अपने घर में ही यह पेशा चलाने लगती हैं।

अनैतिक पतन की शिकार स्त्रियों को कई प्रकार की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। समाज ऐसी स्त्रियों को स्वीकार नहीं करता। कोई भी उनसे विवाह करना नहीं चाहता। उनके बच्चों का पालन-पोषण भी एक बड़ी समस्या बन गई है। उनके अनैतिक यौन-संबंध से परिवार और समुदाय का वातावरण दूषित हो जाता है। उन्हें तरह-तरह

से शोषित किया जाता है। उम्र ढलने के बाद ऐसी स्त्रियों की दशा अत्यंत ही दयनीय हो जाती है। उनमें कुछ स्त्रियाँ कम उम्र की लड़कियाँ या स्त्रियों को जाल में फँसाकर अपनी आमदनी का जरिया निकाल लेती हैं। लेकिन कई निर्धनता और अभाव में जीवन व्यतीत करती हैं। नैतिक पतन से ग्रस्त कई स्त्रियाँ कुछ व्यवसाय-धंधा सीखकर नया जीवन शुरू करना चाहती हैं, लेकिन ऐसे अवसर कुछ को ही मिल पाते हैं। उनमें कई सरकार तथा अन्य अभिकरणों द्वारा चलाई जाने वाली संस्थाओं में रहना चाहती हैं, परंतु देश में इस प्रकार की संस्थाओं की कमी है। नैतिक पतन के कारण कई स्त्रियाँ एड्स तथा यौन-रोगों से ग्रस्त हो जाती हैं, जिसका समुदाय पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है।

III- भारत में महिला कल्याण के लिए उठाए गए कदम (Women's Welfare Measures in India)

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश में महिलाओं के कल्याण के लिए सरकार द्वारा कई महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। देश की स्वतंत्रता के पूर्व भी महिला कल्याण के क्षेत्र में कई ऐच्छिक संगठनों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भारतीय संविधान में महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए विशेष उपबंध सम्मिलित किए गए हैं। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में भी महिला-कल्याण पर जोर दिया गया है। महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए विशेष सामाजिक विधान भी बनाए गए हैं। देश में महिलाओं के कल्याण के लिए उठाए गए कदमों की विवेचना आगे की जाती है।

I. सरकार की भूमिका (Role of the Government)

(i). संविधान के उपबंध (Provisions of the Constitution)- भारतीय संविधान में महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण उपबंध सम्मिलित किए गए हैं। नागरिकों को उपलब्ध मौलिक अधिकार पुरुषों और स्त्रियों के साथ समान रूप से लागू होते हैं। 'स्वतंत्रता', 'समानता', सरकारी सेवाओं में समान अवसर तथा कई अन्य अधिकारों की उपलब्धि में लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव करने की मनाही की गई है। समानता के अधिकार से संबद्ध संविधान के अनुच्छेद 15 के अधीन नागरिकों के बीच लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता, लेकिन उसी अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य महिलाओं और बच्चों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है। शोषण के विरुद्ध मौलिक अधिकार (अनुच्छेद-12) के अंतर्गत मनुष्यों में अनैतिक व्यापार पर प्रतिबंध लगाया गया है। राज्यनीति के निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि राज्य पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धान्त को लागू करेगा। सरकार इस बात का भी प्रयास करेगी की स्त्री या पुरूष श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का दुरूपयोग न हो। इन्हीं सिद्धांतों के अन्तर्गत कहा गया है कि सरकार ऐसी नीति का निर्देश करेगी, जो सभी स्त्री-पुरुषों को जीवनयापन के लिए यथेष्ट

तथा समान अवसर दे तथा अपनी आर्थिक क्षमता और विकास की सीमाओं के अनुसार सबको काम और शिक्षा पाने का समान अधिकार दिलाए और बेरोजगारी, बुढ़ापा, बीमारी और अपाहिजपन या आवश्यकता की अल्पपूर्ति के अन्य मामलों में सबको वित्तीय सहायता दे। अनुच्छेद 42 में सरकार को महिला-श्रमिकों के लिए प्रसूति-सहायता उपलब्ध कराने के निर्देश दिए गए हैं। 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के संबंद्ध संविधान के उपबंध लड़कों और लड़कियों के साथ समान रूप में लागू होते हैं। संविधान में लड़कों और लड़कियों की बाल्यावस्था या युवावस्था को शोषण तथा नैतिक एवं भौतिक परित्याग से रक्षित रखने के भी निर्देश दिए गए हैं।

(ii) **परिशोधित 20-सूत्री कार्यक्रम में महिला-कल्याण** (Women's Welfare in Revised 20-Point Programme)- 1980 के परिशोधित 20-सूत्री कार्यक्रम के अधीन महिला-कल्याण से संबद्ध उपबंध है :- (i) परिवार-नियोजन को ऐच्छिक आधार पर जन-आंदोलन के रूप में प्रोत्साहित करना, (ii) महिला-कल्याण तथा गर्भवती महिलाओं एवं दूध पिलाने वाली माताओं के पोषाहार-कार्यक्रमों की गति को, विशेषकर जनजातीय, पहाड़ी एवं पिछड़े क्षेत्रों में तेज करना, तथा (iii) 6-14 वर्ष आयुवर्ग के बच्चों में विशेषकर लड़कियों में, प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करना तथा प्रौढ़-निरक्षरता को दूर करने में ऐच्छिक संगठनों का सहयोग लेना।

(iii). **पंचवर्षीय योजनाओं में विशेष कार्यक्रम** (Special Programmes in Five Year Plan)- पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत कई कार्यक्रमों, जैसे- ग्रामीण विकास, पोषाहार, स्वास्थ्य, शिक्षा एवं साक्षरता, परिवार-कल्याण, प्रशिक्षण, निर्धनता तथा बेरोजगारी के उन्मूलन और सामाजिक सुरक्षा आदि में महिलाओं के हितों पर विशेष ध्यान दिया गया है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं तथा उनके अंतर्गत महिलाओं के लिए उठाए जाने वाले कदमों में 1970 के दशक में 'कल्याण', 1980 के दशक में 'विकास' तथा 1990 के बाद से 'सशक्तीकरण' पर जोर दिया गया।

(iv). **शिक्षा और साक्षरता से सम्बद्ध कार्यक्रम** (Programmes Reating to Education and Literacy) - लड़कियों के बीच शिक्षा के प्रसार के लिए सरकार द्वारा कई विशेष सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई हैं। इन विशेष सुविधाओं में लड़कियों के लिए विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की स्थापना, व्यावसायिक, तकनीकी तथा उच्च शिक्षावाली संस्थाओं में स्थानों का आरक्षण, नामांकन के लिए अंकों में छूट, छात्रावासों का निर्माण, छात्रवृत्तियों की व्यवस्था, शिक्षिकाओं का प्रशिक्षण, यातायात की विशेष सुविधाएँ आदि सम्मिलित हैं। इन सुविधाओं के फलस्वरूप लड़कियों की शिक्षा में व्यापाक सुधार हुआ है। 1950-51 में 6-11 आयुवर्ग की लड़कियों में केवल 53.8 लाख लड़कियाँ विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त कर रही थीं। यह संख्या 1984-85 में बढ़कर 341.7 लाख हो गई। इसी तरह, 1950-51 में 11-14 आयुवर्ग की केवल 5.3 लाख

लड़कियों के नाम विद्यालयों में अंकित थे, लेकिन 1984-85 में यह संख्या बढ़कर 92.7 लाख हो गई। 1995-96 में एक करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में 6-11 वर्ष आयुवर्ग की लड़कियों में 93 प्रतिशत तथा 11-14 वर्ष आयुवर्ग की लड़कियों में 55 प्रतिशत के नाम विद्यालयों में अंकित थे। उच्च, व्यावसायिक तथा प्रौद्योगिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करने वाली लड़कियों या स्त्रियों की संख्या में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

स्त्रियों के बीच साक्षरता के प्रसार के लिए भी महत्वाकांक्षी कार्यक्रम चलाए गए हैं। स्त्रियों के बीच निरक्षरता उन्मूलन नए 20-सूत्री कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण अंग है। 1951 में देश में केवल 8 प्रतिशत स्त्रियाँ ही साक्षर थीं। वह 1981 में बढ़कर 25 प्रतिशत, 1991 में लगभग 40 प्रतिशत तथा 2001 में लगभग 54 प्रतिशत हो गया।

(v) **स्वास्थ्य, पोषाहार एवं परिवार-कल्याण-कार्यक्रम** (Health, Nutrition and Family Welfare Programmes)- देश में स्वास्थ्य-संबंधी सेवाओं से पुरुष और महिलाएँ समान रूप से लाभान्वित होती हैं, लेकिन महिलाओं के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अलग से भी विशेष कार्यक्रम चलाए गए हैं, जैसे- सामान्य अस्पतालों में प्रसूति एवं परिवार-नियोजन-खंडों की स्थापना, अलग से प्रसूति-केंद्रों की स्थापना, परिवार-नियोजन के लिए आवश्यक सामग्री का वितरण, बंध्याकरण की सुविधाएँ तथा पोषाहार का वितरण। महिलाओं के स्वास्थ्य में सुधार लाने के लिए परामर्श-सेवाओं स्वास्थ्य-शिक्षा तथा परिचारिकाओं एवं स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की भी व्यापक व्यवस्था की गई है। अनुमान लगाया जाता है कि परिवार-कल्याण-कार्यक्रमों में अंतर्गत 1994 तक 15-44 वर्ष आयुवर्ग के 15.5 करोड़ दंपतियों में लगभग 46 प्रतिशत ने किसी-न किसी रूप में परिवार-नियोजन उपायों को प्रयोग में लाया, जिसमें लगभग 17 करोड़ जन्मों को रोका गया। वर्ष 2003-04 के दौरान परिवार-नियोजन के लिए अपनाए गए तरीकों से संबंधित आँकड़े थे- 48.7 लाख नसबंदियाँ, 60.8 लाख आई.यू.डी. प्रवेशन, 178.3 लाख निरोध-उपयोगकर्ता तथा 87.5 लाख गर्भनिरोध गोलियाँ खाने वाली महिलाएँ।

(vi). **समेकित बाल विकास सेवाएँ** (Intergrated Child Development Services)- जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है, इन सेवाओं के अंतर्गत गर्भवती महिलाओं के लिए पूरक पोषाहार तथा टिटनेस से बचाव के लिए टीकाकरण और शिशुवती महिलाओं के लिए पूरक पोषाहार के कार्यक्रम व्यापक रूप से चलाए जाते हैं। इन सेवाओं के अंतर्गत किशोरियों के लिए भी विशेष स्वास्थ्य-शिक्षा, साक्षरता, मनोरंजन और कौशल-विकास के कार्यक्रमों को सम्मिलित किया गया है। इन सेवाओं का संचालन मुख्यतः आँगनबाड़ियों के जरिए होती है। दिसंबर, 2004 के अंत में लगभग 7 लाख आँगनबाड़ियों के जरिए 75 लाख में अधिक गर्भवती तथा स्तनपान करानेवाली माताएँ लाभान्वित हो रही थीं।

(vii). **महिलाओं का सामाजिक एवं आर्थिक सशक्तीकरण** (Social and Economic Empowerment of Women)- 1990 के दशक से महिलाओं के सशक्तीकरण पर विशेष

जोर दिया जाने लगा है। इसके लिए भारत सरकार का 'महिला एवं बाल विकास' विभाग विशेष कार्यक्रम चलाता आ रहा है। इनमें (i) ग्रामीण महिला विकास और शक्तिसंपन्नता (स्व-शक्ति) परियोजना (Rural Women's Development and Empowerment (Swa-Shakti) Project) तथा (ii) इंदिरा महिला योजना (Indira Mahila Yojna) महत्वपूर्ण हैं।

(क) ग्रामीण महिला विकास और शक्तिसंपन्नता (स्व-शक्ति) परियोजना- यह परियोजना अक्टूबर 1998 में 5 वर्षों के लिए देश के चुने हुए राज्यों में चलाई गई। इस योजना के उद्देश्यों में मुख्य हैं। (i) 7,400 और 12,000 के बीच आत्मनिर्भर महिलाओं के स्व-सहायता समूहों का गठन करना, (ii) प्रत्येक स्व-सहायता समूह में 15-20 की सदस्यता होगी, जो संसाधनों का नियंत्रण तथा पहुँच के माध्यम से इन महिलाओं के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने और उन्हें शक्तिसंपन्न बनाने में सहायता प्रदान करेंगी, (iii) आयोत्पादक कार्यकलाप के लिए महिलाओं की ऋण-सुविधाओं तक सतत पहुँच सुनिश्चित करने के लिए स्व-सहायता समूहों तथा दाता संस्थाओं के बीच संपर्क विकसित करना, तथा (iv) निर्धन महिलाओं को आयोत्पादक कार्यकलाप में शामिल करके उनका व्यय पर नियंत्रण बढ़ाना। 'स्व-शक्ति' परियोजना विश्व बैंक तथा अंतराष्ट्रीय कृषि विकास कोष के सहयोग से संचालित की जाती है।

(ख) इंदिरा महिला योजना- इंदिरा महिला योजना केंद्र-स्तरीय परियोजना है, जो अगस्त 1995 में शुरू की गई। इसका मुख्य उद्देश्य महिलाओं का संपूर्ण विकास करना तथा उन्हें सशक्त बनाना है जिससे वे (i) परिवार, समाज तथा सरकार से अपने अधिकारों की माँग कर सकें, (ii) साधनों, सामाजिक तथा राजनैतिक संसाधनों तक अपनी पहुँच बनाएँ और उन पर नियंत्रण रख सकें (iii) पूर्ण रूप से जागरूक हों और कौशल में प्रवीण हों तथा (iv) प्रोत्साहन और संपर्क के माध्यम से जनचेतना-संबंधी विषयों का प्रकाश डालने में समर्थ हों।

इस योजना के अंतर्गत प्रत्येक आँगनबाड़ी-क्षेत्र में छोटे-छोटे महिला-समूह बनाए जाते हैं। ये समूह आँगनबाड़ी स्तर पर 'इंदिरा-महिला-केंद्र' बनाते हैं तथा इनके प्रतिनिधि प्रखंड-स्तर पर 'इंदिरा-महिला प्रखंड-समिति' बनाते है। ग्राम-स्तर पर 'इंदिरा-महिला' केन्द्रों के कार्यक्षेत्रों में मुख्य हैं - (i) समुदाय तथा सरकार द्वारा अपेक्षित उपायों के क्षेत्रों का पता लगाना (ii) ग्रामीण महिलाओं की आवश्यकताओं की पहचान करना और उनकी पूर्ति के लिए सरकारी योजनाओं का पता लगाना, (iii) जन-जागृति कार्यक्रम का संचालन करना, तथा (iv) समूहों और व्यक्तिगत सदस्यों के लिए आर्थिक परियोजनाओं का पता लगाना। इंदिरा-महिला-केंद्र पंजीकृत निकाय होते हैं।

ग्रामीण महिलाओं में बचत की आदत डालने के उद्देश्य से 1983 में आरंभ की गई महिला समृद्धि योजना को इंदिरा महिला योजना में विलय कर दिया गया है। इस योजना के साथ महिलाओं के लिए प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम हेतु सहायता (ICDS) तथा राष्ट्रीय

महिला कोष को जोड़ने के लिए भी कदम उठाए गए हैं।

(ग) स्वयंसिद्धा– 'स्वयंसिद्धा' महिलाओं के विकास और सशक्तीकरण की समन्वित योजना है। यह महिलाओं को स्व-सहायता समूहों में संगठित करने पर आधारित है और इसमें सेवाओं के समन्वय तथा अल्प ऋण उपलब्ध कराने और छोटे उपक्रमों को बढ़ावा देने पर जोर दिया जाता है। इस योजना का दीर्घकालीन उद्देश्य महिलाओं का बहुमुखी विकास, विशेषकर उनका सामाजिक और आर्थिक विकास करना है। इस कार्यक्रम के विशिष्ट उद्देश्य हैं –

(i) आत्मनिर्भर महिलाओं के स्व-सहायता समूहों का गठन, (ii) स्व-सहायता समूहों के सदस्यों में महिलाओं की स्थिति, स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा, सफाई तथा स्वच्छता, कानूनी अधिकार, आर्थिक उत्थान और अन्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक विषयों के बारे में विश्वास और जागरूकता पैदा करना, (iii) ग्रामीण महिलाओं में संस्थागत बचत की आदत और आर्थिक संसाधनों पर उनके नियंत्रण को बढ़ावा देना, (iv) महिलाओं के अल्प ऋण में वृद्धि, (v) स्थानीय नियोजन में महिलाओं को शामिल करना, तथा (vi) महिला और बाल विकास तथा अन्य विभागों की सेवाओं का अभिसरण।

दिसंबर, 2004 के अंत तक इस कार्यक्रम के अंतर्गत 650 ब्लॉकों में लगभग 60 हजार स्व-सहायता समूहों का गठन हो चुका था।

(viii). **रोजगार, प्रशिक्षण एवं शिक्षा कार्यक्रम** (Employment, Training and Education Programme)– महिलाओं के लिए केन्द्र सरकार द्वारा चलाए जाने वाले विशेष कार्यक्रमों में मुख्य हैं– (i) दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम, (ii) महिलाओं के लिए प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम हेतु सहायता (STEP), तथा (iii) रोजगार-सह-आयोत्पादन-सह-उत्पादन एकक (NORAD) तथा स्वावलंबन।

(क) दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम (Distance Education Programme)– इस कार्यक्रम के अंतर्गत परियोजनाओं से संबंधित ग्राम-स्तरीय कार्यान्वयनकर्ताओं, उनके पर्यवेक्षकों तथा जिला-स्तरीय कार्यकर्ताओं में से बड़ी संख्या में प्रशिक्षणार्थियों के लिए इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (IGNOU) द्वारा प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम आरंभ किया गया है। इस श्रेणी के प्रशिक्षणार्थियों से अपने-अपने क्षेत्रों में दलों के गठन और उन्हें जारी रखने तथा प्रभावी होने की आशा की जाती है।

(ख) महिलाओं के लिए प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम हेतु सहायता (Support to Training and Employment Programme (STEP) For Women)– यह केंद्र-प्रायोजित योजना 1986 में शुरू की गई। इस कार्यकम का उद्धेश्य परंपरागत क्षेत्रों में महिलाओं के कौशल को बढ़ावा देना तथा परियोजना-आधार पर रोजगार उपलब्ध कराकर उनकी स्थिति में सुधार

लाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें उपयुक्त समूहों में संगठित किया जाता है, तथा विपणन-संबंधी संपर्क करने, सेवाएं तथा ऋण उपलब्ध कराने में सहायता दी जाती है। इस योजना में रोजगार के परंपरागत क्षेत्रों में मुख्य हैं :- कृषि, पशुपालन, डेयरी व्यवसाय, मछली-पालन, हथकरधा, हस्तशिल्प, खादी और ग्राम-उद्योग तथा रेशमकीट- पालन। यह योजना सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों, राज्य निगमों, जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों, सहकारिताओं, परिसंघों, तथा पंजीकृत स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से लागू की जाती है। परियोजना-लागत का 90 प्रतिशत भार केंद्र सरकार तथा 10 प्रतिशत भार कार्यान्वयन अभिकरण वहन करते हैं।

(ग) रोजगार-सह-आयोत्पादन सह-उत्पादन एकक (NORAD) **तथा स्वावलंबन**- नोराड कार्यक्रम 1982-83 में सारे देश में लागू किया था बाद में इसका नया नाम 'स्वावलंबन' रखा। इस कार्यक्रम का उद्देश्य महिलाओं को परंपरागत तथा गैर-पंरपरागत व्यवसायों में प्रशिक्षण और कौशल उपलब्ध कराकर उन्हें स्थायी आधार पर रोजगार या स्वरोजगार प्राप्त करने में सहायता देना है। इस योजना के आधीन लक्ष्य- समूहों में निर्धन तथा जरूरतमंद तथा समाज के दुर्बल वर्गों की महिलाएं शामिल की जाती हैं। इस योजना के अंतर्गत महिला विकास निगमों, सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों, स्वायत्त संगठनों, न्यासों और पंजीकृत स्वैच्छिक संगठनों को वित्तीय सहायता दी जाती हैं। प्रशिक्षण दिए जाने वाले व्यवसायों में शामिल हैं- कंप्यूटर प्रोग्रामिंग, इलेक्ट्रॉनिक्स, घड़ीसाजी, रेडियो और टेलीविजन की मरम्मत, वस्त्रों की सिलाई, हैंडलूम का कपड़ा बुनना, सामुदायिक स्वास्थ्य-कार्य तथा काशीदाकारी।

(ix). **बालिकाओं के प्रति व्यवहार में परिवर्तन** (Attitudinal change towards the Girl Child)- बालिकाओं की समग्र श्रेणिओं को ऊँचा उठाने तथा उनके प्रति परिवार तथा समुदाय के दृष्टिकोण में सकारात्मक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से 2 अक्टूबर, 1997 को 'बालिका समृद्धि योजना' आरंभ की गई। इस योजना के अंतर्गत गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने वाले परिवार में 15 अगस्त 1997 को या उसके बाद जन्म लेने वाली दो बालिकाओं के लिए उनकी माताओं को प्रत्येक बालिका के लिए 500रू0 का अनुदान दिया जाता है। इस राशि को बालिका के नाम किसी बैंक या डाकखाने में जमा कराया जाता है इसके अतिरिक्त, बालिका को उसके द्वारा पूरे किए गए प्रत्येक कक्षा के सफलतापूर्वक अध्ययन के लिए कक्षा 1 से 10 तक 300 रु से 1,000 रु0 की सीमा तक छात्रवृति देने की व्यवस्था की गई है। इस राशि को भी उपर्युक्त खाते में जमा कराया जाता है तथा जमा की गई राशि का संचयी मूल्य 18 वर्ष की आयु तक अविवाहित रहने पर बालिका को देय होगा। इस राशि का उपयोग 'भाग्यश्री' बालिका-कल्याण बीमा योजना' के अंतर्गत बालिका के नाम बीमा पॉलिसी तथा पाठ्यपुस्तकों या उसकी वर्दी को खरीदने के लिए भी किया जा सकता है।

(x). **स्वाधार** (Swadhar)- केन्द्रीय क्षेत्र की यह योजना 2001-02 में शुरू की गई। यह योजना कठिन परिस्थितियों में पड़ने वाली महिलाओं के लाभ के लिये है। योजना में लाभ का

विवरण भी दिया गया है। इसमें मुख्य है- दीन-हीन विधवाएँ जिन्हें धार्मिक स्थानों पर बेसहारा छोड़ दिया जाता है, जेल से रिहा की गई महिला कैदी, प्राकृतिक आपदा की शिकार बेघर और बेसहारा महिलाएँ, वेश्यालयों या अन्य स्थानों से भागी या मुक्त कराई गई महिलाएँ और लड़कियाँ या यौन-शोषण की शिकार महिलाएँ और लड़कियाँ, आतंकवाद की शिकार महिलाएँ तथा मानसिक रूप से विक्षिप्त महिलाएँ। योजना के अंतर्गत उपलब्ध कराई जाने वाली सेवाओं में भोजन, कपड़ा, आवास, स्वास्थ्य-देखभाल तथा परामर्श-व्यवस्था शामिल है। इनके अतिरिक्त, स्वाधार में शिक्षा के माध्यम से उनके सामाजिक और आर्थिक पुनर्वास, जागरुकता पैदा करने, कौशल बढ़ाने और व्यवहार-संबंधी प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है। यह योजना राज्यों में महिला और बाल विकास विभागों, समाज-कल्याण बोर्डों, महिला विकास निगमों, शहरी निकायों आदि के माध्यम से कार्यान्वित की जाती है।

(xi). **समर्थन सेवाएँ** (Support Services)- इन सेवाओं में (i) कामकाजी महिला होस्टल, (ii) महिलाओं और लड़कियों के लिए अल्पावास-गृह तथा (iii) महिला शिक्षा के लिए संक्षिप्त पाठ्यक्रम प्रमुख हैं।

(i) **कामकाजी महिला होस्टल** - भारत सरकार के महिला एवं बाल विकास विभाग द्वारा दिवस-देखभाल-केंद्रों के साथ-साथ कामकाजी महिलाओं हेतु होस्टल भवनों के निर्माण और विस्तार की योजना के अंतर्गत महिलाओं के कल्याण तथा उनकी शिक्षा के क्षेत्र में संलग्न स्वैच्छिक संगठनों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों, महिला विकास निगमों, शैक्षणिक संस्थाओं, स्थानीय निकायों तथा सहकारी संस्थाओं को कामकाजी महिलाओं के लिए होस्टलों के निर्माण के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। इन योजना के लाभार्थियों में मुख्य हैं - एकल कामकाजी महिलायें, विधवाएँ तथा तलाकशुदा महिलाएँ।

(ii) **महिलाओं और लड़कियों के लिए अल्पावास-गृह** - इस योजना का उद्देश्य पारिवारिक विवादों, सामाजिक बहिष्कार, नैतिक पतन के खतरे के कारण सामाजिक, आर्थिक और संवेगात्मक परेशानियों से ग्रस्त महिलाओं और लड़कियों को संरक्षा प्रदान करना तथा उनका पुनर्वास करना है। अल्पावास-गृहों में चिकित्सकीय देखभाल, मनोवैज्ञानिक उपचार, केसवर्क-सेवाएँ, व्यावसायिक चिकित्सा, शैक्षिक-सह-व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा मनोरंजन सेवाएँ उपलब्ध कराई जाती है। 1999 में इस योजना के कार्यान्वयन का दायित्व केंद्रीय समाज-कल्याण बोर्ड को सौंप दिया गया।

(iii) **महिला शिक्षा के लिए संक्षिप्त पाठ्यक्रम** - इस कार्यक्रम का संचालन केंद्रीय समाज-कल्याण बोर्ड द्वारा होता है। इसका उद्देश्य शिक्षा तथा उचित कौशल उपलब्ध कराकर महिलाओं को सामाजिक तथा धार्मिक आधिकारिता उपलब्ध कराना है। यह कार्यक्रम 15 वर्ष तथा इससे अधिक उम्र की महिलाओं के लिए है। यह मुख्यतः ऐसी महिलाओं के लिए है जो विद्यालय-शिक्षा बीच में ही छोड़ दी है या अनुत्तीर्ण हो जाती हैं।

(xii) महिलाओं के अधिकार और कानून (Women's Right and the Law)

इस क्षेत्र में सरकार द्वारा उठाए गए कदमों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है -

(क) महिलाओं पर अत्याचारों की रोकथाम के लिए शिक्षा-कार्य (Education Work for Prevention of Atrocities on Women)- यह कार्यक्रम 1982 में शुरू किया गया था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत महिलाओं पर अत्याचारों की रोकथाम, उनके उत्थान तथा उनकी स्थिति में सुधार लाने के लिए प्रचार, अध्ययन आदि हेतु स्वैच्छिक संगठनों को वित्तीय सहायता दी जाती है। योजना के अधीन महिलाओं पर हिंसा, अत्याचारों, उत्पीड़न के विशेष क्षेत्रों से संबंधित पैम्फलेट्स, पुस्तिकाओं, पोस्टरों, नारों, सर्वेक्षणों, अध्ययन तथा प्रचार सामग्रियों जैसे शिक्षात्मक कार्यों के लिए वित्तीय सहायता देने की व्यवस्था है। इस कार्यक्रम का संचालन मुख्यतः केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड द्वारा होता है।

(ख) राष्ट्रीय महिला अयोग (National Commission for Women)- राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990 के अधीन एक सांविधिक निकाय के रूप में किया गया। आयोग का मुख्य उद्देश्य महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करना। आयोग द्वारा चलाई जाने वाली गतिविधियों में मुख्य है :- महिलाओं से संबंधित कानूनों की समीक्षा करना, अत्याचार से संबंधित व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप करना तथा महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए उपचारात्मक कार्यवाही करना। आयोग महिलाओं को शीघ्र न्याय सुनिश्चित करने के लिए कानूनों और विधानों में संशोधन के लिए कदम उठाता है। आयोग द्वारा उठाए जाने वाले विशिष्ट कदमों में शामिल है :- (i) गैर-सरकारी संगठनों के माध्यम से पारिवारिक महिला लोक अदालतें आयोजित करना, (ii) कानूनी जागृति के लिए कार्यक्रम चलाना, (iii) महिलाओं के लाभार्थ सुरक्षा उपायों तथा कानूनों के प्रभावी कार्यान्वयन हेतु आरक्षी, गैर-सरकारी संगठनों तथा अधिकारियों के लिए संचेतना कार्यक्रम चलाना, (iv) महिला कैदियों को रिहा करना तथा उनके पुनर्वास की व्यवस्था करना, (v) वेश्याओं तथा उनके बच्चों के पुनर्वास के लिए कदम उठाना, (vi) विधवाओं के पुनर्वास के लिए प्रयास करना, (vii) महिला कैदियों को न्याय दिलाना, (viii) चुनाव-प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी को बढ़ावा देना, (ix) महिलाओं का हिंसा के मामलों को उठाना, (x) कृषि में महिलाओं की प्रौद्योगिकीय शक्ति-संपन्नता के लिए कदम उठाना, तथा (xi) अल्पसंख्यक महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करना। आयोग अपने शिकायत तथा परामर्श कक्षों के जरिए शिकायतों पर कार्यवाही तथा महिलाओं के अधिकारों की अवहेलना के मामलों में अपनी ओर से नोटिस देने, उन्हें सुरक्षा प्रदान करने, कानूनी अधिकारों के हनन के मामलों में निष्पादन, महिलाओं की कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से सक्षम प्राधिकारियों के समक्ष मामलों को रखने आदि के कार्य भी संपन्न करता है।

(ग) राष्ट्रीय महिला शक्ति-संपन्नता नीति (National Policy for the Empowerment of Women)- 1995 में बीजिंग में आयोजित चतुर्थ विश्व महिला सम्मेलन के दौरान

भारत द्वारा की गई प्रतिबद्धताओं को लागू करने के उद्देश्य से लिंग के आधार पर बिना भेदभाव के समानता की संवैधानिक गारंटी को कार्यान्वित करने तथा पुरुषों के समतुल्य जीवन के समस्त क्षेत्रों में महिलाओं के दर्जे में सुधार लाने के लिए महिला शक्ति-संपन्नता हेतु राष्ट्रीय नीति अपनाई गई है।

(घ) महिलाओं से संबंधित सामाजिक विधान (Social Legislations Relation to Women)- महिलाओं की रक्षा तथा उनके हितों के विकास से संबंधित महत्वपूर्ण सामाजिक अधिनियम हैं- अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम 1956, 2006 (Immoral Traffic (Prevention) Act, 1956, 2006) दहेज निषेध अधिनियम, 1961 (Dowry Prohibition Act, 1961), स्त्री अशिष्ट निरूपण (निषेध) अधिनियम, 1986 (Indecent Representation of Women (Prohibition) Act, 1986) सती-कृत्य निवारण अधिनियम, 1987 {Commission of Sati (Prevention) Act, 1987} परिवार न्यायालय अधिनियम, 1984 (Family Court Act, 1984), हिन्दू-विवाह अधिनियम, 1955 (Hindu Marriage Act, 1955), विशेष विवाह अधिनियम, 1954 (Special Marriage Act, 1954), बालविवाह-अवरोध अधिनियम, 1929 (Child Marriage Restraint Act, 1929) तथा हिंदू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 (Hindu Widows Remarriage Act, 1856)।

(xiii). **अन्य** (Others)-**(क) महिला-श्रमिकों के लिए कल्याण-कार्यक्रम** (Welfare Programme for Women Workers)- कारखाना अधिनियम, 1948 खान अधिनियम, 1952 तथा इस तरह के अन्य संरक्षात्मक श्रम-अधिनियमों के अंतर्गत महिलाओं के रात्रि-कार्य तथा खतरनाक कामों पर नियोजन को प्रतिबंधित किया गया है। इन अधिनियमों के अधीन उनके लिए कार्य-स्थल पर कुछ अन्य सुविधाएँ, जैसे- शिशुकक्ष, पृथक शौचालय आदि की व्यवस्था करना अनिवार्य किया गया है। प्रसूति-हितलाभ अधिनियम, 1961 तथा कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के अधीन महिला-श्रमिकों को प्रसवावस्था में अवकाश तथा नकद हितलाभ देना अनिवार्य है। समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 में पुरुष और स्त्री श्रमिकों को समान कार्य के लिए समान वेतन सुनिश्चित करने तथा रोजगार एवं उससे संबद्ध मामलों में स्त्रियों के साथ लिंग के आधार पर भेदभाव के प्रतिषेध से संबंधित उपबंध है। कई खनिज उद्योगों तथा राज्यों में श्रम-कल्याण-निधि अधिनियमों के अंतर्गत महिला-श्रमिकों को मनोरंजन, साक्षरता, दस्तकारी के प्रशिक्षण, परिवार-नियोजन, पोषाहार, चिकित्सकीय सुविधा आदि की व्यवस्था करना आवश्यक है। साथ ही, सामान्य संरक्षात्मक, सामाजिक सुरक्षा, श्रम-कल्याण, मजदूरी आदि के सम्बद्ध श्रम-विधान पुरुष और स्त्री श्रमिकों के साथ समान रूप से लागू होते हैं।

(ख) सार्वजनिक सामाजिक सहायता (Public Social Assistance)- राष्ट्रीय प्रसूति

हितलाभ योजना, 1995 तथा कई राज्यों द्वारा चलाए जाने वाले सामाजिक सहायता कार्यक्रमों के अंतर्गत महिलाओं को प्रसूति-अनुदान देने की व्यवस्था है। राष्ट्रीय तथा राज्यों में सामाजिक सहायता कार्यक्रमों में विधवाओं तथा वृद्धा महिलाओं को पेंशन देने की व्यवस्था की गई है।

(ग) ग्रामीण निर्धनता के उन्मूलन तथा रोजगार के जनन-संबंधी कार्यक्रमों में महिलाओं के लिए विशेष सुविधाएँ (Special Facilities to Women under Special Poverty Eradication and Generation of Employment Programmes in Rural Areas)– देश के ग्रामीण क्षेत्रों में सरकार द्वारा चलाए जाने वाले निर्धनता-उन्मूलन तथा रोजगार के अवसरों के सृजन से संबद्ध विशेष कार्यक्रमों में महिलाओं को प्राथमिकता दी गई है। इन कार्यक्रमों में संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना, स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना, प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना, ग्रामीण आवास योजनाओं तथा अंत्योदय अन्न योजना का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

II- स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका (Role of Voluntary Agencies)

देश में महिला-कल्याण के क्षेत्र में कई ऐच्छिक अभिकरण कार्यरत हैं। इनमें कुछ अंतरराष्ट्रीय अभिकरणों की शाखाएँ हैं, कुछ राष्ट्रीय स्तर के अभिकरण तथा कई राज्य एवं स्थानीय स्तर के अभिकरण हैं। इनमें कुछ महत्वपूर्ण अभिकरणों के कार्यों का विवरण नीचे दिया जाता है :-

(i). अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन (All India Women's Conference)– इस अभिकरण की स्थापना 1926 में हुई। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है। संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद ने इसे परामर्श-संबंधी मान्यता दी है। महिला-कल्याण के क्षेत्र में इसके मुख्य उद्देश्य हैं :- (1) सामाजिक न्याय, समानता तथा वैयक्तिक सत्यनिष्ठा पर आधृत समाज की स्थापना के लिए प्रयास करना, (2) मनुष्य के विकास और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयास करना, (3) नागरिक स्वतंत्रता के मूल अधिकार के समर्थन के लिए प्रयास करना, (4) पृथक्करण प्रवृतियों को रोकना तथा राष्ट्रीय एकता का विकास करना, (5) महिलाओं और बालकों के कल्याण के लिए सक्रिय कदम उठाना, (6) भारतीय संविधान द्वारा महिलाओं के प्रदत्त अधिकारों के पूर्ण उपभोग में महिलाओं की सहायता करना, तथा (7) अंतरराष्ट्रीय मैत्री और विश्व-शांति के लिए प्रयास करना।

इसका कार्यक्षेत्र अत्यंत ही व्यापक है। इसमें समाज-कल्याण, स्वास्थ्य, परिवार-नियोजन, बाल-कल्याण, शिक्षा, सांस्कृतिक तथा सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम उल्लेखनीय है। यह विद्यालय, प्रौढ़ महिलाओं के लिए संक्षिप्त पाठ्यक्रमों, सामाजिक तथा प्रौढ़ शिक्षा-केंद्रों, मनोरंजन केन्द्रों, उत्पादन-इकाइयों, कामकाजी महिलाओं के लिए होस्टलों, औषधालयों, चल-स्वास्थ्य-इकाइयों तथा परिवार-नियोजन-केंद्रों का संचालन करता है। नई दिल्ली में लेडी इरविन कॉलेज तथा

मद्रास में कैंसर अस्पताल तथा शोध-संस्थान इसी अभिकरण द्वारा स्थापित किए गए हैं। यह महिलाओं के बीच बचत-अभियान चलाता है तथा महिला-कल्याण से संबद्ध सभाओं और सम्मेलनों में भाग लेता है। यह सरकार तथा केंद्रीय समाज-कल्याण बोर्ड के महिला-कल्याण-कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेता है। महिलाओं के हितों की रक्षा से संबद्ध सामाजिक विधानों, जैसे- अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम 1956, 2006, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955, विशेष विवाह अधिनियम, 1954, दहेज प्रतिषेध अधिनियम, 1956, 2006 हिन्दू विवाह अधिनियम, 1984, स्त्री अशिष्ट निरूपण (निषेध) अधिनियम 1996, तथा सती-कृत्य निवारण अधिनियम, 1987 के बनाए जाने में इस अभिकरण का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

(ii). **कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक न्याय** (Kasturba Gandhi National Memorial Turst)- इस अभिकरण की स्थापना 1945 में हुई। इसका मुख्यालय इंदौर में है। इसके मुख्य क्रियाकलाप हैं :- (1) ग्राम सेविकाओं और मुख्य सेविकाओं का प्रशिक्षण, (2) महिलाओं के लिए अंबर-चरखा, ग्राम-पंचायतों और शांति-सेना, पूर्व-बुनियादी शिक्षक तथा संक्षिप्त पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षण, (3) चिकित्सालयों, कुष्ठ-निवारण-केन्द्रों, चल स्वास्थ्य-इकाइयों, ग्रामसेवा और आरोग्य-केंद्रों, बालबाड़ियों, बुनियादी विद्यालयों, कन्या आश्रमों तथा बालगृहों का संचालन, तथा (4) ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं के लिये शिल्पकला तथा कुटीर-उद्योग में प्रशिक्षण। यह सर्वोदय-कार्यक्रमों में भी सक्रिय भाग लेता है।

(iii). **भारतीय ग्रामीण महिला संघ** (Bharatiya Grameen Mahila Sangh)- इस अभिकरण की स्थापना 1955 में हुई। इनका मुख्यालय नई दिल्ली में है। इनके मुख्य लक्ष्य और उद्देश्य हैं - (1) ग्रामीण महिलाओं के कल्याण में कार्यरत संगठन को सदस्यता प्रदान करना तथा उनके लिए समितियों और मंडलों की स्थापना करना (2) ग्रामीण महिलाओं की शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक और स्वास्थ्य-संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति और उनके उच्च्य जीवन-स्तर के लिए प्रयास करना, (3) ग्रामीण महिलाओं को विकास-कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करना, (4) ग्रामीण महिलाओं के बीच सहकारी समितियों के गठन को प्रोत्साहित करना, तथा (5) महिलाओं के उत्थान के लिए प्रचार-अभियान चलाना।

संघ ग्रामीण महिलाओं के लिए प्रशिक्षण-शिविरों का आयोजन करता है, जिससे वे विकास-कार्यक्रमों में सक्रिय भाग ले सकें और उनके बीच स्थानीय नेतृत्व का विकास हो सके। यह ग्रामीण विस्तार परियोजनाओं का संचालन भी करता है। यह ग्रामीण महिलाओं के लिए संक्षिप्त पाठ्यक्रम तथा परिवार-नियोजन-कार्यक्रम भी चलाता है। इस अभिकरण के अन्य कार्यकलाप हैं-शिशुगृहों का संचालन, बाल-सेविकाओं का प्रशिक्षण, वृद्धाओं के लिए गृहों का संचालन, तथा प्रौढ़ साक्षरता परियोजनाओं का संचालन।

(iv). **विश्वविद्यालय महिला-महासंघ** (Federation of University Women)- यह महासंघ विश्वविद्यालयों में महिलाओं के शैक्षणिक हितों की रक्षा का प्रयास करता है। यह विभिन्न व्यवसायों तथा पेशों में पुरुषों से समानता के स्तर पर महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए कदम उठाता है। यह अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय महिला महासंघ (International Federation of University Women) से संबद्ध है तथा विश्वभर में विश्वविद्यालयों की महिलाओं के बीच समझ और मैत्री के लिए प्रयास करता है। इसकी शाखाएँ विभिन्न राज्यों में हैं।

(v). **नैतिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य संगठन** (Association for Moral and Social Health)- इस संगठन की स्थापना 1928 में हुई। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है। इसके मुख्य उद्देश्य हैं- (1) यौन-संबंधों में चरित्र एवं आचरण के स्तर को ऊँचा उठाना, (2) उच्च स्तर की पारिवारिक परंपरा को कायम रखने का प्रयास करना, (3) पुरुषों और महिलाओं दोनो के लिए उच्च स्तर की नैतिकता को मान्यता दिलाने का प्रयास करना तथा (4) वेश्यावृति एवं इससे संबद्ध बुराइयों के उन्मूलन के लिए प्रयास करना। यह संगठन अनैतिक व्यापार (निवारण) अधिनियम, को कार्यान्वित करने में सरकार को सक्रिय सहयोग देता है। यह अनैतिक व्यापार से बचाई गई महिलाओं के पुनर्वासन के लिए प्रयास करता है तथा वेश्यावृति के परिणामस्वरूप होने वाले दुष्प्रभावों के निवारण के लिए कार्य करता है। यह रजित-रोगों के नियंत्रण के लिए कदम उठाता है। इसके अन्य कार्यक्रम हैं-बिनब्याही माताओं और उनके बच्चों का पुनर्वासन, अल्पावधि एवं उद्धार-गृहों का संचालन, कामकाजी महिलाओं के लिए होस्टलों का संचालन सामाजिक-आर्थिक इकाइयों का संचालन तथा प्रतिपालक देखभाल (foster care) सेवाएं।

(vi). **अखिल भारतीय महिला केंद्रीय खाद्य-परिषद** (All India Women Central Food Council)- इसकी स्थापना 1950 में हुई। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है। यह महिलाओं को बिना अनाज के भोजन बनाने तथा भोजन की बरबादी रोकने का प्रशिक्षण देती है। इसके प्रशिक्षण-कार्यक्रम में भोजन बनाने वैज्ञानिक ढंग तथा पोषणयुक्त, सस्ता और स्वच्छ संतुलित भोजन बनाने की विधि सम्मिलित है। परिषद की शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में 'अन्नपूर्णा' तथा 'कैफेटेरिया' संचालित करती हैं, जिनमें सस्ते, लेकिन पुष्टिकारक भोजन उपलब्ध कराए जाते हैं। यह प्रदर्शनियों, मेलों तथा सम्मेलनों में भोजन और चाय-स्टालों का आयोजन करती है और सभाओं तथा रेलगाड़ियों में एवं स्टेशनों पर खान-पान की सेवाएं चलाती हैं। यह शाक-सब्जियों के उत्पादन के लिए लोगों को प्रोत्साहित करती है। इसके अन्य क्रियाकलाप में गरीब और जरूरतमंद बच्चों के बीच दूध का वितरण, कार्यकेंद्रों का संचालन, अवकाश- शिविरों का आयोजन, प्रदर्शन-कार्यक्रम तथा सर्वनाश या विपत्ति की घड़ी में राहत कार्य सम्मिलित हैं। देश में इसकी कई शखाएं हैं ।

(vii). **भारतीय परिवार कल्याण संगठन** (Family Planning Association of India)- इस संगठन की स्थापना 1949 में हुई। इसका मुख्यालय मुंबई में है। इस संगठन के मुख्य

कार्यक्रम और क्रियाकलाप हैं –

(1) दंपतियों को परिवार-नियोजन और छोटे परिवार के लिए अभिप्रेरित करने हेतु शैक्षिक कार्यकम चलाना,

(२) आदर्श परिवार-नियोजन-निदानशालाओं तथा चल शिक्षा एवं सेवा-इकाइयों का संचालन करना,

(3) परिवार-नियोजन शिविरों का आयोजन तथा गर्भ-निरोधक सामग्रियों का वितरण करना,

(4) चिकित्सकीय समाज कार्यकर्ताओं के लिए प्रशिक्षण-कार्यक्रम चलाना, तथा

(5) परिवार-कल्याण से संबद्ध साहित्य का प्रकाशन एवं वितरण करना ।

(viii). **नवयुवती ईसाई-संगठन की राष्ट्रीय परिषद** (National Council of Young Women' s Christian Association)– यह विश्व युवती महिला ईसाई-संगठन की एक शाखा है। यह अभिकरण प्राकृतिक सर्वनाशों की स्थिति में राहत कार्य चलाता है तथा अन्य अभिकरणों की सहायता करता हैं। यह शरणार्थी महिलाओं के लिए नियमित कार्य उपलब्ध कराने और उन्हें प्रशिक्षित करने के भी कार्यक्रम चलाता है और महिलाओं के लिए छात्रावास तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के नियमित कार्यक्रमों का संचालन करता है।

(ix). **भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद** (National Council of Women in India)– इस अभिकरण की स्थापना 1925 में हुई। इसका मुख्यालय नागपुर में है। यह विभिन्न महिला-संगठनों के महासंघ के रूप में उनके बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। इसकी राज्य-परिषदें और संबद्ध अभिकरण नर्सरियों, प्राथमिक विद्यालयों, उच्च माध्यमिक विद्यालयों, अस्पतालों, औषधालयों, स्वास्थ्य एवं प्रसूति-केन्द्रों, प्राथमिक चिकित्सा-प्रशिक्षण-केंद्रों, हस्तशिल्प प्रशिक्षण-केंद्रों, उत्पादन-केद्रों तथा परिवार मार्गदर्शन-केद्रों का संचालन करते हैं। परिषद के अन्य क्रियाकलाप हैं- बालकों के बीच दूध का वितरण, परिवार-नियोजन, भिक्षावृत्ति के उन्मूलन के लिए प्रयास, व्याख्यानों का आयोजन तथा शोध।

(x). **अन्य अभिकरण** (Other Agencies)– भारत सेवक समाज, भारत स्काउट्स एंड गाइड्स, भारतीय रेडक्रास सोसाइटी तथा भारतीय समाजकर्ता-सम्मेलन भी महिला कल्याण से संबद्ध कई कार्यक्रम चलाते हैं। इनके अतिरिक्त, देश में राज्य एवं स्थानीय स्तर के भी कई स्वैच्छिक अभिकरण महिला-कल्याण के क्षेत्र में सक्रिय हैं। स्थानीय अभिकरणों के महिला-कल्याण कार्यों में विधवाश्रमों, प्रसूति-केद्रों, महिला-मंडलों तथा लड़कियों के लिए अनाथालयों की स्थापना और उनका संचालन महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त कई स्थानीय अभिकरण महिलाओं की शिक्षा और प्रशिक्षण, स्वास्थ्य एवं पोषाहार, मनोरंजन, पुनर्वासन, साक्षरता, आवासीय सुविधा आदि से संबद्ध कार्यक्रम चलाते हैं।

III- अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण (International Agencies)

देश में महिला-कल्याण के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय अभिकरणों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इनमें यूनिसेफ, विश्व बैंक संयुक्त राष्ट्रसंघ, खाद्य एवं कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन, अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन, केयर इंडिया, नवयुवती-ईसाई संगठन तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशों के अभिकरण मुख्य हैं।

IV. परिवार–कल्याण
(Family Welfare)

सामान्य एवं सार्वभौमिक प्रयोग में परिवार-कल्याण से पारिवारिक जीवन की रक्षा और उसे शक्तिशाली बनाने के लिए बाह्य अभिकरणों द्वारा प्रदान की जानेवाली सहायता और सेवाओं का बोध होता है। लेकिन भारत में कई लोग परिवार-कल्याण को परिवार-नियोजन के रूप में देखते हैं। इसका मुख्य कारण भारत सरकार द्वारा परिवार-नियोजन की जगह 'परिवार-कल्याण' शब्द का प्रयोग है। वास्तव में, परिवार-नियोजन परिवार कल्याण का एक पहलू है। भारत जैसे निर्धन और वृहत जनसंख्या वाले देश में जहाँ आबादी तेजी से बढ़ रही है, परिवार के आकार को नियंत्रित किए बिना पारिवारिक स्वास्थ्य और सुखमय पारिवारिक जीवन की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन, अनेक परिवारों में, विशेषकर विकसित देशों के परिवारों में, परिवार का आकार कोई समस्या नहीं है। इन देशों के परिवारों को अन्य प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भरत में भी अनेक परिवारों की समस्याओं का उनके आकार से कोई संबंध नहीं होता। परिवार-कल्याण का स्वरूप व्यापक होता है और उसके आध ीन पारिवारिक जीवन की रक्षा और उसके समुचित विकास के लिए विभिन्न प्रकार की सेवाएं एवं कार्यक्रम सम्मिलित रहते हैं। 1966 में दिल्ली में आयोजित परिवार पर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कामायन (Kamayana) ने परिवार-कल्याण सेवाओं के मुख्य उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए कहा था, "इसे सामान्य तौर पर मान लिया गया है कि परिवार-कल्याण सेवाओं का मुख्य उद्देश्य पारिवारिक बंधनों और संबधों को शक्तिशाली बनाना, इसकी अखंडता की रक्षा करना तथा अपने दायित्वों को निबाहने तथा कार्यों को सुचारू रूप से संपादित करने के लिए इसके सदस्यों की क्षमता का विकास करना और उसे बनाए रखना हैं। अनिवार्य रूप से इसका उद्देश्य परिवार के सदस्यों को देश के सामाजिक और आर्थिक जीवन में लाभ लेना और राष्ट्रीय विकास में उनके अपने योगदान के लिए सशक्त बनाना और उन्हें सुविधायें प्रदान करना है। परिवार-कल्याण के उद्देश्यों के संबंध में इस कथन को सर्वत्र मान्यता मिली है।

1. **परिवार-कल्याण की आवश्यकता** (Need for Family Welfare)- परिवार समाज की आधार भूत इकाई है। यह व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और अपने सदस्यों के जीवन को कई तरह से प्रभावित करता रहता है। यह यौन संबंधों के

नियमन और बच्चों के पालन- पोषण का अत्यंत ही महत्वपूर्ण केंन्द्र होता है। यह अपने सदस्यों की सेवेगात्मक, मनोरंजनात्मक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उनके विकास के लिए अवसर प्रदान करता है। परिवार अपने कार्य समुचित ढंग से तभी संपादित कर सकता है, जब वह संतुलित और विघटन रहित हो तथा वह सदस्यों की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो।

आधुनिक युग में होने वाले आर्थिक, औद्योगिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के कारण परिवार की संरचना, कार्य तथा सदस्यों के पारस्परिक संबंधों की प्रकृति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में परिवार को अपने परंपरागत कार्यों के निष्पादन में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। परिवार के कई कार्य समुदाय या अन्य अभिकरणों द्वारा संपन्न किए जाने लगे हैं। आज परिवार और विभिन्न सामुदायिक अभिकरणों के बीच कार्यों मे पुनर्वितरण की समस्या भी उत्पन्न हो गई है। परिवार के प्रति जनसमुदाय के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में परिवार के सामर्थ्य और संसाधन अब पहले जैसे नहीं हैं। इन परिवर्तित दशाओं में परिवार कई समस्याओं के समाधान में अपने को असमर्थ पाता है। इन कारणों से, पारिवारिक दशाओं में सुधार तथा पारिवारिक हितों के रक्षा के लिए अन्य अभिकरणों द्वारा पूरक सेवाओं की आवश्यकता होती है। आज विश्व के कई देशों में परिवार-कल्याण के लिए विभिन्न प्रकार की सेवाओं की व्यवस्था की जाती है। देश के आर्थिक और सामाजिक विकास के कार्यक्रमों से परिवार को लाभ तो पहुँचता ही है, साथ ही परिवार-कल्याण के लिए अलग से भी सेवाएँ चलाई जाती हैं। आज परिवार-कल्याण के क्षेत्र में सार्वजनिक तथा स्वैच्छिक अभिकरण दोनों कार्यरत हैं।

2. **परिवार-कल्याण सेवाओं का स्वरूप** (Nature of Family Welfare Services)- विभिन्न देशों में परिवार कल्याण सेवाओं के स्वरूप में अंतर पाया जाता है। निर्धन तथा तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या वाले देशों में परिवार-कल्याण कार्यक्रमों के अधीन परिवार-नियोजन तथा आर्थिक और सामाजिक सेवाओं के व्यापक कार्यक्रमों पर जोर दिया जाता है। विकसित देशों में, जहाँ परिवार के समक्ष आर्थिक कठिनाइयाँ और परिवार में बड़े आकार की जटिल समस्या नहीं होती, परिवार-कल्याण कार्यक्रमों के अंतर्गत स्वास्थ्यपूर्ण पारिवारिक जीवन की स्थापना और व्यक्तिगत समाजकार्य (social casework) को विशेष महत्व दिया जाता है। परिवार की आवश्यकताएँ समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। इस कारण, परिवार-कल्याण सेवाओं में परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता पड़ती रहती है। विभिन्न देशों की परिवार-कल्याण सेवाओं के अध्ययन से पता चलता है कि इनके अंतर्गत कई कार्यक्रम सम्मिलित किए जा सकते हैं। इनमें कुछ अग्रलिखित हैं :-

(i) परिवार-नियोजन, (ii) अतिरिक्त बच्चों के लिए पारिवारिक भत्ते, (iii) निर्धन परिवारों को सामजिक सहायता, (iv) वैयक्तिक सेवाकार्य (social casework), (अ) प्रसूति तथा बाल-स्वास्थ्य

सेवाएँ, (vi) वृद्धों और अशक्तों के लिए सेवाएँ, (vii) गृह-निर्वहण सेवा (home-maker service), (viii) कानूनी सहायता (legal aid), (ix) परिवार एवं विवाह-परामर्श-सेवाएँ (x) स्वास्थ्य एवं पोषाहार सेवाएँ, (xi) प्रशिक्षण सुविधाएँ, (xii) विवाह, तलाक, दहेज आदि से संबद्ध सामाजिक कानूनों में सुधार, (xiii) बाल-अपराध से संबद्ध कार्यक्रम, (xiv) सामाजिक शिक्षा एवं साक्षरता, (xv) आवासीय सुविधाएं (xvi) महिलाओं और बच्चों के लिए सेवाएं।

इनमें अधिकांश कार्यक्रमों में परिवार को केंद्रबिंदु में रखा जाता है। उपर्युक्त सेवाओं में जो परिवार के व्यक्तिगत सदस्यों के लिए हैं, उनसे भी पूरे परिवार के कल्याण का गहरा संबंध रहता है।

3. **भारत में परिवार-कल्याण सेवाएं** (Family Welfare Services in India)- भारत में परिवार के व्यक्तिगत सदस्यों को सहायता तो कई दशकों से दी जा रही है, लेकिन परिवार को केंद्रबिन्दु बनाकर उन्हें सहायता देने का कार्य बहुत बाद में शुरू हुआ। देश में परिवार-कल्याण से संबद्ध अधिकांश कार्यक्रम अब भी परिवार के विशिष्ट सदस्यों जैसे-महिलाओं, बालकों, विकलांगों आदि के लिए चलाए जाते हैं, लेकिन विगत कुछ वर्षों में कई कार्यक्रमों में परिवार के व्यापक हित को ध्यान में रखा गया है। भारत में परिवार को केंद्रबिन्दु में रखकर तथा स्वैच्छिक अभिकरणों द्वारा चलाई जानेवाली कल्याण-सेवाओं की संक्षिप्त विवेचना नीचे की जाती है।

1. सरकार की भूमिका (Role of the Government)

परिवार के व्यापक हित को ध्यान में रखकर सरकार द्वारा चलाए जाने वाले कुछ महत्वपूर्ण कार्यक्रम निम्नलिखित हैं-

(i). **परिवार-कल्याण कार्यक्रम** (Family Welfare Programmes)- परिवार-नियोजन (Family Planning) भारत परिवार-कल्याण का राष्ट्रीय कार्यक्रम अपनानेवाला विश्व में पहला देश है। यह राष्ट्रीय कार्यक्रम 1952 में शुरू किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य देश की अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए जनसंख्या के स्तर को स्थिर रखने के लिए जन्म-दर में कमी लाना है। प्रारंभ में इस कार्यक्रम के आधीन परिवार-नियोजन-केंद्रों की स्थापना की गई। इन केंद्रों में नैदानिक सेवाओं (clinical services) तथा परिवार-नियोजन-सुविधाओं की व्यवस्था की गई। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम को पुनर्गठित किया गया और परिवार-नियोजन के तरीकों को अपनाने के लिए 'कैफेटेरिया' (cafeteria) आधार पर सेवाओं तथा निरोधजन्य सामग्री की उपलब्धि कराई जाने लगी। 1966 में भारत सरकार ने पूर्णरूपेण एक परिवार-नियोजन विभाग का गठन भी किया। चौथी योजना के बाद से परिवार-नियोजन को उच्च्व प्राथमिकता दी जाने लगी। इस कार्यक्रम को अन्य कार्यक्रमों के साथ समन्वित कर इसका नाम बदलकर परिवार -कल्याण कार्यक्रम रखा गया। भारत में परिवार-कल्याण कार्यक्रम का उद्देश्य है - "प्राथमिक आधार पर सुनियोजित और

उतर-मातृत्व उपलब्ध कराना है जिससे मात-पिता दो बच्चों का सीमित परिवार, लड़का या लड़की अथवा दोनों का चुनाव करके, परिवार-नियोजन की किसी भी पद्धति को स्वेच्छा से अपनाने के लिए प्रोत्साहित हों।" ये परिवार - स्वास्थ्य - सेवाएं पूर्ण स्वस्थ प्रजनन पद्धति को अपनाकर उपलब्ध कराई जाती हैं। जन-सहयोग प्राप्त करने के लिए इन कार्यक्रमों में सभी संस्थाओं, स्वैच्छिक अभिकरणों, जन-नेताओं, जन प्रतिनिधियों, सरकारी कार्यकर्ताओं तथा विभिन्न संस्थाओं एवं प्रभावकारी संगठनों की सहायता ली जा रही है। साथ ही प्रचार माध्यमों के प्रयोग तथा व्यक्तिगत संप्रेषण द्वारा लोगों को विभिन्न गर्भ -निरोधी पद्धतियों को अपनाने और सामाजिक तथा सांस्कृतिक सीमाओं को त्यागने के लिए प्रेरित किया जाता है। इन प्रयासों के फलस्वरूप विगत वर्षों में गर्भ-निरोध के विभिन्न साधनों को अपनानेवालों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। उपलब्ध ऑकड़ों के अनुसार 1995 तक संतानोत्पति -योग 15 से 44 वर्ष आयु की दंपतियों में 45.4 प्रतिशत को परिवार -कल्याण कार्यक्रम की किसी -न किसी पद्धति से सुरक्षा की गई। कार्यक्रम के आरंभ से 1995 के अंत तक लगभग 17 करोड़ जन्मों को रोका गया। 2 वर्ष 2003-40 के दौरान परिवार -नियोजन के तरीकों के दृष्टिकोंण से उपलब्धियों के आंकड़े हैं :- नसबंदियां 48.7 लाख, आई0यू0डी0 - प्रवेशन 60.8 लाख, निरोध - उपयोगकर्ता 1.8 करोड़ और गर्भनिरोधक गोलियां खानेवाली महिलाओं की संख्या 87.5 लाख।

परिवार-नियोजन को अपनाए जाने के कारण जनसंख्या वृद्धि -दर में गिरावट आती गई है। देश में जनसंख्या वृद्धि - दर 1971 में 2.7 प्रतिशत, 1981 में 2.2 प्रतिशत तथा यह घटकर 1991 में 2.1 प्रतिशत और 2001 में 1.9 प्रतिशत हो गई। परिवार -कल्याण तथा स्वास्थ्य -सेवाओं के विस्तार के चलते देश में जन्म-दर, मातृत्व मृत्यु-दर तथा शिशु मृत्यु-दर में सुधार होता गया। यह तालिका से स्पष्ट होता है।

तालिका

	शीर्षक	1951	1981	1991	2001
1.	जन्म-दर (प्रति हजार)	40.8	33.9	29.5	25 (2002)
2.	मृत्यु-दर (प्रति दस हजार)	25.1	12.5	9.8	8.4 (2002)
3.	मातृत्व मृत्यु-दर (प्रति एक लाख)	437	.	.	407 (1998)
4.	शिशु मृत्यु-दर (प्रति हजार)	146	110	80	63 (2002)
5.	जीवन-संभाव्यता आयु (पुरुष)	37.2	54.1	60.6	63.9
6.	जीवन-संभाव्यता आयु (महिला)	36.2	54.7	61.7	66.9

तालिका से पता चलता है कि देश में प्रति हजार पर जन्म-दर 1951 में 80.8 थी जो घटकर 1981 में 33.9, 1991 में 29.5 तथा 2002 में मात्र 25 हो गईं। जन्म-दर के इस ह्रास में देश में चलाए जाने वाले परिवार-नियोजन कार्यक्रमों के प्रभावों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परिवार -नियोजन तथा स्वास्थ्य - सेवाओं का प्रभाव मातृत्व मृत्यु-दर तथा शिशु मृत्यु -दर में भी दृष्टिगोचर होता है। मातृत्व मृत्यु -दर जो 1951 में प्रति लाख 437 थी, घटकर 1998 में 407 हो गईं। 1951 में प्रति हजार शिशु मृत्यु -दर 146 थी, लेकिन यह क्रमिक रूप से घटकर 2002 में मात्र 63 हो गई। स्वास्थ्य -सेवाओं के विस्तार से पुरुषों तथा स्त्रियों की जीवन -संभाव्यता-आयु में सुधार होते रहा है।

(ii). **राष्ट्रीय जनसंख्या नीति,** 2000 (National Population Policy, 2000)- देश में राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 में अपनाई गई। इसके अंतर्गत गर्भ -निरोधकों की अपूर्ण मांग को पूरा करने तथा महिलाओं और बच्चों के स्वास्थ्य का तात्कालिक उद्देश्य निर्धारित किया गया है। इस नीति का मध्यावधि उद्देश्य 2010 तक जनसंख्या का कुल प्रजनन-दर को 2.1 के स्थापन- स्तर तक लाना और दीर्घवधि लक्ष्य 2045 तक स्थिर जनसंख्या प्राप्त करना है।

(iii). **राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग** (National Population Commission)- इस आयोग का गठन 11 मई, 2000 को प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में किया गया था इसका उद्देश्य जनसंख्या स्थिरीकरण के लिए समग्र मार्गदर्शन कराना था इसके लिए आयोग ने जनसांख्यिकी, शैक्षिक, पर्यावरणीय और विकास कार्यक्रमों में तालमेल को बढ़ावा देने पर जोर दिया। आयोग द्वारा राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 के अंतर्गत उठाए जाने वाले महत्वपूर्ण कदम हैं - (i) राष्ट्रीय परिवार-कल्याण कार्यक्रम की, विशेषकर उच्च प्रजननवाले राज्यों में, समीक्षा करना, (ii) उच्च प्रजनन वाले जिलों की पहचान करना और जिला-कार्ययोजनाएं तैयार करना, (iii) निगरानी की दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक तथा जनसंख्यिकी संकेतकों का चयन करना, (iv) जनसंख्या स्थिरीकरण के लिए नीति-प्रधानता वाले प्रासंगिक अनुसंधान को बढ़ावा देना, तथा, (v) परिवार -नियोजन-सेवाओं की अधूरी जरूरतों को पूरा करने के लिए सार्वजनिक -निजी भागीदारी को बढ़ावा देना।

(iv). **उच्च प्रजनन-दर वाले जिलों में जनसंख्या-स्थिरीकरण के प्रयास** (Efforts at Stabilization of Population in Districts having High Fertility Rate)- पहचान किए गए 200 से अधिक जिलों में जनसंख्या स्थिरीकरण के लिए विशेष प्रयास किए जा रहे हैं। इन प्रयासों में कार्यबल का गठन, परिवार -नियोजन, प्रतिक्षीकरण, सुरक्षित प्रसव, तथा स्वास्थ्य-सेवाओं में सुधार शामिल है।

(v). **प्रजनन तथा बाल-स्वास्थ्य कार्यक्रम** (Fertility and Child-health Programme)- यह कार्यक्रम 1997 में शुरू किया गया तथा इसे पूरे देश में लागू किया गया है। इस कार्यक्रम

का उद्देश्य है-नीतियों और कार्यक्रम -अनुकूलन के जरिए प्रजनन-स्वास्थ्य, शिशु उतरजीवता तथा जनन का नियमन। इस कार्यक्रम के प्रमुख विशेष लक्ष्य हैं -मातृत्व एवं शिशु मृत्यु -दर कम करना और बीमारी तथा प्रजनन - स्वास्थ्य सुनिश्चित करना। यह कार्यक्रम मुख्यतः प्राथमिक स्वास्थ्य-सेवा ढाँचे के जरिए लागू किया जाता है।

(vi). **प्रजनन और बाल - स्वास्थ्य कार्यक्रम के अंतर्गत प्रशिक्षण** (Training under Fertility and Child -health Programme)- प्रजनन और बाल- स्वास्थ्य कार्यक्रम के अंर्तगत चलाई जानेवाली प्रमुख गतिविधियां हैं :- (i) सहायक नर्स, मिडवाइफ तथा महिला स्वास्थ्य-निरीक्षक को मूल प्रशिक्षण, (ii) बहु - उद्देशीय स्वास्थ्य कार्यकर्ताओं को मूल प्रशिक्षण, (iii) स्वास्थ्य तथा परिवार -कल्याण प्रशिक्षण - केंद्रों का रख -रखाव और सुदृढ़ीकरण, तथा (iv) बुनियादी प्रशिक्षण विधाओं को सुदृढ़ बनाना।

(vii). **मातृत्व स्वास्थ्य कार्यक्रम** (Maternal Health Programme)- यह कार्यक्रम 'प्रजनन तथा बाल-स्वास्थ्य कार्यक्रम' का ही एक अंग है। इसका उद्देश्य विभिन्न उपायों के जरिए 2010 तक मातृत्व मृत्यु दर 100 से कम कराना है। इसके अन्तर्गत सभी गर्भवती महिलाओं को मातृत्व सेवा उपलब्ध कराई जाती है। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में गर्भवती महिलाओं के लिए प्रजनन -सुविधाएं चौबिसों घंटे उपलब्ध रहती हैं।

(viii). **जननी सुरक्षा योजना** (Maternity Protection Scheme)- राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम, 1995के अंतर्गत राष्ट्रीय प्रसूति हितलाभ योजना भी चलाई जाती है। योजना के अंतर्गत पहले दो बच्चों के जन्म पर निर्धनता -रेखा के नीचे की महिलाओं को 500 रु. प्रति प्रसव भत्ता के रूप में दिया जाता है। यह भृत्ता महिलाओं को अच्छे पोषाहार उपलब्ध कराने के उद्देश्य से दिया जाता रहा है।

(ix). **वंदे मातरम योजना** (Vande Mataram Yojana)- यह योजना 9 फरवरी, 2004 को शुरू की गई। इस योजना का मुख्य उद्देश्य गर्भावस्था के दौरान उत्पन्न जटिलताओं के चलते होने वाली मातृत्व मृत्यु की दर में कमी लाना है। यह योजना 'भारतीय प्रसूति तथा स्त्री रोग सोसाइटी परिसंघ' के साथ सरकारी तथा निजी सहभागिता में शुरू की गई है। इस योजना के अंतर्गत गर्भवती महिलाओं प्रसव से पहले निःशुल्क जांच की जाती है तथा परिवार - नियोजन के बारे में सलाह दी जाती है। यह सुविधा सरकारी और निजी चिकित्सकों द्वारा अपने अस्पतालों और क्लीनिकों में हर महीने की एक नियत तारीख को दी जाती है।

(x). **समेकित बाल विकास सेवाएं** (Integrated Child Development Services, ICDS) - यह कार्यक्रम मुख्यतः 6 वर्ष से कम उम्र के शिशुओं, गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली माताओं के लिए है। इसे परिवार को केंद्रबिदु में रखकर बनाया गया है। इन सेवाओं के अंतर्गत पूरक पोषाहार, प्रतिरक्षण, परामर्श -सेवाओं की व्यवस्था, स्वास्थ्य और पोषाहार -शिक्षा, विद्यालय -पूर्व शिक्षा तथा किशोरी योजना सम्मिलित है।

2. स्वैच्छिक अभिकरणों की भूमिका (Role of Voluntary Agencies)

भारत में संपूर्ण परिवार के कल्याण के उद्‌देश्य से बनाए गए स्वैच्छिक अभिकरणों की कमी है। अधिकांश स्वैच्छिक सामाजिक अभिकरण समाज के दुर्बल समूहों, जैसे - महिलाओं, बालकों, विकलांगों, वृद्धों आदि के हितों की रक्षा और उनके लिए सुविधाएं उपलब्ध कराने के उद्‌देश्य से बनाए गए हैं। व्यावसायिक समाजकार्य में परिवार-कल्याण सेवाओं को समुचित पारिवारिक संबंधों और मूल्यों की स्थापना और उन्हें उपयोगी बनाने के व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाता है। पश्चिमी देशों में परिवार-कल्याण की विशिष्ट सेवाएं अलग से उपलब्ध हैं, जिनमें व्यक्तिगत समाजकार्य के सिद्धांतों को विशेष रूप से लागू किया जाता है। भारत में इस प्रकार के अभिकरण बहुत कम हैं, और जो हैं उनके कार्यक्षेत्र अत्यंत ही संकुचित हैं।

भारत में पहले परिवार-कल्याण अभिकरण की स्थापना 1950 में मुंबई में की गई। इसकी स्थापना टाटा समाजविज्ञान -संस्थान तथा भारतीय समाजकार्य -सम्मेलन के सहयोग से हुई। इस अभिकरण का मुख्य उद्‌देश्य सामंजस्यपूर्ण पारिवारिक संबंधों की स्थापना, पारिवारिक जीवन में सकारात्मक मूल्यों को शक्तिशाली बनाना तथा परिवार के विभिन्न सदस्यों के संतोषजनक समाजिक क्रियाकलाप को प्रोत्साहित करना इस अभिकरण ने परिवार -कल्याण के लिए व्यक्तिगत समाजकार्य के महत्व को स्वीकार किया है।

देश में परिवार-कल्याण सेवाएं चलानेवाले कुछ महत्वपूर्ण अभिकरण हैं :- पारसी चैरटीज संगठन की संपर्क-समिति, मुंबई परिवार -नियोजन प्रशिक्षण एवं अनुसंधान केंद्र : मुंबई, समाजकल्याण-परिषद, दिल्ली, परिवार-कल्याण अभिकरण, मुंबई, पारिवारिक जीवन-संस्थान नई दिल्ली, परिवार-परामर्श ब्यूरो, मुंबई और परिवार-सेवा केंद्र, मुंबई। भारत सरकार के परिवार-कल्याण कार्यक्रमों में स्वैच्छिक अभिकरणों की अधिकाधिक भागीदारी के कारण देश में परिवार-कल्याण सेवाएं प्रदान करने वाले नए स्वैच्छिक अभिकरणों की भी स्थापना की गईं ये परिवार कल्याण अभिकरण पारिवारिक समायोजन और संबंधों की समस्याओं के साथ-साथ वित्तीय सहायता और चिकित्सकीय देखभाल के लिए भी सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं। वे उपयुक्त मामलों को अन्य अभिकरणों के पास भी भेजते हैं। अपने कार्य संपादित करने में वे समुदाय के संसाधनों को प्रयोग में लाने का प्रयास करते हैं। इन अभिकरणों के कुछ मुख्य कार्य हैं- पारिवारिक समायोजन के लिए व्यक्तिगत सदस्यों की सहायता, पारिवारिक जीवन-शिक्षा, परिवार का स्वास्थ्यपूर्ण विकास, पारस्परिक स्नेह और सद्‌भाव से पूर्ण पारिवारिक जीवन की स्थापना, परिवार-परामर्श, कानूनी सहायता, निराश्रित महिलाओं के लिए आश्रय की व्यवस्था, नवयुवकों की समस्याओं का समाधान, विवाह-पूर्व परामर्श विवाह-परामर्श तथा कठिनाइयों की स्थिति में परिवार को सहायता।

देश में परिवार की संरचना, उसके कार्यों, सदस्यों के बीच में संबंधों तथा पारिवारिक

मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों के कारण परिवार-कल्याण सेवाओं की आवश्यकता दिनोदिन बढ़ रही है। सरकार तथा स्वैच्छिक अभिकरण परिवार के विभिन्न सदस्यों और परिवार की सामान्य समस्याओं के समाधान के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निबाह रहे हैं, लेकिन विभिन्न सेवाओं के बीच तालमेल की कमी है। देश में परिवार-कल्याण से संबद्ध विभिन्न सेवाओं को स्थानीय स्तर पर समेकित करने की आवश्यकता है, जिससे परिवारों को एक ही स्थान पर विभिन्न प्रकार की सेवाएँ उपलब्ध हो सके।

अध्याय-15

महिला सशक्तीकरण

व्यापक रूप से महिलाओं के सशक्तिकरण का उद्देश्य है स्त्री पुरुषों के बीच शक्ति सन्तुलन में ऐसा परिवर्तन करना, ताकि समाज में शक्ति का समानता पूर्वक वितरण हो सके। इस प्रक्रिया के आर्थिक, समाजिक एवं राजनैतिक तीनों ही पक्ष हैं। आर्थिक सशक्तिकरण का अर्थ है ऐसी पोषणीय जीविकाओं द्वारा बेहतर ढंग से जीवन यापन, जिसकी स्वामिनी और प्रबन्धक महिलायें ही होती हैं। महिलाओं के सामाजिक शक्तिकरण का तात्पर्य है एक ऐसी समानता पूर्ण सामाजिक व्यवस्था जिसमें स्त्री एवं पुरुष की प्रस्थिति समान हो। राजनैतिक सशक्तिकरण का तात्पर्य एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली से है जो राजनैतिक निर्वाचन की प्रक्रिया में महिलाओं की भागीदारी एवं नियन्त्रण की समर्थक हो।

सुविख्यात महिला समाज कार्यकर्ता श्रीमती लताबाटलीवाला के अनुसार महिला सशक्तिकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा महिलायें दैहिक एवं भौतिक संसाधनों के ऊपर अधिक नियन्त्रण प्राप्त करती हैं। पितृसत्ता की विचार धारा और सभी संस्थाओं में तथा समाज की संरचना में महिला के प्रति होने वाले लिंग के आधार पर भेदभाव को चुनौती दी जाती है तथा सामाजिक, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत निर्णयों में महिलायें पुरुषों के समान सक्षम होती हैं।

उपर्युक्त वैचारिक संदर्भ में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महिला सशक्तिकरण की परिभाषा में निम्नलिखित बिन्दु सम्मिलित किये जा सकते हैं :-

(i) महिला सशक्तिकरण का उद्देश्य धनात्मक सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों के माध्यम से ऐसे पर्यावरण के निर्माण से है, जहाँ महिलाओं का समुचित विकास हो सके और वे अपनी पूर्ण कामनाओं की अनुभूति कर सकें।

(ii) सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में महिलायें पुरुषों के समान सभी मानवीय अधिकारों एवं आधारभूत स्वतंत्रता का बोध कर सकें।

(iii) राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन में स्त्रियों की पुरुषों के समान सहभागिता हो सके।

(iv) स्वास्थ्य रक्षण, गुणात्मक शिक्षा, नियोजन, समान वेतन, व्यावसायिक स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा जनसेवाओं में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त कर सके ।

(v) वैधानिक प्रणाली का सशक्तिकरण कर महिलाओं के साथ सभी प्रकार के भेद-भावों को समाप्त किया जाये।

(vi) जीवन के हर क्षेत्र में महिला एवं पुरुष की सहभागिता से समाजिक अभिवृत्ति एवं सामुदायिक व्यवहारों में परिवर्तन लाया जा सके।

(vii) लिंग समानता को विकास के एक प्रमुख लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जा सके।

(viii) महिलाओं एवं बालिकाओं के साथ भेदभाव एवं सभी प्रकार की हिंसा को समाप्त किया जा सके।

महिलाओं के सशक्तिकरण हेतु भारत में उठाये गये कदम

(i) हमारे संविधान में महिलाओं की समानता की ही बात नहीं की गयी है वरन् राज्यों को यह अधिकार दिया गया है कि वे लैंगिक समानता हेतु आवश्यकतानुसार कदम उठायें।

(ii) हमारे कानून, विकास नीति एवं पंचवर्षीय योजनाओं में विभिन्न क्षेत्रों में महिलाओं के विकास का प्राविधान है।

(iii) पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के आगे की सभी योजनाओं में महिलाओं से संबंधित विभिन्न पहलुओं में एक बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। अब उनके कल्याण की बात न कहकर उनके विकास की बात कही गयी है। इधर कुछ वर्षों से महिलाओं की प्रस्थिति निर्धारण करते समय मुख्य रूप से इस मुद्दे पर विचार किया जाता है कि उनका किस अंश तक सशक्तिकरण हुआ है।

(iv) 1990 में एक केन्द्रीय अधिनियम के द्वारा राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया। उसका उद्देश्य महिलाओं के अधिकार एवं संवैधनिक देयताओं की रक्षा करना था।

(v) संविधान के तिहत्तरवें (73) एवं चौहत्तरवें (74) संशोधन के द्वारा स्थानीय निकायों एवं पंचायतों में महिलाओं की सीटें सुरक्षित करने का प्राविधान किया गया और इस बात पर विशेष बल दिया गया कि महिलायें निर्णय प्रक्रिया में सक्रियता से सहभाजन करें।

(vi) भारत ने आई.एल.ओ. के कुछ महत्वपूर्ण कन्वेन्शनों को अपने यहाँ लागू किया है। उनमें से एक मुख्य कन्वेन्शन यह है कि महिलाओं के खिलाफ सभी प्रकार के भेदभावों को समाप्त किया जाये, (1993)

(vii) मैक्सिको प्लान ऑफ एक्शन (1975), नैरोबी फारवर्ड लुकिंग स्ट्रेटजीज तथा बीजिंग डिक्लेयरेशन (1995) को भारत सरकार ने पूर्णतया अनुमोदित किया है और इस संबंध में अनुवर्ती कदम उठाये जा रहे हैं।

(viii) नवीं एवं दसवीं योजनाओं और ग्यारहवीं योजना में महिला सशक्तिकरण के प्रति प्रतिबद्धता जताई गयी है।

(ix) देश में बहुत बड़े पैमाने पर कार्यरत एन0जी0ओ0 भी महिला सशक्तिकरण की दिशा में सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

वर्तमान स्थिति

उपरोक्त प्राविधानों के बावजूद आज भी महिला सशक्तिकरण हेतु चलाये गये कार्यक्रमों के उद्देश्यों एवं महिलाओं की वर्तमान स्थिति में पर्याप्त अंतर है। इस तथ्य की पुष्टि विभिन्न समितियों के प्रतिवेदनों के माध्यम से होती है जैसे- "रिपोर्ट ऑफ नेशनल पर्सपेक्टिव प्लान फॉर वोमेन (1989-2000)।"

लैंगिक असमानता विभिन्न रूपों में प्रदर्शित होती है जैसे- देश की जनसंख्या में महिलाओं की आबादी का प्रतिशत कम होना। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति अल्प संख्यक वर्ग एवं ग्रामीण अंचल की महिलायें आज भी सीमान्त गरीबी रेखा के पास खड़ी हैं। वास्तव में राजनैतिक सशक्तिकरण की अपेक्षा यह बात अधिक महत्वपूर्ण है कि महिलायें सामाजिक (जिसमें शैक्षणिक पक्ष भी सम्मिलित है), आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सशक्त हों।

महिला सशक्तिकरण हेतु कुछ प्रमुख सुझाव

(अ) वैधानिक सशक्तिकरण

(i) **न्याय संगत वैधानिक प्रणाली** – विवाह एवं तलाक संबंधी कानूनों में परिवर्तन होना चाहिये और उन्हें महिलाओं के अनुकूल बनाया जाना चाहिये। पितृसत्तात्मक परिवारों में संपत्ति के उत्तराधिकार में यद्यपि महिलाओं को समान रूप से कानूनी स्वीकृति मिल चुकी है तथापि उसके प्रभावी कार्यान्वयन में पर्याप्त कमियाँ मौजूद हैं। अतः इन नवनिर्मित कानूनों के क्रियान्वयन संबंधी नियमावलियों को और भी अधिक सक्षम एवं प्रभावपूर्ण बनाया जाना चाहिए, ताकि लैंगिक समानता स्थापित हो सके।

(ii) **निर्णय प्रक्रिया-** पंचायत स्तर से संसद के स्तर तक महिलाओं को निर्णय प्रक्रिया में समुचित सहभाजन का अवसर सुनिश्चित किया जाना चाहिये तथा संसद स्तर तक महिलाओं के लिये 30% सीटों का आरक्षण अवश्य ही सुनिश्चित किया जाना चाहिये। जबकि अनेकों राजनैतिक दल अपने निहित स्वार्थों के चलते इस प्रस्ताव का अत्यधिक विरोध कर रहे हैं।

(iii) **विकासात्मक प्रक्रिया में लैंगिक परिवेश का अनुरक्षण-** विकासात्मक क्रिया-कलापों की नीतियाँ एवं कार्यक्रम इस प्रकार निर्मित होने चाहिये कि महिलाओं का सन्दर्भ मुख्य धारा में स्थित हो।

(ब) आर्थिक सशक्तिकरण

(i) **गरीबी उन्मूलन-** गरीबी रेखा के नीचे गुजर बसर करने वाले लोगों में महिलाओं की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है अतः इनके आर्थिक विकास हेतु विशिष्ट कदम उठाये जाने की आवश्यकता

है। सरकारी एवं गैर सरकारी सेवाओं में महिलाओं का स्थान आरक्षित करने की महती आवश्यकता है।

(ii) **बैंकों से ऋण–** बैंकों एवं अन्य ऋणदायी संस्थाओं से गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाली महिलाओं को विशेषरूप से आसान शर्तो पर ऋण देने की आवश्यकता है। ऋण प्राप्त करने के तरीके एवं अदायगी के नियम भी और सरल बना देना चाहिये।

(iii) **महिलायें एवं अर्थ व्यवस्था–** आज बड़ी औद्योगिक इकाइयों से लेकर कृषि मजदूरी तक लगभग हर क्षेत्र में महिलायें कार्य कर रही हैं। उत्पादकीय अर्थ व्यवस्था में उनका महत्वपूर्ण योगदान है किन्तु डम्बल रेगुलेशन एक्ट के मौजूद रहने के बाद भी उन्हें बहुत सी गैर संगठित इकाइयों में पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम मजदूरी मिलती है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है। इसे समाप्त कर महिलाओं को भी समान और आकर्षक मजदूरी दी जानी चाहिये।

(iv) **महिलायें एवं कृषि कार्य–** आज गामीण अंचल की बहुत सी महिलायें कृषि कार्य में लगी हुयी हैं। उनके आर्थिक सशक्तिकरण को विकसित करने के लिये यह आवश्यक है कि कृषि से जुड़े हुये कुछ विशिष्ट कार्यों का उन्हें प्रशिक्षण दिया जाये, जैसे स्वायल कन्जर्वेशन, लाईवस्टॉक, लघु पशुधन विकास, पोल्ट्री फार्मिंग तथा मत्स्यपालन इत्यादि। ताकि यह क्षेत्र भी महिलाओं की आय के साधन बन सकें।

(v) **महिलायें और उद्योग–** महिलाओं को उद्योग जगत से भी संबंधित कुछ प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये जैसे इन्फार्मेशन टेक्नॉलाजी, इलेक्ट्रोनिक्स एवं कम्यूनिकेशन क्षेत्र में प्रशिक्षण ताकि इन क्षेत्रों में भी या तो वे स्वयं कार्यरत हों, अथवा उन्हें कार्यरत होने का अवसर मिले तथा साथ ही श्रम कानूनों एवं सामाजिक सुरक्षा संबंधी कानूनों को भी महिलाओं के पक्ष में अधिक अनुकूल बनाया जाना चाहिये।

(vi) **सहायक सेवायें–** महिलाओं के कार्यरत होने पर उनके लिये सहायक सेवाओं की भी व्यवस्था होनी चाहिए, जैसे कार्य स्थल पर शिशु गृह एवं बच्चों की देख भाल की सुविधायें, शैक्षणिक संस्थानों की व्यवस्था तथा वर्किंग वोमेन हॉस्टल की समुचित व्यवस्था इत्यादि।

(स) सामाजिक सशक्तिकरण

(i) **सामाजिक सशक्तिकरण हेतु शैक्षणिक व्यवस्था–** महिलाओं एवं बालिकाओं को न केवल सेकेन्ड्री स्कूल तक की शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था होनी चाहिये वरन् उच्च शिक्षा का एवं प्राविधिक शिक्षा की भी निःशुल्क व्यवस्था होनी चाहिये ताकि शिक्षा के क्षेत्र में लैंगिक समानता स्थापित की जा सके।

(ii) **स्वास्थ्य–** महिलाओं की शारीरिक संरचना में पुरुषों की अपेक्षा रोग ग्रस्त होने की संभावना अधिक रहती है। अतः प्रयास यह होना चाहिये कि महिलाओं को पौष्टिक आहार एवं स्वास्थ्य

शिक्षण की न केवल व्यवस्था की जाये वरन् सरकारी और गैर सरकारी चिकित्सालयों में वरीयता के आधार पर निःशुल्क चिकित्सा की सम्यक व्यवस्था हो।

(iii) **पर्यावरण-** पर्यावरण से संम्बन्धित विभिन्न कारकों का महिलाओं के जीवन पर प्रभाव पड़ता है अतः पर्यावरण के दुष्प्रभावों से महिलाओं के संरक्षण हेतु समुचित प्रयास होने चाहिये। बहुत सी महिलायें घरों में खाना आदि बनाने के हेतु अभी भी उर्जा के परंपरागत स्रोतों पर ही आश्रित रहती हैं। उन्हें सोलर एनर्जी, बायोगैस, स्मोकलेस चूल्हा आदि की निःशुल्क व्यवस्था सरकार द्वारा की जानी चाहिये, ताकि महिलाओं का कार्य जीवन अधिक आरामदेह हो सके।

(iv) **कठिन परिस्थितियों की शिकार महिलायें-** कुछ महिलाओं को बहुत कठिन एवं दुःखद परिस्थितियों में जीवन यापन करना पड़ता है जैसे अत्यन्त निर्धनता में जीवन यापन, अपंग या असहाय महिलायें, प्राकृतिक आपदा ग्रस्त महिलायें, बाधित एवं अत्यन्त वृद्ध महिलायें, परित्यक्ता, वेश्या वृत्ति में कार्यरत एवं नौकरी से निष्कासित महिलायें। ऐसी महिलाओं के पुनर्वास अथवा समायोजन हेतु सरकारी एवं गैर सरकारी अभिकरणों के द्वारा विशेष प्रयास किया जाना चाहिये।

(v) **महिलाओं के विरुद्ध हिंसा-** महिलाओं के विरूद्ध की गयी सभी प्रकार की हिंसा (शारीरिक, मानसिक, घरेलू, सामाजिक, आर्थिक तथा किसी भी प्रकार से रीति-रिवाज, प्रथा एवं परंपरा से जनित कोई हिंसा यहाँ तक कि धार्मिक हिंसा) को सक्षमतापूर्वक और दृढ़तापूर्वक निपटाया जाना चाहिये। कुछ अन्य समस्यायें जैसे लैगिंग उत्पीड़न तथा दहेज प्रताड़ना आदि को भी कठोरता से निपटाया जाना चाहिए।

(vi) **जनसंचार साधनों की भूमिका-** जन संचार साधनों को महिलाओं के संबंध में एक ऐसी आचार संहिता विकसित करनी चाहिये कि उसके माध्यम से स्त्रीपुरूष के समान प्रस्थिति को स्वीकृति मिले एवं यदि कहीं पर भी महिलाओं का किसी भी प्रकार का शोषण हो रहा हो तो उसे तत्काल व्यंष्टि से समष्टि में लाया जाये।

(vii) **लैंगिग भेदभाव की समाप्ति के कुछ अन्य उपाय-** महिलाओं के साथ लैंगिग आधार पर किये जाने वाले भेदभाव के निराकरण हेतु कुछ अन्य उपाय भी किये जा सकते हैं, जैसे- लैंगिक मामलों एवं मानवाधिकार के प्रति सामाजिक अनुभूति का विकास, पाठ्यक्रमों का पुनरीक्षण कर उसमें मानवाधिकार को जोड़ना एवं लैंगिक आधार पर किये जाने वाले भेदभाव संबंधी अंशों को समाप्त करना, पाठ्यक्रमों से ऐसे सभी अंशों का निष्कासन जिनके द्वारा महिलाओं की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता हो, सामाजिक समानता एवं महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने वाले सभी जनसंचार साधनों को बढ़ावा देना चाहिए।

(द) राजनैतिक सशक्तिकरण

(i) स्थानीय निकायों, विधानसभाओं एवं लोकसभा में महिलाओं हेतु स्थानों का आरक्षण।

(ii) राष्ट्रीय महिला दिवस एवं ऐसे अन्य आयोजनों के सशक्त संचालन की व्यवस्था,

(iii) राष्ट्रीय महिला आयोग एवं अन्य ऐसे ही आयोगों का गठन

(य) संस्थागत प्रयास

(i) महिला सशक्तिकरण हेतु केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा गठित अभिकरण एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं को और अधिक शक्ति प्रदान करते हुये उनका सक्षम संचालन किया जाना चाहिये।

(ii) राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय परिषदों का गठन, जिसके द्वारा महिला सशक्तिकरण हेतु गठित सभी प्राधिकारियों के कार्यों की समय-समय पर समीक्षा और उन्हें प्रभावशाली बनाने के लिये सुझावों का प्रस्तुतिकरण।

महिला सशक्तिकरण के क्षेत्र में समाजकार्य की विधियों का प्रयोग

महिला सशक्तिकरण आज समाजकार्य का एक प्रमुख कार्य क्षेत्र बनता जा रहा है। इस क्षेत्र में समाज कार्य की विधियों का निम्नलिखित प्रयोग हो रहा है -

(i) **वैयक्तिक सेवा कार्य** – कुछ अभिकरणों में कार्यरत वैयक्तित सेवाकार्यकर्त्ता ऐसी महिलाओं के साथ कार्य कर रहे हैं। वे उनसे सम्बन्ध स्थापित कर उनकी ईगाो को सशक्त बनाते हुये न केवल वर्तमान सामाजिक परिवेश में उनका समायोजन करते हैं, वरन् उनकी छिपी हुयी क्षमताओं को भी पहचान कर इस प्रकार से उन्हें सक्षम बनाने में योगदान करते हैं कि वे वैयक्तिक रूप से सन्तोषप्रद एवं सामाजिक रूप से उपयोगी जीवन-यापन कर सकें।

(ii) **सामूहिक सेवा कार्य** - महिला सशक्तीकरण हेतु सामूहिक सेवाकार्य की सेवाओं को निम्नलिखित रूप में उपयोग किया जा रहा है :-

क- अनुसूचित जाति एवं जनजाति के महिला समूहों के साथ कार्य करते हुए सामूहिक सेवा कार्यकर्त्ता विभिन्न प्रविधियों का उपयोग करते हुये उनमें सामाजिक चेतना, आत्म शक्ति की चेतना एवं कार्यक्रमों को सक्षम ढंग से संचालित करते हुये लक्ष्य प्राप्ति की चेतना का विकास करता है।

ख- आजकल सरकारी क्षेत्रों में महिलाओं की गरीबी दूर करने एवं सामान्य जन की गरीबी दूर करने के लिये कुछ ऐसे कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं जो एक समूह में संचालित होते हैं जैसे 'स्वर्ण जयन्ती रोजगार योजना'। सामूहिक सेवा कार्य की प्राविधियों के माध्यम से इन कार्यक्रमों के लक्ष्यों की प्राप्ति में सक्षमता लायी जा सकती है।

ग- आज पंचायतों एवं स्थानीय निकायों में 30% स्थान महिलाओं के लिये आरक्षित हैं किन्तु अधिकांश स्थितियों में महिला सदस्य या तो बैठकों में भाग नहीं लेती हैं अथवा भाग लेने के बावजूद बैठकों में मौन धारण किये रहती हैं और अपने पतियों के रबर स्टाम्प के रूप में कार्य करती हैं। सामूहिक सेवा कार्य के माध्यम से ऐसी महिलाओं को एक साथ

लाकर उनमें कार्यक्रम विकास तथा उन कार्यक्रमों में सक्रिय सहभाजन, स्वस्थ अन्तक्रियाओं में सहभाजन आदि क्षमताओं का विकास किया जा सकता हैं, ताकि वे विभिन्न बैठकों में अपनी भूमिकाओं का पूर्ण सक्रिय एवं सशक्त निर्वहन कर सकें।

घ– कुछ पिछड़े समुदायों में महिलाओं की संख्या अधिक होती है और इन क्षेत्रों में विकास की लहर अभी भी सम्यक रूप से पहुँच नहीं सकी है। ऐसे क्षेत्र में समुदाय विकास के कुछ महत्वपूर्ण कार्यक्रम सामाजिक कार्यकर्त्ता द्वारा चलाये जा सकते हैं और इन कार्यक्रमों में महिलाओं की सक्रिय सहभागिता के माध्यम से न केवल उस क्षेत्र का विकास होगा अपितु सहभागी महिलाओं का भी सशक्तिकरण होगा।

च– महिलाओं की विभिन्न समस्याओं के संबंध में वैज्ञानिक विधि से शोधकार्य करते हुये उनका सटीक ढंग से निरूपण किया जा सकता है और उन समस्याओं के समाधान हेतु योजनाबद्ध तरीकों से कार्य किया जा सकता है।

छ– आज महिला सशक्तिकरण के क्षेत्र में बहुत से एन.जी.ओ. कार्यरत हैं। समाज प्रशासन के माध्यम से उनकी सेवाओं का सक्रिय रूप से प्रशासन किया जा सकता है।

ज– (i) महिला सशक्तिकरण क्षेत्र में सामाजिक क्रिया का विशेष उपयोग है। इस प्रकार की क्रियाओं के माध्यम से जनमानस में यह चेतना उत्पन्न की जा सकती है कि लैंगिक भेदभाव समाप्त किया जाये और महिलाओं को भी समाज में पुरुषों के बराबर समझा जाय,

(ii) सरकार पर सामाजिक क्रिया के माध्यम से दबाव डाल कर महिला सशक्तीकरण हेतु उपयुक्त कानून बनवाये जा सकते हैं और विद्यमान कानूनों में वांछित संशोधन किया जा सकता है।

(iii) आज भी बहुत से राज्यों में सरकारी एवं गैर सरकारी सेवाओं में महिलाओं के लिये आरक्षण नहीं हुआ है, इस दिशा में भी सामाजिक क्रिया के माध्यम से सरकार पर दबाव डालकर वांछित कानून बनवाये जा सकते हैं।

(iv) सरकार पर सामाजिक क्रिया के माध्यम से विशेष दबाव डालकर महिला सशक्तिकरण के कार्यक्रमों को विकास कार्यक्रम की मुख्य धारा में सम्मिलित कराया जा सकता है।

अभ्याय-16

बाल विकास

बाल विकास की प्रमुख परिभाषायें

बाल विकास की प्रमुख परिभाषायें इस प्रकार हैं :

1- **हजेल फ्रेडरिक्सन** (1957:7) के अनुसार, "बाल विकास एक हाथ के बाजे का गुण रखने वाला शब्द है। कुछ व्यक्तियों के लिए इससे एक संकीर्ण कार्य क्षेत्र का बोध होता है जैसे बच्चे का स्थान निर्धारण, लेकिन बाल विकास क्षेत्र के कार्यकर्ताओं के लिए इसका अर्थ बच्चे के जीवन के प्रत्येक पहलू जो उद्विकास एवं उचित विकास से संबन्धित है, को इसके अन्तर्गत लाना है। इसका तात्पर्य बच्चे के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उसके सामाजिक, बौद्धिक एवं संवेगात्मक विकास से है।"

2- **डेविड फेनू शेल (मिश्र,** 1996 : 249 **से उद्धृत)** के मत में, "विस्तृत रूप में 'बाल विकास' शब्द विभिन्न प्रकार के राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर प्रयासों को सन्दर्भित करता है जो बच्चों के स्वस्थ विकास के लिए किए जाते हैं।"

3- **फ्रेडडेल्ली क्वाडरी (मिश्र,** 1996:249 **से उद्धृत)** के शब्दों में, "बाल विकास से अर्थ उन क्रियाओं से है जो सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के माध्यम से आलम्बनात्मक (Supportive), संरक्षणात्मक एवं पूरक (Supplementary) सहायता तन्त्रों (System) तथा सेवाओं द्वारा राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा स्थानीय स्तर पर बच्चों तथा युवकों की भलाई में वृद्धि करती है।"

4- **स्मिथर तथा जीट्स** (1964 : 9) के मत में, "बाल विकास के क्षेत्र में बच्चों के विकास की सुरक्षित एवं प्रोत्साहित करने वाली विशिष्ट प्रकार की सेवाओं की शृंखला आती है।"

5- **सिन्धु फड़के (इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशलवर्कः वाल्यूम**-1, 1968 : 84) के अनुसार, "बाल विकास का अर्थ बच्चे का पूर्ण विकास है। इसके अन्तर्गत, वे सभी सेवायें आती हैं जो बच्चे में शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक समताओं के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक होती है।"

6- **तृतीय पंचवर्षीय योजना के लिए गठित समाज कल्याण कार्य के बाल विकास से सम्बन्धित उप समूह (पन्त** : 1963 : 8 **से उद्धृत)** के अनुसार, "बाल विकास का

अर्थ (यदि एक आर्थिक योजना पर विचार करना है) बच्चे की पूर्ण भलाई के अतिरिक्त कुछ नहीं है, और न ही हो सकता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने उद्विकास एवं विकास के लिए समान अवसर उपलब्ध करने का उद्देश्य रखने वाले सम्पूर्ण आर्थिक, प्रशासनिक, प्राविधिक, शैक्षिक एवं सामाजिक प्रयास आते है।"

7- **दि न्यू इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (पृष्ठ** 841) में बाल विकास (कल्याण) को स्पष्ट करते हुए कहा गया है, "पश्चिमी विश्व में, विशेषकर बड़े शहरों में, बाल विकास के अंतर्गत उच्च रूप से विशेषीकृत सेवायें आती हैं, जो शारीरिक उत्तरजीविका (Survival) की सीमा से परे होती हैं तथा व्यक्तित्व विकास, व्यावसायिक निर्देशन तथा खाली समय के प्रयोग की समस्याओं के निराकरण से संबंधित होती हैं। अर्द्ध विकसित देशों में तथा युद्ध एवं विपत्ति (Disaster) के पश्चात्, बच्चों को जीवित रखने के लिए आवश्यक उपायों जैसे आपात्कालीन भोजन व्यवस्था, रहने के स्थान की व्यवस्था तथा साधारण जन-स्वास्थ्य सावधानियाँ आती हैं।"

8- **चैम्बर्स इन्साइक्लोपीडिया वाल्यूम-।।। (पृष्ठ** 400) के अनुसार, "बच्चों की मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक भलाई की अभिवृद्धि के लिए भूतकाल में बाल विकास प्रावधान, राज्य द्वारा सरकारी रूप से तथा विभिन्न दातव्य संगठनों के माध्यम से सभी सभ्य देशों द्वारा भूतकाल में किए गए हैं।"

बाल विकास की परिभाषा के प्रमुख तत्व

1- बाल विकास के अन्तर्गत 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों के विकास के लिए कार्यक्रमों एवं सेवाओं का आयोजन किया जाता है।

2- इन कार्यक्रमों एवं सेवाओं का प्रमुख लक्ष्य है इन व्यक्तियों का सम्पूर्ण विकास करना।

3- इसमें आर्थिक, प्रशासनिक, प्राविधिक, शैक्षिक एवं सामाजिक प्रयास सम्मिलित हो सकते हैं।

4- कार्यक्रमों एवं सेवाओं का प्रमुख लक्ष्य इन व्यक्तियों का सम्पूर्ण विकास करना होता है ताकि उनकी शारीरिक, बौद्धिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक क्षमताओं का पूर्ण एवं समान रूप से विकास संभव हो सके।

5- ये कार्यक्रम सरकारी व गैर सरकारी दोनों प्रकार की संस्थाओं द्वारा चलाये जा सकते हैं।

इस प्रकार बाल विकास बच्चे के पूर्ण विकास के लिए किए गए प्रयासों को बोध कराता हैं बच्चे के पूर्ण विकास का अर्थ उसके समग्र शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास से है। इन प्रयासों के अंतर्गत वे सभी आर्थिक, प्राविधिक, शैक्षिक, सामाजिक एवं प्रशासकीय प्रयास आते हैं जिनका उद्देश्य प्रत्येक बालक को उसके उद्विकास एवं विकास के लिए समान अवसर प्रदान करना होता है।

बाल विकास के उद्देश्य

बालकों का विकास उनके परिवार और समुदाय से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। बाल विकास का उद्देश्य केवल बालकों को प्रत्यक्ष रूप से सेवा या सहायता प्रदान करना ही नहीं बल्कि उन कार्यों और परिस्थितियों को संगठित करना भी है जो इन संस्थाओं के कार्य-कलापों को सक्षम बनाने में सहयोगी हों। इसका उद्देश्य बालक के पूर्ण सर्वांगीण विकास में सहायता है।

इसके मुख्य बिन्दुओं में –

* बच्चों को व्यक्तिगत परिस्थितियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने में सहायता प्रदान करना है।
* विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से सामान्य बच्चों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना ताकि उनका शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक विकास हो सके।
* कमजोर एवं पिछड़े बालकों को सुरक्षा प्रदान करना जिससे उनका विकास अवरूद्ध न हो और वे स्वस्थ व्यक्तित्व को विकसित कर सके।
* बच्चों को किसी भी प्रकार के शोषण के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करना तथा आवश्यकतानुसार जनमत तैयार करना।
* बच्चों के विकास एवं संरक्षण के लिए स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध साधनों का पता लगाना तथा प्राथमिकता के आधार पर इनका उपयोग करना।
* विशिष्ट प्रकार की समस्याओं, असामन्जस्यों एवं विषम परिस्थितियों से ग्रस्त बच्चों के लिए विशेष कार्यक्रम चलाना। इस श्रेणी में शारीरिक एवं मानसिक नियोक्ताओं से मुक्त बच्चे, अपराधी परिवारों के बच्चे उपेक्षित, अनाथ एवं टूटे परिवारों के बच्चे आते हैं।
* कल्याणकारी कार्यक्रमों एवं योजनाओं को इस ढंग से चलाना कि प्रत्येक बच्चों में अनावश्यक आश्रितता का विकास न हो बल्कि स्वयं विकास की इच्छा जागृत हो।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बाल विकास का उद्देश्य उन सेवाओं को उपलब्ध कराना है जिससे सामान्य बच्चों तथा समस्याग्रस्त बच्चों की कल्याणकारी प्रगति संभव हो सकें।

बाल विकास एवं कल्याण के क्षेत्र

बाल विकास के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर सार्वजनिक और निजी संस्थाएँ विभिन्न प्रकार की सेवाओं का आयोजन करती है जो संस्थागत और असंस्थागत स्तरों पर प्रदान की जाती है। इन सेवा में :-

* **विकासशील सेवाएँ :** ये सेवाएँ समाज में रहने वाले प्रत्येक बच्चे को उसके सामान्य विकास की दृष्टि से उपलब्ध की जाती है। जैसे- शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि सुविधायें।

* **सुधारात्मक एवं पुनर्वास सेवाएं :** जो बालक शारीरिक दृष्टि से विकलांग, मानसिक दृष्टि से मंदित, सामाजिक दृष्टि से उद्दण्ड एवं असंतुलित और असमायोजित होते हैं उनके जीवन में सुधार एवं पुनर्वास सेवाओं द्वारा ही समायोजन लाया जा सकता है।
* **संरक्षण सेवाएँ :** बालकों को अपने पूर्ण विकास के लिए ऐसी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं जो उनको सुरक्षा भावना का आभास करा सकें। यह भावना उन बालकों में देखने को नहीं मिलती जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं या जिनके परिवार नहीं हैं और यदि हैं तो असंतोष के कारण उनमें रह नहीं सकते। इसमें गरीब, अनाथ आदि आते हैं जिन्हें विशेष सहायता, पोषण सुविधा या गोद लेने की सेवाओं का आयोजन किया जाता है। जिससे उनका जीवन सुरक्षित हो सकें।
* **सलाहकारात्मक सेवाएँ :** आधुनिक युग में बालकों को सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विकास के लिए एवं परिवार के सदस्यों के लिए विशेष प्रकार की सेवाएँ उपलब्ध हैं जैसे बाल निर्देशन उपचार गृह, मनोवैज्ञानिक उपचार गृह।

बालकों की समस्याएँ
(Problems of Children)

बालकों की कुछ समस्याएँ सभी बालकों के साथ सामान्य रूप से लागू होती है, लेकिन कुछ विशिष्ट श्रेणियों के बालकों को विशेष प्रकार की समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। सामान्य बालकों तथा कुछ विशेष श्रेणियों के बालकों की समस्याओं की विवेचना नीचे की जाती है –

1. सामान्य बालकों की समस्याएँ(Problems of Children in General)–

बालकों को सामान्य रूप से स्वास्थ्य और पोषाहार, शिक्षा, मनोरंजन तथा संरक्षा की समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(i) **स्वास्थ्य एवं पोषाहार की समस्या** (Problems of Health and Nutrition)– भारत जैसे- निर्धन देशों में बालकों को स्वास्थ्य एवं पोषण-संबंधी जटिल समस्याओं का समाना करना पड़ता है। इन देशों में आर्थिक विकास तथा स्वास्थ्य-सेवाओं में सुधार के बावजूद शिशु मृत्यु-दर बहुत अधिक है। 1978 के एक राष्ट्रीय अनुमान के अनुसार देश में प्रति हजार जीवित जनमे शिशुओं में 125 की मौत हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह दर 136 तथा शहरी क्षेत्रों में 70 है। 1946-51 की अवधि में देश में औसत शिशु मृत्यु-दर प्रति हजार 134, 1951 में 146, 1981 में 110, 1991 में 80 तथा 2002 में 63 थी। शिशुओं में मृत्यु-दर जन्म के समय सबसे अधिक है। लगभग 60 प्रतिशत मौतें जीवन के पहले महीने में ही होती हैं। भारत में करोड़ों बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान द्वारा 1981 में ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में कराए गए अध्ययन के अनुसार 72 प्रतिशत बच्चे कुपोषित थे। इनमें ग्रामीण

क्षेत्रों में 23 प्रतिशत तथा आदिवासी क्षेत्रों 27 प्रतिशत बच्चे गंभीर कुपोषण के कारण अनेक बच्चे खसरा, काली खाँसी, तपेदिक, टिटेनस और पोलियो जैसी बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। साथ-ही-साथ, कुपोषण और उससे उत्पन्न बीमारियों के कारण अनेक बच्चे स्थायी रूप से विकलांग हो जाते हैं। भारतीय पोषण-प्रतिष्ठान (Nutrition Foundation of India) के अनुमान में 1983 में साधारण शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता के कारण देश में 6 वर्ष से कम उम्र के लगभग 3 करोड़ बच्चों की वृद्धि खतरे में भी। भारत सरकार द्वारा 1993 में राष्ट्रीय पोषाहार नीति के सिलसिले में कहा गया कि 1988-90 में लगभग 44 प्रतिशत बच्चे मध्य श्रेणी के प्रोटीन-ऊर्जा से संबंद्ध कुपोषण तथा लगभग 9 प्रतिशत बच्चे गंभीर कुपोषण के शिकार थे। इसी संदर्भ में यह भी स्वीकार किया गया कि देश में बड़ी संख्या में बच्चे लौह, आयोडीन और विटामिन 'ए' की कमी के कारण कई रूप से रूग्ण हो जाते हैं। लंबी अवधि तक कुपोषण और पानी की खराबी से उत्पन्न होने वाली बीमारियों के कारण अनेक बच्चे कभी न खत्म होने वाले अस्वस्थता के दुश्चक्र में फँस जाते हैं। इनके अतिरिक्त, अशिक्षा, अज्ञानता और निर्धनता के कारण कई बच्चों का इलाज समय पर नहीं हो पाता। देश में स्वास्थ्य सेवाएँ भी बालकों की स्वास्थ्य-संबंधी आवश्यकताओं के अनुपात में पर्याप्त नहीं है। इस तरह, भारत में बालकों की स्वास्थ्य एवं पोषण-संबंधी समस्याओं में ऊँची शिशु मृत्यु-दर, शारीरिक और मानसिक अस्वस्थता की ऊँची दर, अस्थायी या स्थायी विकलांगता पैदा करने वाली पोषण से संबद्ध बीमारियाँ और गंभीर कुपोषण सम्मिलित हैं।

(ii) **शिक्षा की समस्याएँ** (Problems of Education)- सामान्य बालकों की दूसरी मुख्य समस्या शिक्षा की है। विश्व के कई विकसित देशों में 15 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की नीति को प्रभावी ढंग से लागू किया गया है। इन देशों में शिक्षा के स्तर ऊँचे हैं, तथा शिक्षा-प्रणाली भी विकसित अवस्था में है। दूसरी ओर, भारत जैसे निर्धन देशों में अनेक बालकों को शिक्षा के अवसर मिलते ही नहीं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा कुछ पिछड़ी जातियों के कई बच्चे तो साक्षर भी नहीं हो पाते। यद्यपि भारतीय संविधान में 14 वर्ष से कम उम्र के बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए राज्य को निर्देश दिए गए हैं और कई राज्यों में इस संबंध में कानून भी बनाए गए हैं, लेकिन देश में अभी तक निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाई है। 1950-51 से 6-11 वर्ष की उम्र के बालकों में केवल 43 प्रतिशत तथा 11-14 वर्ष के बीच के बालकों में केवल 13 प्रतिशत के ही नाम विद्यालयों में अंकित थे। सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में उठाए गए महत्वपूर्ण कदमों के फलस्वरूप बालकों की शिक्षा में व्यापक सुधार हुआ है, लेकिन स्थिति अभी तक संतोषजनक नहीं हो पाई है। 1981 के बाद से तो प्रारंभिक शिक्षा के लिए स्कूलों में नामांकन के आँकड़े अकसर बालकों के लिए शत-प्रतिशत से भी अधिक तथा बालिकाओं के लिए कुछ कम प्रकाशित किए जाते हैं, लेकिन ये आँकड़े भ्रामक हैं, क्योंकि

नामांकन के बाद बड़ी संख्या में बच्चे स्कूल जाना बंद कर देते हैं तथा कई के नाम एक से अधिक विद्यालयों में अंकित रहते हैं। माध्यमिक कक्षाओं तक आते-आते उनकी संख्या बहुत ही कम हो जाती है। स्कूल छोड़ने वालों में बालिकाओं का अनुपात बहुत अधिक है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर 2002 से 6-14 वर्ष आयु-वर्ग के बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा को एक बुनियादी अधिकार बनाने हेतु संसद ने 86वाँ संविधान संशोधन अधिनियम पारित किया। साथ ही, 2001 में 'सर्वशिक्षा अभियान' की महत्त्वाकांक्षी योजना शुरू की गई। सरकार के सतत् प्रयासों के बावजूद आज भी देश में बालकों की प्रारंभिक शिक्षा की स्थिति अत्यंत ही असंतोषजनक है।

(iii) **मनोरंजन की समस्याएँ** (Problems of Recreation)– भारत में जनसंख्या का एक बड़ा भाग निर्धनता से ग्रस्त है। निर्धन परिवार तो बच्चों के समुचित भोजन तथा उनके स्वास्थ्य की रक्षा के बोझ से ही दबे रहते हैं। उनसे बालकों के स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन की आशा करना ही व्यर्थ है। देश में सार्वजनिक क्रीड़ा-स्थलों तथा मनोरंजनात्मक सेवाओं की भी व्यापक कमी है। अधिकांश विद्यालयों में तो उनके खेलकूद या मनोरंजन की सुविधाएँ नहीं के बराबर रहती हैं। समुचित मनोरंजन के अभाव में उनका शारीरिक और मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। धनी एवं गंदी बस्तियों तथा नगरों में बालकों के स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन की समस्या और भी गंभीर है।

(iv) **संरक्षा की समस्या** (Problems of Protection)– बालक समाज के सबसे दुर्बल समूह होते हैं। जीवन के प्रारंभिक वर्षों में उन्हें संरक्षा की विशेष आवश्यकता होती है। अधिकांश परिवारों में माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्य उन्हें कम या अधिक मात्रा में संरक्षा देते हैं, लेकिन कई परिवारों में वे उपेक्षित रहते हैं। कई बच्चों के परिवार में कोई संरक्षक नहीं होता। ऐसे बच्चों की देखभाल एक बड़ी समस्या होती है। कई परिवारों में लोग अज्ञानता तथा अशिक्षा के कारण बालकों की संरक्षात्मक आवश्यकताओं को समझ भी नहीं पाते हैं। इस कारण कई बच्चों को दुर्घटनाओं, संवेदनात्मक तनाव, निर्दयता एवं उपेक्षा का सामना करना पड़ता है। संरक्षा के अभाव में उनका समुचित विकास नहीं हो पाता। विघटित परिवारों के बच्चों तथा अधर्मग (illegitimate), निराश्रित और अनाथों की संख्या की समस्या दिन-प्रतिदिन गंभीर होती जा रही है।

उपर्युक्त समस्याओं का सामना सभी श्रेणियों के बालकों को करना पड़ता है। धनी और संपन्न देशों में इनका समाधान आसानी से हो जाता है, लेकिन निर्धन और बड़ी जनसंख्या वाले देशों में साधनों की कमी के कारण वे जटिल बनी रहती हैं। कुछ विशेष श्रेणियों के बालकों को इन सामान्य समस्याओं के अतिरिक्त अन्य समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है जिनकी विवेचना नीचे की जाती है।

2. बाल–विकलांगों की समस्याएँ(Problems of Handicapped Children)

विकलांगों के अंतर्गत नेत्रहीन, मूकबधिर, अपंग तथा मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति सम्मिलित हैं। भारत में लगभग 90 लाख व्यक्ति नेत्रहीन हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के अनुसार देश में 1981 में कुछ विकलांगों की संख्या लगभग 1.20 करोड़ थी जो गूँगेपन, अंधेपन जैसे विकलांगता के शिकार थे। इस संगठन के सर्वेक्षण के अनुसार 1991 में देश में शारीरिक रूप से विकलांगों की संख्या 1.60 करोड़ से अधिक थी, जो कुल जनसंख्या का 1.9 प्रतिशत है। इसी प्रकार, देश में लाखों की संख्या में मूक-बधिर और शारीरिक रूप से अपंग व्यक्ति हैं। मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या की देश में निरंतर बढ़ रही है। अनुसंधान संगठनों के अध्ययनों से संकेत मिलता है कि मानसिक रूप से विकलांगों की संख्या कुल जनसंख्या की 2 से 2.5 प्रतिशत के आसपास है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अध्ययन के अनुसार 1991 में 1-14 वर्ष के बालकों में मानसिक विकृति से ग्रस्त बालकों की संख्या शहरी क्षेत्रों में 29 तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 30 प्रति हजार थी। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन द्वारा 2002 में कराए गए सर्वेक्षण के अनुसार देश में विकलांग व्यक्तियों की अनुमानित संख्या 1.85 करोड़ है जो देश की कुल जनसंख्या का 1.8 प्रतिशत है। इनमें लोकोमोटर से ग्रस्त (चलन या गति संबंधी) 106.34 लाख, श्रवण विकलांगता से ग्रस्त 30.62 लाख, मूक 21.55 लाख, दृष्टिहीन 20.13 लाख, आंशिक दृष्टिदोष से पीड़ित 8.13 लाख तथा मानसिक अल्पविकास से ग्रस्त 9.95 लाख हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार देश में विकलांग व्यक्तियों की संख्या 2. 19 करोड़ हैं जो कुल जनसंख्या का 2.13 प्रतिशत है। बड़ी संख्या में विकलांगों की विकलांगता बचपन में ही प्रारंभ होती है तथा कई जन्म से ही विकलांग हैं। आज भी, विकलांगों में सबसे अधिक 15 वर्ष से कम उम्र के बालक हैं।

विकलांग बालकों से सबसे अधिक दुर्दशा नेत्रहीनों की होती है। उन्हें अपने नित्य के कार्यों के लिए भी दूसरों पर पूरी तरह निर्भर रहना पड़ता है। आँखों की रोशनी के अभाव में वे न तो उपलब्ध सुख-सुविधाओं के लाभ उठा सकते हैं और नही पढ़-लिखकर स्वावलंबी बन सकते हैं। उनका जीवन अंधकारमय होता है। दूसरे बच्चों के खेलकूद, पढ़ाई-लिखाई और हँसी-खुशी के बारे में सुनकर वे अपने जीवन को कोसते रहते हैं। मूक-बधिर तो देख सकते हैं, लेकिन वे भी शिक्षा तथा समुचित मनोरंजन की सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं। प्रयासों के बावजूद उनका समुचित बौद्धिक विकास नहीं हो पाता। गंभीर अपंगता के शिकार बच्चों की स्थिति भी बड़ी दयनीय होती है। विकलांग बालकों की विशेष प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जिससे आगे चलकर वे थोड़ा-बहुत भी स्वावलंबी बन सकें। ऐसे बालकों को विशेष चिकित्सा तथा उपकरणों की भी आवश्यकता होती है। कई विकलांग बालकों के लिए संस्थागत देखभाल और समुचित पुनर्वासन की भी जरूरत पड़ती है। उनकी अन्य समस्याओं में तिरस्कार तथा छेड़खानी, मनोरंजन के अभाव तथा परनिर्भरता की समस्याएँ सम्मिलित हैं। कम उम्र में निवारक उपायों से अनेक बालकों की विकलांगता रोकी जा सकती है।

3. अनाथ एवं अधर्मज बालकों की समस्याएँ (Problems of the Orphan and Illegitimate Children)–

भारत में अनाथ बालकों की संख्या भी बहुत अधिक है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले प्रायः होने वाली महामारियों तथा अकालों के कारण अनेक बच्चे अपने माता-पिता से बिछुड़ जाते थे। सार्वजनिक स्वास्थ्य-सेवाओं में सुधार के फलस्वरूप महामारियों पर प्रभावी रूप से नियंत्रण हुआ है, लेकिन आज भी बाढ़, दुर्घटनाओं, संक्रामक रोगों, सांप्रदायिक झगड़ों आदि के कारण अनेक परिवार नष्ट हो जाते हैं और कई बच्चे निराश्रय हो जाते हैं। ये अनाथ बच्चे दर-दर के भिखारी बने फिरते हैं। भारत में पारिवारिक विघटन, अवैध यौन-संबंध, बलात्कार आदि में वृद्धि के कारण अधर्मज बालकों की संख्या भी निरंतर बढ़ रही है। ऐसे बालकों को समाज स्वीकार नहीं करता।

अनाथ, अधर्मज और अन्य निराश्रित बालकों को कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। एक ओर तो वे माता-पिता और परिवार की संरक्षा से वंचित रहते हैं, दूसरी ओर वे समाज से उपेक्षित और तिरस्कृत रहते हैं। इनमें कुछ बच्चों को तो अनाथालयों में शरण मिल जाती है, लेकिन अनेक मारे-मारे फिरते हैं। इनमें कई अपना पेट भरने के लिए भीख माँगने लगते हैं तथा कई जूता-पॉलिश, कागज इकट्ठा करने या इस तरह का कोई और धंधा अपनाकर गुजर-बसर कर लेते हैं। कुछ को घरों, छोटे-छोटे होटलों, चाय की दुकानों, मोटर-स्कूटर मरम्मत के प्रतिष्ठानों आदि में नौकरी मिल जाती है। अनेक निराश्रित बालक बुरी संगति में फँसकर चोरी, पॉकेटमारी तथा अन्य प्रकार के अपराध भी करने लगते हैं। निराश्रित बालकों की समस्याओं में संस्थागत देखभाल, प्रतिपालक देखभाल (foster care), शिक्षा, स्वास्थ्य एवं पोषाहार, निर्वाह तथा पुनर्वास की समस्याएँ मुख्य है।

4. बाल-श्रमिकों की समस्याएँ (Problems of Child Labourers)–

जनगणनाओं के अनुसार भारत में 1971 में लगभग 1.08 करोड़, 1981 में 1.36 करोड़, 1991 में 1.13 करोड़ तथा 2001 में लगभग 1.5 करोड़ बालक श्रमिकों के रूप में काम पर लगे थे। यद्यपि भारतीय संविधान में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने हेतु राज्य को निर्देश दिए गए हैं तथा कारखानों, खानों और अन्य संकटपूर्ण नियोजनों में बालश्रम पर प्रतिबंध लगाया गया है, फिर भी व्यवहार में यह प्रतिबन्ध अभी तक संभव नहीं हो पायी है। भारत में अनेक बालकों को पारिवारिक आय बढ़ाने या अपना निर्वाह करने के लिए श्रमिक के रूप में काम करना पड़ता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि देश में बाल-श्रमिकों की संख्या कम होने के बजाए निरंतर बढ़ रही है। यूरोपीय देशों में बालश्रम पर पूर्ण प्रतिबंध लगा हुआ है, लेकिन निर्धनता से ग्रस्त विकासशील देशों में इसे व्यावहारिक रूप देना अत्यंत ही कठिन होता है। आज भारत में अनेक बच्चे घरों, चाय की दुकानों, छोटे-छोटे होटलों, मोटर-स्कूटर मरम्मत की दूकानों जिल्दसाजी के कामों, पशुपालन, खेती के कामों, आतिशबाजी एवं कालीन उद्योगों, बीड़ी उद्योग तथा कई अन्य नियोजनों या

व्यवसायों में लगे हैं। कई बाल-श्रमिकों से कठिन शारीरिक श्रम लिया जाता है। कई से निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया जाता है और उन्हें शारीरिक यातनाएँ भी दी जाती हैं। उनको दी जाने वाली मजदूरी भी निम्न रहती आई है तथा उन्हें वयस्कों की तरह कठिन दशाओं में काम करना पड़ता है। उनमें कई को विश्राम और मनोरंजन के अवसर भी नहीं मिल पाते। ऐसे बालकों को शिक्षा भी उपलब्ध नहीं हो पाती।

5. **बाल–अपराधियों की समस्याएँ** (Problem of Juvenile Delinquents)–

बाल-अपराध तो अपने में एक गंभीर सामाजिक समस्या है, लेकिन बाल-अपराधियों में सुधार लाना और बाल-अपराध को रोकना बाल-कल्याण का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। आज देश में प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में बालक संज्ञेय अपराध (cognizable offence) करते पकड़े जाते हैं। कुछ वर्षों में उनकी संख्या 1.5 लाख से भी अधिक पाई गई है। 1987 में भारतीय दंड संहिता तथा विशेष एवं स्थानीय कानूनों के अंतर्गत संज्ञेय अपराध करने वाले बाल-अपराधियों की संख्या 53 हजार तथा गिरफ्तार किए गए बाल-अपराधियों की संख्या 1.8 लाख थी। इसके बाद से दोनों की संख्या घटती गई है, लेकिन उसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। कई बालकों द्वारा किए गए अपराधों का पता ही नहीं लगता। पारिवारिक विघटन, सामाजिक नियंत्रण की शिथिलता, निर्धनता की व्यापकता, अनैतिक वातावरण, प्रलोभनों में वृद्धि, संरक्षा के अभाव तथा आचरण-संबंधी कृत्यों में परिवर्तन के कारण देश में बाल-अपराधियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। पाश्चात्य देशों में भी बाल-अपराध की समस्या गंभीर बनी हुई है। बाल-अपराध के नियंत्रण के लिए निवारक उपायों पर जोर देना अति आवश्यक है। समुचित शिक्षा और प्रशिक्षण, निर्धनता-उन्मूलन, पारिवारिक विघटन की रोकथाम, स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन, नैतिक आचरण को प्रोत्साहन, संरक्षा तथा प्रभावी सामाजिक नियंत्रण के माध्यम से अनेक बालकों को अपराध करने से रोका जा सकता है। लेकिन, साथ-ही-साथ यह भी आवश्यक है कि जो बालक अपराध करने लगे हैं, उनके सुधार और पुनर्वासन की व्यवस्था की जाए। आभ्यासिक (habitual) बाल-अपराधियों के लिए समुचित संस्थागत देखभाल की भी आवश्यकता होती है।

बालक जन-समुदाय के ही एक भाग होते हैं। इसी कारण, उनकी समस्याएँ मानवीय संस्थाओं की प्रकृति से जुड़ी होती है। समुचित आर्थिक एवं सामाजिक विकास से बालकों की कई समस्याओं का समाधान आसानी से हो सकता है। बालकों की समस्याओं के समाधान के लिए परिवार की संरचना और कार्यों में सुधार तथा पारिवारिक सेवाओं का विस्तार भी आवश्यक है।

॥ बालकों के अधिकार
(Rights of Children)

बालकों के अधिकारों के संबंध में अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर समय-समय पर प्रस्ताव पारित किए जाते रहे हैं। इस संदर्भ में 1924 की जेनेवा-घोषणा तथा 1959 की संयुक्त राष्ट्र महासभा

द्वारा पारित बाल-अधिकारों की घोषणा महत्वपूर्ण है। बालकों के अधिकारों को मानव-अधिकारों से संबद्ध घोषणाओं, अन्य अंतर्राष्ट्रीय नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों से संबद्ध प्रसंविदाओं, तथा बालकों के कल्याण से जुड़े विशिष्ट अभिकरणों और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा भी मान्यता प्रदान की गई है। इन्हें तथा परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा 20 नवंबर, 1989 को बालकों के अधिकारों के संबंध में एक नया अभिसमय (convention) पारित किया गया। इस अभिसमय में बालकों के अधिकारों के बारे में कई उपबंध हैं। अभिसमय के अनुच्छेद 2 में कहा गया है- "इस समझौते में शामिल देश अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रत्येक बच्चे के लिए, बच्चे अथवा उसके माता-पिता और कनूनी अभिभावक की जाति, वर्ग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक तथा अन्य विचार, राष्ट्रीय, जातीय अथवा सामाजिक उद्गम, संपति, विकलांगता, जन्म और प्रस्थिति के भेदभाव के बिना इस समझौते में प्रदत्त अधिकारों का सम्मान करेंगे और इन्हें सुनिश्चित करेंगे।" भारत ने भी इस अभिसमय को अनुसमर्थित किया है।

संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा पारित इस अभिसमय या समझौते में बालकों के आधारभूत अधिकारों में निम्नलिखित का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है -

1. जीने का अधिकार (Right to Survival)—

इसके अंतर्गत जीवन, उच्चतम संभव स्वास्थ्य-संबंधी मानक, पोषाहार तथा रहन-सहन के पर्याप्त स्तर के अधिकार सम्मिलित है। अभिसमय के अनुच्छेद 6 में कहा गया है - "समझौते में शामिल देश मानते हैं कि हर बच्चे को जीने का जन्मजात अधिकार है"। वे बच्चों के जीवित रहने और विकास को सुनिश्चित करने का हर संभव प्रयास करेंगे। अनुच्छेद 24 में कहा गया है- "समझौते में शामिल देश बीमारी के उपचार और फिर स्वस्थ होने के उच्चतम संभव स्वास्थ्य-संबंधी मानक तथा सुविधाएँ प्राप्त करने के बच्चे के अधिकार को मान्यता देते हैं" इसी अनुच्छेद के अंतर्गत जिन क्षेत्रों पर विशेष जोर दिया गया है, उनमें मुख्य है- (i) शिशु तथा बाल-मृत्यु समाप्त करना, (ii) आवश्यक चिकित्सा-सेवा तथा स्वास्थ्य की देखभाल उपलब्ध और सुनिश्चित करना, (iii) बीमारी और कुपोषण को दूर करने के उपाय, (iv) बच्चे के जन्म के पूर्व और बाद में माताओं के लिए उपयुक्त स्वास्थ्य-संबंधी देखभाल सुनिश्चित करना, (v) समाज के सभी वर्गों द्वारा बाल-स्वास्थ्य और पोषण की बुनियादी बातों, स्वच्छता, पर्यावरण की शुद्धता और दुर्घटनाओं को रोकने के बारे में जानकारी देना, तथा (vi) बच्चों के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक परंपरागत प्रथाओं को समाप्त करने के लिए सभी प्रभावी और उचित उपाय करना।

2. संरक्षण का अधिकार (Right to Protection)—

इसके अंतर्गत सभी प्रकारों के शोषण, दुरूपयोग, अमानवीय बर्ताव तथा तिरस्कार से मुक्ति तथा आपात एवं सशस्त्र संघर्षों की स्थिति में विशेष संरक्षा के अधिकार सम्मिलित हैं। हरसंभव प्रयास करेंगे कि बच्चे की देखभाल और विकास का दायित्व माता और पिता दोनों

का है। बच्चे का सर्वोत्तम हित ही उनकी बुनियादी चिंता होनी चाहिए।" इस अधिकार की प्राप्ति के लिए समझौते में शामिल देश बच्चे के माता-पिता और कानूनी अभिभावकों को उचित सहायता देंगे और वे बच्चों पर उचित ध्यान देने के लिए संस्थाओं, सुविधाओं और सेवाओं के विकास को भी सुनिश्चित करेंगे। अभिसमय के अनुच्छेद 32 में कहा गया है- "समझौते में शामिल देश आर्थिक शोषण और जोखिम-भरे अथवा बच्चे की शिक्षा में बाधा डालने वाले अथवा बच्चे के स्वास्थ्य अथवा शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, नैतिक या सामाजिक विकास के लिए हानिप्रद कार्यों में बच्चे के संरक्षण अधिकार को मान्यता देते हैं"। इस उपबंध का कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए विधायी, प्रशासनिक, सामाजिक और शैक्षिक उपाय किए जाएँगे। विशेष रूप में रोजगार के लिए न्यूनतम आयु अथवा विभिन्न रोजगारों के लिए अलग-अलग न्यूनतम आयु निर्धारित की जाएगी, रोजगार के घंटों और परिस्थितियों के बारे में उपयुक्त विधान बनाए जाएँगे और इस उपबंध का कार्यान्वयन सुनिश्चित करने के लिए उपयुक्त दंड और अन्य प्रतिबन्धों की व्यवस्था की जाएगी।

3. **विकास का अधिकार** (Right to Development) –

अभिसमय के अनुच्छेद 6 के अंतर्गत बालकों के विकास के लिए अधिकार को सुनिश्चित करने को जोर दिया गया है। इसके अंतर्गत शिक्षा का अधिकार, प्रारम्भिक बाल्यावस्था-विकास तथा देखभाल, सामाजिक सुरक्षा, अवकाश के अवसर, मनोरंजनात्मक तथा सांस्कृतिक क्रियाकलाप के अधिकार को सम्मिलित किया गया है। अभिसमय के अनुच्छेद 28 में कहा गया है - "समझौते में शामिल देश बच्चों की शिक्षा के अधिकार को मान्यता देते हैं"। समान अवसर के आधार पर इस अधिकार को उपलब्ध कराने में निरंतर प्रगति के लिए जिन उपायों पर जोर दिया गया है, उनमें मुख्य है - (i) प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाकर सभी बच्चों को निःशुल्क उपलब्ध कराना, (ii) सामान्य और व्यावसायिक शिक्षा सहित माध्यमिक शिक्षा के विभिन्न रूपों के विकास को बढ़ावा देना, (iii) सभी बच्चों को शैक्षिक तथा व्यावसायिक सूचना और दिशा-निर्देश उपलब्ध तथा सुलभ कराना, (iv) विद्यालयों के बच्चों की नियमित उपस्थिति सुनिश्चित करने तथा पढ़ाई के बीच में ही बच्चों का विद्यालय छूट जाने की दर को कम करना। विकास के अधिकार के अंतर्गत बच्चे की मानवीय गरिमा के अनुरूप अनुशासन लागू करने के तरीके अपनाने तथा अज्ञान और निरक्षरता समाप्त करने में अंतरराष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करने पर भी जोर दिया गया है। अनुच्छेद 31 के अंतर्गत बच्चों के आराम करने, खेलने, अपनी उम्र के अनुरूप मनोरंजन करने और सांस्कृतिक जीवन तथा कलाओं में मुक्त रूप से भाग लेने के अधिकार को मान्यता प्राप्त की गई है।

4. **भागीदारी का अधिकार** (Right to Participation)–

इसके अंतर्गत बालकों के विचारों के प्रति सम्मान, अभिव्यक्ति की स्वंतत्रता, उपयुक्त सूचना का सामीप्य, विचार, अंतरात्मा तथा धर्म की स्वतंत्रता शामिल है। अनुच्छेद 12 में कहा

गया है- "अपने विचार बना सकने वाले बच्चे को समझौते में शामिल कर देश को आश्वस्त करेंगे कि उससे जुड़े हर मुद्दे पर स्वतंत्र रूप से अपने विचार व्यक्त करने का उन्हें अधिकार है।" अनुच्छेद के अधीन बच्चे के अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को स्वीकार किया गया है। अनुच्छेद 14 के अंतर्गत विचारों, अंतरात्मा और धर्म के स्वतंत्रता को बच्चों के अधिकारों में शामिल किया गया है।

अभिसमय में बालकों के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए विधायी आधार अपनाने पर जोर दिया गया है।

राष्ट्रीय बाल घोषणापत्र (National Child Declaration)- उपर्युक्त अंतर्राष्ट्रीय समझौते के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए देश में राष्ट्रीय बाल घोषणा पत्र 9 फरवरी, 2004 को राजपत्र में अधिसूचना किया गया। इस घोषणा पत्र का उद्देश्य बच्चों को जीवन जीने, स्वास्थ्य-देखभाल, पोषाहार, जीवन जीने, स्वास्थ्य-देखभाल, पोषाहार, जीवन-स्तर, शिक्षा, शोषण से मुक्ति के अधिकार सुनिश्चित कराना है। इसमें परिवार, समाज और देश के प्रति बच्चों के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है।

III. संविधान के उपबंध तथा राष्ट्रीय नीति
(Provision of the Constitution and National Policy)

सामान्यतः बाल-कल्याण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कदम देश की स्वतंत्रता के बाद की उठाए गए। बालकों के कल्याण में सरकार के अतिरिक्त ऐच्छिक अभिकरणों का योगदान भी सराहनीय रहा है। बालकों के संबंध में संविधान के उपबंधों, सरकार की नीति तथा उनके कल्याण के लिए उठाए गए कदमों की विवेचना निम्नलिखित है -

1. **संविधान के उपबंध** (Provision of the Constitution)- भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों तथा राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत बालकों के हितों की रक्षा और उनके कल्याण से संबद्ध महत्वपूर्ण उपबंध है। संविधान के अनुच्छेद (Ariclr) 15 के अधीन धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग, जन्म-स्थान आदि के आधार पर नागरिकों के बीच राज्य द्वारा भेदभाव करने की मनाही की गई है, लेकिन राज्य महिलाओं और बालकों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है। शोषण से रक्षा के मौलिक अधिकार से संबद्ध अनुच्छेद 24 में कहा गया है कि 14 वर्ष से कम उम्र के किसी भी बालक को कारखानों, खानों या अन्य संकटपूर्ण नियोजनों में नहीं लगाया जाएगा। राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धांतों के अन्तर्गत संविधान के अनुच्छेद 39 में कहा गया है कि सरकार ऐसी नीति का निर्देशन करेगी कि बालकों की कोमल उम्र का दुरुपयोग न हो, उन्हें स्वतंत्रता और गरिमा की दशाओं में स्वस्थ ढंग से विकसित होने के अवसर और सुविधाएँ मिल सकें तथा उनकी बाल्यावस्था या युवावस्था शोषण और नैतिक एवं भौतिक परित्याग से रक्षित रह सके। अनुच्छेद 45 के अंतर्गत राज्य को संविधान के लागू होने के 10

वर्ष के अंदर 14 वर्ष के कम उम्र के सभी बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने के निर्देश दिए गए हैं। संविधान के कुछ अन्य उपबंध जैसे- पोषण के स्तर में सुधार, लोगों के रहन-सहन में सुधार, सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार, बेगार का उन्मूलन, शिक्षा पाने का समानाधिकार, अपाहिजपन की स्थिति में सहायता आदि से संबद्ध उपबंधों का भी बाल-कल्याण से गहरा संबंध है।

2. **बालकों के संबंध में राष्ट्रीय नीति** (National Policy for Children)- 1974 में भारत सरकार द्वारा बालकों के लिए एक राष्ट्रीय नीति की घोषणा की गई। इस नीति में बालकों के हितों की रक्षा तथा उनके कल्याण से संबद्ध कार्यक्रमों और प्राथमिकताओं का उल्लेख किया गया है। इस नीति में कहा गया है- "सरकार की यह नीति रहेगी कि बच्चों के जन्म से पहले और बाद में तथा वृद्धि के दौरान उपयुक्त सेवाएँ उपलब्ध कराई जाएँ, ताकि उनका पूरा-पूरा शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास हो सके। सरकार ऐसी सेवाओं का कार्यक्षेत्र लगातार बढ़ाती जाएगी, ताकि उचित समय के अंदर देश के सभी बच्चों को अपनी संतुलित वृद्धि के लिए सर्वोत्तम सुविधाएँ मिल सकें।"

इन उद्‌देश्यों की प्राप्ति के लिए निम्नलिखित उपायों पर जोर दिया गया है -

1. सभी बच्चों को एक व्यापक स्वास्थ्य-कार्यक्रम के दायरे में लाया जाएगा।
2. बच्चों की खुराक में कमियाँ दूर करने के उद्‌देश्य से पोषण-सेवाएँ देने के लिए कार्यक्रम चलाए जाएँगे।
3. गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली माताओं के सामान्य स्वास्थ्य में सुधार, उनकी देखभाल, पोषण तथा उन्हें पोषण के बारे में शिक्षित करने के लिए कार्यक्रम चलाए जाएँगे।
4. राज्य 14 वर्ष की उम्र तक बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उचित उपाय करेगा और राष्ट्रीय स्रोतों की उपलब्धता के अनुरूप इस कार्य के लिए समयबद्ध कार्यक्रम चलाया जाएगा।
5. जो बच्चे औपचारिक विद्यालय-शिक्षा का पूरा लाभ उठा पाने की स्थिति में नहीं हैं, उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा के अन्य तरीके उपलब्ध कराए जाएँगे।
6. विद्यालयों, सामुदायिक केंद्रों और ऐसी ही अन्य संस्थाओं में शारीरिक स्वास्थ्य-शिक्षा, खेल और अन्य मनोरंजक तथा सांस्कृतिक और वैज्ञानिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया जाएगा।
7. अवसरों की समानता सुनिश्चित करने के लिए कमजोर वर्गों, जैसे- अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बच्चों और गाँवों तथा शहरों में आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के बच्चों को विशेष सहायता उपलब्ध कराई जाएगी।

8. विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों वाले, अपराधी बन चुके, भिखारी बनने के लिए मजबूर और अन्य परेशानियों में जी रहे बच्चों को शिक्षा-प्रशिक्षण और पुनर्वास दिलाया जाएगा और उन्हें देश के लिए उपयोगी नागरिक बनने में सहायता दी जाएगी।
9. बच्चों को अपेक्षा, क्रूरता और शोषण से बचाने के लिए संरक्षित किया जाएगा।
10. 14 वर्ष के कम उम्र के किसी भी बच्चे को जोखिम वाले कामों में लगाने की अनुमति नहीं दी जाएगी, न ही उन्हें भारी काम करने दिया जाएगा।
11. शारीरिक रूप से विकलांग, संवेगात्मक रूप से उद्वेलित और मंदबुद्धि बच्चों के विशेष उपचार, शिक्षा, पुनर्वास और देखभाल की व्यवस्था की जाएगी।
12. विपत्तियों और राष्ट्रीय आपदाओं के समय राहत-सहायता देने में बच्चों को प्राथमिकता दी जाएगी।
13. अत्यंत प्रतिभाशाली बच्चों, विशेषकर कमजोर वर्गों के ऐसे बच्चों का पता लगाने, प्रोत्साहित करने और उनकी सहायता करने के लिए विशेष कार्यक्रम चलाए जाएँगे।
14. वर्तमान कानूनों में इस प्रकार संशोधन किए जाएँगे जिससे सभी कानूनी विवादों में, चाहें वे माता-पिता के बीच हों अथवा संस्थाओं में, बच्चों के हितों पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाएगा।
15. बच्चों के लिए विभिन्न सेवाओं के आयोजन में पारिवारिक संबंधों को मजबूत बनाने की दिशा में प्रयास किए जाएँगे, जिससे सामान्य परिवार, पास-पड़ोस और समुदाय के वातावरण में बच्चों की क्षमताओं का पूर्ण विकास हो सके।

कार्यक्रम बनाते समय जिन क्षेत्रों में प्राथमिकता देने का निर्णय किया गया, उनमें मुख्य हैं- (i) बच्चों के स्वास्थ्य से संबद्ध रोगों की रोकथाम और बेहतर स्वास्थ्य के उपाय वाले पक्षों को बढ़ावा देना, (ii) स्कूल जाना शुरू करने के पहले बच्चों और शिशुओं के पोषण के साथ-साथ गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली माताओं के पोषण के कार्यक्रम, (iii) अनाथ और विपन्न बच्चों की देखभाल, शिक्षा और प्रशिक्षण की व्यवस्था, (iv) कामकाजी अथवा बीमार माताओं के बच्चों की देखभाल के लिए शिशु-कक्ष और अन्य सुविधाएँ तथा (v) विकलांग बच्चों की देखभाल, शिक्षा, प्रशिक्षण और पुनर्वास की व्यवस्था।

राष्ट्रीय नीति-संबंधी निर्णयों को ध्यान में रखकर प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय बाल बोर्ड का गठन किया गया। बोर्ड का मुख्य कार्य बालकों के हितों की रक्षा के संबंध में केंद्र बिंदु उपलब्ध कराने तथा विभिन्न स्तरों पर सभी आवश्यक सेवाओं का निरंतर नियोजन, समीक्षा और समन्वय सुनिश्चित करना है। इस तरह के बोर्ड राज्यों में भी गठित किए गए हैं। बालकों से संबद्ध राष्ट्रीय नीति में बाल-कल्याण-कार्यक्रमों को बढ़ावा देने तथा उनके विकास के लिए स्वयंसेवी संगठनों, न्यासों, कल्याणकारी तथा धार्मिक संस्थाओं के संसाधनों का हर संभव प्रयोग

करने के महत्व को स्वीकार किया गया है। नीति में विधायी और प्रशासनिक सहायता को उपलब्ध कराने, अनुसंधान-कार्य और कर्मियों के प्रशिक्षण की सुविधाओं का विकास करने तथा जनता की भागीदारी को प्रोत्साहन देने पर जोर दिया गया है।

IV. समेकित बाल विकास सेवाएँ
(Integrated Child Development Services)

राष्ट्रीय बाल नीति, 1974 को ध्यान में रखकर 1975 में देश में 'समेकित बाल विकास सेवाएँ' नाम का एक महत्वपूर्ण एवं एकीकृत कार्यक्रम शुरू किया गया। यह बाल-कल्याण के क्षेत्र में अपने ढंग का विश्व में सबसे बड़ा कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम की मुख्य विशेषताओं का विवरण निम्नलिखित है :-

1. उद्‌देश्य (Objectives)–

समेकित बाल विकास सेवाओं के उद्‌देश्य हैं- (1) 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों के पोषाहारीय और स्वास्थ्य-संबंधी प्रस्थिति में सुधार लाना, (2) बच्चों के समुचित मनोवैज्ञानिक, शारीरिक और सामाजिक विकास की नींव डालना, (3) रुग्णता, मृत्यु-दर, कुपोषण और बीच में पढ़ाई छोड़ देने की घटनाओं को कम करना, (4) बाल विकास के संवर्धन हेतु विभिन्न विभागों के बीच नीति और इसके कार्यान्वयन के बीच कारगर समन्वय स्थापित करना, तथा (5) माँ को समुचित स्वास्थ्य और पोषाहार-शिक्षा देकर बच्चे की सामान्य स्वास्थ्य और पोषाहारीय आवश्यकताओं की देखभाल करने के लिए उसकी सक्षमता बढ़ाना।

2. सेवाओं की प्रकृति (Nature of Services)–

इस योजना के अंतर्गत 0-6 वर्ष आयु-समूह के बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा शिशुवती माताओं को एक साथ कई सेवाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं। इन सेवाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है -

(i) **स्वास्थ्य-जाँच** – इस सेवा के अंतर्गत 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के स्वास्थ्य की देखभाल, गर्भवती महिलाओं की प्रसव-पूर्व देखभाल तथा दूध पिलाने वाली माताओं की प्रसवोत्तर देखभाल सम्मिलित है। आँगनबाड़ी-कार्यकर्ता तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र के कार्यकर्ता बच्चों के स्वास्थ्य की जाँच करते हैं तथा मामूली बीमारियों का पता लगाकर साधारण दवाइयों का वितरण करते हैं। आँगनबाड़ी में गर्भवती महिलाओं, दूध पिलानेवाली माताओं तथा किशोरियों के स्वास्थ्य की जाँच की भी व्यवस्था की जाती है। इस सेवा के लिए समेकित बाल विकास सेवाओं तथा प्राथमिक स्वास्थ्य-केंद्रों के कार्मिकों के बीच नियमित संपर्क बना रहता है।

(ii) **टीकाकरण**– परियोजना के क्षेत्र के रहने वाले 0-6 आयु समूह के सभी बच्चों को पोलियो, डिफ्थीरिया, काली खाँसी, टिटेनस, तपेदिक तथा खसरे से बचाव के लिए टीके लगाए जाते हैं।

टीकाकरण का कार्य मुख्यतः प्राथमिक स्वास्थ्य-केंद्रों के कर्मचारियों द्वारा संपन्न होता है तथा आँगनबाड़ी कार्यकर्ता टीकाकरण हेतु स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं की सहायता करती हैं।

(iii) **पूरक पोषाकार**– परियोजना के कार्यक्षेत्र के निर्धन परिवारों के 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा दूध पिलानेवाली माताओं और किशोरियों की पहचान के लिए सर्वेक्षण किया जाता है, तथा उन्हें साल में 300 दिनों तक पूरक पोषाहार दिया जाता है। यह आहार पारिवारिक भोजन का पूरक होता है। भोजन की किस्म विभिन्न राज्यों में अलग-अलग होती है, लेकिन आम तौर पर वह आँगनवाड़ी में पकाया गया खाना होता है। पूरक पोषाहार का व्यय राज्य सरकार द्वारा वहन किया जाता है। अलग-अलग क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार विटामिन 'ए', लौह तत्व तथा आयोडिनयुक्त नमक की व्यवस्था की जाती है।

(iv) **वृद्धि निगरानी**– परियोजना वाले क्षेत्र में 6 वर्ष से कम उम्र के सभी बच्चों का नियमित रूप से वजन लिया जाता है और उनकी ऊँचाई नापी जाती है। कुपोषण का पता लगाने के लिए आयु और वजन के अनुपात में वृद्धि-चार्ट भी बनाए जाते हैं। वृद्धि-निगरानी के जरिए स्वास्थ्य की गिरावट के संबंध में समय पर निवारक कार्यवाही की जा सकती है और बच्चों की देखभाल और आहार-संबंधी आदतों को समझने और उनमें सुधार लाने में सहायता मिलती है। इससे परिवारों को आहार, स्वास्थ्य-सेवा, सुरक्षित पेयजल, पर्यावरण-संबंधी सफाई तथा बच्चों की वृद्धि के बीच के संबंधों को अच्छे ढंग से समझने में भी सहायता मिलती है। गंभीर रूप से कुपोषण से पीड़ित बच्चों को अतिरिक्त पोषाहार उपलब्ध कराया जाता है तथा उनकी चिकित्सा-संबंधी निर्देशक सेवाएँ भी दी जाती है। अब इस कार्यक्रम के अंतर्गत समुदाय-आधारित पोषण की निगरानी की अवधारणा को भी अपनाया गया है। इसमें प्रत्येक आँगनबाड़ी में पोषण की स्थिति की निगरानी के लिए एक सामुदायिक चार्ट तैयार किया जाता है, जिससे समुदाय में पोषण-सम्बन्धी स्थितियों को समझने और उसमें सुधार लाने में सहायता मिलती है।

(v) **पोषण और स्वास्थ्य-शिक्षा**– पोषण और स्वास्थ्य-शिक्षा आँगनबाड़ी-कार्यकर्ता द्वारा दी जाने वाली एक महत्वपूर्ण सेवा है। यह विशेष रूप से 15-45 वर्ष आयु-समूह की महिलाओं की क्षमता के विकास के उद्देश्य से प्रदान की जाती है, जिससे वे अपनी और आने बच्चों तथा परिवार के स्वास्थ्य एवं पोषण-संबंधी आवश्यकताओं की स्वयं देखभाल कर सकें। स्वास्थ्य और पोषाहार-शिक्षा के विषयों में मुख्य हैं- बच्चों की देखभाल, शिशु को भोजन की आदतें, टीकाकरण, स्वास्थ्य-सेवाओं का उपयोग, परिवार को सीमित रखने के उपाय, और पर्यावरण की सफाई। यह सत्रों-गृह-भ्रमण या निर्देशन के द्वारा दी जाती है। इसके लिए वृद्धि-निगरानी दिवस, महिला-मंडलों की बैठकों, समुदाय तथा घरों के दौरों, गाँवों में संपर्क-अभियान, स्थानीय मेलों और त्योहारों का भी उपयोग किया जाता है। देश में लगभग 1 लाख महिला-मंडल पोषण और स्वास्थ्य-शिक्षा के विस्तार में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं।

(vi) **प्रारंभिक बाल देखभाल और शाला-पूर्व शिक्षा**– यह समेकित बाल विकास सेवाओं के

अंतर्गत एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इससे संबद्ध सभी सेवाएँ आँगनबाड़ी में निहित रहती हैं। यह 3-6 वर्ष आयु-वर्ग के बच्चों के लिए मनोरंजनात्मक खेल-खेल में सिखाने की एक दैनिक गतिविधि है, जिसे प्रतिदिन 3 घंटे तक जारी रखा जा सकता है। यह बच्चों को आँगनबाड़ी केंद्रों की तरफ आकर्षित करती है तथा वहाँ रहने में उनकी रुचि बनाए रखती है। इससे बच्चे के माता-पिता और समुदाय को भी प्रेरणा मिलती है। इसके अन्तर्गत उसे 6 साल के बच्चों के लिए स्वाभाविक और सुखद वातावरण उपलब्ध कराया जाता है जिसमें समुचित वृद्धि एवं विकास के लिए आवश्यक निवेश पर जोर दिया जाता है। शाला-पूर्व शिक्षा कार्यक्रम खेल के माध्यम से चलाया जाता है, जिसका उद्देश्य बच्चे के सामाजिक, संवेगात्मक, ज्ञानात्मक, शारीरिक और भाषात्मक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए सीखने-सिखाने का वातावरण उपलब्ध कराना है। इससे प्राथमिक स्कूलों में प्रवेश बढ़ाने तथा छोटे भाई-बहनों की देखभाल से मुक्त लड़कियों में स्कूल बीच में ही छोड़ देने की प्रवृत्ति को कम करने में भी सहायता मिलती है। 2004-05 में 3-6 आयु-समूह के एक करोड़ से भी अधिक बच्चों को केंद्र-आधारित प्रारंभिक देखभाल और शाला-पूर्व शिक्षा उपलब्ध कराई जाती थी।

(vii) **किशोरी योजना**- इसके अंतर्गत 11-18 वर्ष के आयु-समूह की स्कूल छोड़ देने वाली लड़कियों की क्षमता के विकास का प्रयास किया जाता है। इसमें इन लड़कियों के आत्मविकास, पोषाहार, स्वास्थ्य-शिक्षा, साक्षरता, मनोरंजन और कौशल-विकास की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यह योजना सामाजिक प्रेरक के रूप में किशोरियों की क्षमता को दिशा देने एवं बढ़ाने का प्रयास करती है। इसमें केंद्र-आधारित अनुदेशों, प्रशिक्षण-शिविरों, आसपास से जुटाए ज्ञान और अनुभव के आदान-प्रदान के जरिए उनमें पोषाहारीय तथा स्वास्थ्य-संबंधी समस्याओं को हल करने में उनकी क्षमता के विकास पर जोर दिया जाता है।

(viii) **अन्य सेवाएँ** - स्वास्थ्य जाँच तथा वृद्धि-निगरानी के दौरान ऐसे बीमार और कुपोषित बच्चों को जिन्हें तत्काल चिकित्सा की आवश्यकता होती है, संदर्भ सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। इन मामलों को चिकित्सा-अधिकारी के पास भेजा जाता है। राज्यों में जिला-स्तर पर एक अस्पताल को चुन लिया जाता है, जो इन संदर्भ मामलों से निपटता है।

3. सेवाओं के कार्यान्वयन में लगे कार्मिक (Personnel Engaged in the Implementation of the Services)—

समेकित बाल विकास सेवाओं के कार्यान्वयन में लगे कार्मियों में मुख्य हैं- (i) बाल विकास परियोजना अधिकारी, (ii) पर्यवेक्षिका, तथा (iii) आँगनबाड़ी-कार्यकर्ता। योजना को लागू करने के निकटवर्ती प्राथमिक स्वास्थ्य-केंद्रों और उपकेंद्रों के चिकित्सा-अधिकारी, महिला स्वास्थ्य-कर्मचारी और महिला स्वास्थ्य-कार्यकर्ता की भूमिकाएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं।

समेकित बाल विकास सेवाओं में आँगनबाड़ी-कार्यकर्ता की केंद्रीय भूमिका होती है। यह स्थानीय समुदाय से चुनी गई महिला होती है और उसका अपने कार्यक्षेत्र की महिलाओं के साथ

लगाकर और निकट संबंध होता है। वह बच्चों की वृद्धि का प्रबोधन करने, माताओं को सामान्य बीमारियों की रोकथाम के संबंध में शिक्षित करने, बच्चों को वृद्धि के बारे में माता-पिता को जानकारी देने, टीकाकरण का आयोजन करने, छोटी-मोटी बीमारियों के उपचार करने, पूरक पोषाहार की व्यवस्था करने तथा कठिन मामलों को चिकित्सालय में निर्देशित करने जैसे क्षेत्रों में महत्वपूर्ण भूमिका निबाहती है।

पर्यवेक्षिका पर 17-25 आँगनबाड़ियों की जिम्मेदारी होती है। वह आँगनबाड़ी-कार्यकर्ताओं के लिए मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक का कार्य संपन्न करती है और उन्हें दिशा-निर्देश और सहायता देती रहती है। वह लोगों के घर जाने का लेखा-जोखा रखने और सामुदायिक बैठकें एवं स्वास्थ्य-कर्मचारियों के दौरे आयोजित करने में भी सहायता प्रदान करती है।

बाल विकास परियोजना अधिकारी बाल विकास सेवाओं में लगे कर्मचारियों और सरकारी प्रशासन के बीच कड़ी का कार्य करता है। उस पर आँगनबाड़ी परिसर हासिल करने, आँगनबाड़ी केंद्र को भोजन की आपूर्ति एवं स्वास्थ्य-सेवाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने, कार्यक्रमों पर निगरानी रखने तथा इन सब गतिविधियों के बारे में राज्य सरकार को रिपोर्ट देने का दायित्व रहता है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, योजना के अंतर्गत स्वास्थ्य एवं चिकित्सा-संबंधी क्रियाकलाप में निकटवर्ती प्राथमिक स्वास्थ्य-केंद्रों तथा उपकेंद्रों के कार्मिक, जैसे-चिकित्सा अधिकारी, महिला स्वास्थ्य-कर्मचारी और महिला स्वास्थ्य-कार्यकर्ता भी सक्रिय भूमिका निभाते हैं, लेकिन इनकी सेवाओं के उपयोग के लिए आँगनबाड़ी-कार्यकर्ता और पर्यवेक्षिकाओं को मुख्य दायित्व निबाहना पड़ता है।

समेकित बाल विकास सेवाओं में लगे कर्मियों की प्रभावकारिता बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण पर विशेष जोर दिया जाता है। 1984-85 से 2004-05 की अवधि में प्रशिक्षित किए गए बाल विकास परियोजना अधिकारियों/सहायक बाल विकास परियोजना अधिकारियों की संख्या लगभग 5 हजार पर्यवेक्षिकाओं की संख्या लगभग 20 हजार तथा आँगनबाड़ी-कार्यकर्ताओं की संख्या लगभग 5 लाख रही है।

4. **योजना के अंतर्गत उपलब्धियाँ**(Achievements under the Scheme)—

देश में इस व्यापक कार्यक्रम का निरंतर विस्तार किया जाता है। दिसंबर 2004 के अंत में देश में 4.52 करोड़ से अधिक लाभार्थियों को लाभ मिल रहा है। इन लाभार्थियों में 3 करोड़ 77 लाख 6 वर्ष तक की उम्र के बच्चे तथा 75.2 लाख गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली माताएँ थीं। उन्हें योजना के अंतर्गत सेवाएँ 5,418 परियोजनाओं के अंतर्गत 6.98 लाख आँगनबाड़ियों के जरिए उपलब्ध कराई जा रही थीं। समेकित बाल विकास सेवाओं पर 1975-76 से 1991-92 की अवधि में 1;190.2 करोड़ रु0 आठवीं पंचवर्षीय योजना की

अवधि में 2, 271.3 करोड़ तथा नौवीं पंचवर्षीय योजनाकाल में 3 हजार करोड़ रु0 से भी अधिक खर्च किए गए।

5. **अंतर्राष्ट्रीय संगठनों का योगदान** (Contribution of International Organizations)–

समेकित बाल विकास सेवाओं में कुछ अंतर्राष्ट्रीय संगठनों से भी सहायता मिलती रही है। इनमें यूनिसेफ (UNICEF), विश्व बैंक (World Bank), केयर (CARE) तथा विश्व खाद्य कार्यक्रम (World Food Programme) की भूमिकाएँ महत्वपूर्ण रही हैं। इन अभिकरणों में यूनिसेफ की भूमिका अत्यंत ही महत्वपूर्ण रही है। यों तो देश में समाज-कल्याण के क्षेत्र में यूनिसेफ द्वारा कई कार्यक्रमों में सहायता मिलती रही है, समेकित बाल विकास सेवाओं के क्षेत्र में इसकी विशेष भूमिका रही है। यूनिसेफ पूरक पोषाहार, टीकाकरण, स्वास्थ्य-सुरक्षा, स्कूल-पूर्व शिक्षा, बच्चे के जन्म के पहले और बाद में सुरक्षा, पोषण एवं स्वास्थ्य-शिक्षा, किशोरी बालिकाओं आदि से संबद्ध क्रियाकलाप में व्यापक रूप से सक्रिय रहा है। विश्व बैंक भी इन सेवाओं के कई क्षेत्रों में क्रियाशील रहा है, जैसे- आँगनबाड़ी तथा अन्य संबद्ध भवनों का निर्माण, स्वास्थ्य, सामुदायिक भागीदारी, अनुसंधान तथा प्रशिक्षण। विश्व बैंक द्वारा सहायता-प्राप्त परियोजनाएँ देश के विभिन्न राज्यों में विशेष कार्यक्रमों पर 1980 से ही चलाई जा रही है। केयर के कार्यक्षेत्रों में मुख्य है- पूरक पोषण के लिए खाद्य-सहायता, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा और प्रशिक्षण। विश्व खाद्य कार्यक्रम द्वारा 6 वर्ष से कम उम्र के स्कूल-पूर्व बच्चों, गर्भवती महिलाओं तथा शिशुवती माताओं को खाद्य सहायता दी जाती है। इन अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा देश के विभिन्न भागों में तथा विभिन्न श्रेणियों के जन-समूहों द्वारा अलग-अलग परियोजनाएँ चलाई जा रही हैं।

6. **मूल्यांकन** (Evaluation)–

(i) योजना के क्रियान्वयन के फलस्वरूप अत्यधिक कुपोषित और अल्प-कुपोषित बच्चों के स्तर में कमी आई है। देश में अत्यधिक कुपोषित बच्चों के अनुपात 1976-78 में 15.3 प्रतिशत था, जो 1988-90 में घटकर 8.7 और 1994-95 में 7.3 प्रतिशत रह गया। (ii) उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार शिशु मृत्यु-दर जो 1991 में 80 तथा 2001 में 63 हो गई। आँकड़ों के अनुसार शिशु मृत्यु-दर जो 1991 में प्रति एक हजार जीवित बच्चे 80 थी, 1994 में घटकर 73 हो गई। (iii) योजना आयोग के आयोजना मूल्यांकन संगठन द्वारा 1982 के मूल्यांकन में दिखाया गया है कि योजना में लाभान्वित दो-तिहाई जनसंख्या अत्यधिक कमजोर वर्गों की है, जिसमें अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े समुदाय के लोग सम्मिलित हैं। (iv) निपासिड (National Institute of Public Co-operation and Child Development) द्वारा 1992 में किए गए मूल्यांकन में बताया गया है कि योजना वाले क्षेत्रों में शिशु मृत्यु-दर में भारी कमी हुई है, तथा स्कूल-पूर्व शिक्षा, नामांकन दर और शिक्षा जारी रखने की

दर, पोषाहारीय दर्जे, कम वजनी बच्चों के पैदा होने की घटनाओं और प्रसव-पूर्व तथा प्रसवोपरांत देखभाल में काफी सुधार हुआ है। (v) 1995 में केंद्रीय तकनीकी समिति द्वारा प्रकाशित 1975-95 के मूल्यांकन के दौरान निकले निष्कर्षों में दिखाया गया है- (1) गैर-आई0सी0डी0एस0 क्षेत्रों की तुलना में आई0सी0डी0सी0 क्षेत्रों में प्रसव-पूर्व और प्रसवोंपरांत देखभाल-सहित मातृ और बाल देखभाल सेवाएँ काफी अधिक है, (2) आई0सी0 डी0 एस0 के कारण टीकाकरण की व्याप्ति में प्रचुर सुधार हुआ है, (3) पिछले पाँच वर्षों में आई0सी0डी0एस0 वाले क्षेत्रों में सामान्य पोषाहारीय दर्जे के बच्चों का प्रतिशत गैर-आई0सी0 डी0एस0 क्षेत्रों की तुलना में अधिक है और अत्यधिक कुपोषण से पीड़ित बच्चों का प्रतिशत आई0सी0डी0एस0 क्षेत्रों की तुलना में अधिक है और अत्यधिक कुपोषण से पीड़ित बच्चों का प्रतिशत आई0सी0डी0एस0 क्षेत्रों में कम है।

V. बालकों के कल्याण से संबद्ध अन्य महत्वपूर्ण कार्यक्रम
(Other Important Programmes for the Welfare of Children)

समेकित बाल विकास सेवाओं के अतिरिक्त बालकों के कल्याण से संबद्ध अन्य महत्वपूर्ण कार्यक्रम निम्नलिखित हैं :-

1. शिशुगृह/दिवस देखभाल केंद्र (Creches/Day Care Centres)–

राष्ट्रीय बाल नीति, 1974 को ध्यान में रखते हुए देश में 1975 से शिशुगृहों/दिवस देखभाल केंद्रों की स्थापना के कार्यक्रम शुरू किए गए। इन केंद्रों में मुख्य रूप से प्रवासी, नैमित्तिक (casual) तथा कृषि और निर्माण-कार्यों में लगे श्रमिकों के 0-5 वर्ष आयु-समूह के बच्चों को दिवस-देखभाल सेवाएँ प्रदान की जाती हैं। यह सुविधा 1,800 रुपये प्रतिमाह से कम आय वाले अभिभावकों के बच्चों को उपलब्ध है। शिशुगृह में पोषाहार, टीकाकरण, तथा स्वास्थ्य-सेवाएँ भी उपलब्ध कराई जाती हैं। यह कार्यक्रम केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड, भारतीय बाल-कल्याण परिषद तथा आदिम जाति सेवक संघ द्वारा कार्यान्वित की जाती है। 1985-86 से 1997-98 की अवधि में इस कार्यक्रम पर लगभग 200 करोड़ रुपये खर्च हुए। 2004 के अंत में देश में लगभग 12.5 लाख शिशग्रह/दिवस देखभाल केंद्र चलाए जा रहे थे तथा इनसे 3.1 लाख बच्चे लाभान्वित हो रहे थे।

2. राष्ट्रीय शिशुगृह निधि (National Creche Fund)–

राष्ट्रीय शिशु गृह निधि की स्थापना 1994 में की गई। यह कार्यक्रम भी कामकाजी/बीमार माताओं के बच्चों की देखभाल हेतु चलाए जाने वाले शिशुगृह/दिवस देखभाल केन्द्र योजना के सदृश्य है। इसका लाभ भी 1,800 रु0 से कम मासिक आय वाले अभिभावकों के लिए है। इस निधि से सहायता प्राप्त करने वाले केंद्रों में से 75 प्रतिशत केंद्र सामान्य शिशुगृह केंद्र तथा शेष 25 प्रतिशत केंद्र आँगनबाड़ी-सह-शिशुगृह केंद्र होते हैं। इस निधि की सहायता से बने

शिशुगृहों में भी बच्चों के दिवस-देखभाल, पूरक पोषाहार, टीकाकरण, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य-देखभाल और मनोरंजन की सुविधा उपलब्ध कराना आवश्यकता होता है। 2004 के अंत में इस निधि की सहायता से बनाए गए शिशुगृहों की संख्या लगभग 2,500 थी।

3. **प्रारंभिक बाल्यावस्था शिक्षा** (Early Childhood Education)—

यह कार्यक्रम 1982 में शुरू किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य स्कूलों में बच्चों द्वारा बीच में पढ़ाई छोड़ देने की दर को कम करना तथा पढ़ाई जारी रखने की दर में सुधार लाना है। 1997-98 में शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों में लगभग 4.5 हजार प्रारंभिक बाल्यावस्था-शिक्षा-केंद्र चलाए जा रहे थे। यह कार्यक्रम मुख्यतः स्वैच्छिक संगठनों के जरिए चलाया जाता है, जिन्हें सरकार की ओर से वित्तीय सहायता दी जाती है। इन केंद्रों में 3-6 वर्ष आयु-समूह के बच्चों के संचार, संज्ञान और व्यक्तित्व-विकास से संबद्ध कौशलों में सुधार लाने के प्रयास किए जाने हैं। यह योजना शैक्षिक रूप में पिछड़े चुने हुए राज्यों में चलाई जाती है।

4. **बालवाड़ी पोषाहार कार्यक्रम** (Balwadi Nutrition Programme)—

इस कार्यक्रम के अंतर्गत 3-5 वर्ष वायु वर्ग के बच्चों की बुनियादी पोषाहारीय आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास किया जाता है। प्रत्येक बच्चे के लिए हर रोज 300 कैलोरी मूल्य का पोषाहार उपलब्ध कराया जाता है। पूरक पोषाहार के अतिरिक्त बालबाड़ियों में स्वास्थ्य पर्यावरण उपलब्ध कराया जाता है और बच्चों की सामाजिक और संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयास किए जाते हैं। यह योजना केवल उन्हीं क्षेत्रों में चलाई जाती है जिनमें समेकित बाल विकास सेवाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

5. **राष्ट्रीय बाल कोष** (National Children Fund)—

इस कोष की स्थापना 1979 में की गई। इस कोष से बच्चों के पुनर्वास तथा उनके कल्याण से संबद्ध कार्यक्रमों के लिए राष्ट्रीय, राज्य तथा जिला-स्तरों पर स्वैच्छिक संगठनों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। अनुदान की स्वीकृति में अनुसूचित जाति और जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों के बच्चों के कल्याण को प्राथमिकता दी जाती है।

6. **शैक्षिक सुविधाएँ** (Educational Facilities)—

संविधान के निर्देशों को ध्यान में रखते हुए देश में 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की शिक्षा के लिए व्यापक कदम उठाए गए हैं, कुछ राज्यों में निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से कानून भी बनाए गए हैं। बालकों की शिक्षा के लिए सरकार और सार्वजनिक अभिकरणों द्वारा उठाए गए कदमों में विद्यालयों की स्थापना, लड़कियों की शिक्षा पर विशेष जोर, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था, पुस्तकों की आपूर्ति, पाठ्यक्रमों में सुधार, विद्यालय-पूर्व अनौपचारिक शिक्षा की व्यवस्था, यातायात की सुविधा, शिक्षकों का प्रशिक्षण, रेडियो और टेलीविजन पर विशेष कार्यक्रम आदि सम्मिलित हैं। प्राथमिक शिक्षा को 6-14 वर्ष

आयु वर्ग के बच्चों के लिए एक बुनियादी अधिकार बनाने के उद्देश्य से संसद ने 86वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 2002 में पारित किया। इस अधिनियम को लागू करने के उद्देश्य से कदम उठाने के प्रयास जारी हैं।

7. **सर्वशिक्षा अभियान** (Sarva Shiksha Abhiyan)–

2001 में 'सर्वशिक्षा अभियान' नाम का एक महत्वाकांक्षी कार्यक्रम शुरू किया गया। इस अभियान के मुख्य लक्ष्य हैं- (i) 2007 तक 6-14 वर्ष आयु-वर्ग के सभी बच्चे पाँच वर्ष की प्राथमिक शिक्षा पूरी कर लें (ii) 2010 तक 6-14 वर्ष आयु-वर्ग के सभी बच्चे आठ वर्ष की विद्यालय-शिक्षा पूरी कर लें, (iii) जीवन हेतु शिक्षा पर विशेष ध्यान देते हुए संतोषप्रद गुणवत्ता की प्राथमिक शिक्षा पर जोर देना (iv) सभी प्रकार के लैंगिक एवं सामाजिक भेदभाव को प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर वर्ष 2007 तक तथा 2010 तक बुनियादी शिक्षा-स्तर पर समाप्त करना, तथा (v) वर्ष 2010 तक एक समान शिक्षा प्रदान करना। इस योजना पर खर्च की जाने वाली धनराशि का केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा नौवीं योजना में 85:15, दसवीं योजना में 75:25 तथा इसके बाद 50 : 50 के अनुपात में वहन किए जाने की व्यवस्था है।

यह कार्यक्रम पूरे देश में लागू किया गया। इसमें बालिकाओं, अनुसूचित जाति/जनजाति के छात्रों तथा दुष्कर परिस्थितियों में रह रहे छात्रों की शैक्षिक आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। मार्च 2005 के अंत तक इस कार्यक्रम के अंतर्गत 1.2 लाख नए विद्यालय खोले गए तथा 77.3 हजार विद्यालयों का निर्माण या तो पूरा हो चुका था या प्रगति में था। इस अवधि में 1.4 लाख अतिरिक्त कक्षा-कमरों और 1.2 लाख शौचालयों का निर्माण पूरा हो चुका था। उपर्युक्त अवधि में कार्यक्रम के अधीन 3.9 लाख शिक्षकों की नियुक्ति हुई और 5.8 करोड़ बच्चों को पुस्तकों की आपूर्ति की गई। वर्ष 2005-06 में 35.3 हजार नए विद्यालयों को खोलने, 34.3 हजार विद्यालय भवनों, 1.4 लाख अतिरिक्त कक्षा-कमरों और 65.8 हजार शौचालयों के निर्माण, 1.8 लाख शिक्षकों की नियुक्ति तथा 6.1 करोड़ बच्चों को पुस्तकों की आपूर्ति का लक्ष्य निर्धारित था। वर्ष 2004-05 में इन अभियान पर 6598.4 करोड़ खर्च किए गए।

8. **राष्ट्रीय पुरस्कार** (National Awards)–

देश में बाल कल्याण तथा बाल विकास के क्षेत्र में निम्नलिखित राष्ट्रीय पुरस्कार दिए जाते हैं -

(i) **अद्वितीय उपलब्धि हेतु राष्ट्रीय बाल पुरस्कार** (National Child Awards for Exceptional Achievement)– यह पुरस्कार 1987 में शुरू किया गया। इसका उद्देश्य 4-5 वर्ष आयु-वर्ग के उन बच्चों को पुरस्कृत करना है जिन्होंने शिक्षा, कला, संस्कृति, खेल आदि क्षेत्रों में अद्वितीय योगदान दिया हो। इनके अंतर्गत प्रत्येक राज्य/केंद्रशासित क्षेत्र के लिए प्रत्येक वर्ष एक स्वर्ण पदक तथा 35 रजत पदक प्रदान किए जाते हैं।

(ii) **राष्ट्रीय बाल कल्याण पुरस्कार** (National Awards for Child Welfare)- ये पुरस्कार 1979 में शुरू किए गए। ये बाल विकास तथा कल्याण के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान देने वाले 5 संस्थानों और 3 व्यक्तियों को दिए जाते हैं। पुरस्कारों के अंतर्गत प्रत्येक पुरस्कार-विजेता संस्थान को 3 लाख रु0 नगद तथा एक प्रशस्ति-पत्र और प्रत्येक व्यक्ति को 1 लाख रु0 नकद तथा प्रशस्ति-पत्र दिया जाता है।

(iii) **राजीव गांधी मानव सेवा पुरस्कार** (Rajiv Gandhi Manav Seva Awards)- यह पुरस्कार 1994 में शुरू किया गया। यह बाल सेवाओं में उत्कृष्ट योगदान देने वाले व्यक्ति को दिया जाता है। पुरस्कार में 1 लाख रु0 नकद एक रजत-पट्टिका और प्रशस्ति-पत्र दिया जाता है।

(iv) **राष्ट्रीय वीरता पुरस्कार** (National Bravery Awards)- यह पुरस्कार 1957 में शुरू किए गए। ये पुरस्कार बहादुरी, वीरता तथा सराहनीय कार्य करने वाले बच्चों को दिए जाते हैं। इन पुरस्कारों का आयोजन प्रतिवर्ष भारतीय बाल कल्याण परिषद करता है। इसके लिए भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय का महिला एवं बाल विकास विभाग भारतीय बाल कल्याण परिषद को वित्तीय सहायता देता है।

9. विकलांगों के लिए सेवाएँ (Services for the Handicapped)—

देश में विकलांगों के कल्याण के संबद्ध कई कदम उठाए गए हैं जिनमें बड़ी संख्या में बालक भी लाभान्वित होते रहे हैं। इनमें निम्नलिखित का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

(i) **विकलांग व्यक्ति अधिनियम,** 1995 (Handicapped Persons, Act, 1995)- विकलांग व्यक्ति (समान अवसर, अधिकारों की रक्षा और पूर्ण सहभागिता) अधिनियम 1995 में बनाया गया तथा इसे फरवरी 1996 में लागू किया गया। अधिनियम के अंतर्गत केंद्र एवं राज्य-स्तर पर विकलांगों के पुनर्वास को बढ़ावा देने के लिए महत्वपूर्ण उपबंध हैं। इनमें शिक्षा, रोजगार और व्यावसायिक प्रशिक्षण, अनुकूल परिवेश का निर्माण, पुनर्वास-सेवाओं की व्यवस्था, संस्थागत सेवाएँ तथा सामाजिक सुरक्षा उपाय, बेरोजगारी भत्ता तथा शिकायत-निवारण तंत्र सम्मिलित हैं।

अधिनियम के अंतर्गत विकलांगों के लिए मुख्य आयुक्त की नियुक्ति अनिवार्य की गई है। आयुक्त के कार्यों एवं दायित्वों में मुख्य हैं- राज्य-आयुक्तों के कार्यों का समन्वय, केन्द्र सरकार द्वारा दी जाने वाली धनराशि के प्रयोग की निगरानी, विकलांगों के लिए उपलब्ध की जाने वाली सेवाओं को सुनिश्चित करना, उनके अधिकारों की रक्षा के उपाय तथा शिकायतों का निवारण।

(ii) **भारतीय पुनर्वास परिषद** (Indian Rehabilitation Council)- भारतीय पुनर्वास परिषद, भारतीय पुनर्वास परिषद अधिनियम के अंतर्गत गठित एवं सांविधिक निकाय हैं। परिषद

विकलांगों के पुनर्वास और विशिष्ट शिक्षा से संबद्ध व्यावसायियों के विभिन्न वर्गों के लिए प्रशिक्षण, नीति और कार्यक्रम नियत करता है। परिषद के कार्यों में मुख्य हैं- (i) देश के प्रशिक्षण-संस्थानों में विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षण-पाठ्यक्रमों का मानकीकरण और नियमन, (ii) विकलांगों के पुनर्वास से संबंधित प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम चलाने वाले प्रशिक्षण संस्थानों और विश्वविद्यालयों को मान्यता देना, (iii) पुनर्वास और विशिष्ट शिक्षा में अनुसंधान को बढ़ावा देना, (iv) पुनर्वास से संबद्ध वांछित योग्यता रखने वाले व्यावसायियों का रजिस्टर रखना तथा (v) पुनर्वास शिक्षा कार्यक्रमों की निरंतरता कायम रखने के लिए प्रयास करना और इस क्षेत्र में कार्यरत संगठनों के साथ तालमेल रखना।

(iii) **विकलांगों के लिए राष्ट्रीय न्याय** (National Handicapped Trust)- यह न्यास एक सांविधिक निकाय है। इसकी स्थापना आत्मविमोह, मस्तिष्क-पक्षाघात और मंदबुद्धि के शिकार व्यक्तियों के लिए और बहुविकलांगता अधिनियम, 1999 के अंतर्गत की गई है। इस न्यास की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उपर्युक्त विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों को आत्मनिर्भर बनाना है जिससे उनकी परनिर्भरता समाप्त हो जाए और वे अपने अभिभावकों की सहायता से अपने हितों की रक्षा कर सकें।

(iv) **राष्ट्रीय संस्थान** (National Institutes)- विविध प्रकार की विकलांगता की समस्या से निपटने के लिए देश में विशेष संस्थानों की स्थापना की गई है। इनमें मुख्य हैं- (i) राष्ट्रीय दृष्टिहीन संस्थान, देहरादून, (ii) राष्ट्रीय अस्थिरोग विकलांग संस्थान, कोलकाता, (iii) अली यावर जंग राष्ट्रीय बधिर संस्थान, मुंबई (iv) राष्ट्रीय मानसिक विकलांग संस्थान, सिकंदराबाद (v) राष्ट्रीय पुनर्वास प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थान, कटक (vi) शारीरिक विकलांग संस्थान, नई दिल्ली तथा (vii) बहु-विकलांगता सशक्तिगरण संस्थान, चेन्नई।

(v) **समन्वित क्षेत्रीय केंद्र तथा क्षेत्रीय पुनर्वास केंद्र** (Integrated Regional Centers and Regional Rehabilitation Centre)- विकलांग व्यक्तियों के लिए देश में पाँच समन्वित क्षेत्रीय केंद्र स्थापित किए गए हैं। इन केंद्रों में पेशेवर कर्मियों के प्रशिक्षण तथा विकलांगों के लिए पुनर्वास सेवाओं के कार्यक्रम चलाए जाते हैं।

(iv) **राष्ट्रीय विकलांग वित्त और विकास निगम** (National Handicapped Finance and Development Corporation)- यह निगम राज्य सरकारों, केंद्रशासित प्रदेशों तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा अधिकृत अभिकरणों के माध्यम से धन उपलब्ध कराने वाला उच्चस्तरीय संस्थान है। इसका उद्देश्य विकलांगों को स्वरोजगार के लिए धन जुटाकर उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिए प्रोत्साहित करना है। निगम लाभ पाने वाले व्यक्तियों को अपनी कार्य-कुशलता में सुधार लाने में भी सहायता देता है जिससे वे अपनी उत्पादन-इकाइयों को और अधिक कुशलता से चला सकें।

(vii) **भारतीय कृत्रिम अवयव विनिर्माण निगम, कानपुर** (Artificial Limbs Manufacturing Corporation of India, Kanpu)- यह निगम अपंगों के लिए साधनों और उपकरणों का बड़े पैमाने पर उत्पादन करता है।

(viii) **अन्य** (Other) – दीनदयाल विकलांग पुनर्वास योजना के अंतर्गत गैर-सरकारी संगठनों को विकलांग लोगों के कल्याण के लिए विशेष विद्यालय, व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र और समुदाय-आधारित पुनर्वास कार्यक्रमों आदि के लिए सहायता दी जाती है। इस योजना के अंतर्गत 2005 के आरंभ में 480 विशेष विद्यालय तथा 186 व्यावसायिक प्रशिक्षण-केंद्र संचालित थे।

देश में विकलांग व्यक्तियों के लिए कृत्रिम अंगों तथा उपकरणों के क्रय तथा समुचित रूप से लगाने के लिए सहायता-योजना भी चलाई जा रही है। इस योजना का उद्देश्य जरूरतमंद विकलांगों को टिकाऊ, अत्याधुनिक तथा वैज्ञानिक तरीके से बनाए गए मानक सहायक उपकरणों की सहायता उपलब्ध करना है जिससे उनकी विकलांगता की परेशानियाँ कम हो, उनकी आर्थिक क्षमता बढ़े और मनोवैज्ञानिक रूप से उनका पुनर्वास हो सके। योजना पर अमल करने वाले अभिकरणों को सहायता-उपकरण आदि खरीदने, ढाँचा तैयार करने तथा उनके वितरण आदि के लिए अनुदान तथा सहायता उपलब्ध कराई जाती है तथा कुछ श्रेणियों में अभिकरणों को शत-प्रतिशत सहायता उपलब्ध कराई जाती है। 6,500 रू0 तक मासिक आय वाले परिवार के विकलांग छात्रों को उपकरण तथा कृत्रिम अंग मुफ्त दिए जाते हैं तथा 6,501-10,000 रू0 तक मासिक आय वाले परिवार के छात्रों की ये आधी कीमत पर उपलब्ध कराए जाते हैं।

10. बाल–श्रमिकों के लिए कार्यक्रम (Programmes for Child Labour)–

विभिन्न श्रम अधिनियमों, जैसे-कारखाना अधिनियम, खान अधिनियम, बालश्रम (प्रतिषेध एवं विनियम) अधिनियम के अंतर्गत कारखानों, खानों तथा कई अन्य संकटपूर्ण नियोजन में 14 वर्ष से कम उम्र के बालकों के नियोजन को प्रतिषिद्ध नहीं किया गया है, जहाँ बाल श्रमिकों के नियोजन को प्रतिषिद्ध नहीं किया गया है, वहाँ उनके कार्य की दशाओं तथा नियोजन की शर्तों को कानून द्वारा विनियमित किया गया है। 1987 में भारत सरकार ने राष्ट्रीय बाल-श्रम नीति की घोषणा की। इस नीति में बाल-श्रमिकों के संबंध में विधायी कार्य-योजना, उन्हें लाभान्वित करने के लिए सामान्य विकास-कार्यक्रमों पर प्रकाश डालना तथा बाल-श्रमिकों की बहुलता वाले क्षेत्रों में परियोजना-आधारित कार्य-योजना पर जोर दिया गया है। संकटपूर्ण व्यवसायों में काम करने वाले बाल-श्रमिकों को हटाने और विशेष विद्यालयों द्वारा उन्हें पुनर्वासित करने के लिए 1994 में एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम शुरू किया गया। बाल-श्रमिकों के पुनर्वासन से संबद्ध कार्यक्रम हैं-स्वैच्छिक संगठनों को सहायता, अंतर्राष्ट्रीय बाल-श्रम उन्मूलन कार्यक्रम (IPEC) तथा बाल-श्रम कार्रवाई एवं सहायता कार्यक्रम (CLASP)

11. बाल–अपराधियों के लिए कार्यक्रम (Programmes for the Juvenile Delinquents)—

बाल- अपराधियों में सुधार लाने, उनके पुनर्वासन तथा बाल-अपराध से संबद्ध कुछ अन्य समस्याओं के समाधान के लिए केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा बालक-अधिनियम (Children Acts) बनाए गए हैं। इन अधिनियमों में बाल-न्यायालयों की स्थापना, संस्थागत देखभाल, परिवीक्षा, शिक्षा एवं प्रशिक्षण, तथा बाल-अपराधियों के पुनर्वासन से संबद्ध उपबंध हैं। इन अधिनियमों में बाल कल्याण बोर्डों, रिमांड-गृहों, अनुमोदित, प्रमाणित तथा विशेष विद्यालयों और बालक-गृहों की स्थापना तथा उत्तर-सेवा-सुविधाओं की भी व्यवस्था की गई है। देश में बाल-अपराधियों में सुधार लाने के उद्देश्य से सुधार-विद्यालयों (Reformatory Schools) तथा बोरस्टल विद्यालयों (Borstal Schools) की स्थापना की गई है।

VI. केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की भूमिका
(Role of the Central Social Welfare Board)

केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड की स्थापना, 1953 में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य समाज कल्याण क्रियाकलापों को बढ़ावा देना तथा ऐच्छिक अभिकरणों के माध्यम से बालकों, महिलाओं और विकलांगों के लिए कल्याण कार्यक्रमों को लागू करना है। 1969 में इसे कानूनी दर्जा देने के लिए कंपनी अधिनियम के अंतर्गत धर्मार्थ कम्पनी के रूप में निगमित किया गया। अपनी स्थापना के बाद बोर्ड ने बालकों, महिलाओं तथा समाज के अन्य दुर्बल समूहों के लिए कई तरह की योजनाएँ एवं परियोजनाएँ शुरू कीं। जैसे-जैसे देश में विकास के स्वरूप में परिवर्तन आया और वह कल्याण से विकास और फिर सबलीकरण का रूप लेता गया, वैसे-वैसे बोर्ड के कार्यक्रमों और कार्यकलापों के स्वरूप में भी विस्तार और परिवर्तन आता गया। आज केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड राष्ट्रीय स्तर का प्रमुख संगठन हो गया है, जो बालकों, महिलाओं और वंचितों के कल्याण, विकास और सबलीकरण के लिए स्वैच्छिक अभिकरणों के साथ सहयोग के प्रमुख उद्देश्य के प्रति समर्पित है। बोर्ड विभिन्न कल्याण-कार्यक्रमों के अंतर्गत स्वैच्छिक संगठनों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराता है।

बालकों के कल्याण और विकास के संबंधित बोर्ड कई तरह के कार्यक्रमों और परियोजनाओं के लिए स्वैच्छिक संगठनों को वित्तीय सहायता देता है और उनसे तालमेल रखता है। इनमें मुख्य हैं - (i) सामाजिक रूप से बाधित, अनाथ, निराश्रित, परित्यक्त, लावारिस और आवारा बच्चों की संरक्षा और पुनर्वास, (ii) बालकों के लिए अल्पावधि आवास सदनों का संचालन, (iii) पालनाघर की स्थापना और उनका संचालन, (iv) बालबाड़ी, नर्सरी या पूर्व-प्राथमिक विद्यालयों का संचालन, (v) संस्थागत सेवाएँ, (vi) बच्चों के लिए मनोरंजन-केंद्र, (vii) पालनाघर-कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, (ix) अवकाश-शिविरों का आयोजन तथा (x)

पोशाहार और स्वास्थ्य-सेवाएँ। बोर्ड की 'प्रदर्शन परियोजनाओं' के अंतर्गत बच्चों के लिए पोषाहार, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा मनोरंजन संबंधी सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। बोर्ड क्षेत्रीय कल्याण विस्तार परियोजनाओं के अंतर्गत बच्चों और महिलाओं के लिए एकीकृत सेवाएँ भी उपलब्ध कराता है।

बोर्ड के तत्वावधान में चलाए जाने वाले बाल-कल्याण से संबद्ध कुछ महत्वपूर्ण विशेष कार्यक्रम निम्नलिखित हैं :-

(i) **निराश्रित बालकों के लिए सेवाएँ** – केन्द्रीय समाजकल्याण-बोर्ड परित्यक्त, उपेक्षित, आवांछित तथा निराश्रित बच्चों की संरक्षा और देखभाल के लिए ऐच्छित संगठनों की वित्तीय सहायता देना है। इस कार्यक्रम का प्रारंभ 1974-75 में किया गया। वित्तीय सहायता आवासीय तथा प्रतिपालक देखभाल (foster care) दोनों के लिए दी जाती है। 1981 में नियुक्त विशेषज्ञ-दल की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रम में सुधार लाए गए हैं और इन सेवाओं के लिए सहायता की राशि बढ़ा दी गई है।

(ii) **कामकाजी महिलाओं और बीमार माताओं के बच्चों के लिए शिशुगृह** – इस योजना का प्रारंभ 1975 में हुआ। यह योजना मुख्यतः निर्धन परिवारों की बाहर जाकर काम करने वाली महिलाओं और बीमार माताओं के 0-5 वर्श के बच्चों के लिए है। ऐसा देखा जाता है कि माताओं की अनुपस्थिति में ऐसे बच्चों की समुचित देखभाल नहीं हो पाती। वे धूल-मिट्टी और गदंगी में उपेक्षित रहते हैं तथा उन्हें समय पर भोजन, पानी, दवा आदि नहीं मिल पाते। शिशुगृहों में बच्चों को सोने की सुविधा, दवा-देखभाल-सेवाएँ, पूरक पोषाहार, दवाइयाँ, मनोरंजन तथा चिकित्सकों द्वारा साप्ताहिक स्वास्थ्य -जाँच आदि से सम्बद्ध सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं।

(iii) **बालबाड़ी पोषाहार कार्यक्रम** – इस कार्यक्रम के अंतर्गत 3 से 5 वर्ष उम्र के बच्चों को पूरक आहार उपलब्ध कराया जाता है। कार्यक्रम का लाभ उन परिवारों के बच्चों को उपलब्ध है, जिनकी आयु निर्धारित सीमा से अधिक नहीं है। इस कार्यक्रम के अंतर्गत स्वास्थ्य-सुविधाओं, टीकाकरण और पर्यावरणीय स्वच्छता को भी शामिल किया गया है।

(iv) **बच्चों के लिए अवकाश-शिविर** – इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य बच्चों की शक्ति को संगठित कर उन्हें मनोरंजनात्मक गतिविधियों में लगाना है, जिससे वे अनुशासित और आत्मनिर्भर हो, समूह के बीच रहते हुए उनमें पारस्परिक प्रेम-भावना का विकास हो, तथा उनमें नेतृत्व के गुण विकसित करने में सहायता प्रदान की जा सके। यह कार्यक्रम मुख्यतः निर्धन और आदिवासी परिवारों के 10-16 वर्ष के बच्चों के लिए है। इनके अधीन ऐच्छिक संगठनों को 15 दिनों की अवधि के अवकाश-शिविरों के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है।

(v) **समेकित विद्यालय-पूर्व परियोजना** – इस परियोजना का मुख्य उद्देश्य बच्चों को उनके अपने ही क्षेत्र में ऐसी बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराना है, जिनसे उनका समुचित विकास हो

सके। इनके अन्तर्गत बच्चों की शारीरिक मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समेकित चलाया जाता है। यह कार्यक्रम गंदी बस्तियों और पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले तथा निम्न आय-वर्ग के परिवारों के ऐसे बच्चों के लिए है, जिनकी उम्र स्कूल जाने लायक न हुई हो।

(vi) **अन्य कार्यक्रम** – केन्द्रीय समाजकल्याण-बोर्ड बाल-कल्याण के अन्य कार्यक्रमों के लिए भी वित्तीय सहायता देता है। इनमें आवास-गृहों की स्थापना, विद्यालय-पूर्व साहित्य तैयार करना, बाल-कल्याण-संबंधी मार्गदर्शन सामग्री का क्रय, बालबाड़ियों की स्थापना तथा बाल-सेविकाओं का प्रशिक्षण सम्मिलित है।

VII. बाल–कल्याण के क्षेत्र में ऐच्छिक अभिकरणों की भूमिका
(Role of Voluntary Agencies in the Field of Child Welfare)

भारत में बाल-कल्याण के क्षेत्र में कई ऐच्छिक अभिकरण भी कार्यशील रहे हैं। इनमें अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, राज्य एवं स्थानीय स्तरों के अभिकरण सम्मिलित हैं। बाल-कल्याण से संबद्ध इन अभिकरणों के कार्यों का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित है –

1. अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण (International Agencies)–

भारत में बाल-कल्याण के क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय बाल-कल्याण संघ (International Union for Child Welfare), एसोसिएशन मॉंटेसरी इंटरनेशनल (Association Montessori International), केयर (Co-operative for American Relief Everywher-CARE), नार्वे की विकास एजेंसी (Development Agency of Norway) तथा अमेरिका की अंतर्राष्ट्रीय विकास एजेंसी (International Development Agency of America) का सक्रिय योगदान रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय बाल-कल्याण संघ के मुख्य बाल-कल्याण कार्यक्रमों में राहत, सहायता, साहित्य का प्रकाशन, परामर्श-सेवाएँ, तथा सभाओं के आयोजन सम्मिलित हैं। भारतीय बाल-कल्याण-परिषद इसका सदस्य-संगठन है। एसोसिएशन मोंटेसरी इंटरनेशनल के बाल-कल्याण कार्यो में मुख्य हैं-सरकार, नगर पालिका और स्वैच्छिक अभिकरणों को तकनीकी सहायता, पुस्तकों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद, मौंटेसरी-उपकरणों का निर्माण, शिक्षकों का प्रशिक्षण, सम्मेलनों और सेमिनारों का आयोजन तथा मोंटेसरी संस्थानों की स्थापना से सहायता। 'केयर' खाद्य एवं पोषण सामग्री, खाद्य एवं पोषण-संबंधी तकनीकी सहायता तथा उपकरण उपलब्ध कराता है। नार्वे की विकास एजेंसी बाल-कल्याण-संबंधी प्रशिक्षण और प्रशासनिक व्यय के लिए नकद सहायता देती रही है। अमेरिका की अंतर्राष्ट्रीय विकास-एजेंसी प्रबंध, प्रशिक्षण और बाल-कल्याण-सेवाओं को हिताधिकारियों तक पहुँचाने की व्यवस्था में सुधार और विकास से संबद्ध सहायता देती रही है।

2. राष्ट्रीय स्तर के अभिकरण (National-level Agencies)–

बाल-कल्याण से संबद्ध राष्ट्रीय स्तर के कुछ महत्वपूर्ण ऐच्छिक अभिकरण हैं- (i) भारतीय बाल-कल्याण परिषद (Indian Council of Child Welfare), (ii) बालकन-जी-बाड़ी (Child Welfare Association of India), (iii) विकलांग-अधिसदस्यता (Fellowship of the Physically Handicapped), (iv) पंगु बालक-पुनर्वास -समाज (Society for the Rehabilitation of Crippled Children), तथा (अ) भारत स्काउट्स एंड गाइड्स (Bharat Socuts and Guides)।

(i) भारतीय बाल-कल्याण परिषद (Indian Council of Child Welfare)- भारतीय बाल-कल्याण परिषद बाल-कल्याण के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर का एक महत्वपूर्ण ऐच्छिक अभिकरण है। इसकी स्थापना 1952 में हुई। इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है। यह बाल-कल्याण से संबद्ध कई कार्यक्रम चलाता है, जैसे-(1) बाल-कल्याण से संबद्ध योजनाओं एवं कार्यक्रमों को लागू करना, (2) बाल-कल्याण के कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, (3) बालकों के कल्याण के लिए कानून बनाने का प्रयास करना, (4) बाल-कल्याण संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहित करना, (5) बालदिवस का आयोजन करना, (6) बालकों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार का आयोजन करना, (7) अवकाश-गृहों का संचालन करना, (8) समेकित बालविकास सेवा-योजनाओं में भाग लेना, (9) बाल-कल्याण से संबद्ध सम्मेलनों और सभाओं में भाग लेना तथा (10) बाल-कल्याण से संबद्ध सरकार के कार्यक्रमों में सहयोग प्रदान करना।

(ii) बालकन-जी-बाड़ी (Child Welfare Association of India)- बालकन-जी-बाड़ी की स्थापना 1923 में हुई। इसका मुख्यालय मुंबई में है। इस राष्ट्रीय अभिकरण के मुख्य क्रियाकलाप हैं- (1) बाल-शिक्षा का प्रसार करना, (2) बच्चों के शारीरिक, मानसिक और भौतिक कल्याण के लिए कदम उठाना, (3) अनाथ और विकलांग बालकों की सहायता देना, (4) अनाथालयों, बाल-कल्याण-केंद्रों तथा बाल-मार्गदर्शक केंद्रों की स्थापना करना, (5) बच्चों के प्रति निर्दयता को रोकना, (6) बच्चों के हितों की रक्षा के लिए कानून बनवाने का प्रयास करना, (7) बाल-मनोरंजन की व्यवस्था करना, (8) जरूरतमंद बच्चों के बीच योजना और मनोरंजन-संबंधी सामानों का वितरण करना, (9) बालकों के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना, (10) पुस्तकालयों की स्थापना तथा उनका संचालन करना, (11) अंतरराष्ट्रीय बालमैत्री को प्रोत्साहित करना, (12) निर्धन बच्चों को छात्रवृत्ति देना तथा (13) बाल-कल्याण के विभिन्न पहलुओं पर सेमिनार और सम्मेलन आयोजित करना। सारे देष में इसकी एक हजार से अधिक शाखाएँ हैं।

(iii) विकलांग-अधिसदस्यता (Fellowship of the Physically Handicapped)- यह अभिकरण सभी उम्र के विकलांगों की सहायता के लिए बनाया गया है, लेकिन यह विकलांग

बालकों के लिए विशेष कार्यक्रम चलाता है। इस संगठन के मुख्य क्रियाकलाप हैं- (1) विकलांगों के लिए खेलकूद और मनोरंजन की व्यवस्था करना, (2) विकलांगों के पुनर्वासन में सहायता प्रदान करना, (3) विकलांग कलाकारों की कृतियों को प्रदर्शित करना, (4) विकलांगों के लिए सूचना केन्द्र चलाना, (5) विकलागों के लिए कृत्रिम अवयवों की प्राप्ति में सहायता प्रदान करना तथा (6) विकलांगों के सामाजिक जीवन के लिए अवसर प्रदान करना तथा उनकी कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करना।

(iv) **पंगु बालक पुनर्वास-समाज** (Society for the Rehabilitation of Crippled Children)- इस संगठन का मुख्यालय मुबई में है। इसके चिकित्सालय में चिकित्सा के लिए देश-विदेश के पंगु बालक आते हैं। इनके मुख्य क्रियाकलाप है - (1) पंगु बालकों की चिकित्सा और देखभाल के लिए अस्पतालों और क्लिनिकों की स्थापना करना, (2) पंगु बालकों के प्रति जनमत को प्रशिक्षित करना, तथा (3) पोलियो और अन्य बाल रोगों से संबद्ध आँकड़े एकत्र कर उन्हें प्रकाशित करना।

(v) **भारत स्काउट्स एंड गाइड्स** (Bharat Scouts and Guides)- इस अभिकरण का मुख्यालय नई दिल्ली में है। इसके 10 लाख से भी अधिक व्यक्तिगत सदस्य हैं। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य ईश्वर और धर्म में आस्था रखते हुए देश या मानव-समुदाय की निःस्वार्थ सेवा करना है। इस संगठन के मुख्य क्रियाकलाप हैं- (1) स्काउट्स एंड गाइड्स शिविरों का आयोजन करना, (2) बालनेताओं को प्रशिक्षित करना, (3) समाज-सेवा-शिविरों का आयोजन करना, (4) सर्वनाश की स्थिति में राहत कार्य चलाना, (5) पर्वतारोहण का आयोजन करना, (6) सम्मेलनों में भाग लेना तथा (7) संगठन को सहायता देने वाले व्यक्तियों को पुरस्कृत करना।

3. राज्य एवं स्थानीय स्तर के अभिकरण (State and Local-level Agencies)–

बाल-कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत राज्य स्तर के कुछ मुख्य अभिकरण हैं- बिहार में किशोर दल (Kishore Dal), कर्नाटक में अखिल कर्नाटन मक्कला कूटा (All Karnatak Children's Association), आंध्रप्रदेश में आंध्र बालानंद संघम (ndhra Balananda Sangham) और महाराष्ट्र में बंबई माता एवं बाल-कल्याण-समाज (Bombay Mother and Children Welfare Society) तथा नूतन बालशिक्षण-संघ (Nootan Bal Sikshan Sangh)। देश में स्थानीय स्तर पर कई बाल-कल्याण अभिकरण हैं। स्थानीय बाल-कल्याण अभिकरणों के मुख्य क्रियाकलाप हैं- अनाथालयों, विद्यालयों तथा बालक्रीड़ा-केंद्रों का संचालन, निर्धन बालकों के बीच भोजन और वस्त्र का वितरण, शिशुगृहों का संचालन तथा बालकों के लिए स्वास्थ्य एवं चिकित्सा संबंधी सुविधाएँ प्रदान करना।

उपर्युक्त विवेचना में विभिन्न श्रेणियों में बालकों की समस्याओं, उनके संबंध में संविधान में उपबंधों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा उनके अधिकारों सें संबधित घोषणाओं, बालकों के संबंध

में राष्ट्रीय नीति, उनके कल्याण और विकास के लिए उठाए गए विधायी एवं अन्य कदमों, समेकित बाल विकास सेवाओं तथा सार्वजनिक एवं निजी अभिकरणों की भूमिका का उल्लेख किया गया है। देश की पंचवर्षीय योजनाओं में बालकों के कल्याण और विकास के संबंध में नीतियों एवं उपागमों में परिवर्तन होते रहे हैं। पहली पंचवर्षीय योजना में बालकों के कल्याण और विकास को सुनियोजित ढंग से लागू करने का सिलसिला शुरू हुआ। दूसरी और तीसरी योजनाओं में कार्यक्रमों को सुदृढ़ करने के प्रयास किए गए। चौथी योजना में सेवाओं में वृद्धि करने के साथ-साथ 1974 में राष्ट्रीय बाल नीति अपनाई गई। पाँचवी योजना के दौरान बाल कल्याण की जगह बाल विकास पर जोर दिया गया तथा 1975 में समेकित बाल विकास सेवाओं के व्यापक कार्यक्रम शुरू किए गए और सेवाओं के संकेद्रन एवं समन्वय पर जोर दिया गया। सातवीं और आठवीं योजनाओं के दौरान विभिन्न क्षेत्रों में बाल विकास कार्यक्रमों के माध्यम से सेवाओं का विस्तार किया गया तथा समर्थन-संगठन और सामुदायिक शक्ति-संपन्नता पर जोर देते हुए मानव-विकास पर ध्यान केंद्रित किया गया। नौवीं योजना के दौरान सरकार ने 'हर बच्चे' के प्रति अपनी प्रतिबद्धता की घोषणा की। योजना में बच्चों के समग्र विकास तथा वृद्धि को प्रोत्साहित करने पर जोर दिया गया। दसवीं योजना में बालकों के अधिकारों की रक्षा, राष्ट्रीय बाल आयोग के गठन, बच्चों के लिए राष्ट्रीय कार्यवाही योजना तथा उनके विकास के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य तथा पोषाहार और बालश्रम के प्रभावी उन्मूलन पर विशेष ध्यान दिया गया है। सरकार के प्रयासों के परिणामस्वरूप बाल कल्याण और बाल विकास में बड़े पैमाने पर प्रगति हुई है, लेकिन आज भी उनकी बहुत बड़ी संख्या की समस्याओं का समाधान संतोषजनक रूप से नहीं हो पाया है।

अध्याय–17

ग्रामीण सामुदायिक विकास

शाब्दिक रूप से सामुदायिक विकास का अर्थ समुदाय का विकास या प्रगति है। सामान्यतया ग्राम्य विकास को सामुदायिक विकास का पर्यायवाची समझा जाता रहा है। भारत में सामुदायिक विकास योजनाओं को प्रारंभ करने का श्रेय अमेरिका को है, जहाँ पर कृषि प्रसार सेवा संगठनों के द्वारा खेती के कार्यों से उन्नति हुई है। सामुदायिक विकास कई बार आन्दोलन यंत्र प्रवेश और अन्तिम रूप में प्रवेश या तरीका या दोनों शब्दों के रूप में परिभाषित किया गया है। भारत में शताब्दियों लम्बी राजनीतिक पराधीनता ने यहाँ के ग्रामीण जीवन को पूर्णतया प्रभावित किया था। ग्रामीण लोग रूढ़िवादी होतें हैं, वहाँ अज्ञानता, गरीबी, गन्दगी, अशिक्षा अन्ध ाविश्वास तथा रूढ़िवादिता आदि सदियों से चली आ रही हैं। अतः भारतीय ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए भारत सरकार ने अनेक कार्यक्रम बनाएँ। इनमें सबसे ज्यादा सामुदायिक विकास योजनाएँ हैं जिसके द्वारा गाँवों की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थितियों में व्यापक सुध ाार हुआ है।

सामुदायिक विकास की परिभाषा – यह सच है कि ग्रामीण विकास के अध्ययन में रूचि लेने वाले सभी अर्थशास्त्रियों राजनीतिज्ञों तथा प्रशासकों द्वारा सामुदायिक विकल्प योजना का अध्ययन किया जाता है, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामुदायिक विकास एक योजना मात्र नहीं है बल्कि यह स्वयं एक विचारधारा तथा संरचना है।

सामुदायिक विकास की अवधारणा इतनी व्यापक और जटिल है कि इसे केवल परिभाषा द्वारा ही स्पष्ट कर सकना बहुत कठिन है। जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनमें किसी के द्वारा एक पहलू पर अधिक जोर दिया गया है और किसी में दूसरे पहलू पर।

कैम्ब्रिज सम्मेलन में दी गयी परिभाषा – सामुदायिक विकास एक ऐसा आन्दोलन है जिसका उद्देश्य एक सम्पूर्ण समुदाय के लिए एक उच्चतर जीवन स्तर की व्यवस्था करना है। इस कार्य में प्रेरणा, शक्ति समुदाय की ओर से आनी चाहिए क्योंकि इसमें जनता का सहयोग होना चाहिए।

योजना आयोग के प्रतिवेदन में सामुदायिक विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ''सामुदायिक विकास एक ऐसी योजना है जिसके द्वारा नवीन साधनों को खोज करके ग्रामीण समाज के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में परिवर्तन लाया जा सकता है''।

अर्थात् हम कह सकते हैं कि सामुदायिक विकास एक समन्वित प्रणाली है जिसके द्वारा जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न किया जाता है। इस योजना का आधार जनसहभाग तथा स्थानीय साधन है।

इस दृष्टिकोण से सामुदायिक विकास योजना को सामाजिक आर्थिक पुनर्निर्माण तथा आत्मनिर्भरता में वृद्धि करने वाली एक ऐसी पद्धति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक तत्व तथा विशेषताओं का समावेश होता है।

सामुदायिक विकास की परिभाषा के तत्व – सामुदायिक विकास सामान्य विकास कार्यक्रम से भिन्न है क्योंकि इसके आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं :-

(1) सामुदायिक विकास समुदाय के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन के रूपान्तरण और परिवर्तन की प्रक्रिया है। समुदाय के जीवन में आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन का कार्यक्रम ग्रामीण जीवन में संरचनात्मक परिवर्तनों के लक्ष्यों को लेकर चलता है। ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के निर्माण और विकास पर बल दिया जाता है, जो ग्रामीण जीवन में प्रगति और समृद्धि लाने में सहयोगी हो और जिसके द्वारा ग्रामीण जन खुशी का अनुभव करे।

(2) सामुदायिक विकास आवश्यक रूप से किसी निश्चित क्षेत्र के विकास से संबधित है। इस क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति और उनकी संस्थाएँ एवं संगठन स्वतः इस कार्य से संबंधित होते हैं क्योंकि क्षेत्र का विकास उस समय तक नहीं किया जा सकता जब तक उसके व्यक्ति और संस्थाएँ भी अपने आप को परिवर्तित न करें।

(3) किसी भी सामुदायिक कार्यक्रम का एक आवश्यक तत्व यह है कि इसकी समस्त प्रक्रिया में जन सामान्य की मुख्य भूमिका होती है जो सामुदायिक विकास के संदर्भ में जन योगदान, सहभाग, स्थानीय नेतृत्व प्रजातांत्रिक संस्थानों के विकास और स्वैच्छिक प्रयासों से संबंधित की जाती है।

(4) सामुदायिक विकास में पहल एवं प्रवर्तन का उत्तरदायित्व सरकार का है। किन्तु सामुदायिक विकास का आन्दोलन अपनी आर्थिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के कारण और अपने पिछड़े अनभिज्ञ एवं निरक्षरता की समस्याएँ और सीमाओं के कारण किसी स्थिति में पहल नहीं दिखा सकती हैं इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि कार्यक्रम को आरंभ करने तथा अन्य विशेष सहायता एवं सुविधा जो तकनीकी ज्ञान धन और अन्य साधनों के रूप में हो सकती है सरकार द्वारा प्रदान की जाए। परन्तु लक्ष्य यही होना चाहिए कि स्थानीय समुदाय प्रगतिशील ढंग से इस कार्यक्रम की अपनी जीवन प्रक्रिया का एक अंग बना लें।

(5) सामुदायिक विकास कार्यक्रम में अधिकतम उपलब्धियों को प्राप्त करने और सफल बनाने

की दृष्टि से इसके विभिन्न पक्षों में समन्वय आवश्यक है। इसके द्वारा संगठन को सशक्त और प्रभावी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जाती है।

(6) जन सामान्य के दृष्टिकोण से सामुदायिक विकास एक शैक्षिक प्रक्रिया है ऐसी शैक्षिक प्रक्रिया जिसका स्वरूप अनौपचारिक है और लक्ष्य जनता के मूल्यों, मनोवृत्तियों, कार्य पद्धतियों और विचारों में परिवर्तन एवं प्रगतिशीलता लाना है।

सामुदायिक विकास के कुछ अन्य पक्ष

(i) **सामुदायिक विकास के सिद्धांत–** सामुदायिक विकास सिद्धांत वह मूल नियम है जिनका पालन कार्यक्रम की सफलता के लिए आवश्यक और महत्वपूर्ण है। वे आधारभूत विचार हैं जिसके आधार पर सामुदायिक विकास कार्यक्रम अपना स्वरूप लेते हैं।

(ii) **वास्तविक आवश्यकताएँ** – सामुदायिक विकास समुदाय की उन वास्तविक आवश्यकताओं पर आधारित होना चाहिए जिनकी संतुष्टि सामुदायिक जीवन के लिए आवश्यक है। किसी भी समुदाय के जीवन के तीन महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं। भौतिक विकास, आर्थिक उन्नति और सामाजिक प्रगति इन तीनों पक्षों का संतुलित विकास और ऐसी परिस्थितियों का निर्माण जो एक सुखी और सम्पन्न जीवन को परिभाषित करे, सामुदायिक विकास कार्यक्रम का मुख्य आधार है।

(iii) **रचनात्मक कार्य–** वास्तव में सामुदायिक विकास का कार्यक्रम उस समय तक नहीं चल सकता जब तक कि वह समुदाय में वास्तविक और रचनात्मक कार्य को जन्म न दे, और सामुदायिक जीवन की गति उसकी प्रगतिशीलता का सूचक न बने तथा समुदाय के सदस्यों के जीवन के विभिन्न अंग सामुदायिक गति से लाभान्वित न हों। समुदाय स्वयं इस बात का एहसास करे कि वास्तव में समुदाय में रचनात्मक कार्यक्रम चल रहा है।

(iv) **बहुउद्देशीय कार्यक्रम–** बहुउद्देशीय कार्यक्रम समुदाय के सर्वांगीण विकास और उन्नति के लक्ष्य को प्रधानता प्रदान करता है। सामुदायिक विकास समुदाय के कुछ व्यक्तियों के विकास से सम्बन्धित नहीं है, वरन् सम्पूर्ण समुदाय के प्रत्येक क्षेत्र का विकास इसका लक्ष्य है। समुदाय को यह एक अनोखे कार्यक्रम का स्वरूप प्रदान करता है। सामुदायिक जीवन के आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं भौतिक पक्षों का संतुलित विकास सामुदायिक विकास कार्यक्रम की शक्ति और सफलता का द्योतक है।

(v) **मनोवृत्ति एवं मूल्य परिवर्तन–** सामुदायिक जीवन की आत्मा उसके मूल्य और मनोवृतियाँ है। कोई भी समाज विकसित प्रगतिशील और आधुनिक है या पिछड़ा, रूढ़िवादी एवं पारम्परिक यह केवल उसके मूल्यों, अनभिज्ञता, अज्ञानता और मनोवृत्तियों को जानकर ही कहा जा सकता है। सामुदायिक विकास का यह अथक प्रयास होता है कि व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, अभिवृत्तियों और मूल्यों में व्यापक परिवर्तन और प्रगति हो, जिससे

जीवन का उच्चतर स्तर प्राप्त हो और अनभिज्ञता, अज्ञानता, अशिक्षा रूढ़िवादिता के विचारों के स्थान पर नवीन आधुनिक प्रगतिशील एवं विकासशील मूल्यों और कार्य पद्धतियों को अपने जीवन का आवश्यक अंग बनाये।

(vi) **जन सहभोग** – जन सामान्य का सक्रिय योगदान और कार्यक्रम के विभिन्न स्तरों पर इसको स्वयं निर्देशित करना सामुदायिक भावना का प्रतीक है। भारत में ग्रामीण प्रशासन की नवीन प्रणाली पंचायती राज द्वारा कार्यक्रम के विभिन्न पक्षों कें विक्रेन्द्रीकरण पर जोर देती है, जिससे जन-सामान्य प्रजातांत्रिक ढंग से सामुदायिक विकास को अपने जीवन का आंतरिक अंग बना ले।

(vii) **स्थानीय नेतृत्व** – सामुदायिक विकास को स्वावलंबी और प्रगतिशील बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके विभिन्न पक्षों को स्थानीय नेतृत्व को घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध किया जाए। जिस समुदायों में नेतृत्व का अभाव है वहाँ का एकात्मीकरण प्रशिक्षण और प्रोत्साहन अति आवश्यक है। सामुदायिक विकास में निम्नलिखित बातों को विशेष महत्व दिया जाता है :-

* उपेक्षित समूहों को प्राथमिकता
* राज्य पहल
* स्थानीय साधनों का प्रयोग
* स्थानीय स्वैच्छिक संगठनों का सहयोग
* प्रजातांत्रिक संस्थानीय प्रक्रिया
* निरंतर मूल्यांकन

सामुदायिक विकास का उद्देश्य

सामुदायिक विकास योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण जीवन का सर्वांगीण विकास करना तथा ग्रामीण समुदाय की प्रगति एवं श्रेष्ठकर जीवन स्तर के लिए पथ-प्रदर्शन करना है। इस रूप में सामुदायिक विकास कार्यक्रम के उद्देश्य इतने व्यापक हैं कि इनकी कोई निश्चित सूची बना सकना एक कठिन कार्य है। उसके पश्चात् भी विद्वानों ने प्राथमिकता के आधार पर सामुदायिक विकास के निम्नलिखित उद्देश्यों का उल्लेख किया है :-

* ग्रामीण समुदाय का सर्वांगीण विकास करना।
* ग्रामीण जनता के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना।
* ग्रामीण व्यक्ति में सामुदायिक भावना का प्रचार व प्रसार करना।
* ग्रामीण व्यक्तियों में उत्तरदायित्व की भावना, आत्म-ज्ञान और स्थानीय समूहों में कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करना।

* स्थानीय संस्थाओं को उत्साहित करना जिससे वे ग्रामीण पुनर्निर्माण के कार्य में सहायता कर सकें।
* ग्रामीण जनता के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये एक ओर कृषि का आधुनिकीकरण करना तथा दूसरी ओर ग्रामीण उद्योगों को विकसित करना।

इन सुधारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए ग्रामीण स्त्रियों एवं परिवारों की दशा में सुधार करना।

* आवागमन एवं संदेश वाहन के साधनों में वृद्धि करना।
* ग्रामीण परिवारों तथा महिलाओं को ऐसी सहायता उपलब्ध कराना जिसके माध्यम से वे बढ़ी हुई आय को अच्छे जीवन के लिए प्रभावी ढंग से उपयोग कर सकें।
* इन सुधारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए ग्रामीण व्यक्तियों को आत्मनिर्भर व प्रगतिशील बनने की प्रेरणा देना।
* राष्ट्र के भावी नागरिकों के रूप में युवकों के समुचित व्यक्तित्व का विकास करना।
* शिक्षा का प्रचार व प्रसार करना।
* ग्रामीण स्वास्थ्य तथा स्वच्छता पर ध्यान रखना।
* कृषि कार्यों में आधुनिक एवं वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग पर बल देना।
* ग्रामीण शिक्षकों के हितों को सुरक्षित रखना।
* कुटीर उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करना।
* रोजगार के नये आधार खोजना।

मान्यताएँ – (i) सामुदायिक विकास योजनाएँ स्थानीय आवश्यकताओं पर आधारित होनी चाहिए।

(ii) उद्देश्य प्राप्ति के लिए योजना में जन सहभाग केवल प्रेरणा एवं समर्थन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है शक्ति के प्रयोग द्वारा नहीं।

(iii) अंतिम मान्यता यह है कि वह पूर्णतया नौकरशाही व्यवस्था द्वारा संचालित न होकर अंततः ग्रामीण समुदाय द्वारा संचालित होना चाहिए। जिसके लिए योजना के आरम्भ से अंत तक इसमें ग्रामीणों का सक्रिय सहयोग आवश्यक है।

सामुदायिक विकास योजना का संगठन

आरंभ में यह योजना भारत सरकार के योजना मंत्रालय से सम्बद्ध थी, परन्तु कालान्तर में यह योजना 'कृषि तथा ग्रामीण विकास मंत्रालय' के अधीन है। परन्तु स्थिति यह है कि सामुदायिक विकास योजना का संगठन तथा संचालन केन्द्र स्तर के लेकर ग्राम स्तरों में विभाजित है। मुख्यतः इसे पाँच भागों में बांटा जा सकता है :-

(i) **केन्द्र स्तर** – कृषि एवं ग्रामीण विकास मंत्रालय से संबंधित है। इसकी प्रगति तथा नीति-निर्धारण के लिए एक विशेष सलाहकार समिति का गठन किया गया है जिसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री हैं। कृषि मंत्री एवं योजना आयोग के सदस्य इस समिति के सदस्य होते हैं। केन्द्र स्तर पर एक परामर्शदायी समिति होती है जिसके सदस्य लोकसभा के कुछ मनोनीत सदस्य होते हैं। यह सलाहकार समिति योजना की नीति एवं प्रगति के विषय में परामर्श करती है।

(ii) **राज्य स्तर** – इस विकास कार्यक्रम को संचालित करने का वास्तविक दायित्व राज्य सरकारों का है। एक विकास समिति होती है जिसका अध्यक्ष उस राज्य का मुख्यमंत्री तथा समस्त विकास विभागों के मंत्री इसके सदस्य होते हैं। इस समिति का सचिव एक विकास आयुक्त होता है। विकास आयुक्त को परामर्श देने के लिए राज्यों में विधानसभा तथा विधानपरिषद् के कुछ मनोनीत सदस्यों की एक समिति होती है।

(iii) **जिला स्तर** – जिला स्तर पर इस योजना का दायित्व जिला परिषद् का है। जिला परिषद् में जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होते हैं जिसमें पंचायत समितियों के अध्यक्ष तथा लोकसभा के सदस्य एवं विधानसभा के सदस्य सम्मिलित हैं। इस योजना को संचालित करने का कार्य जिला नियोजन समिति का है, जिसका अध्यक्ष जिलाधीश होता है।

(iv) **विकास खण्ड स्तर** – विकास खण्ड के प्रशासन के लिए प्रत्येक विकास खण्ड में एक खण्ड विकास अधिकारी नियुक्त किया जाता है, तथा इनकी सहायता के लिए अन्य अधिकारी रहते हैं। खण्ड स्तर पर नीतियों के निर्धारण तथा योजना के संचालन का दायित्व क्षेत्र पंचायत का होता है। सरपंच, आम पंचायतों के अध्यक्ष, स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करने वाले कुछ व्यक्ति इस समिति के सदस्य होते हैं।

(v) **ग्राम स्तर** – ग्राम स्तर पर योजना के क्रियान्वयन का दायित्व ग्राम पंचायत पर होता है। लेकिन इस स्तर पर महत्वपूर्ण भूमिका ग्राम सेवक की होती है। ग्राम सेवक को सामुदायिक विकास योजना के सभी कार्यक्रमों की जानकारी होती है। साधारणतया 10 ग्रामों के ऊपर एक ग्राम सेवक को नियुक्त किया जाता है।

ग्रामीण समुदाय विकास कार्यक्रम

प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू का यह विचार था कि जब तक ग्रामीण समाज और नगरीय समाज के विकास कार्यक्रमों में संतुलन नहीं होता है तब तक सम्पूर्ण भारत का आर्थिक व सामाजिक रूप से विकास होना संभव नहीं है। गांधी जी की यह धारणा थी कि भारत का आर्थिक व सामाजिक रूप से विकास होना संभव नहीं इसकी उन्नति तभी संभव है जब हम गांवों को केन्द्र में रखकर योजना बनाएंगे। विनाबा भावे और जयप्रकाश नारायण ने भी इसी तथ्य पर बल दिया है।

नेहरू जी की यह निश्चित धारणा थी कि समाजवादी कार्यक्रम के द्वारा ही भारत के करोड़ो दीन-हीन गरीब और पिछड़े व्यक्तियों का कल्याण किया जा सकता है। उनके रहन-सहन के स्तर में सुधार लाया जा सकता है। अंग्रेजों के आर्थिक मॉडल के आधार पर ग्रामीण समाज की उन्नति संभव नहीं है इसलिए सामाजिक परिवर्तन आवश्यक है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद पंचायत व्यवस्था की स्थापना करने, गांवों में लोकतांत्रिक व्यवस्था कायम रखने तथा अपनी समस्याओं को अपने आप सुलझाने व ग्रामीण विकास की योजनाओं को पंचायतों के माध्यम से कार्यान्वित करने के उद्देश्य से पूरे देश में ग्राम पंचायतों का गठन किया गया। कई योजनाएँ बनी इसके द्वारा ग्राम्य विकास हेतु आधारभूत ढांचे के निर्माण करने की ओर ध्यान देना आरंभ किया गया। बाद में जब देखा गया कि योजनाओं के लाभ सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से निम्नस्तर के व्यक्ति को नहीं मिल पा रहे हैं तो उन्हें लाभान्वित कैसे किया जाए इस पर विचार आरंम्भ किया गया। विकास योजनाएँ पहले निम्नलिखित विषयों पर आधारित हों ऐसा निश्चय किया गया :-

* कृषि उत्पाद हेतु।
* ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर हेतु विशेषकर उन समयों में जबकि कृषि आधारित कार्य नहीं किए गए।
* शिक्षा एवं स्वास्थ्य की सुविधाएँ हेतु।
* आवास सुविधाएँ हेतु एवं
* ऊर्जा, शिक्षा तथा पीने के पानी की सुविधाएँ उपलब्ध कराने हेतु।

आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया 1951 में आरंभ हुई। अब तक कई पंचवर्षीय योजनाएँ बन चुकी। इन योजनाओं के द्वारा आर्थिक क्रियाओं को इस प्रकार नियंत्रित किया जाता है कि पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके।

ग्रामीण समाज की मुख्य समस्याओं के निराकरण हेतु सरकार ने अनेक प्रकार की योजनाएँ चला रखी हैं। इनमें से मुख्य योजनाएँ निम्नलिखित हैं :-

1. गरीबी उन्मूलन
2. सामुदायिक विकास योजनाएँ
3. सघन कृषि कार्यक्रम
4. अधिक उपज देने वाली बीजों का कार्यक्रम
5. सूखे की संभावना वाले क्षेत्रों के लिए कार्यक्रम
6. मरुस्थल विकास कार्यक्रम
7. आदिवासी विकास कार्यक्रम
8. ग्रामीण रोजगार का पारित कार्यक्रम

9. अन्त्योदय कार्यक्रम
10. समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम
11. ग्रामीण युवा स्वरोजगार प्रशिक्षण कार्यक्रम
12. बीस सूत्रीय आर्थिक कार्यक्रम
13. भूमिहीनों के लिए रोजगार गारन्टी कार्यक्रम

ग्रामीण विकास के कुछ प्रमुख आयाम – अल्प विकसित देशों में ग्रामीण विकास की समस्याएँ बहुत हैं और उनकी विषमता ग्रामीण समुदायों की सरंचना में अंतर के कारण और भी बढ़ जाती हैं। ग्राम समुदायों में परस्पर आत्मनिर्भरता एवं अलगाव, बाहरी लोगों के साथ सम्पर्क तथा व्यवसायी फसलों के उत्पादन की मात्रा आदि विषयों में बहुत सी विभिन्नता पायी जाती हैं।

जनजाति ग्राम, कृषक समुदाय, कृषक पड़ोस और अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ के लोगों का एक बड़ा प्रतिशत कृषियेत्तर कार्यों में लगा होता है। विभिन्न प्रकार के ग्रामीण समुदायों की संरचना को उनके विकास की समस्याओं का अध्ययन करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है।

भारत में अधिकांश कृषक समाज है। ये लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर रहते हैं। इसके अतिरिक्त गाँवों में दूसरे प्रकार के लोग भी रहते हैं जिनकी समस्याओं की ओर हमें कम ध्यान नहीं देना है यदि हम व्यापक विकास की कामना करते हैं।

ग्रामीण व्यवसाय – अधिकांश ग्रामीण खेती करते हैं यह खेती पर निर्भर हैं। ये कृषक तीन वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं। प्रथम वे लोग जो पूर्णतया खेती पर निर्भर होते हैं। द्वितीय वे लोग जो आंशिक रूप से खेती करते हैं और आंशिक रूप से खेतिहर मजदूर का कार्य करते हैं। तृतीय वे लोग होते हैं, जो आंशिक रूप से खेती और आंशिक रूप से हस्तकला एवं व्यवसाय करते हैं। कृषकों को सहायता पंहुचाने के लिए व्यावसायिक समूहों के तीन वर्ग होते हैं जो या तो खेती में अथवा प्रतिदिन के जीवन में सहायता करते है। ऐसे प्रथम वर्ग में लोहार, बढ़ई, पंडित, नाई, मोची, कुम्हार, धोबी इत्यादि आते हैं। जिन्हें फसल के कटने के समय अन्न के रूप में प्रत्येक वर्ष एक अनुभाग मिलता है। द्वितीय वर्ग में व्यवसायिक समूह जैसे व्यापारी, जुलाहा, राजमिस्त्री, कुंआ खोदने वाले, तेली आदि रखे जाते हैं जो अपनी विशिष्ट सेवाओं के लिए अपना अंश प्राप्त करते हैं। तृतीय वर्ग में गाँव के निम्नवर्ग हैं जो राज्य कर्मचारियों की उनकी गाँव के दौरे के समय सहायता करते हैं, इनके अलावा गाँवों में और भी लोग होते हैं जैसे गाँव का मुंशी, एक अध्यापक, एक वैक्सीनेटर, एक ग्राम सेवक आदि।

विकास के कार्यक्रम

साधारणतया तीन तरह के ऐसे लोग पाये जाते हैं जिनकी समस्याओं की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है यदि हमें आर्थिक विकास करना है, और वे हैं, कृषक, ग्रामीण-शिल्पकार

तथा गाँव के श्रमिक। उनकी कुछ समस्याएँ तो एक प्रकार की है जबकि अन्य एक-दूसरे में भिन्न है। इस प्रकार ग्रामीण विकास की समस्या केवल यह नहीं है कि नई-नई प्राविधियों द्वारा कृषि एवं ग्रामीण उद्योगों के उत्पादन को बढ़ाया जाए, अपितु ग्रामीणों की कुछ अन्य समस्याओं की ओर हमें समुचित ध्यान देने की आवश्यकता है और ये हैं शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, पारिवारिक संरचना, विचार व रहन-सहन की दिशा संबंधी स्तर जो ग्रामीणों के जीवन को कई प्रकार से प्रभावित करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के विशिष्ट कार्यक्रमों की व्याख्या निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत व्यापक रूप से की जा सकती है :-

1. कृषि विकास
2. ग्रामीण उद्योग
3. ग्रामीण हस्तकला तथा ग्रामीण उद्योग
4. सहकारिता आन्दोलन
5. शिक्षा, स्वास्थ्य, लोक कल्याण
6. ग्रामीण संगठन और संस्थाएँ
7. ग्रामीण नेतृत्व

उपर्युक्त कार्यक्रमों में से कुछ प्रमुख कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :-

1. **कृषि विकास :** इसके निम्नलिखित आयाम हैं :-

(i) **काश्तकारी सुधार** – प्रति परिवार भूमि की अधिकतम सीमा निर्धारित करके देसी भूमि तथा ग्राम्य समाज की देसी भूमि को भूमिहीनों में वितरित करना जोतों की चकबन्दी करना।

(ii) **भूमि व्यवस्था** – निस्संदेह भूमि सुधार कृषि उत्पाद वृद्धि की प्रक्रिया के लिए एक महत्वपूर्ण कदम है। परन्तु वे तब तक प्रभावी न होंगे जब तक उनकी सहायता ऋण सुविधाओं के पर्याप्त विस्तार द्वारा नहीं की जाती। अनार्थिक एवं छोटी-छोटी जोतों के कारण उत्पन्न दोषों को समाप्त करने का एक कार्यक्रम नहीं बनाया जाता और भूमि के प्रयोग तथा व्यवस्था सम्बंधी त्रुटियों को दूर नहीं किया जाता।

आर्थिक जोतों के लिए प्रस्तावित सामान्य उपचारात्मक उपाय खेतों की चकबंदी है जिसमें छितरे हुए खेतों के स्थान पर भूमि की अदला-बदली करके सुसंयत खंड बनाए गए हैं। चकंबदी हो जाने के बाद भी यदि जोतें बहुत ही छोटी और अनार्थिक रहती है, जैसा कि भारत में अधिकांशतया यही अवस्था है तो कृषक अधिक उत्पादन के लिए वैज्ञानिक उपायों को नहीं अपना सकेगा, अतः हम उत्पादन ऊँचे से ऊँचा करना चाहते हैं तो जोतों को आर्थिक बनाया जाना अनिवार्य है।

(iii) **कृषि की उन्नतिशील क्रियाएँ** – कृषि उत्पादन को उन्नत स्तर तक पहुंचाने के लिए कृषक को सभी व्यावहारिक वैज्ञानिक तरीकों को अपनाना चाहिए और कार्यकुशलता एवं

व्यवस्था के कुछ स्तरों के अनुरूप कार्य करना चाहिए। एक फार्म या जोत की व्यवस्था के गुण की जांच करते समय जिन कारकों पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है वे ये हैं- भूमि संरक्षण एवं परती भूमि पर नए सिरे से खेती करने के लिए आवश्यक रूप से चौरस करना, सीढ़ीदार खेत बनाना, प्रमाणित किस्म के बीजों का प्रयोग, खादों तथा उर्वरकों का प्रयोग, सिंचाई की व्यवस्था, उन्नत कृषि उपकरणों का प्रयोग, खेती की देखभाल तथा उन्नत तरीकों का प्रयोग, अच्छे कीटनाशक का प्रयोग। इसमें में कुछ क्रियाओं को अपनाने में बाधा पहुंचाने वाली कठिनाइयों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और प्राविधिक कठिनाइयाँ इत्यादि हैं। आधुनिक उपकरणों को खरीदने तथा उन्नत बीज की जानकारी सिंचाई की सुविधा का अभाव तथा लोगों की निरक्षरता भी महत्वपूर्ण कारण है ऋण की आवश्यकता प्रत्येक व्यवसाय में होती है और इसी प्रकार कृषि को भी समय पर तथा पर्याप्त धन के अभाव में किसान उन्नतशील बीजों, खादों के प्रयोग करने या उत्तम तरीके एवं प्राविधियाँ अपनाने में असमर्थ हो जाता है। इसके कारण भी खेती सही नहीं हो पाती है।

(iv) **कृषि क्रय-विक्रय व्यवस्था** – गाँव में पृथक्करण तथा आत्मानिर्भरता की विशेषता रखने वाली प्राचीन अर्थव्यवस्था में कृषि उत्पादन की क्रय-विक्रय व्यवस्था का कोई महत्व नहीं था। किन्तु संचार साधनों में तीव्र सुधार जिसमें गाँवों की आत्मनिर्भरता को छोड़ दिया, कृषि के व्यापारीकरण एवं विशिष्टीकरण, सिंचाई सुविधाओं का विस्तार कर, किराया मजदूरी के भुगतान के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में धन के बढ़ते हुए प्रयोग इत्यादि सभी ने कृषि उत्पादन का उचित मूल्य न मिल सका क्योंकि उसे शक्तिशाली व संगठित व्यापारी शहरी समुदाय का सामना करना पड़ता था। कुछ और भी समस्यायें है, जिनके कारण विक्रय प्रभावित होता है।

जैसे कि कृषक की ऋणग्रस्तता जिसके कारण वह किसी विशेष व्यापारी के हाथ अपना उत्पादन बेचने के लिए बाध्य था अनियमित बाजार जहाँ अनेक अनुचित परिवर्तन होते रहते थे और अनाधिकृत कटौतियां छोटे बांट और तराजू आदि के कारण भी कृषक को परेशानी उठानी पड़ती है। इसके अतिरिक्त किसान के पास विक्रय हेतु अनाज रोक सकने की शक्ति की कमी दोषपूर्ण संचार व्यवस्था और बाजार सूचनाओं के अभाव आदि कुछ ऐसे कारक हैं जो किसान को अपने उत्पादन की उचित कीमत में वंचित करते थे।

उपर्युक्त परिस्थितियों के सुधार करने के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं :-

बाजारों में सहकारी क्रय-विक्रय समितियों का संगठन, सहकारी समितियों के माध्यम से ऋण की आपूर्ति, बाजारों का नियमन, प्रमाणित बांट अधिनियम बनाना और उनका कार्यान्वयन करना, बाजारों में भण्डार गृहों की स्थापना, उत्पादकों का प्रमाणीकरण तथा श्रेणीकरण, संचार में सुधार, रेडियों तथा समाचार पत्रों के माध्यम से बाजार संबंधी नवीनतम सूचनाएँ देना और कृषि मूल्यों का स्थिरीकरण आदि।

2– **सहायक उद्योग** – भारत में औसत किसान के पास छोटी जोतें हैं और वे चाहे जितना ही कठिन परिश्रम गहन खेती पर करें किन्तु अपनी निजी जमीन की खेती में अत्यन्त मितव्ययी जीवन भी वह व्यतीत नहीं कर सकता। उसे एक औसत जीवन स्तर हेतु आय प्राप्त करने के लिए सहायक व्यवसायों का आश्रय लेना आवश्यक है। किन्तु ये व्यवसाय भी संतोषप्रद नहीं हैं।

3– **ग्रामीण मजदूर** – ग्रामीण श्रमिकों को दो भागों में विभक्त किया गया है :-

(i) खेतिहर मजदूर और (ii) भूमिहीन मजदूर

कृषि श्रम जाँच समिति के प्रतिवेदन के अनुसार ग्रामीण श्रमिक वह है जिसने वर्ष में किए गए कुल कार्य दिवसों में से आधे से अधिक दिनों खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य किया हो। सामन्ती अधिकार, भूमि के स्वामित्व का कुवितरण, शोषण युक्त मजदूरी दरें और सभी तरह की सामाजिक अयोग्यताएँ आदि कुछ ऐसे दोष हैं जिन्हें निस्संदेह समाप्त करना है। ऐसे उपयुक्त दोनों श्रेणियों के मजदूरों का विवरण निम्नलिखित है :-

(i) **खेतिहर मजदूर** : यद्यपि खेतिहर मजदूर की सहायता के लिए कुछ प्रयास किये गये हैं, किंतु उसकी दशा खराब ही हुई है, जिसका कारण भूमि पर जनसंख्या का बढ़ा हुआ भार है जो समुदाय के इस अंग को सबसे अधिक प्रभावित करता है। ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी का उपबन्ध भी लागू करना कठिन है क्योंकि एक ओर तो कृषि–श्रमिकों में श्रम संघ नहीं है और दूसरी ओर सरकारी पर्यवेक्षीय कर्मियों का भी अभाव है।

(ii) **भूमिहीन श्रमिक** : यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी अर्जित करने वाले लोगों में से बड़ी संख्या कृषि मजदूरों की ही है, तो भी कुछ ऐसे भी लोग हैं : जो कृष्येतर कार्यों जैसे घरों का निर्माण, नहर की खुदाई, सड़क निर्माण और दूसरे सार्वजनिक कार्यों में लगे हैं। अधिकांशतः वे ठेकेदार के अंदर काम करते हैं और वे उन्हें मजदूरी क़म देते हैं।

4– **ग्रामीण शिक्षा** – ग्रामीण शिक्षा की समस्याएँ भी शहरी शिक्षा की समस्याओं के समान ही हैं। शिक्षा के वर्तमान दोषों में से अधिक महत्वपूर्ण हैं, बच्चों तथा प्रौढ़ों में अत्याधिक निरक्षरता, चौथी कक्षा तक पहुंचने के पहले ही विद्यालय छोड़ देना, छात्रों द्वारा एक कक्षा में एक वर्ष से अधिक लगाना, शास्त्रीय एवं सैद्धांतिक शिक्षा पर अधिक बल, प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के लिए पर्याप्त सुविधाओं का अभाव और प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी। इसके अलावा युवा पुरुषों के लिए मौलिक शिक्षा सुविधाओं का अभाव के लिए न्यून शिक्षा सुविधाएँ। यद्यपि कई साधारण विद्यालयों को मौलिक विद्यालयों में परिवर्तित कर दिया गया है तथापि पुरुष छात्रों को व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए उनके पाठ्यक्रम अब तक परिवर्तित नहीं किए जा सके हैं। पुरुषों में प्रौढ़ साक्षरता सहित सामाजिक शिक्षा प्रदान करने के प्रयास सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अंतर्गत किए गए हैं। परन्तु वे अधिक सफल नहीं रहें हैं। प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड में पूर्व विद्यालय शिक्षा की देखभाल करने और महिलाओं को कला, हस्तकला तथा सामाजिक शिक्षा

के क्षेत्र में आवश्यक मार्ग-दर्शन करने के लिए दो से तीन ग्राम सेविकाओं की सेवाएँ उपलब्ध हैं। तथापि महिलाओं की न्यून शिक्षा और महिलाओं के इस कार्य के प्रति पुरुषों की विपरीत भावनाओं के कारण उनके कार्य में बाधा पहुंचती है। इसलिए इन बंधनों को तोड़ने के लिए सम्पूर्ण प्रयत्नों की आवश्यकता है।

5- **स्वास्थ्य** - देश में स्वास्थ्य के गिरे हुए स्तर के कारण इस प्रकार हैं : समुचित चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, पर्याप्त स्वस्थ वातावरणों की कमी अर्थात् सुरक्षित जलापूर्ति एवं स्वच्छता पर्याप्त भोजन की कमी तथा खराब पोषण के कारण निम्न प्रतिरोधक क्षमता, सामान्य तथा स्वास्थ्य, शिक्षा का अभाव और पर्याप्त आवास व्यवस्था की कमी। चिकित्सा सुविधाओं की प्राप्ति हेतु सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अंतर्गत प्रत्येक सामुदायिक विकास खण्ड में एक प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र खोले गए हैं। इस स्वास्थ्य इकाई के उद्देश्य व्यक्तिगत स्वास्थ्य सेवायें प्रदान करना है। विशेषतया माता तथा बच्चों के स्वास्थ्य, विद्यालय स्वास्थ्य संचारी रोगों का नियंत्रण, स्वच्छ जल आपूर्ति स्वच्छता में सुधार, परिवार नियोजन तथा जनता को स्वास्थ्य परीक्षा देना इसके कार्यों में आते हैं किन्तु यह केवल इस इकाई द्वारा ये कार्य संभव नहीं है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी और इकाइयों की आवश्यकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ तक आवास समस्या का प्रश्न है कुछ विधाओं तथा अच्छी सफाई से युक्त सस्ते और साधारण निर्माण करते हैं।

6- **समाज कल्याण** - समाज कल्याण एक अत्यन्त व्यापक प्रत्यय है और इसका अर्थ न केवल विशिष्ट सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन है अपितु सभी की पूर्ण भौतिक, मानसिक और सामाजिक भलाई की अवस्था से होता है तथापि शब्द के संकुचित अर्थो में समाज कल्याण क्रियाएँ प्रमुख रूप से समुदाय के पिछड़े तथा कमजोर अंगों के ही कल्याण से संबंध रखती हैं। यदि किसी ग्रामीण समुदाय की आर्थिक क्रियाओं पर ही अधिक जोर दिया जाता रहे और सामाजिक, स्वास्थ्य को बनाए रखने के तथा समुन्नत करने, सामाजिक समस्याओं के उपचार करने और प्रभावपूर्ण सामाजिक शिक्षा की ओर कोई प्रयास न किए जाएँ तो उससे केवल आंशिक सफलता ही मिलेगी और इसका परिणाम अकार्यकुशलता, अप्रत्यय तथा अस्थायी उपलब्धियाँ भी हो सकता है। जहाँ तक विशिष्ट समाज कल्याण क्रियाओं का संबंध है समस्या कुछ कमजोर अंगों जैसे बच्चों तथा महिलाओं, युवक एवं पिछड़े वर्गों के कल्याण की देखभाल करने की है। गाँव में छोटे बच्चों तथा स्त्रियों के जीवन सुधार में ग्राम सेविका के कार्यों के संबंध में हमें ध्यान देना होगा।

ग्रामीण विकास की प्रमुख योजनाएँ

ग्रामीण इलाकों में रहने वाले लोगों का जीवन स्तर सुधाराना ग्राम विकास का मुख्य लक्ष्य है। गरीबी मिटाकर ही लक्ष्य पूरा किया जा सकता है। इसलिए ग्राम विकास के कार्यक्रमों में गरीबी दूर करने के उपायों पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। गाँव वालों को रोजगार के

विशेष अवसर प्रदान करके, बैंकों आदि द्वारा उधार या आर्थिक सहायता देकर उत्पादक परिसम्पत्तियों के हस्तांतरण द्वारा क्षेत्र विकास कार्यक्रमों, भूमि सुधारों और ग्रामवासियों के लिए मकान बनाने के कार्यक्रमों तथा पीने के पानी और सफाई की सुविधाएँ जुटाकर ग्राम विकास के कार्यक्रमों पर अमल किया जा रहा है। गाँवों में रहने वाले गरीब लोगों की गरीबी दूर करने के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करने के लिए अनेक योजनाएं क्रियान्वित की जा रही हैं। ग्राम विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु वर्तमान समय में कुछ योजनाएँ चलायी जा रही हैं जो निम्नलिखित हैं :-

(अ) समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम – समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम सामुदायिक विकास खण्डों द्वारा पूरा किया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इसकी संकल्पना का प्रस्ताव सर्वप्रथम 1976-77 के केन्द्रीय बजट में रखा गया और इसे कुछ सीमा तक लागू किया गया। इसी को अकसर 'समन्वित सामुदायिक विकास कार्यक्रम' भी कह दिया जाता है। यद्यपि कुछ समय पहले तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के अंतर्गत लघु किसान विकास एजेन्सी तथा सूखाग्रस्त क्षेत्र कार्यक्रम का स्थान प्रमुख था लेकिन बाद में यह अनुभव किया गया कि इन कार्यक्रमों से ग्रामीण जनता के जीवन स्तर में कोई सुधार नहीं हो सका है। जबकि इस कार्यक्रम का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में निर्दिष्ट गरीब परिवारों को पर्याप्त सहायता प्रदान करके उनकी आय को इस सीमा तक बढ़ाए कि वे सदैव के लिए गरीबी रेखा से ऊपर उठ जाएं। गरीब परिवारों के आर्थिक स्तर को उठाने के लिए भारत सरकार ने ठोस कदम उठाए हैं। इन लोगों को आवश्यक सुविधा देने के लिए यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक सामुदायिक खण्ड के द्वारा प्रतिवर्ष अपने क्षेत्र में 600 निर्धन परिवारों का चयन करके उन्हें लाभ प्रदान किए जाएं। इस प्रकार के परिवारों में से एक व्यक्ति को नौकरी के अवसर प्रदान करने का प्रयास किया जायेगा। यदि यह सम्भव न हो तो उन्हें आर्थिक सहायता देकर आत्मनिर्भर बनाया जायेगा। इस योजना में परिवार को एक इकाई के रूप में लिया जाता है। इस कार्यक्रम को 20 सूत्रीय कार्यक्रम के तहत प्राथमिकता दी गई है। इस योजना में कुछ और कार्यक्रम और सम्मिलित किए गए हैं जैसे-

1. ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार के प्रशिक्षण।
2. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार योजना।
3. ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं और बच्चों का विकास।
4. ग्रामीण भूमिहीन श्रमिकों को रोजगार देने की गारण्टी।
5. काम के बदले अनाज का कार्यक्रम।
6. कुशलता विकास कार्यक्रम।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम का महत्व – अग्रलिखित बिन्दुओं के आधार पर इसके महत्व को जाना जा सकता है। ग्रामीण निर्धन व्यक्तियों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने का संकल्प।

* यह कार्यक्रम ग्रामीण समाज की बेकारी, अर्थ-बेकारी को दूर करने की सबसे विशाल योजना है।
* इस योजना का महत्व इसलिए भी अधिक है कि यह सम्पूर्ण ग्रामीण समाज को विकास और प्रगति के मार्ग पर लाना चाहती है जिससे गाँव के निर्धन-व्यक्ति को अधिक से अधिक लाभ मिल सके।
* इस कार्यक्रम का महत्व इससे भी ज्ञात होता है कि यह शताब्दियों से शोषित अ.जा. के कल्याण के लिए कार्य करती है। उन्हें लाभान्वित करने का प्रयास करती है।
* गाँव के निर्धन वर्ग के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने के लिए यथासंभव प्रयास करती है जिससे विभिन्न वर्गों के आय जो आर्थिक, सामाजिक विषमताएँ हैं वे समाप्त हो सके।
* सीमान्त किसानों, कृषक श्रमिकों, ग्रामीणों, कारीगरों तथा अन्य व्यक्तियों को आर्थिक सहायता प्रदान करती है जिससे वे स्वावलम्बी बन सकें।
* निठल्ले ग्रामीण व्यक्तियों को प्रेरित करके उन्हें कामकाजी बनाने हेतु प्रयास करती है उन्हें विभिन्न कार्य में प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे वे आपनी आजीविका अर्जित कर सकें।
* कृषकों के पास जब किसी प्रकार का काम नहीं रहता है तो उन्हें काम दिया जाता है और पारिश्रमिक के स्थान पर अनाज दिया जाता है अर्थात् काम के बदले अनाज जिससे उनकी रोजी-रोटी चल सके।
* कुटीर उद्योग धंधों को आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था है।
* ग्रामीण व्यक्तियों को अंधविश्वास और रूढ़ियों से निकालकर उन्हें आधुनिक बनाने का प्रयास किया ज़ाता है।
* गाँव के व्यक्तियों को विभिन्न कार्यों में प्रशिक्षण देकर उन्हें स्वरोजगार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।
* ग्रामीणों को इस प्रकार प्रोत्साहित किया जाता है कि वे विभिन्न विकास कार्यक्रमों में स्वतः भागीदार बनें और गाँव के सर्वांगीण विकास के प्रहरी बनें।
* यह कार्यक्रम पशुपालन, मत्स्य पालन, डेरी, दस्तकारी, वानिकी आदि कार्यों में सहायता करता है।
* उत्पादन में वृद्धि करने से किसानों को सरकारी अनुदान तथा बैंक ऋण की व्यवस्था की गई है। इस सहायता और अनुदान से कृषक अच्छी खाद, बीज और मशीन के अनेक उपकरणों का क्रय करता है।

समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों के दोष अथवा कमियाँ

इस कार्यक्रम में कुछ ऐसी कमियां अथवा दोष हैं जो इसे सफल बनाने में बाधक हैं। नौकरशाही का जाल इतना जटिल और भ्रमित है कि उचित समय पर न तो यह कार्यक्रम

कार्यान्वित हो पाता है और न जरूरतमन्द को इसका लाभ प्राप्त हो पाता है।

महाजन का भ्रष्टाचार का साम्राज्य इतना व्यापक हो गया है कि इसने ग्रामीण समाज को भी निगल लिया है। अधिकारियों को बगैर घूस दिए किसानों व निर्धन व्यक्तियों को किसी प्रकार आर्थिक सहायता प्राप्त नहीं हो सकती है।

सरकारी तंत्र में जुड़े कर्मचारी व अधिकारी ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में अधिक रुचि नहीं लेते हैं। अधिकारी अधिक से अधिक समय नगरों में रहते हैं खानापूर्ति के लिए कभी-कभार गाँवों का दौरा लगा लेते हैं। विकास कार्य को फर्जी आंकड़ों के द्वारा सरकार व बड़े अधिकारियों को भेजा जाता है जिससे सरकार को विकास की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता है सरकार अंधेरे में रहती है। ग्रामीण समाज में विकास कार्यक्रम इसलिए भी ढीले रूप से चलाए जाते हैं कि शासन का कर्मचारी तंत्र पर न तो अंकुश और न नियंत्रण है और न इन्हें किसी प्रकार का भय है।

राज्यों में अल्पकालीन सरकारें होने के कारण भी विकास कार्य व्यवस्थित रूप से न तो कार्यान्वित हो पाते हैं और न ये सरकारें इसमें रुचि लेती हैं। सरकार का सारा समय अपनी सत्ता को बचाने में व्यतीत हो जाता है फिर यह कार्यक्रम सफल कैसे हो सकते हैं।

निरक्षर, सीधा सरल ग्रामीण समाज अभी इस योजना से भली-भाँति परिचित नहीं हुआ है। इसलिए जितना उसे इन कार्यक्रमों से लाभ प्राप्त होना चाहिए नहीं हो पाता है। इसका लाभ धनी और प्रभावकारी व्यक्तियों को ही मिलता है। निर्धन गरीब ही बना रहता है धनी और धनी बनता चला जाता है।

स्वरोजगार योजना की जानकारी सभी ग्रामीणों का नहीं है और न सरकार इसका प्रचार सुव्यवस्थित रूप से करती है। उपयुक्त कारकों से आज एकीकृत ग्रामीण विकास योजना समाप्त कर दी गई है।

ब- राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम – गाँवों में बेरोजगारी की समस्या का मुख्य संबंध मौसमी अर्धबेरोजगारी से है। इसके लिए किसानों को एक ओर कृषि के अतिरिक्त साधन उपलब्ध कराने की आवश्यकता है तो दूसरी ओर अधिक निर्धन किसानों को खाली समय में रोजगार के नये अवसर देना आवश्यक है। आरंभ में काम के बदले अनाज योजना के द्वारा इस आवश्यकता को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था, लेकिन सन् 1981 में इस स्थान पर राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम आरंभ किया गया इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य खाली समय में कृषकों को रोजगार के अतिरिक्त अवसर देना और उन्हें कृषि के उन्नत उपकरण उपलब्ध कराना था।

स- जवाहर रोजगार योजना– इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगार और अल्प बेरोजगार पुरुषों और महिलाओं दोनों के लिए अतिरिक्त लाभकारी रोजगार को सृजित करना।

गरीबी की रेखा से नीचे बसर कर रहे व्यक्ति लक्षित समूह हैं। भूमि तथा जल संरक्षण कार्य, जल निकासी करण ढांचे, लघु सिंचाई कार्य जैसे सामुदायिक सिंचाई, कुओं का निर्माण, मध्यम तथा मुख्य नालियों और खेत की नालियों आदि का निर्माण कार्य, मानव अथवा पशु या सिंचाई अथवा मछली पालन के लिए पानी उपलब्ध कराने हेतु गाँव में तालाबों का निर्माण अथवा नवीनीकरण। ग्रामीण क्षेत्रों में अच्छे शौचालयों, हैण्डपंपों, सड़कों का निर्माण, बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना आदि कार्य किए जाए।

द- गाँवों में महिलाओं और बच्चों का विकास- इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है जिले में आय बढ़ाने वाले काम शुरू कर गाँवों की स्त्रियों की दशा सुधारना। इस कार्यक्रम को लागू करने के लिए ऐसे जिले चुने जाते हैं जहाँ साक्षरों की संख्या कम हो तथा शिशुओं की मृत्यु दर अधिक। इस कार्यक्रम के अधीन पाँच से लेकर दस तक ग्रामीण महिलाओं का दल बना दिया जाता है। यह दल आमदनी बढ़ाने वाले काम-धंधे शुरू करता है।

य- ग्राम रोजगार कार्यक्रम – देहाती इलाकों में बहुत अधिक गरीबी का मुख्य कारण है गांव वालों की बेरोजगारी और कम रोजगार। देहातों में रहने वाले सबसे गरीब लोगों पर इसका खास असर पड़ता है। इसलिए देहातों में रोजगार के अवसर बढ़ाने के लिए अनेक प्रायोगिक परियोजनाएँ शुरू की गई हैं। अक्टूबर 1980 में ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम शुरू किया गया। इसके तीन उद्देश्य हैं- अतिरिक्त लाभकारी रोजगार के अवसर देना, समाज के सदस्यों हेतु स्थायी परिसम्पत्तियाँ बनाना और देहाती इलाकों के लोगों का जीवन स्तर सुधारना। वर्ष 1983 में ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम शुरू किया गया, इसका उद्देश्य गांवों में रहने वाले और खासकर भूमिहीन मजदूरों के लिए रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना और इन्हें बढ़ाना तथा गाँव के प्रत्येक भूमिहीन परिवार के कम से कम एक सदस्य के लिए वर्ष में 100 दिन तक के रोजगार की निश्चित व्यवस्था करना था। 1 अप्रैल, 1989 को इन दोनों को मिलाकर जवाहर रोजगार योजना कर दिया गया।

र- रोजगार आश्वासन योजना- 2 अक्टूबर, 1993 से यह योजना रोजगार गारंटी योजना के नाम से शुरू की गई। इसका उद्देश्य रोजगार वाले गाँवों के निर्धनों के लिए 100 दिन के लिए हाथ से किए जाने वाले अकुशल काम की सुनिश्चित व्यवस्था करना। चार वर्ष के दौरान 106.86 करोड़ मानक दिन रोजगार कार्यक्रम किया गया जिस पर 52.76 करोड़ रुपये खर्च हुए और 259 लाख व्यक्तियों को राहत प्राप्त हुई।

ल- मरूस्थल विकास कार्यक्रम – भारत में सामुदायिक विकास खण्डों के माध्यम से यह कार्यक्रम वर्ष 1977-78 से आरंभ किया गया। जिसका उद्देश्य रेगिस्तानी, बंजर तथा बीहड़ क्षेत्रों की भूमि पर अधिक से अधिक हरियाली लगाना, फल स्रोतों को ढूंढ़ कर उनका उपयोग करना, ग्रामों में बिजली देकर ट्यूब वेल को प्रोत्साहन देना तथा पशुधन और बागवानी का विकास करना है।

व– जनजातीय विकास की अग्रगामी योजना– इस योजना के अंतर्गत आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा के कुछ आदिवासी बाहुल क्षेत्रों में जनजातीय विकास के प्रयत्न किए गए हैं। इसके द्वारा आर्थिक विकास, संचार, प्रशासन, कृषि तथा संबंधित क्षेत्रों में जनजातीय समस्याओं का गहन अध्ययन करके कल्याण कार्यक्रमों को लागू किया जाता है। यह कार्य जनजातीय क्षेत्रों में स्थित विकास खण्डों के द्वारा किया जा रहा है। इसके द्वारा लोगों को पशु खरीदने, भूमि सुधार करने, बैलगाड़ियों की मरम्मत करने और दस्तकारी से संबंधित कार्यों के लिए ऋण दिलवाने में भी सहायता की जाती है।

ष– पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम – पर्वतीय क्षेत्र के किसानों का सर्वांगीण विकास करने तथा उनके रहन-सहन के स्तर में सुधार करने के लिए हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडु में यह कार्यक्रम आरंभ किया गया।

श– पौष्टिक आहार कार्यक्रम – यह कार्यक्रम विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा यूनीसेफ की सहायता से केन्द्र सरकार द्वारा संचालित किया जाता है। इसका उद्देश्य पौष्टिक आहार के उन्नत तरीकों से ग्रामीणों को परिचित कराना तथा प्राथमिक स्तर पर स्कूली बच्चों के लिए दिन में एक बार पौष्टिक आहार की व्यवस्था करना है तथा पौष्टिक आहार की समुचित जानकारी देने से गाँव पंचायतों, युवक तथा महिला मंडलों की भी सहायता ली जाती है।

स– पशुपालन – पशुओं की नस्लों में सुधार करने तथा ग्रामीणों के लिए अच्छी नस्ल के पशुओं की आपूर्ति करने में भी विकास खण्डों का योगदान बढ़ता जा रहा है। इससे ग्रमीण क्षेत्रों में पशुओं की नस्ल में निरंतर सुधार हो रहा है।

ह– ऐच्छिक संगठनों को प्रोत्साहन – सामुदायिक विकास कार्यक्रम की सफलता का मुख्य आधार इस योजना में ऐच्छिक संगठनों का अधिकाधिक सहभाग प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से विकास खण्डों द्वारा अब मण्डल तथा युवक मण्डल जैसे ऐच्छिक संगठनों के विकास पर विशेष जोर दिया जा रहा है। इस कार्य के लिए ऐच्छिक संगठनों के पंजीकरण के नियमों को सरल बनाना, कार्यकारिणी के सदस्यों को प्रशिक्षण देना, विशेष कार्यक्रमों के निर्धारण में सहायता करना, रखरखाव के लिए अनुदान देना, उनकी कार्यप्रणाली का अवलोकन करना, महिला मंडलों को प्रेरणा पुरस्कार देना तथा कुछ चुनी हुई ग्रामीण महिलाओं को नेतृत्व का प्रशिक्षण देना आदि वे सुविधाएँ हैं जिनमें ऐच्छिक संगठन ग्रामीण विकास के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

क्ष– स्वास्थ्य तथा परिवार नियोजन– ग्रामीणों में छोटे आकार के परिवारों के प्रति जागरुकता उत्पन्न करने तथा उनके स्वास्थ्य स्तर में सुधार करने के लिए सामुदायिक विकास खण्डों ने विशेष सफलता प्राप्त की है। अब इसके अंतर्गत जनसंख्या संबंधी शिक्षा देने का कार्य भी किया जा रहा है।

त्र– शिक्षा तथा प्रशिक्षण – सामुदायिक विकास योजना के द्वारा ग्रामीण शिक्षा के व्यापक प्रयास किए गए। इसलिए गाँवों में महिला मण्डल कृषक दल तथा युवक दल स्थापित किए गए। समय-समय पर प्रदर्शनियों, उत्सवों तथा ग्रामीण नेताओं के लिए प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन करके उन्हें कृषि और दस्तकारी की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है। वर्तमान में सामुदायिक विकास खण्ड प्रौढ़ शिक्षा का विस्तार करके भी ग्रामीण साक्षरता में वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहे हैं। ग्रामीणों के अतिरिक्त विद्यालय के शिक्षकों, पंचायत के सदस्यों तथा ग्रामीण युवकों के लिए विशेष गोष्ठियों और शिविरों का आयोजन किया जाता है जिससे लोगों में शिक्षा के प्रति चेतना उत्पन्न करके विभिन्न योजनाओं से लोगों को परिचित कराया जा सके।

ज्ञ– अन्त्योदय कार्यक्रम – महात्मा गांधी देश के ऐसे विचारक एवं चिन्तक थे, जिनके सम्पूर्ण चिन्तन का केन्द्रबिन्दु ग्रामीण समाज की गरीबी, बेरोजगारी और पिछड़ापन था। उनका दृढ़ विश्वास था कि ग्रामीण समाज के विकास और प्रगति के अभाव में देश उन्नति नहीं कर सकता। देश का पेट भरने वाला वर्ग ही यदि वस्त्रहीन, भूखा, बेरोजगार और निर्धन है तो राष्ट्र प्रगति के मार्ग पर कैसे अग्रसर हो सकता है। यदि 75 प्रतिशत ग्रामीण निर्धन हैं तो देश के सम्पन्न और खुशहाली की कल्पना करना सपने में विचरने के समान है।

ग्रामीण समाज की अनगिनत आर्थिक, सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु उन्होंने सर्वोदय समाज का आदर्श देश के सम्मुख रखा। सर्वोदय समाज का लक्ष्य है कि बगैर किसी भेदभाव के सभी जाति व धर्म के व्यक्तियों का कल्याण हो, सभी को उन्नति के समान अवसर प्राप्त हो। यह तभी संभव है जब सर्वोदय समाज के कार्यक्रम को निष्ठापूर्वक चलाया जाए। इसलिए इसके अधिकांश कार्यक्रम केन्द्रीय व राज्य सरकारें चला रही हैं। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य है कि वे व्यक्ति जो गरीबी रेखा से नीचे हैं उनके लिए जीवन स्तर को उठाया जाए उनकी आर्थिक-सामाजिक समस्याओं का निराकरण किया जाए।

गांधी जी से प्रभावित होकर जयप्रकाश नारायण ने 2 अक्टूबर, 1977 से ऐसे कार्यक्रम की रूपरेखा तैयार की जिसका लाभ गांव के सबसे निर्धन व्यक्ति को प्राप्त हो। इस कार्यक्रम को 'अन्त्योदय कार्यक्रम' की संज्ञा दी गई। गांव के सबसे निर्धन परिवार का चयन किया जाता है। उसे मुख्यतः तीन प्रकार से सहायता प्रदान की जाती है : –

* कृषि योग्य भूमि का आवंटन।
* अपनी रुचि का रोजगार प्रारंभ करने की सुविधा।
* वृद्धावस्था पेंशन।

वे परिवार जो गरीबी रेखा से नीचे हैं जिनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय है और दयनीय है, इस प्रकार के परिवारों को अतिरिक्त भूमि से कुछ भूमि आवंटित की जाती है जिस पर वे खेती करते हैं। रूचिकर स्वरोजगार चलाने की दृष्टि से चयनित परिवारों को आर्थिक सहायता

दी जाती है, जिससे कुक्कुट पालन, शहद की मक्खियों का पालन, डेरी व्यवसाय, हथकरघा, सिलाई मशीन आदि से संबधित कार्यों को कर सकें। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण निर्धन व्यक्तियों को स्वावलम्बी बनाना है। इसी तरह वृद्धावस्था पेंशन के अंतर्गत ऐसे परिवारों को चुना जाता है जो अर्जित करने वाला व्यक्ति न हो। निराश्रय वृद्ध व्यक्ति को पेंशन का लाभ प्राप्त हो।

अन्त्योदय कार्यक्रम की कमियाँ – अन्य ग्रामीण विकास कार्यक्रमों की तरह इस कार्यक्रम में भी अनके दोषों की ओर संकेत किया गया है जो इस प्रकार है –

1. चयनित परिवारों का चयन दोषपूर्ण ढंग से किया जाता है। इससे स्थानीय बड़े और प्रभावशाली व्यक्तियों का दबाव और पूर्वाग्रहों के कारण निर्धनतम परिवार का चयन नहीं हो पाता है।
2. स्थानीय राजनैतिक प्रतिनिधियों के स्वार्थ ने अन्त्योदय परिवार के आर्थिक सहायता में अड़ंगे लगाए हैं परिणामस्वरूप कुछ परिवारों को आर्थिक सहायता अधिक प्राप्त होती है और कुछ को बहुत कम।
3. इस कार्यक्रम में चयनित परिवारों को मासिक आय की जाँच ठीक से नहीं की जाती है फलस्वरूप कुछ ऐसे निर्धन परिवार छूट जाते हैं जिन्हें वास्तव में उस योजना का लाभ मिलना चाहिए।

इस कार्यक्रम के प्रति अधिकारियों का हल्का-फुल्का रुख रहता है। इससे यह कार्यक्रम सफल नहीं हो पाते हैं।

चयनित परिवारों की पुनर्परीक्षण नहीं की जाती है।

सामान्यतया नौकरशाह ग्रामीण क्षेत्र का भ्रमण भी नहीं करते हैं, केवल औपचारिकतावश गाँव का निरीक्षण करके नगर वापस आ जाते हैं। सरकार को ग्रामीण विकास के फर्जी आकंड़े प्रेषित किए जाते हैं। इस तरह सरकार को प्रगति का वास्तविक लाभ नहीं हो पाता है, यही कारण है कि इन व्यक्तियों का सही मूल्यांकन नहीं किया जाता है।

इन सबके अलावा अन्य योजानाएं भी संचालित हैं जो निम्न हैं :-

1. सेवा योजना आश्वासन योजना
2. दस लाख कुआँ योजना
3. राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना
4. राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना
5. राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना
6. अम्बेडकर ग्राम व गांधी ग्राम योजना

7. राष्ट्रीय साक्षरता मिशन व सघन मिनी डेरी योजना
8. दलहन व तिलहन विकास योजना
9. विधवा व वृद्धावस्था पेंशन योजना
10. उन्नत टूल किस्म योजना
11. अम्बेडकर विशेष रोजगार योजना
12. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम व राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम
13. गंगा, कल्याण सिंचाई योजना, निःशुल्क बोरिंग योजना

कुछ अन्य योजनायें

ग्रामीण युवक स्वरोजगार प्रशिक्षण योजना (TRYSEM)-

यह योजना समेकित ग्रामीण विकद्दास कार्यक्रम की घटक उप-योजना के रूप में 15 अगस्त, 1979 को शुरू की गई। इसके मुख्य उद्देश्य निर्धनता-रेखा के नीचे रहने वाले ग्रामीण परिवारों के 18-35 वर्ष आयुवर्ग या मजदूरी पर नियोजित हो सकें। विधवाओं, मुक्त कराए गए बँधुआ श्रमिकों, छोड़ दिए गए बंदियों, विकास परियोजनाओं के चलते विस्थापित व्यक्तियों तथा रोगमुक्त कुष्ठरोगियों के लिए 35 वर्ष की उम्र-सीमा बढ़ाकर 40 वर्ष की जा सकती थी। प्रशिक्षण की व्यवस्था प्रशिक्षण संस्थाओं, जैसे- औद्योगिक प्रशिक्षण-संस्थाओं, ग्रामीण पॉलिटेक्निकों तथा विस्तार प्रशिक्षण-केंद्रों, कृषि विज्ञान-केंद्रों, नेहरू युवक-केंद्रों, खादी और ग्रामीण उद्योग बोर्डों, ग्रामीण विकास के राजकीय संस्थानों या ऐच्छिक संगठनों द्वारा संचालित संस्थाओं या कुशल शिल्पियों को कार्य-स्थलों पर की जा सकती थी। प्रशिक्षण की अवधि में प्रशिक्षणार्थियों को वृत्तियाँ देने की व्यवस्था थी। प्रशिक्षण के पूरा होने पर स्वनियोजन-इकाइयों की स्थापना के इच्छुक प्रशिक्षित नवयुवकों के समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अधीन सहायता दी जाती रही है। इस योजना के अंतर्गत भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों, नवयुवतियों तथा शारीरिक रूप से विकलांगों के लिए निर्धारित प्रतिशत में स्थान आरक्षित थे। 1980-81 से 1997-98 तक की अवधि में योजना के अधीन प्रशिक्षित युवकों की संख्या प्रतिवर्ष 2.5 लाख और 3.6 लाख के बीच तथा स्वनियोजित युवकों की संख्या 73 हजार और 1.2 लाख के बीच रही है।

ग्रामीण क्षेत्रीय महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम (DWCA)- यह कार्यक्रम समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम की उप-योजना के रूप में 1982-83 में शुरू किया गया। इस कार्यक्रम का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों की निर्धन महिलाओं के लिए आय बढ़ाने वाले कौशल एवं कार्यकलाप का विकास कर उनकी आर्थिक और सामाजिक प्रस्थिति में सुधार लाना था। इस कार्यक्रम के अंतर्गत उन्हें आर्थिक और सामाजिक रूप से अधिक सशक्त बनाकर स्वास्थ्य,

शिक्षा, शुद्ध पेयजल, स्वच्छता, पोषाहार से संबद्ध दशाओं में सुधार लाने का प्रयास किया जाता रहा है, जिससे उनके जीवन की गुणवत्ता में सुधार तथा महिलाओं और बालकों का कल्याण हो सके। इस कार्यक्रम में 10–15 ग्रामीण महिलाओं के समूह बनाए जाने पर जोर दिया गया जिससे वे अपने कौशल, प्रवणता तथा स्थानीय दशाओं के उपयुक्त आय बढ़ाने वाली गातिविधियों में भाग ले सकें। प्रत्येक ऐसे समूह को आवर्तक निधि (revolving fund) के रूप में निर्धारित राशि उपलब्ध कराई जाती थी। इस कार्यक्रम का कार्यान्वयन भी मुख्यतः जिला ग्रामीण विकास अभिकरण द्वारा होता रहा है। 1980–81 से 1997–98 तक की अवधि में इस कार्यक्रम के अधीन प्रतिवर्ष गठित किए गए महिला-समूहों की संख्या 7 हजार और 41 हजार के बीच तथा लाभान्तिव महिलाओं की संख्या 1 लाख और 7 लाख के बीच रही है।

ग्रामीण कारीगर योजना (SITRA)– 1982 में शुरू की गई इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण कारीगरों को अपने उत्पादों की गुणवत्ता सुधारने और उत्पादन तथा आय बढ़ाने के अवसर प्रदान करना तथा उनके शहरी क्षेत्रों में पलायन को रोकना रहा है। इसके अधीन कुछ श्रेणियों के मजदूरों को छोड़कर विविध प्रकार के शिल्पों में लगे निर्धन कारीगरों को लाया गया। योजना के अंतर्गत ग्रामीण कारीगरों को आधुनिक औजारों का थैला उपलब्ध कराया जाता रहा है। शक्तिचालित औजारों के लिए सहायता की राशि अधिक थी।

ग्रामीण कारीगर योजना (SITRA)– 1997 में शुरू की गई इस योजना का उद्देश्य निर्धनता-रेखा के नीचे रहने वाले छोटे और सीमांत कृषकों को भूमिगत जल के उपयोग से सिंचाई में सहायता प्रदान करना रहा है। इसके अधीन कुओं और ट्यूबवेल जैसे तरीकों के प्रयोग के लिए सरकार द्वारा सहायिकी तथा बैंकों द्वारा ऋण की व्यवस्था की जाती रही है। इस योजना के लिए वित्तीय भार केंद्र और राज्य सरकारें 80:20 के अनुपात में वहन करती आई हैं।

दस लाख कूप योजना (MWS)– यह योजना 1988–89 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (NREP) तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP) के अंतर्गत शुरू की गई। 1989 में जब इन ग्रामीण रोजगार कार्यक्रमों को जवाहर रोजगार योजना द्वारा विस्थापित किया गया तब दस लाख कूप योजना भी जवाहर रोजगार योजना का अंग बन गई। 1996 में इसे जवाहर रोजगार योजना से पृथक स्वंतत्र योजना का रूप दिया गया। इस योजना का मुख्य उद्देश्य मुख्यतः अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा मुक्त कराए गए बँधुआ श्रमिकों और निर्धन, छोटे और सीमांत कृषकों को व्यक्तिगत रूप में सिंचाई के लिए खुले कुएँ मुफ्त उपलब्ध कराना रहा है। इस योजना के अंतर्गत होने वाला खर्च केंद्र एवं राज्य सरकारें 80 : 20 के अनुपात में वहन करती आई हैं। 1998 के अंत तक इस योजना के अंतर्गत 12.6 लाख से अधिक कूप बनवाए गए।

1999 में स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना के लागू होने पर उपर्युक्त सभी योजनाओं को समाप्त कर दिया गया। स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना एक व्यापक (holistic) कार्यक्रम

है जिसमें स्वरोजगार के सभी पहलू, जैसे-निर्धनों के स्व-सहायता समूहों का गठन, प्रशिक्षण, ऋण, तकनीकी ढाँचा तथा विपणन आदि सम्मिलित है। इस योजना का उद्देश्य सहायता-प्राप्त गरीब परिवारों 'स्वरोजगारियों' को बैंक ऋण तथा सरकारी सहायिकी के माध्यम से आय-सृजक परिसंपतियाँ मुहैया कराकर उन्हें तीन वर्ष के भीतर गरीबी रेखा से ऊपर उठाना है। योजना में ग्रामीण निर्धनों की कार्यक्षमता पर आधारित अनेक लघु उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भारत में ग्रामीण क्षेत्र के गरीबों में क्षमताएँ मौजूद हैं और अगर उनको उचित सहायता दी जाए तो वे मूल्यवान उत्पादों/सेवाओं के सफल उत्पादक बन सकते हैं। योजना की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. योजना के अंतर्गत सहायता-प्राप्त परिवार जिन्हें 'स्वरोजगारी' का नाम दिया गया है कोई अकेला व्यक्ति या स्व-सहायता समूह हो सकता है। लेकिन, इसमें सामूहिक उपागम पर विशेष जोर दिया गया है।
2. योजना के अंतर्गत लघु उद्योगों की स्थापना में समूहगत दृष्टिकोण को प्राथमिकता दी गई है। इसके लिए प्रत्येक प्रखंड के लिए वहाँ उपलब्ध संसाधनों, लोगों की व्यावसायिक दक्षता तथा बाजारों की उपलब्धता पर आधारित 4-5 गतिविधियों की पहचान की जाती है। इन प्रमुख गतिविधियों का चयन प्रखंड स्तर पर पंचायत-समिति द्वारा तथा जिला-स्तर पर जिला ग्रामीण विकास अभिकरण/जिला परिषद द्वारा किया जाता है। इस योजना के अंतर्गत सहायता का बड़ा भाग सक्रियता-समूहों (activity clusters) के लिए होता है।
3. इस योजना में प्रमुख गतिविधि के लिए परियोजना-उपागम (project approach) अपनाया जाता है। पहचान की गई प्रमुख गातिविधियों के संदर्भ में परियोजना रिपोर्ट तैयार की जाती है। इन्हें बनाने में बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं का निकट संबंध रहता है। इनकी सहभागिता से ऋणों की मंजूरी तथा वित्तीय प्रबंध की पर्याप्तता सुनिश्चित करने में विलंब को रोका जा सकता है।
4. स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना एक ऋण-सह-सहायिकी कार्यक्रम है। इसमें ऋण का घटक निर्णायक होता है जबकि सहायिकी एक लघु तथा सामर्थ्य प्रदान करने वाला घटक होती है। योजना के अंतर्गत बैंक परियोजनाओं को बनाने, सक्रियता-समूह की पहचान करने, आधारभूत संरचना की योजना तैयार करने, क्षमता-निर्माण तथा स्व-सहायता समूहों की गतिबिधियों के चयन, व्यक्तिगत स्वरोजगारियों के चयन, ऋण-पूर्व तथा ऋण देने के बाद की गातिविधियों तथा ऋण-वूसली के प्रबोधन (monitioring) में निकटता से सम्मिलित होंगे।
5. योजना के अन्तर्गत एकबारगी ऋण के बदले अनेक चरणों में ऋण को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया है। स्वरोजगारियों की ऋण-आवश्यकताओं का सावधानी से मूल्यांकन

किया जाता है तथा उन्हें अपने साख-अंतर्ग्रहण (credit intake) में वृद्धि के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

6. स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना के अंतर्गत ग्रामीण निर्धनों में बहुत दुर्बल समूहों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। स्व-रोजगारियों में 50 प्रतिशत अनुसूचित जातियों और जनजातियों, 40 प्रतिशत महिलाओं तथा 3 प्रतिशत विकलांगों के लिए आरक्षित हैं।
7. योजना में सामूहिक उपागाम पर जोर दिए जाने के कारण इसके अंतर्गत निर्धनों के स्व-सहायता समूहों के गठन और उनकी क्षमता के निर्माण को प्राथमिकता दी गई है। सभी स्व-सहायता समूहों में महिलाओं को शामिल करने के लिए प्रयास किए जाते हैं। साथ ही, विशिष्ट महिला-समूहों का निर्माण जारी रहेगा। प्रगतिशील रूप से अधिकांश वित्त स्व-सहायता समूहों के लिए होगा।
8. ग्राम-सभा को जनगणना में चिहिन्त किए गए गरीबी-रेखा से नीचे के परिवारों को प्रमाणित करने का अधिकार दिया गया है। योजना में प्रत्येक प्रमुख गतिविधि के लिए परिवार विशेष की पहचान पत्र सहभागी प्रक्रिया द्वारा करने की व्यवस्था है।
9. योजना के अंतर्गत सक्रियता-समूह के वर्तमान ढाँचे की समीक्षा तथा विद्यमान लुप्तांशो (gaps) की पहचान करने पर जोर दिया गया है। योजना के अधीन निवेश में विवेचित लुप्तांशों (critical gaps) को प्रत्येक जिले के कार्यक्रमों के लिए कुल आवंटन का 20 प्रतिशत (पूर्वोत्तर राज्यों की स्थिति में 25 प्रतिशत) की अधिकतम सीमा द्वारा भरने की व्यवस्था है। यह राशि 'स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार आधारभूत संरचना निधि' (SGSY-Infrastructure Fund) के रूप में जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों द्वारा अनुरक्षित रहेगी तथा इसका उपयोग अन्य स्रोतों से अतिरिक्त वित्त-पोषण के सृहजन के लिए भी किया जाएगा।
10. योजना के अंतर्गत सहायिकी समान रूप से परियोजना-लागत का 30 प्रतिशत तथा अधिकतम 7,500 रु0 होगी। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए यह दर 50 प्रतिशत तथा अधिकतम 10,000 रु0 होगी। 'स्वरोजगारियों' के समूह के लिए सहायिकी योजना-लागत का 50 प्रतिशत तथा अधिकतम 1.25 लाख रु0 नियत की गई है। सिंचाई-परियोजनाओं के लिए सहायिकी की कोई मौद्रिक सीमा नहीं है। सहायिकी परियोजना के अंत में दी जाती है।
11. राष्ट्रीय स्तर पर निधियों का 15 प्रतिशत उन परियोजनाओं के लिए अलग रखा जाएगा जिनका दूरगामी महत्व है तथा जो अन्य विभागों या अर्द्ध-सरकारी या अंतरराष्ट्रीय संगठनों के साथ आरंभ की जाने वाली कार्यनीति के संभव विकल्प के संकेतक के रूप में कार्य करेगा। इसमें अलग-अलग जिलों या सारे जिलों में उठाए जाने वाले कदम भी शामिल होंगे।

12 स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना का वित्तीय भार केंद्र और राज्य सरकारें 75 : 25 के अनुपात में वहन करती हैं।

13. राज्यों के लिए केंद्रीय आवंटन का वितरण राज्यों में व्याप्त निर्धनता की गंभीरता के अनुसार किया जाता है। आवंटन की राशि निर्धारित करते समय राज्यों की समाहित करने की क्षमता तथा वर्ष के दौरान उनकी विशेष आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा जाता है।

14. योजना के अंतर्गत एक व्यवस्थित प्रशिक्षण कार्यक्रम के माध्यम से दक्षता-विकास पर जोर दिया जाता है। जिन लोगों को ऋण उपलब्ध कराया जाता है उनका मूल्यांकन करने के बाद आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। प्रशिक्षण की रूपरेखा, अवधि तथा प्रशिक्षण-कार्यक्रम पहचान की गई गतिविधियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के अनुरूप बनाने की व्यवस्था की जाती है। जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों को आवंटित राशि का 10 प्रतिशत प्रशिक्षण के लिए आरक्षित करने की अनुमति प्राप्त है। इस राशि को 'स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना प्रशिक्षण निधि' के रूप में रखा जाएगा।

15. पहचान किए गए सामूहिक क्रियाकलापों के लिए तकनीकी उन्नयन सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है। तकनीकी हस्तक्षेप से स्थानीय संसाधनों को अतिरिक्त महत्व देना संभव होगा। स्थानीय संसाधनों में स्थानीय तथा अन्य बाजारों के लिए प्राकृतिक तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त सामग्रियाँ भी शामिल हैं।

16. योजना में स्वरोजगारियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विपणन को बढ़ावा दिया जाता है। इसके अंतर्गत विपणन-अधिसूचना, बाजारों का विकास, परामर्श-सेवाएँ तथा सामानों के निर्यात-सहित विपणन के लिए संस्थागत व्यवस्था भी शामिल है।

17. स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना का कार्यान्वयन पंचायत समितियों के माध्यम से जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों द्वारा होता है। इसके अधीन योजना बनाने की प्रक्रिया, उसके कार्यान्वयन तथा प्रबोधन में जिले के बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं, पंचायती राज्य संस्थाओं, गैर-सरकारी स्वयंसेवी संगठनों तथा तकनीकी संस्थाओं को सम्मिलित किए जाने की व्यवस्था है। योजना को प्रभावकारी बनाने के लिए जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों को इसके अनुरूप पुनर्जीवित और सुदृढ़ बनाने के प्रयास किए गए हैं।

मार्च 2005 के अंत तक इस कार्यक्रम के अधीन लगभग 20 लाख स्वयं-सहायता समूहों का गठन हुआ है जिनमें लगभग 56 लाख स्वरोजगारी शामिल हैं। स्वरोजगारियों में 27 लाख से कुछ अधिक स्वयं-सहायता समूहों के सदस्य और शेष व्यक्तिगत स्वरोजगारी है। मार्च 2005 के अंत तक योजना के लाभार्थियों को लगभग 12,000 करोड़ रुपये की निवेश-सहायता दी गई। सहायता-प्राप्त कुल स्वरोजगारियों में लगभग 39 प्रतिशत अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोग और 40 प्रतिशत महिलाएँ शामिल हैं।

(ख) संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (Sampoorna Grameen Rozgar Yojana, SGRY)

संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (SGRY) 25 सितंबर, 2001 को शुरू की गई। इस योजना को पहले से चलती जा रही जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (Jawahar Gram Samridhi Yojna, JGSY) तथा सुनिश्चित रोजगार योजना (Employment Assurance Scheme, EAS) को विलय कर नए रूप में लागू किया गया। यह योजना जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (JRY) को पुनः संरचित कर गाँवों के स्तर पर ग्रामीण आधारभूत संरचना का विकास सुनिश्चित करने के उद्देश्य से 1 अप्रैल, 1999 को आरंभ की गई थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जवाहर रोजगार योजना 1980 में आरंभ की गई राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (Natioanl Rural Employment Programme, NREP) तथा 1983 में अपनाई गई ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गांरटी कार्यक्रम (Rural Landless Employment Guarantee Programme, RLEGP) को विलय कर 1989 में शुरू की गई थी। जवाहर रोजगार योजना अपने में मजदूरी से जुड़ी हुई एक बड़ी योजगार योजना थी जिसे पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से देश के सभी गाँवों में लागू किया गया था। जवाहर रोजगार योजना ने स्थायी ग्रामीण आधारित संरचना के सृजन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास तथा ग्रामीणों निर्धनों के जीवन-स्तर में सुधार लाने में भी प्रचुर सहायता मिली है। जवाहर रोजगार योजना तथा सुनिश्चित रोजगार योजना दोनों में गाँवों में विद्यालय-भवनों, सड़कों तथा अन्य आधारित संरचना के निर्माण में प्रचुर योगदान दिया है। इन योजनाओं के क्रियान्वयन के दौरान यह अनुभव किया गया है इनके द्वारा रोजगार के अवसरों के सृजन के सिलसिले में ही अनियोजित ढंग से गाँवों में स्थायी परिसंपत्तियों का निर्माण हो पाता था। गाँवों में आधारित संरचना का विकास योजनाबद्ध तरीके से करने तथा इसमें ग्राम-पंचायतों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के उद्देश्य से पुनः संरचित जवाहर रोजगार योजना का नाम जवाहर ग्राम समृद्धि योजना रखा गया। जवाहर ग्राम समृद्धि योजना पूरी तरह गाँवों के स्तर पर ग्रामीण संरचना के विकास के लिए समर्पित थी और इसका कार्यान्वयन ग्राम पंचायतों द्वारा होता रहा है। इस तरह अप्रैल 2001 में आरंभ की गई संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना में जवाहर योजना, सुनिश्चित रोजगार योजना तथा जवाहर ग्राम समृद्धि योजना के कई महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश है।

संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (SGSY) का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी पर अतिरिक्त रोजगार के अवसरों के सृजन तथा भोजन की सुरक्षा उपलब्ध कराने के साथ-साथ स्थायी सामुदायिक परिसंपत्तियों तथा सामाजिक और आर्थिक आधारिक संरचना का सृजन करना है। योजना के अंतर्गत वर्ष में न्यूनतम 100 करोड़ मानव-दिवसों के रोजगार के सृजन पर जोर दिया गया है। संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य समाज के कमजोर वर्गों, विशेषकर महिलाओं, अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा जोखिम से भरे व्यवसायों

से हटाए गए बच्चों के अभिभावकों को विशेष सुरक्षा प्रदान करना है। योजना के अधीन रोजगार देने में निर्धनता-रेखा से नीचे जीवन यापन कर रहे परिवारों को प्राथमिकता दी जाती है, लेकिन निर्धनता - रेखा से ऊपर के लोगों को भी रोजगार उपलब्ध कराया जा सकता है।

संपूर्ण रोजगार योजना में खर्च की जाने वाली धन-राशि केंद्र एवं राज्य सरकारें 75:25 के अनुपात में वहन करती हैं। राज्यों के अनाज मुफ्त उपलब्ध कराया जाता है। योजना के अधीन काम में लगे मजदूरों को दैनिक मजदूरी के रूप में न्यूनतम 5 किलोग्राम अनाज और कम-से-कम 25 प्रतिशत मजदूरी नकद दी जाती है।

यह कार्यक्रम पंचायती राज संस्थाओं के तीनों स्तरों पर कार्यान्वित किया जाता है। पंचायत का प्रत्येक स्तर कार्य-योजना बनाने और उसे लागू करने में एक स्वतंत्र इकाई होता है। जिला पंचायत, मध्यवर्ती पंचायत तथा ग्राम पंचायतों के बीच संसाधनों का वितरण 20:30:50 के अनुपात में किया जाता है। ग्राम पंचायत कोई भी काम उपलब्ध संसाधनों और अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ग्राम सभा के अनुमोदन से शुरू कर सकती है। ग्राम पंचायतों के लिए आवंटित धनराशि का 50 प्रतिशत अनुसूचित जाति/जनजाति की बस्तियों में ढाँचागत सुविधाओं के विकास पर खर्च करना आवश्यक है। इस योजना में कोई भी काम ठेकेदारों से कराने की अनुमति नहीं है न ही इसमें किसी मध्यस्थ बिचौलिए अभिकरण को शामिल करने का प्रावधान है।

संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना के अंतर्गत 2002-03 में 64.07 करोड़, 2003-07 में 75.24 करोड़ तथा 2004-05 में 64.38 करोड़ श्रम-दिवसों का सृजन किया गया।

(ग) राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (National Rural Employment Guarantee Act, NREGA) —

देश के ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारों को रोजगार दिलाने के उद्देश्य से 2005 में महत्वाकांक्षी राष्ट्रीय रोजगार गांरटी अधिनियम बनाया गया जिसे 2 फरवरी, 2006 को चरणबद्ध तरीके से देश के चुने हुए क्षेत्रों में लागू किया गया। अधिनियम के अंतर्गत अधिसूचित क्षेत्रों के निर्धन परिवारों को कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं। ये अधिकार हैं - (i) रोजगार की माँग करने का अधिकार, (ii) रोजगार की माँग करने के दिन 15 दिनों के अंदर रोजगार पाने का अधिकार (iii) 15 दिनों के अंदर रोजगार नहीं मिलने की स्थिति में बेरोजगारी-भत्ता प्राप्त करने का अधिकार, (iv) राज्य में प्रचलित कानूनी दर से मजदूरी प्राप्त करने का अधिकार, तथा (v) कार्यस्थल पर पीने का पानी, बच्चों के लिए शेड तथा प्राथमिक उपचार की सुविधा प्राप्त करने का अधिकार।

इस अधिनियम के अधीन योजना तैयार करने तथा उसके क्रियान्वयन में पंचायती राज-संस्थाओं की भूमिका को प्रधानता दी गई है। अधिनियम के समुचित प्रवर्तन के लिए

पारदर्शिता, जवाबदेही, सामाजिक लेखा परीक्षा तथा जन-सहभागिता पर जोर दिया गया है। ये सांस्थिक तंत्रों द्वारा सुनिश्चित किए जाएँगे। अधिनियम में परिवेदता-निवारण तंत्र की भी व्यवस्था है। लाभार्थियों में एक-तिहाई महिलाएँ होंगी। अधिसूचित क्षेत्र में अकुशल शारीरिक कार्य करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति संबंधित ग्राम पंचायत या प्रखंड स्तर पर कार्यक्रम-अधिकारी के पास पंजीकरण के लिए आवेदन दे सकता है। पंजीकरण के बाद उसे कार्य-कार्ड (job card) निर्गत किया जाएगा। पंजीकरण पूरे वर्ष खुला रहेगा। आवेदक को उसके निवास-स्थल के 5 किलोमीटर के भीतर ही रोजगार उपलब्ध कराया जाएगा अन्यथा उसे अतिरिक्त मजदूरी दी जायेगी।

(घ) काम के बदले अनाज कार्यक्रम (National Food for Work Programme)

यह कार्यक्रम नवंबर 2004 में देश के सर्वाधिक पिछड़े जिलों में शुरू किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य देश के सर्वाधिक पिछड़े 150 जिलों में संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (SGRY) के अंतर्गत उपलब्ध संसाधनों के अतिरिक्त अल्प संसाधन प्रदान करना है जिससे इन जिलों में आवश्यकता-आधारित आर्थिक, सामाजिक तथा सामुदायिक परिसंपत्तियों के निर्माण के जरिए पूरक दैनिक मजदूरी पर रोजगार और खाद्य-सुरक्षा प्रदान करने के कार्य को और गहन बनाया जा सके। यह कार्यक्रम पूर्णतः केंद्र-प्रायोजित है, लेकिन अनाज की ढुलाई की लागत राज्यों को वहन करनी पड़ती है।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत अकुशल श्रम करने का कोई भी व्यक्ति कार्यक्रम के अधीन जारी की गई किसी भी परियोजना में काम कर सकता है। कार्यक्रम के अंतर्गत दैनिक मजदूरी का भुगतान आंशिक रूप से नगद और आंशिक रूप से अनाज में किया जाता है। प्रत्येक कार्य-दिवस के लिए 5 किलोग्राम अनाज नियत है, लेकिन विशेष मामलों में इससे अधिक मात्रा में भी अनाज दिया जा सकता है। किसी भी स्थिति में नकद मजदूरी दैनिक मजदूरी के 25 प्रतिशत से कम नहीं होनी चाहिए।

इस कार्यक्रम में जल-संरक्षण, सूखे की रोकथाम के उपायों तथा भूमि-विकास को प्राथमिकता दी जाती है। स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए बाढ़-नियंत्रण के उपायों, बारहमासी सड़कों के संदर्भ में ग्रामीण संचार और आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित करने वाले अन्य उत्पादक कार्य भी शुरू किए जा सकते हैं। सम्बद्ध पंचायत को अपने अधिकार-क्षेत्र में इस कार्यक्रम के अंतर्गत किए जा रहे किसी भी निर्माण-कार्य की प्रगति का निरीक्षण करने का अधिकार है।

(ङ) ग्रामीण आवास योजनाएँ (Rural Housing Schemes)

वर्तमान समाज में देश के ग्रामीण क्षेत्रों में तीन महत्वपूर्ण आवास योजनाएँ चलाई जा रही हैं। ये हैं - (i) इंदिरा आवास योजना, (ii) प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण आवास) तथा (iii) वाल्मिकी अंबेडकर आवास योजना।

(i) **इंदिरा आवास योजना** (Indira Awas Yojna)– इंदिरा आवास योजना जवाहर रोजगार योजना की उपयोजना के रूप में 1985 में शुरू की गई। 1996 में इसे जवाहर रोजगार योजना से अलग कर स्वतंत्र रूप दिया गया। इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यंत निर्धन अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों, मुक्त कराए गए बँधुआ श्रमिकों तथा कुछ अन्य श्रेणियों के अति निर्धनों को आवासीय इकाइयों के निर्माण तथा विद्यमान अनुपयोगी कच्चे मकानों को सुधारने में सहायता प्रदान करना है। बाद में योजना के लाभार्थियों मे युद्ध में शहीद हुए सैनिकों की विधवाओं या उनके निकट-संबंधियों तथा सेवानिवृत सैनिकों और अर्द्ध-सैनिकों को भी शामिल कर दिया गया। योजना की न्यूनतम 60 प्रतिशत धनराशि अनुसूचित जातियों और जनजातियों तथा 3 प्रतिशत विकलांगों के लिए आरक्षित रखना अनिवार्य है।

योजना के अंतर्गत मकान का आवंटन परिवार की महिला-सदस्या या संयुक्त रूप में पति-पत्नी के नाम किया जाता है। आवासीय सुविधाओं में स्वच्छ शौचालय तथा धुआँ-रहित चूल्हे की व्यवस्था भी शामिल है। निर्माण-प्रौद्योगिकी, सामग्री तथा डिजाइन के चुनाव में लाभार्थी सामान्यतः स्वतंत्र होते हैं। अप्रैल 2004 में नए आवासों के लिए दी जाने वाली अधिकमत राशि मैदानी क्षेत्रों में 25,000 रु0 तथा पर्वतीय एवं दुर्गम इलाकों में 27,500 रु0 प्रति इकाई है। कच्चे माकनों को अर्द्ध-पक्के मकानों में बदलने के लिए सहायता की अधिकतम धनराशि 12,500 रु0 है।

इंदिरा आवास योजना के क्रियान्वयन का मुख्य दायित्व जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों या जिला परिषदों का है। ये अभिकरण निर्धारित लक्ष्य के आधार पर वित्तीय वर्ष के दौरान विभिन्न पंचायतों के अंतर्गत निर्मित होने वाले तथा सुधार किए जाने वाले मकानों की संख्या निर्धारित करते हैं तथा संबंधित ग्राम पंचायतों को लक्ष्य के बारे में सूचित कर रहे हैं। ग्राम सभा निर्धनता-रेखा के नीचे रहने वाले संभावित लाभार्थियों का चयन करती है जो सामान्यतः अंतिम होता है। चयनित लाभार्थियों को सहायता उपलब्ध कराने के लिए जिला परिषदों/जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों तथा प्रखंड विकास अधिकारियों को सूचित किया जाता है।

1985-86 से 2004-05 तक की अवधि में इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत 1 करोड़ 29 लाख से अधिक मकानों का निर्माण किया गया। इसी अवधि में योजना पर 23,000 करोड़ रु0 से अधिक धनराशि खर्च की गई।

(ii) **प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण आवास)** ([Pradhan Mantri Gramodaya Yojna (Gramin Awas)]- प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना पहली अप्रैल 2000 को शुरू की गई। इस योजना के आरंभिक घटक हैं- आवास, पेयजल, प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक स्नास्थ्य एवं पोषाहार। 2001 में ग्रामीण विद्युतीकरण को भी इसके अतिरिक्त घटक के रूप में जोड़ा गया। पारदर्शिता बनाए रखने के उद्देश्य से प्रधानमंत्री ग्रामोदय (ग्रामीण आवास) योजना को भी इंदिरा आवास योजना के ढाँचें पर रखा गया है।

योजना के अधीन मकानों के लक्ष्य-समूह में ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाले अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोग, मुक्त कराए गए बँधुआ श्रमिक तथा गैर-अनुसूचित जाति/जनजाति के लोग हैं। गैर-अनुसूचित जाति/जनजाति के लोगों के आवासों के लिए आवंटित राशि के 40 प्रतिषत से अधिक धनराशि खर्च नहीं की जा सकती। निर्धनता-रेखा के बीच के विकलांगों के लिए आवंटित राशि का 3 प्रतिशत आरक्षित रखना आवश्यक है। इंदिरा आवास योजना की तरह लाभार्थियों को धुआँ-रहित चूल्हा तथा स्वच्छ शौचालय की सुविधा देना आवश्यक है। इसके अंतर्गत व्यक्तिगत मकानों के चारों ओर वृक्ष लगाने पर भी जोर दिया गया है।

योजना के अंतर्गत निर्माण-सहायता की अधिकतम राशि मैदानी क्षेत्रों के लिए 20,000 रु0 प्रति मकान तथा पहाड़ी और दुर्गम क्षेत्रों के लिए 22,000 रु0 प्रति मकान है। नहीं रहने लायक कच्चे मकानों को पक्का/अर्द्ध पक्का मकानों में बदलने के लिए अधिकतम सहायता-राशि 10,000 रु0 है। इस मद पर प्रस्तावित निधि के 20 प्रतिशत तक खर्च किया जा सकता है।

(iii) **वाल्मीकि अंबेडकर आवास योजना** (Valmiki Ambedkar Awas Yojna, VAMBAY)- यह योजना दिसंबर 2001 में शुरू की गई। इसके मुख्य उद्‌देश्य शहरी क्षेत्रों की गंदी बस्तियों में निर्धनता-रेखा के नीचे रहने वाले लोगों के रहने की दशाओं में सुधार लाना है। इस योजना के अंतर्गत भी नए आवासों के निर्माण तथा विद्यमान आवासों की मरम्मत के कार्यक्रम चलाए जाते हैं। साथ ही, इसकी उपयोजना 'निर्मल भारत अभियान' के अंतर्गत सामुदायिक शौचालयों के निर्माण तथा पर्यावरण सुधार के कार्यक्रम भी चलाए जाते हैं। इस योजना पर होने वाले खर्च का 50 प्रतिशत केंद्र सरकार सहायिकी के रूप में देती है तथा शेष राशि की व्यवस्था करने का भार राज्य सरकारों पर है। मार्च 2004 के अंत तक इस योजना के अंतर्गत लगभग 2. 5 लाख आवासों का निर्माण या उनकी मरम्मत तथा लगभग 30 हजार शौचालय-सीटों के निर्माण का कार्य पूरा हो चुका था।

(च) स्वर्ण जयंती शहरी रोजगार योजना (Swarnajayanti Shahari Rozgar Yojna, SJSRY)-

स्वर्णजंयती शहरी रोजगार योजना दिसंबर 1997 में शुरू की गई। इसके अंतर्गत दो मुख्य उप-योजनाएँ हैं- शहरी स्व-रोजगार कार्यक्रम तथा शहरी मजदूरी-रोजगार कार्यक्रम। इस कार्यक्रम पर होने वाला व्यय-भार केंद्र एवं राज्य सरकारें 75 : 25 के अनुपात में वहन करती हैं।

(छ) सूखा-संभावित क्षेत्र कार्यक्रम (Drought Prone Areas Programme, DPAP)-

यह कार्यक्रम 1973 में शुरू किया गया। इस कार्यक्रम में मुख्य उद्‌देश्य हैं - (i) क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों और उपयुक्त प्रौद्योगिकी को अपनाकर समन्वित विकास के द्वारा फसलों

के उत्पादन, पशुधन और भूमि, जल तथा मानव-संसाधनों की उत्पादकता पर सूखे के विपरीत प्रभावों को कम करना, तथा (ii) पारिस्थितिक संतुलन बहाल रखने के लिए वर्षासहित भूमि, जल और अन्य प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण, विकास और उपयोग करना। यह केंद्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम है और इसके लिए व्यय-भार केंद्रीय एवं राज्य सरकारें 75 : 25 के अनुपात में वहन करती हैं।

(झ) प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना (Pradhan Mantri Gram Sadak Yojna, PMGSY)-

केंद्र सरकार द्वारा प्रायोजित प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना 25 दिसंबर 2000 को शुरू की गई। इसका शत-प्रतिशत व्यय-भार केंद्र सरकार वहन करती है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण इलाकों में सड़क-संपर्क से वंचित गाँवों को बारहमासी सड़कों द्वारा इस प्रकार जोड़ना है कि इन सड़कों से 500 या इससे अधिक आबादी वाले गाँव दसवीं योजना के अंत तक जुड़ जाएँ। पहाड़ी राज्यों और रेगिस्तानी तथा जनजातीय क्षेत्रों में 250 या उससे अधिक आबादी वाले गाँवों को जोड़ने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। 2005 में इस प्रस्तावित 'भारत निर्माण' के 6 घटकों में एक के रूप में क्रियान्वित करने की घोषणा की गई। वर्तमान आकलन के अनुसार देश में इस योजना के अंतर्गत 1.72 लाख गाँवों को जोड़ना है। मार्च 2005 तक इस योजना के अंतर्गत लगभग 69 हजार कि0मी0 सड़कें बनाई जा चुकी थीं जिन पर लगभग 10 हजार करोड़ रु0 खर्च किए जा चुके थे।

4. ग्रामीण क्षेत्रों में निर्धनता-उन्मूलन-संबंधी सरकार के विशेष कार्यक्रमों पर टिप्पणी (Comments on Special Poverty-eradication Programmes of the Government in Rural Areas)-

देश के ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त निर्धनता के उन्मूलन के लिए सरकार द्वारा उठाए गए उपर्युक्त विशेष कार्यक्रमों से संबंधित कई तथ्य सामने आते रहे हैं। इनमें अग्रलिखित का उल्लेख किया जा सकता है।

(i) ग्रामीण निर्धनता के उन्मूलन के लिए सरकार द्वारा उठाए गए विशेष कार्यक्रमों में निरंतरता का अभाव रहा है। पहले से चलती आ रही अधिकांश योजनाओं में संशोधन किए जाते रहे हैं तथा पुरानी योजनाओं को संशोधित या समामेलित कर अलग नाम से नई योजनाएँ शुरू की जाती रही हैं। उदाहरण, समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1978-79), ग्रामीण युवक स्वरोजगार प्रशिक्षण योजना (1979), ग्रामीण क्षेत्रीय महिला एवं बाल-विकास कार्यक्रम (1982-83), ग्रामीण कारीगर योजना (1982), दस लाख कूल योजना (1988-89) तथा गंगा कल्याण योजना (1997) को सामाप्त कर तथा उनमें अधिकांश के मूल स्वरूप को समाहित कर 1999 में स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना आरंभ की गई। इसी तरह, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (1980) तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार भूमिहीन गांरटी कार्यक्रम (1983)

के स्थान पर 1989 में जवाहर रोजगार योजना शुरू की गई। 1999 में जवाहर रोजगार योजना को पुनः संरचित कर जवाहर ग्राम समृद्धि योजना बनाई गई। 2001 में जवाहर ग्राम समृद्धि योजना और सुनिश्चित रोजगार योजना को समामेलित कर संपूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना बनाई गई। इंदिरा आवास योजना (1985) के अतिरिक्त 2000 में प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना के अंतर्गत इंदिरा आवास योजना के समरूप आवास-योजना शुरू की गई।

ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त निर्धनता की व्यापकता के परिप्रेक्ष्य में प्रयोगात्मक आधार पर नए-नए नाम से कम अंतरालों पर बनाए गए समरूप कार्यक्रमों को शुरू करने से एक ओर तो भ्रांतियाँ उत्पन्न होती रही हैं, तो दूसरी ओर उनकी प्रभावकारिता अनिश्चित होती गई हैं। योजनाओं को बारबार परिवर्तित करने से उनका कार्यान्वयन भी समुचित ढंग से नहीं हो पाता।

(ii) विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में स्थायी परिसंपत्तियों के सृजन, उपयोगी सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के निर्माण, आवासीय सुविधाओं, सड़क-निर्माण तथा स्थानीय उद्यमों की स्थापना पर जोर दिया जाता रहा है। अधिकांश कार्यक्रमों में स्थानीय क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुरूप परिसंपत्तियों का निर्माण योजनाबद्ध तरीके से नहीं हो पाता है। सर्जित की गई परिसंपत्तियों, जैसे- विद्यालय भवन, पंचायत भवन, सामुदायिक भवन, आवास, सड़क आदि से भविष्य में नियमित रूप से रोजगार उपलब्ध नहीं कराया जा सकता। रोजगार-सृजन में इनके प्रभाव केवल अल्पकालिक ही होते हैं।

(iii) ग्रामीण निर्धनता उन्मूलन-संबंधी अधिकांश योजनाएँ पंचायती राज संस्थाओं जिला परिषदों/जिला ग्रामीण विकास अभिकरणों, पंचायत समितियाँ, ग्राम पंचायतों तथा प्रखंड विकास कार्यालयों के माध्यम से चलाई जाती रही हैं। कई राज्य में पंचायती राज संस्थाएँ समुचित रूप से कार्य संपन्न नहीं कर पातीं तथा प्रखंड और जिला स्तरों के अधिकारी तथा कार्मिक अतिरिक्त कार्यभार के चलते इन कार्यक्रमों का निष्पादन समुचित रूप से नहीं कर पाते।

(iv) इन योजनाओं के कार्यान्वयन में वित्त-संबंधी समस्याएँ भी निरंतर उठ खड़ी होती रही हैं। विभिन्न योजनाओं पर होने वाला व्यय-भार केंद्र और राज्य सरकारें निर्धारित अनुपात में वहन करती आई हैं। इस अनुपात में समय-समय पर परिवर्तन किए जाते रहे हैं। अनुभव बताता है कि कई राज्य सरकारें अपने हिस्से की राशि समय पर विमुक्त नहीं कर पाती तथा ऐसे कई उदारण भी हैं जब विशेष योजनाओं के लिए आवंटित राशि समय पर खर्च नहीं हो पाई और उन्हें लौटाना पड़ा है। आवंटित राशि के दुरुपयोग के भी अनेक उदाहरण प्रकाश में आते रहे हैं।

(v) निर्धनता-उन्मूलन की विभिन्न योजनाएँ अधिकांशतः स्वतंत्र रूप से चलाई जाती रही हैं। वास्तव में, इन योजनाओं के लक्ष्य और स्वरूप में सारभूत अंतर नहीं होते। इसके चलते कार्यान्वयन की कठिनाइयों के साथ-साथ अकसर भ्रांति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस कारण यह आवश्यक है कि ग्रामीण निर्धनता के उन्मूलन और रोजगार के सृजन से संबंधित

विभिन्न योजनाओं को एक व्यापक एवं एकीकृत रूप में लागू किया जाए। इस एकीकृत योजना में स्थायित्व, पारदर्शिता तथा प्रभावकारी कार्यान्वयन-तंत्र की व्यवस्था के तत्वों का समावेश आवश्यक है।

देश में ग्रामीण निर्धनता के उन्मूलन के लिए विशेष कार्यक्रम कई वर्षों से चलाए जाते हैं, लेकिन इसकी मात्रा में संतोषजनक रूप से कमी नहीं आई है। आज भी, देश के लगभग 27 प्रतिशत लोग गरीबी-रेखा के नीचे जीवन बसर करते हैं। ग्रामीण निर्धनता के स्थायी और प्रभावपूर्ण नियंत्रण के लिए, गाँवों में जनसंख्या-वृद्धि पर प्रभावी अंकुश, लघु और कुटीर उद्योगों, विशेषकर कृषि-अधारित उद्योगों की स्थापना, ग्रामीण विद्युतीकरण, उत्पादित वस्तुओं के विपणन की व्यवस्था, परिवहन एवं संचार-व्यवस्था में सुधार, शिक्षा के प्रसार, बाढ़ और सूखे का नियंत्रण तथा रोजगार-जनन से जुड़े हुए आर्थिक क्रियाकलापों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

ग्रामीण विकास के क्षेत्र में समाजकार्य।

हमारे देश में जब ग्रामीण विकास की योजनायें प्रारम्भ हुयी तो यह समझा जाता था कि यह मूलतया समाजकार्य का ही क्षेत्र है, क्योंकि इन योजनाओं की सफलता जनसहयोग पर आधारित है और जन सहयोग की प्राप्ति समाजकार्य की विभिन्न विधियों के प्रयोग से ही संभव है। किन्तु बाद में चलकर कुछ निहित स्वार्थों ने इस क्षेत्र की समस्त सेवाओं को प्रशासकीय सेवाओं के अन्तर्गत ला दिया, तथापि यह तथ्य तो सर्वविदित है कि समुदाय समाज का ही अंग है और समुदाय विकास सबंधी सभी कार्य समाजकार्य की विधियों एवं प्रविधियों के प्रयोग में ही सक्षम ढंग से सम्पादित हो सकतें हैं। ग्रामीण विकास के क्षेत्र में समाज कार्य की विभिन्न विधियों का प्रयोग निम्नलिखित रूप में उपयोगी हो सकता है :-

(अ) वैयक्तिक सेवा कार्य की विधि का प्रयोग :–

(i) प्रत्येक समुदाय में कुछ प्रभावशाली अनौपचारिक नेता होते हैं, समुदाय के व्यवहारों पर उन नेताओं का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, अतः समुदाय विकास के किसी कार्यक्रम के संचालन हेतु सामाजिक कार्यकर्ता यदि वैयक्तिक सेवा कार्य की विधि के अन्तर्गत उक्त नेता से सम्बन्ध स्थापन करता है और स्पष्टीकरण एवं एजूकेशन आदि प्रविधियों के माध्यम से उक्त कार्यक्रम की उपयोगिता की स्वीकृति उन नेताओं से प्राप्त करता है तो उन नेताओं के द्वारा समुदाय के दूसरे लोग भी प्रभावित होकर जन सहयोग प्रदान करने लगते हैं।

(ii) सरकार के द्वारा जनता के कल्याण के लिये कई योजनायें चलती रहती हैं, समुदाय के सदस्य या तो उन योजनाओं से अवगत ही नहीं रहते हैं या अवगत होते हुये भी उनका लाभ नहीं उठा पाते, जैसे- वृद्धावस्था पेंशन योजना, विधवा पेंशन योजना, बैंकों से कम ब्याज पर ऋण की प्राप्ति आदि। वैयक्तिक सेवा कार्य के माध्यम से सेवार्थी से संबंध स्थापन कर इन योजनाओं से लाभ प्राप्ति हेतु सेवार्थी की सहायता की जा सकती है।

(ब) सामूहिक सेवा कार्य का उपयोग

(i) आज ग्राम पंचायतों एवं स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए 30% स्थान आरक्षित हो गया है किंतु इस प्रकार की चयनित महिलायें अधिकांश रबर स्टैम्प का काम करती हैं, पंचायतों की बैठकों में उनकी कोई भी भूमिका नहीं होती है। ऐसी महिलाओं का पंचायत स्तर पर एक समूह बनाकर सामूहिक सेवा कार्य के माध्यम से यदि उनके व्यक्तित्त्व के विकास, सामूहिक क्रियाओं में सहभाजन तथा स्वस्थ अन्तर्क्रियाओं के विकास का कार्य किया जाये तो ये महिलायें पंचायतों में स्वस्थ एवं विधायी भूमिकाओं का निर्वाह कर सकती हैं।

(ii) ग्रामीण समुदाय के अधिकांश सदस्य अपने बच्चों के विकास पर उचित ध्यान नहीं देते हैं। बच्चे स्कूल जाते हैं या नहीं जाते हैं, आने के बाद क्या करते हैं, इसकी ओर माता-पिता का कोई ध्यान नहीं रहता है, फलस्वरूप बहुत से बच्चे बाल अपराध के शिकार हो जाते हैं। सामूहिक कार्य के माध्यम से ऐसे बालकों का समूह बनाकर सामूहिक सेवा कार्य की विभिन्न प्रविधियों के द्वारा उनका समुचित विकास किया जा सकता है।

(iii) स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वराज्य योजना के क्रियान्वयन में सामूहिक सेवाकार्य विशेष उपयोगी प्रमाणित हो सकता है।

(स) समुदाय संगठन की विधि का प्रयोग

(i) समुदाय विकास कार्यक्रम मूलतया सामुदायिक संगठन संबंधी कार्य है। किसी विशेष समुदाय को लेकर वहाँ के लोगों के माध्यम से उक्त समुदाय के विकास से लक्ष्यों का निर्माण करना, लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु समुचित योजना बनाना, तत्पश्चात् सरकारी एवं गैर सरकारी साधनों को मुहय्या कर लक्ष्यों की प्राप्ति करना समाज कार्य का एक प्रमुख लक्ष्य है और समुदाय विकास का भी यही लक्ष्य है।

(ii) सामुदायिकता के अन्य राजकीय कार्यक्रमों का क्रियान्वयन आजकल सरकार समुदाय विकास के कई कार्यक्रम विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से गाँवों में संचालित कर रही है। उदाहरणार्थ जलधारा योजना के माध्यम से स्वच्छ जल की आपूर्ति, सामाजिक धन की योजनाओं के तहत खाली एवं बंजर भूमि में जंगल लगाने का कार्य, इसी प्रकार सरकार के अम्बेडकर गाँव योजना के अंतर्गत बिजली एवं सड़क की व्यवस्था की जा रही हैं। ये कार्यक्रम सरकारी कर्मचारियों/विभागों द्वारा संचालित होते हैं, जिनमें धन का अपव्यय होता है। यदि समाज कार्यकर्ता इन अभिकरणों एवं कर्मचारियों के सहयोग से ऐसे कार्यक्रम चलाते तो उनमें सफलता की संभावना तो बढ़ती ही साथ ही धन का अपव्यय भी न होता।

(iii) सामुदायिक विकास के स्वैच्छिक कार्यक्रम - कुछ समुदायों में सामुदायिक संगठन के कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से स्वैच्छिक सहायता प्राप्त कर गाँव वाले स्वयं अपने विकास का लक्ष्य निर्धारित करते हैं और इन लक्ष्यों की प्राप्ति में चन्दा एवं धनी लोगों की आर्थिक सहायता

एवं सामुदायिक साधनों का उपयोग करते हैं। उदाहरणार्थ ग्रामीण अंचल में चिकित्सालय, मनोरंजन केन्द्र एवं चिकित्सालय आदि की स्थापना।

(द) सामाजिक क्रिया का उपयोग

(i) सामाजिक कार्यकर्ता एक जन आन्दोलन चलाकर समुदाय के सदस्यों को गरीबों, जरूरतमंदों एवं असहाय जन की सहायता हेतु उन्मुख कर सकता है,

(ii) जनशक्ति एवं लोकशक्ति के माध्यम से सरकार एवं उनके अधिकारियों पर दबाव डालकर विभिन्न कल्याण तक कार्यक्रमों जैसे न्यूनतम रोजगार गारण्टी योजना को सक्षम ढंग से क्रियान्वित करना।

(iii) सरकार एवं एन.जी.ओ. के द्वारा संचालित विभिन्न योजनाओं के बारे में सामाजिक क्रिया के माध्यम से जनता में जन जागृति उत्पन्न करना।

(iv) सरकार एवं जनता दोनों को न्यूनतम रोजगार गारण्टी योजना के सक्षम ढंग से क्रियान्वयन हेतु अभिप्रेरित करना,

(v) जन आन्दोलन के माध्यम से सरकार पर इस प्रकार का दबाव डालना कि वह ग्रामीण गरीबों की सहायता हेतु अधिक धन आवन्टित करे,

(vi) समाजकार्य शोध के माध्यम से ग्रामीण जन की विभिन्न समस्याओं का सटीक ढंग से निरूपण करना एवं उन समस्याओं के निरूपण हेतु स्थानीय स्तर पर सटीक योजना निर्माण करना और सरकार एवं जनता की सहायता से योजनाओं का क्रियान्वयन करना।

अध्याय-18

अनुसूचित जाति एवं जनजाति-कल्याण

1. भारतीय समाज में अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ (Scheduled Castes and Tribes in Indian Society)

भारतीय जाति-व्यवस्था में कुछ जातियों को सदियों से विभिन्न प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण का समाना करना पड़ा है। जाति-व्यवस्था हिंदू-समाज की देन है, जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। जाति के स्तरण में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मणों का रहा है, और उसके बाद क्षत्रियों और वैश्यों के स्थान क्रम में आते हैं। जाति-संरचना में सबसे नीचा स्थान शूद्रों का था। पंरपरागत मत के अनुसार, जातियों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। उनके मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। कहा जाता है कि ब्रह्मा ने ही उनके बीच कार्यो का वितरण भी किया। ब्राह्मणों को देवत्व के साथ अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करने, यज्ञ कराने, दान लेने और दान देने के कार्य मिले। क्षत्रियों को शक्ति तथा अध्ययन, यज्ञ करने, दान देने, अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग तथा शासन के कार्य मिले। वैश्यों को काम करने की शक्ति तथा अध्ययन, यज्ञ करने, दान देने, कृषि, पशुपालन तथा व्यवसाय से संबद्ध कार्य मिले। शूद्रों को तीनों ऊँची जातियों अर्थात ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा का कार्य मिला। दैवी शक्ति द्वारा सर्जित होने के कारण इस व्यवस्था को स्थायी एवं अपरिवर्तनशील समझा जाता रहा है।

जाति-व्यवस्था में समाज स्थायी एवं स्तरित खंडों में विभक्त रहता है, जिसमें व्यक्तियों की प्रस्थिति जन्म के आधार पर निर्धारित होती है। इस व्यवस्था में मनुष्यों के बीच असमानता आधारभूत होती है। जाति-संरचना ऊपर से नीचे तक कई स्तरों में बँटी रहती है, जिसमें अलग-अलग जातियों और उपजातियों के स्थान निश्चित रहते है। इस संरचना में ऊँचा उठना अत्यंत ही कठिन है। जाति-व्यवस्था में व्यवसाय, खान-पान, विवाह, सामाजिक आचरण एवं कृत्यों तथा रहन-सहन के तरीकों पर कड़े प्रतिबंध लगे होते हैं। शूद्रों या अति नीची जातियों

की श्रेणी में आनेवाले लोगों पर तो कई तरह की सामजिक, धार्मिक तथा आर्थिक अशक्ताएँ लगी होती हैं। उनमें कई को अस्पृश्य (untouchables) समझा जाता है और अधिकांश को गंदे एवं कठिन शारीरिक श्रमवाले कार्यो में लगाया जाता रहा है। ऊँची जातियों की तुलना में वे सभी दृष्टिकोणों से पिछड़ी अवस्था में हैं।

इसी तरह, देश के विभिन्न जंगली एवं पहाड़ी इलाकों में रहने वाले कई जनजातियाँ भी सभ्यता के विकास के फल से वंचित रही हैं। उनकी अपनी-अपनी प्राचीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पंरपराएँ हैं। अशिक्षा अंधविश्वास तथा निर्धनता से ग्रस्त देश की कई जनजातियाँ सभ्य समाज की तुलना में अत्यंत पिछड़ी अवस्था में है। ये जनजातियाँ हिंदूजाति-व्यवस्था के अंग नहीं है। उनका अपना-अपना विशिष्ट सामाजिक संगठन और जीवनयापन का ढंग होता है।

1. **अनुसूचित जाति और जनजाति का अर्थ** (Meaning of Scheduled Caste and Tribe)- देश की स्वतंत्रता के बाद इन अति पिछड़ी जातियों और जनजातियों की समस्याओं पर राज्य की ओर से विशेष ध्यान दिया गया। उन्हें अन्य नागरिकों की तुलना में सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ा समझा गया और उनके हितों की रक्षा और विकास के लिए संविधान में महत्वपूर्ण उपबंध सम्मिलित किए गए। संविधान के अनुच्छेद 341 में राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुसूचित जातियों की श्रेणी में उन अति पिछड़ी जातियों को सम्मिलित करने की शक्ति दी गई, जिन्हें वे उनकी सूची में सम्मिलित किए जाने के उपयुक्त समझते हैं। इसी तरह, संविधान के अनुच्छेछ 342 में राष्ट्रपति के आदेश द्वारा अनुसूचित जनजातियों की सूची तैयार करने से संबद्ध उपबंध है। संविधान के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए 1950 में राष्ट्रपति के आदेश द्वारा इन जातियों और जनजातियों की सूचियाँ तैयार हुई। 1950 के बाद इन सूचियों में संशोधन या उनमें अन्य जातियों और जनजातियों को सम्मिलित करने का अधिकार संसद को दिया गया है। संविधान के उपबंधों के अनुसार तैयार की गई सूचियों में सम्मिलित किए जाने के कारण ही इन अति पिछड़ी जातियों और जनजातियों को अनुसूचित जाति और जनजाति कहा जाता है।

2. **अनुसूचित जातियों और जनजातियों की जनसंख्या** (Population of Scheduled Castes and Tribes)- देश की कुल जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अनुसूचित जातियों और जनजातियों का है। 1951 से 2001 तक अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या तथा देश की कुल जनसंख्या में उनके प्रतिशत-संबंधी आँकड़े तालिका में दिए गए हैं।

तालिका

वर्ष	देश की कुल जनसंख्या (करोड़ में)	अनुसूचित जातियों की संख्या(करोड़ में)	देश की कुल जनसंख्या में अनु० जातियों की जनसंख्या का प्रतिशत	अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या (करोड़ में)	देश की कुल जनसंख्या में अनु० जनजातियों की जनसंख्या का प्रतिशत
1951	36.10	5.53	15.3	1.91	5.3
1961	43.92	6.44	14.6	2.98	6.8
1971	54.82	8.25	15.5	4.11	7.5
1981	68.52	10.48	15.8	5.16	7.8
1991	84.63	13.82	16.5	6.78	8.1
2001	102.86	16.66	16.2	8.43	8.2

तालिका से स्पष्ट है कि 1951 से 2001 तक सभी वर्षों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की संख्या देश की कुल जनसंख्या के पाँचवे भाग से भी अधिक रही है। 1991 और 2001 में उनकी संख्या देश की कुल जनसंख्या की लगभग एक-चौथाई रही है। जनसंख्या के इतने बड़े भाग को सदियों से विभिन्न प्रकार सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक अशक्तताओं का समाना करना पड़ा है। इन जातियों एवं जनजातियों की समस्याओं की विवेचना नीचे की जाती है।

II. अनुसूचित जातियों की समस्याएँ
(Problems Facing Scheduled Castes)

अनूसूचित जातियों की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **सामाजिक समस्याएँ** (Social Problem)– अनुसूचित जातियों के लोगों को सदियों से विभिन्न प्रकार की सामाजिक अशक्ताओं एवं शोषण का सामना करना पड़ता आ रहा है, जिनमें निम्नलिखित का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है –

(i) **अति निम्न सामाजिक प्रस्थिति** (Very Low Social Status)– अनुसूचित जातियों की श्रेणी में आने वाली अधिकांश जाति-संरचना में 'शूद्रों' की श्रेणी में रही हैं। इस कारण, जाति के स्तर में उनका स्थान सबसे नीचा रहा है। जाति-संरचना में उनकी निम्न प्रस्थिति को स्थायी एवं अपरिवर्तनशील समझा जाता रहा है। यह प्रस्थिति जन्म पर आधृत होती है, जिसमें सिद्धांततः प्रयासों द्वारा भी सुधार नहीं लाया जा सकता। ऊँची जातियों के लोग अनुसूचित जातियों को प्रारंभ से ही हेय दृष्टि से देखते आए हैं।

(ii) **सामाजिक शोषण के शिकार** (Victims of Social Exploitation)– समाज में बहुत ही नीचा स्थान होने के कारण, अनुसूचित जातियों को विभिन्न प्रकार के सामाजिक शोषण और

अत्याचारों को सहना पड़ा हैं। उन पर ऊँची जातियों के लोगों के साथ उठने-बैठने, खाने-पीने, रहने, बातचीत करने, उत्सवों में भाग लेने, बराबरी के स्तर पर आचरण करने आदि पर कड़े प्रतिबंध लगे रहे हैं। उनके लिए ऊँची जातियों के प्रति सम्मान दिखाना अनिवार्य था। उन्हें अच्छे वस्त्र पहनने, अच्छे मकानों में रहने, अच्छा भोजन खाने आदि के भी अधिकार नहीं थे। अनुसूचित जातियों के लोगों के लिए निवास-स्थान भी ऊँची जातियों के घरों से दूर बस्तियों के किनारे पर ही रहते आए हैं। जन्म पर आधृत सामाजिक असमानता और शोषण के उदाहरण जिस प्रकार जाति-व्यवस्था में मिलते हैं, वैसे अन्यत्र नहीं।

(iii) **अस्पृश्यता की समस्या** (Problem of Untouchability)- अस्पृश्यता अनुसूचित जातियों की समाजिक अशक्तता एवं शोषण का एक ज्वलंत उदाहरण है। जाति-व्यवस्था में सामाजिक दूरी और पवित्रता पर विशेष जोर दिया जाता है। जाति जितनी ऊँची होती है, उनके अपवित्र होने की संभावना उतनी ही अधिक होती है। इसके विपरीत, जाति जितनी नीची होती है, उसमें अपवित्र करने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। इसी भावना ने जाति-व्यवस्था में अस्पृश्यता को जन्म दिया। अस्पृश्यों से ऊँची जाति के लोग कई प्रकार से अपवित्र होते रहे है, जैसे- दृष्टि पड़ने, छूने, साथ-साथ खाने, देखने, सामानों के प्रयोग करने, छाया पड़ने आदि से। इसी कारण, अनुसूचित जातियों पर कुओं से जल लेने, उत्सवों में जाने, सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग करने, सड़कों पर चलने, मंदिरों में प्रवेश करने आदि पर कठोर प्रतिबंध लगे रहे हैं। मनुष्यों के बीच छुआछूत के भेदभाव के इस तरह के उदाहरण विश्व में अन्यत्र नहीं मिलते।

(iv) **शैक्षिक अयोग्यताएँ** (Educational Disabilities)- परंपरा से जाति-व्यवस्था में शिक्षा में शिक्षा पाने का अधिकार केवल ऊँची जातियों अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को ही रहा है। शूद्रों को शिक्षा पाने का अधिकार नहीं था। इस कारण, अनुसूचित जातियाँ सदियों से शिक्षा से वंचित रही हैं। अनुसूचित जातियों के जो लोग शिक्षा पाने का प्रयास करते, उन्हें तरह-तरह से यातनाएँ दी जाती थीं। ब्रिटिश शासनकाल में भी विद्यालयों में अनुसूचित जातियों के लड़के ऊँची जातियों के लड़कों के साथ नहीं पढ़ सकते थे। कई विद्यालयों में उनके नामांकन ही नहीं हो सकते थे। जहाँ उनके लिए शिक्षा-सुविधाएँ उपलब्ध भी थी, वहाँ निर्धनता के कारण वे शिक्षा पाने में असमर्थ थे। इन्ही कारणों से अनुसूचित जातियों के बीच अशिक्षा और निरक्षरता व्यापक रूप से फैली हुयी है।

2. **आर्थिक समस्याएँ** (Economic Problems)- अनुसूचित जातियों के लोगों को कई प्रकार की आर्थिक अशक्तताओं का सामना करना पड़ा है। इन अशक्तताओं में निम्नलिखित मुख्य हैं :-

(i) **व्यवसाय पर प्रतिबंध** (Restrications on Occupations)- जाति-व्यवस्था में विभिन्न जातियों के कार्य दैवी-शक्ति द्वारा वितरित समझे जाते हैं। इस वितरण में ब्राह्मणों को अध्ययन,

अध्यापन, यज्ञ करने, यज्ञ कराने, दान लेने और दान देने के कार्य मिले। क्षत्रियों को अध्ययन, यक्ष करने, अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग, शासन तथा दान देने के कार्य सौंपे गए। वैश्यों को अध्ययन, यज्ञ करने, दान देने, कृषि, पशुपालन तथा व्यवसाय चलाने के कार्य दिए गए शूद्रों को केवल तीनों ऊँची जातियों की सेवा करने का कार्य मिला। दूसरे शब्दों में, उन्हें ऊँची जातियों के आदेशानुसार कार्य करने पड़ते थे। उन्हें ऊँची जातियों द्वारा किए जाने वाले कार्य का अधिकार नहीं था। इस नियम का उल्लंघन करने पर उन्हें दंडित भी किया जाता था। अधिकांशतः उन्हें गंदे और कठिन शारीरिक श्रम वाले कार्यों पर ही लगाया जाता रहा है।

(ii) **संपत्ति के अधिकार से वंचित** (Deprived or the Right to Property)- कई अनुसूचित जातियों को परंपरा से संपत्ति का अधिकार प्राप्त नहीं था। उनकी अपनी जमीन नहीं होती थी और उनके घर भी दूसरों की जमीन पर बने होते थे। संपत्ति के नाम पर उनकी झोपड़ी तथा कुछ घरेलू सामान ही होते थे। आज भी अनुसूचित जातियों के अनेक लोग भूमिहीन हैं तथा निर्धनता-रेखा के नीचे आने वाले अधिकांश लोग अनुसूचित जातियों के ही लोग हैं। यद्यपि कानून के अंतर्गत उन्हें अन्य नागरिकों की तरह संपत्ति का अधिकार है, लेकिन व्यवहार में उनकी बड़ी संख्या की संपत्ति नाममात्र की है।

(iii) **गंदे एवं कठिन कार्यों का नियोजन** (Employment on Dirty and Difficult work)- अनुसूचित जातियों को परंपरा से ही गंदे एवं कठिन शारीरिक श्रम वाले कामों पर लगाया जाता रहा है, जैसे-सफाई, गंदगी उठाने, झाड़ू देने, चमड़ा उतारने और पकाने, चमड़े के सामान बनाने आदि के कार्यं, कृषि, पशुपालन और व्यवसायों में भी उन्हें कठिन एवं गंदे कार्यो पर ही लगाने की परंपरा रही है। जाति की स्तरित संरचना में उन्हें इन कार्यों के लिए बाध्य भी किया जाता है।

(iv) **निम्न मजदूरी** (Low Wages)- एक ओर तो अनुसूचित जातियों के लोगों को गंदे और कठिन कार्यों पर लगाया जाता था, तो दूसरी ओर उन्हें इन कार्यों के लिए मजदूरी भी कम दी जाती थी। अति निम्न सामाजिक प्रस्थिति एवं सामाजिक शोषण के शिकार होने के कारण उनकी निम्न मजदूरी को उचित ठहराया जाता था। धनोपार्जन के अन्य स्रोतों, जैसे-वाणिज्य-व्यापार, अच्छे व्यवसाय, नौकरी आदि पर प्रतिबंध लगे होने के कारण वे अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार लाने में असमर्थ थे। आज भी अनुसूचित जातियों के लोग जिन कार्यों पर परंपरा से लगे होते हैं, उनके लिए मजदूरी की दर बहुत कम है।

(v) **आर्थिक शोषण** (Economic)- अनुसूचित जातियों के लोग अन्य प्रकार के आर्थिक शोषण के भी शिकार रहे हैं। जैसे स्पष्ट किया जा चुका है, उन्हें गंदे और कठिन शारीरिक श्रमवाले कामो पर तो लगाया ही जाता था, साथ ही उन्हें इन कामों के लिए मजदूरी भी कम दी जाती थी। उन्हें नकद मजदूरी की जगह अन्य प्रकार में मजदूरी स्वीकार करने के लिए भी

विवश किया जाता रहा है। अनुसूचित जातियों के लोगों से बेगार लेने की प्रथा भी सादियों से चली आ रही है। प्राचीन काल में उन्हें ऊँची जातियों की तुलना में अधिक दर से कर देना पड़ता था। अनुसूचित जातियों के लोगों में ऋणग्रस्तता भी बहुत अधिक रही हैं अपने स्वामियों से मिलने वाले ऋण के बदले उन्हें उनके साथ बंधनजाल में फँस जाना पड़ता था। इसी ऋण-बंधन के कारण बँधुआ श्रम-प्रथा (bonded labour system) का व्यापक रूप से प्रचलन हुआ, जिसके अवशेष आज भी मिलते हैं। अनुसूचित जातियों के कम उम्र के बच्चों तथा स्त्रियों को भी कठिन शारीरिक श्रमवाले कामों पर व्यापक रूप से लगाना पड़ता है।

3. **धार्मिक अशक्तताएँ** (Religious Disabilities)- यद्यपि अनुसूचित जातियों के लोग हिंदू-समाज के ही अंग है, फिर भी उन्हें तरह-तरह की धार्मिक अशक्तताओं का सामना करना पड़ता है। वे मंदिरों में जाकर पूजा नहीं कर सकते थे। उन्हें धार्मिक प्रवचन सुनने, पूजा पाठ करने, जनेऊ धारण करने, तपस्या एवं यज्ञ करने, धार्मिक पुस्तक पढ़ने आदि की अनुमति नहीं थी। ब्राह्मण उनको पुरोहिती करने से भी इनकार करते आए है। अस्पृश्य होने के कारण वे ऊँची जातियों के धार्मिक कृत्यों में भी भाग नहीं ले सकते थे। इन धार्मिक अशक्ताओं के कारण अनुसूचित जातियों के कई लोगों ने अन्य धर्मों की शरण ली।

4. **राजनीतिक अशक्तताएँ** (Political Diabilities)- अनुसूचित जातियों के लोगों के कई तरह की राजनीतिक अशक्तताओं का भी सामना करना पड़ा है। हिंदू-समाज अधिकारवाद (authoritarianism) के सिद्धांत पर आधृत है। जाति-व्यवस्था पर अधिकारवाद पर आधृत समाज में अनुसूचित जातियों के लोगों को ऊँची जातियों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी है। उन्हें ऊँची जातियों एवं शासकों के आदेशानुसार आचरण करना पड़ता था। विभिन्न जातियों के लिए कानून के उपबंध भी अलग-अलग थे उन्हें प्रशासन एवं सार्वजनिक सेवाओं में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था। एक ही प्रकार के अपराध के लिए ऊँची जातियों को हल्के दंड तथा नीची जातियों को कठोर दंड देने की व्यवस्था थी। छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी उन्हें कठोर शारीरिक दंड दिया जाता था। मनु के अनुसार- "ब्राह्मण द्वारा शूद्र की हत्या बिल्ली, नेवले, नीलकंठ पक्षी, मेढ़क, छिपकिली, उल्लू या कौए की हत्या के समान होती है।"

हरिजनों की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए महात्मा गांधी ने कहा है, "सामाजिक दृष्टि से वे गुलामों से भी बदतर हैं। धार्मिक दृष्टि से उन्हें 'भगवान के घर' (मंदिरों) में प्रवेश करने की मनाही है। उन्हें सार्वजनिक मार्ग, विद्यालय, अस्पताल, नलों, पार्कों आदि का उपयोग करने का निषेध है। कुछ मामलों में निश्चित दूरी के भीतर उनका प्रवेश वर्जित है और कहीं-कहीं उनके दर्शन भी सामाजिक अपराध है। नगर हो या ग्राम, सर्वत्र अत्यंत निकृष्ट कोटि के मकानों में उन्हें रहना पड़ता है, जहाँ उनकी सामाजिक सेवाओं की कोई व्यवस्था नहीं रहती। सवर्ण हिंदू वकील और डॉक्टर उनकी न तो वकालत करते हैं, न चिकित्सा। धार्मिक उत्सवों पर ब्राह्मण उनकी पुरोहिती भी नहीं करते।"

III. अनुसूचित जनजातियों की समस्याएँ
(Problem of Scheduled Tribes)

भारत के विभिन्न पहाड़ी और जंगली इलाकों में कई जनजातियाँ सदियों से रहती आई हैं। वे जाति-संरचना के अंग नहीं है। उनकी अपनी-अपनी सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परंपराएँ हैं। उनके अपने विशेष सामाजिक संगठन होते हैं तथा उनके जीवन के तरीके भी अलग-अलग होते हैं। सभ्यता के संपर्क में नहीं आने से उनमें कई के सामाजिक जीवन पहले जैसे बने हुए हैं। जो जनजातियाँ मैदानी इलाकों में रहती हैं, वे भी सभ्यता की मुख्य धारा से विलग जीवन व्यतीत करती हैं। देश की अधिकांश जनजातियाँ सभ्य समाज की तुलना में कई दृष्टियों से पिछड़ी अवस्था में हैं। पिछड़े वर्ग की श्रेणाी में आने वालों में अनुसूचित जनजातियों को सबसे दुर्बल समझा जाता है। अनुसूचित जनजातियों की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं –

1. **आर्थिक समस्याएँ** (Economic Problems)– देश की अधिकांश अनुसूचित जनजातियाँ पहाड़ी एवं जंगली इलाकों में रहती आई हैं। वे अपने जीवनयापन के लिए मुख्यतः कृषि और वन्य संपदाओं पर निर्भर रहती आई हैं। कृषि के पिछड़ापन, वन्य संपदाओं के निर्विध्न उपयोग पर रोक, अविकसित संसाधनों तथा कई अन्य कारणों में उन्हें विभिन्न प्रकार की आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। अनुसूचित जनजातियों की मुख्य आर्थिक समस्याएँ निम्नलिखित हैं :-

(i) **कृषि का पिछड़ापन** (Backwardness of Agriculture)– जनजातीय क्षेत्रों में कृषि प्रारंभ से पिछड़ी अवस्था में रही है। कम उपजाऊ भूमि, कृषि की पुरानी पद्धति, प्रकृति पर निर्भरता, सिंचाई-सुवधिाओं के अभाव आदि के कारण जनजातीय क्षेत्रों में कृषि-उत्पादन असंतोषजनक रहा है। अनुसूचित जातियाँ एक ही जगह पर लगातार खेती करना अपने धर्म के प्रतिकूल समझती हैं। वे जगह बदल-बदल कर खेती करती हैं, जिससे जमीन की बरबादी होती है, साथ ही अनाज का उत्पादन भी कम होता है। सदियों से अनुसूचित जनजातियाँ अपनी बस्तियों के समीपवर्ती मैदानों में स्वतंत्रतापूर्वक खेती करती आई है, लेकिन भूमि के स्वामित्व से संबद्ध नए कानूनों के बनने से उनकी यह स्वतंत्रता छिनती गई और उनमें कई लोगों को बाहर से भू-स्वामियों के खेतों पर खेतिहर-मजदूरों के रूप में काम करना पड़ा। खेती के पिछड़ापन के कारण अनुसूचित जातियों के बीच निर्धनता व्यापक रूप से फैली हुई है।

(ii) **वन्य संपदाओं के प्रयोग पर अंकुश** (Control on the Use of Forest Wealth)– अनुसूचित जनजातियों के जीवन निर्वाह का दूसरा मुख्य स्रोत वनों में उपलब्ध संपदाएँ रही हैं। ये जनजातियाँ सादियों से वनों की लकड़ियों, वृक्षों, फूलों, जीव-जंतुओं आदि का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करती आई हैं। वनों पर सरकारी नियंत्रण होने तथा उनमें उपलब्ध साधनों को निकालने

के लिए ठेकेदारों एवं व्यापारियों ने इन जनजातियों का कई प्रकार से शोषण भी करना शुरू किया। वन्य संपदाओं के उपयोग पर लगाए गए प्रतिबंधों के कारण उनके आर्थिक क्रिया कलाप को गहरा आघात पहुँचा है।

(iii) **ऋणग्रस्तता एवं आर्थिक शोषण** (Indebtedness and Economic Exploitation)– अनुसूचित जनजातियों के लोग परंपरा से मदिरा, तंबाकू तथा उत्सवों के मनाने पर अपने सामर्थ्य के बाहर खर्च करते आए हैं। साथ ही, उनकी आम जरूतों को अपनी सीमित आय से पूरा करना कठिन होता है। इन कारणों से अनुसूचित जनजातियों के बीच ऋणग्रस्तता व्यापक रूप से फैली हुई है। जनजातीय लोगों की अशिक्षा, अज्ञानता तथा अशक्तताओं का लाभ उठाकर स्थानीय व्यापारी और ठेकेदार उनका तरह-तरह से आर्थिक शोषण करते आए हैं। वे उन्हें अधिक ब्याज पर ऋण देते रहे हैं। ऋण की रकम नहीं लौटाने तक वे उन्हें अपने चंगुल में फँसाए रहते हैं। वे कर्ज लेने वाली जनजातियों को वनों से लाए गए सामानों को कम दाम पर बेचने के लिए मजबूर करते रहे हैं। साधारणतः ऋण मौखिक होते थे, लेकिन ऋण-संबंधी नए कानून के बनने से व्यापारी उनसे ऋण की रकम से अधिक राशि के दस्तावेज पर हस्ताक्षर करा लेने लगे। कभी-कभी ऋण के बदले उनकी संपति भी हड़प ली जाती थी।

(iv) **अनुसूचित जनजातीय श्रमिकों की अन्य समस्याएँ** (Problem of Scheduled Tribe Labourers)– कई अनुसूचित जनजातीय लोगों को ठेकेदारों, व्यापारियों तथा बड़े-बड़े भू-स्वामियों के यहाँ श्रमिकों के रूप में काम करना पड़ता है। इन श्रमिकों का भी तरह-तरह से शोषण किया जाता है। साधारणतः उनकी मजदूरी की दरें बहुत ही कम होती हैं। कई क्षेत्रों में उन्हें प्रकार में मजदूरी लेने के लिए बाध्य किया जाता है। कम उम्र के कई जनजातीय बालकों से भी कठोर शारीरिक श्रम लिया जाता है। श्रमिकों के रूप में काम करने वाली स्त्रियों को भी व्यभिचार के लिए बाध्य किया जाता है। जो जनजातीय श्रमिक बाहर जाकर खानों, कारखानों या अन्य प्रतिष्ठानों में काम करते हैं, उन्हें भी नई जगह समायोजन, आवास, प्रशिक्षण आदि की समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(v) **सामान्य आर्थिक पिछड़ापन की समस्या** (Problem of General Economic Backwardness)– अधिकांश अनुसूचित जनजातियों के लोग ऐसे भू-भागों में रहते हैं, जहाँ या तो प्राकृतिक संसाधनो (natural resources) की कमी है, अथवा इन संसाधनों को समुचित रूप से प्रयोग में नहीं लाया जाता है। साधारणतः, इन क्षेत्रों में भूमि, जल एवं शक्ति के साधन आदि संसाधन अविकसित अवस्था में हैं। इनके फलस्वरूप अधिकांश जनजातियों के आर्थिक क्रियाकलाप अत्यंत ही सीमित होते हैं और वे निर्धनता तथा अभावों से ग्रस्त रहते हैं। सुदूरवर्ती एकल (isolated) पहाड़ी और जंगली क्षेत्रों में रहने वाले आदिवासियों की आर्थिक समस्याएँ बहुत ही जटिल हैं।

2. **सामाजिक समस्याएँ** (Social Problems)- अनुसूचित जनजातियों के अपने अलग-अलग सामाजिक संगठन और जीवन के तरीके होते हैं। वे अपनी परंपरागत सामाजिक संस्थाओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों आदि के अनुसार अलग-अलग तरह से जीवन व्यतीत करती हैं। सभ्यता के संपर्क में आने से उनके सामाजिक जीवन में परिवर्तन आने लगे और नई-नई सामाजिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। अनुसूचित जनजातियों की कुछ मुख्य सामाजिक समस्याएँ निम्नलिखित हैं :-

(i) **सभ्यता के साथ समायोजन की समस्या** (Problem of Adjustment with Civilization)- आर्थिक विकास, नगरीकरण, उद्योगीकरण तथा परिवहन और संचार के साधनों के विकास से अनुसूचित जनजातियों के कई लोग सभ्यता के संपर्क में आए। सभ्य समाज और आदिवासियों के सामाजिक संगठन, संस्थाओं, जीवन के ढंग, मूल्य-प्रणाली, रीति-रिवाज, आर्थिक क्रियाकलाप आदि क्षेत्रों में व्यापक भिन्नताएँ पाई जाती हैं। अपनी बस्तियों में दूर जाकर रहने और काम करने वाले कई अनुसूचित जनजातीय लोगों ने तो सभ्य समाजों के जीवन के तरीकों को अपना लिया, लेकिन कई जनजातीय लोग सभ्य समाजों के तरीकों के अनुकरण का खुलकर विरोध करते हैं। साधरणतः सभ्य समाजों के संपन्न लोग अनुसूचित जनजातियों को हेय दृष्टि से देखते हैं और उन्हें अपने समाज में समायोजित करने से हिचकते हैं। जो जनजातियाँ सभ्यता के संपर्क में कम आई हैं, उनमें सामाजिक परिवर्तन की गति बड़ी धीमी रही है।

(ii) **विवाह-संबंधी समस्याएँ** (Problem Relating to Marriage)- जनजातियों के बीच विवाह-संबंधी अपनी-अपनी परंपराएँ हैं। उनके बीच कई प्रकार के विवाह, जैसे-क्रय-विवाह, हरण विवाह, परिवीक्षा-विवाह, परीक्षा-विवाह, सेवा-विवाह आदि की प्रथाएँ सदियों से प्रचलित रही हैं। इन सभी प्रकार के विवाहों में विवाह की उम्र अधिक होती थी। हिंदू-सभ्यता के संपर्क में आने से उनकी विवाह-संबंधी प्रथाओं में परिवर्तन आए। कालांतर में उनके बीच बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ता गया तथा कन्या-मूल्य की रकम में भी वृद्धि हुई। हिंदू-समाज की देखादेखी उनमें दहेज-प्रथा भी तेजी से बढ़ती गई है। कई जनजातीय लोग शादी-ब्याह के अवसर पर अपने सामर्थ्य से अधिक खर्च भी करने लगे हैं।

(iii) **शैक्षिक पिछड़ापन** (Educational Backwardness)- सदियों से सभ्यता के संपर्क में नहीं आने के कारण अनुसूचित जनजातियों के बीच अशिक्षा और निरक्षरता भी व्यापक रूप से फैली हुई है। उनकी अपनी स्थानीय भाषाएँ विकिसत नहीं है और न ही उनके माध्यम से औपचारिक शिक्षा देने की ही उनकी परंपरा है। निर्धनता के कारण वे उपलब्ध शिक्षा-सुविधाओं के लाभ भी नहीं उठा पाती। कुछ ईसाई मिशनरियों (Christian missionaries) ने उनके बीच शिक्षा के प्रसार के लिए प्रयास तो किए, लेकिन इनके पीछे उनका मुख्य उद्‌देश्य जनजातियों के बीच ईसाई-धर्म का प्रचार था, न कि उनका वास्तविक शैक्षिक विकास। जनजातीय क्षेत्रों में

कुछ युवागृहों (domatories) ने जनजातियों के सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन में सुधार लाने के प्रयास किए, लेकिन धीरे-धीरे इनका पतन होता गया।

(iv) **सामाजिक नियंत्रण में कमी** (Lessening of Social Control)– परंपरा से अनुसूचित जनजातियों के धर्म, जादू, सरदारों और पंचायतों के आदेश आदि सामाजिक नियंत्रण के मुख्य स्रोत होते थे। इनसे इनके आचरण पर प्रभावी नियंत्रण होता था। प्रजातांत्रिक सिद्धांतों के प्रसार, वैयक्तिक स्वतंत्रता और समानता पर जोर, शिक्षा के प्रसार तथा सभ्यता के संपर्क में आने से अनुसूचित जातियों के बीच परंपरागत नियंत्रण के स्रोतों का महत्व घटने लगा, जिसके फलस्वरूप उनपर सामाजिक नियंत्रण शिथिल होता गया और उनमें कई मनमाने ढंग से आचरण करने लगे। सामाजिक नियंत्रण के शिथिल होने से जनजातियों के बीच कई तरह की सामाजिक बुराइयाँ, जैसे-अपराध, वेश्यावृत्ति, लड़ाई-झगड़े, जुएबाजी, चोरी आदि फैलती गई।

(v) **वेश्यावृत्ति में वृद्धि** (Increase in Prositution)– अनुसूचित जनजातियों की निध निता, भोलेपन और यौन-संबंधों के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण का अनुचित लाभ उठाकर व्यापारियों, ठेकेदारों तथा अन्य बाहरी व्यक्तियों ने उनकी स्त्रियों और लड़कियों को अनैतिक यौन-संबंधों के लिए बाध्य किया। श्रमिकों के रूम में काम करने वाली कई जनजातियों के बीच वेश्यावृत्ति फैली हुई है। रुपये-पैसे के प्रलोभन तथा ऋणग्रस्तता के कारण कई आदिवासी लड़कियाँ अनैतिकता के मार्ग अपनाने लगती हैं। वेश्यावृत्ति से जनजातियों के बीच रतिज-रोग भी फैलते गए हैं।

3. **सांस्कृतिक समस्याएँ** (Cultural Problems)– अलग-अलग अनुसूचित जनजातियों की अपनी अलग-अलग परंपरागत संस्कृतियाँ हैं। उनकी वेश-भूषा, कलाएँ, संगीत, नृत्य, पहनावे, खान-पान, रीति-रिवाज आदि सभ्य समाजों से विलग होती हैं। सभ्यता के संपर्क में आने से अनुसूचित जातियों के कई लोग अपनी परंपरागत संस्कृति में अभिरुचि नहीं लेते। कुछ तो अपनी पुरानी संस्कृति को हेय दृष्टि से देखने भी लगते हैं। दूसरी ओर, पुराने विचारवाले कई जनजातीय लोग अपनी परंपरागत संस्कृति बनाए रखना चाहते हैं और बाहरी संस्कृति के प्रसार का विरोध करते हैं। कभी-कभी दोनों संस्कृतियों के बीच विरोध प्रत्यक्ष संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। कई आदिवासियों ने अँग्रेजी, हिंदी तथा अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ सीखीं। नई भाषाओं के प्रसार से उनकी परंपरागत भाषाओं का महत्व घटने लगा। जनजातियों के बीच बाहरी संस्कृति के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उनकी परंपरागत कलाएँ, जैसे- ललित कला, संगीत एवं नृत्यकला, नक्काशी आदि भी विलुप्त होने लगीं।

4. **धार्मिक समस्याएँ** (Religious Problem)– अनुसूचित जनजातियों के अपने-अपने धर्म होते हैं। कई जनजातियों ने तो आगे चलकर नए धर्मों, जैसे- ईसाई, हिन्दू और बौद्ध धर्म को अपना लिया, लेकिन कई की अपनी पुरानी धार्मिक परंपराएँ पहले जैसी चली आ रही हैं। अनुसूचित जनजातियों के परंपरागत धर्मों में जादू-टोना पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। उनका

सामान्य सामाजिक और आर्थिक जीवन में भी व्यापक महत्व होता था। धर्म-परिवर्तन और बाहरी धर्मों के संपर्क में आने से अनुसूचित जनजातियों के लोगों के बीच एकता बनाए रखना बहुत ही कठिन हो गया। धर्म को लेकर उनके बीच पारस्परिक संघर्ष बढ़ते गए और उनके सामाजिक संगठन पर आधार भी विघटित होता गया।

5. **राजनीतिक समस्याएँ** (Political Problems)- परंपरा से अनुसूचित जनजातियों के बीच वंशानुगत होने वाले मुखियों तथा सरदारों और पंचायतों का राजनीतिक महत्व बहुत ही अधिक था। मुखिया और पंचायतों को अपने-अपने समूहों के सदस्यों के आचरण को नियंत्रित करने, विवादों को सुलझाने तथा दंड देने का लगभग असीम अधिकार था। नई राजनीतिक व्यवस्था, प्रशासन तथा नए कानूनों के आने से उनके परंपरागत राजनीतिक अधिकारों और संगठनों को गहरा धक्का लगा है। कई अनुसूचित जनजातियाँ, विशेषकर उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों तथा झारखंड में रहने वाली प्रशासन और सरकारी अधिकारियों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। कभी-कभी तो वे राजनीतिक व्यवस्था, प्रशासन और अधिकारियों का खुलकर विरोध भी करते हैं। सरकारी अधिकारी तथा कर्मचारी भी इन जनजातियों के रीति-रिवाजों और भावनाओं से अनभिज्ञ रहते हैं और कुछ तो जान-बूझकर उनकी अवहेलना किया करते हैं। इन कारणों से अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन के साथ समायोजन की समस्या आज भी गंभीर बनी हुई हैं। कई जनजातीय क्षेत्रों में संगठित रूप से हिंसात्मक आंदोलन भी चलाए जाने लगे हैं।

6. **स्वास्थ्य-संबंधी समस्याएँ** (Problem Relation to Health)- अनुसूचित जनजातियों के लोग सदियों से निर्धनता एवं अभावों से ग्रस्त रहे हैं। गरीबी के कारण उन्हें समुचित संतुलित भोजन नहीं मिल पाता और उनमें कई कुपोषण के शिकार हो जाते हैं। उनमें स्थानीय मदिरा पीने का व्यापक प्रचलन है। जनजातीय क्षेत्रों में शुद्ध पेयजल की कमी, स्वास्थ्यप्रद आवास का अभाव, परंपरागत चिकित्सा-प्रणाली, वस्त्रों के कम प्रयोग आदि आम बातें हैं। उनके बीच वे प्रायः हैजा, चेचक, तपेदिक आदि कई संक्रामक रोगों के शिकार हो जाते हैं। इन कारणों से अनुसूचित जनजातियों के बीच स्वास्थ्य-संबंधी समस्याएँ अत्यंत ही जटिल बनी हुई हैं।

IV. अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए कल्याण-कार्य (Welfare Measures for Scheduled Castes and Tribes)

1. राज्य की भूमिका (Role of the State)

देश की स्वतंत्रता के बाद ही अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए राज्य की ओर से महत्वपूर्ण कदम उठाए गए। भारतीय संविधान में नागरिकों के इन समूहों को सामाजिक और शैक्षिक रूप से अति पिछड़ा माना गया है और इनके हितों की रक्षा और इनके विकास के लिए कई महत्वपूर्ण उपबंध सम्मिलित किए गए हैं। संविधान की प्रस्तावना में भारत को संपूर्णप्रभुत्व संपन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया है। संविधान के उद्देश्यों में

नागरिकों के लिए न्याय (सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक), स्वतंत्रता (विचारों, अभिव्यक्ति, विश्वास और उपासना की) तथा समानता (सामाजिक और अवसरों की) तथा भ्रातृत्व (व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता की प्रतिष्ठा का आश्वासन) सम्मिलित हैं। सदियों से विभिन्न प्रकार की अशक्तताओं, अयोग्यताओं और शोषण की शिकार अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों के लिए संविधान के ये व्यापक उद्देश्य ही महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों की रक्षा और उनके विकास के लिए अलग से कई विशेष उपबंध हैं, जिनका उल्लेख नीचे किया गया है -

(क) संविधान के उपबंध (Provisions of the Constitution)– अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों की रक्षा और उनके विकास से संबद्ध संविधान के अनुच्छेद 46 के उपबंध सबसे महत्वपूर्ण हैं। इसमें कहा गया है, "राज्य जनता के दुर्बलतर भागों के, विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा तथा अर्थ-संबधी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।"

नागरिकों के इन दुर्बल समूहों के हितों की रक्षा से संबद्ध संविधान के अन्य महत्वपूर्ण उपबंध निम्नलिखित हैं :-

(i) समानता के मौलिक अधिकार के अंतर्गत धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया गया है, लेकिन राज्य अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है। (अनुच्छेद 15)। दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों, कुओं, तालाबों, स्नान-घाटों और ऐसी सड़कों और सार्वजनिक स्थानों के उपयोग पर लगी सभी रुकावटों को हटाया जाएगा, जिनका पूरा या कुछ व्यय सरकार उठाती है, अथवा जो जनसाधारण के निमित्त समर्पित हैं। {अनुच्छेद 15(2)}।

(ii) समता के मौलिक अधिकार के अंतर्गत राज्य के अधीन नियोजन या नियुक्ति के मामले में सभी नागरिकों को अवसर की समानता का निर्देश दिया गया है, लेकिन अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए विशेष व्यवस्था की जा सकती है। (अनुच्छेद 16)

(iii) समानता के मौलिक अधिकार के अंतर्गत ही अस्पृश्यता का उन्मूलन तथा इसके किसी भी रूप में प्रचलन का प्रतिषेध किया गया है। (अनुच्छेद-17)

(iv) अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए नागरिकों को प्रदत्त स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार पर कानून द्वारा रोक लगाई जा सकती है। (अनुच्छेद-19)

(v) अनुसूचित जातियों और जनजातियों को बंधक मजदूर बनाने के प्रसंग को ध्यान में रखते हुए बलात श्रम पर प्रतिबंध लगाया गया है। (अनुच्छेद-23)

(vi) धार्मिक स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार के संदर्भ में कहा गया है कि सभी व्यक्तियों को अंतःकरण तथा किसी धर्म को मानने तथा उसके प्रचार करने की स्वतंत्रता है। हिंदुओं की सभी प्रकार की धर्म-संस्थाएँ सभी हिंदुओं के लिए खुली रहेंगी। (अनुच्छेद-25)

(vii) अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक एवं धार्मिक अधिकारों की रक्षा के संबंध में कहा गया है कि शिक्षा-संस्थानों में प्रवेश पाने के लिए धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा आदि के आधार पर किसी को वंचित नहीं किया जाएगा। (अनुच्छेद 29)

(viii) बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा में जनजातियों के कल्याण हेतु कार्यभारी मंत्री की नियुक्ति की व्यवस्था की जाएगी। (अनुच्छेद 164)

(xi) अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के लिए विशेष व्यवस्था करने के लिए कदम उठाए जाएँगे। (अनुच्छेद 244 और 244-क तथा पाँचवी और छठी अनुसूचियाँ)

(x) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए वर्ष 2019 तक लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं में स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था करना आवश्यक है। (अनुच्छेद 330, 332 तथा 334)

(xi) राज्य को इस बात की छूट है कि जनसेवाओं में पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त रहने पर उनके लिए स्थान आरक्षित कर सके तथा राज्य का यह दायित्व है कि सार्वजनिक नियुक्तियाँ करने में अनुसूचित जातियों और जनजातियाँ के हितों को ध्यान में रखे। (अनुच्छेद 334, 335)

(xii) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण तथा उनके हितों की रक्षा के लिए राज्यों में जनजाति सलाहकार-परिषदों तथा पृथक विभागों की स्थापना तथा केंद्र में एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति आवश्यक है। (अनुच्छेद 164, 338 तथा पाँचवी अनुसूची)

(xiii) केंद्र-सरकार को अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए विशेष अधिकार दिए गए हैं। (अनुच्छेद 339)

(xiv) अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की सूचियों में विभिन्न जातियों और जनजातियों को सम्मिलित करने के लिए राष्ट्रपति और संसद में विशेष शक्तियाँ निहित की गई हैं। (अनुच्छेद 341, 342)

संविधान के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों की रक्षा और उनके विकास के लिए सरकार द्वारा कई महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। संविधान के कुछ उपबंधों को लागू करने के लिए केंद्रीय एवं राज्य-स्तरों पर कानून भी बनाए गए हैं तथा कई उपबंधों को नियमों, आदेशों, प्रशासनिक व्यवस्था और अन्य कदमों द्वारा लागू करने के प्रयास किए गए हैं। देश की पंचवर्षीय योजनाओं और विकास के कार्यक्रमों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के हितों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है। सरकार के

तत्वावधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए उठाए गए महत्वपूर्ण कदम निम्नलिखित हैं :-

(ख) सिविल अधिकार-संरक्षण अधिनियम, 1995 (Protection of Civil Rights Act, 1955) **तथा अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (नृशंसता निवारण) अधिनियम,** 1989 [Secheduled Castes and Scheduled Tribes (Prevention of Atrocities) Act, 1989,- पहले 1955 के अधिनियम का नाम अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम [Untouchability (Offences) Act] था, लेकिन 1976 में इसका नाम बदलकर सिविल अधिकार-संरक्षण अधिनियम कर दिया गया। यह केंद्रीय अधिनियम है, लेकिन इसका प्रशासन राज्य सरकारों तथा संघ-राज्य-क्षेत्रों द्वारा होता है।

सिविल अधिकार-संरक्षण अधिनियम के अधीन अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को सार्वजनिक उपासना-स्थल पर जाने, वहाँ उपासना करने तथा पवित्र तालाबों, कुओं या जलधाराओं से पानी लेने से रोकना दंडनीय अपराध है। अस्पृश्यता के आधार पर किसी भी प्रकार की सामाजिक अयोग्यता लागू करना, जैसे- किसी दूकान, सार्वजनिक भोजनालय या शिक्षालय, सार्वजनिक चिकित्सालय, होटल या मनोरंजन के सार्वजनिक स्थल पर जाने से रोकना भी दंडनीय उपराध है। छुआछूत के कारण किसी सड़क, नदी, कुएँ, तालाब, स्नान-घाट, शौचालय, धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाने के उपयोग पर रोक लगाने वाले व्यक्तियों को जुर्माने और कारावास से दंडित किया जा सकता है। किसी होटल या भोजनालय में रखे बरतनों के उपयोग करने से रोकने पर भी प्रतिबंध लगाया गया है। अधिनियम के अंतर्गत अस्पृश्यता के आधार पर व्यवहार या रोजगार से संबद्ध अयोग्यता लादना, किसी धर्मार्थ संस्था से लाभ प्राप्त करने पर रोक लगाना, किसी भी क्षेत्र से रिहायशी स्थान पर निर्माण करने या उसमें रहने या कोई धार्मिक कृत्य करने या अनुदान देने पर रोक लगाना भी दंडनीय अपराध हैं।

किसी भी व्यक्ति को उसके अस्पृश्य होने के कारण व्यापारिक लेन-देन रखने से वंचित नहीं किया जा सकता। किसी भी व्यक्ति को अस्पृश्यता के आधार पर सेवाओं से वंचित नहीं रखा जा सकता। अस्पृश्यता-उन्मूलन के फलस्वरूप मिलने वाले अधिकारों का उपयोग करने के कारण किसी भी व्यक्ति को सताने, चोट पहुँचाने, परेशान करने, उसका बहिष्कार करने या उसे बहिष्कृत करने में मदद देने वाले व्यक्तियों को भी दंडित किया जा सकता है। इन अपराधों के दोहराने पर कड़े दंड की व्यवस्था की गई है। अस्पृश्यता-संबंधी अपराधों के लिए उकसाने या प्रेरित करने वाले व्यक्ति भी दंड के भागी होते हैं। अधिनियम के अधीन स्वयं को निर्दोष साबित करने का दायित्व अभियुक्त पर रहता है।

अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों पर अत्याचार प्रभावी रूप से रोकने के लिए 1989 में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति (नृशंसता निवारण) अधिनियम बनाया गया। अधिनियम में उन अपराधों को निर्दिष्ट किया गया है जिन्हें नृशंस कहा जा सकता है तथा उनके

लिए कठोर दंड की व्यवस्था की गई है। अधिनियम में निवारक कदमों तथा उनके शिकार लोगों के आर्थिक एवं सामाजिक पुनर्वासन से संबद्ध उपबंध हैं।

कई राज्यों में उपर्युक्त सिविल अधिकारों के हनन के शिकार व्यक्तियों के लिए कानूनी सहायता की व्यवस्था की गई है। अधिनियम के उपबंधों से संबद्ध अभियोजना (prosecution) के पर्यवेक्षण के लिए राज्यों में विशेष प्रकोष्ठों (cells) तथा दस्तों (squads) की व्यवस्था भी की गई है। अस्पृश्यता की समस्याओं के पुनरीक्षण के लिए राज्यों में समितियों का गठन किया गया है।

(ग) विधानमंडलों में आरक्षण (Reservation in Legislature)- संविधान के अनुच्छेद 330 में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए लोकसभा और अनुच्छेद 332 में राज्यों की विधानसभाओं में उनके लिए स्थानों के आरक्षण के निदेश दिए गए हैं। प्रारंभ में यह आरक्षण 25 जनवरी, 1980 तक के लिए ही था, लेकिन 1980 में संविधान में संशोधन कर इस आरक्षण की अवधि को बढ़ाकर 25 जनवरी, 1990 तक कर दिया गया। 1989 और 1999 के संशोधनों के अनुसार इसे आगामी दस-दस वर्षों के लिए और बढ़ा दिया गया। लोकसभा में अनुसूचित जातियों के लिए 79 और अनुसूचित जनजातियों के लिए 41 स्थान तथा राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जातियों के लिए 557 और अनुसूचित जनजातियों के लिए 527 स्थान आरक्षित हैं।

(घ) सरकारी नौकरियों में आरक्षण (Reservation in Government Services)- संविधान के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए सरकारी सेवाओं में भी आरक्षण की व्यवस्था की गई है। अखिल भारतीय आधार पर खुली प्रतियोगिता द्वारा सीधी भरती में अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 7½ प्रतिशत स्थान आरिक्षत रखे जाते हैं। अन्य प्रकार से अखिल भारतीय आधार पर होने वाली सीधी भरती में अनुसूचित जातियों के लिए 16½ प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 7½ प्रतिशत स्थानों के आरक्षण की व्यवस्था की गई है। तीसरी और चौथी श्रेणियों के कर्मचारियों की सीधी भरती में संबंद्ध राज्य या संघराज्य-क्षेत्र में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या के अनुपात में स्थानों का आरक्षण किया जाता है। सीमित विभागीय प्रतियोगिता-परीक्षा द्वारा दूसरी, तीसरी और चौथी श्रेणियों के पदोन्नति से भरे जाने वाले पदों अनुसूचित जातियों के लिए 15 प्रतिशत और अनुसूचित जनजातियों के लिए 7½ प्रतिशत स्थान आरक्षित किए गए हैं। पहली, दूसरी, तीसरी तथा चौथी श्रेणियों में योग्यता और वरिष्ठता के आधार पर होने वाली पदोन्नति और भरती में भी इन समूहों के लिए स्थानों का आरक्षण किया गया है।

केंद्र और राज्य सरकारों की सेवाओं के अतिरिक्त इन जातियों और जनजातियों के लिए सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों (enterprises), सार्वजनिक बैंकों, विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों

और विद्यालयों आदि में भी आरक्षण की व्यवस्था की गई है। विभिन्न जनसेवाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को समुचित प्रतिनिधित्व देने के उद्देश्य से उन्हें कई प्रकार की रियायतें भी दी जाती हैं, जैसे- निर्धारित आयु-सीमा से छूट, शैक्षिक योग्यता के मानदंड से छूट, अनुभव-संबंधी छूट तथा कम दर पर परीक्षा-शुल्क। प्रतियोगिता और चयन-परीक्षाओं में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उम्मीदवारों के लिए विशेष प्रशिक्षण-कार्यक्रम भी चलाए जाते हैं। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए आरक्षित पदों में रिक्त पदों को भरने के लिए 1989 के बाद में विशेष अभियान चलाए गए हैं। शिक्षु-अधिनियम, 1961 (Apprentices Act, 1961) के अधीन भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के व्यावसायिक प्रशिक्षुओं को काम पर लगाने के लिए विशेष प्रबंध किए गए हैं।

(ङ) राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग (National Commission for schedeuld Castes and Schedeuled Tribes)- संविधान में 65वें संशोधन, 1990 को ध्यान में रखते हुए पहले से कार्यरत अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयुक्त को विस्थापित कर राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन 1992 में किया गया। इस आयोग के मुख्य कार्य है :- (1) अनुसूचित जातियों और जनजातियों की सुरक्षा के लिए की गई व्यवस्थाओं की पूरी तरह देखभाल करना, (2) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के सामाजिक-आर्थिक विकास की योजना-प्रक्रिया में सलाह देना, (3) इन समूहों की सुरक्षा, कल्याण, विकास और उन्नयन से जुड़े सभी काम संभालना, तथा (4) उनकी सुरक्षा-व्यवस्था अधिक प्रभावी तरीके से लागू कराने के बारे में केंद्र और राज्य सरकार को सुझाव देना। केंद्र सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अनुसूचित जातियों और जनजातियों से संबद्ध किसी भी नीतिगत उपाय के बारे में आयोग से परामर्श करे। आयोग को वे सभी शक्तियाँ प्राप्त हैं जो किसी मामले की सुनवाई से सिलसिले में सिविल न्यायालय को प्राप्त रहती है।

(च) राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वित्त और विकास निगम (National Scheduled Castes and Seheduled Tribes Finance and Development Corporation)- इस निगम का गठन 1989 में हुआ। इस निगम का मुख्य उद्देश्य निर्धनता-रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के परिवारों के आर्थिक विकास को बढ़ावा देना है। यह निगम राज्य-स्तरीय अनुसूचित जाति विकास निगमों और अन्य संस्थाओं के कार्यक्रमों में पाई जाने वाली कमियों को पूरा करने में शीर्ष संगठन के रूप में काम करता है। निगम प्रशिक्षण, उद्यमिता-विकास और अभिनव परियोजनाओं के माध्यम से उनके कौशल का विकास करता है तथा 'महिला समृद्धि योजना' को भी कार्यान्वित करता है।

(छ) राज्य अनुसूचित जाति विकास निगम (State Scheduled Castes Development Corporations)- ऐसे निगम राज्यों तथा संघराज्य-क्षेत्रों में गठित किए गए हैं। इन निगमों

का मुख्य उद्देश्य अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों को निर्धनता-रेखा से ऊपर लाना है तथा उनके लिए कल्याण-कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना है। ये निगम अनुसूचित जातियों और जनजातियों के परिवारों और उन्हें उधार देने वाली संस्थाओं के बीच कड़ी का काम करते हैं। इनमें कृषि, पशुपालन, दस्तकारी, ग्रामोद्योग आदि से संबद्ध आय में वृद्धि करने वाली योजनाएँ भी तैयार की जाती हैं।

(ज) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए कुछ महत्वपूर्ण आर्थिक, सामाजिक और कल्याणकारी कार्यक्रम (Some Important Economic, Social and Welfare Programmes for Schedules Castes and Scheduled Tribes)– देश में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण से सम्बद्ध कुछ महत्वपूर्ण विशेष कार्यक्रम निम्नलिखित हैं :–

(i) **आर्थिक कार्यक्रम** (Economic Programmes)– देश में निर्धनता-उन्मूलन तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि से संबद्ध प्रायः सभी विशेष कार्यक्रमों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लोगों को प्राथमिकता दी जाती है, तथा कुछ कार्यक्रम केवल इन्हीं जनसमूहों के लिए क्रियान्वित किए गए हैं। इनमें पहले चलाए जाने वाले कार्यक्रम हैं :- समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, जवाहर रोजगार योजना, ट्राइसेम तथा 10 लाख कूप योजना, वर्तमान समय में चलाए जाने वाले ऐसे कार्यक्रम में मुख्य हैं- स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना (1999), सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (2001) तथा राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी योजना (2006)। इन जनसमूहों के हेतु प्रायोजित कार्यक्रमों के लिए केंद्र सरकार द्वारा विशेष केंद्रीय सहायता कार्यक्रम के अधीन शत-प्रतिशत सहायता दी जाती है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बीच उद्योगों के विकास के लिए उठाए गए कदमों में मुख्य हैं - सहायिकी तथा आसान शर्तों पर ऋण उपलब्ध कराना, विशेष उद्यम-विकास कार्यक्रम, व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण, परामर्श सेवाएँ तथा चमड़ा-विकास-निगमों की स्थापना। ग्रामीण क्षेत्रों में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948 के अधीन मजदूरी की न्यूनतम दरों में नियतन से इन जनसमूहों के कई लोगों को प्रत्यक्ष लाभ पहुँचा है। बँधुआ श्रम-प्रथा के उन्मूलन से भी इन जनसमूहों की प्रस्थिति में सुधार हुआ है।

(ii) **सामाजिक कार्यक्रम** (Social Programmes)– झाडू लगाने और सफाई के काम में लगे लोगों के रहन-सहन और कार्य की दशाओं में सुधार लाने के उद्देश्य से देशभर में विशेष कदम उठाए गए हैं। निर्जल शौचालयों को तेजी से बदला जा रहा है। सिर पर मैला ढोने वाले जिन लोगों को इस काम से मुक्त कराया जाता है, उन्हें वैकल्पिक रोजगार दिलाने के प्रयास किए जा रहे हैं। इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत आवासों के आबंटन में इन कमजोर वर्गों को प्राथमिकता दी जाती है, तथा उनके लिए बनाने हेतु भू-खंड की भी व्यवस्था की जाती है। इनकी बस्तियों में पेयजल की आपूर्ति, पर्यावरण-सुधार तथा अन्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने के

लिए विशेष कार्यक्रम चलाए जाते हैं। समेकित बाल विकास सेवाओं से इन समूहों के बच्चों और महिलाओं को व्यापक रूप से लाभ पहुँचा है। अस्पृश्यता-उन्मूलन-संबंधी कानून तथा अन्य संबद्ध कार्यक्रमों से उनकी सामाजिक प्रस्थिति सुधरी है।

(iii) **शैक्षिक कार्यक्रम** (Educational Programmes)- (1) देश के प्राथमिक एवं प्रौढ़ शिक्षा तथा साक्षरता कार्यक्रमों, जैसे- सर्वशिक्षा अभियान तथा जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के केंद्रीकरण क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। (2) इनके परिवारों से उन बाधाओं को दूर करने का प्रयास किया जाता है, जिनसे वे अपने बच्चों को स्कूल अधिक संख्या में भेज सकें। (3) इन जन समूहों के विद्यार्थियों के लिए शिक्षा के प्रायः सभी स्तरों पर छात्रवृत्ति देने के व्यापक कार्यक्रम चलाए जाते हैं। इनमें प्रवेशिका-पूर्व, प्रवेशकोत्तर, उच्च एवं तकनीकी शिक्षा सभी सम्मिलित हैं। छात्रवृत्ति की व्यवस्था करने में केंद्रीय एवं राज्य सरकारों दोनों की भूमिकाएं महत्वपूर्ण हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के मेधावी विद्यार्थियों के लिए विदेशों में अध्ययन के लिए भी छात्रवृत्ति तथा यात्रा-अनुदान दिया जाता है। (4) इन जनसमूहों के विद्यार्थियों के लिए विशेष विद्यालयों एवं छात्रावासों की स्थापना की गई है। साथ ही, सामान्य विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षण एवं प्रशिक्षण-संस्थानों में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के विद्यार्थियों के लिए सीटों का आरक्षण किया जाता है तथा न्यूनतम योग्यताएं, उम्र आदि में छूट दी जाती है। (5) केंद्र एवं राज्य सरकारों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों, बैंकों, जीवन-बीमा निगमों आदि की सेवाओं में इन समूहों में प्रतिनिधित्व में सुधार लाने के उद्देश्य से देश के कई भागों में कोचिंग-केन्द्र स्थापित किए गए हैं। (6) मेडिकल, इंजीनियरी, कृषि, पशुचिकित्सा तथा पॉलीटेकनीक पाठ्यक्रमों के विद्यार्थियों के लिए पुस्तक बैंक योजना लागू की गई है। (7) अनुसंधान और प्रशिक्षण योजना के अंतर्गत विश्वविद्यालयों, समाजशास्त्र अनुसंधान संस्थाओं तथा ऐच्छिक संगठनों को इन समूहों के विकास-संबंधी शोधकार्यों और मूल्यांकन-अध्ययनों के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। (8) अनुसूचित जातियों और जनजातियों के शैक्षिक विकास से संबद्ध कुछ अन्य कार्यक्रम हैं- शिक्षा-शुल्क से छूट, यूनिफार्म का वितरण तथा अतिरिक्त अध्यापकों की नियुक्ति।

(iv) **अन्य कार्यक्रम** (Other Programmes)- अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कुछ अन्य कदम हैं- (1) आश्रम पद्धति विद्यालयों की स्थापना, (2) अत्याचार से पीड़ितों का पुनर्वासन (3) वितरक एजेंसियों की डीलरशिप में प्राथमिकता (4) राज्यों में कल्याण विभागों की स्थापना, (5) स्वैच्छिक संगठनों की सहायता, तथा (6) जनजातीय शोध-संस्थानों की स्थापना।

(झ) अनुसूचित जातियों के विकास के लिए नया उपागम (New Approact for the development Scheduled Castes)- अनुसूचित जातियों के विकास की गति तेज करने

और उसे अधिक प्रभावी बनाने के तीन महत्वपूर्ण मार्ग अपनाए गए हैं। ये हैं - (1) केंद्रीय मंत्रालयों तथा राज्य संगठनों की विशेष संघटक योजनाएँ (special component plans), (2) अनुसूचित जातियों के विकास के लिए राज्यों की विशेष संघटक योजनाओं में विशेष केंद्रीय सहायता, तथा (3) राज्यों में अनुसूचित जाति विकास-निगमों (scheduled caste development corporations) की स्थापना।

केंद्रीय मंत्रालयों तथा राज्य की संघटक योजनाओं के विकास के सामान्य क्षेत्रों में उन योजनाओं की पहचान की जाती है, जिससे अनुसूचित जातियों का अधिक-से-अधिक कल्याण हो। इन योजनाओं के अंतर्गत प्रत्येक क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के विकास के लिए सभी विभाज्य कार्यक्रमों में निधियाँ निश्चित की जाती हैं और प्रत्येक क्षेत्र में इन कार्यक्रमों से लाभान्वित हो सकने वाले अनुसूचित जातियों के परिवारों की संख्या निर्धारित की जाती है। इन कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य अनुसूचित जातियों के परिवारों की आय में पर्याप्त वृद्धि करना है। इन विशेष संघटक योजनाओं के अंतर्गत अनुसूचित जातियों के लिए आधारभूत सेवाओं, सुविधाओं तथा सामाजिक और शैक्षिक विकास के विभिन्न कार्यक्रमों को सम्मिलित करने का प्रयास किया जाता है।

केंद्रीय सरकार अनुसूचित जातियों के विकास-संबंधी राज्यों की विशेष संघटक योजनाओं के लिए भी वित्तीय सहायता देती है। यह सहायता अनुसूचित जातियों के विकास के लिए राज्यों द्वारा उठाए गए कदमों के पूर्ण परिवेश में दी जाती है। साधारणतः इस केन्द्रीय सहायता को ऐसे कार्यक्रमों पर खर्च किया जाता है, जिनमें अनुसूचित जातियों के लोगों को अधिक-से-अधिक लाभ हो।

अनुसूचित जातियों के सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए राज्यों में अनुसूचित जाति विकास-निगमों (scheduled castes development corporations) की स्थापना की गई है। ये निगम मुख्यतः अनुसूचित जाति के परिवारों और उन्हें उधार देने वाली संस्थाओं के बची कड़ी और संवर्द्धक के काम करते हैं। अनुसूचित जातियों के विकास को ध्यान में रखते हुए इन निगमों में कृषि, पशुपालन, दस्तकारी, ग्रामोद्योग आदि के अंतर्गत आय में वृद्धि करने वाली योजनाएँ तैयार की जाती हैं। इन निगमों द्वारा खास-खास क्षेत्रों और व्यक्ति-समूहों की उपयुक्तता के अनुसार प्रस्तावित योजनाएँ निर्धारित की जाती हैं। अनुसूचित जाति के परिवारों को गरीबी रेखा से ऊपर लाने में इन निगमों द्वारा कई महत्वपूर्ण योजनाएँ तैयार की गई हैं। ये निगम अनुसूचित जाति के परिवारों को ऋण-सहायता के रूप में सीमांत धन की भी व्यवस्था करते हैं।

(ञ) अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए नया उपागम (New Approach for the Development of Scheduled Tribes)- अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए भी नीति में परिवर्तन लाया गया है। जिन क्षेत्रों में अनुसूचित जनजातियों का 50 प्रतिशत से अधिक

केंद्रीयकरण है, उनके लिए अधिकांश राज्यों और संघराज्य-क्षेत्रों में जनजातीय उप-योजनाएं बनाई जाती हैं। इन उप-योजनाओं के मुख्य उद्‌देश्य हैं- (1) जनजातीय क्षेत्रों और अन्य क्षेत्रों के बीच विकास-स्तर के अंतर को कम करना तथा (2) जनजातीय समुदायों के जीवन-स्तर में सुधार लाना।

इन उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए जनजातीय लोगों के सभी प्रकार के शोषणों को समाप्त करने, विशेषकर भूमि-संबंधी, साहूकारी, कृषि और वन-उत्पाद के विनिमय में होने वाले विनिमय-कदाचारों के उन्मूलन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जनजातीय उप-योजनाओं में विभिन्न स्रोतों से संसाधन जुटाकर चुने गए क्षेत्रों का संपूर्ण विकास करने को आधारभूत समझा जाता है। इन उप-योजनाओं में सम्मिलित किए जाने वाले कार्यक्रमों में कृषि एवं संबद्ध क्षेत्र, सिंचाई, बाजार, सहकारिता, शिक्षा आदि मुख्य हैं। प्राचीन आदिवासियों में सबसे पिछड़े समूहों के विकास पर विशेष जोर दिया जाता है तथा उनके लिए अलग से योजनाएँ तैयार की जाती हैं।

(ट) अनुसूचित एवं जनजातीय क्षेत्रों के लिए विशेष प्रशासनिक व्यवस्था (Special Administrative Arrangements for Scheduled and Tribal Areas)- संविधान के अनुच्छेद 244 और पाँचवीं अनुसूची को ध्यान में रखते हुए कई राज्यों के चुने हुए क्षेत्रों को अनुसूचित क्षेत्र घोषित किया गया है। इन राज्यों के राज्यपाल राष्ट्रपति के पास इन क्षेत्रों के प्रशासन-संबंधी प्रतिवेदन प्रतिवर्ष प्रस्तुत करते हैं। असम, मेघालय और मिजोरम के जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के अनुसार होता है। अनुसूची के उपबंधो के अनुसार उन्हें स्वायत्त जिलों में बाँटा गया है। प्रत्येक स्वतंत्र जिले में एक जिला-परिषद होती है, जिसके अधिकांश सदस्य निर्वाचित होते हैं। इन परिषदों को महत्वपूर्ण प्रशासनिक, विधायी और न्यायिक शक्तियाँ दी गई हैं।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विकास से संबद्ध सामान्य नीति, योजना, समन्वय आदि का काम भारत सरकार का गृह-मंत्रालय करता है। केन्द्रीय सरकार के अलग-अलग मंत्रालय अनुसूचित जातियों और जनजातियों के विकास के अपने-अपने कार्यक्रमों का निष्पादन गृह-मंत्रालय के निदेशों को ध्यान में रखते हुए करते है। गृह-मंत्रालय इन मंत्रालयों और राज्य सरकारों के कार्यक्रमों के संपर्क में रहता है और उनके विभिन्न कार्यक्रमों को समन्वित करता रहता है।

राज्यों और संघीय राज्य क्षेत्रों में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए अलग से कल्याण-विभाग स्थापित किए गए हैं। कुछ राज्यों में जनजातीय परामर्श-परिषदों तथा जनजातीय अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-केंद्रों का भी गठन किया गया है। जनजातीय उत्पादों के वितरण में सुविधा प्रदान करने के उद्‌देश्य से जनजातीय सहकारी विपणन विकास महासंघ (Tribal Co-operative Marketing Development Federation, TRIFED) की स्थापना की गई है।

2. स्वैच्छिक संगठनों की भूमिका (Role of Voluntary Organisations)

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण में कई स्वैच्छिक संगठन भी कार्यरत रहे हैं। इनमें प्रमुख स्वैच्छिक संगठनों के कार्यों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है–

(क) हरिजन-सेवक संघ (Harijan Sevak Sangh)– हरिजन-सेवक-संघ हरिजनों के कल्याण से संबद्ध अखिल भारतीय स्तर का एक महत्वपूर्ण स्वैच्छिक संगठन है। इसकी स्थापना 1934 में हुई। इसके मुख्य उद्देश्यों में (1) सत्य एवं अहिंसा के आधार पर अस्पृश्यता का उन्मूलन, (2) हरिजनों के लिए अन्य हिंदुओं के समान स्तर पर प्रस्थिति के लिए प्रयास, तथा (3) हरिजनों के भौतिक, सामाजिक और नैतिक कल्याण के लिए प्रयास सम्मिलित हैं।

हरिजन-सेवक-संघ हरिजनों के लिए देशभर में कई विद्यालय और छात्रावास चलाता है तथा हरिजन विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था करता है। यह हरिजन-बस्तियों में कुएँ खुदवाता है और हरिजनों के रहने की दशाओं में सुधार के लिए प्रयास करता है। यह अपनी शाखाओं के माध्यम से अस्पृश्यता-उन्मूलन प्रचार कार्य करता है तथा इस सम्बन्ध में विशेष अभियान चलाता है। अस्पृश्यता उन्मूलन से संबद्ध संघ के कुछ महत्वपूर्ण माध्यम हैं– सामुदायिक शिक्षा, सामुदायिक भोजन, चलचित्र, ड्रामा तथा भजन-मंडली। यह भंगियों के कार्य की दशाओं में सुधार लाने के लिए सरकार को सहयोग देता है। यह हरिजन बालकों के लिए संस्कार-केंद्रों, बालबाड़ियों तथा शिशुगृहों का संचालन करता है। यह नगरपालिकाओं के शौचालयों में सुधार तथा सिर पर मैला ढोने की प्रथा के उन्मूलन में सहयोग देता है। यह कार्यकर्ता-प्रशिक्षण-शिविरों का आयोजन करता है तथा हरिजनों के कल्याण में लगी संस्थाओं को अनुदान भी देता है। संघ सिविल अधिकार संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत हरिजनों के अधिकारों की रक्षा के लिए वाद चलाता है। यह हरिजनों के कल्याण से संबद्ध शोधकार्य चलाता है तथा उनके लिए उपयोगी साहित्य का प्रकाशन करता है। भारत सरकार-हरिजन-सेवक-संघ को कई कल्याण-कार्यों के लिए अनुदान देती है। इन कार्यों के लिए संघ को सरकार की ओर से अनुदान दिए जाते हैं, उनमें अस्पृश्यता-उन्मूलन, महान संतों के जीवन और शिक्षाओं के आधार पर सांस्कृतिक कार्यक्रम, युवकों के लिए प्रशिक्षण-केंद्र, सद्भावना-सम्मेलन, सामुदायिक भोज, जनसभा, सामाजिक सभा तथा गाँवों की सफाई सम्मिलित हैं। संघ हरिजनों को कुओं से पानी लेने तथा मंदिरों और छात्रावासों में प्रवेश दिलाने में सहायता करता है।

(ख) भारतीय आदिम जाति-सेवक-संघ (Bharatiya Adim Jati Sevak Sangh)– जनजातियों के कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत भारतीय आदिम जाति-सेवक-संघ राष्ट्रीय स्तर का एक महत्वपूर्ण स्वैच्छिक संगठन है। इसकी स्थापना 1949 में हुई तथा इसका मुख्यालय नई दिल्ली में है। देश के विभिन्न भागों में कार्यरत कई स्वैच्छिक संगठन इसके सदस्य हैं। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य जनजातियों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास के लिए

प्रयास करना है, जिससे वे समानता के स्तर पर देश के अन्य नागरिकों के साथ राष्ट्रीय जीवन में समुचित स्थान पा सकें।

आदिम जाति-सेवक-संघ आदिम जाति के बालकों के लिए अनाथालयों, प्राथमिक विद्यालयों, छात्रावासों, आश्रमों-विद्यालयों तथा बालबाड़ियों का संचालन करता है। यह जनजातीय क्षेत्रों में आवासीय योजनाएँ चलाता है तथा जनजातियों के स्वास्थ्य में सुधार और मनोरंजन-संबंधी सुविधाओं का संचालन करता है। यह अपने सदस्य-संगठनों के माध्यम से जनजातियों के लिए कई आर्थिक कार्यक्रम भी चलाता है। यह जनजातियों की कलाओं, हस्तशिल्प तथा संस्कृति को कायम रखने में सहायता प्रदान करता है, तथा उनके जीवन और संस्कृति से संबद्ध साहित्य का प्रकाशन करता है। यह जनजातियों के लिए पुस्तकालय एवं संग्रहालय चलाता है और उनके कल्याण में लगे कार्यकर्ताओं के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। यह समय-समय सेमिनारों और सम्मेलनों का आयोजन भी करता है। विगत वर्षों में संघ ने महिलाओं के हस्तकौशल में सुधार लाने पर विशेष ध्यान दिया है।

(ग) भारतीय दलित-वर्ग-संघ (Bharatiya Depressed Class Leagure)- यह संगठन दलित वर्गों को संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों की रक्षा का प्रयास करता है। यह दलित वर्गों के श्रमिकों के शैक्षिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए कदम उठाता है और उनको संगठित करने का प्रयास करता है। यह औद्योगिक एवं सहकारी समितियों के गठन के लिए भी प्रयास करता है। यह अस्पृश्यता-उन्मूलन-संबंधी कई कार्यक्रम चलाता है। इनमें सांस्कृतिक कार्यक्रमों, प्रशिक्षण-शिविरों, सद्भावना-सम्मेलनों, सामुदायिक भोजों, जनसभाओं, गाँव-सफाई-अभियानों आदि के आयोजन मुख्य हैं। यह दलित वर्गों के उत्थान के लिए साहित्य का प्रकाशन भी करता है।

(घ) सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी (Servants of India Society)- सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के लिए कई कार्यक्रम चलाता है। इनमें विद्यालयों और औषधालयों की स्थापना, विभिन्न शिल्पों में महिलाओं के लिए प्रशिक्षण-केंद्रों का संचालन, हरिजन विद्यार्थियों के लिए छात्रावासों तथा मुफ्त भोजन, वस्त्र तथा पुस्तकों की व्यवस्था, जनजातीय कल्याण-कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण तथा सरकारी कार्यक्रमों में सहयोग सम्मिलित हैं।

(ङ) इंडियन रेडक्रास सोसाइटी (Indian Red Cross Society)- अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण में इंडियन रेडक्रॉस सोसाइटी की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही है। यह अनुसूचित एवं जनजातीय क्षेत्रों में कई प्रकार की सेवाएँ चलाता है, जैसे- प्रसूति-सुविधा, बाल-कल्याण-परिचर्या, एंबुलेंस, संक्रामक रोगों की रोकथाम आदि। यह विपत्तियों की स्थिति में राहत कार्य चलाता है। यह अनुसूचित और जनजातीय क्षेत्रों में दवा, चिकित्सा-उपकरण, वस्त्र दुग्धचूर्ण तथा नकद राशि आदि उपलब्ध कराता है। यह रक्त-बैंक चलाता है तथा स्वास्थ्य,

प्रशिक्षण, प्रसूति एवं बाल कल्याण के क्षेत्रों में कार्यरत संस्थाओं को अनुदान भी देता है।

(च) यूनिसेफ (UNICEF)– यह अनुसूचित एवं जनजातीय क्षेत्रों में बालकों के कल्याण से संबद्ध कार्यक्रमों में सरकारी अभिकरणों को कई प्रकार से सहायता देता है। यह समेकित बाल विकास-सेवाओं (Intergrated Child Development Services) के लिए भी कई तरह की सहायता प्रदान करता है। इसके सहायता-कार्यक्रमों में तकनीकी विशेषज्ञ-सेवाएँ, उपकरण, परिवहन, शिक्षा-सामग्री, कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए नगद सहायता, शिक्षा-संस्थाओं और सरकारी विभागों की तकनीकी और प्रबंधकीय क्षमता का विकास, मूल दवाओं और विटामिनों की व्यवस्था पेयजल की आपूर्ति और सफाई-व्यवस्था के लिए सहायता तथा अनुसंधान और नई प्रायोगित गतिविधियों के लिए नकद सहायता शामिल हैं।

(छ) अन्य अभिकरण (Other Agencies)– अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के क्षेत्र में विभिन्न स्तरों पर कई अन्य स्वैच्छिक संगठन कार्यरत हैं। ईश्वर शरण आश्रम, इलाहाबाद अस्पृश्यता-उन्मूलन-संबंधी कई कार्यक्रम चलाता है। जनजातियों के कल्याण में ठक्कर बापा द्वारा स्थापित सेवा-मंडलों की भूमिका भी प्रशंसनीय रही है। सर्वप्रथम इस प्रकार के सेवा-मंडल की स्थापना भीलों के कल्याण के लिए गुजरात में की गई और बाद में ऐसे मंडल कई राज्यों में स्थापित किए गए। इन मंडलों के मुख्य कार्य शिक्षा और सहकारिता से संबद्ध रहे हैं। रामकृष्ण मिशन भी अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आश्रमों, विद्यालयों एवं छात्रावासों का संचालन करता है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण से संबद्ध कुछ अन्य स्वैच्छिक संगठन हैं- सर्वसेवा-संघ, गांधी-स्मारक निधि, भारतीय बाल कल्याण-परिषद, हिंद स्वीपर्स सेवक समाज, भारतीय समाज उन्नयन मंडल, तथा सुलभ इंटरनेशनल।

अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण के कई सरकारी कार्यक्रमों में स्वैच्छिक संगठनों के सहयोग के महत्व को स्वीकार किया गया है। भारत सरकार का कल्याण-मंत्रालय अखिल भारतीय स्तर के स्वैच्छिक संगठनों को विशेष कार्यक्रमों के लिए अनुदान देता है, जिनमें शैक्षिक और सामाजिक विकास-कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जाती है। इसी तरह, राज्य सरकारों एवं संघ राज्य-क्षेत्रों के कल्याण विभाग भी स्थानीय स्तर के स्वयंसेवी संगठनों को अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण-संबंधी कई कार्यों के लिए अनुदान देते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में इन संगठनों के कार्यकर्ताओं की भूमिका को विशेष महत्व दिया जाता है।

अध्याय-19

बाधितों का कल्याण

बाधित व्यक्ति वे हैं जो अपनी व्यक्तिगत, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक सीमाओं और परिस्थितियों के कारण आपन जीवन सामान्य रूप से बिताने में असमर्थ हैं। वास्तव में वे अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के कारण अपना सामान्य जीवन बिना किसी सहायता के नहीं बिता सकते और इस प्रकार असंतुलन एवं असामंजस्य उनके जीवन की विकट समस्याएँ बन जाती हैं उनका व्यवहार एवं सामाजिक प्रकार्यात्मकता दूषित और कठिन हो जाती है और वे समाज पर भार बन जाते हैं। एक विकासशील, सजग और प्रजातांत्रिक समाज उनके विकास और पुनर्गठन के उत्तरदायित्व से अपने आपको अलग नहीं रख सकता।

विकलांग समाज के उतने ही अनिवार्य अंग हैं जितना स्वस्थ व्यक्ति। उनके उत्थान एवं पुनर्वास हेतु भरसक प्रयत्न करना हमारा नैतिक कर्तव्य है। यह देखा गया है कि अधिकांश मामलों में अशक्त व्यक्तियों में सामान्य जीवन जीने की इच्छा तथा जीवन के प्रति उत्साह होता है और केवल यह प्रमाणित करने के लिए अवसर की प्रतीक्षा होती है कि वह भी अपने सुपुर्द कार्यों को उतने ही प्रभावी ढंग से पूरा कर सकते हैं जैसे अन्य व्यक्ति। थोड़ी सी सहायता से अशक्त व्यक्ति अपने दुर्भाग्य पर विजय पा सकते हैं। उनके कौशल एवं उनकी प्रतिभाओं को राष्ट्र निर्माण गतिविधियों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। अतएव उनमें आत्मविश्वास की भावना का विकास किया जाना है ताकि वे भी जीवन की मुख्य धाराओं में सम्मिलित हो सकें।

बाधितों का वर्गीकरण

हमारे समाज में असामान्य बच्चों के लिए कई नाम प्रचलित हैं। अपंग, अपाहिज, असाध्य, रोगी, जड़मति आदि। अतः हमें पहले इसके लिए एक शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए और वह कदाचित विकलांग ही सर्वोच्च प्रतीत होगा। विकलांगों के प्रकारों का विवरण ही उनका वर्गीकरण है। यह वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है लेकिन सबका उद्‌देश्य विकलांगों की समस्या और सम्भावनाओं को रेखांकित करना है। भारत सरकार के समाज कल्याण विभाग ने बाधित व्यक्तियों को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया है :-

1. नेत्रहीन
2. बधिर या मूक
3. मानसिक दृष्टि से मंदित और

4. शारीरिक व अन्य प्रकार की विकलांगता

इस प्रकार यह जानना जरूरी है कि विकलांग शब्द से तात्पर्य क्या है? जब किसी बालक को सीखने-समझने में विशेष समस्या उत्पन्न होती है तो वह बालक विकलांग कहलाता है। यदि कोई बालक सामान्य बच्चों की तरह देख नहीं सकता है तो वह दृष्टिहीन विकलांग कहलाएगा। इसी प्रकार विकलांगता मानसिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक अथवा शैक्षिक क्षेत्र में रेखांकित की जा सकती है। जिन बच्चों में कोई भी विकलांगता पायी जाती है वह विकलांग कहलाता है। विकलांग बच्चों का व्यवहार, स्वभाव और शारीरिक संरचना प्रायः स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। विकलांगता एक ऐसी अवस्था है जो किसी भी व्यक्ति को किसी भी आयु में उसके सामान्य व्यवहार, कार्य-शक्ति, विचार एवं भाषा को प्रभावित कर शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं भावात्मक असंतुलन पैदा कर देती है। यह असंतुलन ही विकलांगता है।

विकलांगता के कारण

विकलांगता के चार प्रमुख कारण हो सकते हैं :-

1. प्राकृतिक
2. मनुष्य निर्मित
3. मनोसामाजिक
4. अर्थाभाव एवं अज्ञान

1- **विकलांगता के प्राकृतिक कारणों में गर्भ**- दोष, रोग और प्राकृतिक प्रकोप माने जाते हैं।

गर्भ दोष – गर्भकाल के दौरान माताओं की उचित देखभाल न होने के कारण भी कई विकृति उत्पन्न हो जाती हैं।

रोग- रोगी शिशु को उपयुक्त इलाज की बजाय माँ-बाप झाड़ फूंक, गंडा-ताबीज, टोना आदि के चक्कर में पड़ जाते हैं। नतीजे में बच्चे को विकलांगता हाथ लगती है। निर्धनता के कारण भी सही इलाज न मिलने पर रोग असाध्य हो जाता है। जिससे विकलांगता हाथ लगती है।

प्राकृतिक प्रकोप- इसके अन्तर्गत बाढ़ भुखमरी, अनावृष्टि, भूकंप, ज्वालामुखी का फटना आदि आते है। जिसका प्रभाव उतना प्रबल होता है कि किसी भी सावधानी और बचाव के लिए सोचने के पहले ही संकट सिर पर सवार हो जाता है।

2- **मनुष्य निर्मित विकलांगता के अंतर्गत दुर्घटना, युद्ध आदि आते हैं**

दुर्घटना – सार्वजनिक स्थलों, यातायात, यंत्रशाला या कृषि उपकरणों के प्रयोग से जरा भी असावधानी के कारण बच्चे या व्यक्ति दुर्घटना के शिकार हो जाते हैं।

युद्ध – युद्ध भी मानव निर्मित एक भीषण दुर्घटना है। युद्ध से राष्ट्रों को तो अनेक हानियाँ होती हैं। हजारों व्यक्ति भी अपंग हो जाते हैं।

३- मनोसामाजिक विकलांगता के अंतर्गत भावात्मक, मानसिक आदि स्वरूप आते हैं –

(1) **भावात्मक** – कई स्थितियों तथा अवस्थाओं में विषम व्यवहार, अनिर्णय की स्थिति उदासीनता आदि से जीवन में पूर्णरूपेण निराशा व्याप्त हो जाती है। ये प्रभाव भावात्मक रूप से कुसमायोजन का कारण होते है।

(2) **मानसिक** – विशेष मानसिक अवस्था व्यक्ति के सामान्य व्यवहार में विकृति पैदा कर देती है। प्रतिदिन के जीवन से सामान्य व्यवहार भी कई अवसरों पर इतना आवेग उगल देते हैं कि व्यक्ति का सम्पूर्ण मस्तिष्क ही नियंत्रण में नहीं रह पाता है वह असन्तुलित हो जाता है। अंततः यह अवस्था विक्षिप्तावस्था में परिणत हो जाती है।

अर्थाभाव एवं अज्ञान के अंतर्गत अभावग्रस्त और पोषक भोजन का अभाव आदि कारकों से विकलांगता जनित होती है।

(3) **अभावग्रस्त** – अर्थाभाव एवं अज्ञान अनेक बिमारियों की जड़ है। अर्थाभाव के कारण तो लोगों को जीने के लाले पड़ जाते हैं। शरीर रोगों का घर बन जाता है और विकलांगता ग्रहण कर लेता है।

(4) **अज्ञानता**– भारतीय समाज में अनेक अंधविश्वास और रूढ़ियाँ अज्ञानतावश कायम हैं। रोगों का उचित इलाज के बजाय जादू-टोना के चक्कर में पड़ना कई बार बच्चों को विकलांगता की ओर ले जाते हैं।

(5) **पोषक भोजन का अभाव**– परिवार के सदस्यों की संख्या के अनुपात में आय कम होने से पेट पालना मुश्किल हो जाता है। ऐसे में पौष्टिक तत्वों की कमी और अपर्याप्त भोजन बालकों के सहज विकास एवं वृद्धि में बाधक होते हैं। भोजन में कमी और बहुत परिश्रम का शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है और बच्चा विकलांग हो जाता है। कुपोषण से कई आँखों की दृष्टि चली जाती है।

बाधितों की समस्या

शारीरिक असमर्थता– शारीरिक दृष्टि से व्यक्ति दो प्रकार से असमर्थ होते हैं। एक तो वह जन्म से ही अपूर्ण पैदा होता है या बाद में किसी बीमारी से या घटना के फलस्वरूप अंगहीन हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को हम शारीरिक अपूर्णता की श्रेणी में रख सकते हैं। दूसरे प्रकार में हम वैसे व्यक्ति की गिनती करते हैं जो शारीरिक दृष्टि से अपूर्ण नहीं है परन्तु सभी अंगों के पूर्ण होते हुए भी किसी शारीरिक रोग का शिकार होकर अपने को असमर्थ पाता है। इस प्रकार शारीरिक अपूर्णता और शारीरिक रोग दोनों ही व्यक्ति को असमर्थ बनाते है। शारीरिक अपूर्णता से हमारा तात्पर्य व्यक्ति की उस अवस्था से है जिसमें उसकी शारीरिक शक्ति किसी अंग की कमी से स्थायी रूप से क्षीण हो जाती है।

शरीरिक अपूर्णता दो प्रकार की होती हैं -

1. मस्तिष्क यंत्रों को प्रभावित करने वाली

2. मांसपेशियों व हड्डियों को प्रभावित करने वाली

इसमें पहले अपूर्णता व्यक्ति के संज्ञापन शक्ति को क्षीण करती है और दूसरी उसके हस्तव्यवहार को। अंधापन शक्ति की क्षीणता के फलस्वरूप होती है तथा अंगहीनता तथा अंगसंचालन की कमी विशेषतया गमनागमन और हस्त व्यवहार शक्ति की क्षीणता के फलस्वरूप होती है।

बाधितों के विभिन्न प्रकारों का विवरण

अ- नेत्रहीन – नेत्रहीनता का सामान्य अर्थ दृष्टि के पूर्ण अभाव से है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जन्मजात नेत्रहीन और कुछ अन्य प्रकार के नेत्रहीन व्यक्तियों को छोड़कर अन्य नेत्रहीन व्यक्ति वास्तव में पूर्ण रूप से दृष्टिरहित नहीं रहते, इन व्यक्तियों को नेत्रहानियों की परिभाषा में सम्मिलित किया जाता है, जो पूर्णतः दृष्टिविहीन नहीं है।

नेत्रहीनों की समस्या – नेत्रहीनों का जीवन बड़ा ही कष्टदायी होता है। प्राचीन काल में तो नेत्रहीनों के ऊपर कभी ध्यान नहीं दिया जाता था। उसे बिना किसी देखभाल के छोड़ दिया जाता था और वह भिक्षा मांग कर अपनी जीविका चलाता था। ऐसे बच्चे जो जन्म से अंधे होते थे, फेंक दिये जाते या मार दिये जाते थे। दुनिया के किसी भी भाग में अंधे को रखना अच्छा नहीं समझा जाता था।

नेत्रहीनता के कारण – नेत्रहीनता मूलतः एक चिकित्सकीय समस्या समझी जाती है, परन्तु भारतीय संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि इसके कारणों की दृष्टि से भारतीय जनसंख्या की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितयाँ महत्वपूर्ण हैं जो निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट है :-

संक्रमण रोग– संक्रमण रोगों के दौरान असावधानी के कारण रोगी दृष्टिहीन हो जाते हैं। रक्त का विकार भी दृष्टिहीनता के कारण बन जाता है। बालकों की नेत्रहीनता अधिकतर कुपोषण के कारण होती है। आर्थिक और सामजिक कारक मुख्य रूप से भारतीय ग्रामीण जनसंख्या के अंसतोषजनक और असन्तुलित अहार के लिए उत्तरदायी है। मोतियाबिन्द एक ऐसी आँख की बीमारी है जो उपचार योग्य है परन्तु अज्ञानता के कारण लोग इलाज नहीं करवाते और नेत्रहीनता के शिकार होते हैं।

दुर्घटना व चोट – मारपीट व दुर्घटना व्यक्ति को दृष्टिहीन बना देती है। बालक के जन्म के समय एक साधारण चोट भी नेत्रहीनता का कारण बन सकती है। औद्योगीकरण के साथ-साथ औद्योगिक दुर्घटनायें और उनसे उत्पन्न होने वाली अयोग्यतायें और अक्षमतायें भी बढ़ती जा रही हैं। नेत्रहीनता उनका भी एक परिणाम है।

वंशानुगत प्रभाव– परिवार में किसी भी व्यक्ति की अंधता संतानादि पर अपना प्रभाव छोड़ती है परिणाम स्वरूप बालक वंशानुगत नेत्रविकलांगता को प्राप्त हो जाता है।

साधारण रोग आँखों का रोग या शरीर के अन्य किसी रोग के कारण भी दृष्टिहीनता सम्भव है। परिवेश जन कारकों एवं धूल, धुँआ और धूप भी आँखों के रोग और दृष्टिहीनता का कारण भी बन जाते हैं।

विषैले पादर्थों का प्रयोग, विष या मादक द्रव्यों के सेवन से भी व्यक्ति अंधेपन का शिकार होता है।

निराकरण के उपाय – नेत्रहीनों की समस्या के निराकरण के लिए सर्वप्रथम हमें अंधापन को बढ़ाने वाले कारणों को दूर करना उचित होगा। तत्पश्चात हमें नेत्रहीनों के लिए ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उन्हें ज्ञात न हो कि अंधा होने के कारण उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। नेत्रहीनों को शिक्षा देकर इस योग्य बना दिया जाये कि वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हर तरह से प्रयत्न कर सके, शिक्षा देकर उन्हें आत्मनिर्भर बना देना चाहिए। वे अपनी रोजी स्वयं कमा सकें तथा किसी पर आश्रित रह कर जीवन यापन न करना पड़े। शिक्षा और अभ्यास से एक नेत्रहीन भी उतना ही कारगर हो सकता है जितना कि आँख वाला। हमारे देश में उनकी स्थिति दयनीय है। उन्हें गली कूचों में भटकना पड़ता है तथा भिक्षा पर जीवनयापन करना पड़ता है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि जगह-जगह नेत्रहीनों के लिए स्कूल खोले जायें जहाँ उन्हें समुचित शिक्षा देकर ऐसा बना दिया जाये कि वे भिक्षावृत्ति को छोड़कर अन्य उत्पादकों में अपना हाथ बंटा सकें।

ब– मूकबधिर – मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज में प्रयोग करने के लिए स्वाभाविक रूप से भाषा प्राप्त है। इस भाषा के मौखिक व्यवहार से व्यक्ति मनोभावों और अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। वाणी द्वारा वह प्राकृतिक दृश्यों, तथ्यों और घटनाओं को प्रकट करता है। इस मौखिक अभिव्यक्ति की सिद्धि वाक् शुद्धता पर निर्भर करती है। वाक् विकलांगता के अन्तर्गत अस्पष्ट उच्चारण, असंगत ध्वनि, हकलाना, तुतलाना तथा ध्वनि न उत्पन्न न कर पाना आदि व्यवहार सम्मिलित हैं। ऐसा समक्षा जाता है कि अधिकतर बहरापन मनुष्य को गूंगा बनाने का कारण है, क्योंकि सुनने की शक्ति के अभाव में उसके बोलने की क्षमता प्रभावित होने लगती है।

मूकबधिरता के कारण – कुछ तो जन्म से ही बहरे और गूंगे पैदा होते हैं, कुछ बधरिता का कारण पैतृक पारिवारिक, आर्थिक व सामाजिक हो सकता है, कुछ बाद में बीमारी के फलस्वरूप मूक और बधिर होते हैं। निम्नलिखित बीमारियों का इसमें विशेष हाथ रहता है :- माता द्वारा शिशु को हस्तान्तरित की गयी बीमारी बधिरता का कारण बनती है। कुछ जो अन्य कारक बहरे पन में योगदायी हैं, उनमें गले की बीमारियों चेचक, कण्ठशूल, तेज बुखार, मैनिनजाइटिस,

मियादी, बुखार, क्षय-रोग, निमोनिया, कनर्वर आदि उल्लेखनीय है। गर्भकाल में स्त्रियों को कुछ दवायें देने का परिणाम बालक को बधिर बना सकता है। सामाजिक एवं आर्थिक कारणों में सन्तुलित आहार का अभाव, रहन-सहन का निम्नस्तर, असंतोषजनक चिकित्सा सुविधायें और सम्बन्धित ज्ञान का अभाव विशेष स्थान रखते हैं। बधिरता अचानक हो सकती है और धीरे-धीरे भी विकसित हो सकती है।

बधिर व्यक्ति विभिन्न प्रकार की बाधाओं के शिकार होते हैं। उनकी मूल समस्या संचार का अभाव है। न सुन पाने का एकमात्र परिणाम यह होता है कि क्षमता रखते हुये भी वह बोल नहीं पाता है वह केवल इशारों से अपने विचार प्रकट करता है और इस प्रकार उसका संवेगात्मक एवं मानिसक विकास शिथिल होता है।

विकलांगता के स्वरूप

(स) मानसिक दृष्टि से मंदित – मानसिक विकलांगता के अंतर्गत मंदबुद्धि बालक से लेकर जड़मति तक आते हैं। मानसिक अस्वस्थता दो प्रकार की होती है। (अ) मानसिक असमान्यता (ब) मानस मंदन मानसिक असमान्यता पैतृक, प्राप्य या दोनों प्रकार की हो सकती है। जबकि मानसिक मंदन पैतृक, पैदायशी, दुर्घटना का पूर्वजन्म या उत्तरजन्म रोगों के कारण होती है। शिक्षा के क्षेत्र में मंदबुद्धि बालक का मतलब उस मानसिक विकलांग से है जो अपनी सूझ-समझ, तर्कशक्ति और अर्थ-बोध में सामान्य बालकों से कम होता है। ये बालक शिक्षा ग्रहण करने में ही मंद नहीं होते बल्कि वे सामाजिक व्यवहार, भावात्मक स्थिति तथा समस्याओं को समझने और समाधान को जुटाने में भी मंद होते है। इस वर्ग के बालक सामाजिक अनुकूलन ग्रहण करने में समाज के सामान्य व्यक्ति से निम्न स्तर के होते हैं।

मानसिक विकलांगता के कारण – मानसिक विकलांगता के प्रमुख दो कारण होते है :-

1. अन्तर जात
2. वाह्य जात

अन्तरजात कारणों के अंतर्गत दो कारण मुख्य माने जाते हैं :-

(अ) जन्मगत

(ब) प्रजनन सम्बन्धी

जन्मगत कारणों का संबंध अंग संरचना से होता है। अंग संरचना पर दबाव पड़ने के कारण मस्तिष्क का विकास बाधित हो जाता है। प्रजनन सम्बन्धी कारणों में गर्भधारण के समय स्त्री, पुरुष का रोगी होना, गर्भाशय में बालक के विकास में अवरोध, गर्भ विकृति, जननी का गर्भधारण के बाद मानसिक यंत्रणा या शारीरिक दंड सहना आदि। जन्मजात कारणों में जुड़े अन्य कारण बालक के उत्पन्न होते समय घटित होते हैं जैसे जन्म के समय उचित देखभाल न होना, मस्तिष्क पर चोट लग जाना या अन्य असावधानी का प्रभाव।

वाह्य कारणों में (अ) रोग और दुर्घटना (ब) मनोसामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव रोग और दुर्घटना गर्भावस्था से लेकर जीवनपर्यन्त कभी भी घट सकती है। यह दुर्घटना की प्रकृति पर निर्भर है कि किस प्रकार कि विकलांगता अर्जित होती है। प्राणवायु की क्षति, शारीरिक ज्वर की तीव्रता भी मस्तिष्क में विकार पैदा कर देती है। कुछ दुर्घटनाएँ किसी भी आयु में मस्तिष्क को असाधारण अवस्था में पहुँचा देती है। फलस्वरूप व्यक्ति मानसिक विकलांग हो जाता है।

बालक पर गर्भ से ही वातावरण का प्रभाव पड़ने लगता है। जन्म के बाद वह सीधे समाज और संस्कृति के परिवेश में आ जाता है। वह परिवार का वातावरण तथा उनकी आर्थिक स्थिति भी बच्चों पर प्रभाव डालते हैं। कुपोषण का कुप्रभाव पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक प्रभाव भी विकलांगता प्रदान करते हैं। भूत-प्रेत कथाओं और भयावह रीति-रिवाजों से भी मानसिक विकलांगता उत्पन्न हो सकती है। मादक द्रव्यों का सेवन से तो मानसिक विकलांगता को बहुत बल मिलता है। अज्ञान और कामुकता भी मस्तिष्क की बहुत क्षति कर बैठते हैं।

वस्तुतः इन कारणों के निवारण और घटित न होने देने से बहुत से बच्चों को मानसिक विकलांगता से बचाया जा सकता है।

द– अन्य प्रकार की शारीरिक विकलांगता – शारीरिक दृष्टि से बाधित व्यक्ति वे हैं जिनकी शारीरिक क्षमता उनके किसी शारीरिक अंग के हाथ, विकृति या काजिल के कारण खराब हो गई। उनकी यह शारीरिक बाधाएँ कुछ ऐसी बीमारियों या दुर्घटनाओं के कारण उत्पन्न होती हैं जिसका यदि उपचार भी हो गया तो भी वे अपने पीछे कुछ ऐसी अक्षमता छोड़ जाती हैं जो प्रायः स्थायी होती है। ऐसे व्यक्तियों का सामन्जस्य वास्तव में उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण समस्या बन जाती है, क्योंकि बाधाओं के स्थायी रूप के कारण जीवन के प्रति वे असंतुष्ट और निराश हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार की मानसिक विषमताओं का शिकार होते हैं और निराशावादी मनोवृत्ति को अपनाते हैं। उनके उपचार और पुनर्वासन की प्रक्रिया ऐसी विस्तृत और व्यापक होनी चाहिए जिसमें उनके उपयुक्त सामंजस्य प्राप्त हो सके।

य– अन्य प्रकार की शारीरिक विकलांगता के कारण – शारीरिक बाधाओं के कारणों को तीन श्रेणियों में देखा जाता है :-

(अ) ये बाधाएँ जो जन्मजात होती हैं जैसे विकृत हाथों या पैर के साथ पैदा हुए बालक।

(ब) ऐसी चोट एवं दुर्घटनाएं जिनके कारण हड्डी टूट जाती है, जोड़ हट जाते हैं और कभी-कभी शरीर के किसी अंग को काटना पड़ता है।

(स) बीमारियाँ जैसे पीलियो, लकवा, क्षयरोग, कुष्टरोग और वातरोग आदि।

इन बीमारियों और बाधाओं से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता का मुख्य उद्देश्य उनको पुनर्वासन प्रदान करना है। पुनर्वासन का तात्पर्य वास्तव में उस उपचार पद्धति से है जो बाधित

व्यक्तियों को उनकी पूर्ण-शारीरिक, सामाजिक, व्यावसायिक और आर्थिक क्षमता को पुनर्वासित कर सके। आधुनिक चिकित्सा और उपचार की विधियां इस उद्देश्य की प्राप्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं।

विकलांगों की सहायता के उद्देश्य

विकलांगों की सहायता का प्रमुख लक्ष्य इनके पुनर्वासन के लिए आवश्यक प्रयास करना है क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों को जीवन की मुख्यधारा में तभी जोड़ा जा सकता है। जबकि उन्हें आत्मनिर्भर बनाया जाए। विशिष्ट रूप से विकलांगों के विकास के उद्देश्य इस प्रकार हैं :-

* विकलांगों के लिए शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।
* विकलांगों के सेवायोजन की व्यवस्था करना।
* विकलांगों को उनकी विकलांगताओं से सम्बन्धित सहायक संयंत्रों को खरीदने के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध करना।
* विकलांगों को चिकित्सकीय एवं स्वास्थ्य संबंधी सुविधायें उपलब्ध कराना।
* विकलांगों को आवागमन की सुविधाएँ प्रदान करना।
* विकलांगों को कानूनी संरक्षण उपलब्ध कराना।

समस्या समाधान के उपाय

विकलांग व्यक्तियों के लिए उपयुक्त व्यवसाय

विभिन्न प्रकार के विकलांग व्यक्तियों द्वारा किये जा सकने वाले कुछ व्यवसायों का विवरण निम्नलिखित है :-

(अ) नेत्रहीन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त व्यवसाय- सामान्यतया नेत्रहीन व्यक्ति वे ही सभी कार्य कर सकते हैं जिन्हें करने के लिए दृष्टि की आवश्यकता न हो। तथापि उन्हें निम्नलिखित व्यवसायों में अधिक सरलतापूर्वक सेवायोजित किया जा सकता है :-

(1) विभिन्न स्तरों पर शिक्षा देने का कार्य

(2) गाने बजाने से संबधित कार्य।

(3) टंकण एवं कार्यालय से संबधित कुछ कार्य।

(4) मोमबत्ती बनाने का कार्य।

(5) कुर्सी, टोकरी बनाने का कार्य।

(6) रस्सी बुनने, सूत बनाने का कार्य।

(7) लिफ्ट परिचालन का कार्य।

(8) कागज के डिब्बे बनाने का कार्य।

(9) बक्से पर लेबल लगाने का कार्य।

(10) लिफाफे बनाने का कार्य।

(11) टेलीफोन आपरेटर का कार्य इत्यादि।

(ब) अन्य प्रकार के शारीरिक बाधित व्यक्तियों के लिए उपयुक्त व्यवसाय– यद्यपि सामान्य तौर पर इस श्रेणी में आने वाले बाधित व्यक्ति केवल उन कार्यों को छोड़कर जो विशिष्ट शारीरिक अक्षमता के कारण नहीं किए जा सकते, अन्य सभी कार्य कर सकते हैं फिर भी इस वर्ग के लिए सामान्यता उपयुक्त कार्य इस प्रकार हैं :-

(1) सभी स्तरों पर अध्यापन का कार्य (2) सैन्य एवं पुलिस सेवाओं को छोड़कर सभी सेवाओं में अधिकारी का कार्य (3) सम्पादक, प्रूफरीडर, कम्पोजीटर, प्रेस मैन इत्यादि का कार्य (4) लाइब्रेरियन का कार्य (5) सभी वर्गों में लिपिक का कार्य (6) स्वगंतकार्त एवं विक्रेता का कार्य (7) सभी वर्ग के इंजीनियरिंग संबंधी कार्य (8) सभी प्रकार के मानचित्र तैयार करने का कार्य (9) बढ़ईगीरी तथा लोहारगीरी का कार्य (10) घड़ीसाज का कार्य (11) टेलीफोन मैकेनिक एवं टेलीफोन आपरेटर का कार्य इत्यादि।

(स) मानसिक रूप से मंदता व्यक्तियों के लिए उपयुक्त व्यवसाय। ये व्यवसाय इस प्रकार हैं :-

(1) डिब्बे बनाने का कार्य।

(2) मोमबत्ती बनाने का कार्य।

(3) बांस की तीलिया बनाने का कार्य।

(4) डलिया बनाने का कार्य।

(5) रस्सी बनाने का कार्य।

(6) चटाई बनाने का कार्य।

(7) खजूर या बांस के पंखे बनाने का कार्य इत्यादि।

(द) मूक बधिर व्यक्तियों के लिए उपयुक्त व्यवसाय। इस श्रेणी के व्यक्तियों के लिए निम्नलिखित व्यवसाय उपयुक्त हैं :-

(1) सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, रफूगीरी इत्यादि का कार्य।

(2) टर्नर, फिटर, वेन्डर, लोहारगीरी, बढ़ईगीरी इत्यादि का कार्य।

(3) फोटोग्राफी का कार्य।

(4) कपड़ा छपाई एवं रंग साजी का कार्य।

(5) टंकण एवं मानचित्र सर्वोपरि का कार्य।

(6) शीट मेटल का कार्य।

(7) सफाई एवं मिस्त्री का कार्य।

(8) डाक बांटने का कार्य आदि।

विकलांग व्यक्तियों को प्राप्त संवैधानिक एवं विधिक संरक्षण :- भारतवर्ष में विकलांग व्यक्तियों से संबन्धित विधान, नियम एवं नियमावलियों का अभाव है। इस संदर्भ में इंडियन लेप्रासी एक्ट, 1898 एवं इंडियन ल्यूनैसी ऐक्ट, 1912 का उल्लेख किया जा सकता है। आधुनिक अधिनियमों के अंतर्गत मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987 तथा विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों के लिये समान अवसर अधिकार एवं पूर्ण सहभागिता अधिनियम 1995 उल्लेखनीय है।

अन्य विधिक संरक्षण- (अ) आयकर अधिनियम, 1961 के अनु0 80 यू एवं 80 डी के अंतर्गत विकलांगों को छूट दी गई है।

(ब) मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987 के अन्तर्गत भी विकलांगों के संरक्षण हेतु कुछ प्रावधान किये गये हैं। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

(1) स्वैच्छिक रूप से इलाज करवाने हेतु इच्छित ज्ञान न रखने वाले एवं इलाज के दौरान निरुद्ध किए गए मानसिक रूप से बीमार व्यक्तियों को मनोचिकित्सालयों एवं नर्सिंग गृहों में भर्ती को नियमित करना एवं इनके अधिकारों को संरक्षित करना।

(2) मानसिक रूप से अस्वस्थ्य व्यक्तियों से समाज का संरक्षण करना।

(3) मनोचिकित्सालयों एवं नर्सिंग गृहों में बिना किसी वांछनीय कारण के निरुद्ध नागरिकों को संरक्षण प्रदान करना।

(4) मनोचिकित्सालयों एवं मनश्चिकित्सकीय नर्सिंग गृहों में भर्ती हुए मानसिक रोगियों के अनुरक्षण शुल्कों के उत्तरदायित्व को नियमित करना।

(5) अपने कार्यों के करने में असमर्थ मानसिक रोगियों के लिए संरक्षकत्व की सुविधा उपलब्ध कराना।

(6) मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं के लिए केन्द्रीय प्राधिकरण एवं राज्य प्राधिकारियों की स्थापना कराना।

(7) मानसिक रोगियों के लिए स्थापित होने वाले मनश्चिकित्सकीय अस्पतालों एवं मनश्चिकित्सकीय नर्सिंग गृहों को लाइसेंस देने एवं इन पर नियंत्रण करने की शक्तियों को नियंत्रित कराना।

(8) कुछ विशिष्ट प्रकार के मानसिक रोगियों को राज्य के खर्चे पर कानूनी सहायता उपलब्ध कराना।

यह कानून सारे भारतवर्ष पर लागू है, इस कानून के अन्तर्गत मानसिक रोगियों के संरक्षण अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा मानसिक रोगियों के इलाज के लिए स्थापित मनश्चिकित्सकीय अस्पताल एवं मनश्चिकित्सकीय नर्सिंग गृह एवं मानसिक रोगियों के स्वास्थ्य लाभ हेतु स्थापित गृह आते हैं।

अधिनियम के प्रमुख प्राविधान

विकलांग व्यक्तियों हेतु मानसिक स्वास्थ्य प्राधिकरण – इसके अन्तर्गत केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों को मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं के लिए प्राधिकरण स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। इसका प्रमुख कार्य केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा अपने क्षेत्रों में मानसिक स्वास्थ्य सेवायें नियमित एवं विकसित तथा क्रियान्वित करना है। इसके साथ-साथ इनका कार्य मनश्चिकित्सकीय अस्पतालों एवं मनोचिकित्सकीय नर्सिंगहोम सेवाओं का अधीक्षण करना है। इस प्राधिकरण के कुछ मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :-

(i) मनोचिकित्सकीय अस्पतालों एवं मनश्चिकित्सकीय गृहों की स्थापना एवं अनुरक्षण।

(ii) मनोचिकित्सकीय अस्पताल अथवा मनश्चिकित्सकीय नर्सिंग गृहों के स्थापित एवं अनुरक्षित करने हेतु लाइसेंस सम्बन्धी प्राविधान।

(iii) मनोचिकित्सकीय अस्पताल अथवा मनश्चिकित्सकीय नर्सिग गृहों में भर्ती का प्राविधान।

(iv) केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में 16 वर्ष की आयु से कम के व्यक्तियों द्वारा शराब एवं नशीली दवाओं के आदतन प्रयोग के कारण जनित मानसिक व्याधियों के उपचार हेतु मनचिकित्सकीय अस्पताओं एवं नर्सिग गृहों की स्थापना का प्रावधान।

(v) इस विधान के लागू होने के बाद कोई व्यक्ति या संगठन लाइसेंस लेकर ही मनोश्चिकित्सकीय अस्पताओं अथवा मनोश्चिकित्सकीय नर्सिग गृहों को स्थापित एवं अनुरक्षित कर सकता है।

(vi) मानसिक बाधित व्यक्तियों को सहायता करने वाले व्यक्तियों को सरकार द्वारा स्थापित लाइसेंस प्राधिकरण के समक्ष लाइसेंस के लिए आवेदन पत्र प्रस्तुत करने पर उस सम्बन्ध में सहानुभूति पूर्ण ढंग से विचार किया जायेगा। यदि आवेदनकर्ता मानसिक रोगियों की भर्ती इलाज एवं संरक्षण के लिए कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम सुविधाओं को उपलब्ध कराने में सक्षम है एवं वह ऐसे अस्पताल या नर्सिग गृह किसी मनश्चिकित्सकीय अभिकर्मी की देखरेख में कार्यरत है या कार्यरत रहेगा तो उसे लाइसेंस दिया जायेगा।

(अ) लाइसेंस किसी अन्य व्यक्ति या संगठन को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है।

(ब) यदि कोई लाइसेंसधारक व्यक्ति मनश्चिकित्सकीय या नर्सिग गृह को चलाने में असमर्थ है या उसकी मृत्यु हो जाती है तो लाइसेंस धारक या लाइसेंस धारी की मृत्यु होने पर इसके उत्तराधिकारी सम्बन्धित प्राधिकरण को सूचना देंगें तथा यदि उत्तराधिकारी मनोचिकित्सकीय नर्सिग गृह चलाने का इच्छुक है तो उसे तीन महीने के अन्दर आवेदन पत्र प्रस्तुत करना होगा और यदि प्राधिकरण संतुष्ट होता है तो उसे लाइसेंस जारी कर देगा।

(स) लाइसेंस जारी होने की तिथि से पाँच वर्ष तक लाइसेंस मान्य रहेगा। (अनु-9)

कोई भी रोगी अपने मानसिक रोग के इलाज के लिए स्वैच्छिक रोगी के रूप में सम्बन्धित

क्षेत्र के चिकित्साधिकारी को आवेदन दे सकता है।

(vii) मानसिक रूप से बीमार अवयस्क व्यक्ति का अभिभावक उसके एक स्वैच्छिक रोगी के रूप में इलाज के लिए मनोचिकित्सालय या नर्सिंग होम के चिकित्सा अधिकारी से निवेदन कर सकता है। (अनु-16)।

(viii) स्वैच्छिक रोगी के रूप में भर्ती के लिए चिकित्साधिकारी अपनी जाँच कर सकता है तथा उसकी भर्ती के विषय में निर्णय ले सकता है। भर्ती होने पर सम्बन्धित रोगी को अस्पताल या नर्सिंग होम के नियमों का पालन करना होता है। (अनु-17)

वयस्क स्वैच्छिक रोगी तथा अवयस्क स्वैच्छिक रोगी के अभिभावक द्वारा आवेदन किये जाने पर रोगी को अस्पताल या नर्सिंग होम से छोड़ा जा सकता है।

विशेष परिस्थितियों में मानसिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति को उसके सम्बन्धी या दोस्त के आवेदन पर मनश्चिकित्सकीय या नर्सिंग गृह का चिकित्साधिकारी भर्ती कर सकता है, इस प्रकार के रोगी को 90 दिन से अधिक भर्ती नहीं किया जा सकता। (अनु-19)

(ix) **आदेश पत्रों में अभिग्रहण आदेश** – अभिग्रहण आदेश के लिए आवेदन पत्र मनोचिकित्सकीय अस्पताल अथवा नर्सिंग गृह के चिकित्साधिकारी को मानसिक रोगी के पति अभिभावक अथवा अन्य सम्बन्धी द्वारा किया जा सकता है। यदि चिकित्साधिकारी की राय में मानसिक रोगी को अस्पताल या नर्सिंग होम में इलाज हेतु छः महीने से अधिक निरुद्ध करना है या मानसिक रोगी की रक्षा हेतु उसे निरुद्ध करना आवश्यक है तो उसे स्थानीय सीमा के अन्तर्गत आने वाले मजिस्ट्रेट की अनुमति लेना आवश्यक होगा। इस प्रकार अधिनियम के कुछ प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :-

(1) मानसिक रूप से अस्वस्थ्य कैदी की भर्ती एवं उसका निरुद्ध किया जाना,

(2) मानसिक रोगियों की जाँच, मुक्ति अवकाश प्राप्त एवं विस्थापना,

(3) मानसिक रूप से ग्रस्त व्यक्तियों के मानवाधिकारों का संरक्षण,

विकलांग व्यक्तियों के पुनर्वास से सम्बन्धित कार्यक्रम

सरकारी क्षेत्र में पुनर्वास सेवाओं का इतिहास अर्वाचीन है। ऐतिहासिक रूप में विकलांगों को सेवा प्रदान करने का कार्य पहले स्वयंसेवी क्षेत्र तक ही सीमित था। समाज कल्याण सेवा, विशेषतया चिकित्सा एवं पुनर्वास के क्षेत्रों में सहायता अधिकतर मिशिनरी कार्यकर्ता के द्वारा ही दी जाती थी, जो सामाजिक एवं आर्थिक विकास के सामान्य प्रोग्रामों का एक अंग था। परिणाम स्वरूप अशासकीय क्षेत्रों में अनेक समितियों की स्थापना हुयी जो रोगी एवं अशक्त एवं निराश्रित एवं विकलांग व्यक्तियों की देखभाल करती थी। स्वंतत्रता प्राप्ति के पश्चात सरकार विकलांगता को रोकने, पुनर्वास सेवायें प्रदान करने, प्रशिक्षण द्वारा कार्मिकों एवं संसाधन व्यक्तियों के विकास अनुसंधान की सुविधा प्रदान करने एवं क्षेत्रीय परीक्षणों द्वारा सेवाओं को

बेहतर बनाने, सामाजिक एवं आर्थिक उपायों तथा विकास के लाभों को जनसंख्या तक पहुँचाने के लिए कार्यकारी आदेशों एवं अधिनियमों पर ध्यान केन्द्रित कर रही है।

विकलांगों के पुनर्वास हेतु चलाये जा रहे प्रमुख कार्यक्रम इस प्रकार हैं

१– निर्योग्यताओं की रोकथाम –

भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा निर्योग्यताओं की रोकथाम के लिए टिटनेस, पोलियो, डी०पी०टी० के विरुद्ध टीकाकरण जैसे कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। इसके अलावा नेत्रहीनता ही रोकथाम तथा नियंत्रण और कुपोषण के निवारण हेतु कार्यक्रम तथा स्वास्थ्य एवं पोषण के संबंध में माताओं को जागृत एवं शिक्षित करने के राष्ट्रीय कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

२– स्वयंसेवी संगठनों की सहायता एवं अनुदान उपलब्ध कराने की योजना –

स्वयंसेवी संगठनों को अनुदान देने से संबंधी भारत सरकार के सामाजिक न्याय एवं सशक्तीकरण मंत्रालय की दो प्रमुख योजनाएँ हैं। इनमें से एक योजना के अंतर्गत आवर्ती एवं अनावर्ती खर्च के लिए स्वयंसेवी संगठन के बजट के 90 प्रतिशत अंश तक अनुदान राशि प्रदान की जाती है। सहायता प्राप्त करने वाले संगठनों से यह आशा की जाती है कि शेष 10 प्रतिशत धनराशि स्वयं अपने संसाधनों से जुटाकर विकलांगता को रोकने, विशेष शिक्षा देने एवं कुशलता सिखाने, प्रशिक्षित जनशक्ति तैयार करने, शारीरिक एवं व्यावसायिक चिकित्सा जैसी चिकित्सकीय सेवाएं प्रदान कर तथा रोजगार उपलब्ध कराने में सहायक सिद्ध हों। भवनों के निर्माण तथा सामान को खरीदने के लिए भी धनराशि उपलब्ध करायी जाती है।

सामाजिक न्याय एवं सशक्तिकरण मंत्रालय की दूसरी योजना के अंतर्गत स्वयं विकलांग व्यक्तियों को सहायता उपलब्ध करायी जाती है ताकि वे कृत्रिम अंगों की खरीद करें व लगा सकें। कृत्रिम अंगों के अतिरिक्त ठीक से सुन पाने वाले श्रवण उपकरण, दृष्टिहीन व्यक्तियों को ब्रेल स्केट, ब्रेल मापी उपकरण, ब्रेल लेखक एवं टेपरिकार्डर तथा स्पालिस्टक व्यक्तियों को कार्नर सीटे तथा प्रोन बोर्ड उपलब्ध कराये जाते हैं।

3– राष्ट्रीय विकलांग संस्थानों की स्थापना

सामाजिक न्याय एवं सशक्तिकरण मंत्रालय के अधीन विकलांगता के विभिन्न क्षेत्रों के लिए चार राष्ट्रीय संस्थानों की स्थापना की गई है :-

(अ) राष्ट्रीय अस्थि विकलांग संस्थान –

इसकी स्थापना भारत सरकार के अधीन, कल्याण मंत्रालय द्वारा 1978 में कलकत्ता में एक स्वायुत्त संस्था के रूप में की गई थी। गत्यातक विकलांगों के कल्याण के लिए देश का यह शीर्षस्तरीय संगठन है। यह एक प्रभावकारी बहुउद्देशीय संगठन है। यह संस्थान अंतः रोगियों

एवं वाह्य रोगियों की चिकित्सा व्यवस्था के साथ-साथ उनके पुनर्वास हेतु शोध एवं प्रशिक्षण का आयोजन भी करता है। इस संस्थान द्वारा निम्नलिखित सुविधाएं एवं सेवाएं उपलब्ध करायी जाती हैं :-

(1) **प्रशिक्षण**- अस्थि विकलांगों के उपयुक्त सुविधाएं एवं सेवाएं उपलब्ध कराने हेतु प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी को दूर करने की दृष्टि से इस संस्थान द्वारा लम्बी अवधि के तीन : भौतिक चिकित्सा, व्यावसायिक चिकित्सा एवं कृत्रिम अंग निर्माण संबंधी डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलाये जाते हैं।

(2) **अनुसंधान** - संस्थान अस्थि विकलांगों के पुनर्वास से संबंधित सभी पक्षों पर अनुसंधान प्रायोजित एवं आयोजित करता है। पुनर्वास प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाने के लिए यह बहुत विषयों पर अनुसंधान कार्य अपने हाथों में लेता है जिसमें यह क्षेत्र सम्मिलित है। इस क्रम में उसके अन्य कार्य है : कम लागत वाले सहायकों एवं यंत्रों को डिजाइन करना, सुधारात्मक उपचार विधियाँ, विकलांगों की समस्याओं का पता लगाना, जनता में जागरुकता प्रसार हेतु सामग्री तैयार करना।

(3) **सहायकों एवं यंत्रों का मानवीकरण** - संस्थान सहायकों एवं यत्रों के मानकीकरण तथा उनके निर्माण एवं वितरण हेतु सबसे अधिक प्रयास करता है। विकलांग वैज्ञानिक चिकित्सकीय एवं पैरा मेडिकल कर्मियों के साथ मिलकर देशी सामग्री से सहायकों एवं यंत्रों के निर्माण करने हेतु कार्य करते हैं ताकि कम मूल्य पर उपकरण प्राप्त हो सकें।

(4) **पुस्तकालय एवं सूचना सेवाएँ**- पुस्तकालय एवं सूचना सेवा विभाग पुनर्वास के क्षेत्र में कार्यरत विद्यार्थियों एवं व्यावसायियों के लिए सन्दर्भीय पुस्तकालय के रूप में सेवा करता है। विभाग ने हाल ही में अस्थि विकलांगों के लिए भारत में कार्य कर रहे संगठनों को डायरेक्टरी प्रकाशित की है। शीघ्र ही इसका एक कम्प्यूटर प्रभाग भी स्थापित किया जाएगा जिसे बाद में राष्ट्रीय विकलांग एवं पुनर्वास सूचना केन्द्र नई दिल्ली के साथ संयोजित कर दिया जाएगा।

(5) **विशेषीकृत सेवाएँ** - ग्रामीण विकलांगों हेतु विस्तार सेवा की व्यवस्था की गयी है। यहाँ कैम्प के द्वारा ग्रामीणों के उपचार हेतु कार्य राज्य सरकारी एवं केन्द्र सरकार की सहायता से किया जा रहा है।

(6) **विस्तार सेवाएँ** - ग्रामीण विकलांगों हेतु विस्तार सेवा की व्यवस्था की गयी है। यहाँ कैम्प के द्वारा ग्रामीणों के उपचार हेतु कार्य राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार की सहायता से किया जा रहा है।

(7) **सहयोगी टीम उपागम**- व्यापक पुनर्वास प्रक्रिया में प्रत्येक रोगी की शारीरिक, भावनात्मक, सामाजिक एवं व्यावसायिक आवश्यकताओं पर उसके व्यक्तिगत उद्देश्यों की कार्यपरिधि के अंदर विचार किया जाता है। इस प्रक्रिया की सफलता को सुनिश्चित करने के लिए टीम उपागम

का प्रयोग करता है। जिसमें रोगी, परिवार, चिकित्सकीय कार्मिक एवं अन्य व्यवसायी, व्यावसायिक, मनोवैज्ञानिक परामर्शदाता एवं सामाजिक कार्यकर्ता सम्मिलित होते हैं।

(ब) राष्ट्रीय दृष्टि विकलांग संस्थान –

नेत्रहीनों के विकास के क्षेत्र में देहरादून में स्थित यह संस्थान राष्ट्र का एक शीर्ष संस्थान है। इसका प्रारंभ 1950 में केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के अधीन दृष्टिहीनों के प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में हुआ था। बाद में अन्य इसकी इकाइयाँ प्रारंभ की गईं। इस संस्थान का प्रमुख लक्ष्य बाधित व्यक्तियों को पुनर्वास के अवसर उपलब्ध कराना है। इसकी प्रमुख सेवायें हैं :-

कर्मियों का प्रशिक्षण – संस्थान अनेक अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन प्रोग्रामों के माध्यम से दृष्टिहीनों के लिए कार्यरत अनेक कर्मियों को आवश्यक प्रशिक्षण एवं ज्ञानवर्धक कोर्स प्रदान करता है। इस प्रकार रोजगार अधिकारी व्यावसायिक पुनर्वास सहायक, पूर्व स्कूल अध्यापक, ब्रेल अध्यापक एवं ब्रेल उत्पादन में संलग्न अन्य व्यक्ति इन प्रोग्रामों से लाभ उठाते हैं।

अनुसंधान एवं विकास – संस्थान ने दृष्टिहीन व्यक्तियों को बड़े स्विच बोर्डो पर टेलीफोन आपरेटर के रूप में कार्य करने योग्य बनाने हेतु टेलीफोन प्रणाली का विकास किया है। इसने हिन्दी में ब्रेल आशुलिपि संहिता का भी विकास किया है। शिक्षा के क्षेत्र में दृष्टिहीन बच्चों के लिए एक आदर्श पूर्व स्कूल प्रोग्राम तैयार किया है। इसने युवा दृष्टिहीन बच्चों के प्रशिक्षण के लिए अपेक्षित सामग्री भी तैयार की है।

सूचना एवं जन शिक्षा – संस्थान ने दृष्टिहीनों के लगभग सभी स्कूलों के आंकड़े इकट्ठे कर लिए हैं जिसे यह दृष्टिहीन स्कूलों की डायरेक्टरी के रूप में प्रकाशित कर रहा है। इसके अतिरिक्त यूनिसेफ की सहायता से संस्थान ने दृष्टिहीनों की अन्तः शक्ति के बारे में जानकारी देने का प्रयास करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की श्रवण-दृश्य सामग्री तैयार की है। इसने अनेक-वीडियो स्पष्ट विकसित किये हैं, जिन्हें अनेक अवसरों पर प्रसारित किया जाता है।

अन्य सेवाएँ

पूर्व स्कूल स्तर से माध्यामिक स्तर तक दृष्टिहीन बच्चों के आदर्श स्कूल शैक्षिक एवं व्यवसायिक शिक्षा प्रदान करते हैं।

वयस्क दृष्टिहीन प्रशिक्षण केन्द्र – 18 से 40 वर्ष के आयु वर्ग में पुरुषों एवं महिलाओं के नये तथा उभरते हुए व्यवसायों यथा इलेक्ट्रानिक्स, आशुलिपि, डिक्टाफोन, टाईपिंग, इलेक्ट्रामैक ऐसेम्बली, लाइट इंजीनियरिंग तथा परम्परीय व्यवसाय यथा कुर्सी बुनना, कपड़े बुनना आदि में व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान करता है।

संकट हस्तक्षेप सेवाएँ – नये दृष्टिहीन व्यक्तियों के माता-पिताओं को एवं कुछ दृष्टिहीन व्यक्तियों को जिन्हें ऐसी सुविधाओं की आवश्यकता है सदस्यता प्रदान करती है।

परामर्शीय सेवाएँ – इस कार्यक्र में रुचि लेने वाले व्यक्तियों, दृष्टिहीन व्यक्तियों, उनके माता-पिताओं विभिन्न राज्य सरकारों के दृष्टिहीनों के पुनर्वास एवं उनकी शिक्षा से संबंधित विषयों पर परामर्श एवं मार्गदर्शन देती है।

सहायकों एवं यंत्रों की निर्माण कार्यशाला– विभिन्न प्रकार के पठन कम्प्यूटरिंग, गतिशीलता मापक एवं मनोरंजनात्मक सहायकों एवं विधियों का निर्माण करती है एवं उन्हें दृष्टिहीन व्यक्तियों तथा उनकी संस्थाओं को सहायता प्राप्त मूल्य पर देती है।

केन्द्रीय ब्रेल मुद्रणालय ब्रेल में सामग्री तैयार करके सहायता प्राप्त मूल्य पर आपूर्ति करती है। हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी में पाठ्य पुस्तकें निःशुल्क दी जाती हैं।

(स) राष्ट्रीय मानसिक विकलांग संस्थान

इसकी स्थापना 1964 में स्वायत्त संस्था के रूप में कल्याण मंत्रालय भारत सरकार के अधीन हुई थी। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं :-

1. मानसिक रूप में मन्दबुद्धि व्यक्तियों के लिए पुनर्वास एवं देखभाल के समुचित प्रतिमान विकसित करना।
2. मानसिक विकलांगों को सेवाएँ प्रदान करने हेतु मानव संसाधनों का विकास करना।
3. मानसिक मन्दता के क्षेत्र में अनुसंधान करना एवं समन्वय करना।
4. स्वयंसेवी संगठनों को परामर्शीय सेवा देना तथा उनकी सहायता करना।
5. मानसिक मन्दता के क्षेत्र में सूचना एवं प्रलेख केन्द्र के रूप में कार्य करना।
6. देश में मानसिक मन्दता से संबंधित तथ्यों जैसे इसके आकार, कारणों, ग्रामीण और शहरी अनुपात, सामाजिक आर्थिक तत्वों आदि का मूल्यांकन करने हेतु आंकड़े इकट्ठे करना।

विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ संस्थान में टीम की भांति उसके लक्ष्यों को प्राप्त करने एवं मानसिक विकलांगों को शांति प्रदान करने के लिए कार्य करते हैं। प्रत्येक रोगी का व्यक्तिगत अध्ययन किया जाता है तथा तदनुसार उनकी देखभाल की जाती है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि यह घर आधारित है। माता-पिता जो बालक के पोषण में प्रमुख भूमिका निभाते हैं, को प्राकृतिक पर्यावरण में बच्चों की देखभाल करने हेतु प्रशिक्षित किया जाता है। इसके कुछ प्रमुख अंग और कार्य निम्नलिखित हैं :-

1– **विशेष शिक्षा केन्द्र** – केन्द्र मानसिक विकलांग व्यक्तियों की देखभाल एवं उसके प्रबंध के बारे में अध्यापक प्रशिक्षकों को ओरियेन्टेशन प्रदान करता है। केन्द्र अनुसंधान हेतु एक सुरचियत पर्यावरण के रूप में भी सेवा प्रदान करता है।

2– **अनुसंधान** – संस्थान का मत है कि प्रगति अनुसंधान द्वारा ही होती है। अतः मानसिक विकलांगता से संबंधित विभिन्न पक्षों की समस्याओं का गहनता से अध्ययन करता है तथा अनेक

सम्बद्ध प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त माता-पिता को अपने मानसिक मन्दित बच्चों की देखभाल करने और उनकी क्षमताओं को बढ़ाने की ओर ध्यान देता है।

3- **प्रसार सेवा** - यह संस्थान कुछ प्रसार सेवाओं को भी मानसिक विकलांग एवं उनके परिवार तक पहुँचता है। संस्थान की सुचालित विस्तार सेवाएँ हैं जहाँ विभिन्न स्थानों पर उनका उपयोग किया जाता है। यह टीम झोपड़ियों में जाकर मानसिक मदांध बच्चों का पता लगाती है। समुदाय को विशेष प्रशिक्षण केन्द्र संगठित करने में सहायता दी जाती है। बच्चों को मार्गदर्शन एवं सहायता प्रदान करने के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण देता है।

4- **माता-पिता का मार्गदर्शन** - संस्थान मानसिक विकलांगों के माता-पिता को स्वसहायता समूह स्थापित करने में सहायता करता है। संस्थान के व्यावसायिक विशेषज्ञ मानसिक विकलांगों के परिवार से जुड़ जाते हैं तथा उन्हें आवश्यकता के समय वैयक्तिक परामर्श देते हैं।

5- **स्थान-व्यवस्था कोष्ठ**- संस्थान द्वारा स्थान व्यवस्था कोष्ठ भी स्थापित है जो उन मानसिक विकलांगों के लिये जो सरल कार्य कर सकते हैं, उपर्युक्त कार्य तलाश करने का प्रयत्न करता हैं।

6- **गोष्ठियाँ एवं कार्यशाला**- संस्थान अपने ज्ञान के धन को अन्यों में गोष्ठियाँ एवं कार्यशालाओं के माध्यम से सहभागी बनाकर प्रसारित करता है।

7- **समाचार पत्र एवं पत्रिका**- संस्थान स्वयंसेवी संगठनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, प्रशासकों एवं लघु व्यवसायियों के लाभ हेतु मानसिक विकलांगता के विभिन्न पक्षों पर लाभदायक लघु पुस्तिका एवं समाचारपत्र प्रदान करता है।

8- **प्रशिक्षण सुविधाएँ** - यह संस्थान मानसिक मंदता में तीन वर्षीय स्नातक कोर्स प्रदान करता है।

9- **मानव संसाधन विकास** - संस्थान प्रत्येक वर्ष अनेक अल्पकालीन पाठ्यक्रमों के आयोजन द्वारा मानव संसाधन के विकास को उन्नत बनाता है। पाठ्यक्रमों के अतिरिक्त संस्थान समुदाय आधारित पुनर्वास सेवा, व्यवहार परिवर्तन प्रक्रिया, मानसिक विकलांगों के प्रशिक्षण में व्यावसायिक प्रशिक्षण और मार्गदर्शन, परामर्श पाठ्यक्रम नियोजन, पाठ्यक्रम विकास में पर्यावरण आधारित सिद्धांत का निरूपण एवं मानसिक विकलांग व्यक्तियों के लिए व्यवसायों की खोज करता है।

यह संस्थान उन संस्थाओं की माला में सबसे अधिक चमकीली गणिका है जिसका लक्ष्य मानसिक विकलांग को स्वतंत्र व्यक्ति बनकर रहने का आनंद दिलाना है।

(द) अली यावर जंग राष्ट्रीय श्रवण विकलांग संस्थान –

श्रवण विकलांगों के पुनर्वास में एक नये युग का सूत्रपात्र 1983 को मुम्बई में अली यावर जंग राष्ट्रीय श्रवण विकलांग संस्थान की स्थापना से हुआ, इसको महाराष्ट्र के भूतपूर्व

राज्यपाल स्वर्गीय श्री अली यावर जंग जिन्होंने इसकी स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी के सम्मान में नामित किया गया। यह श्रवण विकलांगों के पुनर्वास से संबंधित सभी समस्याओं एवं गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु है और कल्याण मंत्रालय भारत सरकार के अधीनस्थ है।

संस्थान के उद्देश्य एवं उपलब्धियाँ

मुम्बई एवं इसके अन्य प्रादेशिक केन्द्रों –कलकत्ता, दिल्ली, हैदराबाद आदि में बहरे व्यक्तियों के पुनर्वास हेतु दो वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम चलाया जाता है। इसके साथ-साथ श्रवण विकारों से जुड़े विषयों पर अल्प अवधि के प्रशिक्षण कार्यक्रम भी चलाये जा रहे हैं।

संस्थान में श्रवणविकलांगता पर पुस्तकों, पत्रिकाओं श्रवण दृश्यों एवं चलचित्रों का व्यापक भंडार है। इसका एक विशाल पुस्तकालय है जो इसके सूचना एवं प्रलेख केन्द्र का भाग है।

अनुसंधान संस्थान का एक प्रमुख उद्देश्य है। इसकी कुछ शोध परियोजनाओं को यूनिसेफ द्वारा सहायता दी जाती है। शोध कार्य इस संस्थान का एक प्रमुख क्रिया कलाप है। यह संस्थान एवं इसके प्रादेशिक केन्द्र बधिरों के रोगों की जाँच करते हैं तथा उन्हें चिकित्सा एवं शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करते हैं।

संस्थान के शोध, प्रशिक्षण एवं शिक्षण कार्यक्रमों को और अधिक विस्तार करने के लिए पुस्तकें, पोस्टर, दृश्य-श्रव्य साधन एवं फिल्में तैयार की जाती है। संस्थान श्रवण विकलागों के लिए रोजगार खोजने में प्रयत्नशील रहता है, विशेषतया स्वरोजगार में।

विकलांगों के विकास और पुनर्वास के लिए प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग के सम्बन्ध में मिशन के रूप में संचालित विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परियोजना

यह परियोजना भारत सरकार द्वारा 1988 में देश के विकलांगों को उचित मूल्य पर शीघ्र से शीघ्र विभिन्न प्रकार के सहायक अंगों एवं यंत्रों तथा प्रौद्योगिकी के अन्य लाभों की व्यवस्था करने के उद्देश्य से प्रारंभ की गई थी। इस परियोजना में सभी प्रकार के विकलांगताओं एवं टैक्नोलाजी के विभिन्न रूपों को सम्मिलित किया गया। ऐसे सहायक यंत्र जो इस परियोजना में तैयार किये जाते हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है :-

- देशी सामग्री का उपयोग करते हुए अतः बिन्दु ब्रेल लेखन फ्रेम का विकास करना।
- विकलांगो के लिए सॉफ्ट मोल्ड तैयार करना।
- प्रौद्योगिकी का विकास करके तीव्र गति वाले यांत्रिक हाथ को तैयार करना।
- सुनने में सहायक उपकरणों में प्रयोग किये जाने वाले कैडमियन शैलों के लिए वोल्टेज चार्जर का विकास करना।

- कृषि उपकरणों का उपयोग करते समय होने वाली दुर्घटनाओं को रोकने के लिए सुरक्षित यंत्रों की डिजाइन बनाना।
- कम दिखाई देने वालों के लिए सहायक उपकरणों को तैयार करना और उनका क्षेत्रीय परीक्षण।
- उद्योगों में विकलांग व्यक्तियों को कार्य करने की सुविधा प्रदान करने के लिए उपकरणों का विकास करना।
- स्पाटिक बच्चों के लिए पोषण उपकरणों का विकास करना।
- नेत्रहीन व्यक्तियों के लिए सफेद घड़ियों सहित चलने के विभिन्न उपकरणों का विकास करना।

नयी सामग्री का प्रयोग करते हुए कृत्रिम अंगों का विकास करना। इसके अतिरिक्त दृष्टिबाधितों एवं सुनने की दृष्टि से विकलांग बच्चों को शिक्षा देने के लिए आवश्यक तकनीकी उपकरणों और यंत्रों का पता लगाने के लिए विशेष समूह का गठन करना।

पुनर्वास परिषद् – कल्याण मंत्रालय के अधीन एक शिखर संस्था पुनर्वास के नाम से स्थापित की गयी है। इसका कार्य है विभिन्न प्रोग्रामों के पाठ्यक्रमों को निश्चित करना, प्रशिक्षण संस्थाओं को मान्यता देना एवं पुनर्वास रजिस्टर तैयार करना। यह सुनिश्चित करने के हेतु कि इन संगठनों के संसाधन से व्यक्तियों को उचित प्रशिक्षण प्राप्त हो, राष्ट्रीय संस्थान इन संगठनों के कार्मिकों के लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण हेतु पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों का आयोजन करते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक स्वयंसेवी संगठन पीड़ितों के प्रशिक्षण एवं उनकी विशेष शिक्षा हेतु संसाधान व्यक्तियों के लिए पाठ्यक्रम चला रहे हैं।

जिला पुनर्वास केन्द्र परियोजना – यह अनुमान लगाया गया है कि ज्यादातर विकलांग गांवों में निवास करते हैं, परन्तु सरकारी एवं गैरसरकारी सेवायें अधिकाशतः नगरों में केन्द्रित हैं। इस समस्या के निराकरण हेतु जिला पुनर्वास केन्द्र की स्थापना हुयी। इसके अन्तर्गत सम्बन्धित क्षेत्र में विकलांग व्यक्तियों की पहचान करना तथा उनके लिए पुनर्वासीय, चिकित्सकीय, शैक्षिक, व्यवसायिक एवं स्थान रक्षण सेवाओं की व्यवस्था करना है। जिसमें जिलास्तर पर उपलब्ध स्वास्थ्य एवं शैक्षिक संचरना के साथ घनिष्ठ समन्वय एवं पुनर्वास प्रक्रिया में समुदाय के साथ निकट अंतःक्रिया की अपेक्षा है। जिला केन्द्र गैर सरकारी संगठनों के लिए उत्प्रेरक है। जिला केन्द्र मूल्यांकन, क्लीनिकल एवं उपचारीय सेवायें प्रदान करते हैं तथा गैरसरकारी संगठन को समुदायक जागरुकता माता-पिता को परामर्श एवं व्यवसायिक प्रशिक्षण सेवायें प्रदान करने लिए प्रोत्साहित करते हैं।

कृत्रिम अंग निर्माण निगम – भारत सरकार ने विकलांग व्यक्तियों की आवश्यकता के आकार को ध्यान में रखते हुए सार्वजनिक क्षेत्र में कानपुर में कृत्रिम अंग निर्माण निगम की स्थापना की, जो कि उत्तम कोटि के सहायक यंत्रों का निर्माण करती है।

रोजगार हेतु प्रशिक्षण सुविधायें - प्रत्येक पुनर्वासित विकलांग व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य रोजगार है। विकलांग व्यक्ति रोजगार पाकर न केवल उत्पादक सदस्य बनता है, अपितु उसमें विश्वास आत्मसम्मान की भावना का भी विकास होता है। विकलांग व्यक्ति को रोजगार प्राप्त करने अथवा स्वरोजगार के योग्य बनाने हेतु विभिन्न व्यवसायिक गतिविधियों में प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रशिक्षण सुविधायें सरकारी एवं गैरसरकारी दोनों क्षेत्रों में उपलब्ध है।

अन्य सुविधायें

- विकलांग व्यक्तियों को स्वरोजगार कार्यों के लिए बैंकों से ब्याज की रियायती दर पर ऋण उपलब्ध हो सकता है।
- सरकारी सेवाओं में आरक्षण, आयु सीमा में छूट एवं निवास स्थान के समीप सेवा उपलब्ध कराने की प्राथमिकता।
- यात्रा एवं आवागमन के सम्बन्ध में उपलब्ध छूटे एवं सुविधायें।
- तेल और गैस कम्पनियों द्वारा वितरक केन्द्रों की स्थापना में आरक्षण।
- विकलांग व्यक्तियों को दूरभाष केन्द्रों का ठेका दिया जाना।
- मकानों एवं भूखण्डों में आवंटन में वरीयता।
- विकलांग व्यक्तियों को आयकर में छूट।
- केन्द्र सरकार के कर्मचारियों के शारिरिक एवं मानसिक बधिर बच्चों को शैक्षणिक भत्ता प्राप्ति का प्रावधान तथा मानसिक मान्दता क्षेत्र में जनसहयोग से विकास के लिए संगठनों को सहायता उपलब्ध कराने की योजना।

भारतीय पुनर्वास परिषद : इसके मुख्य उद्देश्य हैं :–

- विकलांगों के एकीकृत शिक्षा कार्यक्रम।
- विशेष विद्यालयों की स्थापना एवं विकास की योजना
- विकलांग विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति प्रदान करने की योजना
- विकलांगों को स्वरोजगार उपलब्ध कराने की सहायता।
- विकलांगता एवं पुनर्वास सम्बन्धी राष्ट्रीय सूचना
- विकलांग दिवस का आयोजन
- विकलांगों के कल्याण के राष्ट्रीय पुरस्कार
- विकलांग बच्चों को गणतंत्र दिवस परेड देखने के लिए निमंत्रण
- द्विपक्षीय संविदाओं के अन्तर्गत सहायता

भारतीय क्षतिग्रस्त मेरुदण्ड केन्द्र

- शहरी समुदाय आधारित पुनर्वास पर समुद्रपारीय विकास एवं प्रशासन और इस सम्बन्ध

में युनाईटेड किंगडम के माध्यम से सहायता परियोजना

- कोलम्बो योजना के अंतर्गत इंग्लैण्ड में प्रशिक्षण
- यूनीसेफ सहायता।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में विकलांगों के पुनर्वास सम्बन्धी प्रावधान

शारीरिक एवं मानसिक रूप से बाधित व्यक्तियों की संख्या, सुरक्षा एवं पुनर्वास के लिए इनकी समस्याओं के विषय में संर्वेक्षण करना। इन बाधित व्यक्तियों के पुनर्वास हेतु कार्यक्रम चलाने के लिए स्वैच्छिक संगठनों को सुदृढ़ बनाना।

- नेत्रहीन और बधिर बच्चों के लिए आदर्श विद्यालयों की स्थापना की गयी।
- व्यस्क नेत्रहीनों के हेतु स्थापित प्रशिक्षण विद्यालयों में महिलाओं के लिए अनुभाग स्थापित किया गया।
- बाधितों के लिए छात्रवृत्तियों उपलब्ध करायी गयी है।
- बाधित व्यक्तियों के लिए उनके घरों पर शिक्षा की सुविधा उपलब्ध कराने की योजना का संचालन किया गया।
- उनके घरों व पड़ोस में कार्य उपलब्ध कराया गया।
- इनके लिए मनोरंजन की व्यवस्था की गयी।
- लाइब्रेरी, प्रशिक्षण केन्द्र, आदर्श विद्यालय, ब्रेल प्रेस आदि की सुविधा।
- बच्चों में नेत्रहीनता को रोकने के उद्देश्य से विटामिन-ए के वितरण को सुनिश्चित किया गया।
- इलाज के लिए टीकाकरण कार्यक्रम तथा बीमा योजना एवं दुर्घटना बचाव के लिए कानून बनाने की व्यवस्था।
- रोजगार एवं स्वरोजगार उपलब्ध कराने में मदद।
- ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले बाधित व्यक्तियों तक सेवायें पहुंचाने की व्यवस्था।

अध्याय-20

श्रम कल्याण

श्रम कल्याण का दर्शन

''दर्शन'' शब्द का अंग्रेजी रूपान्तरण ''फिलॉसफी'' है। यह ग्रीक भाषा का शब्द है और दो शब्दों- 'फिला' + 'सोफिया' से मिलकर बना है। फिला का अर्थ 'प्यार' तथा सोफिया का अर्थ 'इण्टेलिजेंस' का बुद्धिमत्ता है। दूसरे शब्दों में फिलॉसफी का अर्थ बुद्धिमता से प्यार है। अन्य शब्दों में किसी कार्य का बुद्धिमतापूर्वक अर्थ निरूपण ही उसका दर्शन है। इस प्रकार श्रम कल्याण के दर्शन का अर्थ है बुद्धिमतापूर्वक श्रम कल्याण का अर्थ निरूपण। इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम श्रमकल्याण पर विचार करते हैं तो स्पष्ट होता है कि श्रम कल्याण के दर्शन में कालक्रम से पर्याप्त बदलाव आया है। हमारा समाज वर्तमान स्थिति तक पहुँचने के पूर्व कम से तीन स्थितियों से गुजरा है, जिन्हें क्रमशः पराभाव (subjugation), उन्मुक्ति (Libralisation) तथा संगठन (organisation) काल कहा जाता है।

यद्यपि इनके बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है, किंतु अवस्थाओं की कुछ विशिष्टतायें हैं, जिनके आधार पर इन्हें एक दूसरे से भिन्न किया जा सकता है। इन तीनों स्थितियों या अवस्थाओं की प्रमुख विशेषतायें और उनके अन्तर्गत श्रम कल्याण के उपागमों का विवरण नीचे दिये जा रहा है :-

पराभव काल

प्रथम अवस्था रोम साम्राज्य की स्थापना से प्रारंभ होती है, उस समय समाज का संगठन युद्ध जीतने के लिए होता था। विजेता वर्ग विजित वर्ग को अपना दास बना लेता था। ये दास ही उस समय के श्रमिक थे, जिनका क्रय एवं विक्रय होता था। ऐसे दासों के स्वामी उनका पूर्णतया शोषण करते थे। किंतु कुछ स्वामी ऐसे भी होते थे जो दया एवं सहानुभूति की भावना से ऐसे दासों की कुछ भलाई कर देते थे और यही उस समय का श्रमकल्याण था, जिसे श्रम कल्याण का फिलांथ्रोपिक अभिगम कहा जा सकता है। इस अभिगम की आधारभूत मान्यता यह है कि मालिकों का हृदय गरीबी और शोषण को देखकर द्रवित हो जाता है और इस स्थिति में श्रमिकों के कल्याण हेतु वे कुछ कर देते थे, किंतु दया की यह भावना सार्वभौमिक नहीं थी।

रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात समाज धार्मिक भावनाओं से प्रभावित होने लगा। धर्म ने हैण्डीक्राफ्ट एवं गिल्ड प्रणाली को बढ़ावा दिया। अतः गरीब दास जो धनी व्यक्तियों के घरों

में काम करते थे, उनका कुछ कल्याण धनी लोग धार्मिक भावनाओं से कर देते थे। मान्यता यह भी थी कि यदि हम गरीबों की इस जन्म में भलाई करेंगे तो अगले जन्म में ईश्वर हमें भी अधिक सुख एवं समृद्धि देंगे। अतः श्रम कल्याण का यह एक धार्मिक अभिगम था।

किंतु उस समय धर्म के विरोध में कुछ धर्म निरपेक्ष संस्थायें भी उभरकर सामने आयीं। सामन्तवाद इनमें सबसे महत्वपूर्ण था। सामन्तवाद का भौतिक मूल्य वीरता एवं क्रूरता से प्यार था। रीति के देवता ही उस युग के पूज्य देव थे। उस समय धनी व्यक्ति दासों से काम तो करवाते थे पर उनके साथ बहुत क्रूरता से पेश आते थे। ऐसे समय में पितृत्ववाद का मूल्य उभर कर सामने आया, जिसकी मान्यता यह थी कि दास या श्रमिक असहाय एवं अबोध बालक के समान हैं और मालिक उनके पिता के समान है। अतः जिस प्रकार कोई पिता अपने अबोध एवं असहाय बालक का पालन करता है उसी प्रकार नियोक्ता या स्वामी दास एवं श्रमिकों का भी पितृत्व की भावना से पालन करता है। इस प्रकार श्रम कल्याण की यह पितृत्ववादी विचारधारा थी।

उन्मुक्तिकाल

इस अवस्था की शुरुआत फ्राँस की क्रान्ति द्वारा हुयी, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो सामन्तवाद का पतन हुआ और दूसरी ओर चर्च भी प्रभावहीन होने लगे। लगभग इसी समय इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुयी। जिसके फलस्वरूप वाष्पचालित मशीनों से उत्पादन प्रारंभ हुआ और एक ही छत के नीचे कई हजार लोग काम करने लगे, जिनके भोजन की न कोई व्यवस्था थी और न आवास की। सरकार ने औद्योगिक उत्पादन के प्रति लेसेस-फेयर पॉलिसी अपनाई थी। श्रम प्रबन्ध के बीच फ्रीडम ऑफ कान्ट्रैक्ट का सिद्धान्त लागू था अर्थात नियोक्ता को यह अधिकार था कि वह किसी श्रमिक को जब चाहे तब हायर करें किन्तु जब चाहे तब उसे फायर भी कर दें (निकाल दे)। दूसरी ओर श्रमिक अब गाँव के सामन्तों के दास या बँधुवा मजदूर नहीं रह गये, वरन वे गाँवों से पलायन कर औद्योगिक केन्द्रों पर आने लगे, जहाँ उनको यह स्वंतत्रता तो थी कि उनकी सुविधानुसार उन्हें जहाँ अधिक वेतन एवं सुविधायें मिलें वे वहीं पर कार्य करें, किन्तु श्रम की माँग से पूर्ति अधिक थी और नियोक्ता उन्हें किसी भी समय कार्यमुक्त (फायर) कर सकता था। अतः मजदूरी के मोलभाव की क्षमता उनमें बहुत कम थी। इस प्रकार ऐसे श्रमिकों का भी नियोक्ता द्वारा शोषण होता था, किन्तु कुछ जागरूक नियोक्ता, उन दिनों का उत्पादकता का संबंध श्रम कल्याण से जोड़ने लगे, उनका यह विश्वास था कि जब श्रमिकों का अधिक कल्याण किया जायेगा तो उनके द्वारा उत्पादकता की वृद्धि होगी। अभिगम का यह प्रकार श्रम कल्याण के प्रति मैटिरियलिस्टिक अभिगम था।

संगठनकाल

समाज जो मिलेटरी युग में एक ठोस स्थिति में था, औद्योगिक क्रान्ति के युग में एक द्रव की स्थिति में आ गया, किन्तु आगे चलकर वह पुनः संगठित होकर एक ठोस आकार ग्रहण

करने लगा। इस युग में औद्योगीकरण अपनी परिपक्वता ग्रहण करने लगा और नियोक्ता भी दो उद्देश्यों से श्रम कल्याण करते थे –

(i) **पब्लिक रिलेशन–** इस उपागम के अन्तर्गत नियोक्ता इस बात पर विश्वास करने लगे कि श्रम कल्याण वे जितना ही अधिक करेंगे, जन सामान्य में उनकी उतनी ही प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

(ii) **उत्पादकता –** कुछ जागरूक नियोक्ता श्रम कल्याण का संबंध उत्पादकता से जोड़ते हुये श्रमिकों के कल्याण पर अधिक से अधिक व्यय करने का प्रयास करने लगे, ताकि उनकी उत्पादकता बढ़े।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि श्रम कल्याण के प्रति निम्नलिखित अभिगम अपनाये गये :-

(i) कुछ नियोक्ताओं ने सरकार द्वारा श्रम अधिनियमों के निर्माण के बाद कानूनी बाध्यताओं से श्रम कल्याण का कार्य प्रारंभ किया।

(ii) कुछ नियोक्ता जो बहुत अधिक जागरूक थे श्रम कल्याण का संबंध उत्पादकता से जोड़ने लगे और उत्पादकता वृद्धि हेतु अधिक से अधिक कल्याणात्मक सुविधायें श्रमिकों को प्रदान करने लगे।

(iii) कुछ नियोक्ताओं ने श्रम कल्याण का सम्बन्ध सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ दिया। उनके अनुसार प्रतिष्ठान के भीतर एवं बाहर वे जितनी ही कल्याणात्मक सुविधायें प्रदान करेंगे उतनी ही उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

(iv) कुछ नियोक्ताओं ने पितृत्ववादी भावनाओं से प्रभावित होकर श्रम कल्याण का कार्य आरंभ किया।

(v) कुछ नियोक्तओं ने जनतांत्रिक एवं कल्याणकारी राज्य में सामाजिक जिम्मेदारी के निर्वाह की भावना से श्रम कल्याण का कार्य प्रारंभ किया।

श्रम कल्याण का वर्तमान अभिगम

यद्यपि श्रम कल्याण अधिकारियों के 1953 के अखिल भारतीय सम्मेलन में मीनू मसानी ने तीन आधारों पर श्रम कल्याण के कार्य का प्रणयन किया था : (1) उपयोगिता वादी विचारधारा, (2) जनतांत्रिक विचारधारा, और (3) मानवतावादी विचारधारा, तथापि आज यह बात सर्वमान्य है कि श्रमकल्याण का संबंध मानव संसाधन प्रबन्ध से जोड़ा जा रहा है। इस उपागम के अन्तर्गत प्रबन्धक यह स्वीकार करते हैं कि आज की वैश्विक प्रतिस्पर्धा के युग में अपना अस्तित्व कायम रखने और प्रतिस्पर्धा में आगे निकलने के लिए सर्वाधिक बहुमूल्य साधन मानव संसाधन प्रणाली है। इस संसाधन की संतुष्टि जितनी ही अधिक होगी, वैश्विक प्रतिस्पर्धा में उतना ही आगे बढ़ा जा सकता है। इसके लिए न केवल यही बात आवश्यक है कि मैन पॉवर प्लानिंग

एवं जॉब एनालिसिस के आधार पर योग्यतम व्यक्ति को योग्यतम् पद पर रखा जाय और उसके प्रशिक्षण, कैरियर प्लानिंग एवं विकास पर अधिक से अधिक बल दिया जाय, वरन् श्रमिकों के प्रति नियोक्ता द्वारा प्रोएक्टिव अभिवृत्ति अपनाते हुये उनके वेतन एवं कल्याण की ही केवल सुविधायें न उपलब्ध करायी जाय, जिनकी माँग श्रमिक (कामगार) स्वयं करते हैं, वरन् नियोक्ता स्वयं अपनी ओर से पहल करते हुये कामगार के साथ न केवल सम्मानपूर्वक व्यवहार करे, अपितु कामगार के कल्याण हेतु अधिकाधिक सुविधायें उपलब्ध कराये, ताकि कामगार के मन में अपने कार्य एवं प्रतिष्ठान के प्रति लगाव एवं प्रतिबद्धता विकसित हो और वह स्वयं ही प्रतिष्ठान के लक्ष्यों की प्राप्ति में अधिकतम् योगदान देने लगें।

यह उपागम श्रम कल्याण का नवीनतम् उद्गम है। जिसका निरूपण मानव संसाधन प्रबन्ध के परिपेक्ष्य में किया गया है।

श्रम-कल्याण की अवधारणा –

श्रम कल्याण शब्द इतना व्यापक है कि इसका विश्लेषण एवं विवेचन भिन्न-भिन्न रूप से किया जाता है। इस विविधता को उपयुक्त ठहराते हुए शाही आयोग ने लिखा है "श्रम-कल्याण एक ऐसा शब्द है, जिसे आवश्यक रूप से लचीला होना चाहिए। विभिन्न सामाजिक-प्रथाओं, औद्योगीकरण की सीमा तथा श्रमिकों के शैक्षणिक विकास के साथ, एक देश से दूसरे देश में इसकी विवेचना भिन्न होनी चाहिए। राष्ट्रीय श्रम आयोग के विचार से भी श्रम-कल्याण की अवधारणा आवश्यक रूप से गत्यात्मक है। एक देश से दूसरे देश में, एक समय से दूसरे समय में, और यहाँ तक कि एक ही देश में मूल्य-व्यवस्था, सामाजिक-संस्था, औद्योगीकरण की सीमा तथा सामाजिक एवं आर्थिक-विकास के स्तर के आधार पर इसे भिन्न-भिन्न रूपों में समझा जाता है।

श्रम-कल्याण की परिभाषाएँ भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से दी गयी हैं। कुछ परिभाषाओं में श्रम-कल्याण के स्वरूप पर मुख्य रूप से प्रकाश डाला गया है, तथा कुछ परिभाषाओं में श्रम-कल्याण के लक्ष्यों पर विशेष जोर दिया गया है, तथा कुछ दूसरी परिभाषाओं में श्रम-कल्याण के अन्तर्गत किये जाने वाले कार्यों का मुख्य रूप से उल्लेख किया गया है। प्रथम दृष्टि से विचार करते हुए पाल चू ने कहा है कि श्रम-कल्याण औद्योगिक-जीवन के संदर्भ में श्रमिकों के एवं उनके परिवार के सदस्यों की संतुष्टि, प्रसन्नता तथा कल्याण की एक स्थिति विशेष है। श्रम-कल्याण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए ब्राउन ने कहा है – "श्रम-कल्याण उस समय अतर्क सम्मत हो जाता है, जब वह वाह्य सम्प्रेरकों के लिए किया जाता है, तथा विशेषतौर पर जब इसका प्रयोग एक प्रलोभन के रूप में किया जाता है। क्योंकि तब वह अनुपयुक्त तर्क के लिए उचित कार्य करने के गंभीरतम अपराध का उदाहरण बन जाता है।

श्रम-कल्याण के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए प्रोफेसर मूर्ति ने कहा है कि "श्रम-कल्याण के दो पक्ष होते हैं, विधायी तथा अविधायी। एक ओर तो वह श्रमिक के वैयक्तिक, सामाजिक

तथा पारिवारिक जीवन पर पड़ने वाले बुरे प्रभावों को अवरोध करने का कार्य करता है, और दूसरी ओर वह मजदूर व उसके परिवार को उन सुविधाओं को प्रदान करता है, जिनके द्वारा वे वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से अच्छा जीवन यापन करने में समर्थ हो सके। एस0टी0 एडवर्ड के अनुसार श्रम-कल्याण औद्योगिक श्रमिकों के लिए एक ऐसे वातावरण का सृजन करता है जिसके अंतर्गत उनमें सामाजिक, आर्थिक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन का वास्तविक विकास संभव हो सके। अतः श्रम-कल्याण की दिशा में किये गये किसी प्रयास के अंतर्गत पूर्ण मानव-जीवन एवं उसकी समस्याओं का समावेश होना चाहिए।

श्रम-कल्याण के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए भी 'पाल चू' ने कहा है कि श्रम-कल्याण का क्षेत्र समाज-कल्याण की अपेक्षा संकुचित है पर इसे सामाजिक सेवाओं की सामान्य संरचना के अंतर्गत ही आना चाहिए। औद्योगिक प्रतिष्ठानों के अंतर्गत कल्याण सेवाओं का मुख्य उद्देश्य रहन-सहन की स्थितियों में सुधार करना है, और औद्योगिक समाज की बदलती हुई माँगों को श्रमिक तथा उसके परिवार की आवश्यकताओं से समायोजित करना है। इस प्रकार कल्याणात्मक सेवाओं के द्वारा श्रमिक को ऐसे अवसरों की उपलब्धि होनी चाहिए, जिनके अंतर्गत, वर्तमान समाज में उसे अपनी जिम्मेदारियों को समझने एवं उन्हें प्रभावशाली ढंग से पूरा करने का अवसर मिल सके। इसे औद्योगिक-कल्याण की सामाजिक-अवधारणा कहा जा सकता है।

श्रम-कल्याण के अंतर्गत दी जाने वाली सेवाओं का विवरण देते हुए पार्सन ने लिखा है कि 'इस कार्य के अंतर्गत मालिकों द्वारा वर्तमान औद्योगिक-व्यवस्था में, श्रमिकों की कार्य दशाएँ, आवास एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में सुधार हेतु, किये गये प्रयासों को सम्मिलित किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के अनुसार "श्रम-कल्याण" से तात्पर्य ऐसी सेवाओं व सुविधाओं से है, जो औद्योगिक प्रतिष्ठानों के अंतर्गत या समीपवर्ती स्थानों में आयोजित की गयी हों, ताकि उनमें कार्य करने वाले श्रमिक, स्वस्थ्य एवं शांतिपूर्ण परिस्थितियों में कार्य कर सकें, और अपने स्वास्थ्य एवं नैतिक स्तर को उच्च्व करने वाली सुविधाओं का लाभ पा सकें। 1956 में म्युनिख में आयोजित समाज कार्य के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में लैटिन अमेरिका के कुछ देशों द्वारा पढ़े गये लेख के अनुसार "श्रम-कल्याण का अर्थ उन सेवाओं में है, जो मजदूरों एवं उसके परिवार के सदस्यों के नैतिक, भौतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक तथा सांस्कृतिक स्तर को विकसित करने और अपेक्षाकृत अच्छे जीवन-क्रम के साथ समायोजित करने के लिए दी जाती है। भारत सरकार द्वारा श्रम-कल्याण पर गठित समिति के प्रतिवेदन (1969) के अनुसार "श्रम-कल्याण के अंतर्गत उपयुक्त जलपान-गृह, आराम एवं मनोरंजन-संबंधी सुविधाएँ, सफाई एवं स्वास्थ्य-संबंधी सुविधाएँ, मजदूरों के आवास से कार्य करने के स्थान तक आवागमन की सुविधाएँ, सामाजिक सुरक्षा तथा मजदूरों के कार्य करने की दशाओं में सुधार करने वाली अन्य व्यवस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि कुछ परिभाषाओं में श्रम-कल्याण को अतिव्यापक अर्थ में और कुछ में अपेक्षाकृत संकीर्ण अर्थ में देखा गया है। उनके विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :-

1. श्रम कल्याण समाज-कल्याण का ही एक रूप है।
2. यह एक कार्यक्रम है, जो सामाजिक न्याय और मानवतावाद की भावनाओं पर आधारित है, और यह संवैधानिक एवं स्वैच्छिक उपायों द्वारा श्रमिक जीवन का गुणात्मक विकास करना चाहता है।
3. श्रम-कल्याण एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के कल्याण का अन्योन्याश्रित संबंध है, क्योंकि श्रमिकों को योग्यता एवं कार्य-क्षमता के विकास के द्वारा ही, औद्योगिक प्रतिष्ठानों की उन्नति एवं विकास संभव है।
4. श्रम-कल्याण का उद्देश्य, श्रमिक का शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक एवं सामाजिक कल्याण है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उन सभी कामों को संपादित किया जाता है जो औद्योगिक प्रतिष्ठानों से बाहर उसके (श्रमिक) सामजिक जीवन से संबधित है।
5. सामान्यतया इसके अंतर्गत तीन प्रकार की सेवाएँ आती हैं -

(1) वे सेवाएँ जो श्रमिकों के कार्य की दशाओं में सुधार लाने के लिए की जाती हैं- ताप, प्रकाश और आवाज का सम्यक् नियंत्रण, स्वच्छता, स्नानघर व शौचालय की सुविधा, जलपान-गृह, आरामगृह, पीने का पानी, स्वास्थ्य, सुरक्षा, दुर्घटनाओं का निरोध, कार्य के उचित घंटे, छुट्टियां, सवेतन अवकाश आदि।

(2) वे सुविधायँ जो श्रमिक के व्यक्तित्व विकास एवं उसके पारिवारिक और वैयक्तिक जीवन में सुधार लाने के लिए दी जाती हैं। इसके अंतर्गत कुछ ऐसी सेवाएँ आती हैं जो औद्योगिक संस्थाओं के बाहर दी जाती हैं जैसे, आवास व्यवस्था, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन, संबंधी सुविधाएं, खेल, संगीत, पुस्तकालय, सहकारी समितियाँ, आवागमन, कल्याण-केन्द्र तथा सेवा-योजन, परामर्श सेवाएँ इत्यादि।

(3) इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी सेवाएँ आती हैं जो कि औद्योगिक श्रमिकों को प्रभावशाली ढंग से समायोजित करने एवं उनकी कार्य श्रमताओं के विकास हेतु दी जाती हैं जैसे योग्यता एवं अभिरूचि के अनुसार श्रमिकों को कार्य दिया जाना, प्रशिक्षण, पदोन्नति, अन्य श्रमिकों तथा प्रबंधकों से संबंध, तावस घेराबंदी, हड़ताल तथा तालाबंदी आदि की स्थिति में सम्यक् परामर्श इत्यादि।

इस प्रकार श्रम-कल्याण एक गतिशील एवं व्यापक अवधारणा है। इसके अंतर्गत औद्योगिक मानव के सर्वांगीर्ण कल्याण की बात कही जाती है। औद्योगिक संबंध एवं कार्मिक प्रबंधा भी इसके अंतर्गत आते हैं।

श्रम समस्याएँ–उत्पन्न होने के कारण

आर्थिक कारण– पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और बहुत कुछ मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में भी श्रमिक तथा श्रम के क्रेता के बीच अलगाव होता है और इसमें प्रायः संघर्ष बना ही रहता है। इन दोनों के बीच रस्साकस्सी का प्रमुख कारण दोनों के हितों में सामंजस्य का अभाव है। उद्योग विशेष द्वारा निर्मित माल अथवा राष्ट्रीय आय में श्रमिक तथा मालिक दोनों ही अपने लिए अधिक से अधिक अंश प्राप्त करने का प्रयास करते हैं क्योंकि आय के सभी अंश पर उनका जीवन स्तर तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री की उपलब्धता निर्भर होती है। फलस्वरूप ऐसी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत दोनों ही वर्ग अपनी-अपनी आमदनी और अन्य सुविधाएँ बढ़ाने की कोशिश करते हैं जिससे इन दोनों वर्गों के स्वार्थों में टकराव हो जाता है। यही कारण है कि श्रमजीवी जब अपनी आय और सुविधाएँ बढ़ाने का दबाव डालते हैं तो पूंजीपतियों, उद्योगपतियों, अंशधारियों तथा प्रबन्धकों आदि द्वारा उठाई गई अनेक आपत्तियों और विरोध का सामना करना पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक कारण – श्रमिक एक मानव भी होता है। वह समाज में रहता है अतः भोजन, वस्त्र, आवास के अतिरिक्त उसे अपने मान-सम्मान का भी ध्यान रखना पड़ता है।

एक मानव होने के नाते वह चाहता है कि समाज में उसको भी इज्जत की दृष्टि से देखा जाए उसके कार्य का कुछ मूल्य हों। इस दृष्टि से कारखाने के अंदर औद्योगिक जनतंत्र की स्थापना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि आज मानवीय संबंधों की समस्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण बन गई है। श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण के कारण आज श्रमिक अनेक वर्गों में विभक्त हो गया है। जो लोग उच्च श्रेणी के तकनीकी कार्यों में संलग्न हैं उन्हें तो आदर की दृष्टि से देखा जाता है परन्तु निम्न श्रेणी के कार्य करने वाले श्रमिकों को समाज में उचित सम्मान नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में स्वचालन तथा यंत्रों का अत्यधिक प्रयोग होने लगा है जिसके परिणामस्वरूप एक ओर तो काम नीरस बनता जा रहा है और दूसरी ओर श्रमिकों का व्यक्तिगत दायित्व सम्मान, ख्याति, महत्व तथा व्यक्तित्व घटना तिरोहित होता जा रहा है। फलतः आधुनिक युग में मनोविज्ञान से संबधित श्रम समस्याएँ अधिक महत्व प्राप्त करती जा रही हैं।

सामाजिक कारण – आजकल के औद्योगिक युग में पूंजी कुछ सीमित संख्या में लोगों के पास केन्द्रीकृत हो रही है। पूंजीपतियों की संख्या सिमट रही है। जबकि श्रमिकों की संख्या बढ़ रही है। आर्थिक विषमता में वृद्धि हो रही है फलतः श्रम समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं।

राजनीतिक कारण – आधुनिक युग में श्रमिक अपने अधिकारों के प्रति बहुत सचेत हो गया है और इसकी महत्वाकांक्षाओं में वृद्धि होती जा रही है। वह राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने और देश की शासन व्यवस्था को प्रभावित करने में भी रुचि लेने लगा है। सरकार

पर दबाव डालकर वह अपनी स्थिति को बेहतर बनाना चाहता है। औद्योगिक जनतंत्र में तो श्रमिकों की भूमिका और प्रबल होती है।

भारत में श्रम कल्याण कार्य

हमारे देश में श्रम कल्याण कार्य की भावना का प्रादुर्भाव वास्तव में द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त हुआ। द्वितीय महायुद्ध की अवधि में जब उद्योग निर्मित वस्तुओं की मांग बढ़ी तो आवश्यक वस्तुओं के दाम चढ़ गये, नगरों में आवासीय संख्या जटिल हो गई। खाने-पीने की वस्तुओं के दुर्लभता के कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता कम हो गई और परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग त्राहि-त्राहि करने लगा। ऐसी परिस्थितियों में उद्योगपतियों, सरकार तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं का ध्यान श्रम कल्याण की ओर आकर्षित हुआ। औद्योगिक अशांति, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का दबाव, राज्य के कल्याणकारी होने का विचार तथा बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय का ध्येय रखने वाले व्यक्तियों की मानवीय भावनाओं ने श्रम कल्याण कार्यों में रुचि स्थापित की। श्रम कल्याण कार्यों में उत्तरोत्तर प्रगति होती जा रही है। भारत में किए गए श्रम कल्याण कार्यों को हम निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं :-

(1) केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाने वाले कल्याण कार्य।

(2) राज्य सरकार द्वारा किये जाने वाले कल्याण कार्य।

(3) सेवायोजकों द्वारा किये जाने वाले कल्याण कार्य।

(4) श्रमिक संघों द्वारा कल्याण कार्य।

(5) स्वायत्तशासन और धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं द्वारा कल्याण कार्य।

(6) संयुक्त राष्ट्र संघ एवं भारत में श्रम कल्याण कार्य।

केन्द्रीय सरकार द्वारा किए जाने वाले श्रम कल्याण कार्य–

सरकार द्वारा कल्याण कार्य की भावना वास्तव में एक नवीन स्फूर्ति की भावना है जिसने द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ही अधिक जोर पकड़ा। 1945 में द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया तथा विविध प्रकार के कठिनाइयों से विवश होकर श्रमिक वर्ग त्राहि-त्राहि करने लगा। इसी अवधि में औद्योगिक अशांति की भी एक लहर आई, जिसने केन्द्रीय सरकार का ध्यान श्रमिकों की ओर आकर्षित किया। युद्ध की अवधि में औद्योगिक उत्पादन को बनाये रखने के लिए श्रमिकों के मनोबल को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुछ कल्याणात्मक कार्य किए गए। अगस्त 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य से इस दिशा में सराहनीय प्रगति हुई। केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न अधिनियमों को बनाकर मालिकों के लिए अनिवार्य कर दिया कि वे अधिनियमों के अंतर्गत श्रम कल्याण कार्यक्रम अनिवार्य रूप से अपनाएँ। इन्हें वैधानिक व्यवस्था की संज्ञा दी जा सकती है। कुछ प्रमुख व्यवस्था निम्नलिखित है :-

(1) कारखाना अधिनियम, 1948 –

देश में श्रम कल्याण के क्षेत्र में कारखाना अधिनियम का विशेष महत्व है। सर्वप्रथम कारखाना अधिनियम, 1881 में पारित हुआ जिसका उद्देश्य कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के स्वास्थ्य तथा सुरक्षा के लिए विभिन्न व्यवस्थाएँ करना था। इस कानून द्वारा बच्चों के श्रम को ही सीमित संरक्षण प्राप्त हुआ। वयस्कों की स्थिति ज्यों की त्यों रही। अतः वयस्कों की स्थिति में सुधार के उद्देश्य से दूसरा कारखाना अधिनियम पास हुआ। जिसमें बच्चों को और सुविधाएँ प्रदान करने के अतिरिक्त स्त्रियों को भी सुरक्षा मिली। इसके बाद तीसरा अधिनियम पास होने पर पहली बार पुरुषों को भी सुविधाएँ प्राप्त हुई। इस अधिनियम की व्यवस्था दोषपूर्ण थी जिन्हें ठीक करने के लिए उसमें कई बार संशोधन किए गए।

पहले के सभी कारखाना अधिनियम समाप्त करके सन् 1948 में कारखाना श्रम से संबधित एक व्यापक कानून पास किया गया, इसकी कुछ बातें इस प्रकार हैं -

(1) **क्षेत्र**- यह अधिनियम उन सभी कारखानों में लागू हैं जहाँ दस या अधिक श्रमिक कार्य करते हैं और विद्युत शक्ति का प्रयोग होता है अथवा जिसमें शक्ति का प्रयोग तो नहीं होता किन्तु 20 या अधिक श्रमिक काम करते हैं। इस अधिनिमय का क्षेत्र बढ़ाने के उद्देश्य से इसमें यह भी आदेश दिया गया कि जहाँ कहीं भी निर्माण का कार्य हो रहा है यह नियम नहीं लागू होगा भले ही कितने भी श्रमिक कार्यरत हों।

(2) सुरक्षा संबंधी आदेश- मशीनें जो विद्युत से चलती हैं वे ठीक प्रकार से फिट होनी चाहिए।

(3) ट्रांसमीशन तथा दूसरे खतरनाक यंत्रों को चारों तरह से घेर लगाकर रखा जाना चाहिए तथा उनकी देखभाल के लिए केवल विशेष रूप से प्रशिक्षित पुरूष श्रमिक ही नियुक्त किए जाने चाहिए।

(4) बाल तथा महिला श्रमिक खतरनाक मशीनों पर कार्य नहीं करेंगे।

(5) श्रमिकों से उनकी सामर्थ्य से अधिक बोझ ढोने का काम नहीं लेना चाहिए।

(6) यदि किसी कार्य विशेष से आंखों पर कुप्रभाव हो तो या आशंका हो तो उसकी रोक के लिए सेवायोजकों को विशेष प्रकार के चश्में आदि का प्रबंध करना चाहिए।

(2) स्त्री श्रमिक को संरक्षण –

(1) खतरनाक मशीनों पर स्त्री श्रमिकों को काम पर लगाना निषेध घोषित कर दिया गया है।

(2) चलती मशीन की सफाई करने, उसमें तेल डालने अथवा उसे सुधारने के लिए किसी भी स्त्री श्रमिक को काम पर नहीं लगाया जा सकता।

(3) अगर किसी कारखाने में कम से कम 30 स्त्रियाँ कार्य कर रही हैं तो उस कारखाने में सेवायोजक को 6 वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए शिशु-गृहों की व्यवस्था करनी होगी।

(4) स्त्री श्रमिक से सप्ताह में अधिक से अधिक 48 घंटे तथा प्रतिदिन 9 घंटे तक काम लिया जा सकता है।

(5) अगर किसी कारखाने में कपास की धुनाई का यंत्र प्रयोग किया जा रहा हैं और धुनाई का कमरा व प्रेस का कमरा दोनों ही पास-पास है तो किसी भी स्त्री को कपास पर प्रेस करने के कार्य पर नहीं लगाया जा सकता।

(3) कल्याण कार्य संबंधी प्रावधान –

श्रमिकों के लिए जलपान गृहों, विश्रामालयों, स्त्री श्रमिकों के छोटे बच्चों को दिन में रखने के लिए शिशु गृहों में बैठने की व्यवस्था, प्राथमिक चिकित्सा की सुविधा, वस्त्र धोने के स्थान आदि की सुविधा दी जानी चाहिए। 500 से अधिक श्रमिक वाले कारखानों के लिए राज्य सरकारों की सहायता से कल्याण अधिकारी रखना अनिवार्य कर दिया गया। व्यावसायिक रोगों आदि के विषय में सभी कारखाना मालिकों के लिए यह आवश्यक है कि दुर्घटना या बीमारी होने पर तत्काल सूचना दें।

(4) सफाई व स्वास्थ्य–

(1) कारखनों की सफाई की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

(2) प्रत्येक कारखाने में शुद्ध वायु के आने के लिए एवं गंदी वायु के जाने के लिए पर्याप्त झरोखे होने चाहिए।

(3) कारखाने में पीने का पानी, पेशाबघर तथा शौचालयों का भी प्रबन्ध आवश्यक है।

(4) कारखाने के तापक्रम का श्रमिक के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।

(5) काम के घंटे व नियुक्ति से संबंधित आदेश–

काम करने के लिए बच्चों की आयु कम से कम 14 वर्ष और किशोर की आयु कम से कम 18 वर्ष होनी चाहिए।

(1) व्यस्कों के लिए सप्ताह में काम के घंटे 48 तथा 1 दिन में 9 घंटे से अधिक नहीं हो सकते।

(2) कम से कम आधे घंटे का विश्राम दिए बिना किसी भी श्रमिक से लगातार 5 घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता।

(3) विश्राम के समय को सम्मिलित करते हुए किसी भी दिन काम के घंटों का फैलाव साढ़े दस घंटे से अधिक नहीं हो सकता।

(4) राज्य सरकारों को इन प्रावधानों में कुछ न कुछ संशोधन का अधिकार दिया गया परन्तु वे बहुत अधिक इन नियमों में बदलाव नहीं कर सकती।

(5) किसी भी दिन कार्य करने के कुल घंटे 10 से अधिक नहीं होने चाहिए।

(6) 3 माह की अवधि में कुल अतिरिक्त कार्य के घंटे 50 से अधिक नहीं होने चाहिए।

(7) अतिरिक्त कार्य के लिए दोगुनी दर से वेतन और पूरे सप्ताह में एक दिन की छुटटी की व्यवस्था होगी।

(6) सवेतन छट्टी–

साप्ताहिक छुट्टी के अतिरिक्त प्रत्येक श्रमिक का 12 माह की निरंतर सेवा के पश्चात एक निश्चित दर पर अतिरिक्त सवेतन छुट्टियों का भी अधिकार होगा। एक प्रौढ़ श्रमिक 20 दिन काम करने के बाद एक दिन की सवेतन छुट्टी प्राप्त कर सकता है। वह एक वर्ष में कम से कम 10 दिन सवेतन छुट्टी का अधिकारी है। एक बाल श्रमिक 15 दिन काम करने के बाद एक दिन तथा वर्ष में कम से कम 14 दिन की सवेतन छूट्टी ले सकता है। यदि कोई श्रमिक अपनी अर्जित छुट्टी लेने के पहले काम से हटा दिया जाता है अथवा स्वयं नौकरी छोड़ देता है तो मालिक पर उससे अर्जित छुट्टी की मजदूरी देने का उत्तरदायित्व है। अधिनियम संबंधी प्रशासन राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व है जो इसे अपने फैक्ट्री निदेशालय के माध्यम सें पूरा करती है। राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया है कि वे दुर्घटना के किसी मामले में अथवा व्यावहारिक रोग के किसी मामले में कारखाने की जांच के लिए उपयुक्त व्यक्ति की नियुक्ति कर सकती हैं।

संशोधन

इस कारखाना अधिनियम में कुछ संशोधन प्रस्तावित किये गए हैं। जैसे 29 उद्योगों को खतरनाक प्रक्रिया वाले उद्योग मानना। ऐसे किसी उद्योग की स्थापना राज्य सरकार द्वारा गठित समिति की बिना अनुमति के न होना। ऐसे उद्योग के मालिक/प्रबंधक/प्रतिनिधि की अनिवार्य जिम्मेदारी होगी कि श्रमिकों एवं सरकार को ऐसी बातों से अवगत कराए जो खतरनाक हैं।

मालिकों का कर्त्तव्य होगा कि ऐसे उद्योग की जहाँ खतरनाक प्रक्रिया चल रही है वह सुरक्षा का समुचित प्रबंध रखे। किसी संस्था में सुरक्षा प्रयत्नों के असफल होने पर केन्द्रीय सरकार जाँच करा सकती है। नियमों में सुरक्षा उपायों को जोड़ना। व्यावसायिक बीमारियों से सुरक्षा व्यवस्था में वृद्धि करना। निरीक्षकों के अधिकार बढ़ाना। नियमों के उल्लंघन पर अधिकतम 2 वर्ष की सजा व एक लाख रुपया जुर्माना, लेकिन खतरनाक उद्योगों में यह सजा 7 वर्ष व 2 लाख जुर्माना तक हो सकती है।

आलोचनाएँ

भारत में कारखाना अधिनियम के संबंध में सन् 1946 की श्रम जाँच समिति ने कई दोष बतलाये :-

1. **सेवायोजकों की मनमानी–** ऐसे अनेक उपाय हैं जिनके आड़ में रहकर सेवायोजक मनमानी करते हैं यथा :-

   (अ) श्रमिकों से अधिक काम लेने के लिए घड़ी को पीछे कर देते हैं।

   (ब) आकस्मिक श्रमिकों को कार्य पर लगाते हैं और उन्हें पदमुक्त करके एवं पुनःनियुक्त करके सवेतन छुट्टी के प्रावधान से वंचना करते हैं।

   (स) ओवर टाइम के प्रावधान से बचाव के लिए गलत उपस्थिति रजिस्टर रखा जाता है। झूठा प्रमाणपत्र प्राप्त करके बाल श्रमिकों को काफी संख्या में काम पर लगाया जाता है।

(2) **निरीक्षकों की लापरवाही–** निरीक्षक जिसे कारखानों के निरीक्षण का कार्य सौपा गया है बहुत ही कम स्थितियों में अपना कर्त्तव्य निभाता है। निरीक्षक कारखाने के निरीक्षण करने की पूर्व सूचना दे देते हैं जिससे सेवायोजक पहले ही जागरूक हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त फैक्ट्री निरीक्षक तकनीकी व्यक्ति नहीं होते हैं इसलिए कर्मचारियों के कल्याण एवं स्वास्थ्य को नियंत्रित करने के मामले में अयोग्य हैं।

(3) **अतिरिक्त कार्य का भुगतान नहीं–** अनेक कारखानों में अधिनियम के अनुसार अतिरिक्त कार्य का भुगतान नहीं किया जाता। कुछ स्थानों में तो प्रबंधक दोहरे रजिस्टर रखा करते हैं। एक रजिस्टर अपने लिए तथा दूसरे कारखाना निरीक्षक को दिखाने के लिए।

(4) **मजदूरों से अधिक कार्य–** जहाँ पर पालियों में कार्य कराया जाता है वहाँ मजदूरों से अधिक कार्य करा लिया जाता है। कारखाना निरीक्षक भी इस त्रुटि को नहीं समझ पाता।

(5) **बाल श्रमिकों का शोषण–** बाल श्रमिकों का शोषण बहुत होता है, विशेष रूप से अनियंत्रित कारखानों में जहाँ प्रायः अधिनियमित आयु से कम आयु के बालकों को कार्य पर रख लिया जाता है और गलत प्रमाण पत्र बनवा लिए जाते हैं।

(6) **न्यायसंगत नहीं–** राज्य सरकारें कुछ व्यक्तियों को आदेशों का पालन करने से मुक्त कर सकती है जो न्याय संगत नहीं है।

(7) **असुरक्षित मजदूर–** अनियंत्रित कारखानों जैसे- बीड़ी, कालीन और छोटे चमड़े के कारखाने आदि में काम करने वाले मजदूर जो कि औद्योगिक मजदूरों का काफी बड़ा भाग हैं, कदाचित ही सुरक्षित हैं एवं उनकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

(8) **प्रावधानों का उल्लंघन–** स्वच्छता एवं सुरक्षा के प्रावधानों का भी उल्लंघन किया जाता है। अधिकांश कारखानों में तो प्राथमिक चिकित्सा पेटिकाएँ भी नहीं हैं।

(9) **श्रम कल्याण अधिकारी की नियुक्ति नहीं–** बहुत से कारखानों में आवश्यक श्रम कल्याण अधिकारी भी नियुक्त नहीं किए गए हैं।

सुझाव

इस अधिनियम को श्रमिकों के लिए वास्तविक लाभकारी बनाने हेतु यह आवश्यक है कि उक्त कमियों को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएं। अतः यह ज्ञात करना

आवश्यक है कि अधिनियम के प्रावधानों का पालन हो रहा है या नहीं। इसे देखने के लिए राज्यों में निरीक्षण-अधिकारियों की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। फैक्ट्रियों के निरीक्षण के दौरान निरीक्षकों को श्रम प्रतिनिधियों से भी परामर्श करना चाहिए ताकि वे अपनी शिकायतों को बता सकें। अधिनियम के आदेशों का उल्लंघन करने वाले मालिकों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। 500 अथवा इससे अधिक कर्मचारियों से युक्त फैक्ट्रियों में स्वास्थ्य के स्तर में सुधार लाने के लिए उपयुक्त अधिकारियों की नियुक्ति अनिवार्य होनी चाहिए। राज्य सरकारों के अधिकार में एकरूपता लायी जानी चाहिए।

भारतीय खान अधिनियम –

भारत में खान अधिनियम सन् 1901 में पास हुआ। इसे कई बार वर्ष 1923, 35, 36, 37, 40, 46 में संशोधित किया गया। 1 जुलाई, 1952 में नया कारखाना अधिनियम बना जिसे सन् 1959 में संशोधित किया गया। इसकी प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :-

अ. अधिनियम का क्षेत्र- यह अधिनियम जम्मू और कश्मीर को छोड़ कर देश के समस्त कारखानों में लागू होता है।

ब. सुरक्षात्मक व्यवस्थाएँ- यह अधिनियम खदानों में कार्य करने वाले सभी श्रमिकों को कारखाना अधिनियम के अंतर्गत प्रदान की गई सुरक्षाओं एवं कल्याण संबधी सुविधाओं को प्रदान करता है। उदाहरण के लिए सभी खानों के मालिकों के लिए आवश्यक है कि वे पीने योग्य शीतल जल, शौचालय, पेशाब घर तथा औषधि पेटी की व्यवस्था करें।

स. कार्यावधि- खान के भीतर तथा बाहर कार्य करने वाले दोनों प्रकार के व्यस्क श्रमिकों के लिए कार्य के सुनिश्चित घंटे प्रति सप्ताह 48 हैं।

द. पहले अनुसूचित उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी के निर्धारण हेतु जो समय-सीमा रखी गयी है उसे अब सन् 1961 के एक संशोधन के अनुसार हटा लिया गया है। एक और संशोधन प्रस्ताव पारित किया गया था जिसमें कहा गया था कि यदि कोई श्रमिक कुछ अधिकार एवं सुविधाएँ किसी ठहराव अथवा परम्परा आदि द्वारा प्राप्त कर चुका है और वे सुविधाऍ अपेक्षाकृत अधिक अच्छी हैं तो उन सुविधाओं मे कमी नहीं होने दी जाएगी।

बागान अधिनियम –

भारत में चाय, रबड़, कहवा आदि के बागानों में बहुत बड़ी संख्या में श्रमिक कार्य करते हैं। अतः मजदूरों की सुरक्षा व संरक्षण के लिए निम्नलिखित प्रमुख अधिनियम पारित किए गए हैं :-

1. चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम, 1932
2. बागान श्रमिक अधिनियम, 1951

चाय जिला प्रवासी श्रमिक अधिनियम की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं :-

अ. यह अधिनियम मुख्य रूप से अन्य राज्यों से जाने वाले आसाम के चाय बागानों के श्रमिकों की भर्ती से संबंधित था।

ब. इसके अनुसार वहीं सेवायोजक अथवा उनके एजेन्ट दूसरे क्षेत्रों से आसाम के चाय बगानों के क्षेत्र में श्रमिकों को ले आ सकते थे जिन्हें लाइसेंस प्राप्त था।

स. सोलह वर्ष से कम आयु वाले बालकों को बागानों के लिए तभी ले जाया जा सकता था जब कि वे अपने माता-पिता आदि के साथ हों।

ड. विवाहित महिलाएँ अपने पति की अनुमति से ही चाय बगानों को ले जायी जा सकती हैं।

द. अधिनियम का प्रशासन प्रवासी श्रमिक नियंत्रण के द्वारा होता था।

बागान श्रमिक अधिनियम –

यह अधिनियम बागान मजदूरों के कल्याण तथा बागानों में कार्य करने की शर्तो को विभाजित करने के लिए बनाया गया। यह अधिनियम राज्य सरकारों द्वारा लागू किया जाता है। बागान मजदूर अधिनियम के कार्यान्वयन के दौरान अनुभव की गयी कुछ कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा अधिनियम का क्षेत्र बताने के लिए बागान मजदूर विधेयक संसद द्वारा पारित किया गया और इसे लागू कर दिया गया। इस बागान श्रमिक अधिनियम 1951 की प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं :-

1. यह अधिनियम जम्मू और कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत में लागू है तथा इसके अंतर्गत ऐसे समस्त चाय, काफी, रबड़, सिनकोना और इलायची बागान आते हैं जो पांच हेक्टेयर या अधिक क्षेत्रफल के हैं और जिनमें 15 से अधिक श्रमिक लगे हुए हैं।
2. 750 रुपये मासिक वेतन पाने वाले श्रमिक इस अधिनियम के अंतर्गत आते हैं।
3. संशोधित अधिनियम के अंतर्गत समस्त बागानों में मजदूरों और उनके परिवारों तथा ऐसे समस्त व्यक्तियों के लिए जो कहीं बाहर निवास करते हैं परन्तु बागान में रहने की इच्छा लिखित रूप से प्रकट कर चुके हैं बशर्ते कि वे 6 महीने की नौकरी कर चुके हों, निवास स्थान की व्यवस्था करने का प्रावधान है।
4. अधिनियम में अब बागानों के अनिवार्य पंजीकरण का प्रावधान है।
5. बागानों में मजदूरों के लिए अस्पताल व औषधालय की व्यवस्था करना जरूरी है।
6. चाय बोर्ड की सहायता से कुछ बागानों में लाभदायक हस्तकला जैसे सिलाई, बुनाई, और टोकरी बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता है। यहाँ पर मनोरंजन की सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं।

परिवहन अधिनियम

भारत में प्रमुख परिवहन अधिनियम निम्नलिखित हैं :-

1. भारतीय रेलवे अधिनियम, 1840;

2. भारतीय व्यापारी जहाज अधिनियम, 1958;

3. डाक कर्मचारी रोजगार नियम अधिनियम, 1948;

4. मोटर यातायात कर्मचारी अधिनियम, 1961

भारतीय रेलवे अधिनियम– भारत में परिवहन सेवाओं में लगे श्रमिकों के लाभार्थ सर्वप्रथम वैधानिक सुविधाएँ रेलवे कर्मचारियों को सन् 1890 के भारतीय रेलवे अधिनियम द्वारा दी गयी। यह अधिनियम सन् 1990 में संशोधित होकर रेलवे वर्कशापों को छोड़कर समस्त कर्मचारियों पर लागू हो गया और इनके विश्राम तथा काम करने के घंटों का नियमन करने लगा। इसके अनुसार निरंतर काम करने वाले कर्मचारियों के काम के घंटे एक महीने में लगभग 60 घंटे प्रति सप्ताह निर्धारित किए गए थे। साथ ही साथ एक सप्ताह में 24 घंटे लगातार विश्राम की भी व्यवस्था की गयी।

भारतीय जहाज व्यापारी अधिनियम, 1958– इस अधिनियम का पूर्वज 1923 का व्यापारी जहाज अधिनियम था। जिसमें समय-समय पर संशोधन किया गया। 1958 में पूरा अधिनियम संशोधित किया गया। इसके अनुसार 15 वर्ष से कम उम्र के बच्चों की नियुक्ति निषेध है और 18 वर्ष तक या स्कोटर के काम पर नहीं लगया जा सकता। अधिनियम में प्रशासन, विकास आदि से संबधित कई बातों का प्रावधान है।

डाक कर्मचारी– बंदरगाहों पर जहाजों से माल उतारने और जहाजों पर माल लादने वाले श्रमिकों के संबंध में सर्वप्रथम सन् 1908 में भारती बंदरगाह अधिनियम पास किया गया। जिसमें बाद में संशोधन किया गया। इस अधिनियम के अनुसार श्रमिकों की भर्ती का नियमन किया गया। इसके पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ तथा शाही श्रम आयोग की सिफारिशों के आधार पर सन् 1934 में भारतीय डाक श्रमिक अधिनियम पास किया गया पंरतु इसे 1949 तक लागू नहीं किया गया। बाद में भारत सरकार ने डाक कर्मचारियों की कठिनाइयों के निवारण करने हेतु डाक कर्मचारी रोजगार अधिनियम, 1949 पास किया गया। यह अधिनियम रोजगार कार्य के घंटे, कल्याण कार्य सुरक्षा आदि से सम्बन्धित नियमों को अपने में समाहित किये हुये है। इस नियमों का पालन करने के संबंध में एक सलाहकार समिति स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इस समिति में श्रमिकों, मालिकों तथा सरकार के 15 प्रतिनिधि होंगे। सरकारी प्रतिनिधियों में से समिति का अध्यक्ष सरकार द्वारा मनोनीत होगा।

मोटरकार कर्मचारी अधिनियम, 1961– यह अधिनियम उन मोटर यातायात कंपनियों पर लागू होता है जिनमें 5 या अधिक कर्मचारी कार्य करते हैं। कार्य के घंटे सप्ताह में 48 और दैनिक 8 से अधिक नहीं होने चाहिए। 15 वर्ष से कम उम्र के बालकों की नियुक्त निषेध है। किशोरों के लिए कार्य के घंटे 1 दिन में 6 से अधिक नहीं हो सकते और रात्रि 10 बजे से प्रातः 6 बजे तक उन्हें कार्य पर नहीं लगाया जा सकता। किशोरों को 15 दिन के कार्य पर एक दिन की छुट्टी का प्रावधान है।

मजदूरी संबंधी सन्नियम

मजदूरों की मजदूरी किस प्रकार दी जाए इस संबंध में भी कुछ अधिनियम बनाये गए हैं जिनमें दो प्रमुख है :-

1. मजदूरी भुगतान अधिनियम, 1936
2. न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948

१. मजदूरी भुगतान अधिनियम, 1936– यह अधिनियम कारखानों, रेलों, कोयले की खानों तथा असम एवं मद्रास के बागानों में कार्य करने वाले श्रमिकों पर लागू होता है। इस अधिनियम के अंतर्गत 400 रूपये या इससे कम मासिक वेतन वाले कर्मचारी आते हैं। अधिनियम के अनुसार मजदूरी चुकाने की अधिकतम अवधि एक माह निश्चित की गयी है। मजदूरी नकद मुद्रा के रूप में दी जानी चाहिए। कुछ निर्धारित कटौतियों के अतिरिक्त मजदूरी से कोई कटौती नहीं की जा सकती।

२. न्यूनतम मजदूरी अधिनियम – मार्च 1948 में यह अधिनियम पारित हुआ। इसके अनुसार केन्द्रीय व राज्य सरकारों को किसी भी उद्योग में जिसमें 1000 व्यक्ति लगे हैं उनकी न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने का अधिकार दिया गया है।

सामाजिक सुरक्षा संबंधी अधिनियम

इस संबंध में निम्नलिखित अधिनियम भारत में पास किये जा चुके हैं :-

1. कामगार क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923
2. कर्मचारी राज्य बीमा निगम, 1948
3. कोयला खान प्राविडेंट फंड बोनस योजना अधिनियम, 1948
4. कर्मचारी प्राविडेंट फंड अधिनियम, 1952
5. असम चाय बागान प्राविर्डेट फंड अधिनियम, 1955
6. मातृत्वहित लाभ अधिनियम, 1961
7. सीमेंस प्राविडेंट फंड अधिनियम, 1966

प्रथम अधिनियम में कई बार संशोधन हुए। इसके अनुसार मजदूरों को कार्य के दौरान होने वाली दुर्घटनाओं का मुआवजा मिलता है।

द्वितीय अधिनियम के अनुसार विभिन्न उद्योगों में लगे हुए कर्मचारियों को बीमा के द्वारा सुरक्षा दी जाती है और बीमारी, प्रसूतिकाल, मृत्यु, असमर्थता एवं चिकित्सा संबंधी सहायता दी जाती है। यह उन कारखानों में लागू होती हैं जहां 20 या अधिक कर्मचारी काम करते है और शक्ति का प्रयोग होता है।

तृतीय अधिनियम कोयले के खदानों के कर्मचारियों पर लागू होता है।

चतुर्थ अधिनियम के द्वारा उद्योगों में लगे हुए कर्मचारियों को प्राविडंट फंड के द्वारा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है। यह उन कारखानों पर लागू होता है जिसमें 20 या अधिक व्यक्ति काम करते हैं।

पंचम अधिनियम असम के चाय बागानों पर लागू होता है।

छठवें अधिनियम के द्वारा महिला श्रमिकों को प्रसूतिकाल में सहायता देने की व्यवस्था की गयी है। यह केन्द्रीय कानून है। विभिन्न राज्यों ने इस पर आधारित कानून पास कर दिए हैं।

सातवां अधिनियम सामुद्रिक जहाजों के कर्मचारियों को भविष्य निधि के द्वारा सामाजिक सुरक्षा देने के लिए है।

श्रम कल्याण संबंधी विधान

भारत में श्रम कल्याण की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए भी कई कानून बनाए गए हैं। ऐसे कुछ प्रमुख विधान निम्नलिखित है :-

1. कोयला खान श्रम कल्याण अधिनियम, 1947
2. अभ्रक खदान श्रम कल्याण निधि अधिनियम, 1946
3. असम चाय बागान कर्मचारी कल्याण अधिनियम, 1959
4. लोहा खदान श्रम कल्याण उपकार अधिनियम, 1961
5. इसके अतिरिक्त भारतीय कारखाना अधिनियम, 1948

अन्य श्रम संबंधी अधिनियम

भारत के श्रमिकों के कार्य को नियमित करने के कुछ अन्य नियम इस प्रकार हैं :-

1. **बाल श्रम उन्मूलन एवं विनियमन अधिनियम** 1986- यह अधिनियम 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को नियुक्ति का निषेध विभिन्न उद्योगों में करता है।
2. **व्यवसाय संघ अधिनियम** 1926- इस अधिनियम के अंतर्गत श्रमिक संघों के पंजीयन तथा कर्तव्यों का नियमन किया गया है।
3. **औद्योगिक रोजगार (स्थायी आदेश) अधिनियम,** 1946- इस अधिनियम के अंतर्गत जिन औद्योगिक संस्थानों में 100 या अधिक व्यक्ति काम करते हों इनमें भर्ती, बर्खास्तगी, अनुशासन, छुट्टी आदि संबंधी नियमों की व्यवस्था है।
4. **औद्योगिक विवाद अधिनियम,** 1947- इस अधिनियम के अर्न्तगत औद्योगिक प्रतिष्ठानों में विवादों के सुलझाव की व्यवस्था है।
5. **मध्य प्रदेश औद्योगिक संबंध अधिनियम,** 1960- इस कानून का उद्देश्य उद्योगपतियों तथा मजूदरों के संबंधों को नियमित करना तथा विवादों को सुलझाना है। यह अधिनियम श्रमिक संघों को मान्यता देने तथा श्रम अधिकारियों के दायित्वों और कर्तव्यों के निर्धारण से भी सम्बन्धित है।

6. **बोनस भुगतान अधिनियम,** 1965– यह अधिनियम उन सब कारखानों और औद्योगिक संस्थानों पर लागू होता है, जिसमें 20 या अधिक व्यक्ति किसी भी दिन पिछले एक वर्ष से काम कर रहे हैं। कर्मचारी से तात्पर्य उन सब वेतन या मजदूरी पाने वालों से है, जो प्रतिमास 3200 रुपये से कम मजदूरी पाते हैं। इस अधिनियम के अंतर्गत कर्मचारी उद्योगपति से बोनस पाने का अधिकारी है।

7. **दुकान वाणिज्य संस्थान अधिनियम–** यह राज्यों के अधिनियम हैं और सब राज्यों ने ऐसे अधिनियम पारित किए हैं। इसके अनुसार दुकानों में काम करने वाले कर्मचारियों के कार्य के घंटे साप्ताहिक अवकाश आदि का नियमन किया गया है।

8. **बीड़ी तथा सिगार कर्मचारी (रोजगार की दशा) अधिनियम,** 1966– यह कानून जम्मू और कश्मीर को छोड़कर शेष पूरे देश में लागू होता है और इसका उद्देश्य बीड़ी तथा सिगार के उत्पादन में लगे हुए मजदूरों की दशा को सुधारना हैं। कोई भी राज्य किसी तिथि में इस कानून को लागू कर सकता है।

9. **बंधुवा मजदूरी उन्मूलन एवं विनियमन अधिनियम** 1976– यह अधिनियम आपातकालीन स्थिति में पास किया। इसके द्वारा ऋण आदि की अदायगी के लिए बंधक मजदूरी की बर्बर प्रथा की समाप्ति कर दी गयी। बंधक मजदूरों को मुक्त कर दिया गया और बंधक रखना दंडनीय अपराध घोषित कर दिया गया। इस प्रकार मुक्त किए गए मजदूरों को उनके खेत और घर आदि से बेदखल नहीं किया जा सकेगा।

10. **ठेकेदारी, मजदूरी (नियत्रंण एवं उन्मूलन) अधिनियम,** 1970– इस अधिनियम के अंतर्गत ठेकेदारी प्रथा के अंतर्गत मजदूरों के कार्य के नियंत्रण का प्रावधान है और कुछ परिस्थितियों में ठेकेदारी प्रथा के उन्मूलन का भी प्रावधान है।

11. **समान मजदूरी अधिनियम–** यह अधिनियम आपातकालीन युग की देन है। इसके द्वारा पुरुष और महिला मजदूरों को बराबर मजदूरी पाने का अधिकार मिला है।

राज्य सरकारों द्वारा किये गए श्रम कल्याण कार्य –

राज्य सरकारों द्वारा भी श्रम कल्याण क्षेत्र में सराहनीय कार्य किए जा रहें हैं। स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राज्य सरकार ने श्रम कल्याण के लिए अधिनियम बनाए। अधिकांश राज्य सरकारों द्वारा श्रम कल्याण केन्द्र स्थापित किए गए। जिनमें श्रमिकों को शिक्षा एवं व्यायामशाला, वाचनालय, पुस्तकालय व मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। कुछ राज्यों के अंतर्गत कार्य करने वाले श्रम कल्याण केन्द्रों के अंतर्गत वाह्य खेल, सिलाई, कढ़ाई, बुनाई करने का प्रशिक्षण तथा मनोरंजन सुविधाएँ, हथकरघा उद्योग प्रशिक्षण, शिशु शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, सांस्कृतिक कार्यक्रम, चिकित्सा-संबंधी सहायता, मातृत्व एवं शिशु कल्याण सुविधाएँ, शिल्प प्रशिक्षण आदि महत्वपूर्ण सेवायें प्रदान की जाती है।

सेवायोजकों द्वारा किये जाने वाले कार्य –

भारत में नियोक्ता श्रमिक कल्याण कार्य के प्रति उदासीन हैं और वे केवल वही कल्याण का कार्य करना चाहते हैं जिसका करना इनके लिए कानूनों के अंतर्गत अनिवार्य है किन्तु इसके अपवाद भी हैं। नीचे कुछ प्रमुख उद्योगपतियों द्वारा विभिन्न उद्योगों में किए गए श्रम कल्याण कार्य का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है :-

(i) **सूती वस्त्र उद्योग** :- इस उद्योग की लगभग सभी इकाइयों में चिकित्सालय, शिक्षा गृह व उचित मूल्य की दुकानें तथा अधिकांश में कैंटीन है। कुछ इकाइयों में मनोरंजन केन्द्र, अच्छे अस्पताल व उपभोक्ता सहकारी समितियाँ भी हैं। सूती वस्त्र उद्योग में श्रम कल्याण के लिए मालिकों द्वारा उल्लेखनीय कार्य किया गया है जिसमें केलिको मिल्स, अहमदाबाद, ग्रासिम उद्योग ग्वालियर, दिल्ली क्लाथ मिल्स, दिल्ली, मदुराई व एम्प्रेस मिल्स नागपुर प्रमुख हैं।

(ii) **लोहा एवं इस्पात उद्योग** – इसमें बड़ी इकाइयों में चिकित्सालय हैं जहां महिला श्रमिक हैं वहां झूलाघर व शिशु-सदन भी है। श्रम कल्याण करने वाले उद्योगपतियों में टाटा कम्पनी का नाम प्रमुख है। टाटा आयरन स्टील एण्ड कम्पनी, जमशेदपुर में 490 बिस्तर वाला एक आधुनिक अस्पताल, हाईस्कूल-मिडिल स्कूल, प्रारंभिक पाठशाला, रात्रि स्कूल तथा श्रम कल्याण केन्द्र हैं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े खेल के मैदान पुस्तकालय एवं वाचनालय सहकारी भण्डार आदि भी हैं।

(iii) **जूट उद्योग** – इसमें उद्योगपतियों का एक संगठन भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन है जो श्रमिक कल्याण के संबंध में विभिन्न योजनाएँ चलाता व प्रबन्धित कराता है। इस संघ ने पाँच कल्याण केंन्द्र स्थापित किए हैं, जो श्री रामपुर, टीटागढ़, कनकी, पाढ़ा, भदेश्वर व हजारी बाग में स्थित है।

(iv) **चीनी उद्योग** – चीनी के बड़े मिलों में चिकित्सालय, कैन्टीन, सहकारी समितियाँ, मनोरंजन केन्द्र, स्कूल आदि हैं।

उपर्युक्त उद्योगों के अलावा अन्य उद्योगों में भी इसी प्रकार के श्रमिक कल्याण कार्य उद्योगपतियों द्वारा किए जा रहे हैं। इन उद्योगों में कागज, सीमेंट, कोयला खनन, अभ्रक खनन आदि प्रमुख हैं। श्रम कल्याण के क्षेत्र में कुछ उद्योगपतियों जैसे टाटा, बिरला, जे0के0, मोदी, बकिंघम कर्नाटक मिल्स आदि प्रमुख हैं जो अच्छे श्रम कल्याण कार्य एवं एक आदर्श नियोक्ता की भूमिका अदा कर रहे हैं।

श्रम संघों द्वारा किए गए कल्याण कार्य –

पाश्चात्य देशों में जहाँ श्रमिक संघों का पर्याप्त रूप में विकास हो चुका है, श्रमिकों के कल्याण संबंधी कार्य बहुत हुए हैं परन्तु भारत में श्रम कल्याण के क्षेत्र में श्रमसंघों द्वारा किए

गए कार्य नगण्य हैं फिर भी कुछ संघों ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किये हैं जिसमें अहमदाबाद टैक्सटाइल श्रमिक संघ, कानपुर मजदूर सभा, मिल मजदूर संघ इंदौर, रेलवे मैस युनियन आदि उल्लेखनीय हैं। अहमदाबाद टैक्सटाइल श्रमिक संघ ने विशेष रूप से प्रशंसनीय कार्य किए हैं। इस संघ ने बहुत रुपये श्रम कल्याण पर खर्च किये हैं। इसके द्वारा सांस्कृतिक और सामाजिक केन्द्र चलाये जाते हैं। इस संघ ने श्रमिक बच्चों के लिए विद्यालयों, लड़कियों के लिए विद्यालयों, छात्रावासों, व छात्रवृत्ति, व्यवसायिक प्रशिक्षण, कक्षाओं, वाचनालयों, चिकित्सालयों स्त्री व बालक कल्याण केन्द्रों व सहकारी समितियों का भी प्रावधान है। इसी प्रकार अन्य श्रम संघों ने भी अपने सदस्यों के लाभार्थ पुस्तकालय, वाचनालय विद्यालय, चिकित्सालय व सहकारी समितियों आदि की व्यवस्था की है।

मौलिक रूप से श्रमिक संघों की स्थापना श्रम कल्याण के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु होने के बावजूद भी निर्बल आर्थिक स्थिति श्रमिक संघों की बहुलता बाह्य नेतृत्व की प्रमुखता व उनके निहित स्वार्थों के कारण श्रमिक संघ अपनी भूमिकाओं को नहीं निभा पाए हैं।

स्वायत्तशासन और धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं द्वारा कल्याण कार्य

भारत में नगरपालिकाओं और नगर निगमों के द्वारा भी श्रम कल्याण कार्य किये गए हैं। इनके द्वारा पाठशालाओं, वाचनालयों, अस्पतालों और मनोरंजन गृहों की स्थापना की गई है जिससे श्रमिक लाभ उठाते हैं। कई धार्मिक व सामाजिक संस्थायें भी श्रम कल्याण का कार्य करती हैं जैसे युवा पुरुषों की क्रिश्चियन समिति, बम्बई समाज सेवा लीग, सेवा सदन समाज मातृत्व एवं शिशु कल्याण समिति आदि।

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा भारत में श्रम कल्याण कार्य– संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारत के श्रमिकों के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए उल्लेखनीय कार्य किया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्वास्थ्य, निरीक्षकों तथा दाइयों के प्रशिक्षण तथा उन्हें चिकित्सा संबंधी पर्याप्त सज्जा से सुसज्जित करने में 20 लाख डालर व्यय किये हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघीय अंतर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष भारत में माताओं तथा बच्चों को दूध वितरित करने तथा प्रसूतिगृहों एवं बाल कल्याण केन्द्रों की स्थापना के उद्देश्य से प्रारंभ किया गया था। इसमें दस लाख रुपया दूध वितरण, मलेरिया नियंत्रण एवं दुर्भिक्ष निवारण पर व्यय किया जा चुका है। इस धन का अधिकांश भाग भारतीय गाँवों तथा श्रमिक बस्तियों में व्यय हो रहा है।

संवैधानिक एवं विधिक प्रयास –

भारतीय संविधान के अंतर्गत मौलिक अधिकारों के अध्याय में श्रम कल्याण से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण उपबन्ध सम्मिलित किये गये हैं, यथा :-

अनुच्छेद 9 (5) के अनुसार भारतीय नागरिकों को समितियों एवं संघों को बनाने का अधिकार है।

अनुच्छेद 23 के अनुसार व्यक्तियों से बेगार लेना निषेध है।

अनुच्छेद 24 में यह प्रावधान है कि 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को किसी कारखाने अथवा खान में कार्य करने के लिए सेवायोजित नहीं किया जायगा अथवा किसी खतरनाक सेवा में नहीं लगाया जाएगा। भारतीय संविधान के राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में श्रम कल्याण से संबंधित किए गए प्रावधान इस प्रकार हैं -

अनुच्छेद 39 के अनुसार सभी नागरिकों, पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों को समान रूप से आजीवका कमाने के उपयुक्त साधनों का अधिकार है-

अनुच्छेद 39 के अनुसार समुदाय के भौतिक संसाधनों के स्वामित्व एवं नियंत्रण को इस प्रकार वितरित किया जायगा कि इससे सामान्य हितों की पूर्ति की जा सके।

अनुच्छेद 39 में पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों के लिए समान कार्य के लिए वेतन उपलब्ध कराने का प्रावधान है।

अनुच्छेद 39(ड) द्वारा यह प्रावधान किया गया कि श्रमिकों, पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों के स्वास्थ्य एवं शक्ति तथा बच्चों की नाजुक आयु का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता के कारण नागरिक अपनी आयु अथवा शक्ति की दृष्टि से अनुपयुक्त व्यवसायों को अपनाने के लिए बाध्य न हो।

अनुच्छेद 41 के अनुसार राज्य अपनी आर्थिक क्षमता एवं विकास की सीमाओं के अनुसार कार्य के अधिकार को उपलब्ध कराने के लिए प्रभावपूर्ण प्रावधान करेगा तथा राज्य बेकारी, वृद्धावस्था, बीमारी एवं असमर्थता तथा अनुपयुक्त आवश्यकता के केन्द्र अन्य मामलों में सहायता करेगा।

अनुच्छेद 42 के अतंर्गत राज्य कार्य की न्यायोचित एवं मानवीय परिस्थितियों तथा मातृत्व सहायता को उपलब्ध कराने के लिए कार्य करेगा।

अनुच्छेद 43 के अनुसार राज्य उपयुक्त विधान अथवा आर्थिक संगठन अथवा किसी अन्य प्रकार से सभी श्रमिकों (कृषि संबंधी, औद्योगिक अथवा अन्य) को कार्य जीवन की गुणात्मकता, निर्वाह मजदूरी उत्तम जीवन स्तर का आश्वासन प्रदान करने वाली कार्य की शर्तो तथा रिक्त समय में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों का पूर्ण आनन्द लेने की व्यवस्था करेगा।

अनुच्छेद 43(क) के अंतर्गत राज्य उपयुक्त विधान अथवा अन्य किसी प्रकार से किसी उद्योग में कार्यरत इकाइयों संस्थानों अथवा अन्य संगठनों के प्रबंध में श्रमिकों की सहभागिता की प्राप्ति के लिए उपाय करेगा।

भारत सरकार द्वारा चलाई जा रही विभिन्न श्रम कल्याण योजनाएँ :

1. विभिन्न औद्योगिक केन्द्रों में चिकित्सालय एवं औषधालय।
2. बीड़ी तथा खान श्रमिकों के लिए क्षय रोग चिकित्सालयों में बिस्तरों की आरक्षण योजना।
3. क्षय रोग से ग्रस्त बीड़ी तथा खान श्रमिकों के घर पर इलाज की व्यवस्था।
4. कैंसर से पीड़ित बीमा/सिनेमा/खान श्रमिकों के इलाज की योजना।
5. मानसिक रोगों से ग्रस्त बीड़ी तथा खान श्रमिकों के इलाज की योजना।
6. कुष्ठ रोग से पीड़ित बीड़ी तथा खान श्रमिकों के इलाज की योजना।
7. बीड़ी तथा खान श्रमिकों को चश्मा खरीदने के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने की योजना।
8. बीड़ी तथा खान उद्योग में महिला श्रमिकों के लिए मातृत्व लाभ देने की योजना।
9. बीड़ी तथा खान श्रमिकों को नसबंदी कराने पर हुए व्यय की प्रतिपूर्ति योजना।
10. बीड़ी, खान तथा सिनेमा श्रमिकों के दिल संबंधी रोगों के इलाज पर आय-व्यय की प्रतिपूर्ति योजना।
11. बीड़ी, खान तथा सिनेमा श्रमिकों के द्वारा गुर्दे बदलवाने पर किए गए व्यय की प्रतिपूर्ति।
12. खान श्रमिकों को कृत्रिम अंग उपलब्ध कराने की योजना।
13. लौह खनिज, चूना पत्थर तथा डोलोमाइट खानों के प्रबंधकों को एम्बुलेन्स खरीदने के लिए अनुदान देने की योजना।
14. खान श्रमिकों की घातक और गंभीर दुर्घटना होने पर क्षतिपूर्ति के भुगतान की योजना।

आवासीय सुविधाएँ

1. खान श्रमिकों के लिए टाइप I आवासीय योजना।
2. खान श्रमिकों के लिए टाइप II आवासीय योजना।
3. अपनाघर बनाओ योजना।
4. खान तथा बीड़ी श्रमिकों के लिए सामूहिक आवासीय योजना।
5. बीड़ी उद्योग में कार्यरत आर्थिक दृष्टि से निर्बल वर्गों के लिए आवास योजना।
6. बीड़ी श्रमिकों की सहकारी समितियों के कार्यशालाओं अथवा गोदामों के निर्माण के लिए छूट तथा वित्तीय सहायता के अनुदान की स्वीकृति की योजना।
7. श्रमिकों के लिए आवास हेतु वित्तीय सहायता।

शैक्षणिक सुविधाएँ

1. खान, बीड़ी, सिनेमा श्रमिकों के बच्चों के लिए पांचवीं कक्षा तक उच्च कक्षा में मान्यता प्राप्त संस्थाओं में अध्ययनरत छात्रों के लिए छात्रवृत्ति योजना।

2. कक्षा 4 तक में अध्ययनरत अभ्रक खानों में कार्यरत श्रमिकों तथा बीड़ी श्रमिकों के बच्चों को विद्यालय की वर्दी, पाठ्य-पुस्तकें तथा लेखन सामग्री के लिए दी जाने वाली सहायता की योजना।
3. खान प्रबंधकों को बच्चों के लिए स्कूल वाहन खरीदने के लिए सहायता देने की योजना।
4. लौह खनिज मैगनीज खनिज तथा क्रीम खनिज श्रम कल्याण कोष के अंतर्गत स्थापित पुस्तकालयों के अनुरक्षण के लिए खान प्रबन्धकों को अनुदान।
5. केन्द्रीय पुस्तकालय सह-वाचनालयों की स्थापना के लिए योजना।
6. लौह खनिज क्षेत्र में मान्यता प्राप्त विद्यालयों को अनुदान।
7. मध्याह्न भोजन योजना।
8. अभ्रक में कार्यरत श्रमिकों के बच्चों के लिए विद्यालय।
9. अध्ययरत बच्चों के लिए प्रोत्साहन योजना।

मनोरंजनात्मक सुविधाएँ

1. भ्रमण एवं सह अध्ययन यात्रा के लिए अनुदान योजना
2. श्रव्य दृश्य सेटों तथा चलते-फिरते सिनेमा इलाकों के क्रय की योजना।
3. टेलीविजन सेटों की प्रतिपूर्ति योजना
4. खेलकूदों का आयोजन
5. श्रमिकों के आवागमन के लिए बस खरीदने की योजना
6. श्रमिकों के विद्यालय जाने वाले बच्चों के लिए बस खरीदने की योजना।

श्रम कल्याण कार्यों की असन्तोषजनक प्रगति के कारण – श्रम कल्याण कार्यों के प्रति सरकार व श्रमिक संघों ने उत्तरोतर अधिक रुचि ली है लेकिन फिर भी देश के श्रमिकों की दयनीय दशा तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओं को देखते हुए अब तक होने वाले श्रम कल्याण कार्य बहुत ही कम हैं। श्रम कल्याण कार्यो की असंतोषजनक प्रगति के कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :-

1. भारतीय उद्योगपतियों व सेवायोजकों की एक बड़ी संख्या कल्याण कार्यों की ओर उदासीन है और वे कल्याण कार्यों को अपने पर एक विशेष प्रकार का भार मानते हैं।
2. हमारे देश में श्रम कल्याण संबंधी अधिनियम अनियोजित है और उनका वैधानिक आधार नहीं है।
3. भारतीय मिल मालिकों अथवा सरकारों द्वारा संगठित किए गए कल्याण कार्यों में नियोजन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है।

4. श्रम कल्याण कार्यक्रमों के प्रशासन के लिए संस्थान के कल्याण अधिकारों तथा उसके बाहर राज्य निरीक्षालय अपनी भूमिका अनेक कारणों से समुचित रूप से नहीं निभा सके।
5. एक तो धनाभाव के कारण श्रमिक संघ अधिक कल्याण कार्य करने में असफल रहे हैं दूसरी ओर देश में यह समझा जाता है कि श्रमिक संघ केवल हड़ताल करवाने या मालिक से अधिक मजदूरी वसूल करने का एक साधन मात्र हैं।

औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्मिक-समाज कार्य का अभ्युदय

औद्योगिक प्रतिष्ठानों में मानवीय तत्वों की महत्ता के आभास के साथ उसके कल्याण, अनुरक्षण एवं विकास हेतु कुछ कार्मिक अभिकर्मियों, या समाज कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति दूरदर्शी नियोक्ताओं द्वारा प्रारंभ हुईं। 19वीं सदी के अंत तक संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ औद्योगिक प्रतिष्ठानों में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं या कल्याण सचिवों की नियुक्ति प्रारंभ हुई, जिनका प्रमुख कार्य था नियोक्ता और कामगार के मध्य घनिष्ठ संबंधों की स्थापना करना। 1904 में इंग्लैण्ड में सीवन रानट्री ने अपने औद्योगिक प्रतिष्ठानों में सात समाज कार्यकर्त्ताओं की नियुक्त की। उनका यह विश्वास था कि श्रमिकों का कल्याण तभी संभव है जबकि ऐसे वातावरण का सृजन किया जाय, जिसके अंतर्गत श्रमिक योग्यतम कार्य कर सके। 1914 में हेनरी फोर्ड ने अपने मोटरकार प्रतिष्ठान में श्रमिकों के स्वास्थ्य तथा उनकी पारिवारिक समस्याओं आदि के संबंध में उचित सलाह देने के लिए एक अलग विभाग की स्थापना की, जिसे समाजशास्त्र विभाग कहा गया। 1917 में फ्रांस में आयुध-सामग्री मंत्री श्री अर्नामेट ने स्त्री-श्रमिकों का एक प्रतिनिध मंडल इंग्लैंड में भेजा। उक्त प्रतिनिधिमंडल का उद्‌देश्य था, इंग्लैण्ड के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्यरत स्त्री श्रमिकों की कार्यदशा का अध्ययन करना एवं तदनुसार फ्रांस के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्यरत स्त्री श्रमिकों की कार्य दशाओं का सुधार करना। 1918 में फ्रांस के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाज कार्य का प्रथम विधि पाठ्य तैयार किया गया। उक्त पाठ्य का मन्तव्य यह था कि आयुध-निर्माण से संबंधित प्रत्येक औद्योगिक प्रतिष्ठान में जहाँ 100 स्त्री श्रमिक कार्यरत हैं, एक महिला निरीक्षिका का होना अनिवार्य है। इस निरीक्षिका का चुनाव प्रबंधकों द्वारा होना चाहिए और उसे (1) स्त्री श्रमिकों की भर्ती, (2) उनके स्वास्थ्य एवं कल्याण का कार्य, (3) उनकी कार्य दशाओं के संबंध में शिकायतों को दूर करने का कार्य करना पड़ेगा। इस प्रकार महिला एवं परिवार कल्याण के कार्यक्रमों के माध्यम से फ्रांस में कार्मिक समाज कार्य का सूत्रपात हुआ। इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य 1927 में वेस्टर्न इलेक्ट्रिक कंपनी ने किया। उस कंपनी के द्वारा अपने प्रतिष्ठानों में मजदूरों की व्यक्तिगत समस्याओं के निराकरण, मनोवृत्ति परीक्षण एवं मनोबल ऊँचा करने के लिए चालीस सामाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की। ये नियुक्तियाँ ह्यूमन रिलेशन स्कूल की संस्तुति के आधार पर की गयी थीं। इन सामाजिक-कार्यकर्ताओं के कार्य से प्रभावित होकर अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों में भी इस प्रकार की ऐसी नियुक्तियाँ प्रारम्भ हुई। द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ में जब औद्योगिक प्रतिष्ठानों में युद्ध स्तर पर उत्पादन आरंभ

हुआ, तो श्रमिकों के समायोजन तथा उनके मनोबल को ऊँचा करने के लिए अनेक अन्य प्रतिष्ठानों में इस प्रकार के कार्यकर्ताओं की नियुक्ति हुई। श्रमिक-संघ ऐसे सामाजिक कार्यकर्ताओं के क्रिया-कलापों को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। वे ऐसे कार्यकर्ताओं को प्रबंधकों का गुप्तचर समझते थे। मजदूरों की व्यक्तिगत समस्याओं के निराकरण और उनके समायोजन हेतु श्रमिक संघ स्वयं अपने कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करने लगे और उनके प्रशिक्षण हेतु समाज-कल्याण संस्थाओं से आग्रह किया। इस प्रकार श्रमिक- संघों के माध्यम से भी प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं के द्वारा कार्मिक सलाह का कार्य आरंभ हुआ। लेकिन श्रमिक संघों में अर्थाभाव के कारण यह सामर्थ्य नहीं थी कि इस प्रकार के कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का व्यय-भार वहन कर सकें। इस कारण स्वयं श्रमिक संघों ने ही यह माँग प्रारम्भ की कि प्रशिक्षण प्राप्त कार्यकर्ता ही औद्योगिक प्रतिष्ठानों में प्रबंधकों द्वारा कार्मिक सलाह हेतु रखे जायँ। ऐसे कार्यकर्ता आवश्यकतानुसार औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उपलब्ध कल्याणात्मक सेवाओं को मुहैया कराते हुए कार्य की दशाओं में परिवर्तन लाने का प्रयास करें। वे प्रबंधकों को इस प्रकार सहायता दें कि वे (प्रबन्धक) कामगारों की सामान्य आवश्यकताओं के साथ कार्य की दशाओं का सुधार कर सकें। साथ ही साथ औद्योगिक-प्रतिष्ठानों में उत्पन्न होने वाली सामाजिक समस्याओं के निरोध का भी कार्य इस प्रकार के कार्यकर्ताओं द्वारा लिये जाय।

उद्योग और समाज-कार्य

कुछ विद्वानों के अनुसार समाजकार्य और उद्योग दोनों ही परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। उद्योग का उद्देश्य उत्पादन और लाभ अर्जन है, और समाजकार्य का उद्देश्य मानवीय तत्वों का अनुरक्षण एवं कल्याण है। इस दृष्टि से औद्योगिक-वातावरण में समाजकार्य की कोई भी संगति उन विद्वानों को नहीं प्रतीत होती। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाजकार्य को व्यवहृत करने में उन्हें निम्नलिखित कठिनाइयों महसूस होती हैं :-

1- सामाजिक कार्यकर्ताओं का संबंध मानवीय तत्वों के अनुरक्षण से है। इस दृष्टि से उसे औद्योगिक प्रतिष्ठानों में तीन प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं :-

(1) कार्मिक प्रबंध,

(2) औद्योगिक संबंध,

(3) श्रम-कल्याण।

(i) कार्मिक-प्रबंध और औद्योगिक-संबंध विशिष्ट प्रकार के कार्य हैं, उन कार्यों को करते हुए कोई व्यक्ति पूर्णतया सामाजिक कार्यकर्त्ता नहीं रह पाता। औद्योगिक-प्रतिष्ठानों में इन कार्यों को संपादित करने वाला अधिकर्मी कुछ विशेष अधिकारों से युक्त होता है। व्यावहारिक दृष्टि से उसे अपने कार्यों के संपादन में एक विशेष कौशल, अधिनियमों के ज्ञान और अपनी अधिकार-शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। जबकि अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाला सामाजिक

कार्यकर्त्ता अधिकार शक्ति से रहित होकर संबंध स्थापन के माध्यम से शक्तिदाता (इनेवलर) का कार्य करता है। श्रम-कल्याण के क्षेत्र में उसे मुख्यतया स्वास्थ्य, सफाई, सुरक्षा आदि व्यवस्थाओं की देख-रेख करनी पड़ती है, इन कार्यों के संपादन में भी समाजकार्य संबंधी किसी विशेष कौशल या ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये कार्य सामान्य-ज्ञान एवं अधिनियमों द्वारा प्रदत्त अधिकार शक्ति के माध्यम से संपादित होते हैं। इस प्रकार इन कार्यों को संपादित करने वाला अधिकर्मी समाज कार्यकर्त्ता न होकर एक अधिकारी बन जाता है। उसका दूसरे क्षेत्रों में कार्य करने वाले अपने व्यवसाय (समाजकार्य) के अन्य अधिकर्मियों से संबंध छूट जाता है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्य करने वाला चिकित्सक तो चिकित्सक ही रहता है और उसका अपने व्यवसाय के अंतर्गत कार्य करने वाले अन्य चिकित्सकों और उनके संगठन से बराबर संबंध बना रहता है, पर समाजकार्य के प्रशिक्षण से युक्त अधिकर्मी औद्योगिक-प्रतिष्ठानों में जाने के पश्चात् कार्यकर्त्ता न रह कर अधिकारी बन जाता है और समाजकार्य के व्यवहार में लगे हुए अन्य अधिकर्मी या उनके संगठन से उसका संबंध टूट जाता है।

(ii) समाजकार्य के उद्देश्य और कार्यक्रम उद्योग के उद्देश्यों और कार्यक्रमों की अपेक्षा श्रम-संगठनों के उद्देश्यों और कार्यक्रमों से अधिक मिलते हैं। इस दृष्टि से औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाज कार्यकर्त्ता की प्रस्थिति और भूमिका द्वंद्वमूलक हैं, क्योंकि उसे अपने नियोक्ता के हित-साधन के विपरीत कार्य करना पड़ता है।

(iii) किसी विशेष स्थान पर किसी सेवा का महत्व तभी स्थापित हो पाता है जब उसकी विशेष आवश्यकता और कार्यक्षेत्र हो। इस दृष्टि से औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाज कार्यकर्त्ता की अपेक्षा बहुत अधिक नहीं है।

अभी तक यह बात स्पष्ट नहीं हो पायी है कि समाजकार्य के ज्ञान और कौशल के किस अंश की औद्योगिक प्रतिष्ठानों में विशेष उपयोगिता है। समाजकार्य की सबसे महत्वपूर्ण विधि वैयक्तिक सेवाकार्य है। समाजकार्य-प्रशिक्षण में इस विधि के ज्ञान और व्यवहार पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। यह एक प्रकार की क्लीनिकल सेवा है और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में इस विधि की अभी तक कोई विशेष उपयोगिता स्थापित नहीं हो पायी है। जब तक समाजकार्य प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम को औद्योगिक वातावरण की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं बनाया जाएगा, तब तक व्यावसायिक एवं और औद्योगिक प्रबंध के प्रशिक्षण का महत्व समाजकार्य की अपेक्षा अधिक रहेगा।

पर उपर्युक्त तथ्यों के प्रतिकूल कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनके आधार पर समाजकार्य और उद्योग में संगति स्थापित की जाती है।

1953 में बंबई में आयोजित श्रम-कल्याण अधिकारियों के प्रथम अधिवेशन में टाटा इंस्टीट्यूट के तत्कालीन संचालक श्री जे0सी0 कुमारप्पा ने कहा था कि उद्योग समाज का

उपयोगी कार्य है। उसका लक्ष्य उत्पादन नहीं, वरन् उत्पादन के द्वारा समाज के प्राणियों का कल्याण करना है। इस दृष्टि से औद्योगिक समाज के प्राणियों के कल्याण का कार्य सर्वप्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में मानव और मशीन दोनों ही कार्य करते हैं। मशीन का प्रबंध और अनुरक्षण तो आसान कार्य है पर मानव का अनुरक्षण एवं प्रबंध कठिन कार्य है, क्योंकि वह जीवित, गतिशील और जटिल प्राणी है। उसे केवल औद्योगिक-वातावरण ही नहीं, वरन् परिवार, समाज और देशकाल के परिवेश में देखना पड़ता है। औद्योगिक समाज और उसका प्रत्येक श्रमिक सदस्य स्वयं अपने में उद्योग का लक्ष्य है और उसकी पूर्ति का साधन है औद्योगिक-उत्पादन।

(1) कुछ स्वार्थी तत्वों ने समाज को गुमराह कर उत्पादन को उद्योग का लक्ष्य और श्रमिक को उसका साधन मान लिया था। इससे समाज का अत्यधिक नुकसान हुआ, पर अब उपयुक्त समय आ गया है। भारत ऐसे देश में जहाँ गणतंत्र और कल्याणकारी राज्य की भावना का पूर्णरूपेण विकास हो चला है तथा समाज के कल्याणार्थ सार्वजनिक क्षेत्र में वृहत् उद्योगों की स्थापना हो रही है और आवश्यकतानुसार निजी उद्योगों का भी नियंत्रण एवं राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है, हमें यह आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि उत्पादन को उद्योग का साधन और औद्योगिक मानव समाज को उद्योग का साध्य समझा जायेगा। इस दृष्टि से मानवीय तत्वों का अनुरक्षण एवं विकास उद्योग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य है और चूँकि समाजकार्य का लक्ष्य मानव-कल्याण है अतः वह उद्योग के लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रमुख माध्यम बन जायगा।

(2) इसमें संदेह नहीं कि उद्योग का उद्देश्य लाभपरक है, तथापि इसका मानवीय पक्ष भी है। आज का दूरदर्शी प्रबंधक यह बात भलीभाँति महसूस करता है कि श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं प्रसन्नता से खिलवाड़ करते हुए बहुत दिनों तक लाभ अर्जन नहीं किया जा सकता। अतः मानवीय प्रसन्नता और लाभ दोनों साथ ही साथ चाहिए। इस दृष्टि से लाभ मूलक औद्योगिक प्रबंध और कल्याण-मूलक औद्योगिक समाजकार्य दोनों समानांतर चल सकते हैं।

(3) व्यापक अर्थ में समाजकार्यकर्त्ता शक्तिदाता (एक इनेवलर) का कार्य करता है। वह व्यक्ति अथवा समूह की योग्यताओं का विकास एवं सामाजिक वातावरण में परिवर्तन लाते हुए उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे अपने सामाजिक वातावरण में प्रभावशाली ढंग से समायोजित हो सकें। इसी प्रकार औद्योगिक प्रतिष्ठानों में प्रयुक्त कार्मिक प्रबंध व्यापक अर्थ में व्यापार प्रबंध का अंग है और उसका उद्देश्य है श्रमिक को इस प्रकार सहायता देना कि वे कार्य की परिस्थितियों के साथ पूर्णतया समायोजित हो सकें। इस दृष्टि से कार्मिक प्रबंध समाजकार्य का अंग है। श्री एम0वी0 मूर्ति के अनुसार यदि कार्मिक प्रबंध का कार्य उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव, उचित स्थान पर उनकी नियुक्ति और उन्हें स्वस्थ

एवं प्रसन्न स्थिति में अनुरक्षण करना है तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कार्मिक प्रबंध, समाजकार्य के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

(4) व्यापक अर्थ में औद्योगिक संबंध मानवीय संबंध है। आज के जनतांत्रिक एवं कल्याणकारी युग में इस प्रकार का संबंध अधिकारयुक्त वातावरण में नहीं कायम हो सकते। इसके लिए पारस्परिक समानता एवं एक दूसरे के प्रति आदर की भावना की अपेक्षा है। कार्यसमिति सामूहिक-सौदेबाजी, पारस्परिक समझौता तथा अधिनिर्णायन आदि प्राधिकारियों की सफलता हेतु सामूहिक सेवा कार्य की प्राविधियाँ अत्यंत उपयोगी हो सकती है। इस दृष्टि से औद्योगिक संबंध की आवश्यकता एवं सांस्कृतिक तथा सामाजिक वातावरण को देखते हुए सामूहिक कार्यकर्त्ता को अपनी प्रविधियों में कुछ सुधार करना अपेक्षित है।

(5) श्रम-कल्याण को व्यापक अर्थ में लेने पर इसके अन्तर्गत सफाई, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा आदि सेवाओं का प्रशासन ही नहीं आता है, वरन् मानसिक बीमारियाँ, पारिवारिक एवं औद्योगिक वातावरण में श्रमिकों का असायोजन, ऋणग्रस्तता, अनुपस्थिति, अनुशानहीनता तथा अन्य मनोसमाजिक समस्याओं का निराकरण एवं उपचार आदि कार्य भी आते हैं, इन कार्यों का संपादन सामान्य प्रशासक नहीं कर सकता, वरन् इस हेतु व्यापक पैमाने पर कार्मिक-समाज-कार्य-अधिकर्मियों की अपेक्षा होती हैं जो समाजकार्य की विभिन्न विधियों और कौशल से युक्त होते हैं। इस दृष्टि से श्रम कल्याण समाजकार्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

(6) जहाँ तक समाजकार्य की प्रमुख विधियों के प्रयोग का प्रश्न है, श्री एल0एस0 कुडचेदकर का मत है कि - 'वैयक्तिक सेवाकार्य सामूहिक, सेवाकार्य और समुदाय संगठन आदि सभी विधियों को औद्योगिक प्रतिष्ठानों में प्रयुक्त होने के सम्यक् अवसर है। मानवीय प्राणी के रूप में औद्योगिक प्रतिष्ठानों में काम करने वाले प्रत्येक श्रमिक की अपनी विशिष्ट सांवेगिक और बौद्धिक अभिरुचि योग्यता एवं प्रवृत्ति होती है। इन सभी विशेषताओं के द्वारा कामगार के व्यक्तित्व का पूँजी कोष (कैपिटल फंड आफ परसनालिटी) निर्मित होता है। इस कोष के सम्यक् विकास हेतु यह आवश्यक है कि उचित कार्य के माध्यम से कोष में पड़े हुए धर्म का समुचित सदुपयोग किया जाय। इस दृष्टि से कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार व्यक्ति के चुनाव की आवश्यकता होती है। ऐसे चुनाव में केस स्टडी की विधि बहुत उपयोगी होती है। इसके अतिरिक्त श्रमिक जब औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्य हेतु आता है तो अपने साथ अपने परिवार एवं समुदाय की समस्याओं को भी लेकर आता है, उसकी समस्याएँ उसके सम्पूर्ण वातावरण के प्रकाश में ही समझी और सुलझाई जा सकती है। इस दृष्टि से पाश्चात्य देशों के कुछ प्रगतिशील नियोक्ता अपने प्रतिष्ठानों में वैयक्तिक सेवा कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करते हैं। वे क्लिनिक और परामर्श केन्द्रों की स्थापना करते हैं, जहाँ पर कामगारों को उनके व्यक्तिव संबंधी समस्याओं के संबंध में उपचार और सलाह दी जाती है।

(7) जहाँ तक औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाजकार्य के किसी विशेष कार्य क्षेत्र का प्रश्न है, हमें यह कहना है कि अन्य व्यवसायों और समाजकार्य में यही एक प्रमुख अंतर है, चिकित्सा, कानून आदि व्यवसाय मानवमात्र की किसी विशेष आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, पर समाजकार्य मानव को समग्र रूप से अपनाता है और विभिन्न व्यवस्थाओं और जिम्मेदारियों के निर्वाह के कारण समग्र रूप से मानव मात्र पर जो दबाव पड़ता है, उसे कम करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से औद्योगिक समाज में भी समाजकार्य का कोई विशिष्ट कार्य-क्षेत्र नहीं है, वरन् कामगार के सामाजिक, मानसिक, पारिवारिक और औद्योगिक वातावरण के कारण पड़ने वाले समग्र दबावों और तनावों को दूर कर, कामगार को अपने सामाजिक वातावरण में समायोजित करने का कार्य समाज कार्यकर्त्ता करता है।

इस प्रकार चाहे यह न कहा जाय कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों में मानवीय तत्वों के अनुरक्षण संबंधी कार्य पर समाज-कार्यकर्त्ताओं का ही एकाधिकार है, तथापि संबंध-स्थापन, 'स्व' के वृत्तिक प्रयोग तथा अध्ययन-निदान एवं उपचार आदि प्रविधियों से युक्त समाज-कार्यकर्त्ता अन्य क्षेत्रों की भाँति औद्योगिक समाज में भी मानवीय तत्वों के अनुरक्षण एवं विकास कार्य में एक प्रमुख भूमिका निभा सकता है। यहाँ एक बात और भी स्पष्ट अन्तर है। औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कुछ अधिकर्मी ऐसे होते हैं जिन्हें सामाजिक सेवाओं के प्रशासन और मानवीय संबंधों की स्थापना तथा कार्मिक-प्रशासन आदि की व्यापक जिम्मेदारी दी जाती है। इन्हें अपनी जिम्मेदारियों के निर्वाह में समय-समय पर समाजकार्य की विभिन्न विधियों और सिद्धांतों आदि के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है, ऐसे अधिकर्मियों को कार्मिक-प्रबंधक, औद्योगिक-संबंध-अधिकारी अथवा श्रम-अधिकारी आदि उपाधियों में अविहित किया जाता है। इसके विपरीत औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कुछ ऐसे अधिकर्मी होते हैं जो कि पूर्णतया सामाजिक कार्यकर्त्ता होते हैं, वे व्यक्तिगत स्तर पर श्रमिकों से संबंध स्थापन और उनकी समस्याओं के निराकरण का कार्य करते हैं। इस प्रकार के अधिकर्मी पाश्चात्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों में सामान्यतया पाये जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता से ब्रुशेल्स में आयोजित कार्मिक-समाजकार्य संबंधी विचार गोष्ठी में इसी प्रकार को कार्यकर्त्ताओं के कार्यों पर विचार किया गया।

भारत में अभी प्रथम प्रकार के समाजकार्य का ही विशेष प्रचलन है।

भारतीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाजकार्य

सम्भवतः भारत विश्व का अकेला देश है जहाँ कुछ निश्चित प्रकार के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में वैधानिक दृष्टि से समाज-कार्यकर्त्ताओ को श्रम-कल्याण अधिकारी के रूप में नियुक्त करना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान इसे आश्चर्यजनक दृष्टि से देखते हैं। डॉ0 आप्टेकर के अनुसार -यह एक आश्चर्यजनक बात है कि अमेरिका ऐसे उच्चस्तर पर विकसित देश में भी श्रम-कल्याण समाजकार्य का क्षेत्र नहीं है यद्यपि वहाँ के वृहद उद्योगों में कार्मिक

अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं, पर उनका कार्य और प्रशिक्षण भारतीय श्रम-कल्याण अधिकारी से पूर्णतया भिन्न होता है। उनकी कोई वैधानिक प्रस्थिति नहीं होती और वे व्यापारोन्मुख होते हैं, इसके विपरीत भारत में श्रम-कल्याण अधिकारियों की वैधानिक स्थिति होती है और वे समाजकार्य तथा मानवीय कल्याण अभिमुख होते हैं।

डॉक्टर आप्टेकर की बातों का उत्तर देते हुए प्रोफेसर धींगरा ने लिखा है कि 'भारतीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्रम-कल्याण अधिकारी की वैधानिक प्रस्थिति देश की सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों की देन है। समाजकार्य संबंधी सेवाएँ सामान्यतया समाज के कमजोर वर्ग को दी जाती है। प्रारंभिक अवस्था में भारतीय श्रमिक भी कमजोर प्राणी था और ग्रामीण वातावरण से आकर जटिल औद्योगिक वातावरण में समायोजन उसके लिए कठिन समस्या थी। इस स्थिति में भारत ऐसे सद्यः घोषित गणतंत्र और कल्याणकारी राज्य में श्रमिकों की स्थिति के सुधार के दो ही रास्ते थे :-

(1) उद्योगपतियों को स्वतः प्रोत्साहित कर श्रम-कल्याण की सुविधाओं की सम्यक् व्यवस्था करना, अथवा

(2) अधिनियमों के माध्यम से औद्योगिक-प्रतिष्ठानों में श्रम-कल्याण की न्यूनतम सुविधाओं की व्यवस्था करना।

यद्यपि संवैधानिक मार्ग कोई आदर्श मार्ग नहीं था, तथापि जब देश की सामाजिक नीति और राजकीय नियोजन के द्वारा जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में राजकीय नियंत्रण आरंभ हो गया था तो श्रम-कल्याण और कल्याण-अधिकारी को वैधानिक जामा पहना देना कोई अनुचित कार्य नहीं है।

श्रम-कल्याण अधिकारी की समाजकार्य की भूमिका पृष्ठभूमि में श्री फिलिप्स थामस की दो विचारधाराओं का योगदान प्रतीत होता है :-

(1) प्रथम विचारधारा के अनुसार श्रमिक एक कमजोर प्राणी है, औद्योगिक वातावरण में उसके सम्यक् समायोजन हेतु समाजकार्य की महती आवश्यकता है। यह बात संविधान-सभा में औद्योगिक प्रतिष्ठान अधिनियम 1948 की धारा 49 पर हुए विवाद से भी स्पष्ट है। उस समय श्री उपेन्द्रनाथ बर्मन ने कहा था कि 'श्रम-कल्याण' अधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह उन श्रमिकों की सहायता करे जो पिछड़े, अनाथ, अशिक्षित और अनभिज्ञ हैं। उन्हें उचित रहन-सहन, भोजन और बच्चों की शिक्षा के संबंध में सहायता दें।

(2) दूसरी विचारधारा के अनुसार कुछ दिन पूर्व तक देश में समाजकार्य ही ऐसा व्यवसाय था जिसके अंतर्गत मानव संबंध के प्रशिक्षण की सम्यक् व्यवस्था थी, औद्योगिक मनोविज्ञान और कार्मिक प्रबंध आदि में प्रशिक्षण देने वाली संस्थाओं का विकास देश में बहुत बाद में हुआ। अतः 1951 में श्रम-कल्याण अधिकारियों के संबंध में जब आदर्श

नियमों का निर्माण किया गया तो उस समय स्वाभाविक रूप से ऐसे अधिकारियों को समाजकार्य में प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी। इण्डियन इंस्टीट्यूट पर्सनल मैनेजमेंट तथा डॉ0 जैकब के द्वारा भी इस बात की पुष्टि की गयी है।

श्री फिलिप्स थामस की प्रथम विचारधारा यथार्थ प्रतीत होता है। पर दूसरी विचारधारा कुछ आश्चर्यजनक लगती है। क्योंकि औद्योगिक प्रतिष्ठान अधिनियम 1948 के संशोधन हेतु 1946 में ही संविधान सभा में प्रस्ताव रखा गया था। उस समय तक देश में समाजकार्य प्रशिक्षण की मात्र एक संस्था (टाटा इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइन्सेस) थी। 1942 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अंतर्गत इंस्टीट्यूट आफ लेबर वेलफेयर एण्ड बिजिनेस मैनेजमेंट की स्थापना हो गयी थी। 1947 में बंबई में लेबर इंस्टीट्यूट की स्थापना हो गयी थी। इसी प्रकार काशी विद्यापीठ में समाजकार्य के अध्ययन के पूर्व श्रम-कल्याण अधिकारियों का प्रशिक्षण प्रारंभ हो गया था। इसके पूर्व भी कुछ मिल ओनर्स एसोसियेशन तथा अन्य कुछ संस्थाओं में श्रम-कल्याण अधिकारियों के प्रशिक्षण हेतु निजीतौर से व्यवस्था कर ली गयी। अस्तु इतना तो निश्चित है कि समाजकार्य प्रशिक्षण की अपेक्षा श्रम-कल्याण संबंधी प्रशिक्षण अधिक व्यापक पैमाने पर प्रारंभ हुआ था। पर जैसा कि पी0टी0 थामस में लिखा है- "1930 के आस-पास कुछ दूरदर्शी उद्योगपति ने अपने औद्योगिक प्रतिष्ठानों में प्रौढ़ शिक्षा, जलपानगृह, शिशुगृह, सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र तथा मनोरंजन केन्द्रों की स्थापना की। ये कार्य चूँकि कल्याणात्मक थे अतः इनकी व्यवस्था हेतु प्रशिक्षित समाजकार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति प्रारंभ हुई। इन कार्यकर्त्ताओं ने अपने कार्यों के द्वारा इतनी ख्याति अर्जित की कि स्वयं उनकी ही नहीं वरन् समाजकार्य की प्रतिष्ठा भी देश में बढ़ी और 1948 के कल्याण-अधिकारियों को समाजकार्य में प्रशिक्षण प्राप्त करने की वैधानिक व्यवस्था की गयी। यद्यपि यह बात सत्य है कि अन्य देशों में कार्मिक-प्रबंध को समाजकार्य के अंतर्गत नहीं लिया जाता, पर भारतीय परिस्थितियों में सामाजिक कार्यकर्त्ता मानवीय संबंधों के ज्ञान और कौशल को औद्योगिक वातावरण में प्रयुक्त करने में इतना सफल रहा कि यहाँ पर समाजकार्य प्रशिक्षण, श्रम-कल्याण और कार्मिक प्रबंध हेतु अपरिहार्य माना जाने लगा। इस संबंध में हमें यह स्वीकार करने में बिलकुल संकोच नहीं है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के 60 वर्ष बाद यदि हम भारतवर्ष में समाजकार्य की सफलता का मूल्यांकन करें तो हमें स्वीकार करना होगा कि श्रम-कल्याण और कार्मिक प्रबन्ध ही ऐसा क्षेत्र है जहाँ समाजकार्य की कुछ उपयोगिता प्रतीत हुई, अन्यथा परिवार, बाल-कल्याण, अपराध सुधार आदि अन्य सभी क्षेत्रों में सामाजिक कार्यकर्त्ता असफल रहे। मुख्य रूप से श्रम-कल्याण-प्रशिक्षण हेतु ही देश के विभिन्न भागों में समाजकार्य प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना हुई। इसका मुख्य कारण देश का सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण है। समाजकार्य का विकास जनतंत्र के आधार पर हुआ है। पाश्चात्य देशों में सामाजिक कार्यकर्त्ता की प्रस्थिति यद्यपि महत्वपूर्ण और अधिकारों से युक्त नहीं है, तथापि वहाँ हर व्यक्ति का मानव मात्र के रूप में महत्व है, कार्य के आधार पर किसी व्यक्ति को ऊंचा

या नीचा नहीं समझा जाता। भारतवर्ष की स्थिति इससे भिन्न है। देश कई सदियों की गुलामी के बाद स्वतंत्र हुआ है। अतः यहां पर व्यक्ति से अधिक उसके अधिकार एवं प्रस्थिति का महत्व है। परिवार-नियोजन का कार्यकर्त्ता उपर्युक्त अधिकार एवं प्रस्थितिविहीन होने के कारण कोई सफलता नहीं प्राप्त कर पाता। श्रम-कल्याण अधिकरी और कार्मिक अधिकारी भी यद्यपि अपेक्षित अधिकारों से युक्त नहीं है तथापि समाजकार्य के अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले अधिकर्मियों की अपेक्षा इनकी प्रस्थिति कुछ महत्वपूर्ण है और इसी कारण इन्हें कुछ सफलता मिली है। समाज कार्यकर्त्ताओं की श्रम-कल्याण अधिकारी और कार्मिक-प्रबंध के रूप में अर्जित सफलता और देश के सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यावरण को देखते डाक्टर हुये आप्टेकर को अपना मत परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उन्होंने लिखा- ''मुझे यह ज्ञात है कि बहुत से लोग यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या भारत में श्रम-कल्याण समाजकार्य है ? भारत में कुछ दिन रहकर और इस क्षेत्र की कार्य-विधियों से अवगत होने के पश्चात् मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि भारतीय श्रम-कल्याण का अमेरिकीय समाजकार्य की अवधारणा से कोई वैषस्य नहीं हैं मेरी समझ से यह सर्वथा उचित है कि श्रम-कल्याण का अध्यापन समाजकार्य के विद्यालयों में होना चाहिए।

श्री फिलिप्स थापस के अनुसार- ''वैयक्तिक एवं सामूहिक सेवाकार्य में प्रशिक्षित समाजकार्यकर्त्ता मानवीय प्रेरणाओं को समझ सकते हैं और औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उपयुक्त मानवीय संबंधों का प्रसार कर सकते हैं। सामूहिक सेवाकार्य में अर्जित कौशल के माध्यम से ये कार्यकर्त्ता मजदूर समूहों के साथ सम्यक् ढंग से कार्य करने में सफल हो सकते हैं और इसी कौशल के द्वारा औद्योगिक-प्रतिष्ठानों में जलपान गृह, शिशुगृह, मनोरंजन केन्द्र, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि व्यवस्थाओं के संगठन में ये कार्यकर्त्ता सफल हो सकते हैं।

कल्याण अधिकारी सामाजिक कार्यकर्त्ता

समाजकार्य से संबंधित विद्यालयों में यह बात पूर्णरूप से प्रचलित है कि कल्याण-अधिकारी औद्योगिक प्रतिष्ठानों से समाजकार्यकर्त्ता की भूमिका अदा करते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि श्रम-कल्याण अधिकारी एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों में संबंध-स्थापन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करती है। एक अर्थ में श्रम-कल्याण औद्योगिक वातावरण में समस्या सुलझाने की एक प्रक्रिया है।

इसमें संदेह नहीं कि श्रम-कल्याण अधिकारी यदि पूर्णरूपेण समाजकार्यकर्त्ता नहीं भी है तो उसकी भूमिका में समाजकार्य का प्रमुख अंश विद्यमान है। इन अधिकारियों के लिए निर्धारित योग्यता से यही प्रतीत होता है कि इनका उद्देश्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाजकार्य की प्रवृत्ति का विकास करना है। पर चूँकि व्यावसायिक समाजकार्य की विचारधारा पाश्चात्य देशों की देन है, अतः औद्योगिक प्रतिष्ठानों में इसके वास्तविक क्षेत्र का अभी तक निर्धारण नहीं हो पाया है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम माडेल रूल के अंतर्गत श्रम-कल्याण अधिकारी

के जो कार्य निर्धारित किये गये हैं उनके संदर्भ में औद्योगिक प्रतिष्ठानों में श्रम-कल्याण अधिकारी और समाजकार्य के महत्व का आकलन करें। पाश्चात्य विचारक सामान्यतया भारतीय कल्याण-अधिकारी को स्वयं अपने सामाजिक और सांस्कृतिक विचाराधारा और संगठनात्मक दर्शन के परिपेक्ष्य में देखते हैं और इस दृष्टि से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस अधिकर्मी के कम से कम कुछ कार्य ऐसे हैं जो पाश्चात्य समाजकार्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। मुख्य विवाद कल्याण-अधिकारी और कार्मिक अधिकारी से संबंधित भूमिका के ऊपर है। माडेल रूल के अनुसार कल्याण-अधिकारी को कल्याणात्मक कार्यों के अतिरिक्त औद्योगिक संबंध तथा कार्मिक-प्रबंध संबंधी जिम्मेदारियों का निर्वाह करना पड़ता है। डॉक्टर आप्टेकर के अनुसार कार्मिक-प्रबंध और औद्योगिक संबंध कार्य न तो श्रम-कल्याण के अंतर्गत आते हैं, और न वे समाजकार्य संबंधी कार्य ही कहे जा सकते हैं। इस प्रकार वे यह महसूस करते हैं कि भारतीय कल्याण-अधिकारी की भूमिका में विचित्र ढंग से समाजकार्य और वाणिज्य का मिश्रण है। कार्मिक प्रबंधक वाणिज्योमुख है और कल्याण-अधिकारी समाज-कार्यान्मुख है, इस प्रकार दोनों के कर्तव्य, अनुस्थापन एवं उद्देश्य में पर्याप्त असमानता है। कल्याणात्मक कार्य क्षमता वृद्धिमूलक कार्य है और कार्मिक-प्रबंध संबंधी कार्य अनुशासनात्मक कार्य है। ऐसी स्थिति में डॉक्टर आप्टेकर यह महसूस करते हैं कि कल्याण-अधिकारी के कार्य के अंतर्गत दो परस्पर विरोधी तत्वों को एक साथ इकट्ठे करने का प्रयास किया गया है।

डॉ0 आप्टेकर की उपर्युक्त विचारधारा संभवतः इस मान्यता पर आधारित है कि नियोक्ता और श्रमिक के स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत होते हैं और ऐसी स्थिति में कल्याण-अधिकारी को दोहरी जिम्मेदारी का निर्वाह करना पड़ता है जो अत्यंत कठिन कार्य है। वास्तव में अमेरिका आदि पाश्चात्य जनतांत्रिक देशों में श्रम-दर्शन वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। इसके विपरीत भारतीय श्रम-दर्शन वर्ग-सहयोग की भावना पर आधारित है। भारतीय वाङ्मय में औद्योगिक प्रतिष्ठान संयुक्त परिवार के समान है। जिस प्रकार परिवार का मुखिया अपने सदस्यों पर नियंत्रण भी रखता है और उनसे प्रेम भी करता है, उसी प्रकार औद्योगिक प्रतिष्ठानों का प्रबंधक श्रमिकों का नियंत्रण भी रखता है और उन्हें प्रेम की दृष्टि से भी देखता है। श्रमिक और उद्योग दोनों के स्वार्थ एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। औद्योगिक-विकास के साथ श्रम-शक्ति का विकास और श्रम-शक्ति के विकास के साथ भारतीय विचारक उद्योग का विकास देखते हैं। इस प्रकार भारतीय परिवेश में कल्याण अधिकरी के कर्तव्य पारस्परिक रूप से संघर्षमय न होकर सहयोगपूर्ण हैं। श्री वी0पी0 मेहूत्राज के अनुसार-'कल्याण-अधिकारी के निर्धारित कर्तव्य इस बात के द्योतक हैं कि उनका निर्वाह तभी सक्षम ढंग से हो सकता है जबकि उक्त अधिकारी समाज कार्योन्मुख हो।

डॉक्टर आप्टेकर के अनुसार- 'भारतीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समाजकार्य की दृष्टि से कल्याण-अधिकारी की स्थिति और भी स्पष्ट होती यदि श्रम-कल्याण-अधिकारी सरकार द्वारा नियुक्त समाजकार्यकर्त्ता होता, जो सरकार के प्रति जिम्मेदार होता और समाजकार्य के सिद्धांतों, और प्रविधियों के माध्यम से श्रमिक और नियोक्ता दोनो की ही सहायता करता। पर

इसका उत्तर देते हुए श्री एल0एस0 कुचेदकर ने कहा है कि –'समाजकार्यकर्त्ता चिकित्सालय, जेल, अथवा औद्योगिक प्रतिष्ठान कहीं भी काम करें, उसके लिए यह बात महत्वपूर्ण नहीं कि वह किसके द्वारा वेतन पाता है वरन् उसका स्वयं अपना व्यक्तित्व तथा कार्य-स्थिति में उसकी प्रस्थिति और भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि किसी सामाजिक कार्यकर्त्ता की व्यावसायिक-प्रस्थिति उसके संगठनात्मक प्रस्थिति से ऊँची नहीं उठती, वरन् उसके कार्यों और दूसरों के लिए उसकी प्रमाणित योग्यता के आधार पर ऊँची उठती है।

बहुत संभव है कि सामाजिक कार्यकर्त्ता के रूप में कल्याण-अधिकारी के कार्यों को अभी तक देश में मान्यता नहीं मिली हो। पर इसका कारण उसके कार्य और भूमिका की अस्पष्टता नहीं है, वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से भारत में औद्योगिक विकास की विशेषताएं, पाश्चात्य विचारधाराओं और कार्य-पद्धतियों का अंधानुकरण, तथा देश की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ इस कार्य के लिए जिम्मेदार हैं। ऐसी स्थिति में कल्याण अधिकारी की सफलता की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कुंजी है उसका अपना निजी व्यक्तिव्य और समाजकार्य की आचारसंहिताओं के प्रति उसकी आस्था।

कल्याण-अधिकारी के कार्य में समाजकार्य की बहुत सी अवधारणाओं का भी अति सफलतापूर्वक प्रयोग संभव है। कल्याण-अधिकारी का कार्य मानव-शक्ति का प्रबंध एवं नियोजन करना है। श्रम-कल्याण के क्षेत्र में वह एक सलाहकार (एडवाइजर) का कार्य करता है, श्रम-प्रंबध के क्षेत्र में वह परामर्शदाता (काउंसिलर) का कार्य करता है। औद्योगिक संबंध के क्षेत्र में वह एक संराधन-अधिकारी का कार्य करता है। भारतीय वाङ्मय में ये सभी भूमिकाएँ समाजकार्य की भूमिका कही जा सकती है। उपर्युक्त जिम्मेदारियों के निर्वाह में उसे न केवल व्यक्ति और उसकी समस्याओं की सम्यक् जानकारी की अपेक्षा होती है, वरन् इनके लिए उसे अध्ययन, निदान, संबंध स्थापन तथा 'स्व' को सचेतन रूप में प्रयोग करने के कौशल की भी अपेक्षा होती है। समाजकार्यकर्त्ता की दृष्टि से उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह समस्त मानव जन के कल्याण हेतु तत्पर रहे, साथ ही साथ उसमें विभिन्न परिस्थितियों को विषयगत दृष्टि से देखने की योग्यता भी होनी चाहिए। औद्योगिक परिवेश के अंतर्गत प्रसूत विभिन्न मानवीय समस्याओं के मूल में विद्यमान आर्थिक कारकों के अतिरिक्त सामाजिक कार्यकर्त्ता होने के नाते मनःसामाजिक कारकों के ज्ञान की भी अपेक्षा उससे की जाती है। अनुपस्थिति, अनुशासनहीनता, उत्पादकता, श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा, परिवार एवं विवाह-परामर्श तथा और भी इस प्रकार की अनेक समस्याओं को वह वैयक्तिक और सामूहिक सेवाकार्य की प्रविधियों के द्वारा सुलझा सकता है। इसी प्रकार कार्मिक प्रबंध संबंधी बहुत से कार्य-प्रशिक्षण, मानव-शक्ति नियोजन, योग्यता-मापन आदि-भी सामाजिक कार्यकर्त्ता की भूमिका के अंतर्गत आते है। श्री आर0डी0 रेलेन के अनुसार श्रम-कल्याण और कार्मिक-प्रबंध संबंधी प्रशासन में मानवीय तत्वों के साथ व्यक्तिगत या सामूहिक स्तर पर कार्य की अपेक्षा होती है, इस कार्य के सम्पादन में समाजकार्य प्रशिक्षण से प्राप्त कौशल और प्रविधियाँ अत्यधिक सहायक हो सकती हैं।

कल्याण-अधिकारी के कार्मिक प्रबंध संबंधी कार्य को पाश्चात्य विचारक समाजकार्य का अंश नहीं मानते हैं। पर इंडियन इंस्टीट्यूट आफ परसनल मैनेजमेंट के 1969 के वार्षिक अधिवेशन में जिन आचार संहिताओं को स्वीकार किया गया वे समाजकार्य की आचार संहिताओं से शतप्रतिशत मेल खाती हैं। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम संहिता थी। व्यवसाय के प्रति आदर और सम्मान। समाजकार्यकर्त्ता अपने व्यवसाय के प्रति आस्था एवं सम्मान रखता है। दूसरी संहिता थी- ईमानदारी और निष्ठापूर्वक कर्तव्य-निर्वाह एवं सभी जाति, धर्म या वर्ग से संबंधित मानव के साथ भेद-भाव रहित होकर कार्य करना। समाजकार्य के अन्तर्गत भी इसे स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार कार्य एवं अनुभव से प्राप्त ज्ञान का व्यवसाय से संबंधित अन्य अधिकारियों तक प्रसारण, गोपनीयता, व्यावसायिक स्वार्थ का व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा अधिक महत्व, व्यवसायिक सिद्धांतों एवं मान्यताओं का उल्लंघन करने वाले अधिकर्मियों के साथ असहयोग आदि संहिताएँ भी समाजकार्यकर्त्ता शत-प्रतिशत स्वीकार करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि कल्याण-अधिकारी बहुत अंश में सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं। समाजकार्य की शब्दावली में उसकी मुख्य भूमिका औद्योगिक श्रम और उसके कार्य की दशाओं में समायोजन स्थापन करना है, तथा प्रबंधक और श्रमिक का संबंध इस अंश तक दृढ़ कर देना है कि औद्योगिक समृद्धि और श्रमिक की प्रसन्नता दोनों ही लक्ष्यों की प्राप्ति हो सके। श्री कुमारप्पा के शब्दों में- ''बहुत ही कम लोग अभी तक ऐसे हैं जो पूर्णरूपेण इस बात को महसूस करते हैं कि श्रम-कल्याण-अधिकारी वास्तव में समाजकार्यकर्त्ता हैं। उसका मुख्य कार्य है :-

(1) कार्य का व्यक्ति से और व्यक्ति का कार्य से संबंध स्थापन करना।

(2) विभिन्न स्तर के अधिकर्मियों में मानवीय संबंधों की स्थापना करना, और

(3) कल्याणात्मक सेवाओं का प्रशासन करना।

इस प्रकार के कार्यों के सफल निर्वाह हेतु मानवीय दृष्टि और समाजकार्य के कौशल की अपेक्षा होती है।

समाज कार्य की विधियों का श्रम कल्याण के क्षेत्र में प्रयोग एवं कठिनाइयाँ

(A) वैयक्तिक सेवा कार्य की विधियाँ एवं प्रविधियों का उपयोग -

वैयक्तिक सेवा कार्य का उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों में निम्नलिखित रूप से प्रयोग हो सकता है :-

1. औद्योगिक प्रतिष्ठान में नये श्रमिक का अनुस्थापन (Induction)—

जब प्रतिष्ठान में कोई नया श्रमिक या कर्मचारी आता है तो बहुत सी उत्सुकतापूर्ण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी उसकी प्रत्याशायें बहुत ऊँची होती हैं और

उन प्रत्याशाओं की पूर्ति होते न देखकर वह कुण्ठित हो जाता है। वैयक्तिक सेवाकर्ता सर्वप्रथम उसे स्वीकृति प्रदान करता है।

2. **समस्याग्रस्त श्रमिक के साथ समायोजन –**

यह कार्य वह निम्नलिखित प्रविधियों के माध्यम से करता है :-

क- समस्याग्रस्त श्रमिक को स्वीकृति प्रदान करना,

ख- उसकी समस्याओं को अभिरुचि प्रदर्शन करते हुये सुनना,

ग- उसकी समस्याओं का अध्ययन एवं निदान करना,

घ- समस्या सुलझाव हेतु समस्याग्रस्त श्रमिक की सहभागिता से योजना बनाना,

च- विधायी सम्बन्धों को एक उपकरण के रूप में प्रयोग करते हुये श्रमिक की ईगों को सशक्त बनाना और उसे उपचारात्मक योजना के क्रियान्वयन में सहायता देना,

3. महिला एवं बाल श्रमिकों को प्रतिष्ठान में समायोजन एवं उनके शोषण को रोकना।

4. श्रमिकों को अनुपस्थिति दर को कम करने में सहायता देना श्रमिकों के साथ विधायी (Positive) संबंध स्थापन कर स्पष्टीकरण की प्रविधियों का प्रयोग करते हुये उनके विभ्रमों का निराकरण तथा आवश्यकतानुसार सम्बल कर उन्हें अनुपस्थित न रहने के लिये प्रोत्साहित करना।

5. परिवेदनाओं का निवारण- श्रमिकों से विधायी संबंध स्थापना पर उनकी परिवेदनाओं की सही कारकों की जानकारी प्राप्त कर प्रबन्धकीय सहायता से परिवेदनाओं का उचित रूप से निराकरण करना,

6. श्रमिकों के साथ समायोजनशील वार्षिक नीतियों के निर्माण प्रबन्धन को सहायता देना,

7. तनाव पूर्ण स्थिति में श्रमिकों की सहायता-तादात्मीकरण की तकनीक का प्रयोग करते हुए श्रमिकों में राहत की भावनाओं का विकास करना, तत्पश्चात् तनाव पूर्ण स्थितियों के कारकों की जानकारी प्राप्त कर उनके निराकरण में संबंधित श्रमिक की मदद करना,

8. परिवार नियोजन में सहायता देना-बड़ा परिवार वर्तमान युग में अभिशाप का पर्याय होता है। अतः कल्याण अधिकारी से आशा की जाती है कि वह वैयक्तिक सेवाकार्य की विभिन्न तकनीकों का प्रयोग करते हुये कर्मचारियों को परिवार नियोजन अपनाने हेतु प्रोत्साहित करना।

9. संबल एवं स्पष्टीकरण की प्रविधियों का प्रयोग कर श्रमिकों को बाहर से कर्ज न लेने के लिये प्रेरित करना एवं उन्हें इस बात के लिये प्रोत्साहित करना कि वे अल्प बचत करें।

10. वैयक्तिक सेवा की प्रविधियों के माध्यम से सेवार्थी को इस प्रकार प्रोत्साहित करना कि वे प्रतिष्ठान के बाहर भी समस्याओं का समाधान करें।

11. बहुत सी स्थितियों संराधन की असफलता के पश्चात् श्रम पक्ष एवं प्रबन्धन पक्ष दोनों ही चाहते हैं कि किसी पंच को नियुक्त कर उसे ही विवाद के बारे में निर्णय की जिम्मेदारी दे दी जाय। किंतु किसी एक पंच के नाम पर दोनों पक्ष सहमत नहीं होते हैं, फलस्वरूप पंच निर्णय नहीं हो पाता है। अतः वैयक्तिक सेवा कार्य के माध्यम से कार्मिक अधिकारी या कल्याण अधिकारी दोनों पक्षों से अलग-अलग बात कर किसी एक पंच के नाम पर दोनों पक्षों को युक्ति पूर्वक सहमत करा सकता है।

(B) सामूहिक सेवा कार्य की प्रविधियों का औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उपयोग–

यदि हम औद्योगिक श्रमिकों एवं प्रबन्धकों को एक समूह के रूप में लें तो कह सकते हैं कि सामूहिक सेवा कार्य की प्रविधियों के माध्यम से अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता की जा सकती है। किंतु बहुत सी स्थितियों में श्रम एवं प्रबन्धन के बीच इस प्रकार का संघर्ष होता है कि दोनों एक समूह के रूप में कार्य नहीं कर पाते हैं, ऐसी स्थिति में कुछ अन्य ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ सामूहिक सेवा कार्य की प्रविधियों का प्रयोग किया जा सकता है :-

1. व्यवसाय संघ के प्रतिनिधियों से वार्ता– जब व्यवसाय संघ के प्रतिनिधि किसी विशेष मामले में नियोक्ता के प्रतिनिधि से वार्ता हेतु आते हैं तो सामूहिक सेवा कार्य की प्रविधियों का प्रयोग करते हुये उनके लक्ष्यों एवं कार्यक्रमों के निर्माण एवं स्वस्थ्य अन्तर्क्रियाओं का विकास कर प्रबन्धकीय प्रतिनिधि उनसे स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।
2. अन्तर्सामूहिक सम्बन्ध के द्वारा श्रम एवं प्रबन्ध के संघर्षों के निराकरण में सफलता पायी जा सकती है,
3. एक प्रतिष्ठान में कई श्रमिक संघ होते हैं, उनमें पारस्परिक विद्वेश एवं संघर्ष होता है, जिसका श्रम-प्रबन्ध संबंधों पर ऋणात्मक प्रभाव पड़ता है। सामूहिक सेवाकार्य की प्रविधियों का प्रयोग (इण्टरग्रुप निगोसियेशन) करते हुये कार्मिक अधिकारी/कल्याण अधिकारी दो श्रमिक संघों की वैमनस्यता को समाप्त कर दोनों में स्वस्थ संबंध स्थापित कर सकता है,
4. औद्योगिक विवादों के सुलझाव हेतु सामूहिक सौदेबाजी एक बहुत ही सक्षम विधि है, किन्तु बहुत सी स्थितियों में इस विधि के द्वारा समझौता नहीं हो पाता। यदि प्रबन्धकीय प्रतिनिधि डिसकसन कांफ्रेंस एवं इण्टरग्रुप निगोसियेशन की प्रविधियों का समुचित रूप से प्रयोग करके इण्टीग्रेटिव बारगेनिंग की विधि का सहारा लेंगे तो समझौते हो सकते हैं।
5. प्रतिष्ठानों में सामान्य रूप से टीम या ग्रुप के द्वारा उत्पादन होता है, ग्रुप वर्क के प्रविधियों के माध्यम से उत्पादन के लक्ष्यों के निर्धारण एवं उनकी प्राप्ति हेतु संचालित सक्षम कार्यक्रमों के द्वारा उत्पादकता के लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं।
6. कार्य समितियों एवं कैन्टीन कमेटी के क्रियाकलापों का संचालन भी सामूहिक सेवा कार्य की प्रविधियों से और उपयोगी ढंग से किया जा सकता है।

7. क्वालिटी सर्किल एवं प्रबन्ध व्यवस्था में श्रमिकों के सहभाजन संबंधी अन्य क्रिया कलापों का संचालन भी सामूहिक सेवा कार्य की प्रविधियों के प्रयोग से अपेक्षाकृत और अच्छे ढंग से हो सकता है।

सामुदायिक संगठन की विधियों का प्रयोग

बहुत से श्रमिकों एवं अधिकारियों के लिये आवासीय कॉलोनीज़ बनी होती हैं। इनका प्रबन्ध कल्याण विभाग के किसी उच्च अधिकारी के द्वारा किया जाता है। वहाँ पर समुदाय विकास की विधि एवं तकनीकों का प्रयोग (जनसहयोग प्राप्त करते हुये) समुदाय के विकास के कुछ प्रमुख लक्ष्यों जैसे- स्कूल, सड़क, चिकित्सालय, कोआपरेटिव स्टोर, क्रीड़ा एवं मनोरंजन व्यवस्था के विकास हेतु हो सकता है। इसके लिये आवश्यक धन औद्योगिक प्रतिष्ठान या सरकार से प्राप्त किया जा सकता है। एन.जी.ओ. भी इस कार्य में सहायता दे सकते हैं।

इसके अतिरिक्त आज कॉर्पोरेट और प्रतिष्ठान स्तर पर सामाजिक जिम्मेदारी की अवधारणा को अतिशय महत्व दिया जा रहा है। इस दृष्टि से औद्योगिक प्रतिष्ठान किसी पिछड़े क्षेत्र का स्वतः चयन कर लेते हैं, जहाँ आर्थिक एवं सामाजिक विकास की आवश्यकता हो। प्रतिष्ठानों द्वारा (जैसे- बोकारो, टाटा इत्यादि) इस कार्य हेतु कम्युनिटी ऑर्गनाइजर्स की नियुक्तियाँ की जाती हैं जो मूलतः सामाजिक कार्यकर्ता होते हैं और ये समुदाय संगठन की विधि का प्रयोग करते हुए उक्त क्षेत्र में आर्थिक एवं सामाजिक विकास के कार्यक्रमों का संचालन करते हैं।

सामाजिक क्रिया की विधि का प्रयोग

प्रतिष्ठानों में कार्यरत कल्याण अधिकारी या मानव संसाधन प्रबन्ध अधिकारी सामाजिक क्रिया की विधि का भी प्रयोग करते हुये निम्नलिखित कार्य कर सकते हैं :-

(i) कामगारों में अछूत भावना की समाप्ति,

(ii) श्रमिकों में स्वस्थ नेतृत्व एवं स्वस्थ व्यवसाय संघों का विकास,

(iii) श्रमिकों में परिवार नियोजन के प्रति स्वीकृति एवं मान्यता की भावना का विकास,

(iv) सरकार को, विशेषकर सामाजिक सुरक्षा एवं श्रमिक संघों की मान्यता के बारे में, नये कानूनों के निर्माण हेतु, प्रभावित करना,

उपर्युक्त सभी कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कल्याण अधिकारी के अधिनियमित कर्तव्यों में सम्मिलित हैं, कल्याण अधिकारी जो मूलतया एक सामाजिक कार्यकर्ता होता है, इन कार्यक्रमों को सफल ढंग से संचालित कर सकता है।

सामाजिक शोध की विधि का प्रयोग

यदि नियोक्ता अपने प्रतिष्ठान में श्रमिकों के कल्याण हेतु कुछ विशिष्ट कार्यक्रमों में

संचालन हेतु धन निवेश करना चाहता है तो कल्याण अधिकारी सामाजिक शोध के माध्यम के श्रमिकों से यह ज्ञात कर सकता है कि उनकी कौन सी ऐसी आवश्यकतायें हैं, जिनकी पूर्ति हेतु उक्त धन का उपयोग किया जाना उचित होगा।

समाज कल्याण प्रशासन की विधि का उपयोग

औद्योगिक प्रतिष्ठानों नियोक्ताओं द्वारा कुछ अधिनियमित एवं अधिनियमेतर सेवाओं का आयोजन किया जाता है, जैसे कि जलपान गृह, शिशु गृह मनोरंजन केन्द्र उपभोक्ता सहकारी ऋण समिति इत्यादि। इन सेवाओं की प्रशासन की जिम्मेदारी सामान्य रूप से कल्याण अधिकारी की होती है। कल्याण अधिकारी यदि समाज कल्याण प्रशासन की प्रविधियों का प्रयोग करते हुये इन विधियों से उक्त सेवाओं का प्रशासन करेगा तो उसे अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिल सकती है।

समाजकार्य की विधियों के सक्षम ढंग से प्रयुक्त न होने के कारण

यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से समाजकार्य की विधियों का औद्योगिक प्रतिष्ठानों में बहुत ही सफल ढंग से प्रयोग हो सकता हैं, परंतु व्यावहारिक रूप में इन विधियों का सक्षमता से प्रयोग नहीं हो पाता। इसके दो प्रमुख कारक हैं, (i) पाश्चात्य देशों की भाँति हमारे देश के औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्मिक समाजकार्यकर्त्ताओं की नियुक्तियाँ नहीं हुयी हैं, केवल कल्याण अधिकारियों को ही इन जिम्मेदारियों के निर्वाह में इतना व्यस्त रहते है, वे अन्य अधिनियमित जिम्मेदारियों के निर्वाह में इतना व्यस्थ रहते हैं कि श्रम कल्याण की स्वतः उपेक्षा हो जाती है। (ii) व्यावहारिक रूप से समाजकार्य जनतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है, जहाँ सहायता प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाता है, जब कि मानव संसाधन प्रबन्धक मूलतया एक अधिकार मूलक प्रक्रिया है, जहाँ सबको एक अनुशासन में रहते हुये ऊपर के अधिकारियों के आदेशों का पालन करना पड़ता है। अतः मूल्यमय विरोध के कारण समाजकार्य की प्रविधियों एवं कुशलताओं का उद्योग के क्षेत्र में पूर्णतया प्रयोग नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है :-

(i) समाज कल्याण संस्थाओं एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के अनुस्थापन तथा उद्देश्यों में भी भिन्नता है। समाज कल्याण अभिकर्ता जनसामान्य की भलाई करना चाहते हैं और इस हेतु आवश्यकतानुसार उसके पास जो भी आर्थिक संसाधन है उनका उपयोग करते हैं और लाभार्जन की तो बात भी नहीं सोचते जब कि व्यावहारिक रूप से औद्योगिक प्रतिष्ठानों का मूल लक्ष्य केवल लाभार्जन है, अतः दोनों लक्ष्य परस्पर विरोधी होने के कारण, एक दूसरे के परिपूरक नहीं बन पाते।

(ii) 1953 में टाटा इन्स्टीट्यूट के तत्कालीन निदेशक श्री जे0सी0 कुमारप्पा ने श्रम एवं कल्याण अधिकारियों के अखिल भारतीय सम्मेलन में इस तथ्य का प्रतिपादन किया था कि औद्योगिक प्रतिष्ठानों का मूल लक्ष्य भी समाज कल्याण ही हैं, किंतु वास्तविक व्यवहार

में यह बात हो नहीं पाती। कोई भी औद्योगिक प्रतिष्ठान समाजकार्य को न तो अपना मूल लक्ष्य स्वीकार करता है और न इस हेतु यथेष्ट धन व्यय करना चाहता है, फलस्वरूप समाजकार्य की गतिविधियों का औद्योगिक प्रतिष्ठानों में समक्षता से क्रियान्वयन नहीं हो पाता है।

(iii) अधिकांश औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कर्मचारियों की संख्या तो बहुत अधिक होती है किन्तु उनके कल्याण हेतु केवल एक ही कल्याण अधिकारी होता है। भारतीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों में न तो कार्मिक समाजकर्त्ता होते हैं और न अधिकांश स्थानों में कार्मिक अधिकारी या मानव संसाधन प्रबन्ध अधिकारी वास्तविक अर्थों में समाजकार्य को अपनी जिम्मेदारी समझते हैं। ऐसी स्थिति में अकेला कल्याण अधिकारी कहाँ तक समाजकार्य की जिम्मेदारियों का सक्षम ढंग से निर्वाह कर सकता है।

(iv) कल्याण अधिकारियों के संबंध में प्रसिद्ध विद्वान श्री एल0एस0 कुडचेडकर का मत है कि न तो उनकी अभिरुचि समाजकार्य की ओर होती है और न उनके पास ऐसे कार्यों के लिये कोई समय ही होता है। वे अन्य वैधानिक जिम्मेदारियों के निर्वाह में ही व्यस्त रह जाते हैं। यद्यपि कल्याण अधिकारियों का यह मत है कि वे समाजकार्य संबंधी क्रिया कलापों का वरीयता के आधार पर निष्पादन करना चाहते हैं, किंतु उनके पास इस कार्य के लिए समय नहीं होता है।

(v) समाजकार्य एवं श्रमकल्याण के विषय श्रेत्र में इतनी द्रुत गति से परिवर्तन हो रहा है कि कल्याण अधिकारी के अधिनियमित कर्तव्यों में जब तक परिवर्तन नहीं होता, वे इस जिम्मेदारी का सक्षम ढंग से निर्वाह नहीं कर पायेंगे।

सुझाव

कल्याण कार्यक्रमों हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं :-

(i) वर्तमान काल में श्रम कल्याण कार्य विभिन्न प्रकार की संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। इस सभी प्रयासों को एकीकृत करते हुए एक स्वीकृत योजना के निर्माण की आवश्यकता है।

(ii) औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कल्याण अधिकारी के अतिरिक्त समुचित संख्या में कार्मिक समाज कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति होनी चाहिये।

(iii) कल्याण अधिकारी एवं मनाव संसाधन प्रबन्ध अधिकारी के प्रशिक्षण कार्यक्रम में समाज कार्य के महत्वपूर्ण स्थान की व्यवस्था होनी चाहिये।

(iv) कल्याण अधिकारी के प्रशिक्षण को समाजकार्य - मूलक बनाया जाना चाहिये।

(v) प्रतिष्ठानों में उच्च पदस्थ प्रबन्धकों को भी समाजकार्य में अनुस्थापन की व्यवस्था

संदर्भ

1. एडवर्ड, एस0टी0-फिलासोफी आफ लेबर, वेलफेयर, इंडियन जनरल आफ सोशल वर्क, जून, 1953।
2. आप्टेकर- "सोशलवर्क इन क्रास कल्चरल पर्सपेक्टिव", पूर्वार्द्ध पृ0 92।
3. आप्टेकर- "सोशलवर्क टेकनिक इन इंडियन लेबर वेलफेयर", पूर्वार्द्ध।
4. आप्टेकर- "सोशलवर्क इन क्रास कल्चरल पर्सपेक्टिव', पूर्वार्द्ध।
5. आप्टेकर- 'सोशलवर्क इन क्रास कल्चरल पर्सपेक्टिव', पूर्वाद्ध।
6. आप्टेकर-'सोशलवर्क टेकनिक इन लेबर वेलफेयर', पूर्वाद्ध।
7. आप्टेकर- 'सोशलवर्क टेकनिक इन इंडियन लेबर वेलफेयर', पूर्वाद्ध, पृ0 29।
8. (अ) आप्टेकर, हरवर्ट- "सोशलवर्क इन क्रास कल्चरल पर्सपेक्टिव" (इंडियन जरनल आफ सोशलवर्क, वाल्यूम 25, सं02, पृ0 91-92)
9. ब्राउन, जे0ए0सी0-सोशल साइकोलाजी आफ इंडस्ट्री
10. बेल्जियम सरकार एवं संयुक्त राष्ट्र संघ के संयुक्त तत्वावधान में-बुशेल्स में आयोजित कार्मिक-समाजकार्य की विचारगोष्ठी में श्री एम0एल0 जिनेट द्वारा प्रस्तुत किये गये लेख के आधार पर, 17 सितम्बर 1960।
11. कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली आफ इंडिया डिबेट", 27 अगस्त, 1948।
12. डॉ0 आप्टेकर्स रिप्लाई टु ए नोट बाई प्रोफेसर कुचेदकर ऑफ टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, बाम्बे, मार्च, 31, 1965।
13. ड्यूबिन राबर्ट- 'कांस्ट्रक्टिव एस्टेक्ट आफ इन्डस्ट्रियल कान्लिक्ट'।
14. धींगरा, आर0एस0- "सोशलवर्क इन क्रास कल्चरल पर्सपेक्टिव", पूर्वाद्ध
15. फर्स्ट ऑल इंडिया कान्फरेंस आफ लेवर ऐंड वेलफेयर आफिसर्स, (इंडियन जर्नल आफ सोशलवर्क, जून, 1953)।
16. फाक्स, एलन-'फ्राम वेलफेयर टु आर्गनाइजेशन', न्यू सोसाइटी नं0 193, (जून 1966), पृ0-15।
17. हेकमैन, आई0एल0 ऐण्ड हेनरी यागर, एस0जी0-"मैनेजमेण्ट आफ द परसनल फंक्शन, पृ0-11।
18. हरवर्ट, एच0एच0 आप्टेकर'-सोशलवर्क टेकनिक एन इंडिया लेबर वेलफेयर जुलाई, 1964, पृ0-28।
19. इंडस्ट्रीयलाइजेशन एंड सोशल वर्क, प्रोसीडिंग आफ दी इंटरनेशनल कांफ्रेंस आफ सोशल वर्क।

20. जैकब, के0के0 'परसनल मैनेजमेंट इन इंडिया', पृ0 37, एस0जे0 सी0 पब्लिकेशन।
21. कूचेदकर, एल0एस0-''ट्रेनिंग फार लेबर वेलफेयर'', (इंडियन जनरल आफ सोशलवर्क, अप्रैल 1967, 74)
22. कुचेदर, एल0एस0-'उपर्युक्त', पृ0-96।
23. कुमारप्पा, जे0एम0- 'फर्स्ट आफ इंडिया कांफ्रेंस आफ लेबर ऐंड वेलफेयर आफिसर, पूर्वाद्धत।
24. मूर्ति, एम0बी0-प्रिंसिपल्स आफ लेबर वेलफेयर, विशाखापट्टम, गुप्ता ब्रदर्स।
25. मूर्ति, एम0वी0- ''ह्यूमन एप्रोच टु परसनल मैनेजमेंट, (इंडियन जरनल आफ सोशलवर्क, पृ0-95)
26. मूर्ति, एम0वी- उपर्युक्त।
27. मूर्ति, एम0वी0- ह्यूमन एप्रोच टु परसनल मैनेजमेंट, (पूर्वोदधृत)
28. मेहत्राज, वी0जी- लेबर पार्टिसिपेशन इन मैनेजमेंट' 1966, पृ0 29-34।
29. मेहत्राज, वी0जी0- 'लेबर वेलफेयर ऐण्ड वेलफेयर आफिसर इन इंडियन इंडस्ट्री, पूर्वाद्धत, पृ- 10, 17।
30. मेहत्राज, वी0जी-लेबर वेलफेयर ऐंड वेलफेयर आफिसर इन इण्डियन इन्डस्ट्री', पृ0 14।
31. मेहत्राज, वी0ज0-लेबर वेलफेयर एंड वेलफेयर आफिसर्स इन इंडस्ट्रीज (बाम्बे लेबर इंस्टीट्यूट 1966) पृ0-2।
32. ओल्डफील्ड, फ्रीड ई0-'इंडस्ट्रियल वेलफेयर आफिसर', (ब्रिटिश पब्लिकेशन)।
33. पालचु-दि माडर्न अप्रोच टू इंडस्ट्रियल वेलफेयर, इन इंटरनेशनल लेबर रिव्यू, जून, 1955
34. पाल चु-दि मार्डन एप्रोच टॅ इंडस्ट्रीयल वेलफेयर, इन इंटरनेशनल लेबर रिव्यू, जून 1955।
35. पार्सन, एच0एस0-इनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, भाग 1935।
36. पाल-चु के पूर्वोद्धत मत के अनुसार।
37. 'परसनल मैनेजमेंट इन इंडिया', (इंडियन इंस्टीट्यूट आफ परसनल मैनेजमेंट, पृ0-54)।
38. पब्लिएड इन ''इन्डस्ट्रियल रिलेशन'' मार्च-अप्रैल, 1996, पृ0 53. (इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ परसनल मैनेजमेंट, कलकत्ता)।
39. रिपोर्ट आफ दि नेशनल कमीशन आन लेबर।
40. रिपोर्ट आफ आई0एल0ओ0 एसियन रीजनल कांफ्रेंस।
41. रिपोर्ट आफ दी कमेटी आन लेबर वेलफेयर गवर्नमेंट आफ इंडिया, पृ0 54 1962।
42. रिपोर्ट आफ दी कमेटी आन लेबर वेलफेयर गवर्नमेंट आफ इंडिया पृ0 54 1962।

43. रनदेव, के0एन0-"परसनल मैनेजमेंट एण्ड सोशलवर्क, (इंडियन जरनल आफ सोशलवर्क, जुलाई, 1963)

44. रेलेन, आर0डी0-'लेबर वेलफेयर' सोशलवर्क फोरम, अप्रैल, 1963, पृ0-21

45. शाहा, शांति लाल-प्रथम अखिल भारतीय श्रम-कल्याण अधिकारी सम्मेलन में दिया गया अध्यक्षीय व्याख्यान (बाम्बे अप्रैल 1953, इंडियन जनरल आफ सोशल वर्क, जून 1953, पृ0-37)

46. शास्त्री, राजाराम-समाजकार्य एवं श्रम-कल्याण के संबंध में आयोजित विभागीय बैठक की विचारगोष्ठी में अभिव्यक्त मत, (काशी विद्यापीठ, समाजकार्य विभाग, अप्रैल, 1967)

47. थामस, पी0टी0,- 'प्राब्लम आफ सोशलवर्क एजूकेशन एन इंडिया,' अप्रैल, 1967, पृ0-48।

48. यूरोपियन सेमिनार आन परसनल सोशल वर्क, ब्रुशेल्स, बेल्जियम, 7-10 सिंतबर, 1960 आर्गनाइज्ड बाई टेक्निकल एसोसिएशन आफिस आफ यूनाइटेड नेशन ऐंड बेल्जियम मिनिस्ट्री ऑफ लेबर ऐंड इम्प्लॉयमेंट।

49. वैद, के0एन0 - "लेबर वेलफेयर इन इंडिया," पृ0-329।

50. पूर्वोधृत।

अध्याय-21

चिकित्सकीय एवं मनोचिकित्सकीय समाजकार्य

चिकित्सकीय समाजकार्य :-

चिकित्सकीय समाज कार्यकर्ता स्वास्थ्य के विभिन्न क्षेत्रों जैसे चिकित्सालयों एवं लघु चिकित्सालयों में कार्य करने के साथ-साथ निवारण और सामाजिक उपचार एवं पुनर्वासन में भी कार्य करते हैं। इन क्षेत्रों में कार्यकर्ता व्यक्तियों के खराब स्वास्थ्य एवं बाधिताओं के कारण उत्पन्न मनोसामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए सहायता देता है, ताकि वे अपनी क्षमता के अनुरूप एक संतोषप्रद उत्पादकतापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें।

चिकित्सकीय समाजकार्य का अर्थ एवं परिभाषा

आयुर्विज्ञान के विकास के साथ-साथ मात्र यह बात सर्वस्वीकृत हो गई है कि स्वास्थ्य के शारीरिक मानसिक तथा सामाजिक तीन महत्वपूर्ण पक्ष हैं। अब वैज्ञानिक रूप से यह स्वीकार कर लिया गया है कि रोगी के स्वास्थ्य सुधार में दवा का जितना महत्व है उतना ही महत्व उसकी सामाजिक एवं मानसिक परिस्थितियों का है। इसलिये चिकित्सा के क्षेत्र में समाजकार्य के प्रयोग को विशेष बढ़ावा मिल रहा है। इस क्रम में समाजकार्य के एक क्षेत्र के रूप में चिकित्सकीय समाजकार्य का विकास हुआ, जिसके माध्यम से चिकित्सा के क्षेत्र में सामाजिक कार्यकर्ता कार्य कर रहे हैं। चिकित्सकीय समाजकार्य की कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं :-

(1) **अमेरिका के समाजकार्यकर्ताओं के राष्ट्रीय संघ** (National Association of Social Walfare) के अनुसार चिकित्सकीय समाज कार्य स्वास्थ्य एवं चिकित्सकीय देख रेख के क्षेत्र में समाजकार्य की पद्धतियों एवं दर्शन का उपयोग स्वीकार करता है। चिकित्सकीय समाज कार्य, समाजकार्य के ज्ञान एवं पद्धतियों के उन पक्षों का विस्तृत उपयोग करता है, जो स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सम्बन्धी समस्याओं से ग्रस्त व्यक्तियों के सहायतार्थ विशेष रूप से उपयुक्त हैं।

(2) **प्रोफेसर राजाराम शास्त्री** के अनुसार चिकित्सकीय समाजकार्य का लक्ष्य होता है कि वह चिकित्सकीय सुविधाओं का उपयोग रोगियों के लिये अधिक से अधिक सुविधापूर्ण ढंग से करे तथा चिकित्सा में बाधक बने सामाजिक स्थितियों का निराकरण करें।

(3) **एच.एस. पाठक** – चिकित्सकीय समाजकार्य उन रोगियों की सहायता प्रदान करने से सम्बन्धित है, जो सामाजिक तथा मनोसामाजिक कारकों के कारक उपलब्ध चिकित्सकीय सेवाओं का प्रभावी रूप से उपयोग करने में असमर्थ होते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि (1) चिकित्सकीय समाजकार्य, समाजकार्य का एक विशिष्ट क्षेत्र है, (2) इसमें सामाजिक कार्यकर्ता, मनोसामाजिक समस्याओं की रोकथाम, उनका निदान एवं उपचार करता है। (3) रोगी को प्रदान की गई चिकित्सकीय सेवाओं का अधिकतम लाभ उठाने तथा, शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ होने एवं तदुपरान्त पुनर्स्थापित होने में सहायता देता है।

चिकित्सकीय समाजकार्य की विशेषतायें

(1) चिकित्सकीस समाजकार्य व्यवसायिक समाजकार्य के विशेषीकरण का एक क्षेत्र है।

(2) यह सामाजिक सहायता प्रदान करता है।

(3) उसके द्वारा रोगियों को उपलब्ध निवारक (Preventive) तथा निदानात्मक एवं उपचरात्मक सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करने में सहायता दी जाती है।

(4) सहायता द्वारा रोग ग्रस्त व्यक्ति चिकित्सकीय सेवाओं का अधिकतम लाभ उठाकर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करता है और समाज में अपनी क्रिया में पूर्ववत लगता है।

भारतवर्ष में चिकित्सकीय समाज कार्य का इतिहास

भारतवर्ष में चिकित्सकीय समाज कार्य का प्रारम्भ लेडी अलमोनर्स द्वारा किया गया। प्रारम्भ में भारतवर्ष में समाजकार्य के प्रशिक्षण की व्यवस्था न होने के कारण अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में प्रशिक्षित भारतीय मूल के चिकित्सकों ने यहाँ के चिकित्सालयों में कार्यरत स्वैच्छिक कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित कर उन्हें व्यवसायिक कार्यकर्ता के रूप में कार्य करने के लिये प्रेरित किया। 1936 में सरदोरावजी टाटा स्कूल ऑफ सोशल वर्क (वर्तमान में टाटा इंस्टिट्यूट आफ सोशल साइंसेज) की स्थापना की गई, जहाँ विशेषकर औद्योगिक क्षेत्र में प्रभावपूर्ण ढंग से कल्याण कार्यों के आयोजन सम्बन्धी प्रशिक्षण का आरम्भ हुआ पर साथ ही इस संस्थान ने चिकित्सकीय समाजकार्य के प्रशिक्षण एवं उपयोगिता की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट किया। 1945 में स्वास्थ्य सर्वेक्षण एवं विकास समिति ने प्रशिक्षित सामाजिक कार्यकर्ताओं की आवश्यकता पर बल दिया। परिणाम स्वरूप तमिलनाडु में सर्वप्रथम स्टेला मेरिस कालेज में एक वर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त महिला चिकित्सकीय समाज कार्यकर्ताओं की नियुक्ति प्रारम्भ हुई। इसी दौरान इण्डियन रेडक्रास सोसाइटी की चेन्नई शाखा के स्वास्थ्य सेवकों के प्रशिक्षण के लिये दसवीं कक्षा उत्तीर्ण 35-35 छात्रों के समूह के लिये 10 माह तथा 18 माह के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई। यह पाठ्यक्रम व्यवसायिक समाजकार्य का नाममात्र का प्रशिक्षण देता था। अतः कुछ समय पश्चात् 40-45 चिकित्सकीय समाजकार्यकर्ताओं को दो वर्षीय प्रशिक्षण प्राप्त करने की व्यवस्था की गई। 1946 में सर्वप्रथम जे.जे. ग्रुप हास्पिटल बम्बई में इंग्लैण्ड से चिकित्सकीय समाज कार्य में

व्यवसायिक प्रशिक्षण प्राप्त एक भारतीय मूल के समाजकार्यकर्ता की नियुक्ति दो सौ पचास रुपये प्रतिमाह पर की गई। इसके बाद समाजकार्य में प्रशिक्षण देने वाले संस्थानों में चिकित्सकीय समाजकार्य को स्नातकोत्तर समाजकार्य उपाधि के पाठ्यक्रम में एक विशेषीकरण के रूप में सम्मिलित किया गया। 1959 में भारतीय समाजकार्य सम्मेलन (Indian Conference of social work) के बारहवें अधिवेशन (हैदराबाद) में एक प्रस्ताव पारित कर यह संस्तुति की गई कि 50 से अधिक रोगी शैय्या वाले अधिकांश अथवा समस्त चिकित्सालयों में कम से कम एक चिकित्सकीय कार्यकर्ता की नियुक्ति की जानी चाहिये।

चिकित्सकीय समाजकार्य के क्षेत्र में समाजकार्य की विभिन्न विधियों का उपयोग

सुलभ-मुधकर वाडे (1987, 173, 74) के अनुसार चिकित्सालय में चिकित्सकीय समाजकार्यकर्ता के सेवार्थी वे व्यक्ति होते हैं, जो बीमारी एवं बाधिताओं के कारण मनोसामाजिक समस्याओं से ग्रस्त होते है। वे कार्यकर्ता मुख्य रूप से वैयक्तिक समाजकार्य एवं सामूहिक कार्य प्रणालियों का प्रयोग करते हुये इन व्यक्तियों की सहायता करते हैं। समाज कार्य की कुछ प्रमुख विधियों के प्रयोग से रोगियों को प्रत्यक्ष सेवायें प्रदान करने का विवरण निम्नलिखित है :-

(A) वैयक्तिक समाज कार्य प्रणाली का प्रयोग करते हुये रोगियों को प्रत्यक्ष सेवा उपलब्ध कराना

(1) रोग की प्रकृति तथा उसके प्रभावों को रोगियों तथा उनके परिवारों को स्पष्ट करना। यह कार्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर किया जा सकता है।

(2) रोगियों की उपचार कार्यक्रम में सहभागिता प्राप्त करने हेतु उनकी योग्यता का सामाजिक मूल्यांकन करना, तथा यदि आवश्यक हो तो संकट की स्थिति के दौरान आवश्यक संवेगात्मक सम्बल प्रदान करना।

(3) रोगियों के लिये निर्धारित उपचार से लाभ प्राप्त करने के उद्‌देश्य से जहाँ कहीं आवश्यक हो सुधार करना। इसके लिये कार्यकर्ता को रोगी के परिवारों, विद्यालयों, कार्यस्थलों तथा पड़ोसियों इत्यादि के साथ कार्य करना पड़ता है।

(4) रोगियों की भौतिक आवश्यकताओं जैसे धन, दवा, कपड़े इत्यादि भी पूर्ति के लिये आवश्यक संसाधनों को जुटाना।

(5) रोगियों की मनोसामाजिक समस्याओं के बारे में परिवारों तथा जिस समाज में वे रह रहे हैं उसके उत्तरदायी सदस्यों को बतलाना, ताकि वे रोगियों के बारे में अपने नवीन उत्तर दायित्वों की पहचान कर सकें, तथा रोगियों को उनकी परिस्थितियों में स्वीकार कर सकें।

(6) रोगियों के पुनर्स्थापन हेतु उनके परिवार के साथ योजना बनाना।

(7) रोगियों तथा परिवारों के साथ सम्पर्क बनाये रखना, ताकि उनकी (रोगियों की) निदान की प्रक्रिया में सदस्यों के माध्यम से प्राप्त जानकारियों का समुचित उपयोग हो सकें।

(8) जहाँ आवश्यक हो रोगियों को उनके उपचार हेतु सम्बन्धित संस्थाओं में भर्ती कराना तथा उन्हें अपेक्षित सेवायें उपलब्ध कराना।

(B) सामूहिक समाजकार्य प्रणाली का उपयोग करते हुये रोगियों को प्रत्यक्ष सेवायें उपलब्ध करना।

(1) एक तरह की समस्याओं से ग्रस्त रोगियों को साथ-साथ लाना, ताकि वे अपनी समस्यायें आपसी सहयोग से सुलक्षा सकें।

(2) आपसी स्वीकृति के वातावरण में रोगियों की समस्याओं को सुलझाना।

(3) पारस्परिक सहयोग की प्रक्रिया के माध्यम से रोगियों की सम्बोधन समस्याओं के निराकरण तथा उनके अभिवृतीय परिवर्तनों (attitudional charged) के लिए चिकित्सा अभिकर्ता के रूप में समूह का उपयोग करना।

(C) चिकित्सकीय दल के साथ सम्पर्क स्थापित करना

(1) प्रत्येक चिकित्सालय के चिकित्सकों को समाजकार्य की भूमिकाओं से अवगत कराना।

(2) रोगियों के उचित निदान आवश्यक इलाज तथा यथेष्ट पुनर्स्थापन के लिये उनकी आवश्यकताओं से चिकित्सक को अवगत कराना।

(3) रोगियों को उनके परिवारों तथा समुदाय को चिकित्सालय की भूमिगत तथा उसकी आवश्यकताओं के बारे में बतलाना।

(4) रोगियों की आवश्यकताओं के अनुसार समुदाय के अन्तर्गत संसाधन को विकसित करना।

(5) क्षेत्रीय समाज की आवश्यताओं के अनुरूप प्रशिक्षण देने के लिये समाजकार्य प्रशिक्षण प्रदान करने वाली संस्थाओं को सहायता देना।

(D) प्रशासन से सम्बन्धित कार्य

इसमें मुख्य रूप से कार्यालय सम्बन्धी कार्य जैसे- अभिलेखों रजिस्टरों इत्यादि का रखरखाव, दिन-प्रतिदिन के कार्यों का नियोजन एवं संगठन, कर्मचारियों अधीक्षक एवं उनको सलाह देने से सम्बन्धित कार्य चिकित्सालय के अधिकारियों से सम्पर्क स्थापन करना इत्यादि आते हैं।

(E) अध्यापन अधीक्षक एवं कर्मचारियों का विकास

(1) चिकित्सकीय विद्यार्थियों, समाज कार्यकर्ताओं, भौतिक चिकित्सा तथा व्यवसायिक चिकित्सा (Physio-therapy & occupational therapy) के विद्यार्थियों के तथा परिचारण सम्बन्धी विद्यार्थियों (Nursing students) के अध्यापन कार्यक्रम में भाग लेना।

(2) इन विद्यार्थियों के प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रमों का निर्देशन करना।

(F) शोध सम्बन्धी कार्य

इसके अन्तर्गत स्वतंत्र रूप से अथवा संयुक्त रूप से शोध सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करना और शोध निर्देशन सहायता आदि कार्य भी सम्मिलित है तथा उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त चिकित्सकीय समाजकार्य के कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्य है, जिनका विवरण नीचे दिया जा रहा है :-

1. रोगियों तथा उनके परिवारों की उन सामाजिक एवं साम्वेगिक समस्याओं के समाधान में सहायता देना, जो उपयुक्त उपचार, देखरेख एवं पुनर्स्थापन में बाधा डालती है।
2. चिकित्सालय रोगी तथा समुदाय के बीच मध्यस्थता करना, रोगी एवं उसके परिवार को उपचार एवं समुदाय के सहयोग की व्याख्या करना।
3. रोगी के भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक पर्यावरण सम्बन्धी तथ्यों को निदान एवं समुचित उपचार के लिए संकलित करना।
4. वर्तमान सामुदायिक साधनों को समुचित उपयोग के लिये सक्रिय करना तथा नवीन सामुदायिक सेवाओं को विकसित करना।

आयुर्विज्ञान के नवीन खोजों की प्रगति के फलस्वरूप निवारक व समाजमूलक चिकित्सा का उदय हुआ, जिसमें चिकित्सकीय समाजकार्य के योगदान की उपयोगिता को समुचित स्थान प्रदान किया गया। सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं सामुदायिक स्वास्थ्य की अवधारणा के महत्व को प्राथमिकता दी गई। रोगों से संरक्षण एवं निवारण की गतिविधियों को सफल बनाने के लिये एक स्वास्थ्य दल की आवश्यकता पर बल दिया गया, जिसमें चिकित्सकीय समाजकार्य, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, भौतिक एवं वृत्तिक उपचार की विशिष्टताओं को स्वास्थ्यवर्द्धक रोग निवारक एवं उपचार हेतु महत्वपूर्ण समझा गया। फलस्वरूप सामाजिक समायोजन तथा पुनर्स्थापन में सहायता प्रदान करने के लिये चिकित्सकीय समाजिक कार्यकर्ताओं की नियुक्तियाँ प्रारम्भ की गईं।

इस प्रकार पिछले चार दशकों से सम्पूर्ण देश के निवारक एवं समाजमूलक चिकित्सा विभागों के विकास के साथ चिकित्सकीय सामाजिक कार्य के विकास में भी नये आयाम जुड़े।।

चिकित्सालय में रोगी का प्रवेश

जब रोगी स्वयं अथवा अन्य किसी व्यक्ति के माध्यम से चिकित्सालय में प्रवेश करता है तो सामाजिक कार्यकर्ता सर्वप्रथम उसे स्वीकृति प्रदान करता है, तत्पश्चात् सम्बन्ध स्थापन की अन्य प्रविधियों के माध्यम से न केवल उस रोगी से सम्बन्ध स्थापित करता है वरन उसकी व्यक्तिगत एवं पारिवारिक समस्याओं की प्राथमिक जानकारी प्राप्त करता है अन्ततः सेवार्थी एवं कार्यकर्ता के बीच एक पारस्परिक समझदारी का विकास होता है।

प्रवेश एक प्रक्रिया है जिसमें समस्या के स्वरूप एवं प्रकृति का ज्ञान प्राप्त किया जाता हैं समस्या ग्रस्त व्यक्ति द्वारा समस्याओं और आवश्यकताओं का प्रस्तुतिकरण किया जाता हैं। उसकी प्रेरणा एवं अभिकरण में उपलब्ध साधनों एवं कार्याविधि का सेवार्थी को ज्ञान कराया जाता है।

चिकित्सालय में सेवार्थी का प्रवेश कई तरीकों से होता है, उदाहरणार्थ सेवार्थी या तो स्वयं ही चिकित्सालय में आये और सर्वप्रथम सामाजिक कार्यकर्ता से मिलें, या दूरभाष के माध्यम से सेवार्थी चिकित्सालय स्थित सामाजिक कार्यकर्ता से बात करे। अपनी समस्याओं और अपेक्षाओं से कार्यालय को अवगत कराये। यह प्रवेश पत्राचार या सूचना वाहक के माध्यम से भी कभी-कभी होता है।

चिकित्सकीय समाज कार्यकर्ता के कार्य

चिकित्सालय स्थित सामाजिक कार्यकर्ता न केवल रोगियों को प्रत्यक्ष सेवायें उपलब्ध कराता है उसकी मनोसामाजिक समस्याओं का भी निदान कर उनका उपचार करने में सहायता देता है, रोगियों को प्रत्यक्ष सेवायें उपलब्ध कराने के अतिरिक्त चिकित्सकीय समाजकार्यकर्ता के कार्य निम्नलिखित हैं :-

(अ) रोगियों के साथ कार्य

1- रोगियों की सामाजिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना तथा सम्बन्धित चिकित्सकों को तथ्यों से अवगत कराना।

2- रोगियों के स्वास्थ्य से सम्बन्धित सामाजिक परिस्थितियों में निहित कारकों का पता लगाना।

3- रोगियों द्वारा अभीष्ट उपचार के लक्ष्यों का चिकित्सक की सहायता से निर्धारित करना एवं उनकी प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करना।

4- चिकित्सकीय सामाजिक परिस्थितियों के अर्थ को भी रोगी समूह एवं उपचारक दवा के अन्य वृत्तिक विशेषज्ञों के समक्ष व्याख्या करना।

5- सामाजिक पक्षों पर विशेष बल देते हुये चिकित्सकीय सेवाओं की सार्थकता का निर्धारण करना।

6- वैयक्तिक सेवाकार्य प्रणाली के उपयोग के माध्यम से चिकित्सालय में रोगियों को प्रत्यक्ष सेवायें उपलब्ध कराना।

7- रोग की प्रकृति एवं उसके कारणों एवं प्रभावों को रोगियों एवं उसके परिवार को स्पष्ट कराना।

8- उपचार कार्यक्रम में रोगियों की सहभागिता प्राप्त करना।

9- निर्धारित उपचार से लाभ प्राप्ति के लिए रोगी की पूर्व निर्मित अपेक्षाओं में आवश्यकतानुसार सुधार करना।

10- रोगियों की भौतिक आवश्यकताओं जैसे धन दवा और कपड़े आदि की प्राप्ति के लिये स्थानीय संसाधनों को जुटाना।

11- रोगियों की मनोसामाजिक समस्याओं के बारे में उनके परिवारों तथा जिस समाज में वे रह रहे हैं, उनके उत्तरदायी सदस्यों को बताना, ताकि वे रोगियों के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व की पहचान कर सकें और रोगियों को उनकी यथास्थिति में स्वीकार कर सकें।

12- रोगियों के पुनर्वास हेतु उनके परिवार के सदस्यों के साथ योजना बनाना।

13- रोगियों तथा उनके परिवारों के साथ सम्पर्क बनाये रखना, ताकि उनके निदान की प्रक्रिया हेतु समुचित तथ्यों को एकत्रित किया जा सके।

14- जहाँ तक सम्भव हो सके रोगियों को उनके उपचार हेतु सम्बन्धित अभिकरण में भर्ती कराना तथा अपेक्षित सेवायें उपलब्ध कराना।

15- सामूहिक समाजकार्य प्रणाली का प्रयोग करते हुये रोगियों को प्रत्यक्ष सेवायें प्रदान करना इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कार्य किये जा सकते हैं :-

(अ) एक तरह की समस्याओं से ग्रस्त रोगियों को एक साथ लाना, ताकि वे अपनी समस्याओं को आपसी सहयोग से सुलझा सकें।

(ब) रोगियों को समुदाय में समायोजित करना।

(स) आपसी स्वीकृति के वातावरण में रोगियों की समस्याओं को सुलझाना।

(द) आपसी सहयोग की प्रक्रिया के माध्यम से रोगियों की सम्वेदनात्मक समस्याओं का उपचार

2. चिकित्सा दल के साथ सम्बन्ध स्थापन करना

(अ) चिकित्सकों को समाज-कार्यकर्ता की भूमिका एवं महत्व से अवगत कराना।

(ब) रोगियों के उचित निदान, आवश्यक इलाज तथा उचित परामर्श के लिये चिकित्सकों की सहायता सुनिश्चित करना।

(स) रोगियों, उनके परिवार तथा समुदाय को चिकित्सालय की भूमिका से अवगत कराना।

चिकित्सा के क्षेत्र में मुख्य रूप से वैयक्तिक सेवा कार्य की विधि का ही प्रयोग होता है। इस विधि का प्रयोग करते हुये तीन क्षेत्रों में काम करना पड़ता है :-

(अ) रोगी के परिवार सगे सम्बन्धियों तथा समुदाय से सम्बन्धित कार्य।

(ब) **चिकित्सालय सम्बन्धित कार्य** – सामाजिक कार्यकर्ता चिकित्सालय की विभिन्न अपेक्षाओं के परिपेक्ष्य में रोगी को समायोजित करता है। आवश्यकतानुसार चिकित्सालय की नीतियों एवं कार्यप्रणाली को रोगी तक पहुँचाता है।

(स) रोगी के साथ कार्य करते हुये समाजिक कार्यकर्ता वैयक्तिक सेवा कार्य की कुछ प्रमुख प्रविधियों का उपयोग करते हुये सहायता कार्य को सफल बनाता है। इन प्रविधियों में सम्बल अंगीकरण, साधनों का उपयोग, स्वीकृति, सार्वभौमिकरण, सम्प्रेषण, प्रोत्साहन पर्यावरण परिवर्तन आदि प्रमुख है।

चिकित्सकीय सामाजिक कार्य की उपयोगिता

आज यह बात पूर्वतया स्पष्ट हो चुकी है कि स्वास्थ्य एवं रूग्णता का सम्बन्ध व्यक्ति के शारीरिक पहलुओं से ही नहीं है वरन उसका सम्बन्ध व्यक्ति के सामाजिक एवं मानसिक पहलुओं से भी है। अतः रोग से जनित मानसिक एवं सामाजिक समस्याओं के निराकरण में चिकित्सकीय समाज कार्य का महत्वपूर्ण योगदान हो सकता है। विवरण निम्नलिखित हैं :-

(1) **रोगी की सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन**– रोग के सम्पूर्ण निदान हेतु रोगी की सामाजिक पृष्ठभूमि की जानकारी भी निदानकर्ता को होना चाहिये। सामाजिक पृष्ठभूमि एवं सामाजिक समस्याओं की सामाजिक कार्यकर्ता को एक चिकित्सक की अपेक्षा अधिक समझ होती है। अतः सामाजिक कार्यकर्ता को ही यह जिम्मेदारी दी जाती है कि वह रोगी के मनोसामाजिक पृष्ठभूमि का समुचित विवरण तैयार करें और आवश्यकतानुसार उन जानकारियों को चिकित्सक को देकर रोग के निदान में सम्यक योगदान दे।

(2) **रोगी को व्यक्तिगत मानसिक दबावों से मुक्ति कराने में सहायता** – चिकित्सकीय सामाजिक कार्य का मुख्य उद्देश्य रोगी को उन मानसिक दबावों से मुक्त करने में सहायता देना है जो व्यक्तिगत दृष्टि कोणों के कारण विकसित होते हैं। चिकित्सा के लिये एक व्यवस्थित कार्यक्रम के निर्माण में तभी सफलता मिल सकती है जब कि सामाजिक कार्यकर्ता उसमें योगदान दें। इसी प्रकार रोगी के उपचार हेतु चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता का सहयोग अति आवश्यक है।

(3) **रोगी की समस्याओं के मनोसामाजिक कारणों की खोज** – बहुत से रोग रोगी की मनोसामाजिक पृष्ठभूमि के कारण उत्पन्न होते है। कहना नहीं होगा कि मनोसामाजिक कारणों की जानकारी के पश्चात ही समुचित निदान सम्भव है और मनोसामाजिक कारकों की जानकारी सामाजिक कार्यकर्ता की सहायता के माध्यम से ही हो सकती है।

(4) **रोगी को स्वयं समस्या समाधान में सक्षम बनाना** – चिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ता रोगी को सम्बल प्रदान कर एवं उनकी अन्तर्दृष्टि को विकसित कर उसे ऐसा सशक्त बनाने का प्रयास करता है कि वह अपनी समस्याओं के समाधान में स्वयं ही सक्षम हो जाय।

(5) **रोगी की इच्छाशक्ति का विकास करना** – समाज कार्य के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार

कार्य करते हुये एवं समाजकार्य की विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रयोग करते हुये सामाजिक कार्यकर्ता रोगी की इच्छाशक्ति का विकास करता है, फलस्वरूप रोगी अपने उपचार हेतु अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय ढंग से कार्य करने लगता है।

(6) **रोगी के व्यवस्थापन में सहायता-** रोग ग्रस्त व्यक्ति कभी-कभी अपने में बहुत ही निराशा का अनुभव करता है और एक निराशाजनक स्थिति से गुजरने लगता हैं। ऐसी स्थिति में कार्यकर्ता उसे सशक्त बनाते हुये उसे परिस्थितियों के साथ समायोजन में सहायता देता है।

(7) **पर्यावरण में समुचित परिमार्जन और विकास** - कुछ विशेष रोगों में (जैसे टी.बी. या वी.डी.) में आस-पास के लोग रोगी को अस्पृश्य एवं हेय समझने लगते हैं इस कारण रोगी और भी तनावग्रस्त हो जाता है। अतः सामाजिक कार्यकर्ता आवश्यकतानुसार पर्यावरण को परिमार्जित एवं विकसित कर रोगी के समायोजन में सहायता देता है।

चिकित्सकीय समाज कार्यकर्ता के कुछ अन्य प्रमुख कार्य एवं जिम्मेदारियाँ

(अ) **गरीबी** - चिकित्सकीय उपचार में सबसे बड़ी बाधा रोगी की गरीबी के कारण उत्पन्न होती है। यदि रोगी को चिकित्सक द्वारा सुझाई गई दवाइयाँ और उपयुक्त आहार नहीं मिल पायेगा, तो उस के रोग का उपचार असम्भव हो जायेगा। अतः इस परिप्रेक्ष्य में समाज कार्यकर्ता की एक अहम भूमिका यह है कि चिकित्सालय से रोगी के आहार एवं भोजन की व्यवस्था कराये। कुछ चिकित्सालय इस कार्य में असमर्थ होते हैं, ऐसी स्थिति में सामुदायिक या राजकीय संसाधनों का उपयोग कर इस आवश्यकता की पूर्ति करायें।

(2) **स्वास्थ्य आन्दोलन** - समाज कार्यकर्ता सामाजिक क्रिया के माध्यम से स्वास्थ्य आन्दोलन की भी शुरूआत कर सकता है और विभिन्न पत्रिकाओं, टी.वी., रेडियों एवं जनसभाओं के माध्यम से समाज में यह जागृति पैदा कर सकता है कि पौष्टिक आहार क्या है और स्वस्थ रहने के क्या उपाय हैं जिन्हें सामान्य जन को अवगत करना होगा।

(3) **दलीय कार्य** - सामान्य रूप से उच्च्च कोटि के चिकित्सालयों में रोगी की समुचित चिकित्सा हेतु एक टीम का गठन कर लिया जाता है, जिसमें विभिन्न रोगों से सम्बन्धित विशेषज्ञ एवं सामाजिक कार्यकर्ता भी होता है। सामाजिक कार्यकर्ता की इस सम्बन्ध में प्रमुख भूमिका यह होती है कि वह न केवल रोगी की सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं की समुचित जानकारी के परिप्रेक्ष्य में रोग के समुचित निदान में सहायता दे वरन उसकी यह भी जिम्मेदारी होती है कि सम्बन्धित दल के विभिन्न सदस्यों के बीच समन्वय स्थापित करें।

कुछ प्रमुख सामाजिक समस्यायें जिनके सुलझाव में सामाजिक कार्यकर्ता की अहम भूमिका

(1) गम्भीर रोगों एवं बाधिता के कारण अत्यधिक मानसिक दबाव

(2) रुग्णता का आकस्मिक प्रभाव
(3) गम्भीर एवं खतरनाक चिकित्सा विधियों का उपयोग
(4) चिकित्सकीय तथा मनोचिकित्सकीय समस्यायें
(5) अल्प एवं अस्थायी चिकित्सकीय एवं मनोसामाजिक समस्यायें
(6) मनोसामाजिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करने वाली स्थिति या बार-बार उत्पन्न होने वाली रुग्णता
(7) रोगी के जीवन से सम्बन्धित कुछ प्रमुख चिकित्सकीय व मनोसामाजिक समस्यायें।
(8) व्यक्तित्व सम्बन्धी व विक्षोभ उत्पन्न करने वाली समस्यायें
(9) सामाजिक कुसमायोजन
(10) पारिवारिक विघटन
(11) लघु समस्याओं को जन्म देने वाली दिनचर्या और कार्यस्थल से जुड़ी हुई विषम परिस्थितियों के कारण उत्पन्न समस्यायें।

मनःचिकित्सकीय समाजकार्य

मनःचिकित्सकीय समाजकार्य समाजकार्य की वह शाखा है, जो मानसिक रोगों के अध्ययन रोकथाम तथा उपचार के लिये अपेक्षित विशेष ज्ञान एवं निपुणता से युक्त होती है। समाजकार्य एवं मनःचिकित्सा के ज्ञान एवं निपुणता से युक्त सामाजिक कार्यकर्ता सामाजिक असमायोजन से ग्रस्त उन सेवार्थियों के साथ कार्य करता है जिनके असमायोजन का मुख्य कारण उनकी कोई मनोवृति होती है।

मनःचिकित्सकीय समाजकार्य का अर्थ

सर्वप्रथम 1931 में संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थापित मानदण्डों की सलाहकार परिवाद की कार्य समिति (Executive of the Advisory Committee on standard in USA) द्वारा मनः चिकित्सकीय समाजकार्य की परिभाषा दी गयी, जो इस प्रकार है - मनःचिकित्कीय समाजकार्य, समाजकार्य की वह शाखा है, जिसका विकास मनोचिकित्सा विज्ञान के द्वारा हुआ। इसका प्रयोग मुख्य रूप से ऐसे प्रशिक्षित व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है, जो कुछ सीमा तक मनःचिकित्सा विज्ञान के ज्ञान से युक्त होते है और वे इस ज्ञान को वैयक्तिक समाजकार्य के व्यवहार में उपयोग करते हैं। मनःचिकित्सकीय समाजकार्यकर्ता सामाजिक असमायोजन के उन सेवार्थियों के साथ कार्य करता है, जिनमें मनोस्वायु विकृति (Neurosis) अथवा मनोविकृति (Psychosis) की आरम्भिक अवस्था में काम करने की विशेष आवश्यकता है। यह कार्य वैयक्तिक समाजकार्य, शोधकार्य, कार्यकारी, प्रशासनिक अथवा शैक्षणिक हो सकता है। (वीराराधवन 1987-2005)

मनःचिकित्सकीय समाजकार्य की विशेषतायें

(1) मनःचिकित्सकीय समाजकार्य समाजकार्य की एक विशिष्ट शाखा है।

(2) इस शाखा से सम्बन्धित समाजकार्यकर्ता मनःचिकित्सा विज्ञान से प्रारम्भिक ज्ञान से युक्त होता है।

(3) ये कार्यकर्ता सामान्यतया उन संस्थाओं में कार्य करते हैं, अथवा उन संस्थाओं के माध्यम से मानसिक रोगग्रस्त व्यक्तियों की सहायता उपलब्ध कराते हैं, जिनके सन्दर्भ में मानसिक रोग कार्यक्रम प्रमुख रूप से क्रियान्वित किये जाते हैं।

(4) समाजकार्य की इस विशिष्ट शाखा में प्रमुख रूप से वैयक्तिक समाजकार्य की विधि का प्रयोग किया जाता है, किन्तु आवश्यकतानुसार समाजकार्य की अन्य विधियों का भी सहारा लिया जा सकता है।

इस प्रकार मनःचिकित्सकीय समाजकार्य व्यवसायिक समाजकार्य की वह शाखा है, जो विशिष्ट निपुणता द्वारा मानसिक रोगों का अध्ययन रोकथाम तथा उपचार करती है।

मनःचिकित्सकीय समाजकार्य के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– बीसवी सदी के आरम्भ में वोस्टन साइकोपैथिक चिकित्सालय में कार्यरत सुश्री मेरी गैरट ने मानसिक रोगियों का गहराई से अध्ययन किया और ऐसे रोगियों को समाजकार्य सहायता प्रदान करने की रूपरेखा तैयार की गई। तत्पश्चात् अमेरिका के बहुत से चिकित्सालयों में समाज सेवा तथा समाजकार्य विभाग की स्थापना करने लगे। 1905 में सर्वप्रथम मेसाचुसेट्स जनरल हास्पिटल में समाजसेवा विभाग की स्थापना हुई। इस विभाग के कार्यकर्ताओं को चिकित्सालय के न्यूरोलाजिकल क्लिनिक में रोग के सही निदान एवं प्रभावी उपचार हेतु रखा जाने लगा। कालक्रम से उक्त क्लीनिक के प्रभारी डा0 पुतनम द्वारा एक पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्ता की नियुक्ति की गई, जिसे स्वयं डा0 पुतनम ने आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान किया तथा वे ही उस के कार्य का अधीक्षण भी करते थे।

1913 में बोस्टन साइकोपैथिक चिकित्सालय में पुनः मेरी मैरेट की नियुक्ति हुई। इस चिकित्सालय के समाज सेवा विभाग का प्रमुख लक्ष्य मानसिक रोगी के अध्ययन एवं उपचार में सहायता देना था तथा मानसिक रोगियों को सामान्य जीवन व्यतीत करने के लायक बनाना था। यहाँ सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा मानसिक रोगों के कारकों को समझाने के उद्देश्य से जनशिक्षण कार्यक्रम चलाये गये तथा इन कार्यकर्ताओं ने मानसिक स्वच्छता समितियों (Mental lygeine crictus) के कार्यकारी सचिवों (executive secreties) के रूप के कार्य करते हुये मानसिक स्वच्छता कार्यक्रम में भाग लिया। इस प्रकार 1928 तक मनःचिकित्सकीय समाज कार्यकर्ता चिकित्सालयों, मानसिक स्वच्छता एवं बाल निर्देशन क्लीनिकों, परिवार तथा बाल कल्याण संस्थाओं इत्यादि में कार्य करने लगे।

1930 के पश्चात परिवार कल्याण संस्थाओं द्वारा ऐसे परिवारों को सहायता दी जाने लगी जो संवेगात्मक समस्याओं से ग्रस्त थे। परिणाम स्वरूप परिवार कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत

समाज कार्यकर्ताओं ने संवेगित समस्याओं से ग्रस्त परिवारों को उपचारकर्ता के रूप में सहायता देना प्रदान किया और इन कार्यकर्ताओं को मनोचिकित्सा विज्ञान में प्रशिक्षण दिया जाने लगा। 1938 तक मनोरोगियों के उपचार में समाजकार्यकर्ता की नियुक्ति होने लगी और धीरे-धीरे मनःचिकित्सकीय समाजकार्य के प्रशिक्षण की मान्यता को स्वीकार किया जाने लगा। भारत में सर्वप्रथम 1937 में मनःचिकित्सकीय कार्यकर्त्ता की नियुक्ति तत्कालीन सर दोरावजी टाटा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ सोशल वर्क (जिसका नाम अब टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सांइसेज हो गया) स्थापित चाइल्ड गाइडेंस क्लीनिक में हुई। इस कार्यकर्ता द्वारा मुख्य रूप से उन परिवारों को सहायता उपलब्ध करायी जाती है जो कि किसी के व्यवहार तथा संवेगात्मक समस्याओं से ग्रस्त थे। तत्पश्चात कुछ अन्य स्थानों में भी मनोचिकित्सा विज्ञान में प्रशिक्षित समाज कार्यकर्ताओं की नियुक्ति होने लगी। धीरे-धीरे मनःचिकित्सकीय समाजकार्य में प्रशिक्षण की महत्ता को स्वीकार किया जाने लगा। इसके परिणाम स्वरूप 1950-51 टाटा इंस्टिट्यूट आफ सोशल साइंसेज में स्नातकोत्तर स्तर पर मनःचिकित्सकीय समाज कार्य का प्रशिक्षण आरम्भ किया। उसके बाद इस दिशा में उत्तरोत्तर प्रगति हुई तथा इस समय राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रशिक्षण से सम्बन्धित दो संस्थान रॉची एवं बंगलौर में कार्यरत हैं और मनःचिकित्सकीय कार्यकर्ताओं का राष्ट्रीय स्तर पर एक संघ भी है।

मनःचिकित्सकीय कार्यकर्ता के कार्य

(1) **रोगी की मनो स्वाभाविक पृष्ठभूमि की सम्यक जानकारी** – मानसिक रोग के निदान एवं उपचार हेतु रोगी के बारे में पूर्व जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हैं। इसके लिए सही सूचक का चयन अति आवश्यक है। रोगी के माता-पिता, जीवन साथी, भाई-बहन इत्यादि को इस श्रेणी में रखा जाता है। इस प्रकार मनोसामाजिक इतिहास में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं :-

(अ) रोगी के बारे में प्रारम्भिक सूचनायें, जैसें नाम जाति धर्म शिक्षण एवं प्रशिक्षण व्यवसाय मासिक आय नगरीय या ग्रामीण पृष्ठभूमि एवं पूरा पता।

(ब) रोगी के वर्तमान शिकायतों का लक्षण

(स) शिकायतें कब से प्रारम्भ हुईं।

(द) वर्तमान रोग से पूर्व रोगी के शारीरिक तथा मानसिक रोगों की जानकारी

(य) रोगी के जीवन की कोई प्रेसीप्रेटेरिंग इवेण्ट

(र) रोगी के पारिवारिक पृष्ठभूमि की सम्पूर्ण जानकारी

(ल) रोगी के व्यक्तिगत जीवन में विषय में सूचना।

(व) रोगी के व्यवसाय के सम्बन्ध में पूर्व सूचना।

(श) रोगी के व्यवसाय के बारे में पूर्व जानकारी

(स) रोगी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की विशेषताओं के बारे में जानकारी

(2) **रोगी का मानसिक परीक्षण तथा निदान** – इतिहास की जानकारी के पश्चात् रोगी का मानसिक परीक्षण तथा उसके रोग का निदान किया जाना चाहिये। रोग के निदान के लिये आवश्यक है कि मनःचिकित्सकीय कार्यकर्ताओं के मानसिक रोग की स्वयं भी अच्छी जानकारी है। मानसिक परीक्षण तथा निदान विभिन्न संस्थाओं द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से किया जाता है। इसलिये इसका कोई निश्चित प्रारूप विकसित नहीं हो पाया है।

(3) **उपचार** – मानसिक रोगों के बहुत कुछ कारण व्यक्तिगत पारिवारिक सामाजिक तथा मनो वैज्ञानिक होते हैं। इन रोगों का वास्तविक उपचार इन्हीं कारणों में समाहित होता है। इसलिये उपयुक्त इलाज के लिये रोग के कारणों का समझना आवश्यक है। कारणों का पता लगाने के पश्चात् कार्यकर्ता द्वारा रोगी के परिवार का सहयोग प्राप्त कर कारणों का निराकरण कर रोगी के उपचार में सहयोग दिया जाता है।

(4) **अनुवर्ती प्रयास** – मनः चिकित्सकीय समाज कार्यकर्ता द्वारा उपचार के पश्चात् चिकित्सालय छोड़कर जाने वाले समस्त रोगियों, चाहे वे वाह्य विभाग के रोगी ही क्यों न हों, के घर पर सम्पर्क किया जाता है, ताकि उनकी स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त होती रहे, और पुनः मानसिक रोग के शिकार न हों।

(5) **पुनर्वास** – मनःचिकित्सकीय कार्यकर्ता ऐसे रोगी का जिसका रोग असाधारण हो, अपनी स्वयं की देखभाल में सक्षम बनाकर उन्हें किसी कार्य में लगा सकता है। पुनर्वास का एक पहलू यह है कि मानसिक रोगियों को व्यवसाय विशेष में प्रशिक्षण दिया जाय, ताकि वे अपने आप को व्यस्त रखें तथा कुछ कमाई भी कर सकें।

यद्यपि हमारे देश में मनःचिकित्सकीय सामाजिक कार्यकर्ताओं को उनकी शिक्षा दीक्षा, योग्यता और अनुभव के अनुकूल स्वतंत्र रूप से खुलकर काम करने के अवसर सीमित हैं। परन्तु जन-जागरण तथा अन्य विशेषज्ञों के सहयोग से देश के बड़े शहरों में अपने निजी उपचार के प्रयास से कुछ ने विशेष ख्याति अर्जित की है।

अध्याय-22

सामाजिक सुरक्षा

अर्जको को जीवन के कई प्रकार की जोखिमों या आकस्मिकताओं का सामना करना पड़ता है। इनमें बुढ़ापा, दुर्घटनाओं से उत्पन्न अशक्तता, बेरोजगारी, बीमारी, प्रसूति तथा मृत्यु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन स्थितियों में अर्जक की आमदनी समाप्त, अवरुद्ध या कम हो जाती है तथा उसे और उस पर निर्भर व्यक्तियों को तरह-तरह की आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आधुनिक औद्योगिक समाज में जनसंख्या का अधिकांश भाग श्रमिकों, कर्मचारियों या स्वनियोजित व्यक्तियों के रूप में जीविकोपार्जन करता है। उनके बीच आकस्मिकताओं के कारण होने वाली आर्थिक असुरक्षा की संभावना बहुत अधिक बढ़ गई है। परंपरा से परिवार, सगे-संबंधी तथा परोपकारी या धार्मिक संस्थाएँ आर्थिक संकट में पड़े लोगों को सहायता देती आ रही है, लेकिन उनसे आज के युग की व्यापक एवं जटिल आर्थिक असुरक्षा की समस्या का समाधान संभव नहीं है। आज इन खतरों के प्रति सुरक्षा की आशा राज्य या समाज से ही जी जा सकती है। जीवन के विभिन्न खतरों से उत्पन्न अर्जन की क्षति के लिए समाज या राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता या सुरक्षा को सामाजिक सुरक्षा कहते है। सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा को नीचे स्पष्ट किया जाता है।

I— सामाजिक सुरक्षा का अर्थ

सामाजिक सुरक्षा की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **लॉर्ड विलियम बेवरिज** (Lord William Beveridge) ने मानव-जीवन को ग्रसित करने वाले पाँच दानवों-अभाव (want), व्याधि (disease), अज्ञान (ignorance), मलिनता (squalor) तथा बेकारी (idleness) का उल्लेख करते हुए कहा है, ''सामाजिक सुरक्षा'' पद का अर्थ होता है- बेरोजगारी, बीमारी या दुर्घटना द्वारा बाधित होने वाले अर्जकों के स्थान पर आय की सुरक्षा की व्यवस्था करना, वार्धक्य-निवृत्ति के लिए व्यवस्था करना, दूसरे व्यक्ति के निधन के चलते होने वाली अवलंब की क्षति के विरुद्ध व्यवस्था करना तथा जन्म, मृत्यु या विवाह आदि से संबद्ध विशेष व्ययों को वहन करने की व्यवस्था करना।'' (The term 'Social Security is used to denote the security of an income to take the place of earnings when they are interrupted by unemployment, sickness

or accident, to provide for retirement through age, to provide against loss of support by death of another person and to meet exceptional expenditures, such as those concerned with birth, death and marriage.)

2. **अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन** (International Labour Organisation) के अनुसार – "सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है, जिसे समाज उपयुक्त संगठन के माध्यम से अपने सदस्यों को कुछ ऐसे खतरों के विरुद्ध प्रदान करता है, जिनसे वे आरक्षित रहते हैं। ये खतरे तत्वतः ऐसी आकस्मिकताएँ हैं, जिनके लिए अल्प साधन वाले व्यक्ति केवल अपने सामर्थ्य या दूरदर्शिता से या अपने संगी-साथियों के साथ निजी संयोजन द्वारा भी प्रभावी ढंग से प्रबंध नहीं कर सकते।"

(Social security is the security that society furnishes, through appropriate organization, against certain risks to which its members are exposed. The risks are essentially contingencies against which the individual of small means cannot effectively provide by his own ability or foresight alone or even in private combination with his fellows.)

3. **मॉरिस स्टैक** (Maurice Stack) के मत में – "सामाजिक सुरक्षा से समाज द्वारा आधुनिक जीवन की उन आकस्मिकताओं, जैसे- बीमारी, बेरोजगारी, वार्धक्य-परश्रितता, औद्योगिक दुर्घटनाओं तथा अशक्तता के विरुद्ध सुरक्षा के कार्यक्रम का बोध होता है, जिनके लिए व्यक्ति द्वारा अपने स्वयं के सामर्थ्य या दूरदर्शिता से अपनी या अपने परिवार की रक्षा की आशा नहीं की जा सकती है।" (By social security' we understand a programme of protection provided by society against those contingencies of modern life - sickness, unemployment, old-age dependency, industrial accidents, and invalidism-against which the individual cannot be expected to protect himself and his family by his own ability or foresight.)

4. **डब्यू0एच0 वाटकिन्सन** (W H Watkinson) के शब्दों में सामाजिक सुरक्षा का अर्थ है, बेरोजगारी, बीमारी या दुर्घटना से अवरुद्ध होने वाले उपार्जनों के स्थान पर आय सुरक्षित करना, वृद्धावस्था के कारण अवकाश-प्राप्ति की अवधि के लिए व्यवस्था करना, दूसरे व्यक्ति के निधन से होने वाले सहारे के लोप की स्थिति में प्रबंध करना तथा जन्म, मृत्यु या विवाह से संबद्ध असाधारण व्यय की व्यवस्था करना... ।" (Social security means "securing of an income to take the place of earning when they are interrupted by unemployment, sickness or accident, to provide for retirement through old age, to protect against loss of support by death of another person and to meet exceptional expenditure connected with birth, death or marriage...)

5. **भारतीय समाजकार्य-विश्वकोश** (Encyclopaedia of Social work in India) में सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा स्पष्ट करते हुए कहा गया है, "सामाजिक सुरक्षा व्यक्ति को विभिन्न आकस्मिकताओं से होने वाले आर्थिक संकट के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है तथा उसके लिए राष्ट्र की भुगतान-क्षमता के अनुकूल न्यूनतम जीवन-स्तर सुनिश्चित करती है।" (Social security... insures a person against economic distress resulting from various contingencies and assures him a minimum level of living consistent with the nation's capacity to pay.)

6. 1977 में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन तथा नार्वे की सरकार द्वारा नई दिल्ली में आयोजित एक सेमिनार में सामाजिक सुरक्षा को नए ढंग से परिभाषित किया गया। सेमिनार के मत में- "सामाजिक सुरक्षा समाज द्वारा अपने सदस्यों को सामाजिक उपायों की शृंखला के जरिए अर्जन के लोप, उसमें भारी कमी या अवरोध लाने वाले उन आर्थिक और सामाजिक संकटों के लिए प्रदान की जाने वाली सुरक्षा है, जो बीमारी, प्रसूति, नियोजन से उत्पन्न चोट (जिसमें व्यावसायिक रोग भी शामिल है), बेरोजगार (जिसमें रोजगार का अभाव शामिल है), अल्प-रोजगारी, अशक्तता, निराश्रितता, सामाजिक अशक्तता और पिछड़ापन, वृद्धावस्था तथा मृत्यु के कारण उत्पन्न होते हैं। यह स्वास्थ्य की देखभाल तथा निवारक उपायों की ओर व्यवस्था करती है।" [(Social security is the protection furnished by the society to its members through a series of public measures against the economic and social distress that otherwise would be caused by the absence of earnings or substantial reduction or stoppage of earnings resulting from sickness, maternity, employment injury (including occupational diseases), unemployment (including absence of employment) and under-employment, invalidity, destitution, social disability and backwardness, old age and death, and further to provide health care, including preventive measures.)]

सरल शब्दों में, **सामाजिक सुरक्षा से जीवन की विभिन्न आकस्मिकताओं, जैसे बुढ़ापा, दुर्घटना से उत्पन्न अशक्तता, बीमारी, प्रसूति, बेरोजगारी, अर्जक की मृत्यु आदि से उत्पन्न अर्जन की क्षति की स्थिति में राज्य या समाज द्वारा या उसके तत्वावधान में प्रदान की जाने वाली सुरक्षा का बोध होता है।** व्यवहार में, विभिन्न देशों के सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रमों की प्रकृति, उनके अंतर्गत सम्मिलित की जाने वाली आकस्मिकताओं, हितलाभ के स्तर तथा रक्षित किए जाने वाले व्यक्तियों में भिन्नताएं पायी जाती हैं। इन भिन्नताओं के बावजूद, सामाजिक सुरक्षा के मुख्य तत्वों के संबंध में प्रायः सहमति-सी है। ये तत्व अग्रलिखित हैं :-

* सामाजिक सुरक्षा जीवन, विशेषकर अर्जकों के जीवन की विभिन्न आकस्मिकताओं के प्रति राज्य या समाज द्वारा प्रदान की जाने वाली सुरक्षा है। इसके अंतर्गत व्यक्तियों, परिवारों, या संगी-साथियों के प्रयासों को सम्मिलित नहीं किया जाता।
* सामजिक सुरक्षा साधारणतः उन्हीं आकस्मिकताओं के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है, जिसके कारण व्यक्तियों के अर्जन का लोप हो जाता है या उसमें रुकावट या कमी आ जाती है या उन्हें आर्थिक संकट झेलने पड़ते हैं।
* सामाजिक सुरक्षा नकद, प्रकार, सेवाओं या सुविधाओं के रूप में दी जा सकती है।
* सामाजिक सुरक्षा में हितलाभ (benefits) हिताधिकारियों को अधिकार स्वरूप मिलते हैं, लेकिन इन हितलाभों के लिए योग्यता की शर्त निर्धारित रहती है।
* अधिकांश सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रमों की व्यवस्था कानून बनाकर की जाती है।
* परिवार के बालकों और आश्रितों को दिए जाने वाले नकद भत्ते भी सामाजिक सुरक्षा के अंतर्गत सम्मिलित होते हैं।
* व्यक्तियों और उनके परिवारों पर चिकित्सकीय देखभाल पर होने वाले खर्च को भी सामाजिक सुरक्षा के अंतर्गत शामिल किया जाता है।
* सामाजिक सुरक्षा में हितलाभ या सेवाएँ मुख्यतः सामाजिक बीमा और सामाजिक सहायता के रूम में दी जाती है।

II. सामाजिक सुरक्षा की पद्धतियाँ या तरीके

समजिक सुरक्षा के दो मुख्य आधार स्तंभ होते हैं। ये हैं- 1. सामाजिक बीमा (social insurance), तथा 2 सामाजिक सहायता (social assistance)। कुछ लोग सामाजिक सुरक्षा की तीसरी पद्धति-सार्वजनिक या सामाजिक सेवा (public or social service) का भी अलग से उल्लेख करते हैं। सामाजिक सुरक्षा की इन तीनों पद्धतियों को नीचे स्पष्ट किया जाता है -

1. सामाजिक बीमा (Social Insurance) –

सामाजिक बीमा में बीमाकृत व्यक्तियों, विषेशकर कर्मचारियों को बेरोजगारी, वार्धक्य-परनिर्भरता, औद्योगिक दुर्घटना, अशक्तता, बीमारी, प्रसूति आदि तथा उनके आश्रितों को उनकी मृत्यु की आकस्मिकताओं की स्थिति में सुरक्षा प्रदान की जाती है। साधारणतः, सामाजिक बीमा के अंतर्गत हितलाभ बीमाकृत व्यक्तियों तथा उनके नियोजकों के अंशदानों से एकत्र राशि से दिए जाते हैं। कुछ व्यवस्थाओं में बीमाकृत व्यक्तियों के अंशदान भी नियोजकों से एकत्र किए जाते हैं तथा कुछ में राज्य भी अनुदान देता है। सामान्यतः, सामाजिक बीमा-कार्यक्रम कानून द्वारा स्थापित होते हैं। उन कार्यक्रमों में सम्मिलित किए जाने वाले

हिताधिकारियों, हितलाभ की शर्तों तथा हितलाभों की मात्रा और प्रकृति का उल्लेख रहता है। सामाजिक बीमा में बीमाकृत व्यक्तियों को हितलाभ अधिकार स्वरूप मिलता है। बीमाकृत व्यक्तियों को हितलाभ देते समय उनकी आर्थिक आवश्यकताओं या वित्तीय स्थिति को ध्यान में नहीं रखा जाता। कानून या योजना के अंतर्गत जितनी मात्रा में वे हितलाभ के अधिकारी होते हैं, उन्हें उतनी मात्रा में हितलाभ मिल जाता है। वे हितलाभ की राशि को अपनी इच्छा के अनुसार खर्च कर सकते हैं। सामाजिक बीमा में हितलाभ की राशि के निर्धारण में हिताधिकारियों द्वारा स्व-निर्णय (discretion) की संभावना नहीं होती। वह कानून में ही निर्धारित कर दी जाती है। सामाजिक बीमा जीवन की औसत सामान्य आवश्यकताओं के सिद्धांत पर आधृत होती है, न कि वैयक्तिक निर्धनता की मात्रा पर। हितलाभ देते समय बीमाकृत व्यक्तियों की साधन-परीक्षा (mean test) नहीं होता। सामाजिक बीमा में अनिवार्यता के तत्व होते हैं। कानून के अंतर्गत आने वाले सभी व्यक्ति सामाजिक बीमा कार्यक्रम के अंतर्गत अनिवार्य रूप से सम्मिलित किए जाते हैं, चाहे वे इसके लिए इच्छुक हों या नहीं। सामाजिक बीमा में योग्यता की शर्तों तथा हितलाभों का अनुमान पहले से ही लगाया जा सकता है। सामाजिक बीमा में आर्थिक सुरक्षा प्रदर्शित आवश्यकता (demonstrated want) की जगह अनुमति आवश्यकताओं (presumptive need) के आधार पर प्रदान की जाती है।

अमेरिकन रिस्क एंड इन्श्योरेंस एसोसियेशन (American Risk and Insurance Association) द्वारा नियुक्त सामाजिक बीमा शब्दावली-समिति (Committee on Social Insurance Terminology) ने सामाजिक बीमा की निम्नलिखित विशेषताओं पर जोर दिया है –

1. प्रायः सभी दृष्टांतों में व्याप्ति (coverage) कानून द्वारा अनिवार्य होती है।
2. साधारणतः, हितलाभ के लिए अंशदान देना आवश्यक होता है। अंशदान बीमाकृत व्यक्तियों द्वारा या उनके बदले अन्य व्यक्तियों द्वारा या ऐसे व्यक्तियों द्वारा देना आवश्यक है, जिनपर हिताधिकारी निर्भर है।
3. हिताधिकारियों के लिए अपने अपर्याप्त आर्थिक साधनों को प्रदर्शित करना आवश्यक नहीं है।
4. हितलाभ निर्धारित करने की विधि कानून में ही विहित रहती है।
5. किसी व्यक्ति को दिए जाने वाले हितलाभ साधारणतः उसके अंशदान की मात्रा से प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध नहीं होते।
6. सामाजिक बीमा में वित्त-संबंधी निश्चित दीर्घकालीन योजना रहती है।
7. सामाजिक बीमा की लागत की व्यवस्था मुख्य रूप से बीमाकृत व्यक्तियों, उनके नियोजकों या दोनों के अंशदान से होती है।

8. सामाजिक बीमा-योजना का प्रशासन सरकार द्वारा और उसके पर्यवेक्षण में होता है।
9. सामाजिक बीमा-योजना केवल सरकारी कर्मचारियों के लिए ही स्थापित नहीं की जाती।

सामाजिक बीमा-कार्यक्रमों के कुछ उदाहरण हैं - भारत में कर्मचारी राज्य बीमा-योजना (Employees' State Insurance Scheme) तथा कर्मचारी भविष्य-निधि एवं पेंशन योजनाएँ (Employees' Provident Fund and Pension Schemes), ग्रेट ब्रिटेन में राष्ट्रीय बीमा-योजना (National Insurance Scheme), राष्ट्रीय बीमा (औद्योगिक दुर्घटना) योजना तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (National Health Insurance Scheme) तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में वृद्धावस्था, उत्तरजीवी, अशक्तता तथा स्वास्थ्य बीमा-योजना (Old-Age, Survivors, Disabiliy and Health Insurance Scheme) और बेरोजगारी बीमा-योजनाएँ (Unemployment Insurance Schemes)। सामाजिक बीमा-हितलाभों के कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं :-

(i) बीमारी-हितलाभ (sickness benefit)
(ii) बेरोजगारी-हितलाभ (unemployment benefit)
(iii) अशक्तता-हितलाभ (disablement benefit)
(iv) प्रसूति-हितलाभ (maternity benefit)
(v) वार्धक्य-पेंशन (old-age pension)
(vi) भविष्य-निधि (provident fund)
(vii) आश्रित या उत्तरजीवी-हितलाभ (dependent's or survivor's benefit)

सामाजिक बीमा में अधिकांश हितलाभ नकद दिए जाते हैं, लेकिन कई योजनाओं में प्रकार या सेवाओं के रूप में भी हितलाभ देने की व्यवस्था रहती है।

2. सामाजिक सहायता (Social Assistance)—

सामाजिक सहायता साधारणतः अल्प साधन वाले व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता के रूप में दी जाती है। सामाजिक सहायता देने के पूर्व हिताधिकारी की आर्थिक आवश्यकता का निर्धारण जीविका-साधन जाँच (mean test) द्वारा किया जाता है। सामाजिक सहायता नकद या प्रकार (Kind) में दी जा सकती है। सामाजिक सहायता में लाभान्वित होने वाले व्यक्ति को अंशदान नहीं देना पड़ता, लेकिन उन्हें सहायता अधिकार स्वरूप मिलती है। सामाजिक सहायता में सहायता के लिए राशि पूर्णतः राज्यकोष से या राज्य द्वारा निर्धारित स्रोत से आती है। सहायता हिताधिकारियों को संस्थाओं में रखकर या उनके घर में दी जा सकती है। सामाजिक सहायता के अधिकारी होने के लिए हिताधिकारियों को कानून या योजनाओं द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। सहायता की

राशि सामान्यतः कानून या नियमों द्वारा सीमित रहती है तथा उसमें प्राप्तिकर्ता की आय, साधनों तथा संपत्ति के अनुसार परिवर्तन लाया जा सकता है। सामाजिक सहायता में हिताधिकारियों की आवश्यकता की मात्रा का निर्धारण प्रशासन द्वारा होता है। साधारणतः इसके अंतर्गत सहायता की राशि का अनुमान पहले से नहीं लगाया जाता।

समाजिक सहायता-कार्यक्रमों के कुछ उदाहरण हैं -

(i) वार्धक्य सहायता (old-age assistance)
(ii) नेत्रहीनों को सहायता (aid to the blind assistance)
(iii) आश्रित बालकों के लिए सहायता या भत्ता (aid or allowance for dependent children)
(iv) स्थायी तथा पूर्ण रूप से अशक्तों को सहायता (aid to permanently and totally disabled)
(v) अति निर्धन परिवारों को सहायता (aid to very poor families)

भारत में वृद्धों, अशक्तों तथा विधवाओं के लिए सामाजिक सुरक्षा-पेंशन-योजना, दुर्घटना-अनुदान-योजना, परिवार-हितलाभ-योजना, निर्धन परिवारों की महिलाओं के लिए प्रसूति-सहायता-योजना तथा निर्धन परिवारों को आर्थिक सहायता प्रदान करने वाली अन्य योजनाएँ सामाजिक सहायता के अंतर्गत आती हैं।

३. सार्वजनिक या सामाजिक सेवा (Public of Social Service)–

कुछ लोग सामाजिक सुरक्षा की एक तीसरी पद्धति सार्वजनिक या सामाजिक सेवा बताते हैं। उनके अनुसार सार्वजनिक या सामजिक सेवा समुदाय की निर्धारित श्रेणियों या समूहों या समुदाय के सभी लोगों को राज्य-कोष से प्रदान की जानेवाली सेवा के रूप में होती है। सार्वजनिक या सामाजिक सेवा के कुछ उदाहरण हैं- निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ तथा समाज के बाधित समूहों का पुनर्वासन। इन सेवाओं के लिए न तो अंशदान देने की कोई शर्त होती है और न ही पारिवारिक आय-संबंधी कोई सीमाएँ। इन सेवाओं के लिए निर्धारित समूहों के अंतर्गत आने वाले व्यक्तियों के साथ किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाता। कुछ लोगों के मत में सार्वजनिक या सामाजिक सेवा सामाजिक सहायता का ही एक अंग है। व्यवहार में, कभी-कभी सार्वजनिक सेवा और सामाजिक सहायता के बीच का अंतर स्पष्ट करना कठिन होता है।

अधिकांश देशों में सामाजिक बीमा, सामाजिक सहायता और सामाजिक सेवा के कार्यक्रम साथ-साथ कराए जाते हैं। वास्तव में, सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों की प्रकृति और उनके अंतर्गत उपलब्ध लाभ आर्थिक विकास के स्तर से जुड़े होते हैं। जो देश आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं, उनमें सामाजिक सुरक्षा विकसित अवस्था में हैं। निर्धन देशों में सामाजिक सुरक्षा की अधिक आवश्यकता होती है, लेकिन उनमें इसकी व्यवस्था करने के लिए आर्थिक क्षमता का अभाव रहता है।

।।।. भारत में सामाजिक सुरक्षा का विकास

अन्य औद्योगिक देशों की तुलना में भारत में सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों का प्रारंभ बहुत बाद में और छिटपुट ढंग से हुआ देश में औद्योगिकीकरण उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल से शुरू हो गया था। अन्य देशों की तरह भारत के औद्योगिक श्रमिकों को भी बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापा, प्रसूति, बेरोजगारी आदि आकस्मिकताओं की स्थिति में तरह-तरह के आर्थिक संकट झेलने पड़ते थे, लेकिन इस दिशा में राज्य की ओर से एक लंबी अवधि तक कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाए गए। केवल घातक दुर्घटना अधिनियम, 1855 (Fatal Accidents Act, 1855) के अधीन औद्योगिक दुर्घटनाओं के फलस्वरूप श्रमिकों की मृत्यु की स्थिति में उनके आश्रितों के लिए कुछ राहत की व्यवस्था की गई थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय देश में औद्योगिकीकरण की गति तेज हुई जिसके फलस्वरूप औद्योगिक एवं अन्य प्रतिष्ठानों में श्रमिकों की संख्या में व्यापक वृद्धि हुई। उनके लिए आकस्मिकताओं से उत्पन्न अर्जन की क्षति के विरुद्ध आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था और भी आवश्यक हो गई। उस समय तक औद्योगिक श्रमिकों ने अपने संगठन बनाने भी शुरू कर दिये थे। कई जाने-माने श्रमसंघ नेताओं ने इस स्थिति की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करने का सक्रिय प्रयास भी किया। 1921 में प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद वर्साइल्स की संधि (Treaty of Versailles) के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation) की स्थापना की गई। अपनी स्थापना के प्रारंभ से ही अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर विशेष जोर दिया है। संगठन के स्थायी तथा सक्रिय सदस्य होने के नाते भारत ने भी इस दिशा में कदम उठाना आवश्यक समझा।

देश में सामजिक सुरक्षा के क्षेत्र में पहला आधुनिक कदम कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 (Workmen's Compensation Act, 1923) था। इस अधिनियम में 'नियोजन के दौरान' और 'नियोजन से उत्पन्न' दुर्घटनाओं से होने वाली अशक्तता तथा मृत्यु की स्थितियों में क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था की गई। देश से प्रसूति-हितलाभ-संबंधी पहला अधिनियम बंबई प्रसूति हितलाभ अधिनियम, 1929 (Bombey Maternity Benefit Act, 1929) था। धीरे-धीरे, इस तरह के कानून अन्य प्रांतों में भी बनाए गए। औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था के महत्व को स्वीकार करते हुए सरकार ने समय-समय पर नियुक्त समितियों और आयोगों तथा श्रम से संबद्ध कुछ सम्मेलनों में इस विषय को विचारार्थ रखा। सामाजिक सुरक्षा से संबद्ध समितियों, आयोगों और सम्मेलनों के विचारों और उनकी सिफारिशों का संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है -

1. **शाही श्रम आयोग,** 1929 (Royal Commission Labour, 1929)- शाही श्रम-आयोग ने औद्योगिक श्रमिकों को बीमारी की स्थिति में संरक्षा प्रदान करने की आवश्यकता पर जोर

देते हुए उनके लिए स्वास्थ्य बीमा-योजना की अनुशंसा की। आयोग ने देश में व्याप्त कठिन आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस योजना को पहले प्रयोगात्मक आधार पर लागू करने की राय दी। आयोग ने इसे बाद में एक देशव्यापी कार्यक्रम द्वारा विस्थापित करने का सुझाव दिया। इन अनुशंसाओं को लागू करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के बीमांकक विभाग, लंदन (Actuary's Department London) से राय ली। बीमांकक विभाग के सुझावों को ध्यान में रखकर प्रांतीय सरकारों से अनुरोध किया गया कि वे इस संबंध से प्रारंभिक जाँच करें। योजना को लागू करने में होने वाले वित्तीय भार तथा आँकड़ों को एकत्र करने में कठिनाइयों के कारण प्रांतीय सरकारों ने इसमें दिलचस्पी नहीं दिखाई। इस कारण भारत सरकार ने भी इस सबंध में कदम उठाए जाने के विचार को स्थगित कर दिया। आयोग ने औद्योगिक श्रमिकों की बेरोजगारी बीमा तथा वृद्धावस्था-पेंशन के विषय पर भी विचार किया, लेकिन देश में व्याप्त दशाओं को ध्यान में रखते हुए वह उन्हें लागू करने के पक्ष में नहीं था।

2. **बंबई वस्त्र श्रमिक जाँच-समिति,** 1937 (Bombay Textile Labour Enquiry Committee, 1937)- बंबई वस्त्र श्रमिक जाँच समिति ने राज्य के वस्त्र-कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए अनिवार्य तथा अंशदायी (compulsory and contributory) बीमारी बीमा-योजना लागू करने की सिफारिश की। योजना के अंतर्गत नकद तथा चिकित्सा-सेवा के रूप में हितलाभ देने का सुझाव दिया गया। हितलाभों की वित्तीय व्यवस्था की लिए समिति ने श्रमिकों और नियोजकों के अंशदानों और सरकार के अनुदान पर जोर दिया। लेकिन, समिति की इस सिफारिश को लागू करने के लिए कोई भी ठोस कदम नहीं उठाया गया।

3. **कानपुर श्रमिक जाँच-समिति,** 1937 (Cawnpore Labour Enquiry Committee, 1937)- कानपुर श्रमिक-जाँच-समिति, 1937 ने भी औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा-योजना लागू करने की अनुशंसा की, जिसके लिए राज्य द्वारा सहायता पर जोर दिया गया। समिति ने बेरोजगारी की अवधि में भुगतान के लिए उपदान-योजना तथा वृद्धावस्था के लिए भविष्य-निधि-योजना लागू करने का भी सुझाव दिया। इस समिति ने सामाजिक सुरक्षा से संबद्ध सुझावों को लागू करने में भी कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई गई।

4. **बिहार श्रमिक जाँच-समिति,** 1938 (Bihar Labour Enquiry Committee, 1938)- डा0 राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में नियुक्त बिहार श्रमिक जाँच समिति, 1938 ने बिहार के औद्योगिक श्रमिकों के लिए अंशदायी आधार पर बीमारी बीमा-योजना की स्थापना का सुझाव दिया। इस समिति के सुझावों को भी लागू करने के लिए तत्काल कोई प्रयास नहीं किया गया।

5. **श्रममंत्रियों का पहला सम्मेलन,** 1940 (First Labour Ministers Conference, 1940)- 1940 में होने वाले श्रममंत्रियों के पहले सम्मेलन में देश के औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा-योजना लागू किए जाने की संभावना पर विचार-विमर्श किया गया। सम्मेलन

ने इस योजना के लिए बीमारी हितलाभ-निधि की स्थापना पर जोर दिया, लेकिन इस दिशा में कोई कदम उठाने के पहले अंशदान के संबंध में नियोजकों और श्रमिकों की राय जान लेना आवश्यक समझा गया। सम्मेलन के निर्णय के अनुसार नियोजकों और श्रमसंघों से इस संबंध में अपने विचार भेजने के अनुरोध किए गए।

6. **श्रममंत्रियों का दूसरा सम्मेलन,** 1941 (Second Labour Ministers', Conference, 1941)- श्रममंत्रियों के दूसरे सम्मेलन होने पर नियोजक और श्रमसंघ बीमारी बीमा-योजना के लिए अंशदान देने पर सहमत हो गए थे। उस समय तक प्रांतीय सरकारें भी योजना लागू करने के पक्ष में हो गई थीं। यद्यपि इस संबंध में पर्याप्त आँकड़े एकत्र करने और प्रारंभिक बीमांकन-परीक्षा में कठिनाइयाँ थीं, फिर भी सम्मेलन में निर्णय किया कि योजना का प्रारूप तैयार किया जाए और उसे चुने उद्योगों में लागू किया जाए।

7. **श्रममंत्रियों का तीसरा सम्मेलन,** 1942 (Third Labour Ministers Conference, 1942)- भारत सरकार ने बीमारी-बीमा-योजना का प्रारूप तैयार कर उसे 1942 में श्रममंत्रियों के तीसरे सम्मेलन में विचारार्थ रखा। योजना को प्रयोगात्मक रूप से केवल वस्त्र, जूट-मिल तथा भारी इंजीनियरी-उद्योगों में ही लागू करने का प्रस्ताव रखा गया। योजना के विस्तृत परीक्षण के कार्य को एक विशेषज्ञ को सौंपने का निर्णय किया गया। विशेषज्ञ की सहायता के लिए सलाहकारों की नियुक्ति की भी अनुशंसा की गई।

8. **प्रो0 अदारकार की रिपोर्ट तथा स्वास्थ्य बीमा-योजना का प्रारंभ** (Prof. Adarkar's Report and Beginning of Health Insurance Scheme)- श्रममंत्रियों के तीसरे सम्मेलन के सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 1943 में स्वास्थ्य बीमा-योजना के विस्तृत प्रारूप तैयार करने के लिए प्रो0 बी0पी0 अदारकर को विशेष अधिकारी के रूप में नियुक्त किया। इसके शीघ्र ही बाद जोसेफ भोरे (Joseph Bhore) की अध्यक्षता में स्वास्थ्य-सर्वेक्षण एवं विकास-समिति (Health Survey and Development Committee) की स्थापना की गई। इस समिति का मुख्य कार्य भारत में स्वास्थ्य-दशाओं और स्वास्थ्य-संगठन का अध्ययन करना तथा भविष्य में सुधार के लिए सुझाव देना था। समिति की सहायता के लिए एक औद्योगिक स्वास्थ्य उपसिमित (Industrial Health Subcommittee) का गठन भी किया गया। इस उपसिमिति से प्रो0 अदारकर को अपने काम में बड़ी मदद मिली। योजना की वित्तीय संरचना तैयार करने में सहायता के लिए बीमांककों को भी नियुक्त किया गया था।

प्रो0 अदारकर ने अपनी रिपोर्ट 1944 में दी। उनके द्वारा तैयार की गई स्वास्थ्य बीमा-योजना प्रारंभ में तीन मुख्य उद्योग-समूहों-वस्त्र, इंजीनियरी तथा खनिज एवं धातु के लिए थी। योजना को इन उद्योगों के केवल बारहमासी (perennial) कारखानों में लागू करने का

सुझाव दिया गया। योजना में उन्हीं श्रमिकों को सम्मिलित करने का सुझाव था, जिनकी अधिकमत मजदूरी 200 रुपये प्रतिमाह तथा अधिकतम उम्र 60 वर्ष थी। प्रो0 अदारकर ने श्रमिकों को तीन वर्गों में रखा : ये हैं – (i) स्थायी (permanent), (ii) अस्थायी (temporary) तथा (iii) आकस्मिक (casual)। हितलाभ नकद तथा चिकित्सा-सहायता या राहत दोनों रूपों में दिया जा सकता था। हितलाभ स्थायी और अस्थायी दोनों श्रेणियों के श्रमिकों को निर्धारित अंशदान देने की शर्त पूरी करने पर दिया जा सकता था। आकस्मिक कामगारों को अंशदान देने से छूट दी गई, लेकिन वे केवल चिकित्सा-राहत के ही अधिकारी हो सकते थे। नियोजक के लिए तीनों श्रेणियों के श्रमिकों के संबंध में अंशदान देना आवश्यक रखा गया। प्रो0 अदारकर चिकित्सा-सेवा-संगठन के नियंत्रण का अधिकारी किसी बाहरी प्राधिकारी या राज्य सरकार की जगह किसी बीमा-संस्था को सौंपने के पक्ष में थे।

प्रो0 अदारकर ने विभिन्न राज्यों से प्रसूति-हितलाभ की छिटपुट योजनाओं की जगह एकरूप प्रसूति-बीमा का भी सुझाव दिया। उन्होंने कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम को एक अशक्तता-बीमा-योजना द्वारा विस्थापित करने की भी अनुशंसा की। वे देश में स्वास्थ्य, प्रसूति तथा औद्योगिक चोट से सम्बद्ध एक एकीकृत (unified) तथा समेकित (integrated) बीमा-योजना के पक्ष में थे। उन्होंने कर्मकार-क्षतिपूर्ति तथा प्रसूति-हितलाभ योजनाओं को इसी समेकित योजना में शामिल करना उपयुक्त समझा। प्रो0 अदाकर ने खान-श्रमिकों के लिए प्रसूति-बीमा तथा नाविकों (seamen) के लिए सामाजिक बीमा की अलग योजनाएँ भी तैयार की। 1944 के भारतीय श्रम-सम्मेलन में भी औद्योगिक श्रमिकों के लिए स्वास्थ्य-बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था पर जोर दिया गया।

भारत सरकार ने **प्रो0 अदारकर** की योजना को लागू करने के पूर्व इस संबंध में अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के विशेषज्ञों की राय लेना आवश्यक समझा। भारत सरकार के अनुरोध पर अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस कार्य के लिए एम0 स्टैक (M Stack) तथा आर0 राव (R Rao) नाम के दो विशेषज्ञों को भारत भेजा। इन विशेषज्ञों ने चिकित्सा और नकद हितलाभों के प्रशासन, स्वास्थ्य बीमा-योजना के अंतर्गत प्रसूति-हितलाभ तथा कर्मकार-क्षतिपूर्ति के समेकन तथा योजना में शामिल किए जाने वाले कारखानों और कामगारों के वर्गों में संशोधन लाने से सम्बद्ध महत्वपूर्ण सुझाव दिए। **प्रो0 अदारकर** की रिपोर्ट तथा अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के विशेषज्ञों के सुझाव के आधार पर 1946 में कर्मकार राज्य बीमा विधेयक (Workmen's State Insurance Bill) तैयार किया गया, जिसे डोमिनियन एसेम्बली (Dominion Assembly) ने 1948 में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम (Employees' State Insurance Act, 1948) के रूप में पारित कर दिया। यह अधिनियम दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपने ढंग का पहला अधिनियम था। इसी अधिनियम से भारत में औद्योगिक श्रमिकों के लिए एकीकृत सामाजिक बीमा की व्यवस्था शुरू हुई। यह अधिनियम बाद में किए गए संशोधनों के साथ देश

में आज भी लागू है।

9. **भविष्य-निधि एवं पेंशन-योजनाओं का विकास** (Evolution of Provident Fund and Pension Schemes)- प्रारंभ में श्रमिकों के लिए भविष्य-निधि की व्यवस्था निजी नियोजकों के प्रयासों तक ही समिति थी। बाद में कुछ सरकारी प्रतिष्ठानों में तदर्थ (ad hoc) आधार पर भविष्य-निधि, उपदान तथा पेंशन की व्यवस्था शुरू की गई। देश में भविष्य-निधि-संबंधी पहला अधिनियम केंद्रीय सरकार का भविष्य निधि अधिनियम, 1925 (Provident Fund Act, 1925) था। यह अधिनियम सरकारी विभागों, रेलवे प्रशासन, स्थानीय प्राधिकारों तथा कुछ अन्य उपक्रमों में भविष्य-निधि की स्थापना तथा अनिवार्य जमा की संरक्षा के उद्देश्य से बनाया गया था। अधिनियम में भविष्य-निधि की योजना से सम्बद्ध उपबंध नहीं है।

औद्योगिक श्रमिकों के लिए अनिवार्य भविष्य-निधि की स्थापना के प्रश्न पर 1942 में श्रममंत्रियों के तीसरे सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ। सम्मेलन ने आदर्श भविष्य-निधि-नियमों (model provident fund rules) को बनाने और उन्हें नियोजकों के बीच वितरित करने का सुझाव दिया। सम्मेलन के सुझावों को ध्यान में रखते हुए आदर्श भविष्य-निधि-नियम बनाए गए और उन्हें 1944 में स्थायी श्रम-समिति (Standing Labour Committee) के समक्ष विचारार्थ रखा गया। बाद में इन नियमों को प्रांतीय सरकारों, नियोजकों तथा श्रमिकों के संगठनों के पास सूचनार्थ और अंगीकरण के लिए भेजा गया, लेकिन इस संबंध में कोई कानूनी कदम उठाने का प्रयास नहीं किया गया।

1947 में बिहार और पश्चिम बंगाल के कोयला खानों में औद्योगिक विवाद सुलझाने के लिए नियुक्त सुलह-बोर्ड (Board of Conciliation) ने कोयला खान के श्रमिकों के लिए अनिवार्य भविष्य निधि की स्थापना की सिफारिश की। इस विषय पर 1948 में कोयला खान की औद्योगिक समिति (Industrial Committee on Coal Mines) में भी विचार-विमर्श हुए। इनके सुझावों को ध्यान में रखते हुए 1948 में ही भारत सरकार ने कोयला खान भविष्य-निधि अध्यादेश (Coal Mines Provident Fund Ordinance) जारी कर कोयला खान के श्रमिकों के लिए भविष्य-निधि एवं बोनस योजना शुरू की। इसी वर्ष अध्यादेश की जगह कोयला खान भविष्य-निधि तथा बोनस-योजना अधिनियम (Coal Mines Provident Fund and Bonus Schemes Act) बनाया गया। 1976 में इस अधिनियम का नाम बदलकर कोयला खान भविष्य निधि तथा विविध उपबंध अधिनियम (Coal Mines Provident Fund and Miscellaneous Provisions Act) रखा गया।

अन्य उद्योगों के श्रमिकों के लिए भविष्य निधि योजना के प्रश्न पर 1948 में भारतीय श्रम-सम्मेलन तथा 1950 में स्थायी श्रम-समिति में विचार-विमर्श किए गए। सम्मेलन तथा समिति दोनों में इन श्रमिकों के लिए भी भविष्य निधि की शीघ्र स्थापना के निर्णय लिए गए। 1951 में होने वाले श्रममंत्रियों के सम्मेलन में इसके लिए शीघ्र कानून बनाने पर जोर दिया

गया। इन सारे सुझावों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने 1951 में कर्मचारी भविष्य-निधि अध्यादेश (Employees' Provident Funds Ordinance) जारी कर कारखानों तथा अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों में अनिवार्य भविष्य-निधि-योजना की स्थापना की। 1952 में अध्यादेश की जगह कर्मचारी भविष्य-निधि अधिनियम (Employees Provident Funds Act) बनाया गया। 1976 में इस अधिनियम का नाम बदलकर कर्मचारी भविष्य-निधि तथा विविध उपबंध अधिनियम (Employees' Provident Funds and Miscellaneous Provision Act) रखा गया।

कर्मचारी भविष्य-निधि तथा विविध उपबंध अधिनियम में समय-समय कई महत्वपूर्ण संशोधन किए गए। प्रारंभ में यह अधिनियम केवल 6 उद्योगों के श्रमिकों या नियोजनों में लागू था, लेकिन अब इसे लगभग 200 उद्योगों या स्थापनों में लागू किया गया है। अब यह अधिनियम ऐसे उद्योगों/प्रतिष्ठानों में लागू है जिनमें इसके स्थापित किए जाने की तिथि से तीन वर्ष की अवधि के बाद 20 या उससे अधिक कर्मकार नियोजित रहे हों। कर्मचारी भविष्य-निधि योजना के अंतर्गत शामिल किए जाने के लिए वेतन की अधिकतम सीमा को समय-समय पर बढ़ाकर 2,500 रूपये, 3500 रूपये फिर 5000 रूपये (1994) तथा जून 2001 में बढ़ाकर 6,500 रुपए प्रतिमाह कर दिया गया। अधिनियम के अंतर्गत वर्तमान समय में चलाई जाने वाली योजनाओं में मुख्य हैं – (i) कर्मचारी भविष्य-निधि-योजना, 1952 (ii) कर्मचारी निक्षेप सम्बद्ध बीमा योजना, 1976 और कर्मचारी पेंशन योजना, 1995।

(i) **कर्मचारी भविष्य-निधि योजना,** 1952 (Employees Provident Funds Scheme, 1952) के अधीन कर्मचारियों के लिए अंशदान प्रारंभ से उनकी मजदूरी का 6.25 प्रतिशत की दर से था, जिसे बढ़ाकर 8.33 प्रतिशत और 1997 में 10 प्रतिशत कर दिया गया। केंद्रीय सरकार को यह शक्ति प्रदान की गई है कि उचित समझने पर किसी उद्योग या प्रतिष्ठान के वर्ग के लिए अंशदान की दर को बढ़ाकर 12 प्रतिशत तक कर दे। अब तक केंद्रीय सरकार ने उद्योगों या प्रतिष्ठानों की लगभग 180 श्रेणियों के लिए अंशदान की दर 12 प्रतिशत कर दी है। निधि में कर्मचारी के अंशदान की दर के समान नियोजक को भी अंशदान देना पड़ता है। कर्मचारियों और नियोजकों द्वारा दिए गए अंशदानों को कर्मचारी-भविष्य-निधियों में जमा कर दिया जाता है।

योजना के अंतर्गत कर्मचारी की मृत्यु, स्थायी अशक्तता, कुछ तरह की बीमारियों, कार्य करने में शारीरिक या मानसिक अशक्तता, सेवा-निवृत्ति, छँटनी, विदेशों में प्रवास या 15 बर्ष की सेवा की समाप्ति के बाद कर्मचारी के खाते में जमा कर्मचारी और नियोजक के अंशदानों और सूद की पूरी राशि लौटाने की व्यवस्था है। भविष्य-निधि से कई प्रयोजनों के लिए नावापसी ऋण भी लिए जा सकते हैं : जैसे- जीवन-बीमा पॉलिसी के प्रीमियम, आवास के निर्माण या क्रय, चिकित्सा, विवाह आदि के लिए ऋण।

(ii) **कर्मचारी निक्षेप सहबद्ध बीमा योजना,** 1976 (Employees Deposit-linked

Insurance Scheme, 1976)- इस योजना के सदस्य वे सभी कर्मचारी हैं, जो भविष्य-निधि के सदस्य हैं। इस योजना के अधीन सदस्यों को बीमा-निधि के लिए अंशदान देना आपेक्षित नहीं है, लेकिन नियोजकों को कर्मचारियों के वेतन का 0.5 प्रतिशत की दर से बीमा-हेतु अंशदान का भुगतान करना अपेक्षित है। पहले सरकार भी बीमा-निधि में कर्मचारियों की मजदूरी के 0.25 प्रतिशत की दर से अंशदान देती थी, लेकिन 1995 से इसे बंद कर दिया गया। योजना के अधीन किसी कर्मचारी की सेवा में रहते हुए मृत्यु हो जाने पर, भविष्य-निधि-राशियों को प्राप्त करने के लिए पात्र व्यक्तियों को मृतक व्यक्ति के भविष्य-निधि खाते में जमा राशि के बराबर एक अतिरिक्त राशि दी जाती है, जो अधिकतम 60 हजार रुपये है।

(iii) **परिवार पेंशन योजना,** 1971 **तथा कर्मचारी पेंशन योजना,** 1995 (Employees Family Pension Scheme, 1971 and Employees' Pension Scheme, 1995)- कर्मचारी परिवार पेंशन योजना, 1971 कर्मचारी पेंशन योजना, 1995 के लागू होने से समाप्त कर दी गई है।

परिवार पेंशन योजना, 1971 उन सभी कर्मचारियों के लिए अनिवार्य रूप से लागू रही थी, जो 1971 या उसके बाद भविष्य-निधि के अंशदाता बने हों। इस योजना के लिए वित्तीय व्यवस्था कर्मचारियों के वेतन के 1.33 प्रतिशत और इस राशि के बराबर नियोजकों के अंशदानों को परिवार पेंशन-निधि में जमा की जाती रही है। इस निधि से सरकार भी कर्मचारियों के वेतन का 1.33 प्रतिशत की दर से अंशदान देती रही है। योजना के अधीन कर्मचारी की मृत्यु की स्थिति में परिवार के अलग-अलग सदस्यों के लिए पेंशन की राशि निर्धारित की जाती रही है।

कर्मचारी पेंशन योजना नवंबर, 1995 को लागू हुई। यह योजना परिवार पेंशन योजना के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य है। यह योजना उन कर्मचारियों के लिए भी अनिवार्य है जो योजना के प्रांरभ की तिथि से भविष्य-निधि के सदस्य बनते हैं। पेंशन की पात्रता के लिए न्यूनतम 10 वर्ष की अंशदायी सेवा आवश्यक है। सामान्य अधिवर्षिता पेंशन 58 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर देय होती है, लेकिन 50 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद कम दर पर पेंशन देय होती है।

योजना के अंतर्गत जिन आकस्मिकताओं के लिए मासिक पेंशन के भुगतान का प्रावधान है, वे हैं - (1) 58 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर अधिवर्षिता पेंशन, (2) सेवा-निवृत्त पेंशन, (3) स्थायी/पूर्ण अपंगता पेंशन, (4) सेवा के दौरान मृत्यु की स्थिति में आश्रित को पेंशन, (5) सेवा-निवृत्ति, अधिवर्षिता या स्थायी पूर्ण अपंगता के पश्चात मृत्यु की स्थिति में आश्रित को पेंशन, (6) बाल पेंशन तथा (7) अनाथ पेंशन।

किसी सदस्य की मासिक पेंशन की राशि उसके पेंशन-योग्य वेतन और पेंशन-योग्य सेवा पर आधृत होती है। कर्मचारी के मासिक पेंशन की गणना निम्न प्रकार होगी -

$$\text{सदस्य की पेंशन} = \frac{\text{पेंशन-योग्य वेतन} \times (\text{पेंशन-योग्य सेवा} + 2)}{70}$$

उदाहरण, अगर किसी सदस्य की अंशदायी सेवा 33 वर्ष है और पेंशन-योग्य वेतन 4,000 रुपये प्रतिमाह है, तो उसकी पेंशन होगी -

$$\frac{4000 \text{ रू0} \times (33 + 2)}{70} = 2{,}000 \text{ रू0 प्रतिमाह}$$

पेंशन-योग्य वेतन पिछले 12 महीने के वेतन का औसत होगा। जहाँ कर्मचारी की अंशदायी सेवा 20 वर्ष से कम, लेकिन 10 वर्ष से अधिक है, उसकी मासिक पेंशन का निर्धारण 20 वर्ष की सेवा के आधार पर ही किया जाएगा। इस प्रकार, प्राप्त राशि को 20 वर्ष से कम सेवा के प्रत्येक वर्ष के लिए 3 प्रतिशत की दर से कम कर दिया जाएगा जो अधिकतम 25 प्रतिशत तक कम हो सकती है। जो कर्मचारी परिवार-पेंशन-योजना, 1971 के सदस्य रह चुके है, और जिन्होंने उस योजना के अंतर्गत 24 वर्ष तक अंशदान किया है, वे न्यूनतम 500 रुपये प्रतिमाह की दर से पेंशन के हकदार होंगे। नवंबर, 1995 में सेवानिवृत्त होने वाले परिवार पेंशन के वे सदस्य, जिनकी सदस्यता केवल 10 वर्ष की है, न्यूनतम 265 रूपये प्रतिमाह की दर से पेंशन के हकदार होगे। इसके अतिरिक्त ऐसे परिवार-पेंशन के सदस्यों को नवंबर, 1995 तक उनके खाते में संचित नियोजक के अंशदान सहित उनकी सम्पूर्ण भविष्य-निधि की राशि ब्याज के साथ लौटा दी जाएगी।

यदि कोई सदस्य न्यूनतम एक महीने तक पेंशन-निधि में अंशदान करने के बाद स्थायी और पूर्ण रूप से अपंग हो जाता है तो वह निर्धारित फार्मूले के अनुसार पेंशन का अधिकारी होगा, जो न्यूनतम 250 रुपये प्रतिमाह है। विधवा-पेंशन की न्यूनतम दर 450 रुपये प्रतिमाह है। यह 5,000 रुपये वेतन पाने वाले कर्मचारी को 33 वर्ष की सेवा पूरी करने पर 2,500 रुपये प्रतिमाह तक हो सकती है। ऐसे सदस्य की विधवा को भी, जिसने पेंशन-निधि में केवल एक महीने का भुगतान किया है, 1750 रुपये प्रतिमाह तक पेंशन का भुगतान हो सकता है। विधवा-पेंशन के अतिरिक्त, योजना में बाल-पेंशन की भी व्यवस्था की गई है। बाल-पेंशन की दर प्रत्येक बच्चे के लिए विधवा-पेंशन का 25 प्रतिशत है जो प्रति बच्चा न्यूनतम 150 रुपये प्रतिमाह तक हो सकती है और यह दो बच्चों को 25 वर्ष की आयु पूरी करने तक देय होती है। अगर सदस्य या उसकी विधवा में कोई जीवित नहीं है तो विधवा-पेंशन के 75 प्रतिशत की दर से अनाथ-पेंशन की व्यवस्था की गई है, जो न्यूनतम 250 रुपये प्रतिमाह प्रति अनाथ है।

मार्च, 2004 के अंत में कर्मचारी भविष्य-निधि योजना के अंतर्गत लगभग 3.7 लाख प्रतिष्ठान तथा 4 करोड़ से अधिक अंशदाता थे। मार्च 2003 के अंत में लगभग 7.5 लाख कर्मचारियों, 3.9 लाख पत्नियों/पतियों, 2.9 लाख बालकों, 5.8 हजार अनाथों तथा 6.5 हजार नामित व्यक्तियों को पेंशन दिया जा रहा था।

केंद्रीय एवं राज्य सरकारों के कर्मचारियों के लिए पेंशन एवं सामान्य भविष्य-निधि-योजनाएँ अलग से वृहत पैमाने पर चलाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त, सार्वजनिक क्षेत्र के कई संगठनों तथा कुछ निजी क्षेत्र के नियोजनों में भी अपनी-अपनी भविष्य-निधि एवं पेंशन-योजनाएँ हैं।

1955 में असम में बागान-श्रमिकों के लिए असम चाय बागान भविष्य-निधि योजना अधिनियम (Assam Tea Plantations Provident Fund Scheme Act, 1955) तथा 1966 में नाविक भविष्य निधि अधिनियम (Seamen's Provident Fund Act) बनाया गया। ये सभी अधिनियम आज भी लागू है।

10. **प्रसूति-हितलाभ योजनाओं का विकास** (Evolution of Maternity Benefit Schemes)- महिला-श्रमिकों के लिए प्रसूति-सुरक्षा प्रदान करने में राज्य सरकारें अग्रणी रही हैं। देश में कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों को प्रसूति-हितलाभ की सुविधा देने से संबद्ध पहला अधिनियम बंबई प्रसूति-हितलाभ अधिनियम, 1929 (Bombay Maernity Benefit Act, 1929) था। धीरे-धीरे इस तरह के कानून अन्य राज्यों में भी बनाए गए। इनमें मद्रास (1934), उत्तर प्रदेश (1938), पंजाब (1943), असम (1944), बिहार (1947), उड़ीसा (1953), राजस्थान (1953), केरल (1957), मध्य प्रदेश (1958) तथा मैसूर (1959) के कानूनों का उल्लेख किया जा सकता है। इन सभी अधिनियमों में महिला-श्रमिकों को प्रसवावस्था में नगद तथा अवकाश के रूप में प्रसूति-हितलाभ देने की व्यवस्था की गई। हितलाभ बच्चे के जन्म के पूर्व तथा बाद में निर्धारित अवधि के लिए देय था। प्रसव की कुछ अन्य स्थितियों में भी हितलाभ देना जरूरी था। राज्यों के अधिनियम साधारणतः कारखानों में लागू थे, लेकिन कुछ अधिनियमों में बागानों तथा अन्य नियोजनों को भी सम्मिलित किया गया।

प्रसूति-हितलाभ-संबंधी पहला केंद्रीय अधिनियम खान प्रसूति-हितलाभ अधिनियम, 1941 (Mines Maternity Benefit Act, 1941) था। बाद में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के अंतर्गत अंशदान की शर्त पूरी करने पर प्रसूति-हितलाभ देने की व्यवस्था की गई। 1951 में बनाए गए बागान श्रमिक अधिनियम के अधीन बागान में कार्य करने वाली स्त्रियों के लिए प्रसूति-हितलाभ की अलग योजना लागू की गई। राज्यों में लागू प्रसूति-हितलाभी अधिनियमों में एकरूपता लाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1961 में केंद्रीय प्रसूति-हितलाभ अधिनियम (Central Maternity Benefit Act) बनाया। इस कानून के लागू होने से राज्यों के कानून निरस्त (repealed) हो गए। कर्मचारी राज्य बीमा के लिए वित्त श्रमिकों और नियोजकों के अंशदान से उपलब्ध होता है। योजना का कुछ वित्तीय भार केंद्रीय एवं राज्य

सरकारों पर भी पड़ता है। अन्य अधिनियमों में हितलाभ देने का दायित्व नियोजकों पर है। निर्धन परिवारों की महिलाओं के लिए कुछ राज्यों में मातृत्व-हितलाभ योजनाएँ भी चलाई जाती हैं। 1995 में मातृत्व-हितलाभ की एक राष्ट्रीय योजना भी आरंभ की गई।

11. **उपदान-योजना** (Gratutiy Scheme)- देश में कुछ नियोजक अपने कर्मचारियों को सेवानिवृत्ति, बुढ़ापा, इस्तीफा, अशक्तता या अन्य प्रकार से नियोजन की समाप्ति पर उपदान देते आ रहे हैं, लेकिन इस संबंध में कानूनी तौर पर कदम बहुत बाद में उठाए गए। देश में उपदान-संबंधी पहला अधिनियम केरल औद्योगिक कर्मचारी उपदान भुगतान अधिनियम, 1970 (Kerala Industrial Employee's Payment of Gratuity Act, 1970) था। इस तरह का दूसरा कानून पश्चिम बंगाल में 1971 में बनाया गया। श्रमिकों के लिए उपदान की व्यवस्था-संबंधी केंद्रीय अधिनियम के प्रश्न पर 1971 में श्रममंत्रियों के सम्मेलन तथा भारतीय श्रम-सम्मेलन में विस्तार से विचार किया गया। दोनों सम्मेलनों ने नियोजन की समाप्ति की विभिन्न स्थितियों में उपदान योजना-संबंधी केंद्रीय अधिनियम बनाने पर जोर दिया। इन अनुशंसाओं को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने 1972 में उपदान भुगतान अधिनियम (Paymen of Gratuity Act) बनाया, जिसे उसी वर्ष सारे देश में लागू किया गया।

12. **बेरोजगारी के विरुद्ध सुरक्षा** (Protection against Unemployment)- विश्व के कई विकसित देशों में बेरोजगारी के प्रति सुरक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से बेरोजगारी बीमा योजनाएँ लागू की गई हैं। भारत में इस तरह की कोई बेरोजगारी बीमा-योजना नहीं है। देश में नियोजन में अवरोध तथा नियोजन की समाप्ति की कुछ स्थितियों में कानूनी तौर पर राहत देने की व्यवस्था की गई है। 1953 में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (Industrial Disputes Act, 1947) में किए गए एक संशोधन द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जबरी छुट्टी (lay-off) और छँटनी (retrenchment) की स्थिति में कामगारों को मुआवजा दिया जाए। बेरोजगारी की स्थिति में कुछ राहत भविष्य-निधि अधिनियमों तथा उपदान भुगतान अधिनियम, 1972 के अंतर्गत भी मिल जाती है।

सरकार की नई औद्योगिक नीति, १९९१ को ध्यान में रखते हुए कर्मकारों के हितों की रक्षा के उद्देश्य से १९९२ में राष्ट्रीय नवीकरण निधि (National Renewal Fund) की स्थापना की गई। इस निधि से संबद्ध दिशा-निर्देशों में जिन घटकों को शामिल किया गया है, उनमें मुख्य हैं- (i) सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयों के पुनर्गठन अथवा उनकी बंदी के कारण प्रभावित होने वाले कर्मचारियों को जहाँ आवश्यक हो, प्रतिपूर्ति करने के लिए निधि प्रदान करना (ii) आधुनिकीकरण, प्रौद्योगिकीय उन्नयन और औद्योगिक पुनर्गठन के परिणामस्वरूप फालतू होने वाले कर्मचारियों के पुनः प्रशिक्षण और पुनर्नियोजन की लागत को पूरा करने के लिए सहायता प्रदान करना, तथा (iii) औद्योगिक पुनर्संरचना के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली श्रम-आवश्यकताओं के लिए सामाजिक संरक्षा-तंत्र की व्यवस्था करने के लिए

संगठित और असंगठित क्षेत्रों में रोजगार-सृजन योजनाएँ बनाने के लिए निधि प्रदान करना। इस कार्यक्रम को केवल आंशिक सफलता ही मिल पाई है। अब यह कार्यक्रम समाप्त कर दिया गया है।

देश के ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारों को रोजगार दिलाने तथा रोजगार नहीं उपलब्ध कराए जाने की स्थिति में बेरोजगारी-भत्ता दिलाने के उद्देश्य से 2005 में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी अधिनियम बनाया गया जिसे 2 फरवरी, 2006 को चरणबद्ध तरीके से लागू किया गया। अधिनियम के अंतर्गत अधिसूचित क्षेत्रों के ग्रामीण परिवारों को कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं। ये अधिकार हैं- (i) रोजगार की माँग करने का अधिकार, (ii) रोजगार की माँग करने के दिन से 15 दिनों के अंदर रोजगार पाने का अधिकार, (iii) उपर्युक्त 15 दिनों के अंदर रोजगार नहीं मिलने की स्थिति में बेरोजगारी भत्ता प्राप्त करने का अधिकार, (iv) राज्य में प्रचलित कानूनी दर से मजदूरी प्राप्त करने का अधिकार, तथा (v) कार्यस्थल पर पीने का पानी, बच्चों के लिए शेड तथा प्राथमिक उपचार की सुविधा प्राप्त करने का अधिकार।

इस अधिनियम के अधीन योजना तैयार करने तथा उसके क्रियान्वयन में पंचायतीराज संस्थाओं की भूमिका की प्रधानता रहेगी। अधिनियम के समुचित प्रवर्तन के लिए पारदर्शिता, जवाबदेही, सामाजिक लेखा-परीक्षा तथा जन-सहभागिता पर जोर दिया गया है। ये सांस्थिक तंत्रों द्वारा सुनिश्चित किए जायेंगे। अधिनियम में परिवेदना-निवारण तंत्र की भी व्यवस्था है। लाभार्थियों में एक-तिहाई महिलाएँ होंगी। अधिसूचित क्षेत्र में अकुशल शारीरिक कार्य करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति संबंधित ग्राम पंचायत के पास पंजीकरण के लिए आवेदन दे सकता है। पंजीकरण के बाद उसे कार्य-कार्ड (Job Card) निर्गत किया जाएगा। पंजीकरण पूरे वर्ष खुला रहेगा। आवेदक को उसके निवास-स्थल के 5 किलोमीटर के भीतर ही रोजगार उपलब्ध कराया जाएगा, अन्यथा उसे अतिरिक्त मजदूरी दी जाएगी।

राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना देश में रोजगार-गारंटी से संबंधित एक महत्वाकांक्षी प्रयोग है। इसके अधीन रोजगार नहीं मिलने की स्थिति में बेरोजगारी-भत्ता देने की व्यवस्था है। बेरोजगारी के विरुद्ध सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के क्षेत्र में यह योजना महत्वपूर्ण कदम है। इसकी सफलता पर देश में बेरोजगारी की स्थिति में आर्थिक सुरक्षा प्रदान किए जाने के कार्यक्रमों में विस्तारण की संभावना निर्भर करती है।

2005 में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के अधीन 'राजीव गांधी श्रमिक कल्याण योजना' आरंभ की गई। योजना के अंतर्गत अधिनियम के दायरे में आने वाले कारखानों या स्थापनों की बंदी, कर्मकारों की छँटनी या गैर-रोजगार चोटों से उत्पन्न स्थायी अशक्तता के कारण नियोजन की हानि की स्थिति में बेरोजगारी-भत्ता देने की व्यवस्था की गई है। बेरोजगारी-भत्ता अधिकतम 6 महीने के लिए देय है और इसकी दर अधिनियम में उल्लिखित 'मानक हितलाभ दर' है। योजना के अंतर्गत पात्रता की शर्तों आदि का उल्लेख है।

13. **सार्वजनिक सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ** (Public Social Security Schemes)- सार्वजनिक सामाजिक सुरक्षा-योजनाओं का प्रारंभ छिटपुट ढंग से 1960 से प्रारम्भ होने वाले दशक के अंतिम भाग में हुआ। बाद में, इस प्रकार की योजनाएँ देश के कई राज्यों में शुरू की गई। सार्वजनिक सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रमों के अधीन सामान्यतः वृद्धों, विधवाओं तथा अशक्तों के लिए पेंशन, कुछ श्रेणियों के शिक्षित बेरोजगारों के लिए अनियोजन-संकेतक भत्ता तथा दुर्घटना से उत्पन्न अशक्तता के लिए क्षतिपूर्ति सम्मिलित हैं। 1985 में भारत सरकार ने भी दुर्घटनाओं से होने वाली अशक्तता के लिए एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम लागू किया है, जिसका संचालन राज्य सरकारों द्वारा होता है। 1995 में राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम के अधीन (i) वृद्धावस्था पेंशन योजना, (ii) परिवार हितलाभ योजना, तथा (iii) प्रसूति-हितलाभ योजना नाम से राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम प्रारम्भ किये गए।

14. **अन्य योजनाएँ** (Other Schemes)- देश में कुछ अन्य सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रमों के उदाहरण है- स्वास्थ्य सेवाएँ, अतिनिर्धन परिवारों को आर्थिक सहायता तथा समाज़ के बाधित समूहों के पुनर्वासन के कार्यक्रम।

IV. भारत में जीवन की विभिन्न आकस्मिकताओं के लिए वर्तमान समाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों का सारांश

(Summary of the Existing Social Security Programmes against Various Contingencies of Life)

भारत में सामाजिक सुरक्षा के विकास से संबद्ध उपर्युक्त विवेचना से देश में जीवन की विभिन्न आकस्मिकताओं या जोखिमों के लिए अपनाए गए विभिन्न सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रमों का भी बोध होता है। यहाँ सरल समझ के लिए अलग-अलग आकस्मिकताओं या जोखिमों से सम्बद्ध वर्तमान समय में चल रहे विभिन्न कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण उपयुक्त प्रतीत होता है।

1. **बीमारी** (Sickness)- (i) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के अंतर्गत कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिए बीमारी-हितलाभ देने की व्यवस्था की गई है। अधिनियम फिलहाल कारखानों में लागू है, लेकिन सरकार को इसे अन्य प्रतिष्ठानों में भी लागू करने की शक्ति प्राप्त है। बीमारी-हितलाभ बीमाकृत (extended sickness benefit) तथा वर्धित बीमारी-हितलाभ (enhanced sickness benefit) देने की भी व्यवस्था है।

(ii) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अधीन ही बीमाकृत कर्मचारियों और उनके परिवार के आश्रित सदस्यों के लिए चिकित्सा-हितलाभ (medical benefit) देने की व्यवस्था है। चिकित्सा-हितलाभ के लिए भी कर्मचारी द्वारा अंशदान-संबंधी शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। कुछ स्थितियों में अंशदान की शर्त पूरी नहीं होने पर भी चिकित्सा-हितलाभ दिया जा

सकता है। चिकित्सा-हितलाभ कई रूपों में दिया जा सकता है, जैसे- किसी औषधालय में वाह्य रोगी-उपचार, बीमा-चिकित्सक की निदानशाला (clinic) में उपचार, अन्य संस्थाओं में उपचार करने के रूप में। चिकित्सा-हितलाभ की व्यवस्था करने का मुख्य दायित्व राज्य सरकारों का है। लेकिन कर्मचारी राज्य बीमा-निगम चिकित्सा पर होने वाले व्यय का अधिकांश भार वहन करता है तथा सुसज्जित अस्पतालों की स्थापना और संचालन भी करता है।

(iii) जनसाधारण को मुफ्त चिकित्सा-सुविधाएँ प्रदान करने के लिए देशभर में स्वास्थ्य-सेवाओं की व्यापक व्यवस्था की गई है। अधिकांश चिकित्सा-सुविधाएँ राज्य सरकारों द्वारा उपलब्ध कराई जाती है, लेकिन स्वास्थ्य-संबंधी कई महत्वपूर्ण कार्यक्रम केंद्रीय सरकार के तत्वावधान में भी चलाए जाते हैं।

2. **वृद्धावस्था** (Old Age)- (i) कर्मचारी भविष्य-निधि एवं विविध उपबंध अधिनियम, 1952 (Employees Provident Funds and Miscellaneous Provision Act, 1952) के अधीन अनिवार्य अंशदायी भविष्य-निधि तथा पेंशन की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक श्रमिकों में बुढ़ापा या सेवानिवृत्ति की अन्य स्थितियों में आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना है। अधिनियम के अधीन चलाई जाने वाली योजनाएँ हैं- 1. कर्मचारी भविष्य-निधि योजना, 1952, 2. कर्मचारी निक्षेप सहबद्ध बीमा योजना, 1976 तथा 3. कर्मचारी पेंशन-योजना, 1995। इन योजनाओं का विस्तृत विवरण इस अध्याय के खंड ।।। (9) में दिया जा चुका है।

(ii) कोयला-खान भविष्य-निधि एवं विविध उपबंध अधिनियम, 1948 के अंतर्गत कोयला-खानों के श्रमिकों के लिए भविष्य-निधि तथा पेंशन की व्यवस्था की गई है। इस अधिनियम के अधीन स्थापित की जाने वाली भविष्य-निधि एवं पेंशन-योजनाएँ भी कर्मचारी भविष्य-निधि एवं पेंशन-योजनाओं की तरह ही है।

(iii) कई राज्यों में निर्धन वृद्धों के लिए वृद्धावस्था या सामाजिक सुरक्षा-पेंशन की योजनाएँ चलाई जा रही हैं। इन योजनाओं के अंतर्गत संबद्ध राज्यों के उन सभी वृद्धों को पेंशन उपलब्ध कराया जाता है, जिनकी आय निर्धारित आय से कम है। पेंशन की दरें अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग हैं। 1995 में राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना आरंभ की गई, जिसका संचालन भी राज्य सरकारें करती हैं।

(iv) सरकार द्वारा अपने कर्मचारियों के लिए पेंशन एवं सामान्य भविष्य-निधि की सुविधाएँ कई वर्षों से प्रदान की जाती रही हैं। भविष्य-निधि एवं पेंशन की योजनाएँ सार्वजनिक क्षेत्र के कई संगठनों तथा कुछ निजी नियोजनों में भी लागू हैं।

3. **मृत्यु** (Death)- (i) कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 (Workmen's Compensation Act, 1923) के अधीन नियोजन के दौरान और नियोजन से उत्पन्न दुर्घटना के फलस्वरूप

होने वाली मृत्यु की स्थिति में मृत कामगार के आश्रितों को क्षतिपूर्ति के रूप में एकमुश्त राशि देने की व्यवस्था है। क्षतिपूर्ति की राशि मृत कामगार की मजदूरी से जुड़ी होती है। एक से अधिक आश्रितों के रहने पर क्षतिपूर्ति की राशि उनके बीच निर्धारित ढंग से वितरित कर दी जाती है। वर्तमान समय में क्षतिपूर्ति की न्यूनतम राशि 80 हजार रुपये हैं। जिन प्रतिष्ठानों में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम लागू है, उनमें घातक दुर्घटनाओं के शिकार कामगारों के आश्रित सामान्यतः इन अधिनियम के अधीन क्षतिपूर्ति के हकदार नहीं होते।

(ii) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 (Employee's State Insurance Act, 1948) के अधीन भी दुर्घटना के फलस्वरूप कामगार की मृत्यु की स्थिति में उसके आश्रितों को अशक्तता-हितलाभ (disablement benefit) देने की व्यवस्था की गई है। आश्रित-हितलाभ के लिए कामगार के लिए अंशदान देने की शर्त लागू नहीं होती। आश्रित-हितलाभ आवधिक नकद भुगतान (periodic cash payment) के रूप में दिया जाता है। आश्रित-हितलाभ की दर केंद्र सरकार द्वारा निर्धारित होती है। हितलाभ का 3/5 भाग मृत कामगार की विधवा पत्नी को जीवनपर्यंत दिया जाता है तथा शेष 2/5 भाग नाबालिग लड़के को उसके 18 वर्ष के होने तक, तथा नाबालिग लड़की को उसके 18 वर्ष के होने या विवाह होने तक, जो भी पहले हो, दिया जाता है। आश्रितों की संख्या अधिक होने से हितलाभ की राशि उनके बीच निर्धारित अनुपात में बाँट दी जाती है।

(iii) कर्मचारी-भविष्य-निधि तथा कोयला-खान भविष्य-निधि योजानओं के अंतर्गत श्रमिक की मृत्यु की स्थिति में उसके खाते में जमा पूरी राशि को सूद के साथ उसके आश्रित को लौटा दिया जाता है। इन दोनों योजनाओं में कम मजदूरी वाले कामगारों के आश्रितों को मृत्यु-राहत-कोश से एक न्यूनतम राशि सुनिश्चित करने का भी प्रावधान है। इनके अतिरिक्त, दोनों योजनाओं में मृत श्रमिक के परिवार के लिए परिवार-पेंशन-योजना भी शुरू की गई है। दोनों अधिनियमों के अंतर्गत जमा से जुड़ी हुई बीमा-योजनाएँ भी लागू की गई हैं। 1995 में इन अधिनियमों के अंतर्गत कर्मचारी पेंशन-योजना शुरू की गई, जिसमें विधवाओं को पेंशन के अतिरिक्त बाल-पेंशन तथा अनाथ-पेंशन की भी व्यवस्था की गई है।

(iv) प्रसूति-हितलाभ अधिनियम, 1961 (Maternity Benefit Act, 1961) के अंतर्गत अगर प्रसूति-हितलाभ की अधिकारिणी स्त्री-श्रमिक की मृत्यु हितलाभ लिए बिना हो जाती है, तो उसकी पूरी राशि उसके द्वारा मनोनीत व्यक्ति या उसके कानूनी उत्तराधिकारी को दे दी जाती है।

(v) उपदान भुगतान अधिनियम, 1972 (Payment of Gratuity Act, 1972) में भी उपदान के हकदार कामगार की मृत्यु की स्थिति में उपदान की पूरी राशि उसके आश्रितों को दे दी जाती है।

(vi) कई राज्यों के सार्वजनिक सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों तथा राष्ट्रीय परिवार-हितलाभ योजना

के अंतर्गत निर्धन परिवार के मुख्य अर्जनकर्ता की मृत्यु की स्थिति में आश्रितों को वित्तीय सहायता देने के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

4. **अशक्तता** (Disablement)- (i) कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 (Workmen's Compensation Act, 1923) में नियोजन के दौरान और नियोजन से उत्पन्न दुर्घटना के परिणाम स्वरूप होने वाली अशक्तता की स्थिति में क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था है। क्षतिपूर्ति देने का दायित्व नियोजकों पर है। स्थायी अशक्तता के लिए क्षतिपूर्ति एकमुश्त राशि में दी जाती है, लेकिन अस्थायी अशक्तता की स्थिति में आवधिक भुगतान के रूप में। अधिनियम में उल्लिखित कुछ व्यावसायिक रोगों (occupational diseases) से उत्पन्न अशक्तता के लिए भी क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था है। क्षतिपूर्ति की मात्रा दुर्घटनाग्रस्त या व्यावसायिक रोगों के शिकार श्रमिक की मजदूरी से जुड़ी होती है। वर्तमान समय में पूर्ण स्थायी अशक्तता (Total permanent disablement) के लिए क्षतिपूर्ति की न्यूनतम राशि 90,000 हजार रुपये है। आंशिक स्थायी अशक्तता की स्थिति में क्षतिपूर्ति की राशि अर्जन-क्षमता में होने वाली क्षति के अनुपात में कम कर दी जाती है। अधिनियम में विभिन्न आंशिक तथा पूर्ण अशक्तताओं और उनसे होने वाली अर्जन-क्षमता में ह्रास की मात्रा का विस्तार से उल्लेख किया गया है। अस्थायी अशक्तता के लिए क्षतिपूर्ति आवधिक भुगतान के रूप में दी जाती है। यह अधिकतम 5 वर्षों तक दी जा सकती है। जिन प्रतिष्ठानों में कर्मचारी राज्य बीमा-योजना लागू है, उनमें सामान्यतः यह अधिनियम लागू नहीं होता।

(ii) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 के अंतर्गत नियोजन के दौरान और नियोजन से उत्पन्न दुर्घटनाओं तथा विहित व्यावसायिक रोगों से होने वाली अशक्तता के लिए अशक्तता-हितलाभ (disablement benefit) देने की व्यवस्था है। इस अधिनियम में उल्लिखित आंशिक अशक्तता की स्थितियों तथा व्यावसायिक रोगों के विवरण कर्मकार क्षतिपूर्ति अधिनियम के उपबंधों के समान है। अशक्तता-हितलाभ के लिए अंशदान दे चुकने की शर्त लागू नहीं होती। स्थायी पूर्ण या आंशिक अशक्तता के लिए हितलाभ दुर्घटनाग्रस्त श्रमिक को जीवनपर्यन्त मिलता है। पूर्ण या आंशिक स्थायी या अस्थायी अशक्ताओं के लिए हितलाभ की दरों, उनके लिए शर्तों तथा अवधियों का निर्धारण केंद्रीय सरकार करती है।

(iii) कर्मचारी-भविष्य-निधि तथा कोयला-खान-भविष्य-निधि अधिनियमों के अंतर्गत स्थायी अशक्तता की स्थिति में कर्मचारी के खाते में जमा भविष्य-निधि की पूरी राशि सूदसहित दे दी जाती है। इन अधिनिमयों में संशोधन कर स्थायी पूर्ण-अपंगता-पेंशन की भी व्यवस्था की गई है।

(iv) उपदान भुगतान अधिनियम, 1972 के अधीन भी अशक्तता के कारण रोजगार की समाप्ति पर श्रमिकों को उपदान की पूरी राशि के भुगतान करने की व्यवस्था है।

(v) राज्य सरकारों की सार्वजनिक पेंशन-योजनाओं में निर्धन अशक्ताओं के लिए आजीवन पेंशन

देने के कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त दुर्घटनाओं से होने वाली अशक्ताओं के लिए सहायता देने की राज्य सरकारों और केंद्र सरकार की अलग से योजनाएँ हैं।

5. **प्रसूति** (Maternity)- (i) प्रसूति हितलाभ अधिनियम, 1961 (Maternity Benefit Act, 1961) के अंतर्गत प्रसवावस्था में प्रसूति-हितलाभ देने की व्यवस्था है। अधिनियम के अनुसार प्रसूति-हितलाभ देने का दायित्व नियोजक का है। प्रसूति-हितलाभ अधिकतम 12 सप्ताह के लिए दिया जा सकता है, जिसमें 6 सप्ताह बच्चे के जन्म के पहले और 6 सप्ताह बच्चे के जन्म के बाद की अवधि सम्मिलित है। हितलाभ महिला-श्रमिक की औसत मजदूरी की दर से दिया जाता है। अधिनियम में गर्भावस्था से उत्पन्न बीमारी की कुछ स्थितियाँ, जैसे- बच्चे के जन्म या अकाल-जन्म तथा गर्भपात की स्थितियों में भी हितमाभ की व्यवस्था है। जिन प्रतिष्ठानों में नियोजक द्वारा प्रसवपूर्व अथवा प्रसवोत्तर (prenatal or postnatal) सुविधाएँ नहीं उपलब्ध कराई जाती, उनमें महिला-श्रमिक को चिकित्सकीय बोनस देना भी आवश्यक होता है। जिन प्रतिष्ठानों में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम लागू है, उनमें यह अधिनियम समान्यतः लागू नहीं होता।

(ii) कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 में प्रसव, गर्भपात, तथा गर्भ, प्रसव एवं बच्चे के अकाल-जन्म आदि से उत्पन्न बीमारी की स्थितियों में प्रसूति-हितलाभ देने की व्यवस्था है। इस अधिनियम के अंतर्गत बीमाकृत महिला-श्रमिक के लिए निर्धारित दर से तथा निर्धारित अवधियों तक अंशदान का चुकता कर देना आवश्यक होता है। हितलाभ अधिकतम 12 सप्ताह के लिए दिया जा सकता है। हितलाभ की दर केंद सरकार नियत करती है।

(iii) कुछ राज्यों में निर्धन परिवारों की महिलाओं को प्रसवावस्था में सहायता देने के कार्यक्रम चलाए जाते है। 1995 में निर्धन महिलाओं को प्रसूति-सहायता देने की राष्ट्रीय योजना भी आरंभ की गई।

6. **बेरोजगारी** (Unemployment)- अन्य विकसित देशों की तरह भारत में बेरोजगारी बीमा के कार्यक्रम नहीं हैं, कुछ कार्यक्रमों में रोजगार में व्यवधान या उसकी समाप्ति की स्थिति में कुछ राहत की व्यवस्था की गई है।

(i) औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अंतर्गत औद्योगिक प्रतिष्ठानों में जबरी छुट्टी (lay-off), छँटनी (retrenchment) तथा बन्दी (closure) की स्थितियों में कामगारों को मुआवजा देने की व्यवस्था है।

(ii) बेरोजगारी की स्थिति में कुछ राहत भविष्य-निधि तथा उपदान-भुगतान-योजनाओं के अंतर्गत मिल जाती है।

(iii) कुछ राज्यों में शिक्षित बेरोजगारों के लिए अनियोजन संकेतक भत्ते देने की व्यवस्था की गई थी, लेकिन यह योजना सफल नहीं हो सकी।

(iv) 1992 में राष्ट्रीय नवीकरण निधि की स्थापना की गई, जिसके अंतर्गत अनियोजन से संबद्ध कुछ राहत देने की व्यवस्था की गई है।

(v) 2005 में कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम 1948 के अधीन 'राजीव गांधी श्रमिक कल्याण योजना' आरंभ की गई। योजना के अंतर्गत अधिनियम के दायरे में आने वाले कारखानों या स्थापनों की बंदी, छँटनी या गैर-रोजगार चोट से उत्पन्न स्थायी अशक्तता के कारण नियोजन की हानि की स्थिति में बेरोजगारी-भत्ता देने की व्यवस्था की गई है। बेरोजगारी-भत्ता अधिकतम 6 महीने के लिए देय है। इसकी दर अधिनियम में उल्लिखित 'मानक हितलाभ दर' है।

(vi) 2006 में ग्रामीण क्षेत्रों में अकुशल श्रमिकों को रोजगार दिलाने तथा बेरोजगारी की स्थिति में बेरोजगारी-भत्ता दिलाने के उद्देश्य से कानून के अंतर्गत राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी योजना चरणबद्ध तरीके से लागू की गई है।

औद्योगिक रूप से विकसित देशों की तुलना में भारत में सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रम अत्यंत ही अविकसित अवस्था में हैं। भारत जैसे देश में सामाजिक सुरक्षा-कार्यक्रमों की विशेष आवश्यकता है, लेकिन देश में व्याप्त निर्धनता और बेरोजगारी, जनसंख्या में तेजी से वृद्धि तथा आर्थिक विकास की अंसतोषजनक प्रगति के कारण यहाँ सामाजिक सुरक्षा के लिए ठोस एवं व्यापक कार्यक्रम चलाना संभव नहीं हो पाता।

VII. भारत सरकार के राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम
(National Social Assistance Programme of the Government of India)

भारत सरकार द्वारा चलाई जाने वाली निजी दुर्घटना-बीमा सामाजिक सुरक्षा-योजना तथा झोपड़ी-बीमा-योजना का विवरण पिछले खंड V में दिया जा चुका है। 15 अगस्त 1995 को भारत सरकार ने सामाजिक सहायता के तीन महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रमों को आरंभ किया। ये हैं - (i) राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन-योजना, (ii) राष्ट्रीय परिवार-हितलाभ योजना, तथा (iii) राष्ट्रीय प्रसूति-हितलाभ योजना। इन राष्ट्रीय कार्यक्रमों का संचालन राज्य सरकारों द्वारा होता है। इन योजनाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :-

1. योजनाएँ (Schemes)

(i) **राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना** (National Old Age Pension Scheme)- इस योजना का मुख्य उद्देश्य ऐसे वृद्ध व्यक्तियों को वित्तीय सहायता प्रदान करना है जो निर्धन एवं निःसहाय हों। इस योजना के अंतर्गत 65 वर्ष या इससे अधिक उम्र के व्यक्तियों को, जिनकी वार्षिक आय वर्तमान समय में सभी स्रोतों से देहाती क्षेत्रों में 5,000 रुपये और शहरी क्षेत्रों में 5,500 रुपये से अधिक नहीं हो, 75 रुपये प्रतिमाह की दर से पेंशन देय होता रहा है। राज्यों की योजनाओं के अंतर्गत 65 वर्ष से अधिक उम्र के पेंशनधारी, जिन्हें 100 रुपये प्रतिमाह की

दर से वृद्धावस्था पेंशन स्वीकृत होती थी, राष्ट्रीय योजना में शामिल होते थे, तथा ऐसे व्यक्तियों को राष्ट्रीय योजना से 75 रूपये और राज्य योजना से 25 रूपये प्रतिमाह अर्थात 100 रूपये प्रतिमाह की दर से पेंशन दी जाती थी। 2006 में इस राशि को बढ़ाकर 200 रूपये प्रतिमाह कर दिया गया है।

(ii) **राष्ट्रीय परिवार-हितलाभ योजना** (National Family Scheme)- इस योजना का मुख्य उद्देश्य निर्धनता-रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के मुख्य अर्जनकर्ता की मृत्यु की स्थिति में वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इस योजना के प्रयोजन के लिए मुख्य अर्जनकर्ता (Primary breadwinner) परिवार का वह व्यक्ति होता है जो परिवार के कुल अर्जन में सबसे अधिक अनुपात में योगदान करता है। इस योजना के अंतर्गत निर्धनता-रेखा के नीचे जीवन-बसर करने वाले परिवार के 18 वर्ष से अधिक और 65 वर्ष से कम उम्र के मुख्य अर्जनकर्ता की मृत्यु की स्थिति में परिवार को 10,000 रूपये की सहायता देने की व्यवस्था है। हितलाभ की राशि को मृतक के परिवार के मुखिया को दिया जाता है।

(iii) **राष्ट्रीय प्रसूति-हितलाभ योजना** (National Maternity Benefit Scheme)- इस योजना का उद्देश्य निर्धनता-रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की गर्भवती महिलाओं को जीवित प्रसव की स्थिति में सहायता प्रदान करना है। योजना के अंतर्गत निर्धनता-रेखा के नीचे के परिवार की 19 वर्ष से अधिक उम्र की महिलाओं को प्रथम और द्वितीय जीवित प्रसव की स्थिति में 500 रुपये प्रति प्रसव की दर से सहायता दी जाती है। हितलाभ प्रसव के 8-12 सप्ताह पहले एक किस्त में दिया जाता है।

2. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम के उद्देश्य (Objectives of the National Social Assistance programme)—

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता-कार्यक्रम केंद्रीय सरकार द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम है, जिसके अधीन राज्यों एवं संघराज्य-क्षेत्रों को केंद्रीय सरकार द्वारा निर्धारित मानकों, मार्गदर्शनों एवं दशाओं के अनुसार शत-प्रतिशत सहायता दी जाती है। निर्धनों को सामाजिक सहायता हितलाभ उपलब्ध कराने में इस बात का ध्यान रखा गया है कि राज्यों द्वारा उपलब्ध कराए जाने वाले हितलाभों के अतिरिक्त न्यूनतम राष्ट्रीय मानकों की स्थापना हो। शत-प्रतिशत केंद्रीय सहायता की व्यवस्था इस उद्देश्य से की गई है कि हिताधिकारियों को सामाजिक सुरक्षा देश में सर्वत्र बिना रुकावट के एक रूप में उपलब्ध हो। इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि राष्ट्रीय कार्यक्रम के लागू होने से राज्य इन मदों पर खर्च करना बंद नहीं कर दे। राज्यों को अपने कार्यक्रमों के विस्तार करने में स्वतंत्रता होगी।

इस कार्यक्रम में सामाजिक सहायता को निर्धनता-उन्मूलन तथा आधारभूत आवश्यकता-योजनाओं से जोड़ने का प्रयास किया गया। वृद्धावस्था-पेंशनधारियों को पेंशन के अतिरिक्त चिकित्सकीय देखभाल तथा अन्य सुविधाएँ उपलब्ध होती रहेगी। इसी तरह, निर्धन

परिवार के मुख्य अर्जनकर्ता की मृत्यु की स्थिति में उसके परिवार को परिवार-हितलाभ के अतिरिक्त ग्रामीण विकास के विशेष कार्यक्रमों के अंतर्गत सहायता मिलती रहेगी। प्रसूति-सहायता भी मातृ-शिशु कार्यक्रमों से जुड़ी रहेगी।

3. कार्यक्रम का कार्यान्वयन (Implementation of the Programme)

केन्द्रीय सरकार ने राज्यों को इस कार्यक्रम को पंचायतों और नगर पालिकाओं के जरिए क्रियान्वित कराने के निर्देश दिए हैं। पंचायतें एवं नगर पालिकाएँ योजनाओं के लाभों को उनके वास्तविक हिताधिकारियों तक पहुँचाने में ऐच्छिक संगठनों की भी सहायता ले सकती हैं। राज्य सरकारों से अपेक्षा की जाती है कि वे इन हितलाभों और उनके दावे से संबद्ध पद्धतियों के बारे में व्यापक एवं निरंतर प्रचार करते रहें। राज्य सरकारों से अनुरोध किया गया है कि वे स्थानीय भाषाओं में पर्याप्त आवेदन पत्रों की व्यवस्था करें, तथा तत्परता से आवेदन पत्रों को जाँच कर सत्यापन करें और हितलाभ के भुगतान के लिए कदम उठाएँ। राज्यों को निर्देश दिया गया है कि वे जिलेवार प्रत्येक योजना के अंतर्गत लाभभोगियों की संख्या तथा हितलाभ पर हुए खर्च का ब्योरा भेजें। योजनाओं के क्रियान्वयन में लगे अभिकरणों को सहजता से निधि उपलब्ध कराने के उद्देश्य से राज्यों को जिला-स्तर पर पृथक खाता खोलने का भी निर्देश दिया गया है। इस कार्यक्रम के प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन के लिए राज्य एवं जिला-स्तर पर पृथक खाता खोलने का भी निर्देश दिया गया है। इस कार्यक्रम के प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन के लिए राज्य एवं जिला-स्तरीय समितियों के गठन के भी निर्देश दिए गए हैं। जिला-स्तर पर इस कार्यक्रम के समुचित क्रियान्वयन का दायित्व जिलाधिकारी पर है। इस सम्बन्ध में पंचायतों और नगरपालिकाओं के कार्यों में मुख्य हैं : योजनाओं का व्यापक प्रचार करना, संबद्ध प्राधिकारी के पास आवेदनों को अग्रसारित करना, उनके संबंध में रिकार्ड रखना तथा हितलाभों के वितरण और विलम्ब आदि का प्रबोधन करना। योजनाओं के अंतर्गत हितलाभों का भुगतान हिताधिकारियों के नाम डाकघर या व्यावसायिक बैंक में खाता खोलकर या मनीआर्डर के जरिए किया जा सकता है। योजनाओं के प्रभावी क्रियान्चयन तथा प्रबोधन के संबंध में ग्रामीण क्षेत्र एवं नियोजन मंत्रालय को परामर्श देने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर सलाहकार समिति का गठन किया गया है।

1995-1996 से 2004-05 तक की अवधि में देश में राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना के अंतर्गत लाभान्वित वृद्धों की संख्या प्रतिवर्ष सामान्यतः 40 और 60 लाख के बीच रही है। इसी अवधि में राष्ट्रीय परिवार-हितलाभ योजना के अधीन लाभान्वितों की संख्या प्रतिवर्ष सामान्यतः 2 लाख और 5 लाख के बीच तथा राष्ट्रीय प्रसूति-हितलाभ योजना के अधीन लाभान्वित महिलाओं की संख्या 10 लाख से 50 लाख के बीच रही है।

591

खण्ड–चार

समाजकार्य से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्यायें

593

अध्याय-23

आतंकवाद

आतंकवाद एक विषम समस्या है, भारत में हम तीन दशकों से इसका सामना कर रहे हैं। आतंकवादी प्रवृत्तियों की तीव्रता के परिप्रेक्ष्य में कुछ लोग ऐसा कहने को बाध्य हो गये हैं कि वर्तमान युग आतंकवादी युग है। विशेष कर अमेरिका के एक विशेष स्थल को जब आतंकवाद का निशाना बनाया गया तो आतंकवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया। भारत में जम्मू कश्मीर, असम, मणिपुर, त्रिपुरा एवं मिजोरम में आतंकवादी बड़े पैमाने पर हिंसा करते हैं। सर्वाधिक वीभत्स घटनायें जम्मू और कश्मीर में पाकिस्तान समर्थक आतंकवादियों द्वारा आयोजित की गई हैं। आज आतंकवाद का सम्बन्ध किसी विशिष्ट क्षेत्र से नहीं है। वरन् किसी भी आवास या धार्मिक परिसर, सार्वजनिक स्थान दुकान अथवा कारखाने से हो गया है। आज जैसा कि ऊपर कहा गया है यह अन्तर्राष्ट्रीय समस्या हो गयी है। जिन कारकों ने आतंकवाद को आतंकी साधन बनाये हैं, वे हैं उद्देश्य की विशिष्टता, कहर, निष्ठा, किसी विनाशकारी उद्देश्य के प्रति आत्म बलिदान की इच्छा तानाशाही भावना और विदेशों से वित्तीय तथा भौतिक सहायता प्राप्त करना।

आतंकवाद का अर्थ निरूपण

शाब्दिक रूप से यह दो शब्दों "आतंक" और "वाद" से बना है, आतंक का अर्थ है भय और 'वाद' का अर्थ है विचार अथवा सिद्धान्त। किन्तु आतंकवाद का जो व्यावहारिक अर्थ है, उसके अनुसार आतंकवाद हिंसा या हिंसा की धमकी का द्योतक तथा लक्ष्य प्राप्ति के लिये हिंसा की एक विधि या रणनीति है। इसका प्रमुख उद्देश्य अपने शिकार में भय पैदा करना है यह क्रूर मानवीय प्रतिमानों का पालन करता है। इसकी रणनीति में प्रचार एक आवश्यक तत्व है।

आतंकवाद विद्रोह, गृह-युद्ध क्रान्ति, गुरिल्ला-युद्ध, अभ्यास और उग्रता जैसे शब्द बहुधा प्रयोग किये जाते हैं, उनका प्रयोग मुक्त रूप से होता है तथा इन सब में हिंसा सर्वमान्य है। वास्तव में आतंकवाद, असन्तोष, धर्मान्धता, आर्थिक विषमता, भाषाई विभेद, रंगभेद, क्षेत्रवाद, विदेशी शोषण आदि के प्रति विद्रोह एवं अनुशासनहीनता की हिंसात्मक अभिव्यक्ति है। व्यावहारिक रूप में आज आतंकवाद राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये अमोध साधन के रूप में प्रयुक्त होता है। वर्तमान में आतंकवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप ले चुका है। समस्त विश्व आतंकवाद के मकड़जाल में उलझा जा रहा है।

विभिन्न विद्वानों ने आतंकवाद को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है, कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं :-

'यह एक ऐसा तरीका है, जिसके द्वारा संगठित समूह अथवा दल अपने प्रकट उद्देश्यों की प्राप्ति मुख्य रूप से हिंसा के योजनाबद्ध उपयोग से करता है।'

"एक साधन के रूप में उत्पीड़न के लिये आतंक का व्यवस्थित प्रयोग है।"

"आतंकवाद वह शब्द है जिसका उपयोग विधि के पीछे सिद्धान्त की व्याख्या के लिये किया जाता है। इसमें एक संगठित समूह अथवा पार्टी अपने स्पष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति मुख्य रूप से हिंसा के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा करती है।"

"राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हिंसा एवं भय का प्रयोग करना आतंकवाद है।"

"राजनैतिक आतंकवाद किसी व्यक्ति अथवा किसी समूह के द्वारा सत्ता के पक्ष में अथवा विरोध में हिंसा का प्रयोग या हिंसा के प्रयोग की धमकी है।"

"सरकार अथवा लोगों को आतंकित करने, विभिन्न वर्गों में वैमनस्य बढ़ाने तथा शान्ति भंग करने के उद्देश्य से बम विस्फोट करने, अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करने, सम्पत्ति नष्ट करने, रासायनिक अस्त्र इस्तेमाल करने अथवा आवश्यक सेवाओं में गड़बड़ी करने के उद्देश्य से जो भी कार्य किये जाते हैं, वे आतंकवादी माने जाते हैं।"

आतंकवाद की सामान्य परिभाषा में हिंसा की वे सभी किस्में सम्मिलित नहीं हैं, जिनका संगठित समूह प्रयोग करता है। वह हिंसा जो विशुद्ध व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाती है, आतंकवाद नहीं है। इसमें डकैती एवं लूटपाट जैसे संगठित अपराध भी नहीं आते। परन्तु वे सभी हत्यायें एवं डकैतियों जो नक्सलियों जैसे सैद्धान्तिक गुटों के द्वारा की जाती हैं आतंक के दायरों में आती हैं। आतंकवाद और विद्रोह में आतंकवादी और विद्रोही वास्तव में हिंसा का प्रयोग करते हैं। आतंकवाद व्यक्तियों के बीच लड़ाई नहीं है, अपितु वह सामाजिक समूहों एवं राजनैतिक शक्तियों के बीच का संघर्ष है।

आतंकवाद की परिभाषा के मूल तत्व

उपर्युक्त वैचारिक पृष्ठिभूमि में आतंकवाद की परिभाषा के मूलतत्व निम्नलिखित हो सकते हैं :-

(i) यह राज्य एवं समाज के विरुद्ध होता है।

(ii) यह राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु फैलाया जाता है। इसके माध्यम से आंतकवादी समाज का ध्यान आकृष्ट करते हैं और इस हेतु विभिन्न गतिविधियों का सहारा लेते हैं।

(iii) यह अवैध एवं गैर कानूनी होता है।

(iv) आतंकवादी क्रियाओं में हिंसा का प्रयोग या हिंसा के प्रयोग की धमकी होती है।

(v) यह राष्ट्र की सामान्य गतिविधियों में बाधा डालकर, निर्दोष लोगों की हत्या कर आतंक का वातावरण पैदा करती है, ये सभी कृत्य गैर कानूनी हैं।

(vi) जन साधारण में इससे बेबसी एवं लाचारी की भनक पैदा होती है।

(vii) आतंकवाद की क्रियायें किसी व्यक्ति समूह अथवा शासन के विरुद्ध भी जाती है।

(viii) यह कोई आकस्मिक एवं असावधानीपूर्वक तरीके से सम्पन्न कार्य नहीं है, बरन सावधानी पूर्वक एवं सुव्यवस्थित ढंग से सम्पन्न किया गया है।

(ix) यद्यपि यह सत्ता से सम्बन्धित होता है, तथा कुछ व्यक्तियों के विरोध में होता है, जो उसके हितों या लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधक होते हैं, तथापि इसका शिकार जनता अधिक होती है।

(x) सामान्यतया आतंकवादी क्रियायें इस प्रकार की जाती हैं कि उनका अधिक से अधिक प्रचार हो।

आतंकवाद के प्रकार

आज के समय में आतंकवाद अनेक प्रकार एवं विभेद के साथ समाज के विद्यमान है, इसके कुछ प्रमुख प्रकार निम्नलिखित है :-

1. **धनात्मक अथवा भावात्मक आतंकवाद** – इसका मूल उद्देश्य समाज के किसी व्यापक उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति करना होता है। इस प्रकार का आतंकवाद कल्याणकारी होता है। विदेशी शासकों से देश को स्वतन्त्र कराने हेतु किया गया आतंकवाद इस श्रेणी में आता है। हमारे देश में स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी की गतिविधियाँ इस प्रकार के आतंकवाद का उदाहरण है।

2. **ऋणात्मक अथवा अभावात्मक आतंकवाद** – इस प्रकार के आतंकवाद का उद्देश्य समाज के व्यापक हितों की उपेक्षा कर किसी निहित स्वार्थ की पूर्ति करना होता है। यह आतंकवाद देश की एकता एवं अखण्डता के लिए खतरा है।

इसके अलावा आतंकवाद के कुछ और प्रकार हैं, जो निम्नलिखित हैं :-

1. **राज्य द्वारा प्रवर्तित आतंकवाद** – इस श्रेणी का आतंकवाद एक निर्बल राष्ट्र द्वारा प्रायोजित किया जाता है।

2. **गुट द्वारा प्रवर्तित आतंकवाद** – इस श्रेणी का आतंकवाद राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किसी राजनैतिक गुट द्वारा प्रायोजित होता है, जो राज्य प्रतिरोध अथवा पृथकतावादी आन्दोलन के रूप में उत्पन्न होता है।

3. **अपराध से सम्बन्धित आतंकवाद** – इस प्रकार के आतंकवाद के फैलाव हेतु हिंसा का सहारा लिया जाता है। उक्त हिंसा को धन सम्पत्ति द्वारा प्रलोभित किया जाता है।

4. **विचार प्रेरित आतंकवाद** – इस प्रकार का आतंकवाद किसी विशेष उद्देश्य जैसे चुनाव में विजय, भूमि संघर्ष, हथियारों पर निषेध आदि से प्रेरित होता है।

आतंकवाद की उत्पत्ति एवं विकास

राजनैतिक आतंकवाद का अभ्युदय सत्ता के एक उपकरण के रूप में फ्रांसीसी क्रांति के बाद विकसित हुआ। ऐसे आतंक में क्रान्ति के दो पहलुओं का समावेश हुआ :- (1) एक समूह में चिन्ता की स्थिति और वह उपकरण जिसमें भय का समावेश हुआ। (2) एक समूह में चिन्ता की स्थिति और वह उपकरण जिसमें भय का एवं हिंसात्मक कार्यों को उकसाया जाता है। इस प्रकार के आतंकवाद का लक्ष्य राज्य के राजनैतिक व्यवहार को प्रभावित करना होता है। पश्चिमी देशों ने अमेरिका, अफ्रीका, एशिया और आस्ट्रेलिया में मूल निवासियों की सम्पत्ति को हड़पने के लिये और धर्म परिवर्तन के लिए आतंकवाद का खुलकर विरोधियों पर प्रयोग किया। आज पूरा विश्व इस आतंकवाद के प्रभाव में है। कुछ स्थिति में आतंकवाद का प्रयोग क्षेत्रीय स्वतन्त्रता के लिये किया जाता था, जैसे- आयरलैण्ड बनाम इंग्लैण्ड तथा वियतनाम बनाम फ्रांस इत्यादि। इसके अलावा आज मलेशिया, इण्डोनेशिया, फिलीपींस, ईरान, ईराक, श्रीलंका और भारत-पंजाब, पूर्वोत्तर प्रान्त और कश्मीर आदि आतंकवाद के चपेट में है। इन स्थानों पर आतंकवाद के फैलाव हेतु निम्नलिखित कारक विशेष रूप से जिम्मेदार हैं :-

(१) निर्बल राष्ट्रों की शक्तिशाली राष्ट्रों को अशक्त करने की इच्छा।

(२) आतंकवादियों द्वारा तस्करी और मादक पदार्थों के व्यापार के तरीकों का उपयोग करने की सम्भावना और इस प्रकार आधुनिक हथियारों को खरीदने के लिए पैसा जमा करना।

(३) पूर्व एवं पश्चिम के बीच वामपंथी और दक्षिणपंथी विचार-धाराओं के द्वारा पारस्परिक संघर्ष।

(४) सारे संसार के विभिन्न समूहों में धार्मिक, भाषाई, प्रजातीय और राष्ट्रीय चेतना में होने वाली वृद्धि के कारण जनित संघर्ष; अपनी स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्णय के अधिकारों की प्रगति हेतु अल्पसंख्यकों के द्वारा किया जाने वाला संघर्ष।

(५) नागरिकों द्वारा अपने देश में सत्तारूढ़ दमनात्मक सरकार एवं तानाशाहों के विरुद्ध किया जाने वाला संघर्ष एवं तद्नुरूप आतंकवाद का प्रयोग।

आतंकवाद के उद्देश्य

वैसे तो आतंकियों के उद्देश्यों में प्रत्येक आन्दोलनों के साथ बदलाव आता है, परन्तु आतंकवाद के मुख्य उद्देश्य सभी आन्दोलनों में एक ही सा होता है, ऐसे कुछ उद्देश्य हैं :-

(1) शासन को प्रतिक्रिया और अतिप्रतिक्रिया दिखाने के लिये प्रेरित करना

आतंकवादी अपनी मांग की पूर्ति हेतु आतंकवाद का जब प्रयोग करते हैं तो सरकार उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। अति प्रक्रिया का अन्धाधुंध प्रतिक्रिया का प्रयोग शासन तब करता है जबकि वह जनता को दिखाना चाहता हैं कि वह आतंकवाद के दमन हेतु

अतिशय सक्रियता दिखा रहा है। किन्तु जब सरकार आतंकवाद की स्थिति में केवल वी.आई.पी. को सुरक्षा प्रदान करने लगती है, तो सामान्य जन में असुरक्षा की भावना जनित होती है।

(2) जनता के समर्थन को संगठित करना और सम्बन्धित संगठनों को और अधिक आतंकवाद के लिये प्रेरित करना तथा और अधिक व्यक्तियों को उसमें लिप्त किया जाय।

(3) विरोधियों एवं मुखविदों को खत्म करना और आन्दोलन के लिये खतरों को दूर करना और अनुयायियों के अनुसरण को सुरक्षित करना।

(4) अपने उद्देश्य एवं शक्ति का प्रचार करना एवं उसे अतिरंजित करना।

(5) शासन की सैन्य एवं मनोवैज्ञानिक शक्ति को विघटित करना।

(6) आन्तरिक स्थिरता को तोड़ना और विकास को रोकना।

आंतकवाद के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

(1) **ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य** – आतंकवाद के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से हम उसके केन्द्र बिन्दु, यानी आतंकवाद की उत्पत्ति एवं विकास और उसकी विभिन्न स्थितियों में होने वाले गुणात्मक परिवर्तन की ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं।

(2) राजनैतिक परिपेक्ष्य की दृष्टि से हम आतंकवाद को राजनैतिक हिंसात्मक आन्दोलन की दृष्टि से देखते हैं और इस बात पर भी विचार करते हैं कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनैतिक समूहों को किस प्रकार संगठित किया जाता है।

(3) वैधानिक परिप्रेक्ष्य में हम राज्य के कानून व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में आतंकवाद पर विचार करते हैं और यह भी देखते हैं कि कानून व्यवस्था में किस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि आतंकियों पर शिकंजा कसा जा सके।

(4) समाज शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में हम समाज की उन गत्यात्मकताओं पर विचार करते हैं जिनके कारण किसी समाज विशेष से अधिक से अधिक संख्या में आतंकवादी पैदा होते हैं। उदाहरणार्थ उ0प्र0 में आजमगढ़ ने बहुत से आतंकवादियों को जन्म दिया। सामाजिक दृष्टि से आतंकवाद ने युवाओं को ज्यादा आकृष्ट किया। विशेषतया बेरोजगार, विभ्रान्त और आदर्शवादी युवाओं को जब उद्देश्य से भ्रमित कर दिया जाता है तो तीव्र भावनाओं से वे उत्तेजित हो जाते हैं। ये युवा एक उद्देश्य के लिये आतंकवाद के रोमांचक सपनों को देखने के लिये प्रेरित हो जाते हैं। जब एक राष्ट्र निहित स्वार्थों के कारण भ्रष्ट नेतृत्ववश अपने उद्देश्य से विमुख हो जाता हैं, तो कुंठायें एवं कथन आक्रामक युवाओं को उग्र प्रवृत्तियों की ओर ले जाते हैं और नक्सलवाद और कश्मीरी आतंकवाद जनित होता है।

भारत में आतंकवाद

भारत में आतंकवाद की समस्या अति गम्भीर है। स्वतन्त्र भारत में इसकी शुरुआत

1969 के आस-पास नक्सली विद्रोह से मानी जाती है। इसके पश्चात भारतीय आतंकवाद का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से हो गया। पहले आतंकियों ने अपनी गतिविधियाँ, ग्रामीण एवं पर्वतीय क्षेत्रों तक सीमित रखा, किन्तु बाद में ये गतिविधियाँ नगरीय एवं अधिक संख्या वाले क्षेत्रों तक भी फैल गई। आतंकवाद के चार क्षेत्र हैं, जिनका हम अपने देश में सामना कर रहे हैं। (1) पंजाब में खालिस्तान उन्मुखी आतंकवाद, (2) कश्मीर में उग्रवादियों का आतंकवाद, (3) बंगाल, बिहार आन्ध्र प्रदेश में नक्सली आतंकवाद और (4) आसाम में उल्फा और बोडो आतंकवाद।

पंजाब के आतंकवाद

पंजाब का आतंकवाद धार्मिक राज्य की भावना पर आधारित है। पंजाब के आतंकवादी युवाओं ने धर्म के आधार पर संगठित और प्रेरित होकर आतंकवादी गतिविधियां प्रारभ कीं। वहाँ पुलिस द्वारा अपनाई गई रणनीति एवं जनता के सहयोग से आतंकवाद का खात्मा हुआ। इसके पहले बहुत से निर्दोष व्यक्ति मुख्यतया हिन्दू अन्धाधुंध मारे गये पूजा स्थलों को शस्त्रागारों में बदल दिया गया। खालिस्तान को लेकर आंतकवाद युवकों के मन में देश के कुछ निहित स्वार्थी नेताओं ने दलगत उद्देश्य से अलगाववादी भावनायें भर दी। खालिस्तान को लेकर आतंकवादियों ने जो नीति अपनाई, उसके कुछ निहित पक्ष निम्नलिखित थे :-

(i) स्वयं आदेश निकाल कर शासन की सत्ता को कमजोर करना एवं विचलितों को इकट्ठा कर अपनी शक्ति का परिचय देना।

(ii) स्वयं को सिख एवं सिख धार्मिक प्रतिकारक के रूप में स्थापित करना।

(iii) निर्दोष व्यक्तियों को जान से मारना और बैंकों तथा दूकानों को लूटकर आतंक फैलाना।

(iv) हिन्दुओं को पंजाब से बाहर करना और सिखों को पंजाब में बसने के लिए अवसर दिलाना।

(v) पंजाब में पैसा जुटाने के लिये तस्करों से सम्बन्ध स्थापन करना।

आज पंजाब का आंतकवाद अतीत की वस्तु बन गया है, परन्तु फिर भी बहुत से अकाली गुट आज भी पृथक पंजाब की माँग दोहराते रहते हैं।

(2) कश्मीरी उग्रवादियों का आतंकवाद –

कश्मीरी उग्रवाद ने आज एक नया रूप ले लिया है। आज वह कश्मीर तथा पूरे देश में राजनैतिक अस्थिरता फैलाये हुये हैं। आतंकवादियों ने यहाँ रक्त युद्ध चला दिया है। आतंक के द्वारा हिन्दुओं को कश्मीर छोड़ने को बाध्य किया गया है। पड़ोस के देश कश्मीर घाटी में आशन्ति फैलाने को इच्छुक हैं, इसलिये वे आतंकवादियों को प्रशिक्षण एवं हथियार दे रहे है। सैकड़ों हिन्दू अन्य जगहों पर शरणार्थी के रूप में रह रहे हैं। हिन्दुओं का यह दावा है कि घाटी में जनता द्वारा चुनी हुई सरकार की हुकूमत नहीं चलती, वरन कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट की हुकूमत है जो पूर्णतया उग्रवादी हैं। घाटी में न तो हथियार की कमी है और न ही कुण्ठित युवाओं

की, हिजबुल मुजाहिद्दीन, जम्मू कश्मीर, लिबरेशन फ्रण्ट और लश्करे तैय्यबा आदि संगठन पाकिस्तान द्वारा समर्थित हैं, तथा पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर में उनके कैम्प संचालित हैं, जहाँ उग्रवादियों को प्रशिक्षण और हथियार दिये गये हैं। वे आजाद कश्मीर और कश्मीर के विलय एवं भारत से पृथक होने की माँग करते हैं सब उग्रवादी भारतीय सैन्यशक्ति के विरुद्ध एकजुट है।

जम्मू कश्मीर आतंकवाद के भेट चढ़े अर्धसैनिक बलों के जवानों, निर्दोष हिन्दुओं, कश्मीरी पण्डितों तथा निर्दोष मुसलमानों के खिलाफ विस्तृत तर्क और आँकड़े उग्रवादियों के पास मौजूद हैं। जम्मू कश्मीर की लोकतांत्रिक सरकार केन्द्र सरकार की मदद से कश्मीरी उग्रवादियों के आतंकवाद को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है।

(3) बंगाल, बिहार और आन्ध्र प्रदेश में नक्सलवादी आतंकवाद

नक्सलवादी आतंकवाद की शुरुआत 1967 में पश्चिमी बंगाल में हुई। इस आतंकवाद को प्रशिक्षित करने एवं बढ़ावा देने में चीन की प्रमुख भूमिका थी। चारू मजुमदार भारत में नक्सलवाद को पोषित करने में अग्रणी रहे। यह आन्दोलन भूमिहीन, श्रमिकों की रक्षा करने के लिये प्रारम्भ हुआ। नक्सलवादी जमीनदारों साहूकारों और पुलिस कर्मियों को अपना निशाना बनाते थे और मार डालते थे।

केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल एवं सीमा सुरक्षा बल की सहायता से भारत सरकार ने नक्सलवाद को खत्म करने का संकल्प किया। पहले नक्सलवादी नीति बिहार एवं बंगाल तक सीमित थी, बाद में उनकी गतिविधियाँ आन्ध्र प्रदेश, केरल और उड़ीसा तक फैल गयीं।

नक्सलवादी गतिविधियाँ शोषित निर्धन एवं जनजातियों के लिये होती है। लेकिन अवैधानिक तरीके अपनाकर भय एवं आतंक का माहौल बनाकर वे पूरे जमींदारों, साहूकारों एवं शोषणकर्ताओं की वे हत्या कर देते हैं। सरकार कानून एवं व्यवस्था की समस्या के रूप में नक्सलवाद से निपट रही है।

(4) असम में उल्फा और बोडो आन्दोलन –

असम में आतंकवाद 1980 में उमड़कर सामने आया। यह आन्दोलन विदेशियों को बाहर निकालने के लिये किया गया। आसामियों के पहले से ही विदेशियों को हटाने एवं उनका नाम निर्वाचन सूची से खारिज करने का कार्य आरम्भ कर दिया था। किन्तु सरकार ने जब इस दिशा में कोई कार्यवाही नहीं की तो 1982 में आन्दोलन तेज हुआ और उस वर्ष चुनाव में हजारों लोगों की जान गई। 'पीपुल लिबेरशन आर्मी ऑफ असम', नामक आतंकवादी संगठन ने जन्म लिया। इसके बाद बोडो की समस्या को लेकर "ऑल बोडो स्टुडेण्ट्स यूनियन" "दि यूनाइटेड माइनारिटी फ्रण्ट" और "यूनाईटेड लिबरेशन फ्रण्ट आफ आसाम" द्वारा हत्या लूटपाट और अपहरण की घटना तेजकर दी गई। ये संगठन अलग राज्य की माँग कर रहे हैं और अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार की गतिविधियाँ चला रहे हैं।

वर्तमान में असम में वोर्डों की राज्य की समस्या गम्भीर बनी हुई है। वोर्डों दो संगठनों वोडो विद्यार्थी संगठन और वोर्डो पीपुल्स एक्शन कमेटी के द्वारा अलग राज्य की मांग कर रहे हैं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने अनेक प्रकार की आतंकी गतिविधियाँ चलाई हैं, बाद में वोर्डो लैण्ड असम राज्य में आटोनामर्स कौंसिल स्थापित कर वोर्डो आतंकवाद आन्दोलन समाप्त करने का प्रयास किया गया। पर अब फिर पाकिस्तान की गुप्त संस्था आई.एस.आई. ने उग्रवादियों को भड़काना प्रारम्भ कर दिया है तथा स्वत्रन्त्र वोर्डो लैण्ड के लिये विभिन्न अपहरण लूटपाट तथा अन्य हिंसात्मक क्रियाओं का सहारा लेना प्रारम्भ कर दिया है। यह वोर्डों राज्य का आन्दोलन देश की एकता को धक्का पहुँचाने वाला आन्दोलन है।

भारत में आतंकवाद का एक विश्लेषण

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि भारत में प्रमुख रूप से आतंकवाद के दो पहलू हैं। पहला राजनैतिक आतंकवाद, जिसे पड़ोसी देश अपने मतभेदों और अपने स्वयं के संघर्षों को छिपाने और नागरिकों का ध्यान बँटाने के लिये कर रहे हैं। इसके मुख्य उदाहरण हैं नागाओं और मिजो को चीन की सहायता तथा सिखों और कश्मीरी मुसलमानों को पाकिस्तान की सहायता। इस पक्ष पोषण ने पुलिस एवं अर्धसैनिकों बलों के अतिरिक्त भारत की कुल सेना में से आधे को फंसा रक्खा है, दूसरा है इस्लामी शक्तियों का आतंकवाद। इस्लाम सऊदी अरब से इण्डोनेशिया तक फैला है। इन इस्लामी देशों की रूढ़िवादी शक्तियों ने भारत के अलावा मिस्र, अल्जीरिया, श्रीलंका एवं इजरायली देशों के लिये खतरा उत्पन्न कर दिया है। साम्यवाद के पतन के उपरान्त दक्षिण एशियाई खण्ड में टर्की, ईरान, सऊदी अरब, पाकिस्तान आदि इस्लामी देश धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव से भारत में आंतकवाद के फैलने में महती भूमिका अदा रहे हैं। अभी तक अमेरिका भी परोक्ष रूप से पकिस्तान आदि देशों को इस कार्य में मदद दे रहा था। किंतु अमेरिका के नवनियुक्त राष्ट्रपति ने पहली बार यह महसूस किया कि तालिबान से लड़ने के लिये जो आर्थिक सहायता पाकिस्तान को दी जाती है, उसका उपयोग वह भारत के खिलाफ कर रहा है।

भारत में आतंकवाद के कारण

भारत में आतंकवाद की समस्या विगत दशकों से दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है। फलस्वरूप देश की एकता और अखण्डता को खतरा उत्पन्न हो गया है। आतंकवाद की समस्या के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं।

(i) शिक्षा की सुचारु व्यवस्था का अभाव

(ii) अधिकांश क्षेत्रों में कमजोर आर्थिक स्थिति एवं गरीबी का बोलबाला।

(iii) मनो-सामाजिक तत्व

(iv) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

(v) राजनैतिक कारक

आतंकवाद को समाप्त करने के उपाय

आतंकवादी गतिविधियों की रोकथाम हेतु भारत सरकार ने कई कानूनों की संरचना की। सर्वप्रथम वर्ष 1967 में, विधि विरुद्ध क्रिया-कलाप (निवारण) अधिनियम संख्या 37 सन् 1967 बनाया गया जिसके अन्तर्गत भारत की प्रभुसत्ता एकता और अखण्डता के विरुद्ध क्रिया-कलापों को आपराधिक कृत्य की संज्ञा प्रदान की गई। कालान्तर में जब आंतकी प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं तो वर्ष 1987 में आतंकवादी एवं विध्वंसकारी क्रिया कलाप (निवारण) अधिनियम संख्या 28 सन् 1987 (टाडा) लागू किया गया। प्रारम्भ में इस कानून का प्रवर्तन मात्र दो वर्षों के लिए निर्धारित किया गया था, पर बाद में उसकी अवधि बढ़ाई जाती रही। श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में जब राजग सरकार बनी तो वर्ष 1987 के उपरोक्त अस्थायी कानून की जगह एक स्थायी तथा अपेक्षाकृत कठोर कानून बनाने की आवश्यकता महसूस की गई। इस नये कानून का नाम आतंकवाद निवारण अधिनियम संख्या 15 सन् 2002 रखा गया जिसे संक्षेप में 'पोटा' भी कहते हैं। कतिपय क्षेत्रों में सरकार को यह शिकायत मिली कि पोटा कानून का कहीं-कहीं दुरुपयोग भी किया जा रहा है। परिणाम स्वरूप जब वर्ष 2004 में डा0 मनमोहन सिंह के नेतृत्व में यू0पी0ए0 सरकार सत्ता में आई, तो दिनांक 21 सितम्बर, 2004 को उक्त पोटा कानून केन्द्रीय अधिनियम संख्या 26 सन् 2004 द्वारा निरस्त कर दिया गया।

आतंकी कारगुजारियों पर अंकुश लगाने के लिए यू0पी0ए0 सरकार ने कोई नया कानून बनाना उचित नहीं समझा, बल्कि वर्ष 1967 के अधिनियम संख्या 37 (जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है) में ही व्यापक तथा प्रभावी संशोधन करके आतंकी गातिविधियों पर अंकुश लगाने का प्रयास किया गया है, जो कि पर्याप्त नहीं है।

अन्य उपाय

यह खेद का विषय है कि आतंकवाद संबंधी मामलों में भी राजनीतिक दलों में पारस्परिक मतभेद अभी भी कायम है। जिसे कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। आतंकवाद में लिप्त व्यक्ति सिर्फ अपराधी होता है, वह किसी जाति, धर्म, देश अथवा विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और उसके साथ वैसा ही कठोर व्यवहार किया जाना चाहिए।

असाधारण परिस्थितियों से निपटने के लिए असाधारण तरीकों को अपनाना त्रुटिपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए। इस समस्या को गहराई में दफन करना आवश्यक है, और इसके लिए सरकार को दृढ़ इच्छाशक्ति अपनानी चाहिए।

गुजरात तथा उ0प्र0 की सरकारों ने भी आतंकी प्रवृत्तियों के दमन हेतु अपने-अपने कानून बनाये थे। लेकिन केन्द्र सरकार ने उन्हें अनुमोदित नहीं किया। ऐसे मामलों में राजनीतिक दाँव-पेंच समीचीन नहीं है।

यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि अपराधों की रोकथाम में दण्ड की कठोरता उतनी कारगर नहीं है जितना कि दण्ड का सुनिश्चित होना। पकड़े जाने के पश्चात, अपराधी को सजा अवश्य मिले और जल्दी मिलें, तो अपराध स्वयमेव कम हो जायेंगे।

हमारे देश की न्यायायिक प्रणाली अभी भी पुरानी रफ्तार से ही चल रही है। महात्मा गांधी की हत्या करने वाले गोडसे ने स्वीकार किया था कि उसने हत्या की, फिर भी उस पर कई वर्षों तक मुकदमा चलता रहा। अयोध्या में रामजन्म भूमि का विवाद सन् 1949 से चल रहा है पर अभी उस पर जो फैसला हुआ है उससे समस्या का समाधान होता नहीं दिखाई पड़ता। फांसी का निर्णय हो जाने पर भी दया-याचिका के आधार पर मामला लटकता रहता है। आतंकवाद खत्म करना है, तो इस ढुलमुल नीति को पहले खतम करना होगा।

कुख्यात अपराधियों को पकड़ने में पुलिस को अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उसमें सबसे प्रमुख कारण है मानवाधिकार आयोग। खूंखार आतंकवादियों को पकड़ने व मुठभेड़ में उनकी मृत्यु के उपरान्त भी लम्बे समय तक मानवाधिकार आयोग पूछताछ करता रहता है जिससे पुसिल कर्मियों का मनोबल गिर जाता है।

आतंकवाद को समाप्त करने के कुछ अन्य उपाय

1. पुलिस द्वारा आतंकियों के बारे में सूचना एकत्र करने में नागरिकों का सहयोग लेना।
2. आतंकवादियों के वित्तीय संसाधनों की उपलब्धता की रोकथाम।
3. आतंकवादियों के किसी समूह की किन्ही भी माँगों को अस्वीकार करना।
4. बन्दी आतंकवादियों को शीघ्र न्यायिक दण्ड देना।
5. आतंकवादियों, उनके साथियों, उनके हथियारों एवं आर्थिक स्रोतों को पता लगाने के लिये प्रभावी गुप्तचर संस्थाओं की सहायता लेना।
6. महत्वपूर्ण स्थानों की सुरक्षा व्यवस्था में निरन्तर सुधार।
7. आतंकवादियों से निपटने वाले सशस्त्र बलों को अधिक और अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रशिक्षण देना।

आतंकवाद के निराकरण में समाजकार्य की विधियों का उपयोग

आज राष्ट्रीय स्तर पर समाजकार्य की पहचान तभी हो सकती है जबकि राष्ट्रीय समस्याओं का उसके द्वारा समाधान किया जाय। गांधी जी एक रचनात्मक कार्यकर्त्ता थे, नोवाखाली के दंगे में वे अपनी जान की बाजी लगाकर कूद पड़े तभी सफलता मिली। अतः समाजकार्य कार्यकर्ता को भी आतंकवाद की समस्या के सुलझाव हेतु अपनी जान की बाजी लगानी होगी, समाज कार्य की निम्नलिखित विधियों का उपयोग इस कार्य हेतु किया जा सकता है।

1. **सामाजिक क्रिया** – इस विधि के द्वारा आतंकवाद से ग्रसित क्षेत्रों में जन आन्दोलन चलाया जा सकता है और उसका नेतृत्व सामाजिक कार्यकर्ताओं के द्वारा किया जा सकता है। जब कार्यकर्ताओं द्वारा आतंकवाद के खिलाफ जन आन्दोलन चलाया जायेगा और जनता स्वयं तन मन से आतंकवाद का विरोध करेगी, तो आतंकवाद अपने आप ही समाप्त हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि टाडा एवं पोटा समाप्त हो गया है तो उसके स्थान पर विशेषज्ञों से परामर्श कर किसी अन्य कठोर कानून को लागू करने के लिये सरकार को प्रेरित करना चाहिये।

2. **सामुदायिक संगठन** – इस विधि के प्रयोग से आतंकवाद से ग्रस्त क्षेत्रों में सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के द्वारा सरकारी एवं गैर सरकारी अभिकरणों की मदद से सामुदायिक विकास के उच्चस्तरीय कार्यक्रम चलायां जाना चाहिये, जिसमें स्वरोजगार एवं रोजगार सृजन पर विशेष बल दिया जाना चाहिये, ताकि यदि बेरोजगार युवकों को सही रोजगार मिलेगा तो वे आतंकवाद की ओर अभिमुख नहीं होंगे।

3. **वैयक्तिक सेवाकार्य** – आतंकवाद के कुछ नेता अपने में कुछ विध्वंसकारी प्रवृत्तियों को विकसित कर लेते हैं, और उसके माध्यम से आतंकवाद की ओर अभिमुख होते हैं। समाजकार्यकर्ता यदि वैयक्तिक सेवाकार्य के माध्यम से उनसे सम्पर्क स्थापन कर उनसे विधायी सम्बन्ध बनायेगा, उनकी ईगो को सशक्त बनायेगा, तो वे वास्तविकता की पहचान के योग्य होंगे एवं वैयक्तिक सेवाकार्य की विभिन्न प्रविधियों के द्वारा उनमें परिवर्तन आयेगा तो वे अपने आप इस अपकार्य से विलग होने लगेंगे।

4. **सामाजिक शोध** – किसी विशेष क्षेत्र में आंतकवाद के पनपने के कारणों का यदि समाजकार्य शोध के माध्यम से सही ढंग से निरूपण किया जायेगा तो उन कारणों के निराकरण हेतु समुचित प्रयास किया जा सकता है।

आतंकवाद एक समस्या

आतंकवाद जनसामान्य को हतोत्साहित और विघटित करता है, और समाज को छिन्न भिन्न कर देता है, यद्यपि यह सही है कि कुछ स्थानों पर वह एकीकृत तन्त्र के रूप में भी कार्य करता है और लोगों को एक सार्वजनिक लक्ष्य के लिये एक दूसरे से जोड़ता है। आतंकवाद से कानून एवं व्यवस्था की समस्या खड़ी हो जाती है। अर्थात धार्मिक सम्बद्धता एवं उप सांस्कृतिक अन्तरों के कारण एक समूह द्वारा दूसरे समूह को जान से मारने की धमकी दिये जाने या अपहरण की धमकी दिये जाने के कारण संस्कृति तन्त्र प्रभावित होता है। किन्तु आतंकवाद ऐतिहासिक परिवर्तन को गति देने वाला एक विशिष्ट तरीका नहीं है। किसी आतंकवादी आन्दोलन ने कभी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता नहीं पाई है। इसलिये आतंकवाद ऐतिहासिक घटनाओं की दिशा को निर्धारित नहीं करता।

आतंकवाद की समस्या के मापन हेतु यह जानना आवश्यक है कि आतंकवादियों ने अपने वांछित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कितनी हत्यायें कीं, पुलिस की सुरक्षा बलों ने आंतकवाद रोकने के लिये कितने बल प्रयोग किये। भारत में आतंकवाद को इस परिप्रेक्ष्य में देखने से स्पष्ट होता है कि कुछ समय पूर्व तक एक वर्ष में बिहार में जान से मारने और अपहरण किये गये व्यक्तियों की संख्या पंजाब के आतंकियों द्वारा जान से मारे गये एवं अपहरण किये गये व्यक्तियों की संख्या से अधिक है। आतंक के उपयोग से राज्य की सत्ता को उखाड़ने के परिणामों की भी बात उठ सकती है। यदि यह माना जाय कि हम राजनैतिक, सामाजिक तन्त्रों की सामान्य प्रशासनिक गतिविधियों के अन्तरिम विघटन को स्वीकार कर लेते हैं तो क्या हमें उन्हीं परिणामों का सामना नहीं करना पड़ सकता है, जिनका सामना हम किसी सामाजिक या प्रशासनिक संकट के समय में करते हैं। आतंकवादियों द्वारा जो हत्यायें की जाती हैं, उनका भावनात्मक दृष्टि से भले ही कम महत्व हो, परन्तु गुणात्मक दृष्टि से उनसे एक मानसिक आघात तो लगता ही है। आतंकवादियों द्वारा इंदिरा गांधी और राजीव गांधी की हत्या से हमें ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ा। अतः हमें आतंकवादी गतिविधियों को असफल नहीं मानना चाहिये यद्यपि उनकी सीमित संख्या होने के कारण हम उन्हें पूर्णतया सफल भी नहीं मान सकते हैं। यद्यपि आतंकवादी प्रशासनिक व्यवस्था को ध्वस्त तो नहीं कर पाते हैं पर प्रशासनिक अधिकारियों एवं सत्ताधारियों की वैध क्षमता को कमजोर कर व्यवस्था को प्रतीकात्मक रूप से शिथिल अवश्य बना देते हैं। प्रतीकात्मक परिवर्तन भी आतंकवाद के परिणामों के कारण होते हैं। उत्तेजित भले ही वे न करें पर उनकी अल्पकालिक प्रकृति सामाजिक आंकलन हेतु निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार आंतकवाद का सामाजिक प्रभाव, जो दीर्घकालीन आधार पर समाज को सम्पूर्ण रूप से प्रभावित करता है, किसी भी विश्लेषणात्मक कार्य की पद्धति में मुख्य केन्द्र बिन्दु होना चाहिए।

तथापि आतंक को रोकने के लिये कुछ तन्त्रों की रचना आवश्यक है। आतंकवाद और राजनैतिक हिंसा आज भारतीय समाज में अभिशाप बन गये हैं। दोनों ही कारक देश की अराजकता को अस्त-व्यस्तता की ओर ले जा रहे हैं। आतंकवादी धर्म एवं क्षेत्र के नाम पर या भाषा और संस्कृति के नाम पर हत्या करते हैं। अब समय आ गया है जब कि जनसामान्य में, विशेषकर युवाओं में व्यापक कुण्ठा और वंचना की भावना को रोका जाय।

आतंकवाद से जनित समस्याओं का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

1. **धार्मिक समस्यायें** – आज आतंकी दूसरे धर्म वालों के पूजा स्थलों में घुसकर वहाँ अर्चन-पूजन करने वाले धर्म गुरुओं की हत्या कर रहे हैं, इस प्रकार धार्मिक उत्पीड़न एवं आतंकवाद फैला रहे हैं।
2. **सांस्कृतिक समस्यायें** – भारत के विभिन्न भागों में हिन्दू और मुस्लिम एक साथ एक गंगा-जमुनी संस्कृति के तहत जीवन व्यतीत करते हैं, किन्तु जब आतंकवादी मुस्लिम,

हिन्दुओं की हत्या करने लगते हैं, उनके मन्दिरों पर बम फेंकने लगते हैं तो गंगा-जमुनी संस्कृति को आघात पहुँचता है और परस्पर वैमनस्यता बढ़ती है।

3. **सामाजिक समस्यायें** – कभी-कभी आतंकवादी एक विशेष भाषा एवं जाति के लोगों का उत्पीड़न और हत्या करते हैं। अतः उक्त जाति के लोगों का दूसरी जाति के लोगों के प्रति आक्रोश एवं विद्वेष विकसित होता है। फलस्वरूप सामाजिक एवं अन्य समस्यायें जनित होती हैं।

4. **आर्थिक उत्पीड़न** – विशेषकर नक्सलवादी आर्थिक रूप से सम्पन्न व्यक्तियों की हत्या करते हैं और उनकी सम्पत्ति को लूटकर उन्हें सम्पत्तिविहीन बना देते हैं ऐसे व्यक्तियों के मन में जाति विशेष के आतंकियों के प्रति विशेष आक्रोश जनित होता है।

5. **सामूहिक हिंसा एवं बलात्कार** – आतंकवादी कुछ क्षेत्रों में जाकर एक विशेष धर्म एवं जाति के लोगों की न केवल सामूहिक हिंसा करते हैं वरन् उनकी बहन-बेटियों के साथ बलात्कार भी करते हैं। फलस्वरूप एक नृशंसता का वातावरण जनित होता है।

6. **समाज में भय एवं आतंक का जनन** – आतंकवादियों द्वारा की गई बमबारी लूटपाट तथा सामूहिक हिंसा के फलस्वरूप सम्पूर्ण समाज में एक भय का वातावरण जनित होता है तथा सामान्य आर्थिक क्रिया-कलापों में बाधा जनित होती है।

7. **सम्पत्ति का अधिग्रहण एवं पलायनवाद को बढ़ावा** – कश्मीरी आतंकवादियों ने न केवल कश्मीरी पण्डितों के घरों पर कब्जा कर लिया है, उनके सेब अंगूर के बागानों का अधिगृहण कर लिया है, वरन् उन्हें कश्मीर से अन्यत्र पलायन को भी बाध्य किया है। फलस्वरूप एक लम्बे समय से कश्मीरी पण्डित दिल्ली में शरणार्थियों का जीवनयापन कर रहे हैं।

8. **राजनैतिक उलट फेर एवं सत्ता का अधिग्रहण** – पंजाब में उग्रवादियों ने खालिस्तान की स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्वतंत्रता हेतु आतंक और भय को बढ़ावा दिया वरन् इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु एक मुख्यमंत्री की हत्या भी कर दी। दूसरी ओर कश्मीरी उग्रवादी तो कश्मीर को भारत से अलग करने एवं उसे पाकिस्तान में मिलाने के लिये अलगाववादी आन्दोलन चला रहे हैं। उनके प्रभाव से वहाँ पर जनतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार असहाय पड़ी हुई है, कश्मीर में सरकार तन्त्र पर भी बहुत अंश में आंतकवादियों का नियन्त्रण हो गया है और अप्रत्यक्ष रूप से प्रायः उन्हीं के आदेशानुसार सरकार चलती है।

इस प्रकार देश के कुछ क्षेत्रों में आतंकवाद ने जनजीवन एवं राजनैतिक सत्ता को झकझोर दिया है।

अध्याय-24

बाल श्रम

बालश्रम की अभी तक कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं विकसित हो पायी है। तथापि आई. एल.ओ. ने बालश्रम की परिभाषा में निम्नलिखित बिन्दुओं को इंगित किया है।

बाल श्रमिक वे श्रमिक हैं जो अपरिपक्व स्थिति में ही युवा बनकर जीवनयापन करते हैं, उन्हें अपेक्षाकृत कम वेतन पर लम्बे समय तक कार्य करना पड़ता है। उनकी कार्य दशाएँ न केवल उनके स्वास्थ्य को प्रभावित करती है, वरन् उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास को भी प्रभावित करती है, बहुत सी परिस्थितियों में उन्हें परिवार से भी अलग कर दिया जाता है। अधिकांश स्थितियों में वे अर्थपूर्ण शिक्षण एवं प्रशिक्षण से भी वंचित रह जाते हैं, फलस्वरूप अपेक्षाकृत अच्छे भविष्य के अवसरों को खो देते हैं।

भारत सरकार द्वारा गठित एक कमेटी के अनुसार बाल श्रमिकों की कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जो राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत हो (रिपोर्ट ऑफ दी कमेटी आन चाइल्ड लेबर, मिनिस्ट्री आफ लेबर गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया 1979)। किन्तु 'बालश्रम' को परिभाषित करते समय 'बाल' एवं श्रम दोनों का अलग-अलग अर्थ निरूपण आवश्यक है। बच्चे का अर्थ जन्म से वर्तमान समय तक उसकी उम्र से है, 'श्रम' का अर्थ व्यक्ति के उपार्जन की क्षमता से लगाया जा सकता है। अतः बालश्रम कार्य की वह स्थिति है जिसमें बालक को कार्य के बदले कुछ आर्थिक लाभ मिलता है अथवा उसके परिवार का नियोक्ता को कुछ आर्थिक लाभ मिलता है, किन्तु इस प्रकार का कार्य उसके (बालक के) शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक विकास हेतु बाधक होता है।

वी.वी. गिरी के अनुसार बालश्रम एक आर्थिक व्यवहार एवं सामाजिक व्याधि है। जहाँ तक बाल श्रम के आर्थिक व्यवहार का संबंध है, यह बात विवादास्पद है कि घरों की सफाई, पशुपालन एवं कृषि संबंधी क्रिया कलाप भी उसके अंतर्गत सम्मिलित किए जा सकते हैं या नहीं किए जा सकते हैं। जहाँ तक बालक की आयु का संबंध है असंगठित क्षेत्र में वह आज भी अपरिभाषित हैं। सामान्य रूप ये यह कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति एडल्टहुड की प्राप्ति नहीं किए हुए है तो वह बालक है। किन्तु संगठित क्षेत्र में कोई व्यक्ति चौदह वर्ष तक की आयु का है तो वह बालक है। विशेषकर कारखाना अधिनियम 1948 में बालश्रम की यही परिभाषा है। बालश्रम उन्मूलन एवं विनियमन अधिनियम 1986 के अंतर्गत भी चौदह वर्ष से कम आयु के बालकों का कार्य निरुद्ध किया गया है।

सब कुछ मिलाकर बालश्रम की परिभाषा में निम्नलिखित बिन्दुओं को सम्मिलित किया गया है :-

(1) बाल श्रमिक वह व्यक्ति है जो किसी ऐसे कार्य में नियोजित है, जिसके द्वारा वह स्वयं कुछ धनोपार्जन या हित लाभ अर्जित करता है, अथवा यह लाभ उसके परिवार या उसके नियोक्ता को प्राप्त होता है।

(2) अधिकांश स्थितियों में यह कार्य उसके मानसिक, सामाजिक या शारीरिक विकास में बाधा उत्पन्न करता है।

(3) असंगठित क्षेत्र में बाल श्रमिकों की उम्र की कोई सीमा नहीं है। सामान्यतः कोई व्यक्ति एडल्टहुड की अवस्था के पूर्व किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा नियुक्त होकर उसकी आज्ञानुसार कार्य करता है तो वह बाल श्रमिक कहलाता है। किन्तु संगठित क्षेत्र में कार्य करने वाले बालकों की आयु सीमा निर्धारित होती है। भारतीय संविधान, कारखाना अधिनियम 1948 तथा बालश्रम उन्मूलन एवं विनियमन अधिनियम 1986 के अनुसार किसी भी प्रतिष्ठान में 14 वर्ष से कम आयु का बालक कार्य नहीं कर सकता।

बाल-श्रम के प्रसार

आई.एल.ओ. के एक प्रतिवेदन के अनुसार 5 वर्ष से 14 वर्ष तक आयु सीमा के बीच विकासशील देशों में 250 मिलियन बालक रोजगाररत हैं। उनमें से भी 120 मिलियन बालक पूर्णकालिक रूप से कार्य करते हैं। भौगोलिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि एशिया के देशों में कुल बाल श्रमिकों के 61% श्रमिक कार्यरत हैं, अफ्रीका में 32% तथा लैटिन अमेरिकी देशों में 7% बाल श्रमिक कार्यरत हैं। भारत में बाल श्रमिकों की संख्या के बारे में अधिकारिक आँकड़े अति विषम हैं, कुल बालकों की संख्या के लगभग 20% बालक बालश्रम के रूप में कार्यरत हैं। भारत में बाल श्रमिकों के बारे में अधिकारिक आँकड़े उपलब्ध नहीं है। केवल देश में प्रति 10 वर्षों के उपरान्त जो जनगणना होती है उसी आधार पर कुछ तथ्य उपलब्ध है। 1971 की जनगणना के अनुसार देश में 10.7 मिलियन बाल श्रमिक थे। 1981 की जनगणना के अनुसार बाल श्रमिकों की संख्या 13.6 मिलियन थी। 1981-91 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन ने एक सर्वेक्षण के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था कि कार्यकारी बालकों की संख्या 17.02 मिलियन (1987-88) थी। किन्तु 1991 की जनगणना से ज्ञात हुआ कि कार्यकारी बालकों की संख्या हमारे देश में 11.24% थी। स्पष्ट है कि ऐसे बालकों की संख्या में कुछ कमी आ रही है। इस संबंध में राज्यवार आँकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि आंध्रप्रदेश में 1.66 मिलियन (1991), उ0प्र0 में 1.41 मिलियन, मध्य प्रदेश में 1.3 मिलियन और महाराष्ट्र में 1.06 मिलियन बाल श्रमिक थे। किन्तु 2001 की जनगणना के अनुसार देश में कुल 20% बाल श्रमिक थे।

कारण

बाल श्रम का मुख्य कारण गरीबी, अशिक्षा और बेरोजगारी है। औद्योगिक अर्थव्यवस्था एवं ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बाल श्रम के विकास की गति में कुछ अंतर है। बालश्रम का विकास औद्योगिक अर्थ व्यवस्था में उसके प्रारंभ काल से ही हुआ। इसका मुख्य कारण यह है कि औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में नियोक्ता उत्पादन की मजदूरी लागत को सदैव कम करना चाहते हैं, चूँकि एक ही काम के लिए युवा श्रमिक को अधिक मजदूरी और बाल श्रम को कम मजदूरी देनी होती है। अतः नियोक्ता यथासंभव बालश्रम को ही वरीयता देते हैं। किन्तु ग्रामीण अर्थव्यवस्था में बहुत से बालक अपने माँ-बाप को घरों एवं खेती के कार्य में सहायता देते हैं। यद्यपि ऐसे बच्चे बाल मजदूर तो नहीं कहे जा सकते, किन्तु उनके कार्य का स्वरूप बाल मजदूर का ही रहता है। नगरीय एवं औद्योगिक अर्थव्यवस्था में एक ही व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपनी आय या उपार्जन के द्वारा संपूर्ण परिवार का भरण-पोषण कर सके, ऐसी स्थिति में उनकी स्त्रियों एवं बालकों को भी कुछ कार्य कर धनोपार्जन करना आवश्यक हो जाता है।

बाल श्रम का एक महत्वपूर्ण कारक है परिवार के उपार्जन करने वाले व्यक्ति का आंशिक या पूर्ण रूपेण बेरोजगार रहना। ऐसे परिवारों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बालकों को भी कार्य करना पड़ता है। बाल श्रम की उत्पत्ति हेतु हमारी सामाजिक संस्कृति भी जिम्मेदार है। प्रारंभ से ही हमारे समाज में निम्न स्तर के परिवारों के बच्चों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। जब वे बड़े होते हैं तो अपने परिवार के धंधे में ही प्रशिक्षित हो जाते हैं। औद्योगीकरण के प्रभाव से जब पारिवारिक धंधे समाप्तप्राय हैं और लोग औद्योगिक क्षेत्रों में जाकर कार्य करने लगे हैं तो उनके बालकों को भी कहीं अन्य कार्य की अपेक्षा होती है, क्योंकि पारिवारिक रोजगार तो उन्हें आता ही नहीं।

एक अन्य महत्वपूर्ण अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि 23% बाल श्रम की उत्पत्ति उनके परिवार के उपार्जक सदस्य की मृत्यु के कारण हुई, 46% बाल श्रम की उत्पत्ति परिवार की दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण हुई, 19% बालक इस कारण बाल श्रमिक का कार्य करते हैं कि उनकी इच्छा-शक्ति आत्मनिर्भर बनने की है, 15% बालक अपने शैक्षणिक व्यय पूर्ति हेतु कार्य करते है, 4% बालक अपने माता-पिता की आर्थिक सहायता हेतु कार्य करते हैं, और 3% बालक स्कूल जाने के डर से कोई अन्य कार्य करते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य हेतु बालक आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। यह बात सामान्य सी है कि ग्रामीण कृषकों एवं अन्य ग्रामीणों के बालक जब स्कूल जाते हैं तो वहाँ से आने पर घरेलू कार्यों या कृषि कार्यों में माता-पिता का हाथ बँटाने लगते हैं। हरित क्रांति वाले क्षेत्रों में जहाँ पैदावार बहुत होती है, माता-पिता बच्चों को स्कूल न भेजकर खेतों में ही उनसे कार्य कराते हैं। अधिकांश स्थितियों में ऐसा भी होता है कि ग्रामीण पुरुष कहीं बाहर भट्ठे पर या अन्य

स्थान पर कार्य हेतु चले जाते हैं और घर के समस्त कार्यों को बच्चों को करना पड़ता है। यद्यपि ये कार्य विशेष उत्पादक या लाभार्जक नहीं होते हैं, तथापि बच्चों को उन कार्यों को करना ही पड़ता है।

सेकेन्ड्री सेक्टर में बच्चों के कार्य हेतु अधिक संभावना रहती है। इम्ब्रायडरी आदि कुछ ऐसे कार्य होते हैं, जो नरम हाथों से किए जाते हैं और बालकों को यदि इन कार्यों में लगाया जाता है तो उन्हें सफलता प्राप्ति के अधिक अवसर उपलब्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार चाय बगानों में चाय की पत्तियाँ नरम हाथों से तोड़ी जाती है, वहाँ भी बालश्रम अधिक उपयोगी होता है। इन कारकों से आज बाल श्रम की मांग दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

नगरीय क्षेत्रों में माता या पिता यदि बीमारी के उपचार हेतु कर्ज लेते हैं और चिकित्सोपरान्त भी स्वस्थ्य नहीं हो पाते हैं तो कर्ज चुकाने के लिए अपने बालकों को कार्य पर भेजते हैं।

भारत में नगरीय लघु क्षेत्रीय उद्योग एवं ग्रामीण उत्पाद असंगठित क्षेत्र के अंतर्गत आता है। इन सब स्थानों में किसी वैधानिक प्रावधान के अभाव में बाल श्रमिकों और अन्य श्रमिकों को बहुत लम्बी अवधि तक न्यूनतम मजदूरी से भी कम मजदूरी पर कार्य करना होता है। कार्य करने वाले मजदूरों की उम्र की कोई बाध्यता तो होती ही नहीं है। अतः ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय लघु स्तरीय उद्योगों में बड़े पैमाने पर बाल श्रमिक कार्य करते हैं।

बाल श्रमिकों के प्रकार

यूनिसेफ ने बाल श्रमिकों के कार्य को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है, जो निम्नलिखित हैं :-

1. परिवार के भीतर कार्यरत बाल श्रमिक--बहुत से बालक किसी नियोक्ता द्वारा नियुक्त होकर कार्य तो नहीं करते हैं, किन्तु घर के सभी कार्य जैसे पशुओं की सेवा, चारा काटना, कृषि कार्य में माता-पिता का हाथ बँटाना तथा अन्य बहुत से कार्य करते हैं, फलस्वरूप वे स्कूल नहीं जाते हैं।
2. कुछ बालक परिवार का कार्य तो नहीं करते हैं, किन्तु अपने माता-पिता के साथ या तो खेतों में काम करते हैं या अन्य किसी प्रकार का कांसट्रक्सन का कार्य करते हैं।
3. कुछ परिवार के बाहर दूसरे नियोक्ताओं द्वारा नियुक्त होकर लघु तथा कुटीर उद्योगों में, दूकानों में, रेस्टोरेंट्स में, प्रशिक्षु श्रमिक या बंधुआ श्रमिक के रूप में कार्य करते हैं, या दूसरों द्वारा नियुक्त होकर भिक्षाटन का कार्य करते हैं।

कुछ दूसरे विशेषज्ञों ने बाल श्रमिकों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया है :-

(1) कुछ बालक स्वरोजगाररत होकर या तो अखबार बेचते हैं या गाड़ियों की सफाई करते है, या जूता पालिस या इसी प्रकार के कार्य करते हैं।

(2) कुछ बच्चे गाँवों से शहरों में परिव्रजित हो जाते हैं और उनका स्कूल जाना छूट जाता है तथा कूड़ा बीनना या अन्य छोटे कार्य कर जीवनयापन करते हैं।

(3) कुछ बालकों को उनके माता-पिता कुछ ऋण के बदले बंधक रख देते हैं और ऐसे बालक आजीवन दूसरों के आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं।

(4) सड़क पर रहने वाले बच्चे ऐसे बच्चे होते हैं, जिनका परिवार तो रहता है, किन्तु वे अपना पूरा समय सड़कों पर बिताते हैं। वे भीख माँग कर या कूड़ा बीन कर जीवनयापन करते हैं।

(5) कुछ बालक अपने परिवार को छोड़कर सड़कों पर ही रहते हैं और या तो वहीं या सड़कों पर सो जाते हैं तथा भिक्षाटन कर या दूसरों का छोटा-मोटा कार्य कर जीविकोपार्जन करते हैं।

(6) कुछ माता-पिता जानबूझकर अपने बालकों को त्याग देते हैं और वे किसी प्रकार कुछ करके अपना जीवनयापन करते हैं।

(7) बालिका श्रमिकों की स्थिति और भी दयनीय है। वे दूसरों के घरों में कार्य करती हैं और उनका भांति-भांति की शोषण किया जाता है।

(8) सामान्य रूप से बहुत से बालक ऐसे परिवारों से संबंध रखते हैं- जहाँ उच्च कोटि की गरीबी, अशिक्षा है, प्रजनन दर बहुत ऊँची है, संपदा विहीनता तो रहती है और स्वास्थ्य शिक्षा तथा कल्याण की सीमान्त सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं रहती हैं।

कार्य दशाएँ

बाल श्रमिकों के बारे में ऐसे बहुत कम अध्ययन हुए हैं, जिनमें नगरीय क्षेत्रों में उनकी कार्य दशाओं की जानकारी प्राप्त की गई हैं सामान्य रूप से उन्हें बहुत लंबे समय तक कार्य करना पड़ता है। इनके कार्य की दशाएँ अति दयनीय होती हैं। उन्हें कोई शैक्षणिक सुविधा उपलब्ध नहीं होती है। उन्हें कई पेशों में काम करना पड़ता है, जैसे- घरेलू नौकर के रूप में, रेस्टोरेन्ट में, घरेलू उद्योगों में, दूकानों में और दरी बुनने वाले कारखानों में।

ढाबा और मोटर गैरेज में बाल श्रमिकों को विशेष समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में बम्बई में किये गये एक अध्ययन से यह तथ्य ज्ञात हुआ कि बाल श्रमिकों को ढाबों में कम से कम 10 घण्टे काम करना पड़ता है और उन्हें 80 रुपया प्रतिमाह मजदूरी प्राप्त होती है। वैसे देश के बहुत से ढाबों में बाल श्रमिकों को 100 रुपया प्रतिमाह मजदूरी दी जाती है, किन्तु इनसे न केवल बहुत देर तक कार्य लिया जाता है, वरन उनका शारीरिक शोषण भी किया जाता है। उच्च अधिकारी उनके साथ होमोसेक्सुअलिटी करते हैं।

भदोही के कालीन उद्योग में 7500 बाल श्रमिक कार्य करते हैं, किन्तु इनकी कार्य दशायें इतनी खराब हैं कि आये दिन वे श्वास की बीमारी से ग्रस्त हो जाते हैं।

बिल्लोर तथा मध्य प्रदेश के अन्य औद्योगिक प्रतिष्ठानों में बाल श्रमिकों को पूरे दिन तम्बाकू के धुँए में श्वांस लेना पड़ता है और वे टी.बी. की बीमारी से ग्रस्त हो आते हैं।

मुरादाबाद के ब्रासवेयर इण्डस्ट्री में बाल श्रमिकों को अनेक प्रकार की श्वांस की बीमारियाँ हो जाती हैं। सूरत के हीरों की कटाई एवं जयपुर के हीरा की पालिस करने वाले उद्योग में तथा लखनऊ के जरी और इम्ब्रायडरी उद्योग में कार्य स्थल पर वेंटिलेशन की ऐसी बुरी व्यवस्था है कि बाल श्रमिकों की आँखें बहुत शीघ्र ही खराब होने लगती हैं।

शिवकाशी की दिया सलाई उद्योग में भूमिहीन परिवारों के लगभग 4500 बालक कार्यरत हैं। उन्हें प्रातःकाल से देर रात्रि तक काम करना पड़ता है और केवल 2 रुपया 50 पैसा प्रतिदिन पारिश्रमिक दिया जाता है।

अलीगढ़ के लाख उद्योग में वाराणसी, मुरादाबाद तथा देहली के मेटल उद्योग में लगभग 7000 बाल श्रमिक कार्य करते हैं। इन स्थानों पर रासायनिक धुँए उनकी श्वसन प्रणाली को और आग की लव उनकी आँखों को प्रभावित करती हैं। कलकत्ता के मशीन निर्माण करने वाले फाउन्डी शाप में बहुत अधिक संख्या में बालकों को कार्य हेतु लाया जाता है और दिनभर उन्हें मिट्टी और ग्रीस आदि के साथ कार्य करना पड़ता है। पावर लूम उद्योगों में कार्यरत बालक रुई के गर्द गुबार के कारण ब्रांकाइटिस और ट्यूबरक्यूलोसिस का शिकार हो जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में मशीनीकृत कार्यों में जो बालक कार्य करते हैं, वे बहुत सी स्थितियों में थ्रेशर आदि मशीनों से दुर्घटनाग्रस्त हो जाते हैं, इनके अतिरिक्त उन्हें बहुत तेज धूप में काम करना पड़ता है तथा सिरदर्द एवं अन्य बीमारियों के भी वे शिकार होते रहते हैं।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि बाल श्रमिकों की कार्य स्थिति लघु उद्योगों, खदानों एवं कृषि क्षेत्र में अति दयनीय है।

सुधार हेतु तीन स्तरीय कार्यक्रम

भारत सरकार के श्रम मंत्रालय द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों में बाल श्रमिकों की समाप्ति एवं पुनर्स्थापन हेतु कुछ प्रावधान किये गए हैं। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने बालश्रम के बारे में एक राष्ट्रीय नीति का भी निर्माण किया है, जिसकी अधिघोषणा अगस्त 1987 में की गई, यह नीति निम्नलिखित तीन स्तरीय क्रियाकलापो पर आधारित है :-

(1) कानूनी प्रावधान :

केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों से अपेक्षा की जाती है कि विभिन्न अधिनियमों में बालश्रम के हेतु जो प्रावधान किये गये हैं, उन्हें कड़ाई से लागू करें, जैसे- बाल श्रम उन्मूलन एवं नियमन अधिनियम 1986, कारखाना अधिनियम 1948, खदान अधिनियम 1952। केन्द्रीय सरकार के द्वारा बाल-प्राविधिक सलाहकार समिति का गठन इस उद्देश्य से किया गया कि विभिन्न

अधिनियमों में बाल श्रम हेतु प्राविधिक प्रावधानों को लागू करने के विषय में सम्बन्धित सरकारों को उचित परामर्श दे।

(2) बाल श्रम के कल्याण हेतु विकसित अभिकरणों के अन्तर्गत किया जाने वाला कार्य :

राजकीय अभिकरणों से बालकों के लिए यह अपेक्षा की जाती है कि व्यापक स्तर पर राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रमों का आयोजन करें। ऐसे कार्यक्रम शिक्षा, स्वास्थ्य, बाल पोषण, एकीकृत बाल विकास कार्यक्रम तथा बाल श्रम के रोजगार एवं आय अर्जन से सम्बन्धित होते हैं।

(3) परियोजनाओं पर आधारित योजना :

कुछ स्थानों पर बाल श्रम बहुत अधिक संख्या में कार्यरत है और एक लम्बे समय तक उन्हें कार्य करने की सम्भावना है, ऐसे स्थानों पर बाल-श्रम के शिक्षण एवं स्वास्थ्य-रक्षण के बारे में सरकार द्वारा विशेष परियोजनाओं के संचालन की अपेक्षा की जाती है। इसी प्रकार कुछ ऐसे बाल श्रमिक हैं जो बहुत ही खतरनाक उद्योगों में कार्यरत थे और वहाँ से उन्हें किसी प्रकार निकाला गया। ऐसे श्रमिकों के शिक्षण एवं प्रशिक्षण हेतु विशेष परियोजनाओं के संचालन की अपेक्षा सरकार से की जाती है और इस प्रकार के प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले बालकों को कुछ विशेष स्टाइपेण्ड देने की व्यवस्था भी सरकार से की जाने की आशा होती है।

बाल श्रमिकों के पुनर्स्थापन हेतु किये गये प्रयास

(1) केन्द्रीय श्रम मंत्रालय ने 26 सितम्बर 1994 में बाल श्रम की समाप्ति हेतु एक राष्ट्रीय प्राधिकरण का गठन किया (नेशनल एथारिटी फार एलीमिनेशन आफ चाइल्ड लेबर)। इस प्राधिकरण का मुख्य उद्देश्य यह था कि उपयुक्त संयन्त्रों के माध्यम से खतरनाक पेशों में काम करने वाले बाल श्रमिकों को उन स्थानों से हटाया जाये और विशेष विद्यालयों के माध्यम से उनका पुनर्स्थापन किया जाए।

(2) केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय ने वी.वी. गिरि, राष्ट्रीय संस्थान नोयडा में बाल श्रमिक हेतु एक राष्ट्रीय संसाधन केन्द्र का गठन 1993 में किया। उस केन्द्र का मुख्य उद्देश्य था, बाल श्रमिकों के बारे में डाटा बेस तैयार करना और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को बाल श्रमिकों के सम्बन्ध में समुचित योजनाओं के निर्माण में मदद करना।

(3) भारत सरकार ने 1992 में आई.एल.ओ. के साथ एक मेमोरैण्डम आफ अण्डरस्टैंडिंग पर हस्ताक्षर किया। इसका उद्देश्य था बाल श्रमिकों की समाप्ति हेतु राष्ट्रीय कार्यक्रमों का संचालन। इसके साथ ही बाल श्रम से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयों हेतु एक नेशनल स्टीयरिंग कमेटी का गठन किया :-

(i) बाल श्रम हेतु परियोजनाओं का प्रारूप एवं मूल्यांकन।

(ii) समुदाय एवं राष्ट्रस्तर पर बाल श्रम की पहचान।

(iii) बालश्रम की समाप्ति हेतु सामाजिक चेतना कार्यक्रम का निर्माण।

उच्चतम न्यायालय ने अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह कहा है कि संविधान की धारा 24 के प्रावधानों के अन्तर्गत बालकों को शोषण के विरुद्ध मौलिक अधिकार प्राप्त है और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करे।

संयुक्त राष्ट्र संघ की एक ट्रीटी शिक्षा के अधिकार से सम्बन्धित है जिसे 195 देशों ने 1991 में एक कनवेंशन के रूप में अपनाया था और भारत में इस कनवेंशन को 1997 में लागू किया था। शिक्षा के अधिकार के बारे में यह एक महत्वपूर्ण ट्रीटी है, जिसके द्वारा बाल श्रमिकों को सभी प्रकार के शोषण से संरक्षण प्रदान किया गया है। इस ट्रीटी के क्रियान्वयन से भारत में बाल श्रमिकों के बारे में एक जनजागृति उत्पन्न हुई।

बाल श्रम की समाप्ति हेतु वैधानिक प्रयास

बालकों के संरक्षण एवं कल्याण के प्रावधान हमारे संविधान में किया गया है और सरकार ने भी कुछ कानूनों के माध्यम से इस दिशा में कुछ महत्वपूर्ण प्रयास किया, जिसके द्वारा बाल श्रम के प्रतिबन्धन का प्रावधान हुआ है साथ ही उनके कल्याण एवं पुनर्स्थापन का प्रावधान कुछ अधिनियमों के द्वारा किया गया। कारखाना अधिनियम 1948, खदान अधिनियम 1952 तथा बाल अधिनियम 1951 के द्वारा बाल श्रमिकों को कार्य से प्रतिबन्धित किया है। इन अधिनियमों के द्वारा बाल श्रम के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। 1986 में बालश्रम उन्मूलन एवं विनियमन अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम में बाल श्रम की उम्र निर्धारित की गई और विभिन्न प्रतिष्ठानों में कार्यरत बाल श्रम के विनियमन-कार्य का प्रावधान किया गया है तथा वैधानिक प्रावधानों के क्रियान्वयन हेतु सरकारी संयन्त्र की भी स्थापना की गई, यद्यपि अधिनियम अतिव्यापक है किन्तु बाल श्रम एक सामाजिक दोष है। बाल श्रम का मुख्य कारण घोर दरिद्रता और परिवार के प्रौढ़ सदस्यों को रोजगार प्राप्ति के अवसरों का अभाव है। जब तक ये समस्यायें नहीं सुलझती हैं, बाल श्रम के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं अर्जित हो सकती है।

बाल श्रम की समस्या को सुलझाने हेतु कुछ अन्य सुझाव :–

(1) न्यूनतम रोजगार गारण्टी अधिनियम को प्राथमिकता के आधार पर लागू किया जाना चाहिए। कम से कम देश के उन जनपदों में जहाँ घोर निर्धनता है, इन योजनाओं को तो लागू ही किया जाना चाहिये। जब इस श्रम से परिवार की गरीबी समाप्त हो जाएगी तो अपने आप माता-पिता बालक से काम न कराकर उसे स्कूल भेजेंगे।

(2) आज के समय में हम यह आशा नहीं कर सकते कि निर्धनता शीघ्र दूर हो जायेगी, अतः बालश्रम के प्रतिबन्धन हेतु वैधानिक प्रावधानों का ही विशेष रूप से सहारा लिया जा सकता है।

(3) बालश्रम एक सामाजिक समस्या है, अतः सामाजिक क्रिया के माध्यम से इस समस्या के प्रति समाज में जनचेतना उत्पन्न करने का प्रयास किया जाना चाहिये।

(4) प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रमों को भी प्रभावी ढंग से लागू किया जाना चाहिये, इस कार्यक्रम के माध्यम से प्रौढ़ों की बाल श्रम के प्रति जनित अभिवृत्तियों में परिवर्तन लाया जा सकता है।

(5) समुचित वैधानिक प्रयासों के द्वारा बाल विवाह को कड़ाई से प्रतिबन्धित किया जाना चाहिये।

(6) बाल श्रम को पुनर्स्थापन कार्यक्रम में राज्य का पहला प्रयास यह होना चाहिए कि सरकार एवं एन.जी.ओ. यथासंभव बालश्रम को खतरनाक कार्यों से मुक्ति दिलाये और उनके शिक्षण तथा प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करे।

(7) बालश्रम की मुक्ति के पश्चात ऐसे बच्चों को शिक्षा हेतु केवल निःशुल्क व्यवस्था, पुस्तकों एवं दोपहर के भोजन की ही व्यवस्था नहीं होनी चाहिए वरन उन्हें समुचित छात्रवृत्ति भी दी जानी चाहिये, ताकि बच्चे अधिक उत्साहित होकर स्कूल में पढ़े।

(8) राजकीय एवं स्वैच्छिक अभिकरणों के द्वारा समय-समय पर अधिक विश्वसनीय सर्वेक्षण कर इस बात का पता लगाते रहना चाहिये बाल श्रमिकों की वास्तविक संख्या क्या है ताकि समस्या की समाप्ति एवं बाल श्रम के पुनर्स्थापन हेतु नये सिरे से प्रयास किये जा सकें।

(9) पूरे देश में और सभी सम्बन्धित अधिनियमों में बाल श्रम की एक ही उम्र निर्धारित होनी चाहिए।

(10) बाल श्रम उन्मूलन एवं विनियमन हेतु समय से नियमों एवं विधि विशेषज्ञों और सलाह कारिकी समिति गठित होनी चाहिये, जो इस समस्या के और प्रभावी समाधान हेतु समय-समय पर अपना सुझाव देती रहे।

(11) बाल श्रम उन्मूलन कार्यक्रम में सरकार की सीधी भागीदारी बहुत बड़े पैमाने पर नहीं होनी चाहिये, वरन स्वैच्छिक अभिकारकों को इस सम्बन्ध में कार्य हेतु सरकार द्वारा बढ़ावा मिलना चाहिए।

(12) बाल श्रमिकों से सम्बन्धित अधिनियमित प्रावधानों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को कड़ा दण्ड देना चाहिये।

(13) बाल श्रम के नियोक्ताओं को सरकार द्वारा इस प्रकार बाध्य किया जाना चाहिये कि वे ऐसे श्रमिकों के अध्ययन और स्कूलों की भी व्यवस्था करें।

(14) बाल श्रमिकों के परीक्षण- हेतु कड़ा प्रावधान होना चाहिये।

(15) राज्य एवं स्वैच्छिक अभिकारकों को अधिक से अधिक रोजगार के अवसरों को निर्मित

करने का प्रयास करना चाहिये, ताकि अधिक से अधिक लोगों को रोजगार मिले, उनकी निर्धनता समाप्त हो और वे अपने बच्चों को मजदूरी करा कर धनोपार्जन की इच्छा न करें।

(16) परिवार नियोजन के कार्यक्रम को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जाना चाहिये।

(१७) राष्ट्रीय स्तर पर एक बाल श्रम संस्थान की स्थापना होनी चाहिये जो बालश्रम के उन्मूलन एवं बालकों के मानसिक, शारीरिक एवं सामाजिक विकास हेतु कार्य कर सके।

अध्याय-25

बन्धुआ मज़दूर

पुरानी प्रथा

अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्ति को सदैव अपने बन्धन में रखने वाला व्यक्ति स्पष्ट रूप से मनुष्य के प्रति मनुष्य द्वारा किये जाने वाले निर्दयतापूर्ण व्यवहार का द्योतक है। यह किसी विशेष क्षेत्र या देश तक ही सीमित नहीं है बल्कि सदियों से एक सार्वभौमिक सत्य के रूप में विद्यमान है जो प्रारम्भिक बाइबिल युग से आज तक चला आ रहा है। नाम शैली (nominculture) समय और स्थान के आधार पर अवश्य बदली हुई मिलती है- गुलाम (slave), दास (serf), कृषि दास (villein), और बन्धुआ मज़दूर (bonded labour)। भारत में वर्षों तक इस प्रकार का मानव शोषण 'बेगार' या 'रयोट' (Ryot) के नाम से चलता रहा। 'बन्धुआ मजदूर' नाम हाल ही की उत्पत्ति है।

जमींदारी प्रथा के उन्मूलन, भूमि सुधारों, भूदान आन्दोलन, कानून का लागू होना (1976 का बन्धुआ मज़दूर उन्मूलन अधिनियम), पंचायती राज्य की स्थापना, सामाजिक कार्य समूहों की इसमें रुचि का प्रदर्शन, उत्साही व्यक्तियों के उत्साह, और यहां तक कि उच्चतम न्यायालय के आदेशों के बावजूद हम इस बुराई को अपने समाज से नहीं निकाल पाए हैं। लाखों की संख्या में बन्धुआ मज़दूरों का अब भी शोषण हो रहा है। वे कष्ट और कुण्ठा से भरे हुए और समाज की उपेक्षा का बोझ लादे हुए हैं। वास्तव में भारतीय समाज में प्रचलित बन्धुआ मज़दूरी प्रथा समाज के समान्तवादी अधिश्रेणित (feudal hierarchical) समाज का अवशेष हैं। गत दो तीन दशकों से सामाजिक कार्यकर्ताओं, समाज वैज्ञानिकों और सरकार द्वारा बन्धुआ मज़दूरों में काफी रुचि दर्शाई जा रही है क्योंकि यह प्रथा हमारे समाज के समानतावाद (egalitarianism) और मानव अधिकारों के आदर्शों के प्रतिकूल समझी जा रही है। बन्धुआ मज़दूरी में लाखों की संख्या में स्त्री, पुरुष व बच्चे सम्मिलित हैं।

अवधारणाएं (The Concepts)

यहां, हमें दो शब्दों को समझना आवश्यक है : 'बन्धुआ मज़दूरी प्रथा' (bonded labour system) और 'बन्धुआ मज़दूर' (bonded labour)। 'बन्धुआ मज़दूरी प्रथा' ऋण

दाता (creditor) और ऋण प्राप्तकर्ता (debtor) के बीच के सम्बन्धों पर आधारित है जो अपने दैनिक जीवन की आर्थिक अनिवार्यताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेता है और ऋणदाता द्वारा प्रस्तुत शर्तों को स्वीकार कर लेता है। समझौते की प्रमुख शर्त यह होती है कि ऋण लेने वाला अपनी सेवाओं या अन्य किसी की सेवाओं या अपने परिवार के सभी सदस्यों की सेवाओं को निश्चित या अनिश्चित समय के लिए 'बन्धक' (mortgage) या गिरवी रखने को सहमत हो जाता है। इस प्रकार के समझौते के आधार पर बना सम्बन्ध इतनी असमान शर्तों पर होता है कि जब अन्य प्रकार के श्रम के बदले में बाज़ार में उसके श्रम के बराबर या पारिश्रमिक होना चाहिए, 'बन्धुआ मज़दूरी प्रथा' के अन्तर्गत यह सेवा कर्ज चुकाने के लिए या फिर कर्ज पर देय ब्याज की राशि चुकाने के लिए बिना मजदूरी या अति अल्प मजदूरी पर की जाती है। कर्ज़दार या तो बिना मजदूरी के काम करता है या फिर उसका पारिश्रमिक न्यूनतम मज़दूरी (न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम में उल्लिखित) अथवा बाज़ार में चल रहे पारिश्रमिक से कम होता है।

1976 के बन्धुआ मज़दूरी (उन्मूलन) अधिनियम में बन्धुआ मज़दूरी प्रथा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है : बाध्य मज़दूरी (forced labour) की वह प्रथा जिसके अन्तर्गत एक कर्ज लेने वाला ऋणदाता अपनी सेवाएं या परिवार के किसी अन्य सदस्य की सेवाएं या अन्य किसी व्यक्ति की सेवाएँ, जो उसका आश्रित हो, अर्पित करता है। यह सेवा निश्चित या अनिश्चित समय के लिए होती तथा उसके बदले में वह या तो पारिश्रमिक नहीं लेता है या मामूली पारिश्रमिक लेता है, जो ऋण या अन्य किसी प्रकार के आर्थिक आभार के रूप में प्राप्ति के बदले में होता है, या जो उसके द्वारा या उसके किसी पूर्वज द्वारा लिया गया हो या फिर किसी सामाजिक दायित्व (obligation) के रूप में किया जाना हो या उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त दायित्व निर्वाह करने के लिए किया जाना हो। इस बाध्यता के अन्य परिणाम भी होते हैं, जैसे, ऋण लेने वाले को रोजगार करने की स्वतंत्रता से रोक, देश के किसी भाग में आने जाने की स्वतंत्रता से वंचित रहना, और अपनी सम्पत्ति के किसी भाग को या अपने श्रम उत्पाद को बाजार मूल्य पर बेचने के अधिकार से वंचित रहना।

'बन्धुआ मज़दूर' शब्द की परिभाषा "राष्ट्रीय श्रम आयोग" द्वारा इस प्रकार दी गई है :- "वह मज़दूर जो ऋण लेने के कारण किसी निश्चित समय के लिए बन्धक रहता है" अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के आयुक्त ने अपनी 24वीं रिपोर्ट में बन्धुआ मज़दूर की व्याख्या इस प्रकार की है :- "वे व्यक्ति जो ऋण लेने के कारण अपने ऋणदाताओं के लिए या तो बिना पारिश्रमिक लिये या फिर मामूली पारिश्रमिक लेकर काम करने के लिए बाध्य हों।

'बन्धुआ मज़दूर' उन 'संविदा मज़दूर' (contract) से भिन्न होते हैं जो उद्योगों, खानों, बागानों और गोदी (docks) में कार्य करते हैं। 'संविदा मजदूर' में वे कामगार शामिल हैं जो संस्थान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से भर्ती नहीं किए जाते हैं, जिसके नाम पारिश्रामिक देयक (pay roll)

में अंकित नहीं होते हैं, और जिन्हें मालिक द्वारा प्रत्यक्ष भुगतान नहीं किया जाता। सिद्धान्त में, संविदा मज़दूर 1948 के फैक्ट्री अधिनियम, 1952 के खदान अधिनियम, 1951 के बागान श्रमिक अधिनियम, और 1948 के गोदी मज़दूर अधिनियम की परिधि में आते हैं ताकि उन्हें भी वे ही लाभ दिए जा सकें जो सीधे काम पर लगे मज़दूरों को दिये जाते हैं। बन्धुआ मज़दूरों और संविदा मज़दूरों को काम पर लगाने के लाभ लगभग एक समान ही है : (i) मज़दूर कम कीमत पर काम पर लगाए जाते है, (ii) सेवायोजक (employers) श्रमिकों को कोई अतिरिक्त लाभ नहीं देते, और (iii) सेवायोजक, विभिन्न अधिनियमों के अन्तर्गत प्रदत्त कल्याण और सुरक्षा उपायों को अपने श्रमिकों को देने के बोझ से नहीं दबे होते। हमारे देश में संविदा मज़दूर व्यवस्था एक अधिनियम (संविदा मज़दूर अधिनियम-नियम एवं उन्मूलन) के अन्तर्गत सितम्बर, 1970 में समाप्त कर दी गई थी। संविदा मजदूर किसी नियोक्ता के अन्तर्गत कार्य हेतु बाध य नहीं है।

बन्धुआ मज़दूर की दो मूल विषेशताएं हैं : ऋणग्रस्तता और बलात् मज़दूरी (forced labour)। बलात् मज़दूरी पिता से पुत्र को, या पीढ़ी वंशानुक्रम में प्राप्त हो सकती है। बन्धक अवधि में, कर्जदार अन्यत्र कहीं रोज़गार में नहीं लग सकता। आर्थिक संदर्भ में इसका अर्थ हुआ कि "वह बाजार में, बाजार मूल्य पर अपना श्रम नहीं बेच सकता"। बन्धुआ मज़दूरी प्रथा अधिकतम गाँवों में खेतिहर मज़दूरों में पाई जाती है, यद्यपि आजकल इसका विस्तार पत्थर खदानों, बीडी फैक्ट्रियों, काँच के कारखानों, तथा कपड़े धोने की वस्तुओं के उद्योगों में, कालीन, रत्नों और कई अन्य कारखानों में भी हो गया है।

बन्धुआ मज़दूर भारत में विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से जाने जाते हैं। उदाहरण के लिए, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक में उन्हें 'जीथम' (Jeetham) कहा जाता है, गुजरात और मध्य प्रदेश में 'होली', मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में 'कस्बाडी', हैदराबाद में 'बघेला', राजस्थान में 'सागरी', बिहार में 'कमियों' या 'कम्योती', उड़ीसा में 'गोठी', तमिलनाडू में 'पाण्डियाल', केरल में 'अदिया', 'पनिया' और 'कटुनेकेन', और उत्तर प्रदेश में 'कोल्टा' कहा जाता है।

बन्धुआ मज़दूरी के कारण (Causes of Bonded Labour)

यद्यपि बन्धुआ मज़दूरी व्यवस्था के उदय, विकास और फलने-फूलने के कारण आर्थिक ही हैं लेकिन सामाजिक कारक भी इस प्रथा को समर्थन देते हैं। आर्थिक कारणों में अत्यधिक निर्धनता, रोजी-रोटी चलाने के लिए काम प्राप्त करने की असामर्थ्य, परिवार के भरण-पोषण के लिए भूमि का छोटा आकार, बाढ़, प्लेग व अन्य बीमारियाँ जिनमें मनुष्यों और पशुओं की मृत्यु होती है, वर्षा की कमी, कुओं का सूखना, वन उत्पादों में न्यून आय, मुद्रा स्फीति और निरन्तर कीमतों का ऊंचा होना हैं। सामाजिक कारकों में विवाह, मृत्यु, दावत, बच्चे के जन्म आदि अवसरों पर अत्यधिक व्यय, जिससे कर्जा अधिक बढ़ जाता है। कभी-कभी गाँव के कुछ लोगों द्वारा किए जाने वाले शोषण से तंग आकर लोगों को दूसरे स्थानों पर जाने को तथा न

केवल सेवा योजक की शर्तों पर काम करने को तैयार होना पड़ता है बल्कि प्रभावशाली लोगों की शरण में अपना बचाव करने के लिए भी बाध्य होना पड़ता है। धार्मिक तर्कों का प्रयोग निम्न जाति के लोगों को आश्वस्त करने के लिए करना पड़ता है कि धर्म के अनुसार उन्हें उच्च वर्ण के लोगों की सेवा करनी ही है। अशिक्षा, अज्ञान, अपरिपक्वता और दक्षता की कमी तथा व्यवसायिक प्रशिक्षण ऐसे विश्वासों को दृढ़ बनाते हैं। विस्तृत रूप से कहा जा सकता है कि बन्धकता (bondage) मुख्यतः आर्थिक और सामाजिक दबावों के कारण उत्पन्न होती है।

विधान (The Legislation)

बन्धुआ मज़दूरी प्रथा घातक और आवश्यकता से अधिक आकर्षक है जो भारत के कई राज्यों में मौजूद थी। स्वतंत्रता के पश्चात इस प्रथा को राष्ट्रीय जीवन को नारकीय बनाने की अनुमति नहीं दी गई। अतः 1950 में जब भारत का संविधान बनाया गया, इसमें धारा 23 को स्थापित किया गया जिसमें मानव व्यापार, बेगार और इसी प्रकार के बलात् श्रम का निषेध ा कर दिया गया। परन्तु इस धारा को प्रभावी बनाने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया तथा बन्धुआ मज़दूरी प्रथा को उखाड़ फेंकने का रास्ता नहीं बन पाया। 1919 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा ग्रहीत बलात् श्रम (उन्मूलन) गोष्ठी का समर्थन नवम्बर, 1954 में भारत द्वारा भी किया गया। भारत के कुछ राज्यों में बहुत पहले ही बन्धुवा मज़दूरी के उन्मूलन के लिए कुछ कानून बनाए गये। उदाहरणार्थ, बिहार कामियान्ती अधिनियम, 1920 में पारित किया गया, मद्रास एजेन्सी ऋण बन्धन नियम, 1940 में, मध्यप्रदेश में बस्तर में कबाड़ी प्रथा नियम, 1943 में हैदराबाद भगेला समझौता नियम, 1943 में, उड़ीसा ऋण बन्धन उन्मूलन कानून, 1948 में, राजस्थान सागरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1961 में (जो 1975 में संशोधित किया गया) और बन्धुआ मज़दूरी प्रथा उन्मूलन अधिनियम, 1975 में केरल में पारित हुए। इनमें से अधिकतर कानूनों में विशेष रूप से यह उल्लेख किया गया था (मद्रास, उड़ीसा, हैदराबाद और बिहार की तरह) के नियम लागू होने के बाद से ऋणदाता और ऋण प्राप्तकर्ता के बीच का समझौता पूर्ण रूपेण निरस्त समझा जाये यदि (a) समझौते की सभी शर्तें लिखित में नहीं हैं और सम्बन्धित अधिकारी के पास इसकी एक प्रतिलिपि फाइल नहीं की गई है, (b) श्रम का लिखित समय या समझा जाने वाला समय एक वर्ष से अधिक हो गया हो, (c) ऋण पर ब्याज एक वर्ष से अधिक और साधारण ब्याज न लिखा हो, और (d) ब्याज की दर 6.25% प्रतिवर्ष से अधिक हो। लेकिन जुलाई 1975 से 20 सूत्री कार्यक्रम की घोषणा के पश्चात राष्ट्रीय स्तर पर काफी मात्रा में गम्भीरता से और अत्यधिक आवश्यक मानकर बंधुआ मजदूर कानून को लागू करना शुरू किया गया। अम्टूबर 1975 में अध्यादेश जारी किया गया जिसको फरवरी 1976 में एक अधिनियम पारित करके स्थानापन्न किया गया, जिसे बन्धुआ मज़दूरी व्यवस्था (उन्मूलन) अधिनियम कहा गया। 1976 में केन्द्रीय सरकार द्वारा इस कानून को बनाए जाने के बाद से सभी राज्यों से तत्सम्बन्धित कानून निष्प्रभावी हो गए।

इस (1976) अधिनियम के अन्तर्गत : (i) बन्धुआ मजदूरों का पता लगाया जाना, (ii) बन्धुआ मज़दूरों की मुक्ति, (iii) अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही जैसे उन ऋणदाताओं के विरुद्ध जिन्होंने कर्जा लेने वालों को समझौते के लिए बाध्य किया, (iv) जिला और तहसील स्तरों पर सर्तकता समितियों की बैठकें करना, (v) निर्धारित पंजिकाओं का रखना, और मजिस्ट्रेटों को न्यायिक अधिकार दिया जाना, आदि शामिल हैं। यह अधिनियम बन्धुआ मज़दूरों के पुनर्वास का भी उल्लेख करता है जिन्हें ऋणदाताओं से मुक्ति मिल गई हो। 1976 के अधिनियम को 1985 में संशोधित किया गया, जिसमें स्पष्ट किया गया था कि संविदा मज़दूर या अन्तर्राज्यीय आव्रजक मज़दूर भी बंधुआ मजदूर समझे जायेंगे यदि वे बन्धुआ मज़दूरी व्यवस्था (उन्मूलन) अधिनियम, 1976 की शर्तों को पूरा करते हों।

1976 के इस अधिनियम के क्रियान्वयन में मुख्य समस्या बन्धुआ मज़दूरों की पहचान करने की है। न तो तहसील और जिला स्तर पर प्रशासक अपने क्षेत्रों में बन्धुआ मज़दूरों के होने की बात मानते हैं और न ही ऋणदाता स्वीकार करते हैं कि बन्धुआ मज़दूर उनकी सेवा में हैं और न ही मज़दूर यह कहने को तैयार होते हैं कि उन्हें लम्बे समय से बन्धुआ मज़दूरी के लिए बाध्य किया जाता रहा है। गैर-राजनैतिक सामाजिक कार्यकर्ता समूहों से सम्बद्ध सामाजिक कार्यकर्ता और स्वैच्छिक संगठन ही बन्धुआ मज़दूरों की पहचान करने में सफल होते हैं। एक और परेशानी जो इस समस्या को उत्पन्न करती है वह मुक्त बन्धुआ मज़दूरों का आर्थिक पुनर्वास है। आर्थिक पुनर्वास में : उनके लिए काम तलाश करना, उन्हें न्यूनतम मज़दूरी दिलाना, उन्हें विभिन्न कुशल कार्यों (बागवानी, पशुपालन आदि) के लिए प्रशिक्षण दिलाना, उनके परम्परागत कला और उद्योग को प्रोत्साहित करना, कृषि योग्य भूमि आवंटित करना, आवंटित भूमि को विकसित करने में उनकी मदद करना, कच्चा माल बनाने के लिए जमीन या कम कीमत वाले आवासीय मकान उपलब्ध कराना, वन उत्पादों से उपयोगी वस्तुओं के बनाने की प्रक्रिया में उनकी मदद करना, उन्हें और उनके बच्चों को शिक्षा देना, स्वास्थ्य की देखभाल का प्रबन्ध करना आदि शामिल हैं। यह सब आसान काम नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक पुनर्वास के अतिरिक्त राज्य सरकारों से भी उनके मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक पुनर्वास के प्रबन्ध करने और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की विभिन्न योजनाओं में तालमेल बैठाए जाने की अपेक्षा की जाती है। पुनर्वास की योजना बनाते समय मुक्त मज़दूरों को विविध विकल्प चुनने की अनुमति दी जानी चाहिए।

समस्यायें

उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश (न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती) ने बन्धुवा मज़दूरी को "परा-जीवधारी (non-beings), सभ्यता से वनवासी (exiles), पशुओं से भी खराब जीवन जीने वाले कहा है (क्योंकि पशु कम से कम आजादी से कहीं भी धूम सकते हैं, भूख लगने पर कहीं भी मुंह मार सकते हैं), झपट सकते हैं, लेकिन समाज से बहिष्कृत ये लोग

बन्धन में रखे जाते हैं और उनकी आजादी भी छीन ली जाती है। उन्हें या तो गन्दे स्थानों में या फिर खुले आकाश के नीचे रहना और जो कुछ मिल जाये उसी को खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता है, भले ही यह भोजन उनके भूखे पेट को पूरी तरह से न भर पायें। कोई दूसरा विकल्प न होने के कारण वे बन्धन के ऐसे अन्धकारपूर्ण गरीबी और भूख के गड्ढे में धकेल दिए जाते हैं जहां से उस निर्दयी शोषक समाज में उन्हें बचाए जाने की कोई आशा नहीं रहती।

अनुमान किया जाता है कि भारत में लगभग 32 लाख बन्धुआ मज़दूर हैं। इनमें से 98% ऋणग्रस्तता के कारण बन्धुआ बने और 2% परम्परागत या सामाजिक दायित्व के रूप में। सर्वाधिक संख्या आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक और तमिलनाडू में है और फिर उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश में। यह भी कहा गया है कि अधिकतर बन्धुआ मज़दूर गाँवों में कृषि मज़दूर के रूप में कार्य करते हैं और या तो अनुसूचित जाति या जनजातीय समुदायों के होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत कुल श्रमिकों में से लगभग 33% गैर-कृषि कार्यों में लगे हैं, 42% किसानों की तरह काम करते हैं और 25% कृषि श्रमिकों की तरह हैं। कृषि श्रमिकों की तरह काम करने वालों में से 48% अनुसूचित जातियों के हैं और 33% अनुसूचित जनजातियों के। अकुशल और असंगठित होने के कारण कृषि मज़दूरों के पास अपने व्यक्तिगत श्रम के अतिरिक्त अपनी आजीविका चलाने के लिए कुछ भी नहीं होता। बन्धुआ कृषि मज़दूर ग्रामीण समाज में सबसे निचले स्तर के होते हैं। गांव का सामाजिक और आर्थिक स्तरीकरण भूमि और जाति से जुड़ा होता है, जो कि लोगों के सामाजिक और आर्थिक स्तर पर नियंत्रण करता है। इस प्रकार बन्धुआ मज़दूर दयनीय दशा में रहते हैं। उनका सामाजिक शोषण होता है क्योंकि सिद्धान्त रूप में तो उन्हें भोजन तथा कपड़ा, तम्बाकू मिलने का तो आश्वासन प्राप्त होता है लेकिन व्यवहार में उन्हें परिवार में बचा हुआ भोजन और वस्त्र ही मिलता है। उनसे 12 से 14 घन्टे प्रतिदिन काम लिया जाता है और गाय भैंसो के तबेले में रहने को बाध्य होना पड़ता है। बीमार पड़ने का अपने सेवायोजक की दया होने पर स्थानीय हकीम से दवाई मिल जाती है।

बन्धुआ मज़दूरों के कष्टों की तस्वीर 1984 में श्रीलंका से आए कोड़ाईकेनाल (तमिलनाडू) में विस्थापित बन्धुआ मज़दूरों की दशा का उदाहरण देकर पेश की जा सकती है। 1964 में श्री माओ और श्री शास्त्री समझौते तथा 1975 के श्री माओ इन्दिरा गांधी समझौते के अन्तर्गत, जो कि श्रीलंका से भारतीय मूल के लोगों को भारत भेजने से सम्बन्धित था, 1984 के मध्य तक 1.11 लाख परिवार, जिनमें 4.5 लाख लोग थे, भारत वापस भेजे गये थे। इनमें से 1.07 लाख परिवार (लगभग 4 लाख व्यक्ति) तमिलनाडू में ही बस गए। ये अधिकतर श्रीलंका में बागान मज़दूर थे, अतः अकुशल थे। वे तमिलनाडू में ही बस गए। वे तमिलनाडू में काम की तलाश में बेघर भटकते रहे। वे राजनैतिक रूप से असंगठित, आर्थिक रूप से आश्रित, सांस्कृतिक रूप से अपने अधिकारों से अनभिज्ञ और संगठनात्मक रूप से नेतृत्व विहीन और आगे बढ़ने में अक्षम थे। कोड़ाईकेनाल श्रमिक कैम्पों में ठहरे आठ हजार विस्थापितों में

से अधिकतर को सड़कों व भवनों के निर्माण कार्य में लगा दिया गया या खदानों में श्रमिक या भूमिहीन कृषि मज़दूरों की तरह काम में लगा दिया। लगभग दो या ढाई हजार विस्थापित दो कम्पनियों में मज़दूरी पर लगा दिए गए जो सिन्थेटिक फाइबर बनाती थीं। जल्दी ही अपनी कंगाली के कारण ये मज़दूर ठेकेदारों और महाजनों के शिकार हो गए और बन्धुआ मज़दूर हो गए। वे झोपड़ियों में आमनवीय वातावरण में रहने लगे। निश्चित दुकानों से प्रति सप्ताह उन्हें राशन आदि उपलब्ध करा दिया जाता था। उनके स्वाथ्य की देखभाल का कोई प्रबन्ध नहीं था। पानी की इतनी कमी थी कि बच्चे शायद ही कभी नहाते थे, अतः गन्दे ही रहते थे। कार्य दशाएं कठिन थीं और उन्हें 10 से 14 घन्टे प्रतिदिन कार्य करना पड़ता था। उस समय दिए गए कुछ सर्वेक्षण दर्शाते हैं कि इन दो कम्पनियों में काम करने वाले मजदूरों की औसत मज़दूरी 240 और 290 रुपये के बीच प्रति व्यक्ति थी। प्राराम्भिक यात्रा पेशगी, रोज के खर्चे के लिए नगद पेशगी, ठेकेदार से ऋण लिए गए धन की अदायगी, कम्बलों का दिया जाना (जो काम छोड़ने पर वापस करने पड़ते थे) और कोरे कागजों पर जबरन हस्ताक्षर करवाने के रूप में जिनका प्रयोग ठेकेदार अपनी मर्जी से करते थे, आदि अनेक समस्यायें बन्धकों में मौजूद थी। जो मज़दूर सहयोग नहीं करते थे उन्हें ठेकेदारों के गुण्डों द्वारा ठीक कर दिया जाता था। स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व में बन्धुआ मुक्तिमोर्चा के निवेदन पर उच्चतम न्यायालय ने अप्रैल, 1986 में कोड़ाईकेनाल के कैम्प मजदूरों की दशा की जाँच करने के लिए एक तीन सदस्यों का आयोग नियुक्त किया। आयोग ने कार्य एवं जीवन दशाएं इतनी भयंकर पायी कि उच्चतम न्यायालय ने तमिलनाडू सरकार को निर्देश दिए कि ठेकेदारी प्रथा को समाप्त किया जाये जो मज़दूरों के शोषण के लिए जिम्मेदार थी। 1951 के बागान श्रमिक अधिनिमय को सख्ती से लागू किया जाये और बन्धुआ मज़दूरों को पर्याप्त राहत पहुंचाई जाये जब तक वे बन्धुआ मज़दूर प्रथा (उन्मूलन) अधिनियम के अन्तर्गत मुक्त और पुनर्वासित नहीं कर दिए जाते। इस प्रकार तमिलनाडू सरकार पुनर्वास योजना बनाने के लिए बाध्य हुई।

मार्च, 1989 तक कुल बन्धुआ मज़दूरों की संख्या जिनका पता लगाया गया और जिन्हें मुक्त कर दिया गया था, 2.42 लाख थी, जिनमें से 2.18 लाख (अर्थात 90%) को पुनर्स्थापित कर दिया गया था (एच. पाइस, योजना, मई 1987:23)। इस प्रकार मुश्किल से 8% बन्धुआ मज़दूरों की पहचान भारत में अब तक हो पायी है, जो बन्धुआ मज़दूरों की समस्या में राज्य सरकारों की उदासीनता का द्योतक है।

1979 और 1983 के बीच भारत सरकार को सौंपी गई कम से कम चार रिपोर्टों में यह दर्शाया गया है कि भारत में किस प्रकार यह घृणास्पद और दयनीय बन्धुआ मज़दूर प्रथा अस्तित्व में थी और देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन को विकृत करती रही। यह रिपोर्ट इस प्रकार थीं : (a) बिहार के मुंगरे जिले में 'बन्धुआ मज़दूरों की पुनर्वास' पर भारत सरकार के श्रम मंत्रालय के सम्बद्ध ग्रामीण विकास केन्द्र की रिपोर्ट, (b) उत्तर प्रदेश के टिहरी गढ़वाल

में 'बन्धुआ मजूदरों की पुनर्वास योजना के मूल्यांकन का अध्ययन' पर श्रम मंत्रालय के भारतीय लोक प्रशासन संस्थान (Indian Institute of Public Administration Division) की रिपोर्ट, (c) उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा, बिहार, राजस्थान, तमिलनाडू और केरल में मुक्त बन्धुआ मज़दूरों के पुनर्वास, मुक्ति और पहचान से सम्बद्ध स्थल अध्ययन (spot studies) पर आधारित भारत सरकार (श्रम कल्याण) के महानिदेशक, लक्ष्मीधर मिश्रा की रिपोर्ट और (d) 7 से 9 फरवरी 1983 तक 'बन्धुआ मज़दूरों की पहचान और पुनर्वास' पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी की रिपोर्ट।

मार्च, 1989 तक चिन्हित और कुछ मुक्त किए गए बन्धुआ मज़दूरों की 2.42 लाख संख्या में से 26% कर्नाटक में, 20% उड़ीसा में, 16% तमिलनाडू में, 14% आन्ध्र प्रदेश में, 11% उत्तर प्रदेश में, 5% बिहार में, 4% मध्य प्रदेश में, 3% राजस्थान में, 0.5% महाराष्ट्र में, 0.3% केरल में और 0.2% हरियाणा में मुक्त हुए (योजना, वही : 23)।

पुनर्वास (Rehabilitation)

बन्धुआ मज़दूरों की पहचान और मुक्ति केवल राज्य सरकारों का वैधानिक दायित्व था लेकिन नवम्बर, 1987 के बाद से स्वैच्छिक संगठनों को भी पहचान और पुनर्वास का काम दिया गया। मार्च, 1989 तक 2.18 लाख पुनर्वासित बन्धुआ मज़दूरों में से तीन चौथाई (76.3%) तो चार राज्यों में ही थे, {उड़ीसा में (23.8%), कर्नाटक में (23.3%), तमिलनाडू में, (71.1%), और उत्तर प्रदेश में (12.1%) थे} 20% तीन राज्यों {आन्ध्र प्रदेश (11.1%), बिहार (5.2%) और मध्य प्रदेश में (3.5%) थे}, और शेष 4% तीन राज्यों में {राजस्थान में (3.2%), महाराष्ट्र में (0.4%) और केरल में (0.4%)} थे (इंडियन लेबर जर्नल, अगस्त 1989:1277)। 1986 के 20 सूत्रीय कार्यक्रम का छठा बिन्दु बन्धुआ मज़दूरों की पहचान और पुनर्वास का प्राविधान है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार ने अगस्त 1986 में सभी राज्यों के (श्रम कल्याण) के सभी उपमहानिदेशकों को अनुगामी कार्यवाही (follow-up action) करने के निर्देश जारी किए। तब से केन्द्रीय श्रम मंत्रालय, भारत सरकार, समय समय पर बन्धुआ मज़दूरों की पहचान, मुक्ति और पुनर्वास के कार्यक्रम का संचालन और मूल्यांकन करता चला आ रहा है।

पुनर्वास भौतिक और मनोवैज्ञानिक, दोनों प्रकार का होता है। भौतिक पुनर्वास आवश्यक रूप से आर्थिक होता है जबकि मनोवैज्ञानिक पुनर्वास आश्वासन की प्रक्रिया के माध्यम से करना पड़ता है। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। मनोवैज्ञानिक पुनर्वास की प्रारम्भिक आवश्यकता यह है कि मुक्त बन्धुआ मज़दूरों को उनके पुराने आवास से निकाला जाये और उन्हें ऐसे स्थान पर पुनर्स्थापित किया जाये जहाँ वे बन्धुआ मज़दूर रखने वाले मालिकों को विनाशकारी चंगुल से पूर्ण रूप से मुक्त हों। जब तब उन्हें यह आश्वासन न दिया जाये कि बन्धक से मुक्ति के बाद ऋण उनके भाग्य चक्र को नहीं चलाएगा, तब तक यह सम्भावना बनी रहेगी कि वे पुनः अपने ऋणदाता की दासता में चले जायें।

मूलरूप से पुनर्वास के तीन चरण होते हैं : (i) मुक्ति के तुरन्त बाद भौतिक सहायता, (ii) मुक्त मज़दूरों का नया जीवन प्रारम्भ करने के लिए अल्पकालिक सहायता, (जैसे, मकान के लिए स्थान का आवंटन, मकान बनाने के लिए सहायता, कृषि भूमि के भूखण्ड का आवंटन, बैलों की जोड़ी और आवश्यक यंत्र आदि की आपूर्ति करना, रोजगार के अवसर प्रदान करना आदि), और (iii) दीर्घकालिक उपाय (जैसे, ऋण उपलब्ध कराना, नवीन कुशलताओं में प्रशिक्षण दिलाना, मौजूदा कुशलताओं को विकसित करना, पारिश्रमिक मूल्य समर्थन उपलब्ध करना, वयस्क सदस्यों को अनौपचारिक तथा बच्चों को औपचारिक शिक्षा को सुनिश्चित करना, चिकित्सा प्रबंध करना, नागरिक अधिकारों की रक्षा सुनिश्चित करना आदि इस प्रकार का पुनर्वास ही मुक्त बन्धुओं मज़दूरों को ऐसा सामाजिक स्तर प्रदान करेगा ताकि वे अपने को सभ्य समाज की मुख्य धारा में चिन्हित कर सकेंगे और मानव आस्तित्व के योग्य सम्मान का अनुभव कर सकेंगे।

पांच-छः वर्ष पहले (1994-95 में), ''सामुदायिक संगठन, पुनर्वास, और विकास कार्यवाही'' (Action for Community Organisation, Rehabilitation and Development-ACORD) नाम के एक स्वैच्छिक संगठन ने तमिलनाडू में नीलगिरी में पांच जनजातियों (पनिया, बेहाकुर, उम्बास, कट्टनायकन, मोटूकुरूम्ब, और इरूला) को बन्धुआपन के कष्टों और भूमि वंचना (land deprivation) से मुक्ति दिलाने में सहायता की। यह परिवर्तन लाने में अकार्ड (ACORD) को दस वर्ष का समय लगा। इस जनजाति के लोग, जो अठाहरवीं और उन्नीसवीं सदी से ही गुलामी के बन्धनों में जकड़े हुए थे, गुलामी प्रथा उन्मूलन के बाद भी बन्धुआ मज़दूर बने रहे थे। वार्षिक ओनम त्योहार पर जमींदार लोग जनजातीय लोगों के लिए वार्षिक बेगार निश्चित कर देते थे जिसमें उन्हें कुछ धान, दो जोड़े कपड़े और कुछ अन्य चीजें दी जाती थीं। ऐसी बन्धुआ मजूदरी की मृत्यु की घण्टी तब बजी जब साठ के दशक के मध्य में पड़ोसी केरल से कुछ मलयाली निचले नीलगिरी प्रदेश में अधिक अन्न उपजाऊ आन्दोलन चलाये जाने के फलस्वरूप केरल से आए। इसका सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि एक साल तक धान के लिए काम करने वाली प्रथा रुक गई। फिर भी इसका नकारात्मक परिणाम यह था कि इन निवासियों ने जनजातियों को ठगना शुरू कर दिया और धीरे-धीरे जंगल भूमि पर कब्जा करना शुरू कर दिया। अकार्ड ने चाय बागान के जनजातीय उत्पादकों को न केवल ऋण दिलाने में मदद की बल्कि दिसम्बर, 1988 में एक 'संगम' बनाने में भी मदद की जिसमें जनजातीय एकता के उद्‌देश्य से लगभग 20,000 जनजातीय लोगों ने भाग लिया। इस 'संगम' ने उनके कष्टों को कम किया, बन्धुआ शोषण से सुरक्षा प्रदान की, उनके अधिकारों को दिलाने में मदद की, और अस्पताल, स्कूल, स्वास्थ्य केन्द्र खुलवाने में मदद की। अब अकार्ड 'संगम' को सभी विकास कार्यों को ही सौंपने की योजना बना रहा है।

प्रभावी पुनर्वास में खामियां (Lacunae in Effective Rehabilitation)

विभिन्न राज्यों में बन्धुआ मज़दूरों के पुनर्वास कार्यक्रमों को गुणात्मक रूप से देखने में हमें पता चलता है कि कुछ राज्य, जैसे उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, केरल और आन्ध्र प्रदेश में पुनर्वास और पहचान के कार्यक्रम स्वागत योग्य रहे हैं लेकिन कुछ में नवीन परिवर्तनों को शुरू करने की आवश्यकता है। कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में निम्नलिखित स्पष्ट खामियों को फौरन दूर किये जाने की आवश्यकता है :-

प्रथम, किसी भी कार्यक्रम को किसी मंत्रालय/विभाग का कार्यक्रम समझे जाने की अपेक्षा विभिन्न मंत्रालयों/विभागों के तालमेल की आवश्यकता है, जैसे कृशि, पशुपालन, सिंचाई, वन, मत्स्य पालन आदि ताकि कार्यक्रमों को एकीकृत राष्ट्रीय कार्यक्रम माना जाये। द्वितीय, क्योंकि सामाजिक वातावरण और सामाजिक संरचना जो गावों में लम्बे समय से चली आ रही है और आज भी प्रमुख रूप से ग्रामीण जीवन और अर्थव्यवस्था पर हावी हैं, अतः इनकी प्रतिबद्वता के साथ जाँच किए जाने और बदले जाने की आवश्यकता है। तृतीय, विकास से सम्बद्ध विभाग योजनाओं के बोझे से इतने दबे हुए हैं कि उनके कार्यक्रम समयबद्ध और लक्ष्य-परक ही रहते हैं और उनमें लाभार्थियों की आवश्यकताओं, रूझानों और वरीयताओं का कोई विचार नहीं होता। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि इन कार्यक्रमों को लक्ष्य-परक (target-oriented) बनाये जाने की अपेक्षा लक्ष्य-समूह परक (traget-group oriented) बनाया जाये। चौथे, दुर्बल सतही संरचना (infrastructure) और योग्य और प्रतिबद्ध कर्मचारियों और संसाधनों की कमी के कारण लाभार्थियों (beneficiaries) को लम्बी अवधि तक सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती, परिणामतः प्रायः मूल्यवान सम्पत्ति भी दायित्व बन जाती है। पाँचवें, बिचौलिये (middlemen) परजीवी (parasites) की तरह कार्य करते रहते हैं और पुनर्वास के सीमित लाभों का स्वयं लाभ उठा लेते हैं। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि योजनाएँ सावधानीपूर्वक तथा विवेकपूर्ण ढंग से विविध आवश्यकताओं को जोड़कर बनाई जायें और पहले से ही उपलब्ध निचली सतह पर संसाधनों को ध्यान में रखा जाये। छठे, मुक्त बन्धुआ मज़दूर जो समाज के निम्नतम सतह से होते हैं और जो अत्यन्त निर्धनता और अकिंचनता का प्रतिनिधित्व करते हैं, अपनी इच्छा की योजना बनवाने में असमर्थ होते हैं, (जो उनके लिए सर्वाधिक लाभकारी हैं), उनके लाभ के लिए योजना बनाने में लगे सम्बन्धित अधिकारियों पर उनकी निर्भरता पुनर्वास के वास्तविक लाभों से उन्हें वंचित रखती है। इस निर्भरता को कम किए जाने की आवश्यकता है। अन्तिम, पूर्व बन्धुआ मज़दूर रखने वाले लोगों, और विभिन्न विभागों के अधिकारियों की बन्धुआ मज़दूरों के प्रति धारणाएं बिल्कुल भी नहीं बदली हैं। जब मज़दूरों को उनके पूर्व मालिक, जमींदारों द्वारा पीटा जाता है, उनकी भूमि जबरन ले ली जाती है, उनके बच्चों को स्कूल जाने के लिए जमींदार के धान के खेतों में नहीं गुजरने दिया जाता, उनके जानवरों को शोषणकर्ताओं द्वारा खोल लिया जाता है और जब वे पुलिस से शिकायत

करते हैं, डाक्टर के पास जाते हैं, सम्बद्ध विभागों के अधिकारियों से शिकायत करते हैं, इलाज के लिए डाक्टर के पास जाते हैं, तब वे लोग (पुलिस, डाक्टर, अधिकारी) उनकी करुणाभरी गाथाओं से थोड़े से भी प्रभावित नहीं होते, और निरुत्तर तथा संवेदनहीन होकर उनकी सहायता करने से कतराते हैं। अधिकारियों और लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के बिना मुक्त हुए मज़दूर समाज के प्रभावशाली वर्ग के लोगों के सामूहिक संगठित आक्रमण के सामने टिक नहीं सकते। उनकी अज्ञानता, अशिक्षा और उपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष करने की अक्षमता उन्हें आजादी और विकास का आनन्द उठाने से हमेशा रोकेंगे।

बन्धुआ मज़दूर बने लोगों के लाभ के लिए सामाजिक व्यवस्था और संरचना को बदलना आसान नहीं है। इस सम्बन्ध में दो उदाहरण लिये जा सकते हैं। एक जनजातीय व्यक्ति को अपने विवाह या अपने पुत्र के विवाह में वधु-मूल्य (Bridg-price) देने के लिए धन चाहिए। वह अपनी सेवाओं को गिरवी रखकर ऋण प्राप्त करता है और इस प्रकार बन्धुआ मज़दूर बन जाता है। इसी प्रकार मान लें कि एक व्यक्ति को अवैध शराब बनाने के अपराध में अर्थदण्ड दिया जाता है। उसके पास क्योंकि जुर्माना देने के लिए धन नहीं है तब वह एक प्रभावशाली व्यक्ति के पास अपनी सेवाएं गिरवी रखकर ऋण लेता है और बन्धुआ मजदूर बन जाता है। अब, क्या वधु-मूल्य प्रथा समाप्त किया जाना सम्भव है? क्या किसी अपराध के लिए न्यायालय द्वारा अर्थदण्ड दिया जाना गलत कार्य है? ग़रीबों की अनेक आर्थिक आवश्यकताएं ऋण लिए बिना पूर्ण नहीं हो सकती हैं। ऐसे मामलों में ऋण लेने के लिए समझौते की शर्तों का सावधानी से जाँचा जाना आवश्यक है ताकि श्रम को बन्धक बनाए जाने से रोका जा सके और बन्धुआ मज़दूरी प्रथा को नियंत्रित किया जा सके।

विकास के लिए सामूहिक दृष्टिकोण (group approach) निश्चय ही बन्धुआ मज़दूरों को एक सूत्र में बाँधेगा, उनके साधनों को एकजुट करेगा, विभिन्न एजेन्सियों, बैंकों और विभागों से सहायता मिलेगी और उन्हें एक उद्देश्य और स्थायी पुनर्वास के लिए एकजुट में लाएगा ऐसा "सामूहिक प्रयास" भूमि आधारित, शिल्प आधारित या सफलता के लिए सम्पत्ति आधारित हो सकता है। इसके लिए उचित लाभार्थियों के चयन, जहाँ उन्हें बसाया जाये उस स्थान का चयन, उन्हें सिखाए जाने वाली कुशलताओं का चयन और लाभार्थियों में निर्माण चेतना और अपने पुनर्वास, प्रगति और उन्नति के लिए संयुक्त उपक्रम करने के लिए इच्छा शक्ति जागृत करना आवश्यक है।

महत्वपूर्ण समस्या यह है कि यदि मुक्त बन्धुआ मज़दूर पुनर्वासित नहीं किए जाते हैं तो उनके कष्ट बढ़ेंगे। उनके सामने प्रश्न यह होगा कि वे भूख व गुलामी, स्वतंत्रता और सुरक्षा, कठिन परिश्रम या दासता, परिवार के लिए अपराध और फलतः कारावास का भय, में से क्या चुनें? दो दशक पूर्व पुनर्वास का समस्त भार राज्य सरकारों को दे दिया गया था, किन्तु 1983

में केन्द्र सरकार ने भी श्रम मंत्रालय के माध्यम से योजना प्रायोजित की। केन्द्रीय योजना में राज्य सरकारों को एक वर्ष में चार या पांच करोड़ रुपये देने का प्राविधान है जिसमें समान अनुदान के आधार पर विशेष योजनाएं बनाने का प्राविधान है। योजना आयोग की एक रिपोर्ट कहती है कि पुनर्वास कार्य की प्रगति अति मन्द है। राज्य सरकारी अधिकारियों में आगे बढ़ने के उत्साह की कमी है, या उनके पहचान करने और पुनर्वास करने वाले अधिकारियों में आगे बढ़ने के उत्साह की कमी है, या वे पहचान करने और पुनर्वास के कार्यक्रमों के प्रति उदासीन हैं। सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी अपने काम में अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। आशा की जाती है कि केन्द्र सहायता और स्वैच्छिक संगठनों के शामिल हो जाने से बन्धुआ मज़दूरों की पहचान करने और उनके पुनर्वास का काम प्रभावी हो जायेगा।

1982 में उच्चतम न्यायालय ने भी 'बाध्य श्रम' (forced labour) को ऐसे मज़दूरों के मौलिक अधिकारों का हनन घोषित कर दिया था और 1983 में "निर्धारित न्यूनतम मज़दूरी से कम श्रम को" 'बाध्य श्रम' घोषित किया था। 1984 में उच्चतम न्यायालय ने पुनः राज्य सरकारों द्वारा बन्धुआ मज़दूरी (उन्मूलन) अधिनियम 1974 के प्राविधानों को लागू करने की असफलता की दशा में इसको संविधान का उल्लंघन कहा। इसने मुक्ति के बाद पुनर्वास को राज्य सरकारों का दायित्व कहा, ताकि मुक्त मज़दूरों को फिर से निर्धनता, असहायता और निराशा के कारण दासत्व स्वीकार न करना पड़े। इस प्रकार के न्यायिक समाधानों के आशा की जाती है कि राज्य सरकारों और स्वैच्छिक संगठनों के बन्धुआ मज़दूरों की उनके सेवायोजकों के चंगुल से मुक्ति के प्रयासों को बल मिलेगा।

सुझाव

बन्धुआ मज़दूरों की दुर्दशा एक गम्भीर सामाजिक समस्या के रूप में जारी है और जनता, सरकार, न्यायपालिका, सामाजिक वैज्ञानिकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं सभी के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है। यदि 17 लाख अपराध प्रतिवर्ष जिनके लिए लगभग 26 लाख व्यक्तियों को आई.पी.सी. (IPC) के तहत गिरतार किया जाता है (1998 के आंकड़े) भारतीय समाज के लिए गम्भीर मामले माने जाते हैं, तो 30 लाख बन्धुआ मज़दूरों की मुक्ति भी महत्वपूर्ण समस्या के रूप में देखी जानी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि सहायता करने वाली विभिन्न एजेन्सियों के द्वारा अनुसन्धान प्रायोजित किए जायें ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि समस्या का विस्तार और लक्षण क्या हैं, पहचान में कठिनाइयों की जाँच हो सके, विविध पुनर्वास योजनाओं की क्या उपयोगिता है, केन्द्र राज्य सरकारों और स्वैच्छिक संगठनों के बची समन्वित क्रियाकलापों का बनाना, 1976 अधिनियम को संशोधित करने की आवश्यकता, सम्बन्धित अधिकारियों की जवाबदेही का निर्धारण किया जाना, और मुक्त मज़दूरों की उत्तररक्षा (after-care) कार्यक्रमों का प्रारम्भ किया जाना सुनिश्चित किया जा सके। जब तक बन्धुआ मज़दूरों

को स्वार्थी तत्वों के शोषण से बचाने के गम्भीर प्रयास नहीं किए जाते तब तक यह समस्या समाज के लिए एक परेशानी का कारण बनी रहेगी। कानूनों के माध्यम से बन्धुआ मज़दूरी का सम्पूर्ण उन्मूलन भविष्य में सम्भव न भी हो, फिर भी विधान का सहारा न लेना उनकी दशा को और भी दयनीय बना सकता है। निर्धनता, अशिक्षा, बेरोजगारी, जो बन्धुआ मज़दूरी के उदय के मूल कारण हैं, इनको समाप्त करना भी कोई आसान काम नहीं है। बन्धुआ मज़दूरों के लिए भविष्य की योजनाएं, कार्यक्रम और प्रोजेक्ट बनाने में विभिन्न स्तरों पर विस्तृत दृष्टिकोण और ठोस कार्यवाही की आवश्यकता होगी।

इस प्रकार बन्धुआ मज़दूरी की समस्या के साथ सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और कानूनी स्तर पर संघर्ष करना होगा। हमें शोषितों को शिक्षित करना है, न कि दबाव की तरकीबें अपनाना है। हमें शोषितों को बताना होगा कि भारत जैसे प्रजातन्त्र में कानून अपना काम स्वयं करता है। जनता में प्रतिबद्ध जनमत तैयार करना होगा। हमें न केवल बुद्धिजीवियों को बल्कि सभी जागरूक नागरिकों को यह सन्देश फैलाने के लिए शामिल करना होगा। हमें कानूनों को सख्ती से लागू करना होगा। हमें राजनीतिज्ञों को भी इस समस्या को रुचि के साथ मिशनरी भावना से समाधान करने के लिए प्रभावित करना है। कुछ सामाजिक व आर्थिक रूप से शक्तिशाली व्यक्तियों के द्वारा किए जाने वाले शोषण पर आधारित, (जो कष्ट में पड़े बन्धुआ मज़दूरों का व्यापार करते हैं,) व्यवस्था से हमें ऊपर उठना है। एक छोटे से ऋण के लिए समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग को बन्धन में रखना भारतीयों को दिए गए सामाजिक आर्थिक समानता की व्यवस्था के वचनों के विरुद्ध है। इस प्रथा का समूल विनाश मानव सम्मान की मूल आवश्यकता है और यह हमारे संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप होगा।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

समाजशास्त्र और समाजकार्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
●	समाजकार्य	आचार्य राजाराम शास्त्री	150=00
●	सामाजिक वैयक्तिक सेवाकार्य	डॉ. पी.डी. मिश्र	150=00
●	औद्योगिक विवाद और उसका सुलझाव	डॉ. बालेश्वर पाण्डेय	115=00
●	भारत का समाजशास्त्र	प्रो. जयकान्त तिवारी	120=00
●	आधुनिक समाज वैज्ञानिक सिद्धान्त परिचय	डॉ. हरीश चन्द्र श्रीवास्तव	90=00
●	असामान्य व्यवहार	डॉ. डी.पी. मिश्र	235=00
●	समाजकार्य के क्षेत्र	गिरीश कुमार	210=00
●	बाल व्यवहार व्यतिक्रम	डॉ. श्याम बिहारी सिंह	50=00
●	भारत में सामूहिक सौदेबाजी	डॉ. बालेश्वर पाण्डेय	35=00
●	सामाजिक सामूहिक कार्य	डॉ. पी.डी. मिश्र	100=00
●	समाज और राजनीति का दार्शनिक अध्ययन	डॉ. ज्ञानञ्जेय द्विवेदी	215=00

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-70-4

मूल्य : ₹ 470=00